महाभारतम्

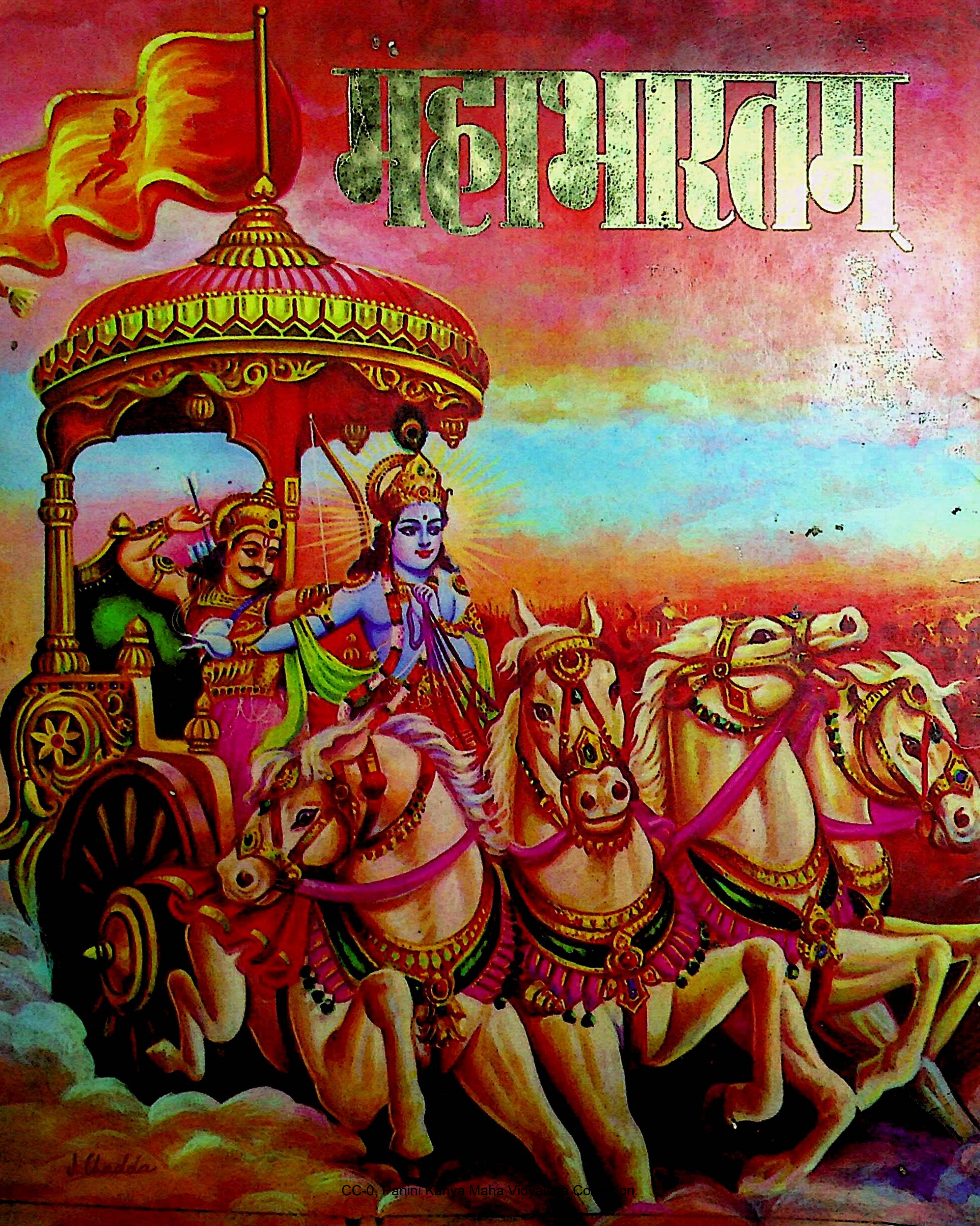

87 म

भगवतीभाष्यसमलंकृतम्

॥ ओ३म् ॥

महाभारतम्

[तृतीयो भागः]

महर्षि-पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान
तिथी........
पु०सं०..17९0
भारती पुस्तकालय

अनुवादक, सम्पादक
तथा
टिप्पणीकार
परमहंस स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली

प्रकाशक :
विजय कुमार
गोविन्दराम हासानन्द
नई सड़क,
दिल्ली-११०००६

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

प्रथम संस्करण : अप्रैल: १९८४
संवत् २०४१

मुद्रक :
दुर्गा मुद्रणालय
सुभाषपार्क एक्सटेंशन,
नवीन शाहदरा, दिल्ली-११००३२

89 ग

पु०सं० 1770 | 8
भारती पुस्तकालय

विषय-सूची

प्रध्याय	विषय	पृष्ठ

शान्तिपर्व

युधिष्ठिर का परिताप ... ९४५
न का महत्त्व बताते हुए अर्जुन का युधिष्ठिर को यज्ञानुष्ठान के लिए प्रेरित करना ... ९४७
धिष्ठिर का वानप्रस्थ जीवन व्यतीत करने का निश्चय ... ९४९
नाम, नकुल और सहदेव का युधिष्ठिर को समझाना ... ९५०
द्रौपदी का युधिष्ठिर को राज्यशासन के लिए प्रेरित करना ... ९५२
अर्जुन द्वारा राजदण्ड की महत्ता का प्रतिपादन ... ९५४
भीम का युधिष्ठिर को राज्यशासन और यज्ञ करने के लिए प्रेरित करना, युधिष्ठिर के द्वारा मुनिवृत्ति और ज्ञानियों की प्रशंसा ... ९५६
मुनिवर देवस्थान का युधिष्ठिर को यज्ञानुष्ठान के लिए प्रेरित करना ... ९५८
अर्जुन और व्यास का युधिष्ठिर को समझाना और युधिष्ठिर के द्वारा धन के त्याग की महत्ता का प्रतिपादन ... ९५९
ास का शोकवश शरीर-त्याग के लिए उद्यत हुए युधिष्ठिर को समझाना ... ९६३
ीकृष्ण द्वारा नारद-सृञ्जय संवाद को संक्षेप में सुनाकर युधिष्ठिर के शोक-निवारण का प्रयत्न ... ९६६
ष्ठिर का नगर में प्रवेश, पुरवासियों द्वारा उनका सत्कार, राज्य-व्यवस्था के लिए अपने भाइयों र अन्य लोगों की नियुक्ति ... ९६९
ष्ठिर का भीष्म के पास जाना और भीष्म का उन्हें प्रश्न पूछने की आज्ञा देना ... ९७१
ष्मजी द्वारा राजधर्म का कथन ... ९७५
जा के धर्मानुकूल नीतिपूर्ण व्यवहार का वर्णन ... ९७८
ष्मजी द्वारा राज्य-रक्षा के साधनों का वर्णन, सायंकाल युधिष्ठिर आदि का हस्तिनापुर में प्रवेश ... ९८१
श्रम-धर्मों का वर्णन ... ९८२
की आवश्यकता और उत्पत्ति का प्रतिपादन ... ९८५
के प्रधान कर्तव्यों और दण्डनीति द्वारा युगों के निर्माण का वर्णन ... ९९०
को उभयलोक में सुख-प्राप्ति करानेवाले छत्तीस गुणों का वर्णन ... ९९७
के धर्मपूर्वक प्रजापालनरूपी परम धर्म का प्रतिपादन ... ९९९
के लिए सदाचारी पुरोहित की आवश्यकता, ऋत्विजों के लक्षण, यज्ञ और दक्षिणा का महत्त्व तप की श्रेष्ठता ... १०००
के कर्तव्यों का वर्णन, युधिष्ठिर की राज्य से विरक्ति, भीष्मजी द्वारा पुनः राज्य की महत्ता पादन ... १००१

२४. राजा के लिए मित्र-अमित्र की पहचान, उनके साथ नीतिपूर्ण व्यवहार का तथा मन्त्री और सभासद् आदि के लक्षणों का निर्देश
२५. राजा की व्यवहारनीति, दण्ड का औचित्य, दूत आदि के गुण
२६ राजा के निवासयोग्य नगरादि का वर्णन, प्रजापालन-सम्बन्धी व्यवहार तथा तपस्वियों के सम्मान का निर्देश
२७. राष्ट्र की रक्षा और वृद्धि तथा प्रजा से कर लेने का प्रकार
२८. राजा के कर्तव्यों का वर्णन तथा उसके लिए धर्मपालन की आवश्यकता
२९. गणतन्त्र राज्य का वर्णन और उसकी नीति
३०. माता-पिता तथा गुरु की सेवा का महत्त्व
३१. सत्य-असत्य का विवेचन, धर्म का लक्षण तथा व्यावहारिक नीति का कथन
३२. सदाचार और ईश्वरभक्ति का महत्त्व
३३. आलस्य का दुष्परिणाम, नम्र होने और निन्दा सह लेने का लाभ
३४. त्रिवर्ग का विचार, पदच्युत राजा के पुनरुत्थान के उपाय तथा शील का महत्त्व
३५ आपत्ति के समय राजा का धर्म
३६. शत्रु से सदा सावधान रहने के विषय में राजा ब्रह्मदत्त और पूजनी चिड़िया का संवाद
३७. प्राचीन इतिहास द्वारा युधिष्ठिर को कूटनीति का उपदेश
३८. 'शरणागत की रक्षा' विषय में एक बहेलिये और कपोत एवं कपोती की कथा
३९. लोभ से होनेवाले पापों का वर्णन, दम और तप की महिमा
४०. सत्य के लक्षण, स्वरूप और महत्त्व का वर्णन
४१. काम-क्रोधादि तेरह दोषों का निरूपण तथा उनके नाश का उपाय
४२. नीच और श्रेष्ठ पुरुषों के लक्षण
४३. शोकाकुल मन की शान्ति के लिए राजा सेनजित् एवं ब्राह्मण के संवाद का वर्णन
४४. 'स्वकल्याण-इच्छुक पुरुष के कर्तव्य' विषय में पिता के प्रति पुत्र द्वारा ज्ञान का उपदेश
४५. मङ्कि:-गीता—धन की तृष्णा से दुःख तथा उसकी कामना-त्याग से परम सुख की प्राप्ति
४६. नहुष के प्रश्नों के उत्तर में बोध्यगीता
४७. आत्महत्यादि पापकर्म से बचने के सम्बन्ध में काश्यप ब्राह्मण और इन्द्र का संवाद
४८. शुभाशुभ कर्मों के फलभोग का प्रतिपादन
४९. आश्रम-धर्मों और शिष्टाचार का फलसहित वर्णन
५०. धर्माधर्म के स्वरूप का निर्णय, जाजलि मुनि का उपाख्यान
५१. राजा विचख्नु द्वारा अहिंसा धर्म की प्रशंसा
५२. दीर्घकाल तक सोच-विचारकर कार्य करने की प्रशंसा : महर्षि गौतम और चिरकारी का उपाख्यान
५३. आत्मसंयम और ब्रह्मप्राप्ति के साधनों का निर्देश
५४. धर्म, अधर्म, वैराग्य और मोक्ष के सम्बन्ध में युधिष्ठिर के प्रश्न और उनका उत्तर, मोक्ष के साधनों का वर्णन
५५. तृष्णा-परित्याग के विषय में माण्डव्य मुनि और जनक का संवाद
५६. संन्यासी के स्वभाव, आचरण और धर्मों का वर्णन
५७. सङ्गम का नारदजी से शोकहीन स्थिति का वर्णन
५८. भीष्मजी द्वारा श्रेयः-मार्ग का निर्देश
५९. अरिष्टनेमि का सगर को वैराग्योत्पादक मोक्ष-प्राप्ति का उपदेश

६०. पराशरगीता—कल्याण-प्राप्ति के साधन, कर्मफल की अनिवार्यता, सदाचार, धर्मपालन, तपोबल की ... ११
महिमा और नाना प्रकार के धर्म तथा कर्तव्यों का उपदेश ... ११
६१. हंसगीता—हंसरूपधारी ब्रह्मा का साध्यगणों को उपदेश ... ११
६२. नारदजी का शुकदेव को वैराग्य तथा ज्ञान का उपदेश ... ११
६३. शान्तिपर्व का सार : विविध विषयों पर मनोरम, सारगर्भित तथा मार्मिक उपदेश

महर्षि-पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान
तिथि.........
पु०सं० 1770/18
भारती पुस्तकालय

अनुशासनपर्व

१. युधिष्ठिर की सान्त्वनार्थ भीष्म द्वारा गौतमी ब्राह्मणी के उपाख्यान का वर्णन ... १
२. स्वामिभक्ति और दयालुता-प्रतिपादनार्थ इन्द्र और शुक-संवाद का उल्लेख ... ११
३. भाग्य की अपेक्षा पुरुषार्थ की श्रेष्ठता का प्रतिपादन ... ११
४. विविध कर्मों के फल का वर्णन ... ११
५. लक्ष्मी के निवास करने योग्य स्त्री-पुरुष एवं स्थानों का वर्णन ... ११
६. कृतघ्न की गति और त्रिविध पापों के त्याग का उपदेश ... १
७. युधिष्ठिर के विविध प्रश्नों का उत्तर, नरक और स्वर्गगामी पुरुषों के चिह्न ... १
८. ब्रह्महत्या के समान पापों का निरूपण ... १
९. पूजनीय पुरुषों के लक्षण और उनके आदर-सत्कार का फल ... १
१०. शरणागत की रक्षा का फल, वृषदर्भ द्वारा शरणागत कपोत की रक्षा ... १
११. दानपात्र की परीक्षा ... ११
१२. कन्या-विवाह के सम्बन्ध में पात्रविषयक विचार और नारी-सम्मान का महत्त्व ... ११
१३. गो-महिमा के प्रसङ्ग में च्यवन मुनि का उपाख्यान ... ११
१४. विविध प्रकार के तप और दानों का फल ... ११
१५. व्रत, नियम, सत्य, ब्रह्मचर्य, माता-पिता आदि की सेवा का महत्त्व ... १
१६. गृहस्थ-धर्मों का रहस्य ... १
१७. शुभाशुभ कर्मों और सदाचार का निरूपण ... १
१८. पारिवारिक व्यवहार-वर्णन ... १
१९. सच्चा तीर्थ ... १
२०. धर्म का महत्त्व ... १
२१. हिंसा और मांस-भक्षण की घोर निन्दा ... ११
२२. दान-प्रशंसा ... ११
२३. पतिव्रता स्त्रियों के कर्तव्य ... ११
२४. पाँच प्रकार के दानों का वर्णन ... १
२५. वर्णाश्रमधर्म का निरूपण ... १
२६. स्वर्ग में ले-जानेवाले शुभ कर्मों का वर्णन ... १
२७. गायत्री-जप का फल ... १
२८. शिष्टाचार, धर्माधर्म के फल और साधु-असाधु के लक्षण ... १
२९. भीष्मजी द्वारा भाग्य की प्रधानता का खण्डन ... १

०. धर्मानुष्ठान की आवश्यकता ... १२००
१. भीष्मजी की आज्ञा से युधिष्ठिर का सपरिवार हस्तिनापुर लौटना ... १२०१
२. भीष्मजी का धृतराष्ट्र और युधिष्ठिर को कर्तव्य का उपदेश ... १२०२
३. भीष्मजी का प्राणत्याग और उनकी अन्त्येष्टि ... १२०५

आश्वमेधिकपर्व

१. युधिष्ठिर का शोक, श्रीकृष्ण और व्यास का उन्हें समझाते हुए अश्वमेध-यज्ञ के लिए प्रेरित करना, युधिष्ठिर का हस्तिनापुर-आगमन और उनके धर्मराज्य का वर्णन ... १२०७
श्रीकृष्ण का अर्जुन से द्वारका जाने का प्रस्ताव करना, अर्जुन का श्रीकृष्ण से गीता का विषय पूछना और श्रीकृष्ण का अपनी असमर्थता प्रकट करना ... १२११
युधिष्ठिर का हिमालय से धन लाना और श्रीकृष्ण का हस्तिनापुर में आगमन ... १२१५
उत्तरा के मृतप्राय बालक को जिलाने के लिए कुन्ती, सुभद्रा तथा उत्तरा की श्रीकृष्ण से प्रार्थना और श्रीकृष्ण का उसे जीवनदान देना ... १२१७
श्रीकृष्ण द्वारा परिक्षित् का नामकरण, पाण्डवों का हस्तिनापुर के समीप आगमन और स्वागत, व्यास और श्रीकृष्ण का युधिष्ठिर को यज्ञ के लिए आज्ञा देना ... १२२१
व्यासजी की आज्ञा से अश्व की रक्षा के लिए अर्जुन की, राज्यरक्षा के लिए भीम और नकुल तथा कुटुम्बपालन के लिए सहदेव की नियुक्ति ... १२२३
सेनासहित अर्जुन द्वारा घोड़े का अनुसरण, त्रिगर्तों और प्राग्ज्योतिषपुर के राजा वज्रदत्त के साथ युद्ध और उनकी पराजय ... १२२५
अर्जुन का सैन्धवों के साथ युद्ध और दुःशला के अनुरोध से उसकी समाप्ति ... १२२८
अर्जुन और बभ्रुवाहन का युद्ध, अर्जुन की मृत्यु तथा उलूपी के प्रयत्न से संजीवनी मणि के द्वारा अर्जुन का पुनः जीवित होना ... १२२९
यज्ञभूमि की तैयारी, भिन्न-भिन्न देशों के राजाओं का आगमन, अश्वमेध-यज्ञ का आरम्भ, युधिष्ठिर का ब्राह्मणों को दक्षिणा देना और राजाओं का भेंट देकर विदा करना ... १२३३
युधिष्ठिर के यज्ञ में एक नेवले का उञ्छवृत्तिधारी ब्राह्मण के सत्तूदान को अश्वमेधयज्ञ से भी बढ़कर बतलाना ... १२४०

आश्रमवासिकपर्व

भाइयोंसहित युधिष्ठिर और कुन्ती आदि देवियों द्वारा धृतराष्ट्र एवं गान्धारी की सेवा ... १२४६
राजा धृतराष्ट्र का गान्धारी के साथ वन में जाने के लिए युधिष्ठिर से अनुमति माँगना तथा महर्षि व्यास के समझाने पर युधिष्ठिर का उन्हें वनगमन के लिए अनुमति देना ... १२५१
धृतराष्ट्र द्वारा युधिष्ठिर को राजनीति का उपदेश ... १२५५
कुरुजाङ्गल देश की प्रजा से आज्ञा माँगकर गान्धारीसहित धृतराष्ट्र का वन के लिए प्रस्थान ... १२५९
धृतराष्ट्र आदि का शतयूप के आश्रम पर निवास, पाण्डवों और पुरवासियों की धृतराष्ट्र आदि के लिए चिन्ता ... १२६६
माता के लिए पाण्डवों की चिन्ता और युधिष्ठिर का रनिवास तथा सेनासहित वन के लिए प्रस्थान ... १२६८
धृतराष्ट्र और युधिष्ठिर की बातचीत, युधिष्ठिर आदि का ऋषियों के आश्रम देखना, व्यासजी की आज्ञा से धृतराष्ट्र आदि का पाण्डवों को विदा करना और उनका दलबलसहित हस्तिनापुर लौटना ... १२७२

1792
भारती पुस्तकालय

मौसलपर्व

१. युधिष्ठिर का यादवों के विनाश का समाचार सुनना, ऋषियों का यादवकुमारों को शाप, श्रीकृष्ण का यदुवंशियों को तीर्थयात्रा के लिए आदेश देना और यादवों का परस्पर संहार ... १२८१
२. दारुक का अर्जुन को सूचना देने के लिए हस्तिनापुर के लिए प्रस्थान, बभ्रु, बलराम और श्रीकृष्ण का देहावसान ... १२८५
३. अर्जुन का द्वारका पहुँचना और वसुदेवजी से उनका वार्तालाप ... १२८७
४. वसुदेवजी और मौसलयुद्ध में मरे हुए यादवों का अन्त्येष्टि सस्कार करके अर्जुन का द्वारकावासी स्त्री-पुरुषों को अपने साथ ले जाना, मार्ग में अर्जुन पर डाकुओं का आक्रमण, अर्जुन की पराजय, शेष यादवों को अपनी राजधानी में बसा देना ... १२८९
अर्जुन और व्यासजी का वार्तालाप ... १२९

महाप्रस्थानिकपर्व

द्रौपदीसहित पाण्डवों का महाप्रस्थान ... १२९
मार्ग में द्रौपदी और चारों पाण्डवों का गिरना तथा युधिष्ठिर का प्रत्येक के गिरने का कारण बताना ... १२९९
इन्द्र का युधिष्ठिर को स्वर्ग में आने के लिए आमन्त्रित करना परन्तु कुत्ते को त्यागकर उनका स्वर्ग में जाने से इन्कार ... १३०२

स्वर्गारोहणपर्व

स्वर्ग में नारद और युधिष्ठिर का वार्तालाप ... १३०६
देवदूत का युधिष्ठिर को नरक का दर्शन कराना तथा भाइयों का करुणक्रन्दन सुनकर उनका वहीं रहने का निश्चय ... १३०७
न्द्र तथा धर्म का युधिष्ठिर को सान्त्वना प्रदान करना ... १३१०
हाभारत का महत्त्व और उपसंहार ... १३१२

तिथी.........
पु०सं० 1790
भारती पुस्तकालय

शान्तिपर्व

प्रथमोऽध्यायः

युधिष्ठिर का परिताप

वैशम्पायन उवाच

कृतोदकास्ते सुहृदां सर्वेषां पाण्डुनन्दनाः ।
विदुरो धृतराष्ट्रश्च सर्वाश्च भरतस्त्रियः ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! पाण्डव, विदुर, धृतराष्ट्र और भरतकुल की सभी स्त्रियों ने अपने समस्त बन्धु-बान्धवों का अन्त्येष्टि-संस्कार करके स्नानादि किया ।

तत्र ते सुमहात्मानो न्यवसन् पाण्डुनन्दनाः ।
शौचं निवर्तयिष्यन्तो मासमात्रं बहिः पुरात् ॥२॥

तत्पश्चात् वे महामनस्वी पाण्डव आत्मशुद्धि के लिए एक मास तक वहीं [गङ्गा के किनारे] नगर से बाहर टिके रहे ।

कृतोदकं तु राजानं धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
अभिजग्मुर्महात्मानः सिद्धा ब्रह्मर्षिसत्तमाः ॥३॥

स्नान-सन्ध्या-आचमनादि करके बैठे हुए धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर के पास बहुत-से ब्रह्मर्षि और सिद्ध-ः महात्मा पधारे ।

तेऽभिगम्य महात्मानः पूजिताश्च यथाविधि ।
आसनेषु महार्हेषु विविशुस्ते महर्षयः ॥४॥

वे महात्मा और महर्षि वहाँ पहुँचकर और विधिपूर्वक सम्मानित होकर राजा द्वारा प्रदत्त बहुमूल्य आसनों पर विराजमान हुए ।

नारदस्त्वब्रवीत् काले धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
सम्भाष्य मुनिभिः सार्धं कृष्णद्वैपायनादिभिः ॥५॥

उस समय व्यास आदि ऋषियों के साथ विचार-विमर्श कर सर्वप्रथम देवर्षि नारदजी ने धर्मराज युधिष्ठिर से कहा—

भवतो बाहुवीर्येण प्रसादान्माधवस्य च ।
जितेयमवनिः कृत्स्ना धर्मेण च युधिष्ठिर ॥६॥

"हे युधिष्ठिर ! आपने अपने बाहुबल से, श्रीकृष्ण की कृपा और धर्म के प्रभाव से इस समस्त पृथिवी पर विजय पाई है ।

दिष्ट्या मुक्तस्तु संग्रामादस्माल्लोकभयंकरात् ।
क्षत्रधर्मरतश्चापि कच्चिन्मोदसि पाण्डव ॥७॥

"हे पाण्डुनन्दन ! सौभाग्य से आप सारे संसार को भय में डालनेवाले इस युद्ध से छुटकारा पा गये । अब क्षत्रिय-धर्म के पालन में तत्पर रहकर आप प्रसन्न तो हैं ?

कच्चिच्च निहतामित्रः प्रीणासि सुहृदो नृप ।
कच्चिच्छ्रियमिमां प्राप्य न त्वां शोकः प्रबाधते ॥८॥

"हे प्रजेश्वर ! आपके शत्रु नष्ट हो गये । अब आप अपने हितैषियों को तो प्रसन्न रखते हैं न ? इस राज्यलक्ष्मी को पाकर अब कोई शोक तो आपको नहीं सता रहा है ?"

युधिष्ठिर उवाच

विजितेयं मही कृत्स्ना कृष्णबाहुबलाश्रयात् ।
ब्राह्मणानां प्रसादेन भीमार्जुनबलेन च ॥९॥

युधिष्ठिर बोले—श्रीकृष्ण के बाहुबल के आश्रय, ब्राह्मणों की कृपा और भीम तथा अर्जुन के बल से मुझे इस सम्पूर्ण पृथिवी पर विजय प्राप्त हुई है ।

इदं मम महद्दुखं वर्तते हृदि नित्यदा ।
कृत्वा ज्ञातिक्षयमिमं महान्तं लोभकारितम् ॥१०॥

परन्तु मेरे हृदय में सदा यह महान् दुःख बना

रहता है कि मैंने लोभ के वशीभूत होकर अपने बन्धु-बान्धवों का भीषण संहार करा डाला।

सौभद्रं द्रौपदेयाँश्च घातयित्वा सुतान् प्रियान्।
जयोऽयमजयाकारो भगवन् प्रतिभाति मे ॥११॥

भगवन्! सुभद्राकुमार अभिमन्यु तथा द्रौपदी के प्रियपुत्रों को मरवाकर मिली हुई यह विजय भी मुझे पराजय-सी प्रतीत हो रही है।

वैशम्पायन उवाच

ततः शोकपरीतात्मा निःश्वसंश्च पुनः पुनः।
दृष्ट्वार्जुनमुवाचेदं राजा सन्तापपीडितः ॥१२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नारद से ऐसा कहकर शोक से व्याकुल हो युधिष्ठिर बारम्बार लम्बी साँस खींचने लगे और अर्जुन को देखकर सन्ताप से पीड़ित हो इस प्रकार बोले—

युधिष्ठिर उवाच

धिगस्तु क्षात्रमाचारं धिगस्तु बलपौरुषम्।
धिगस्त्वमर्षं येनेमामापदं गमिता वयम् ॥१३॥

युधिष्ठिर बोले—हे अर्जुन! क्षत्रियों के आचार, बल, पराक्रम और अमर्ष=क्रोध को धिक्कार है जिनके कारण हम ऐसी विपत्ति में फँस गये।

साधु क्षमा दमः शौचं वैराग्यं चाप्यमत्सरः।
अहिंसा सत्यवचनं नित्यानि वनचारिणाम् ॥१४॥

क्षमा, दम=मनोनिग्रह, बाहर-भीतर की पवित्रता, वैराग्य, ईर्ष्या का अभाव, अहिंसा और सत्य भाषण—ये वनवासियों के नित्यधर्म ही श्रेष्ठ हैं।

वयं तु लोभान्मोहाच्च दम्भं मानं च संश्रिताः।
इमामवस्थां सम्प्राप्ता राज्यलाभबुभुत्सया ॥१५॥

हम लोग लोभ और मोह के कारण राज्यप्राप्ति के सुख का अनुभव करने की इच्छा से दम्भ और अभिमान का आश्रय लेकर इस दुर्दशा को प्राप्त हुए हैं।

आमिषे गृध्यमानानामशुभं वै शुनामिव।
आमिषं चैव नो हीष्टमामिषस्य विवर्जनम् ॥१६॥

जैसे मांसलोभी कुत्तों को अशुभ की प्राप्ति होती है, वैसे ही राज्य में आसक्त हुए हम लोगों को भी अनिष्ट प्राप्त हुआ है, अतः हमारे लिए मांस-तुल्य राज्य की प्राप्ति अभीष्ट नहीं है अपितु उसका परित्याग ही अभीष्ट है।

न पृथिव्या सकलया न सुवर्णस्य राशिभिः।
न गवाश्वेन सर्वेण ते त्याज्या य इमे हताः ॥१७॥

हमारे जिन बन्धु-बान्धवों का संहार हुआ है उनका त्याग तो हमें सम्पूर्ण पृथिवी, स्वर्ण-राशि और समस्त गाय-घोड़े पाकर भी नहीं करना चाहिए था।

दुर्योधनकृते ह्येतत् कुलं नो विनिपातितम्।
अवध्यानां वधं कृत्वा लोके प्राप्ताः स्म वाच्यताम् ॥१८

दुर्योधन के कारण हमारे इस कुल का नाश हो गया और हम लोग अवध्य नरेशों का वध करके संसार में निन्दा के पात्र हो गये।

हताः शूराः कृतं पापं विषयः स्वो विनाशितः।
हत्वा नो विगतो मन्युः शोको मां रुन्धयत्ययम् ॥१९॥

हमने शूरवीरों को मौत के घाट उतारा, पाप किया और अपने ही राष्ट्र का विनाश कर डाला। शत्रुओं को मारकर हमारा क्रोध तो दूर हो गया परन्तु बन्धु-बान्धवों के मारे जाने का शोक मुझे निरन्तर घेरे रहता है।

ख्यापनेनानुतापेन दानेन तपसाऽपि वा।
पापकृन्मुच्यते पापात् श्रुतिस्मृतिजपेन वा ॥२०॥

हे अर्जुन! पाप करनेवाला अपने पाप का बखान करने से, पश्चात्ताप करने से, दान देने, तप करने, वेद और स्मृतियों का स्वाध्याय तथा जप करने से पाप से छूट जाता है [भविष्य में पाप-कर्म करने से बच जाता है]।

वनमामन्त्र्य वः सर्वान् गमिष्यामि परन्तप।
न हि कृत्स्नतमो धर्मः शक्यः प्राप्तुमिति श्रुतिः।
परिग्रहवता तन्मे प्रत्यक्षमरिसूदन ॥२१॥

शत्रुसन्तापक अर्जुन! मैं तुम सब लोगों से विदा लेकर वन में चला जाऊँगा। शत्रुसंहारक! श्रुति कहती है कि "संग्रह-परिग्रह में फँसा हुआ मनुष्य पूर्णतम धर्म=प्रभुदर्शन प्राप्त नहीं कर सकता।" इस तथ्य का मुझे प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है।

प्रशाधि त्वमिमामुर्वीं क्षेमां निहतकण्टकाम्।
न ममार्थोऽस्ति राज्येन भोगैर्वा कुरुनन्दन ॥२२॥

कुरुकुलनन्दन! तुम इस निष्कण्टक और कुशल-

क्षेम से युक्त पृथिवी का शासन करो। मुझे राज्य और भोगों से कोई प्रयोजन नहीं है।

वैशम्पायन उवाच

एतावदुक्त्वा वचनं कुरुराजो युधिष्ठिरः।
उपारमत् ततः पार्थः कनीयानभ्यभाषत ॥२३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—इतना कहकर कुरुराज युधिष्ठिर चुप हो गये। तत्पश्चात् कुन्ती के सबसे छोटे पुत्र अर्जुन ने अपना वक्तव्य आरम्भ किया।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

द्वितीयोऽध्यायः

धन का महत्त्व बताते हुए अर्जुन का युधिष्ठिर को यज्ञानुष्ठान के लिए प्रेरित करना

अर्जुन उवाच

अहो दुःखमहो कृच्छ्रमहो वैक्लव्यमुत्तमम्।
यत्कृत्वामानुषं कर्म त्यजेथाः श्रियमुत्तमाम् ॥१॥

अर्जुन बोले—राजन्! यह तो अत्यन्त दुःख और महान् कष्ट की बात है! आपकी विह्वलता पराकाष्ठा को पहुँच गई है। आश्चर्य की बात यह है कि आप अलौकिक पराक्रम करके प्राप्त की हुई इस श्रेष्ठ राज्यलक्ष्मी को तिलाञ्जलि दे रहे हैं।

शत्रून् हत्वा महीं लब्ध्वा स्वधर्मेणोपपादिताम्।
एवंविधं कथं सर्वं त्यजेथा बुद्धिलाघवात् ॥२॥

आपने अपने शत्रुओं को मौत के घाट उतारकर पृथिवी पर अधिकार प्राप्त किया है। यह राज्यलक्ष्मी आपको अपने धर्म के अनुसार प्राप्त हुई है। इस प्रकार अपने अधिकार में प्राप्त हुई इस पृथिवी को आप अपनी अल्पबुद्धि के कारण क्यों त्याग रहे हैं?

क्लीबस्य हि कुतो राज्यं दीर्घसूत्रस्य वा पुनः।
किमर्थं च महीपालानवधीः क्रोधमूर्च्छितः ॥३॥

किसी कायर अथवा आलसी को राज्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। यदि आपको वन में ही जाना था तो आपने क्रोध के वशीभूत होकर इतने राजाओं का वध क्यों किया और कराया?

कापालीं नृप पापिष्ठां वृत्तिमासाद्य जीवतः।
संत्यज्य राज्यमृद्धं ते लोकोऽयं किं वदिष्यति ॥४॥

हे राजन्! जब आप इस वैभवपूर्ण राज्य को छोड़कर, हाथ में भिक्षापात्र [खपड़ा] लेकर घर-घर भीख माँगने की अत्यन्त नीचवृत्ति का आश्रय लेकर जीवन-यापन करेंगे, तब लोग आपके सम्बन्ध में क्या कहेंगे?

सर्वारम्भान् समुत्सृज्य हतस्वस्तिरकिञ्चनः।
कस्मादाशंससे भैक्ष्यं चर्तुं प्राकृतवत् प्रभो ॥५॥

प्रभो! आप सारे पुरुषार्थों को त्यागकर कल्याण के साधनों से रहित और अकिञ्चन हुए साधारण मनुष्यों के समान भीख माँगने की इच्छा क्यों करते हैं?

अस्मिन् राजकुले जातो जित्वा कृत्स्नां वसुन्धराम्।
धर्मार्थावखिलौ हित्वा वनं मौढ्यात् प्रतिष्ठसे ॥६॥

इस राजकुल में जन्म लेकर और सारे भूमण्डल को जीतकर अब आप सम्पूर्ण धर्म और अर्थ दोनों का परित्याग कर मोह के कारण ही वन में जाने के लिए तैयार हुए हैं।

मू८।

आकिञ्चन्यं मुनीनां च इति वै नहुषोऽब्रवीत्।
कृत्वा नृशंसं ह्यधने धिगस्त्वधनतामिह ॥७॥

राजा नहुष ने निर्धन-अवस्था में क्रूरतापूर्ण कर्म करके यह दुःखपूर्ण उद्‌गार प्रकट किया था—"इस संसार में निर्धनता को धिक्कार है! सब-कुछ त्यागकर निर्धन या अकिञ्चन हो जाना यह मुनियों का धर्म है, राजाओं का नहीं।"

अश्वस्तनमृषीणां हि विद्यते वेद तद् भवान्।
यं त्विमं धर्ममित्याहुर्धनादेष प्रवर्तते ॥८॥

आप भी इस तथ्य को भली-भाँति जानते हैं कि दूसरे दिन के लिए संग्रह न करके प्रतिदिन माँगकर खाना यह ऋषियों का ही धर्म है। जो राजाओं का धर्म बताया गया है, वह तो धन से ही सम्पन्न होता है।

धर्मं संहरते तस्य धनं हरति यस्य सः।
ह्रियमाणे धने राजन् वयं कस्य क्षमेमहि ॥९॥

राजन्! जो मनुष्य जिसका धन हरण करता है,

वह उसके धर्म का भी संहार कर देता है। यदि हमारे धन का अपहरण होने लगे तो हम किसी को कैसे क्षमा कर सकते हैं ?

अभिशस्तं प्रपश्यन्ति दरिद्रं पार्श्वतः स्थितम् ।
दारिद्र्यं पातकं लोके न तच्छंसितुमर्हति ॥१०॥

पास खड़े हुए दरिद्र को लोग इस प्रकार देखते हैं, मानो वह कोई पापी या कलङ्कित हो, अतः दरिद्रता इस संसार में एक पातक है। आपको उसकी प्रशंसा नहीं करनी चाहिए।

पतितः शोच्यते राजन् निर्धनश्चापि शोच्यते ।
विशेषं नाधिगच्छामि पतितस्याधनस्य च ॥११॥

नरेश्वर ! पतित और निर्धन दोनों ही मनुष्य शोचनीय होते हैं, मुझे तो पतित और निर्धन में कोई अन्तर दिखाई नहीं देता।

अर्थेभ्यो हि विवृद्धेभ्यः सम्भृतेभ्यस्ततस्ततः ।
क्रियाः सर्वाः प्रवर्तन्ते पर्वतेभ्य इवापगाः ॥१२॥

जैसे पर्वतों से बहुत-सी नदियाँ निकलती रहती हैं, वैसे ही बढ़े हुए सञ्चित धन से सब प्रकार के शुभ कर्मों का अनुष्ठान होता रहता है।

अर्थाद् धर्मश्च कामश्च स्वर्गश्चैव नराधिप । □
प्राणयात्रापि लोकस्य विना ह्यर्थं न सिद्ध्यति ॥१३॥

हे राजन् ! धन से ही धर्म, काम और मोक्ष की सिद्धि होती है। धन के बिना तो लोगों का जीवन-निर्वाह भी नहीं हो सकता।

अर्थेन हि विहीनस्य पुरुषस्याल्पमेधसः ।
विच्छिद्यन्ते क्रियाः सर्वा ग्रीष्मे कुसरितो यथा ॥१४॥

धनहीन हुए मन्दबुद्धि मनुष्य की सारी क्रियाएँ वैसे ही छिन्न-भिन्न हो जाती हैं, जैसे गरमी में छोटी-छोटी नदियाँ सूख जाती हैं।

यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः । □
यस्यार्थाः स पुमाँल्लोके यस्यार्थाः स च पण्डितः ॥१५॥

जिसके पास धन होता है, उसी के बहुत-से मित्र होते हैं, धनी के ही भाई-बन्धु हैं। संसार में जिसके पास धन है वही पुरुष कहलाता है और धनी ही पण्डित माना जाता है।

अधनेनार्थकामेन नार्थः शक्यो विधित्सितुम् ।
अर्थैरर्था निबध्यन्ते गजैरिव महागजाः ॥१६॥

निर्धन मनुष्य यदि धन की इच्छा करता है तो उसके लिए धन की व्यवस्था असम्भव हो जाती है [परन्तु धनी का धन बढ़ता रहता है]। जैसे वन में एक हाथी के पीछे बहुत-से हाथी चले आते हैं, उसी प्रकार धन से ही धन बँधा चला आता है।

धर्मः कामश्च स्वर्गश्च हर्षः क्रोधः श्रुतं दमः । □
अर्थादेतानि सर्वाणि प्रवर्तन्ते नराधिप ॥१७॥

हे राजन् ! धर्म का अनुष्ठान, कामनाओं की पूर्ति, मोक्ष की सिद्धि, हर्ष की वृद्धि, क्रोध की सफलता, शास्त्रों का श्रवण और अध्ययन तथा शत्रुओं का दमन—ये सभी कार्य धन से ही सिद्ध होते हैं।

धनात्कुलं प्रभवति धनाद् धर्मः प्रवर्धते ।
नाधनस्यास्त्ययं लोको न परः पुरुषोत्तम ॥१८॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! धन से कुल की प्रतिष्ठा बढ़ती है तथा धन से ही धर्म की वृद्धि होती है। निर्धन के लिए तो न यह लोक सुखदायक है और न परलोक।

नाधनो धर्मकृत्यानि यथावदनुतिष्ठति ।
धनाद्धि धर्मः स्रवति शैलादभि नदी यथा ॥१९॥

निर्धन मनुष्य धर्मकार्यों का ठीक प्रकार अनुष्ठान नहीं कर सकता। जैसे पर्वत से नदी बहती है, वैसे ही धन से धर्म का स्रोत बहता रहता है।

यः कृशार्थः कृशगवः कृशभृत्यः कृशातिथिः । □
स वै राजन् कृशो नाम न शरीरकृशः कृशः ॥२०॥

राजन् ! जिसके पास धन की न्यूनता है, जिसके पास गौएँ और नौकर-चाकर भी कम हैं, जिसके यहाँ अतिथियों का आगमन भी कम हो गया है, वस्तुतः वही कृश=दुर्बल कहलाने योग्य है। जो केवल शरीर से कृश है, उसे कृश नहीं कहा जा सकता।

एतावानेव वेदेषु निश्चयः कविभिः कृतः ।
अध्येतव्या त्रयी नित्यं भवितव्यं विपश्चिता ।
सर्वथा धनमाहार्यं यष्टव्यं चापि यत्नतः ॥२१॥

ऋग्वेदादि चारों वेदों में कवि=क्रान्तदर्शी परमात्मा ने [कविभिः=बहुवचन आदरार्थ है] यही निर्णय दिया है—'प्रतिदिन वेदों का स्वाध्याय करो, विद्वान् बनो, सब प्रकार से धन का संग्रह करके धन लाओ और प्रयत्नपूर्वक यज्ञ का अनुष्ठान करो।'

स त्वां द्रव्यमयो यज्ञः सम्प्राप्तः सर्वदक्षिणः ।
तं चेन्न यजसे राजन् प्राप्तस्त्वं राज्यकिल्बिषम् ॥२२॥

राजन् ! आपके समक्ष सर्वस्व की दक्षिणा देकर द्रव्यमय यज्ञ के अनुष्ठान का अवसर प्राप्त हुआ है, यदि आप इस समय यज्ञ नहीं करेंगे तो सारे राज्य का पाप आपको लगेगा ।

शाश्वतोऽयं भूतिपथो नास्यान्तमनुशुश्रुम ।
महान् दाशरथः पन्था मा राजन् कुपथं गमः ॥२३॥

यह [यज्ञानुष्ठान] क्षत्रियों के लिए कल्याण का सनातन मार्ग है । इसका कभी अन्त नहीं सुना गया है । राजन् ! यह वह महान् मार्ग है जिसपर दशरथ-नन्दन श्रीराम चले थे । आप भी इसी मार्ग का अनुसरण करें; किसी कुत्सित मार्ग का आश्रय न लें ।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान
तिथि........
पुस्तक........
भारती पुस्तकालय

तृतीयोऽध्यायः

युधिष्ठिर का वानप्रस्थ जीवन व्यतीत करने का निश्चय

युधिष्ठिर उवाच

मुहूर्तं तावदेकाग्रो मनः श्रोत्रेऽन्तरात्मनि ।
धारयन्नपि तत् श्रुत्वा रोचते वचनं मम ॥१॥

युधिष्ठिर बोले—अर्जुन ! तुम अपने मन और कानों को अन्तःकरण में स्थापित करके दो घड़ी तक एकाग्र हो जाओ, तब मेरी बात सुनकर तुम उसे पसन्द करोगे ।

साधुगम्यमहं मार्गं न जातु त्वत्कृते पुनः ।
गच्छेयं तद् गमिष्यामि हित्वा ग्राम्यसुखान्युत ॥२॥

मैं ग्राम्य सुखों को छोड़कर श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा गमन किये हुए मार्ग पर तो चल सकता हूं, परन्तु तुम्हारे आग्रह के कारण राज्य को कदापि स्वीकार नहीं करूँगा ।

हित्वा ग्राम्यसुखाचारं तप्यमानो महत् तपः ।
अरण्ये फलमूलाशी चरिष्यामि मृगैः सह ॥३॥

मैं ग्राम्यसुख=भोगविलासमय जीवन और आचार को लात मारकर वन में रहता हुआ अत्यन्त कठोर तप करूँगा और फलमूल खाकर मृगों के साथ विचरूँगा ।

जुह्वानोऽग्निं यथाकालमुभौ कालावुपस्पृशन् ।
कृशः परिमिताहारश्चर्मचीरजटाधरः ॥४॥

मैं दोनों समय स्नान करके यथासमय अग्निहोत्र करूँगा और परिमित भोजन करके शरीर को सुखा डालूंगा । मृगचर्म तथा वल्कल-वस्त्र धारण करके सिर पर जटा बढ़ा लूंगा ।

अथवैकोऽहमेकाहमेकैकस्मिन् वनस्पतौ ।
चरन् भैक्ष्यं मुनिर्मुण्डः क्षपयिष्ये कलेवरम् ॥५॥

अथवा मैं मूंड मुंडाकर मननशील संन्यासी हो जाऊँगा और एक-एक दिन एक-एक वृक्ष से भिक्षा माँगकर अपने शरीर को सुखाता रहूँगा ।

पांसुभिः समभिच्छन्नः शून्यागारप्रतिश्रयः ।
वृक्षमूलनिकेतो वा त्यक्तसर्वप्रियाप्रियः ॥६॥

मेरा शरीर धूल से धूसरित होगा तथा सूने घर में मेरा निवास होगा अथवा किसी वृक्ष के नीचे उसकी जड़ में पड़ रहूँगा । प्रिय और अप्रिय का सारा विचार छोड़ दूंगा ।

न शोचन्न प्रहृष्यंश्च तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ॥७॥

मैं न किसी के लिए शोक करूँगा न हर्ष; निन्दा और स्तुति को समान समझूंगा; आशा और ममता को त्यागकर निर्द्वन्द्व हो जाऊँगा तथा वस्तुओं का संग्रह नहीं करूँगा ।

आत्मारामः प्रसन्नात्मा जडान्धवधिराकृतिः ।
अकुर्वाणः परैः काञ्चित् संविदं जातु कैरपि ॥८॥

मैं आत्मचिन्तन में ही सुख अनुभव करूँगा; मन को सदा प्रसन्न रखूंगा; दूसरे के साथ कभी कोई वार्तालाप नहीं करूँगा; गूंगों, अन्धों, और बहरों के समान न क़िसी से कुछ कहूँगा; न किसी को देखूंगा और न किसी की सुनूंगा ।

न चाप्यवहसन् कञ्चिन्न कुर्वन् भ्रुकुटीः क्वचित् ।
प्रसन्नवदनो नित्यं सर्वेन्द्रियसुसंयतः ॥९॥

न तो मैं किसी की हँसी उड़ाऊँगा और न किसी के प्रति भौंहें ही टेढ़ी करूँगा । मेरे मुख पर सदा प्रसन्नता छाई रहेगी और मैं समस्त इन्द्रियों को पूर्णतः वश में रक्खूँगा ।

स्वभावस्तु प्रयात्यग्रे प्रभवन्त्यशनान्यपि ।
द्वन्द्वानि च विरुद्धानि तानि सर्वाण्यचिन्तयन् ॥१०॥

स्वभाव आगे-आगे चलता है, भोजन भी स्वयमेव प्रकट हो जाते हैं । सरदी-गरमी आदि विरोधी द्वन्द्व भी आते-जाते रहते हैं, अतः इन सबकी चिन्ता छोड़ दूँगा ।

अल्पं वा स्वादु वा भोज्यं पूर्वालाभेन जातुचित् ।
अन्येष्वपि चरँल्लाभमलाभे सप्त पूरयन् ॥११॥

भिक्षा थोड़ी मिले या स्वादहीन मिले, इसका विचार न करके उसे खा लूँगा । यदि कभी एक घर से भिक्षा नहीं मिली तो दूसरे घरों में भी जाऊँगा । मिल गई तो अत्युत्तम, न मिलने पर क्रमशः सात घरों में जाऊँगा, आठवें में कदापि नहीं ।

अलाभे सति वा लाभे समदर्शी महातपाः ।
न जिजीविषुवत् किञ्चिन्न मुमूर्षुवदाचरन् ॥१२॥

कुछ मिले या न मिले, दोनों ही अवस्थाओं में मेरी दृष्टि समान होगी । मैं महान् तप में संलग्न रहकर ऐसा कोई आचरण नहीं करूँगा जिसे जीने या मरने के इच्छुक लोग करते हैं ।

जीवितं मरणं चैव नाभिनन्दन्न च द्विषन् ।
वास्यैकं तक्षतो बाहुं चन्दनेनैकमुक्षतः ।
नाकल्याणं न कल्याणं चिन्तयन्नुभयोस्तयोः ॥१३॥

न तो मैं जीवन का अभिनन्दन करूँगा और न मृत्यु से द्वेष ही करूँगा । यदि एक मनुष्य मेरी एक भुजा को वसूले से काटता हो और दूसरा दूसरे बाहु को चन्दनमिश्रित जल से सींचता हो तो न पहले का अमङ्गल सोचूँगा और न दूसरे के लिए मङ्गल-कामना करूँगा । मैं उन दोनों के प्रति समान भाव रक्खूँगा ।

विमुक्तः सर्वसङ्गेभ्यो व्यतीतः सर्ववागुराः ।
न वशे कस्यचित्तिष्ठन् सधर्मा मातरिश्वनः ॥१४॥

सब प्रकार की आसक्तियों से मुक्त रहकर मैं स्नेह के सारे बन्धनों को लाँघ जाऊँगा; किसी के अधीन न रहकर वायु के समान सर्वत्र विचरूँगा ।

वीतरागश्चरन्नेवं तुष्टिं प्राप्स्यामि शाश्वतीम् ।
तृष्णया हि महत्पापमज्ञानादस्मि कारितः ॥१५॥

इस प्रकार वीतराग होकर विचरने से मुझे शाश्वत सन्तोष प्राप्त होगा । अज्ञान में फँसे होने के कारण तृष्णा ने मुझसे बड़े-बड़े पाप कराये हैं ।

जन्ममृत्युजराव्याधिवेदनाभिरभिद्रुतम् ।
अपारमिव चास्वस्थं संसारं त्यजतः सुखम् ॥१६॥

इस संसार में जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था, शारीरिक रोग और मानसिक वेदनाओं का आक्रमण होता ही रहता है, जिससे यहाँ का जीवन कभी स्वस्थ नहीं रहता; जो अपार-सा प्रतीत होनेवाले इस संसार को त्याग देता है, उसी को सुख मिलता है ।

अद्य प्रज्ञामृतमिदं चिरान्मां प्रत्युपस्थितम् ।
तत्प्राप्य प्रार्थये स्थानमव्ययं शाश्वतं ध्रुवम् ॥१७॥

आज दीर्घकाल के पश्चात् मुझे यह विवेकरूपी अमृत प्राप्त हुआ है । इसे पाकर मैं अक्षय, अविकारी और सनातनपद [मोक्ष] को प्राप्त करना चाहता हूँ ।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

चतुर्थोऽध्यायः

भीम, नकुल और सहदेव का युधिष्ठिर को समझाना

भीम उवाच

श्रोत्रियस्येव ते राजन् मन्दकस्याविपश्चितः ।
अनुवाकहताबुद्धिर्नैषा तत्त्वार्थदर्शिनी ॥१॥

भीमसेन बोले—राजन् ! जैसे मन्द और अर्थज्ञान से शून्य श्रोत्रिय की बुद्धि केवल मन्त्रपाठ द्वारा नष्ट हो जाती है, वैसे ही आपकी बुद्धि भी तात्त्विक अर्थ को देखने-[जानने]-वाली नहीं है ।

आलस्ये कृतचित्तस्य राजधर्मानसूयतः ।
विनाशे धार्तराष्ट्राणां किं फलं भरतर्षभ ॥२॥

भरतश्रेष्ठ ! यदि राजधर्म की निन्दा करते हुए

आपने आलस्यपूर्ण जीवन बिताने का ही निश्चय किया था तो धृतराष्ट्र के पुत्रों का वध कराने से क्या फल मिला ?

यदीमां भवतो बुद्धिं विद्याम वयमीदृशीम् ।
शस्त्रं नैव ग्रहीष्यामो न वधिष्याम कञ्चन ॥३॥

यदि हमें पहले पता चल जाता कि आपके विचार इस प्रकार के हैं, तब न तो हम हथियार ही उठाते और न किसी का वध ही करते ।

भैक्ष्यमेवाचरिष्याम शरीरस्या विमोक्षणात् ।
न चेदं दारुणं युद्धमभविष्यन्महीक्षिताम् ॥४॥

हम भी आपकी भाँति यावज्जीवन भीख माँगकर ही निर्वाह कर लेते और राजाओं का भयंकर नरसंहारवाला युद्ध भी न होता ।

यथा हि पुरुषः खात्वा कूपमप्राप्य चोदकम् ।
पङ्कदिग्धो निवर्तेत कर्मेदं नस्तथोपमम् ॥५॥

जैसे कोई मनुष्य परिश्रमपूर्वक कुँआ खोदे और उसमें पानी न मिलने पर शरीर में कीचड़ लपेटकर वहाँ से निराश लौट आये, वैसे ही हमारा किया-कराया सारा पराक्रम व्यर्थ होना चाहता है ।

यथाऽऽरुह्य महावृक्षमपहृत्य ततो मधु ।
अप्राश्य निधनं गच्छेत् कर्मेदं नस्तथोपमम् ॥६॥

जैसे कोई मनुष्य विशाल वृक्ष पर चढ़कर वहाँ से मधु तो उतार लाये परन्तु उसे खाने से पूर्व ही उसकी मृत्यु हो जाए, हमारा यह पुरुषार्थ भी वैसा ही हो रहा है ।

यथा शत्रून् घातयित्वा पुरुषः कुरुनन्दन ।
आत्मानं घातयेत्पश्चात् कर्मेदं नस्तथोपमम् ॥७॥

हे कुरुकुलभूषण ! जैसे कोई मनुष्य शत्रुओं का संहार करने के पश्चात् अपना भी वध कर डाले, हमारा यह कर्म भी वैसा ही है ।

आपत्काले हि संन्यासः कर्तव्य इति शिष्यते ।
जरयाभिपरीतेन शत्रुभिर्व्यंसितेन वा ॥८॥

शास्त्र का उपदेश यह है कि आपत्तिकाल में अथवा वृद्धावस्था के कारण शरीर के जर्जर हो जाने या शत्रुओं द्वारा धन-सम्पत्ति से वञ्चित कर दिये जाने पर मनुष्य को संन्यास ग्रहण करना चाहिए ।

शक्यं तु मौनमास्थाय बिभ्रताऽऽत्मानमात्मना ।
धर्मच्छद्म समास्थाय च्यवितुं न तु जीवितुम् ॥९॥

धर्म की आड़ लेकर केवल अपना पेट पालते हुए मौनी बाबा वनकर बैठ जाने से कर्तव्य से भ्रष्ट होना ही सम्भव है, जीवन को सार्थक बनाना असम्भव है ।

नेमे मृगाः स्वर्गजितो न वराहा न पक्षिणः ।
अथान्येन प्रकारेण पुण्यमाहुर्न तं जनाः ॥१०॥

सदा ही वन में विचरने पर भी मृग, सूअर और पक्षी स्वर्गलोक के अधिकारी नहीं हो जाते । पुण्य की प्राप्ति तो दूसरे ही मार्ग से होती है । श्रेष्ठ पुरुष केवल वनवास को पुण्यदायक नहीं मानते ।

यदि संन्यासतः सिद्धिं राजा कश्चिदवाप्नुयात् ।
पर्वताश्च द्रुमाश्चैव क्षिप्रं सिद्धिमवाप्नुयुः ॥११॥

यदि कोई राजा केवल संन्यास से ही सिद्धि प्राप्त कर ले, तब तो पर्वत और वृक्ष भी बहुत शीघ्र सिद्धि पा सकते हैं !

एते हि नित्यसंन्यासा दृश्यन्ते निरुपद्रवाः ।
अपरिग्रहवन्तश्च सततं ब्रह्मचारिणः ॥१२॥

क्योंकि ये नित्यसंन्यासी, उपद्रवशून्य, संग्रहरहित और निरन्तर ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाले देखे जाते हैं ।

अवेक्षस्व यथा स्वैः स्वैः कर्मभिर्व्यापृतं जगत् ।
तस्मात् कर्मैव कर्तव्यं नास्ति सिद्धिरकर्मणः ॥१३॥

देखिए और विचारिए कि सारा संसार किस प्रकार अपने कर्मों में लगा हुआ है । आपको भी क्षत्रियोचित कर्तव्य का ही पालन करना चाहिए । अकर्मण्य पुरुष को कभी कोई सिद्धि प्राप्त नहीं होती ।

नकुल उवाच

आश्रमांस्तुलया सर्वान् धृतानाहुर्मनीषिणः ।
एकतश्च त्रयो राजन् गृहस्थाश्रम एकतः ॥१४॥
समीक्ष्य तुलया पार्थ कामं स्वर्गं च भारत ।
अयं पन्था महर्षीणामियं लोकविदां गतिः ॥१५॥

नकुल बोले—राजन् ! कहते हैं कि एक समय मनीषी पुरुषों ने चारों आश्रमों को विवेक-तुला पर तोला था । एक ओर तो अन्य तीन आश्रम थे और दूसरी ओर अकेला गृहस्थाश्रम था । हे पार्थ !

भरत ! इस प्रकार विवेक की तुला पर तोलने पर गृहस्थाश्रम ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ, क्योंकि वहाँ भोग और स्वर्ग दोनों सुलभ थे । तब उन्होंने निश्चय किया कि 'यही मुनियों का मार्ग है और यही लोकवेत्ताओं की गति है' ।

कुटुम्बमास्थिते त्यागं न पश्यामि नराधिप ।
राजसूयाश्वमेधेषु सर्वमेधेषु वा पुनः ॥१६॥

हे नरेश्वर ! जिसपर कुटुम्ब का भार हो उसके लिए त्याग का विधान देखने में नहीं आता, उसे तो राजसूय, अश्वमेध अथवा सर्वमेध यज्ञों में प्रवृत्त होना चाहिए ।

राज्ञः प्रमाददोषेण दस्युभिः परिमुष्यताम् ।
अशरण्यः प्रजानां यः स राजा कलिरुच्यते ॥१७॥

राजा के प्रमाददोष से लुटेरे प्रबल होकर प्रजा को लूटने लगते हैं, ऐसी दशा में जो राजा प्रजा को शरण नहीं देता, उसे मूर्तिमान् कलियुग कहा जाता है ।

अन्तर्बहिश्च यत्किञ्चिन्मनोव्यासङ्गकारकम् ।
परित्यज्य भवेत् त्यागी न हित्वा प्रतितिष्ठति ॥१८॥

बाहर और भीतर जो कुछ भी मन को फँसानेवाली वस्तुएँ या विषय हैं, उन सबको छोड़ देने से मनुष्य त्यागी होता है, केवल घर छोड़ देने से त्याग की सिद्धि नहीं होती ।

सहदेव उवाच

लब्ध्वापि पृथिवीं कृत्स्नां सहस्थावरजङ्गमाम् ।
न भुंक्ते यो नृपः सम्यङ् निष्फलं तस्य जीवितम् ॥१९

जो राजा जड़ और चेतन प्राणियों से परिपूर्ण इस पृथिवी को पाकर इसका ठीक प्रकार से उपभोग नहीं करता, उसका जीवन निष्फल है ।

अथवा वसतो राजन् वने वन्येन जीवतः ।
द्रव्येषु यस्य ममता मृत्योरास्ये स वर्तते ॥२०॥

अथवा हे राजन् ! वन में रहकर वन के कन्द-मूल, फलों से जीवन-निर्वाह करते हुए भी जिस मनुष्य की द्रव्यों में ममता बनी रहती है, वह मौत के ही मुख में है ।

द्व्यक्षरस्तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम् ।
ममेति च भवेन्मृत्युर्न ममेति च शाश्वतम् ॥२१॥

दो अक्षरों का 'मम' [यह मेरा है, ऐसा भाव] मृत्यु है और तीन अक्षरों का 'न मम' [यह मेरा नहीं है, ऐसा भाव] अमृत—सनातन ब्रह्म है ।

बाह्यान्तरं च भूतानां स्वभावं पश्य भारत ।
ये तु पश्यन्ति तद् भूतं मुच्यन्ते ते महाभयात् ॥२२॥

हे भरतनन्दन ! प्राणियों का बाह्य स्वभाव कुछ और होता है तथा आन्तरिक स्वभाव कुछ और । आप उसपर चिन्तन और मनन कीजिए । जो सबके भीतर विराजमान परमात्मा को देखते हैं, वे महान् भय से मुक्त हो जाते हैं ।

भवान्पिता भवान्माता भवान्भ्राता भवान् गुरुः ।
दुःखप्रलापानार्तस्य तन्मे त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥२३॥

प्रभो ! आप मेरे पिता, माता, भ्राता और गुरु हैं । मैंने आर्त होकर दुःख में जो-जो प्रलाप किये हैं, उन सबको आप क्षमा करें ।

तथ्यं वा यदि वातथ्यं यन्मयैतत् प्रभाषितम् ।
तद् विद्धि पृथिवीपाल भक्त्या भरतसत्तम ॥२४॥

हे भरतवंशभूषण भूपाल ! मैंने जो कुछ भी कहा है वह यथार्थ हो या अयथार्थ हो, आपके प्रति भक्ति होने के कारण ही वे बातें मेरे मुख से निकली हैं, यह आप भली-भाँति समझ लें ।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

पञ्चमोऽध्यायः

द्रौपदी का युधिष्ठिर को राज्यशासन के लिए प्रेरित करना

द्रौपद्युवाच

इमे ते भ्रातरः पार्थ शुष्यन्ते स्तोकका इव ।
वावाश्यमानास्तिष्ठन्ति न चैनानभिनन्दसे ॥१॥

द्रौपदी ने कहा—कुन्तीनन्दन ! आपके ये भाई आपका संकल्प सुनकर सूख गये हैं और पपीहों के समान आपसे राज्य-शासन करने की टेर लगा रहे हैं, फिर भी आप इनका अभिनन्दन क्यों नहीं कर रहे हैं ?

कथं द्वैतवने राजन् पूर्वमुक्त्वा तथा वचः ।
वयं दुर्योधनं हत्वा मृधे भोक्ष्याम मेदिनीम् ॥२॥
यजतां विविधैर्यज्ञैः समृद्धैराप्तदक्षिणैः ।
वनवासकृतं दुःखं भविष्यति सुखाय वः ॥३॥
इत्येतानेवमुक्त्वा त्वं स्वयं धर्मभृतां वर ।
कथमद्य पुनर्वीर विनिहंसि मनांसि नः ॥४॥

हे राजन् ! द्वैतवन में सभी भाइयों को धैर्य देते हुए आपने कहा था—'हम युद्ध में दुर्योधन को मारकर इस पृथिवी का उपभोग करेंगे । उस समय पर्याप्त दक्षिणावाले नाना प्रकार के समृद्धिशाली यज्ञों के अनुष्ठान से तुम लोगों का यह वनवास-जनित दुःख सुखरूप में परिवर्तित हो जाएगा ।' धर्मात्माओं में श्रेष्ठ ! वीर महाराज ! पहले द्वैतवन में इन भाइयों से स्वयं ही ऐसी बातें कहकर आज आप हम लोगों का दिल क्यों तोड़ रहे हैं ?

न क्लीबो वसुधां भुङ्क्ते न क्लीबो धनमश्नुते । ☐
न क्लीबस्य गृहे पुत्रा मत्स्याः पङ्क इवासते ॥५॥

जो कायर और नपुंसक है, वह पृथिवी का उपभोग नहीं कर सकता । कायर धन का उपार्जन और भोग भी नहीं कर सकता । जैसे केवल कीचड़ में मछलियाँ नहीं होतीं, वैसे ही नपुंसक के घर में पुत्र नहीं होते ।

नादण्डः क्षत्रियो भाति नादण्डो भूतिमश्नुते ।
नादण्डस्य प्रजा राज्ञः सुखमेधन्ति भारत ॥६॥

दण्ड देने में अशक्त क्षत्रिय की शोभा नहीं होती, दण्ड न देनेवाला राजा ऐश्वर्य का उपभोग नहीं कर सकता । हे भारत ! दण्डहीन राजा की प्रजाओं को कभी सुख नहीं मिलता ।

मित्रता सर्वभूतेषु दानमध्ययनं तपः ।
ब्राह्मणस्यैव धर्मः स्यान्न राज्ञो राजसत्तम ॥७॥

हे नृपश्रेष्ठ ! सभी प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव, दान देना और लेना, अध्ययन और तप—यह ब्राह्मण का ही धर्म है, राजा का नहीं ।

असतां प्रतिषेधश्च सतां च परिपालनम् ।
एष राज्ञां परो धर्मः समरे चापलायनम् ॥८॥

राजाओं का तो यही परम धर्म है कि वे दुष्टों को दण्ड दें और सज्जनों का पालन करें तथा युद्ध में कभी पीठ न दिखाएं ।

यस्मिन् क्षमा च क्रोधश्च दानादाने भयाभये । ☐
निग्रहानुग्रहौ चोभौ स वै धर्मविदुच्यते ॥९॥

जिसमें समयानुसार क्षमा और क्रोध दोनों प्रकट हों, जो दान देता और कर लेता है, जिसमें शत्रु को भय दिखाने और शरणागत को अभय देने की शक्ति है, जो दुष्टों को दण्ड देता और दीनों पर अनुग्रह करता है, वही धर्मज्ञ कहलाता है ।

न श्रुतेन न दानेन न सान्त्वेन न चेज्यया ।
त्वयेयं पृथिवी लब्धा न संकोचेन चाप्युत ॥१०॥

आपको यह पृथिवी न तो शास्त्रों के श्रवण से मिली है, न दान में प्राप्त हुई है, न किसी को समझाने-बुझाने से, न यज्ञ करने से और न भीख माँगने से उपलब्ध हुई है ।

यत्तद् बलममित्राणां तथा वीर्यसमुद्यतम् ।
हस्त्यश्वरथसम्पन्नं त्रिभिरङ्गैरनुत्तमम् ॥११॥
रक्षितं द्रोणकर्णाभ्यामश्वत्थाम्ना कृपेण च ।
तत्त्वया निहतं वीर तस्माद् भुंक्ष्व वसुन्धराम् ॥१२॥

शत्रुओं की पराक्रमसम्पन्न, हाथी, घोड़े और रथ—इन तीनों अङ्गों से युक्त तथा द्रोण, कर्ण, अश्वत्थामा और कृपाचार्य से रक्षित श्रेष्ठ सेना का वध करके यह पृथिवी आपके अधिकार में आई है, अतः वीर ! आप इसका उपभोग करें ।

अनृतं नाब्रवीच्छ्वश्रूः सर्वज्ञा सर्वदर्शिनी ।
युधिष्ठिरस्त्वां पाञ्चालि सुखे धास्यत्यनुत्तमे ॥१३॥
हत्वा राजसहस्राणि बहून्याशुपराक्रमः ।
तद्व्यर्थं सम्प्रपश्यामि मोहात्तव जनाधिप ॥१४॥

महाराज ! मेरी सास कभी झूठ नहीं बोलीं । वे सब-कुछ जानने और देखनेवाली हैं । उन्होंने मुझसे कहा था—'पाञ्चालराजकुमारी ! युधिष्ठिर शीघ्र ही पराक्रम दिखानेवाले हैं । वे सहस्रों राजाओं का संहार करके तुम्हें सुख के सिंहासन पर प्रतिष्ठित करेंगे'—परन्तु नरेश्वर ! आज आपका यह मोह देखकर मुझे अपनी सास की कही हुई बात भी असत्य होती दिखाई देती है ।

प्रशाधि पृथिवीं देवीं प्रजां धर्मेण पालयन् ।
सपर्वतवनद्वीपां मा राजन् विमना भव ॥१५॥

राजन् ! आप धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करते हुए पर्वत, वन और द्वीपों सहित दिव्यगुणोंवाली पृथिवी का शासन कीजिए । इस प्रकार उदासीन मत होइए ।

यजस्व विविधैर्यज्ञैर्युध्यस्वारीन् प्रयच्छ च ।
धनानि भोगान् वासांसि द्विजातिभ्यो नृपोत्तम ॥१६॥

हे नृपश्रेष्ठ ! आप नाना प्रकार के यज्ञों का अनुष्ठान और शत्रुओं के साथ युद्ध कीजिए, ब्राह्मणों को धन, भोगसामग्री और वस्त्रों का दान कीजिए ।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

षष्ठोऽध्यायः

अर्जुन द्वारा राजदण्ड की महत्ता का प्रतिपादन

वैशम्पायन उवाच

याज्ञसेन्या वचः श्रुत्वा पुनरेवार्जुनोऽब्रवीत् ।
अनुमान्य महाबाहुं ज्येष्ठं भ्रातरमच्युतम् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! द्रुपदपुत्री के इन वचनों को सुनकर अपनी मर्यादा से कभी च्युत न होनेवाले बड़े भाई महाबाहु युधिष्ठिर का सम्मान करते हुए अर्जुन ने—उनसे पुनः इस प्रकार कहा—

अर्जुन उवाच

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥२॥

अर्जुन बोले—हे राजन् ! दण्ड समस्त प्रजाओं पर शासन करता है, दण्ड ही उनकी सब ओर से रक्षा करता है, सबके सो जाने पर भी दण्ड जागता रहता है, अतः विद्वानों ने दण्ड को राजा का धर्म माना है।

दण्डः संरक्षते धर्मं तथैवार्थं जनाधिप ।
कामं संरक्षते दण्डस्त्रिवर्गो दण्ड उच्यते ॥३॥

हे नरेश्वर ! दण्ड ही धर्म और अर्थ की रक्षा करता है, वही काम का भी रक्षक है, अतः दण्ड त्रिवर्गरूप कहा जाता है ।

दण्डेन रक्ष्यते धान्यं धनं दण्डेन रक्ष्यते ।
एवं विद्वानुपाधत्स्व स्वभावं पश्य लौकिकम् ॥४॥

दण्ड से धान्य की रक्षा होती है, उसी से धन की भी रक्षा होती है, ऐसा जानकर आप भी दण्ड धारण कीजिए और संसार के व्यवहार पर दृष्टिपात कीजिए ।

राजदण्डभयादेके पापाः पापं न कुर्वते ।
यमदण्डभयादेके परलोकभयादपि ॥५॥
परस्परभयादेके पापाः पापं न कुर्वते ।
एवं सांसिद्धिके लोके सर्वं दण्डे प्रतिष्ठितम् ॥६॥

कितने ही पापी राजदण्ड के भय से पाप नहीं करते, कुछ लोग यमदण्ड के भय से, कोई परलोक के भय से और कितने ही पापी परस्पर एक-दूसरे के भय से पाप में प्रवृत्त नहीं होते । संसार की ऐसी ही स्वाभाविक स्थिति है, अतः सब-कुछ दण्ड में ही प्रतिष्ठित है ।

दण्डस्यैव भयादेके न निघ्नन्ति परस्परम् ।
अन्धे तमसि मज्जेयुर्यदि दण्डो न पालयेत् ॥७॥

बहुत-से लोग दण्ड के भय से ही एक-दूसरे का वध नहीं करते हैं । यदि दंण्ड रक्षा न करे तो सब लोग अन्धकार में डूब जाएँ ।

यस्माददान्तान् दमयत्यशिष्टान् दण्डयत्यपि ।
दमनाद् दण्डनाच्चैव तस्माद् दण्डं विदुर्बुधाः ॥८॥

यह उद्दण्ड मनुष्यों का दमन करता है और दुष्टों को दण्ड देता है, अतः दण्ड और दमन के कारण विद्वान् लोग इसे 'दण्ड' कहते हैं ।

वाचा दण्डो ब्राह्मणानां क्षत्रियाणां भुजार्पणम् ।
दानदण्डाः स्मृता वैश्या निर्दण्डः शूद्र उच्यते ॥९॥

अपराध करने पर वाणी से अपमानित करना ही ब्राह्मण का दण्ड है, क्षत्रिय को भोजन-वस्त्रमात्र के लिए वेतन देकर उससे कार्य लेना ही उसका दण्ड है, वैश्यों से अर्थदण्ड [जुरमाने] के रूप में धन ग्रहण करना उनका दण्ड है, परन्तु शूद्र दण्डरहित कहा गया है । सेवा लेने के अतिरिक्त उसके लिए और कोई दण्ड नहीं है ।

भुजार्पणम् का यह अर्थ युक्त नहीं है
अपितु यह अर्थ कि उनके हाथ बाँध-
[illegible] जिन हाथों से वे पराक्रम दिख

असम्मोहाय मर्त्यानामर्थसंरक्षणाय च ।
मर्यादा स्थापिता लोके दण्डसंज्ञा विशाम्पते ॥१०॥

हे नरेश्वर ! मनुष्यों को प्रमाद से बचाने और उनके धन की सुरक्षा के लिए लोक में जो मर्यादा स्थापित की गई है, उसी का नाम दण्ड है ।

यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति सूद्यतः ।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ते नेता चेत्साधु पश्यति ॥११॥

जहाँ काला [मार के कारण दण्डनीय की आँखों के समक्ष अँधेरा छा जाता है] और लाल आँखों-वाला [दण्ड देनेवाले की आँखें क्रोध से लाल रहती हैं] दण्ड शासन के लिए सदा सावधान होकर विचरता है और नेता या शासक अपराधों पर तीक्ष्ण दृष्टि रखता है, वहाँ प्रजा प्रमाद नहीं करती ।

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थश्च भिक्षुकाः ।
दण्डस्यैव भयादेते मनुष्या वर्त्मनि स्थिताः ॥१२॥

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी—ये सभी मनुष्य दण्ड के भय से ही अपने-अपने मार्ग [आश्रमधर्म-पालन] में स्थिर रहते हैं ।

नाभीतो यजते राजन् नाभीतो दातुमिच्छति ।
नाभीतः पुरुषः कश्चित् समये स्थातुमिच्छति ॥१३॥

राजन् ! बिना भय कोई यज्ञ नहीं करता, बिना भय के कोई दान नहीं करना चाहता और दण्ड का भय न हो तो कोई मनुष्य मर्यादा या प्रतिज्ञा-पालन पर भी स्थिर नहीं रहना चाहता ।

नाच्छित्त्वा परमर्माणि नाकृत्वा कर्म दुष्करम् ।
नाहत्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महतीं श्रियम् ॥१४॥

मछलीमारों के समान दूसरों के मर्मस्थानों का उच्छेद और दुष्कर कर्म किये बिना तथा बहुसंख्यक प्राणियों को मारे बिना कोई बहुत बड़ी सम्पत्ति प्राप्त नहीं करता ।

नाघ्नतः कीर्तिरस्तीह न वित्तं न पुनः प्रजाः ।
इन्द्रो वृत्रवधेनैव महेन्द्रः समपद्यत ॥१५॥

जो युद्ध में दूसरों का वध नहीं करता, उसे इस संसार में न यश मिलता है, न धन प्राप्त होता है और न प्रजा ही मिलती है । इन्द्र ने वृत्रासुर का वध करके ही महेन्द्र की पदवी पायी थी ।

न हि पश्यामि जीवन्तं लोके कञ्चिदहिंसया ।
सत्त्वैः सत्त्वा हि जीवन्ति दुर्बलैर्बलवत्तराः ॥१६॥

मैं संसार में किसी भी ऐसे मनुष्य को नहीं देखता जो अहिंसा से जीवन-निर्वाह करता हो, क्योंकि प्रबल जीव दुर्बल जीवों द्वारा ही जीवन-यापन करते हैं ।

नकुलो मूषकानत्ति बिडालो नकुलं तथा ।
बिडालमत्ति श्वा राजन् श्वानं व्यालमृगस्तथा ॥१७॥

राजन् ! नेवला चूहे को खा जाता है और नेवले को बिलाव, बिलाव को कुत्ता और कुत्ते को चीता अपना ग्रास बना लेता है ।

विधानं दैवविहितं तत्र विद्वान् न मुह्यति ।
यथा सृष्टोऽसि राजेन्द्र तथा भवितुमर्हसि ॥१८॥

हे राजेन्द्र ! यह सब दैव का विधान है, इसमें विद्वान् पुरुष को मोह नहीं होता । आपको विधाता ने जैसा बनाया है आपको अपनी जाति और कुल के अनुसार वैसा ही होना चाहिए ।

विनीतक्रोधहर्षा हि मन्दा वनमुपाश्रिताः ।
विना वधं न कुर्वन्ति तापसाः प्राणयापनम् ॥१९॥

क्रोध और हर्ष से शून्य मन्दबुद्धि क्षत्रिय ही वन में जाकर तपस्वी बनते हैं, परन्तु बिना हिंसा किये वे भी निर्वाह नहीं कर सकते ।

उदके बहवः प्राणाः पृथिव्यां च फलेषु च ।
न च कश्चिन्न तान्हन्ति किमन्यत्प्राणयापनात् ॥२०॥

जल में बहुत-से जीव हैं, पृथिवी पर तथा वृक्षों के फलों में भी बहुत-से कीड़े होते हैं । संसार में कोई भी ऐसा मनुष्य नहीं है जो इनमें से किसी को कभी न मारता हो । यह सब जीवन-निर्वाह के सिवा और क्या है ?

सूक्ष्मयोनीनि भूतानि तर्कगम्यानि कानिचित् ।
पक्ष्मणोऽपि निपातेन येषां स्यात् स्कन्धपर्ययः ॥२१॥

कितने ही ऐसे सूक्ष्म योनि के जीव हैं जो अनुमान से ही जाने जाते हैं । मनुष्यों के पलक झपकने से ही जिनके कन्धे टूट जाते हैं [ऐसे जीवों की हिंसा से कोई कहाँ तक बच सकता है] ?

दण्डनीत्यां प्रणीतायां सर्वे सिद्ध्यन्त्युपक्रमाः ।
कौन्तेय सर्वभूतानां तत्र मे नास्ति संशयः ॥२२॥

हे पार्थ ! दण्डनीति का ठीक-ठीक प्रयोग होने

पर समस्त प्राणियों के सभी कार्य ठीक प्रकार सिद्ध होते हैं, इसमें मुझे संशय नहीं है।

दण्डश्चेन्न भवेल्लोके विनश्येयुरिमाः प्रजाः ।
जले मत्स्यानिवाभक्ष्यन् दुर्बलान् बलवत्तराः ॥२३॥

यदि संसार में दण्ड न रहे तो सारी प्रजा नष्ट हो जाए और जैसे जल में बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को खा जाती हैं; वैसे ही बलवान् निर्बलों को अपना ग्रास बना लें।

सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्जनः ।
दण्डस्य हि भयाद्भीतो भोगायैव प्रवर्तते ॥२४॥

सारा संसार दण्ड से विवश होकर ही सुमार्ग में स्थित रहता है, क्योंकि स्वभावतः सर्वथा निष्पाप मनुष्य मिलना कठिन है। दण्ड के भय से डरा हुआ मनुष्य ही मर्यादा-पालन में प्रवृत्त होता है।

चातुर्वर्ण्यप्रमोदाय सुनीतिनयनाय च ।
दण्डो विधात्रा विहितो धर्मार्थौ भुवि रक्षितुम् ॥२५॥

विधाता ने दण्ड का विधान इस प्रयोजन से किया है कि ब्राह्मणादि चारों वर्णों के लोग आनन्द से रहें, सबमें अच्छी नीति का बर्ताव हो तथा भूमण्डल पर धर्म और अर्थ की रक्षा होती रहे।

यज देहि प्रजां रक्ष धर्मं समनुपालय ।
अमित्राञ्जहि कौन्तेय मित्राणि परिपालय ॥२६॥

हे कुन्तीनन्दन ! यज्ञ करो, दान दो, प्रजाओं की रक्षा करो और निरन्तर धर्म का पालन करो। आप शत्रुओं का वध और मित्रों का पालन करो।

मा च ते निघ्नतः शत्रून् मन्युर्भवतु पार्थिव ।
न तत्र किल्बिषं किञ्चित् कर्तुर्भवति भारत ॥२७॥

हे राजन् ! शत्रुओं का वध करते समय आपके मन में दीनता नहीं आनी चाहिए। भारत ! शत्रुओं का वध करने से कर्ता को कोई पाप नहीं लगता।

आततायी हि यो हन्यादाततायिनमागतम् ।
न तेन भ्रूणहा स स्यान्मन्युस्तं मन्युमार्छति ॥२८॥

जो हथियार लेकर मारने आया हो, उस आततायी को जो स्वयं भी आततायी बनकर मार डाले, वह भ्रूणहत्या का भागी नहीं होता, क्योंकि मारने के लिए आये हुए उस मनुष्य का क्रोध ही उसका वध करनेवाले के मन में भी क्रोध उत्पन्न कर देता है।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

सप्तमोऽध्यायः

भीम का युधिष्ठिर को राज्यशासन और यज्ञ करने के लिए प्रेरित करना, युधिष्ठिर द्वारा मुनिवृत्ति और ज्ञानियों की प्रशंसा

वैशम्पायन उवाच

अर्जुनस्य वचः श्रुत्वा भीमसेनोऽत्यमर्षणः ।
धैर्यमास्थाय तेजस्वी ज्येष्ठं भ्रातरमब्रवीत् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! अर्जुन की बात सुनकर अत्यन्त अमर्षशील तेजस्वी भीमसेन ने धैर्य धारण करके अपने बड़े भाई से कहा—

भीम उवाच

राजन् विदितधर्मोऽसि न तेऽस्त्यविदितं क्वचित् ।
उपशिक्षाम ते वृत्तं सदैव न च शक्नुमः ॥२॥

भीमसेन बोले—राजन् ! आप सब धर्मों के ज्ञाता हैं, आपसे कुछ भी अज्ञात नहीं है। हम लोग सदा ही आपसे सदाचार की शिक्षा पाते हैं, हम आपको शिक्षा दे नहीं सकते।

न वक्ष्यामि न वक्ष्यामीत्येवं मे मनसि स्थितम् ।
अति दुःखात्तु वक्ष्यामि तन्निबोध जनाधिप ॥३॥

हे नरेश्वर ! मैंने कई बार मन में निश्चय किया है कि 'अब नहीं बोलूँगा, नहीं बोलूँगा', परन्तु अतिकष्ट होने के कारण बोलना ही पड़ता है। आप मेरी बात सुनें।

दृष्ट्वा सभागतां कृष्णामेकवस्त्रां रजस्वलाम् ।
मिषतां पाण्डुपुत्राणां न तस्य स्मर्तुमर्हसि ॥४॥

कौरव-सभा में पाण्डुपुत्रों के देखते-देखते जो एक वस्त्रधारिणी रजस्वला द्रौपदी को लाया गया

था, उसे आपने अपनी आँखों से देखा था । क्या आपको उस घटना का स्मरण नहीं है ?

प्रव्राजनं च नगरादजिनैश्च विवासनम् ।
महारण्यनिवासश्च न तस्य स्मर्तुमर्हसि ।।५।।

आप नगर से निकाले गये, आपको मृगचर्म पहनाकर वनवास दे दिया गया और भीषण वनों में आपको रहना पड़ा, क्या इन सब बातों का आपको स्मरण नहीं है ?

जटासुरात् परिक्लेशं चित्रसेनेन चाहवम् ।
सैन्धवाच्च परिक्लेशं कथं विस्मृतवानसि ।।६।।

जटासुर से जो कष्ट प्राप्त हुआ, चित्रसेन गन्धर्व के साथ जो युद्ध करना पड़ा और सिन्धुराज जयद्रथ के कारण जो अपमानजनक दुःख भोगना पड़ा—ये सारी वातें आप कैसे भूल गये ?

पुनरज्ञातचर्यायां कीचकेन पदा वधम् ।
द्रौपद्या राजपुत्र्याश्च कथं विस्मृतवानसि ।।७।।

फिर अज्ञातवास के समय कीचक ने जो आपके सामने ही राजकुमारी द्रौपदी को लात मारी थी, उस घटना को आप कैसे भुला बैठे ?

यच्च ते द्रोणभीष्माभ्यां युद्धमासीदरिंदम ।
मनसैकेन योद्धव्यं तत्ते युद्धमुपस्थितम् ।।८।।

शत्रुसंहारक नरेश ! द्रोणाचार्य और भीष्म के साथ जो आपका युद्ध हुआ था, वैसा ही दूसरा युद्ध आपके सामने उपस्थित है, इस समय आपको केवल अपने मन के साथ युद्ध करना है ।

यत्र नास्ति शरैः कार्यं न मित्रैर्न च बन्धुभिः ।
आत्मनैकेन योद्धव्यं तत्ते युद्धमुपस्थितम् ।।९।।

इस संग्राम में न तो बाणों की आवश्यकता है, न मित्रों और बन्धुओं की सहायता की । इस समय जो युद्ध आपके समक्ष उपस्थित है, वह आपको अकेले ही लड़ना है ।

तस्मिन्ननिर्जिते युद्धे प्राणान् यदि विमोक्ष्यसे ।
अन्यं देहं समास्थाय ततस्तैरपि योत्स्यसे ।।१०।।

यदि इस युद्ध में विजय पाये बिना आप प्राणों को त्याग देंगे तो दूसरा शरीर धारण करके पुनः उन्हीं शत्रुओं के साथ आपको युद्ध करना होगा ।

तस्मादद्यैव गन्तव्यं युध्यस्व भरतर्षभ ।
परमव्यक्तरूपस्य व्यक्तं त्यक्त्वा स्वकर्मभिः ।।११।।

भरतभूषण ! प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले साकार शत्रु को छोड़कर अव्यक्त=सूक्ष्म शत्रु मन के साथ युद्ध करने के लिए आपको अभी चल देना चाहिए । विचार आदि बौद्धिक क्रियाओं द्वारा आप उसके साथ अवश्य युद्ध करें ।

तस्मिन्ननिर्जिते युद्धे कामवस्थां गमिष्यसि ।
एतज्जित्वा महाराज कृतकृत्यो भविष्यसि ।।१२।।

महाराज ! यदि युद्ध में आपने अपने मन को नहीं जीता तो पता नहीं आप किस अवस्था को प्राप्त होंगे और मन को जीत लिया तो कृतकृत्य हो जाएँगे ।

एतां बुद्धिं विनिश्चित्य भूतानामागतिं गतिम् ।
पितपैतामहे वृत्ते शाधि राज्यं यथोचितम् ।।१३।।

प्राणियों के जन्म और मृत्यु को देखते हुए इस विचारधारा को बुद्धि में निश्चित करके आप पिता-पितामहों के आचरण में प्रतिष्ठित होकर यथोचित रूप से राज्य का संचालन कीजिए ।

यजस्व वाजिमेधेन विधिवद् दक्षिणावता ।
वयं ते किंकराः पार्थ वासुदेवश्च वीर्यवान् ।।१४।।

पार्थ ! आप विधिपूर्वक दक्षिणा देते हुए अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान करें । हम सभी भाई और पराक्रमी श्रीकृष्ण आपके आज्ञापालक हैं ।

युधिष्ठिर उवाच

असन्तोषः प्रमादश्च मदो रागोऽप्रशान्तता ।
बलं मोहोऽभिमानश्चाप्युद्वेगश्चैव सर्वशः ।।१५।।
एभिः पाप्मभिराविष्टो राज्यं त्वमभिकांक्षसे ।
निरामिषो विनिर्मुक्तः प्रशान्तः सुसुखी भव ।।१६।।

युधिष्ठिर बोले—भीमसेन ! असन्तोष, प्रमाद, मद, राग, अशान्ति, बल, मोह, अभिमान और उद्वेग—ये सभी पाप तुम्हारे भीतर घुस गये हैं, अतः तुम्हें राज्य की इच्छा होती है । भाई ! सकाम कर्म और आमिष[1]=बन्धन से रहित होकर सर्वथा मुक्त, शान्त एवं सुखी हो जाओ ।

---

[1] आमिषं बन्धनं लोके : इसी अध्याय का २१वाँ श्लोक देखें ।

य इमामखिलां भूमिं शिष्यादेको महीपतिः ।
तस्याप्युदरमेकं वै किमिदं त्वं प्रशंससि ।।१७।।

जो सम्राट् इस सम्पूर्ण वसुन्धरा का अकेला ही शासन करता है, उसके पास भी पेट तो एक ही होता है, फिर तुम क्यों इस राज्य की प्रशंसा कर रहे हो ?

यथेद्धः प्रज्वलत्यग्निरसमिद्धः प्रशाम्यति ।
अल्पाहारतया त्वग्निं शमयौदर्यमुत्थितम् ।।१८।।

जैसे अग्नि में ईंधन डालने से वह प्रज्वलित होती है और ईंधन न डालने पर अपने-आप बुझ जाती है, वैसे ही तुम भी अपना भोजन कम करके इस प्रदीप्त जठराग्नि को शान्त करो ।

मानुषान् कामभोगाँस्त्वमैश्वर्यं च प्रशंससि ।
अभोगिनोऽबलाश्चैव यान्ति स्थानमुत्तमम् ।।१९।।

भीम ! तुम मनुष्यों के कामभोग और ऐश्वर्य की बहुत प्रशंसा करते हो परन्तु जो भोगरहित हैं तथा तप करते-करते निर्बल हो गये हैं, वे ऋषि-मुनि ही सर्वोत्तम पद को प्राप्त करते हैं ।

तपसा ब्रह्मचर्येण स्वाध्यायेन महर्षयः ।
विमुच्य देहाँस्ते यान्ति मृत्योरविषयं गताः ।।२०।।

महर्षिगण तप, ब्रह्मचर्य और स्वाध्याय के बल से देहत्याग के पश्चात् ऐसे लोक में पहुँच जाते हैं, जहाँ मृत्यु का प्रवेश नहीं है ।

आमिषं बन्धनं लोके कर्मेहोक्तं तथामिषम् ।
ताभ्यां विमुक्तः पाशाभ्यां पदमाप्नोति तत् परम् ।।२१

इस संसार में ममता और आसक्ति के बन्धन को आमिष कहा गया है। सकाम कर्म भी आमिष कहलाता है । इन दोनों आमिषरूप पाशों से जो मुक्त हो गया है, वही परमपद को प्राप्त होता है ।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि सप्तमोऽध्यायः ।।७।।

अष्टमोऽध्यायः

मुनिवर देवस्थान का युधिष्ठिर को यज्ञानुष्ठान के लिए प्रेरित करना

वैशम्पायन उवाच

अस्मिन्वाक्यान्तरे वक्ता देवस्थानो महातपाः ।
अभिनीततरं वाक्यमित्युवाच युधिष्ठिरम् ।।१।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! युधिष्ठिर की यह बात समाप्त होने पर प्रवचन-पटु महातपस्वी देवस्थान ने युक्तियुक्त वाणी में राजा युधिष्ठिर से कहा—

देवस्थान उवाच

अजातशत्रो धर्मेण कृत्स्ना ते वसुधा जिता ।
तां जित्वा च वृथा राजन् न परित्यक्तुमर्हसि ।।२।।

देवस्थान ने कहा—राजन् ! आपने धर्म के अनुसार इस सारी पृथिवी को जीता है । इसे जीतकर व्यर्थ ही त्याग देना आपके लिए उचित नहीं है ।

चतुष्पदी हि निःश्रेणी ब्रह्मण्येव प्रतिष्ठिता ।
तां क्रमेण महाबाहो यथावज्जय पार्थिव ।।३।।

महाबाहु पृथिवीनाथ ! ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—ये चारों आश्रम ब्रह्म को प्राप्त कराने की चार सीढ़ियाँ हैं जो वेद में ही प्रतिष्ठित हैं । इन्हें क्रमशः यथोचितरूप से पार करो ।

तस्मात्पार्थ महायज्ञैर्यजस्व बहुदक्षिणैः ।
स्वाध्याययज्ञा ऋषयो ज्ञानयज्ञास्तथापरे ।।४।।

कुन्तीकुमार ! अब आप बहुत-सी दक्षिणावाले बड़े-बड़े यज्ञों का अनुष्ठान करो। स्वाध्याययज्ञ और ज्ञानयज्ञ करना तो ऋषियों का कर्तव्य है ।

यज्ञाय सृष्टानि धनानि धात्रा
यज्ञोद्दिष्टः पुरुषश्च रक्षिता ।
सर्वं ततो यज्ञ एवोपयोज्यं
धनं ततोऽनन्तर एव कामः ।।५।।

परमात्मा ने यज्ञ के लिए धन की सृष्टि की है और यज्ञ के उद्देश्य से ही उसकी रक्षा करनेवाले पुरुष को उत्पन्न किया है । अतः यज्ञ में ही सम्पूर्ण धन का विनियोग कर देना चाहिए, फिर शीघ्र ही [यज्ञ से] यजमान की सम्पूर्ण कामनाओं की सिद्धि हो जाती है ।

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
इन्द्रेण समये पृष्टो यदुवाच बृहस्पतिः ।।६।।

हे राजन् ! इस विषय में लोग उस प्राचीन इतिहास का उदाहरण दिया करते हैं जो किसी समय इन्द्र के पूछने पर बृहस्पति ने कहा था—

सन्तोषो वै: स्वर्गतमः सन्तोषः परमं सुखम् । □
तुष्टेर्न किञ्चित् परतः सा सम्यक् प्रतितिष्ठति ।।७।।

"राजन् ! सन्तोष स्वर्ग-सुख से भी बढ़कर है। सन्तोष ही सबसे बड़ा सुख है। यदि मन में सन्तोष भली-भाँति प्रतिष्ठित हो जाए तो उससे बढ़कर संसार में कुछ भी नहीं है।

यदा संहरते कामान् कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
तदात्मज्योतिरचिरात् स्वात्मन्येव प्रसीदति ।।८।।

जैसे कछुआ अपने अङ्गों को सब ओर से सिकोड़ लेता है, वैसे ही जब मनुष्य अपनी सब कामनाओं को सब ओर से समेट लेता है, उस समय तत्काल ही ज्योतिःस्वरूप आत्मा अन्तःकरण में प्रकाशित हो उठता है।

न बिभेति यदा चायं यदा चास्मान्न बिभ्यति ।
कामद्वेषौ च जयति तदात्मानं च पश्यति ।।९।।

जब मनुष्य किसी से भय नहीं मानता और जब उससे भी अन्य प्राणी भय अनुभव नहीं करते तब वह काम=राग और द्वेष को जीत लेता है और अपने आत्मस्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है।

यदासौ सर्वभूतानां न द्रुह्यति न काङ्क्षति ।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्मसम्पद्यते तदा ।।१०।।

जब मनुष्य मन, वचन और कर्म से समस्त प्राणियों में से किसी के साथ न तो द्रोह करता है और न किसी वस्तु की अभिलाषा रखता है, तब उसे परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है।

अद्रोहः सत्यवचनं संविभागो दया दमः । □
प्रजननं स्वेषु दारेषु मार्दवं ह्रीरचापलम् ।
एवं धर्मं प्रधानेष्टं त्वमेतत् प्रतिपालय ।।११।।

किसी के प्रति वैरभाव न रखना, सत्य बोलना, बलिवैश्वदेवयज्ञ द्वारा समस्त प्राणियों को यथायोग्य उनका भाग समर्पित करना, सबके प्रति दयाशील होना, मन को वश में रखना, अपनी पत्नी से ही सन्तान उत्पन्न करना तथा मृदुता, लज्जा और सरलता आदि गुणों को अपनाना—ये श्रेष्ठ एवं अभीष्ट धर्म हैं। कुन्तीनन्दन ! तुम भी इनका पालन करो।

यो हि राज्ये स्थितः शश्वद् वशी तुल्य प्रियाप्रियः ।
क्षत्रियो यज्ञशिष्टाशी राजा शास्त्रार्थतत्त्ववित् ।।१२।।
धर्मवर्त्मनि संस्थाप्य प्रजा वर्तेत धर्मतः ।
तस्यायं च परश्चैव लोकः स्यात्सफलोदयः ।।१३।।

जो क्षत्रिय नरेश राज्यसिंहासन पर आरूढ़ हो अपनी समस्त इन्द्रियों को सदा अपने वश में रखता है, प्रिय और अप्रिय को समान दृष्टि से देखता है, यज्ञ से बचे हुए अन्न को खाता है, शास्त्रों के यथार्थ रहस्य को जानता है, सारी प्रजा को धर्ममार्ग में स्थापित करके स्वयं भी धर्मानुकूल आचरण करता है—उसका यह लोक और परलोक दोनों सफल हो जाते हैं।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि अष्टमोऽध्यायः ।।८।।

नवमोऽध्यायः

अर्जुन और व्यास का युधिष्ठिर को समझाना और युधिष्ठिर के द्वारा धन के त्याग की महत्ता का प्रतिपादन

वैशम्पायन उवाच

अस्मिन्नेवान्तरे वाक्यं पुनरेवार्जुनोऽब्रवीत् ।
निर्विण्णमनसं ज्येष्ठमिदं भ्रातरमच्युतम् ।।१।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इसी बीच में [देवस्थान की वक्तृता समाप्त होते ही] अर्जुन ने खिन्नचित्त होकर बैठे हुए तथा धर्म से च्युत न होनेवाले अपने बड़े भाई युधिष्ठिर से इस प्रकार कहा—

अर्जुन उवाच

क्षत्रधर्मेण धर्मज्ञ प्राप्य राज्यं सुदुर्लभम् ।
जित्वा चारीन् नरश्रेष्ठ तप्यते किं भृशं भवान् ।।२।।

अर्जुन बोले—धर्मज्ञ नरश्रेष्ठ ! आप क्षत्रिय धर्म के अनुसार इस परमदुर्लभ राज्य को पाकर और शत्रुओं को जीतकर भी इतने अधिक सन्तप्त क्यों हो रहे हैं ?

क्षत्रियाणां महाराज संग्रामे निधनं मतम् ।
विशिष्टं बहुभिर्यज्ञैः क्षत्रधर्ममनुस्मर ।।३।।

महाराज ! आप क्षत्रियधर्म का स्मरण कीजिए । क्षत्रियों के लिए युद्धभूमि में मर जाना तो बहुत-से यज्ञों को करने से भी बढ़कर माना गया है ।

ब्राह्मणानां तपस्त्यागः प्रेत्य धर्मविधिः स्मृतः ।
क्षत्रियाणां च निधनं संग्रामे विहितं प्रभो ।।४।।

राजन् ! तप और त्याग ब्राह्मणों के धर्म हैं, जो मृत्यु के पश्चात् परलोक में धर्मजनित फल देनेवाले हैं । क्षत्रियों के लिए रणक्षेत्र में प्राप्त हुई मृत्यु ही पारलौकिक पुण्यफल प्रदान करनेवाली है ।

क्षात्रधर्मो महारौद्रः शस्त्रनित्य इति स्मृतः ।
वधश्च भरतश्रेष्ठ काले शस्त्रेण संयुगे ।।५।।

भारतभूषण ! क्षत्रियों का धर्म बड़ा भयङ्कर है, उसमें सदा शस्त्र से ही काम पड़ता है और समय आने पर रण में ही शस्त्र द्वारा उनका वध भी हो जाता है [अतः उनके लिए शोक नहीं करना चाहिए] ।

न त्यागो न पुनर्याच्ञा न तपो मनुजेश्वर ।
क्षत्रियस्य विधीयन्ते न परस्योपजीवनम् ।।६।।

प्रजेश्वर ! क्षत्रियों के लिए त्याग, भीख माँगना, तप और दूसरे के धन से जीवन-यापन करने का विधान नहीं है ।

स भवान् सर्वधर्मज्ञो धर्मात्मा भरतर्षभ ।
राजा मनीषी निपुणो लोके दृष्टपरावरः ।।७।।

भरतश्रेष्ठ ! आप तो सम्पूर्ण धर्मों के ज्ञाता, धर्मात्मा, राजा, मनीषी, कर्मकुशल और संसार में आगे-पीछे की सभी बातों पर दृष्टि रखनेवाले हैं [संसार के सारे उतार-चढ़ाव जानते हैं] ।

त्यक्त्वा सन्तापजं शोकं दंशितो भव कर्मणि ।
क्षत्रियस्य विशेषेण हृदयं वज्रसन्निभम् ।।८।।

आप शोक-सन्ताप का परित्याग कर क्षत्रियोचित कर्म करने के लिए उद्यत हो जाइए । क्षत्रिय का हृदय तो विशेषरूप से वज्र के समान कठोर होता है ।

जित्वारीन् क्षत्रधर्मेण प्राप्य राज्यमकण्टकम् ।
विजितात्मा मनुष्येन्द्र यज्ञदानपरो भव ।।९।।

नरेन्द्र ! आपने क्षत्रिय धर्म के अनुसार शत्रुओं को जीतकर निष्कण्टक राज्य प्राप्त किया है । अब आप अपने मन को वश में करके यज्ञ और दान में तत्पर हो जाइए ।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कौन्तेयो गुडाकेशेन पाण्डवः ।
नोवाच किञ्चित्कौरव्यस्ततो द्वैपायनोऽब्रवीत् ।।१०।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! निद्राविजयी अर्जुन के ऐसा कहने पर जब कुरुकुलनन्दन पाण्डुपुत्र कुन्तीकुमार युधिष्ठिर कुछ न बोले, तब व्यासजी ने कहा—

व्यास उवाच

बीभत्सोर्वचनं सौम्य सत्यमेतद् युधिष्ठिर ।
शास्त्रदृष्टः परो धर्मः स्थितो गार्हस्थ्यमाश्रितः ।।११।।

व्यासजी ने कहा—सौम्य युधिष्ठिर ! अर्जुन ने जो बात कही है, वह यथार्थ है । शास्त्रोक्त परमधर्म गृहस्थाश्रम के ही आधार पर टिका हुआ है ।

स्वधर्मं चर धर्मज्ञ यथाशास्त्रं यथाविधि ।
न हि गार्हस्थ्यमुत्सृज्य तवारण्यं विधीयते ।।१२।।

धर्मज्ञ युधिष्ठिर ! तुम शास्त्र के वचनानुसार विधिपूर्वक अपने धर्म का ही आचरण करो । तुम्हारे लिए गृहस्थ को त्यागकर वन में जाने का विधान नहीं है ।

गृहस्थं हि सदा देवाः पितरोऽतिथयस्तथा ।
भृत्याश्चैवोपजीवन्ति तान् भरस्व महीपते ।।१३।।

भूपाल ! देवता, पितर, अतिथि और भृत्यगण सदा गृहस्थ का ही आश्रय लेकर जीवनयापन करते हैं, अतः तुम उनका भरण-पोषण करो ।

वयांसि पशवश्चैव भूतानि च जनाधिप ।
गृहस्थैरेव धार्यन्ते तस्मात् श्रेष्ठो गृहाश्रमी ।।१४।।

नरेश्वर ! पशु-पक्षी तथा अन्य प्राणी भी गृहस्थाश्रमियों द्वारा ही पालित-पोषित होते हैं, अतः गृहस्थ-आश्रम सबसे श्रेष्ठ है ।

तपो यज्ञस्तथा विद्या भैक्ष्यमिन्द्रियसंयमः ।
ध्यानमेकान्तशीलत्वं तुष्टिर्ज्ञानं च शक्तितः ।
ब्राह्मणानां महाराज चेष्टाः संसिद्धिकारिकाः ॥१५॥

महाराज ! तप, यज्ञ, विद्या, भिक्षा, इन्द्रिय-संयम, ध्यान, एकान्तवास का स्वभाव, सन्तोष और यथाशक्ति शास्त्रज्ञान—ये समस्त गुण तथा चेष्टाएँ ब्राह्मणों के लिए सिद्धि देनेवाली हैं ।

यज्ञो विद्या समुत्थानमसन्तोषः श्रियं प्रति ।
दण्डधारणमुग्रत्वं प्रजानां परिपालनम् ॥१६॥
वेदज्ञानं तथा कृत्स्नं तपः सुचरितं तथा ।
द्रविणोपार्जनं भूरि पात्रे च प्रतिपादनम् ॥१७॥
एतानि राज्ञां कर्माणि सुकृतानि विशाम्पते ।
इमं लोकममुं चैव साधयन्तीति नः श्रुतम् ॥१८॥

हे नरेश्वर ! यज्ञ, विद्याभ्यास, शत्रुओं पर आक्रमण, राज्यलक्ष्मी की प्राप्ति से कभी सन्तुष्ट न होना, दुष्टों को दण्ड देने के लिए उद्यत रहना, क्षत्रियोचित तेज से युक्त रहना, प्रजा की सब प्रकार से रक्षा करना, समस्त वेदों का ज्ञान प्राप्त करना, तप करना, सदाचार का पालन करना, विपुल धन-उपार्जन करना और सत्पात्र को दान देना—ये सब राजाओं के कर्म हैं, जो ठीक ढंग से किये जाने पर उनके इहलोक और परलोक दोनों को सफल बनाते हैं—ऐसा हमने सुना है ।

एषां ज्यायस्तु कौन्तेय दण्डधारणमुच्यते ।
बलं हि क्षत्रिये नित्यं बले दण्डः समाहितः ॥१९॥

कुन्तीकुमार ! इन [यज्ञ, विद्याभ्यास आदि] में भी दण्ड धारण करना राजा का प्रधान धर्म कहा गया है, क्योंकि क्षत्रिय में बल की नित्य स्थिति है और बल में ही दण्ड प्रतिष्ठित होता है ।

भूमिरेतौ निगिरति सर्पो बिलशयानिव ।
राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ॥२०॥

जैसे साँप बिल में रहनेवाले चूहे आदि को निगल जाता है, वैसे ही विरोध न करनेवाले राजा और प्रचारार्थ प्रवास न करनेवाले ब्राह्मण—इन दो व्यक्तियों को भूमि निगल जाती है ।

अरण्ये वसतामासन् भ्रातॄणां ये मनोरथाः ।
तानिमे भरतश्रेष्ठ प्राप्नुवन्तु महारथाः ॥२१॥

भरतश्रेष्ठ ! वन में रहते समय तुम्हारे भाइयों के मन में जो-जो मनोरथ उत्पन्न हुए थे, उन्हें ये महारथी वीर प्राप्त करें ।

अरण्ये दुःखवसतिरनुभूता तपस्विभिः ।
दुःखस्यान्ते नरव्याघ्र सुखान्यनुभवन्तु वै ॥२२॥

तुम्हारे इन भाइयों ने वनवास के समय बड़े दुःख उठाये हैं । नरव्याघ्र ! अब ये उस दुःख के पश्चात् सुख का अनुभव करें ।

धर्मार्थं च कामं च भ्रातृभिः सह भारत ।
अनुभूय ततः पश्चात् प्रस्थातासि विशाम्पते ॥२३॥

भारत ! नरेश्वर ! इस समय भाइयों के साथ तुम धर्म, अर्थ और काम का उपभोग करो, तत्पश्चात् वन में चले जाना ।

अर्थिनां च पितॄणां च देवतानां च भारत ।
आनृण्यं गच्छ कौन्तेय तत्सर्वं च करिष्यसि ॥२४॥

भरतनन्दन ! कुन्तीकुमार ! पहले याचकों, पितरों [माता-पिता, दादा-दादी आदि] और देवताओं [जड़ और चेतन] के ऋण से उऋण हो लो, फिर वह सब [वन में जाकर तप आदि] करना ।

सर्वमेधाश्वमेधाभ्यां यजस्व कुरुनन्दन ।
ततः पश्चान्महाराज गमिष्यसि परां गतिम् ॥२५॥

कुरुनन्दन ! महाराज ! पहले तुम सर्वमेध और अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान करो । उनसे तुम्हें परम-गति की प्राप्ति होगी ।

भ्रातृंश्च सर्वान् क्रतुभिः संयोज्य बहुदक्षिणैः ।
सम्प्राप्तः कीर्तिमतुलां पाण्डुपुत्र भविष्यसि ॥२६॥

पाण्डुपुत्र ! अपने सभी भाइयों को बहुत-सी दक्षिणावाले यज्ञों में लगाकर तुम अनुपम कीर्ति प्राप्त करोगे ।

युधिष्ठिर उवाच

न पार्थिवमिदं राज्यं न भोगाश्च पृथग्विधाः ।
प्रीणयन्ति मनो मेऽद्य शोको मां रुन्धयत्ययम् ॥२७॥

युधिष्ठिर ने कहा—मुने ! यह भूतल का राज्य और ये विभिन्न प्रकार के भोग आज मेरे मन को प्रसन्न नहीं कर रहे हैं; [अपितु यह बन्धुओं के वध कराने का] शोक मुझे चारों ओर से घेरे हुए है ।

श्रुत्वा वीरविहीनानामपुत्राणां च योषिताम् ।
परिदेवयमानानां शान्ति नोपलभे मुने ॥२८॥

मुनिवर ! पति और पुत्रों से हीन हुई युवतियों का करुण क्रन्दन सुनकर मुझे शान्ति नहीं मिल रही है ।

व्यास उवाच

घ्नन्ति चान्यान् नरा राजँस्तान्घ्नन्त्यन्ये तथा नराः ।
संज्ञैषा लौकिकी भूप न हिनस्ति न हन्यते ॥२९॥

व्यासजी बोले—राजन् ! मनुष्य दूसरों को मारते हैं, फिर उन्हें भी अन्य लोग मार डालते हैं । भूपाल ! यह मरना-मारना लौकिक संज्ञामात्र है, वस्तुतः न कोई मारता है और न कोई मारा ही जाता है ।

नष्टे धने वा दारे वा पुत्रे पितरि वा मृते ।
अहो दुःखमिति ध्यायन् दुःखस्यापचितिं चरेत् ॥३०॥

धन के नष्ट होने पर अथवा स्त्री, पुत्र या पिता की मृत्यु होने पर मनुष्य 'हाय ! मुझपर दुःख का पहाड़ टूट पड़ा'—इस प्रकार चिन्ता करते हुए उस दुःख की निवृत्ति का उपाय करता है ।

स किं शोचसि मूढः सञ्शोच्यान्किमनुशोचसि ।
पश्य दुःखेषु दुःखानि भयेषु च भयान्यपि ॥३१॥

तुम मूढ़ बनकर शोक क्यों कर रहे हो ? उन मरे हुए शोचनीय जनों का बारम्बार स्मरण ही क्यों करते हो ? देखो, शोक करने से दुःख में दुःख और भय में भय की वृद्धि होती है ।

आत्मापि चायं न मम सर्वापि पृथिवी मम ।
यथा मम तथान्येषामिति पश्यन्न मुह्यति ॥३२॥

यह शरीर भी अपना नहीं है तथा सम्पूर्ण पृथिवी भी अपनी नहीं है । यह जैसी मेरी है, वैसी ही दूसरों की भी है, ऐसा सोचनेवाला कभी मोह में नहीं फँसता ।

शोकस्थानसहस्राणि हर्षस्थानशतानि च ।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥३३॥

शोक के सहस्रों स्थान हैं और हर्ष के भी सैकड़ों अवसर हैं । वे प्रतिदिन मूर्ख मनुष्य पर ही अपना प्रभाव डालते हैं, विद्वान् पर नहीं ।

सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम् ।
न नित्यं लभते दुःखं न नित्यं लभते सुखम् ॥३४॥

सुख के पश्चात् दुःख और दुःख के पश्चात् सुख क्रमशः आते रहते हैं । कोई भी न तो सदा दुःख पाता है और न निरन्तर सुख ही प्राप्त करता है ।

सुखं वा यदि वा दुःखं प्रियं वा यदि वाप्रियम् ।
प्राप्तं प्राप्तमुपासीत हृदयेनापराजितः ॥३५॥

अतः सुख हो या दुःख, प्रिय हो या अप्रिय, जब जो कुछ आ पड़े, उसे प्रसन्नतापूर्वक सहन करे । अपने हृदय से उसके समक्ष पराजय स्वीकार न करे, हिम्मत न हारे ।

ये च मूढतमा लोके ये च बुद्धेः परं गताः ।
त एव सुखमेधन्ते मध्यमः क्लिश्यते जनः ॥३६॥

संसार में जो अत्यन्त मूर्ख हैं अथवा जो बुद्धि से परे पहुँच गये हैं [जिन्हें आत्मज्ञान हो गया है] वे ही सुखी होते हैं, मध्यम कोटि के लोग दुःख उठाते हैं ।

सुखं च दुःखं च भवाभवौ च
लाभालाभौ मरणं जीवितं च ।
पर्यायतः सर्वमवाप्नुवन्ति
तस्माद् धीरो नैव हृष्येन्न शोचेत् ॥३७॥

सुख-दुःख, उत्पत्ति-विनाश, लाभ-हानि और जीवन-मरण—ये समय-समय पर क्रमशः सभी को प्राप्त होते हैं, अतः धीर पुरुष इनके लिए हर्ष और शोक न करे ।

वैशम्पायन उवाच

अस्मिन्नेव प्रकरणे धनञ्जयमुदारधीः ।
अभिनीततरं वाक्यमित्युवाच युधिष्ठिरः ॥३८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इसी प्रसङ्ग में उदारबुद्धि महाराज युधिष्ठिर ने अर्जुन से ये युक्तियुक्त वचन कहने आरम्भ किये—

युधिष्ठिर उवाच

यदेतन्मन्यसे पार्थ न ज्यायोऽस्ति धनादिति ।
न स्वर्गो न सुखं नार्थो निर्धनस्येति तन्मृषा ॥३९॥

युधिष्ठिर बोले—पार्थ ! तुम जो यह समझते हो कि धन से बढ़कर कोई वस्तु नहीं है तथा निर्धन को स्वर्ग, सुख और धन की प्राप्ति नहीं हो सकती—यह ठीक नहीं है ।

स्वाध्याययज्ञसंसिद्धा दृश्यन्ते बहवो जनाः ।
तपोरताश्च मुनयो येषां लोकाः सनातनाः ॥४०॥

बहुत-से मनुष्य केवल स्वाध्याय करके सिद्धि को प्राप्त हुए देखे जाते हैं। तप में लगे हुए अनेक मुनि ऐसे हो गये हैं, जिन्होंने सनातन लोकों की प्राप्ति की है।

ये वित्तमभिपद्यन्ते सम्यक्त्वं तेषु दुर्लभम् ।
द्रुह्यतः प्रैति तत् प्राहुः प्रतिकूलं यथातथम् ।।४१।।

जो धन के पीछे पड़े हुए हैं, उनमें साधुता दुर्लभ है, क्योंकि ऐसा कहा जाता है जो लोग दूसरों से द्रोह करते हैं, उन्हीं को धन प्राप्त होता है और वह मिला हुआ धन प्रकारान्तर से प्रतिकूल ही होता है।

अधनः कस्य किं वाच्यो विमुक्तः सर्वशः सुखी ।
देवस्वमुपगृह्यैव धनेन न सुखी भवेत् ।।४२।।

निर्धन को कोई क्या कह सकता है ? वह सब प्रकार के भय से मुक्त होकर सुखी रहता है। देवताओं की सम्पत्ति लेकर भी कोई धन से सुखी नहीं रह सकता।

विज्ञा बुद्ध्यन्ति पुरुषा न हि तत्कस्यचिद्ध्रुवम् ।
श्रद्दधानस्ततो लोको दद्याच्चैव यजेत च ।।४३

बुद्धिमान् लोग यह समझते हैं कि धन कभी किसी एक के पास स्थिर होकर नहीं रहता, अतः श्रद्धालु मनुष्य को चाहिए कि वह उस धन का दान करे और उसे यज्ञ में लगाये।

लब्धस्य त्यागमित्याहुर्न भोगं न च संचयम् ।
तस्य किं संचयेनार्थः कार्ये ज्यायसि तिष्ठति ।।४४।।

प्राप्त किये हुए धन का दान कर देना चाहिए, उसे भोग-विलास में लगाना अथवा उसका संग्रह करना उचित नहीं है। जिसके समक्ष यज्ञ-अनुष्ठान आदि का महान् कार्य उपस्थित हो, उसे धन को संग्रह करके रखने की क्या आवश्यकता है ?

लब्धानामपि वित्तानां बोद्धव्यौ द्वावतिक्रमौ ।
अपात्रे प्रतिपत्तिश्च पात्रे चाप्रतिपादनम् ।।४५।।

प्राप्त किये हुए धन का उपयोग करने में दो प्रकार की भूलें हुआ करती हैं, जिन्हें ध्यान में रखना चाहिए। पहली भूल है—अपात्र को धन देना और दूसरी सुपात्र को धन न देना।

ग्रामो धान्यैर्यथा शून्यो यथा कूपश्च निर्जलः ।
यथा हुतमनग्नौ च तथैव स्यान्निराकृतौ ।।४६।।

जिस प्रकार अन्न-हीन ग्राम, जल से रहित कुंआ और राख में दी हुई आहुति व्यर्थ होती है, उसी प्रकार वेदादि शास्त्रों के अध्ययन से शून्य ब्राह्मण को दिया हुआ दान व्यर्थ होता है।

न दद्याद् यशसे दानं न भयान्नोपकारिणे ।□
न नृत्यगीतशीलेषु हासकेषु च धार्मिकः ।।४७।।

धर्मात्मा पुरुष को चाहिए कि वह यश-प्राप्ति के लिए, भय के कारण अथवा अपना उपकार करनेवाले को, नाचने-गानेवाले और हँसी-मजाक करनेवाले [भाँड आदि] को दान न दे अर्थात् इन्हें दिया गया धन दान नहीं कहलाता।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि नवमोऽध्यायः ।।९।।

दशमोऽध्यायः

व्यास का शोकवश शरीर-त्याग के लिए उद्यत हुए युधिष्ठिर को समझाना

युधिष्ठिर उवाच

न विमुञ्चति मां शोको ज्ञातिघातिनमातुरम् ।
राज्यकामुकमत्युग्रं स्ववंशोच्छेदकारिणम् ।।१।।

युधिष्ठिर ने व्यासजी से कहा—मुनिवर ! मैं जाति-भाइयों का घातक, राज्य का लोभी, अत्यन्त क्रूर और अपने कुल का नाश करानेवाला निकला—यही सब सोचकर मुझे शोक नहीं छोड़ रहा है और मैं अत्यन्त दुःखी हो रहा हूँ।

यस्याङ्के क्रीडमानेन मया वै परिवर्तितम् ।
स मया राज्यलुब्धेन गाङ्गेयो युधि पातितः ।।२।।

जिनकी गोद में खेलता हुआ मैं लोटपोट हो जाता था, उन्हीं पितामह गङ्गानन्दन भीष्मजी को मैंने राज्य के लोभ से मरवा डाला।

आचार्यश्च महेष्वासः सर्वपार्थिवपूजितः ।
अभिगम्य रणे मिथ्या पापेनोक्तः सुतं प्रति ।।३।।

समस्त राजाओं से पूजित, महाधनुर्धर द्रोणाचार्य

के पास जाकर मुझ पापी ने उनके पुत्र के सम्बन्ध में झूठी बात कही।

अभिमन्युं च यद् बालं जातं सिंहमिवाद्रिषु।
प्रावेशयमहं लुब्धो वाहिनीं द्रोणपालिताम् ॥४॥
तदाप्रभृति बीभत्सुं न शक्नोमि निरीक्षितुम्।
कृष्णं च पुण्डरीकाक्षं किल्बिषी भ्रूणहा यथा ॥५॥

मैंने राज्य के लोभ में फँसकर जब से पर्वतों पर उत्पन्न हुए सिंह के समान पराक्रमी अभिमन्यु को द्रोणाचार्य द्वारा सुरक्षित कौरव सेना में झोंक दिया, तभी से भ्रूणहत्या करनेवाले पापी के समान मैं अर्जुन और कमलनेत्र श्रीकृष्ण की ओर आँख उठाकर भी नहीं देख पाता हूँ।

सोऽहमागस्करः पापः पृथिवीनाशकारकः।
आसीन एवमेवेदं शोषयिष्ये कलेवरम् ॥६॥

मैं पापी, अपराधी और सारे भूमण्डल का विनाश करनेवाला हूँ, अतः अब मैं यहीं इसी रूप में बैठा हुआ अपने शरीर को सुखा डालूंगा।

प्रायोपविष्टं जानीध्वमथ मां गुरुघातिनम्।
जातिष्वन्यास्वपि यथा न भवेयं कुलान्तकृत् ॥७॥

आप लोग मुझ गुरुघाती को आमरण अनशन के लिए बैठा हुआ समझें, जिससे दूसरे जन्म में मैं पुनः अपने कुल का विनाश करनेवाला न होऊँ।

न च भोक्ष्ये न पानीयमुपयोक्ष्ये कथञ्चन।
शोषयिष्ये प्रियान् प्राणानिहस्थोऽहं तपोधनाः ॥८॥

हे तपोधनो ! अब मैं किसी प्रकार न तो अन्न खाऊँगा और न पानी ही पीऊँगा। यहीं बैठा रहकर मैं अपने प्राणों को सुखा दूंगा।

यथेष्टं गम्यतां काममनुजाने प्रसाद्य वः।
सर्वे मामनुजानीत त्यक्ष्यामीदं कलेवरम् ॥९॥

मैं आप लोगों को प्रसन्न करके अपनी ओर से चले जाने की अनुमति देता हूँ। जिसकी जहाँ इच्छा हो वह अपनी रुचि के अनुसार वहाँ चला जाए। आप सब लोग भी मुझे आज्ञा दें कि मैं अनशन के द्वारा इस शरीर को त्याग दूं।

वैशम्पायन उवाच

तमेवंवादिनं पार्थं बन्धुशोकेन विह्वलम्।
मैवमित्यब्रवीद् व्यासो निगृह्य मुनिसत्तमः ॥१०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय ! अपने बन्धुजनों के शोक से व्याकुल होकर युधिष्ठिर को ऐसी बातें करते देख मुनिवर व्यास ने उन्हें रोककर कहा—'नहीं, ऐसा नहीं हो सकता।'

व्यास उवाच

अतिवेलं महाराज न शोकं कर्तुमर्हसि।
पुनरुक्तं तु वक्ष्यामि दिष्टमेतदिति प्रभो ॥११॥

व्यासजी बोले—महाराज ! तुम बहुत शोक करना बन्द करो ! प्रभो ! मैं पहले कही हुई बात ही पुनः कह रहा हूँ कि यह सब प्रारब्ध=भाग्य का ही खेल है।

संयोगा विप्रयोगान्ता जातानां प्राणिनां ध्रुवम्।
बुद्बुदा इव तोयेषु भवन्ति न भवन्ति च ॥१२।

जैसे पानी में बुलबुले उठते हैं और मिट जाते हैं, इसी प्रकार संसार में उत्पन्न हुए प्राणियों के जो आपस में संयोग होते हैं उनका अन्त निश्चय ही वियोग में होता है।

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं हि जीवितम् ॥१३॥

समस्त संचयों का अन्त विनाश है, सारी उन्नतियों का अन्त पतन है, संयोगों का अन्त वियोग है और जीवन का अन्त मरण है।

जरामृत्यू हि भूतानां खादितारौ वृकाविव।
बलिनां दुर्बलानां च लघूनां महतामपि ॥१४॥

वृद्धावस्था और मृत्यु—ये दोनों दो भेड़ियों के समान हैं जो बलवान् और दुर्बल, छोटे और बड़े सभी प्राणियों को खा जाते हैं।

न कश्चिज्जात्वतिक्रामेज्जरामृत्यू हि मानवः।
अपि सागरपर्यन्तां विजित्येमां वसुन्धराम् ॥१५।

कोई भी मनुष्य बुढ़ापे और मृत्यु को कभी लाँ नहीं सकता, भले ही वह समुद्रपर्यन्त सारी पृथिवी को जीत चुका हो।

सुखं वा यदि वा दुःखं भूतानां पर्युपस्थितम्।
प्राप्तव्यमवशैः सर्वं परिहारो न विद्यते ॥१६॥

प्राणियों को जो सुख या दुःख प्राप्त होता है, वह सब उन्हें विवश होकर सहना ही पड़ता है, क्योंकि उसके टालने का कोई उपाय नहीं है।

अप्रियैः सह संयोगो विप्रयोगश्च सुप्रियैः ।
अर्थानर्थौ सुखं दुःखं विधानमनुवर्तते ॥१७॥

अप्रिय वस्तुओं के साथ संयोग और अतिप्रिय वस्तुओं का वियोग, अर्थ-अनर्थ, सुख तथा दुःख—इन सबकी प्राप्ति प्रारब्ध के विधान के अनुसार ही है ।

आसनं शयनं यानमुत्थानं पानभोजनम् ।
नियतं सर्वभूतानां कालेनैव भवत्युत ॥१८॥

सभी प्राणियों के लिए बैठना, सोना, चलना-फिरना, उठना और खाना-पीना—ये सभी कार्य समय के अनुसार ही नियत रूप से होते रहते हैं ।

वैद्याश्चाप्यातुराः सन्ति बलवन्तश्च दुर्बलाः ।
श्रीमन्तश्चापरे षण्ढा विचित्रः कालपर्ययः ॥१९॥

कभी-कभी वैद्य भी रोगी, बलवान् भी दुर्बल और श्रीमान् भी असमर्थ हो जाते हैं—समय का उलट-फेर अत्यन्त अनोखा है ।

कुले जन्म तथा वीर्यमारोग्यं रूपमेव च ।
सौभाग्यमुपभोगश्च भवितव्येन लभ्यते ॥२०॥

उत्तम कुल में जन्म, बल-पराक्रम, आरोग्य, रूप-सम्पदा, सौभाग्य और उपभोग की सामग्री—ये सब प्रारब्ध के अनुसार ही प्राप्त होते हैं ।

सन्ति पुत्राः सुबहवो दरिद्राणामनिच्छताम् ।
नास्ति पुत्रः समृद्धानां विचित्रं विधिचेष्टितम् ॥२१॥

जो दरिद्र हैं और जिन्हें सन्तान की इच्छा नहीं होती उनके तो बहुत-से पुत्र हो जाते हैं और जो धनवान् हैं, उनमें से किसी-किसी को एक पुत्र भी प्राप्त नहीं होता, विधाता की लीला बड़ी विचित्र है ।

अकिञ्चनाश्च दृश्यन्ते पुरुषाश्चिरजीविनः ।
समृद्धे च कुले जाता विनश्यन्ति पतङ्गवत् ॥२२॥

जिनके पास कुछ नहीं है, ऐसे दरिद्र भी दीर्घजीवी देखे जाते हैं, दूसरी ओर धनवान् कुल में उत्पन्न हुए मनुष्य भी कीट-पतङ्गों के समान नष्ट हो जाते हैं ।

प्रायेण श्रीमतां लोके भोक्तुं शक्तिर्न विद्यते ।
काष्ठान्यपि हि जीर्यन्ते दरिद्राणां च सर्वशः ॥२३॥

संसार में प्रायः धनवानों में खाने और पचाने की शक्ति ही नहीं होती और दरिद्र लोग लक्कड़ों को भी हजम कर [पचा] जाते हैं ।

मृगयाक्षाः स्त्रियः पानं प्रसङ्गा निन्दिता बुधैः ।
दृश्यन्ते पुरुषाश्चात्र सम्प्रसक्ता बहुश्रुताः ॥२४॥

विद्वान् लोग शिकार और जुआ खेलने, स्त्रियों के संसर्ग में रहने और मद्यपान [शराब पीने] के प्रसङ्गों की बड़ी निन्दा करते हैं, परन्तु शास्त्रों के श्रवण और अध्ययन से सम्पन्न पुरुष भी पाप-कर्मों में लिप्त देखे जाते हैं ।

इति कालेन सर्वार्थानीप्सितानीप्सितानिह ।
स्पृशन्ति सर्वभूतानि निमित्तं नोपलभ्यते ॥२५॥

इस प्रकार काल के प्रभाव से समस्त प्राणी इष्ट और अनिष्ट पदार्थों को प्राप्त करते रहते हैं । इस इष्ट और अनिष्ट की प्राप्ति का अदृष्ट के अतिरिक्त और कोई कारण दिखाई नहीं देता ।

शीतमुष्णं तथा वर्षं कालेन परिवर्तते ।
एवमेव मनुष्याणां सुख-दुःखे नरर्षभ ॥२६॥

सर्दी, गर्मी और वर्षा का चक्र भी काल से ही चलता है । नरश्रेष्ठ ! इसी प्रकार मनुष्यों को सुख-दुःख भी काल से ही प्राप्त होते हैं ।

नौषधानि न मन्त्राश्च न होमा न पुनर्जपाः ।
त्रायन्ते मृत्युनोपेतं जरया चापि मानवम् ॥२७॥

वृद्धावस्था और मृत्यु के मुख में पड़े हुए मनुष्य को औषध, मन्त्र, होम और जप—कुछ भी नहीं बचा सकते ।

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महोदधौ ।
समेत्य च व्यपेयातां तद्वद् भूतसमागमः ॥२८॥

जैसे समुद्र में एक लक्कड़ एक ओर से, दूसरा दूसरी ओर से आकर, दोनों कुछ देर के लिए मिल जाते हैं और मिलकर पुनः बिछुड़ जाते हैं, इसी प्रकार यहाँ प्राणियों के संयोग-वियोग होते रहते हैं ।

मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च ।
संसारेष्वनुभूतानि कस्य ते कस्य वा वयम् ॥२९॥

हमने संसार में अनेक बार जन्म लेकर सहस्रों माता-पिताओं तथा सैकड़ों स्त्री-पुत्रों के सुख का अनुभव किया है, परन्तु अब वे किसके हैं अथवा हम उनमें से किसके हैं ?

नैवास्य कश्चिद् भविता नायं भवति कस्यचित् ।
पथि सङ्गतमेवेदं दारबन्धुसुहृज्जनैः ॥३०॥

इस जीव का न तो कोई सम्बन्धी होगा और न यह किसी का सम्बन्धी है। जैसे मार्ग में चलनेवालों को दूसरे पथिकों का साथ मिल जाता है, वैसे ही यहाँ भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र और सुहृदों का समागम होता है।

क्वासे क्व च गमिष्यामि को न्वहं किमिहास्थितः ।
कस्मात् किमनुशोचेयमित्येवं स्थापयेन्मनः ॥३१॥

विवेकी पुरुष को अपने मन में चिन्तन करना चाहिए कि "मैं कहाँ हूँ, कहाँ जाऊँगा, मैं कौन हूँ, मैं यहाँ किस लिए आया हूँ और किस लिए किसका शोक करूँ'।

सुखं दुःखान्तमालस्यं दाक्ष्यं दुःखं सुखोदयम् ।
भूतिः श्रीर्ह्रीर्धृतिः कीर्तिर्दक्षे वसति नालसे ॥३२॥

आलस्य सुखरूप प्रतीत होता है परन्तु उसका अन्त दुःख है और कार्यदक्षता दुःखरूप प्रतीत होती है परन्तु वह सुख-उदय का कारण है तथा ऐश्वर्य, लक्ष्मी, लज्जा, धृति और कीर्ति—ये कार्यदक्ष पुरुष में ही निवास करती हैं, आलसी में नहीं।

नालं सुखाय सुहृदो नालं दुःखाय शत्रवः ।
न च प्रजालमर्थेभ्यो न सुखेभ्योऽप्यलं धनम् ॥३३॥

न तो सुहृद् सुख देने में समर्थ हैं और न शत्रु दुःख देने में। इसी प्रकार न तो प्रजा धन दे सकती है और न धन सुख दे सकता है।

यथा सृष्टोऽसि कौन्तेय धात्रा कर्मसु तत्कुरु ।
अत एव हि सिद्धिस्ते नेशस्त्वं कर्मणां नृप ॥३४॥

हे पार्थ ! विधाता ने जैसे कर्मों के लिए तुम्हारी सृष्टि की है, तुम उन्हीं का अनुष्ठान करो, उन्हीं से तुम्हें सिद्धि प्राप्त होगी। नरेश्वर ! तुम कर्म-फल के स्वामी या नियन्ता नहीं हो।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि दशमोऽध्यायः ॥१०॥

एकादशोऽध्यायः

श्रीकृष्ण द्वारा नारद-सृञ्जय संवाद को संक्षेप में सुनाकर युधिष्ठिर के शोक-निवरण का प्रयत्न

वैशम्पायन उवाच

अव्याहरति राजेन्द्रे धर्मपुत्रे युधिष्ठिरे ।
गुडाकेशो हृषीकेशमभ्यभाषत पाण्डवः ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! सबके समझाने-बुझाने पर भी जब धर्मपुत्र महाराज युधिष्ठिर मौन ही रह गये, तब पाण्डुपुत्र निद्राविजयी अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा—

अर्जुन उवाच

ज्ञातिशोकाभिसन्तप्तो धर्मपुत्रः परन्तपः ।
एष शोकार्णवे मग्नस्तमाश्वासय माधव ॥२॥

अर्जुन ने कहा—हे माधव ! शत्रुओं को सन्ताप देनेवाले ये धर्मपुत्र युधिष्ठिर स्वयं भाई-बन्धुओं के शोक से सन्तप्त हो शोक के सागर में डूब गये हैं, आप इन्हें धीरज बँधाइए।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु गोविन्दो विजयेन महात्मना ।
सम्प्रगृह्य भुजं शौरिरुवाचाभिविनोदयन् ॥३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे राजन् ! महामना अर्जुन के ऐसा कहने पर श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर की भुजा को अपने हाथ में लेकर उनका मनोरञ्जन करते हुए इस प्रकार बोलना आरम्भ किया—

वासुदेव उवाच

मा कृथाः पुरुषव्याघ्र शोकं त्वं गात्रशोषणम् ।
न हि ते सुलभा भूयो ये हतास्मिन् रणाजिरे ॥४॥

श्रीकृष्ण बोले—पुरुषसिंह ! तुम शोक न करो। शोक तो शरीर को सुखा देता है। इस युद्ध में जो वीर मारे गये हैं उनका पुनः मिल पाना सम्भव नहीं है।

स्वप्नलब्धा यथा लाभा वितथाः प्रतिबोधने ।
एवं ते क्षत्रिया राजन् ये व्यतीता महारणे ॥५॥

राजन् ! जैसे स्वप्न में मिले हुए धन जागने पर मिथ्या हो जाते हैं, उसी प्रकार जो क्षत्रिय संग्राम में मारे गये अब उनका दर्शन दुर्लभ है।

सर्वे त्यक्त्वात्मनः प्राणान्युद्ध्वा वीरा महामृधे ।
शस्त्रपूता दिवं प्राप्ता न ताञ्छोचितुमर्हसि ॥६॥

वे सभी वीर महायुद्ध में जूझते हुए अपने प्राणों का परित्याग करके अस्त्र-शस्त्रों से पवित्र हो स्वर्गलोक में गये हैं, अतः तुम्हें उनके लिए शोक नहीं करना चाहिए।

अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
सृञ्जयं पुत्रशोकार्तं यथायं नारदोऽब्रवीत् ॥७॥

इस विषय में एक प्राचीन इतिहास का उदाहरण दिया जाता है, जैसाकि इन देवर्षि नारदजी ने पुत्रशोक से पीड़ित सृञ्जय से कहा था—

सुखदुःखैरहं त्वं च प्रजाः सर्वाश्च सृञ्जय।
अविमुक्ता मरिष्यामस्तत्र का परिदेवना ॥८॥

"सृञ्जय ! मैं, तुम और ये समस्त प्रजा वर्ग के लोग कोई भी सुख तथा दुःख के बन्धन से मुक्त नहीं हुए हैं और एक दिन हम सब लोग मरेंगे भी, फिर इसके लिए शोक क्यों करते हो ?

महाभाग्यं पुरा राज्ञां कीर्त्यमानं मया शृणु।
गच्छावधानं नृपते ततो दुःखं प्रहास्यसि ॥९॥

"हे प्रजेश्वर ! मैं पूर्ववर्ती राजाओं के महान् सौभाग्य का वर्णन करता हूँ। सुनो और सावधान हो जाओ। इसे सुनकर तुम्हारा दुःख दूर हो जाएगा।

आविक्षितं मरुत्तं च मृतं सृञ्जय शुश्रुम।
यः स्पर्धयायजच्छक्रं देवराजं पुरन्दरम् ॥१०॥

"हे सृञ्जय ! हमने सुना है कि अविक्षित् के पुत्र राजा मरुत्त भी मर गये जिन्होंने देवराज इन्द्र से स्पर्धा रखने के कारण अपने यज्ञ-वैभव द्वारा उन्हें पराजित कर दिया था।

यस्मिन् प्रशासति महीं नृपतौ राजसत्तम।
अकृष्टपच्या पृथिवी विबभौ चैत्यमालिनी ॥११॥

"नृपश्रेष्ठ ! जिस समय राजा मरुत्त इस पृथिवी पर शासन करते थे, उस समय यह बिना जोते-बोये ही अन्न उत्पन्न करती थी और सम्पूर्ण भूमण्डल में भव्य भवन-माला-सी दृष्टिगोचर होती थी, जिससे इस पृथिवी की बड़ी शोभा होती थी।

स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया।
पुत्रात् पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥१२॥

"सृञ्जय ! धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य— इन चारों बातों में राजा मरुत्त तुमसे बढ़-चढ़कर थे और तुम्हारे पुत्र से भी अधिक पुण्यात्मा थे। जब वे भी मर गये तब औरों की तो बात ही क्या है, अतः तुम अपने पुत्र के लिए शोक मत करो।

शिबिमौशीनरं चैव मृतं सृञ्जय शुश्रुम।
य इमां पृथिवीं सर्वां चर्मवत्समवेष्टयत् ॥१३॥

"सृञ्जय ! जिन्होंने इस सम्पूर्ण पृथिवी को चमड़े की भाँति लपेट लिया था अर्थात् सर्वथा अपने अधीन कर लिया था, वे उशीनर-पुत्र राजा शिबि भी काल का ग्रास बन गये, यह हमने सुना है।

महता रथघोषेण पृथिवीमनुनादयन्।
एकछत्रां महीं चक्रे जैत्रेणैकरथेन यः ॥१४॥

"वे [शिबि] अपने रथ की गम्भीर ध्वनि से पृथिवी को प्रतिध्वनित करते हुए एकमात्र विजयशील रथ के द्वारा इस भूमण्डल का एकछत्र शासन करते थे।

भरतं चैव दौष्यन्तिं मृतं सृञ्जय शुश्रुम।
शाकुन्तलं महात्मानं भूरिद्रविणसंचयम् ॥१५॥

"सृञ्जय ! दुष्यन्त और शकुन्तला के पुत्र महाधनी और महामनस्वी भरत भी मृत्यु के अधीन हो गये, यह हमने सुना है।

अश्वमेधसहस्रेण[1] राजसूयशतेन[1] च।
इष्टवान् स महातेजा दौष्यन्तिर्भरतः पुरा ॥१६॥

"उन महातेजस्वी दुष्यन्तकुमार भरत ने पूर्वकाल में अनेक अश्वमेध और राजसूय यज्ञ सम्पन्न किये थे।

भरतस्य महत्कर्म सर्वराजसु पार्थिवाः।
खं मर्त्या इव बाहुभ्यां नानुगन्तुमशक्नुवन् ॥१७॥

"जैसे मनुष्य दोनों भुजाओं से आकाश को नहीं तैर सकते, वैसे ही सम्पूर्ण राजाओं में भरत का जो महान् कर्म है, उसका दूसरे राजा अनुकरण नहीं कर सके।

दिलीपं च महात्मानं मृतं सृञ्जय शुश्रुम।
यस्य कर्माणि भूरीणि कथयन्ति द्विजातयः ॥१८॥

"सृञ्जय ! महामना राजा दिलीप भी कालधर्म [मृत्यु] को प्राप्त हो गये, यह हमने सुना है। उनके

---

[1] सहस्र और शत—ये दोनों शब्द वैदिक निघण्टु में बहु-अर्थवाची हैं।

महान् कर्मों का ब्राह्मण लोग आज भी वर्णन करते हैं।

त्रयः शब्दा न जीर्यन्ते दिलीपस्य निवेशने।
स्वाध्यायघोषो ज्याघोषो दीयतामिति वै त्रयः ॥१९॥

"महाराज दिलीप के राजप्रासाद में तीन प्रकार के शब्द सदा गूँजते रहते थे—वेदों के स्वाध्याय का गम्भीर घोष, शूरवीरों के धनुष की टङ्कार और 'दान दो' की पुकार।

रामं दाशरथिं चैव मृतं सृञ्जय शुश्रुम।
योऽन्वकम्पत वै नित्यं प्रजाः पुत्रानिवौरसान् ॥२०॥

"सृञ्जय! हमने सुना है कि दशरथनन्दन श्रीराम जो सदा अपनी प्रजा पर वैसी ही कृपा रखते थे, जैसे पिता अपने औरस पुत्रों पर, भी परलोक सिधार गये।

विधवा यस्य विषये नानाथाः काश्चनाभवन्।
सदैवासीत् पितृसमो रामो राज्यं यदान्वशात् ॥२१॥

"उनके राज्य में कोई भी स्त्री विधवा और कोई बच्चा अनाथ नहीं हुआ। श्रीराम ने जबतक राज्य किया तबतक वे अपनी प्रजा के लिए सदा ही पिता के समान कृपालु बने रहे।

कालवर्षी च पर्जन्यः सस्यानि समपादयत्।
नित्यं सुभिक्षमेवासीद् रामे राज्यं प्रशासति ॥२२॥

"बादल समय पर वर्षा करके खेती को अच्छे ढंग से सम्पन्न करता था—उसे बढ़ने और फूलने-फलने का अवसर देता था। राम के राज्य-शासन-काल में सदा प्रभूत धान्य उत्पन्न होता था—कभी अकाल नहीं पड़ता था।

अदंशमशका देशा नष्टव्यालसरीसृपाः।
नाप्सु प्राणभृतां मृत्युर्नाकाले ज्वलनोऽदहत् ॥२३॥

"राम-राज्य में किसी भी प्रदेश में मच्छर और डाँस नहीं थे।[1] साँप और बिच्छू नष्ट हो गये थे। जल में [बाढ़ आदि में] डूबकर भी प्राणियों की मृत्यु नहीं होती थी अर्थात् नदियों में बाढ़ नहीं आती थी। चिता की अग्नि ने किसी भी मनुष्य को असमय में नहीं जलाया था अर्थात् अकाल-मृत्यु नहीं होती थी।

नित्यपुष्पफलाश्चैव पादपा निरुपद्रवाः।
सर्वा द्रोणदुघा गावो रामं राज्यं प्रशासति ॥२४॥

"श्रीराम के राज्य-शासन-काल में सभी वृक्ष बिना किसी विघ्न-बाधा के नित्य फूले-फले रहते थे और सभी गौएँ न्यूनतम एक-एक द्रोण [लगभग पन्द्रह लीटर] दूध देती थीं।

रन्तिदेवं च सांकृत्यं मृतं सृञ्जय शुश्रुम।
सम्यगाराध्य यः शक्राद् वरं लेभे महातपाः ॥२५॥
अन्नं च नो बहु भवेदतिथींश्च लभेमहि।
श्रद्धा च नो मा व्यगमन्मा च याचिष्म कञ्चन ॥२६॥

"सृञ्जय! संकृति के पुत्र राजा रन्तिदेव भी काल के गाल में समा गये, ऐसा हमने सुना है। उस महातपस्वी नरेश ने इन्द्र की सम्यक् आराधना करके यह वर माँगा था—हमारे पास अन्न बहुत हो, हम सदा अतिथियों की सेवा का अवसर प्राप्त करते रहें। हमारी श्रद्धा में कमी न आये और हम किसी से कुछ भी न माँगें।"

स त्वं राजेन्द्र सञ्जातं शोकमेनं निवर्तय।
इष्ट्वा पुण्यैर्महायज्ञैरिष्टं लोकमवाप्स्यसि ॥२७॥

[मृत्यु अवश्यम्भावी है, अतः] हे राजेन्द्र! तुम भी अपने हृदय में उत्पन्न हुए इस शोक [बन्धु-बान्धवों के मृत्युजन्यशोक] को दूर कर पुण्यदायक महायज्ञों का अनुष्ठान करके अभीष्टलोकों [उत्तम योनियों] को प्राप्त करोगे।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि एकादशोऽध्यायः ॥११॥

---

[1] मच्छर राजा के पाप के कारण पैदा होते हैं। बिहार और बंगाल में मच्छली बहुत खाते हैं, अतः वहाँ तो मच्छर पाला जाता है।

द्वादशोऽध्यायः

युधिष्ठिर का नगर में प्रवेश, पुरवासियों द्वारा उनका सत्कार, राज्य-व्यवस्था के लिए अपने भाइयों और अन्य लोगों की नियुक्ति

वैशम्पायन उवाच

तूष्णींभूतं तु राजानं शोचमानं युधिष्ठिरम् ।
तपस्वी धर्मतत्त्वज्ञः कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे जनमेजय ! राजा युधिष्ठिर को चुपचाप शोक में डूबा हुआ देख धर्म के तत्त्व को जाननेवाले तपोधन व्यासजी ने कहा—

व्यास उवाच

प्रजानां पालनं धर्मो राज्ञां राजीवलोचन ।
धर्मः प्रमाणं लोकस्य नित्यं धर्मानुवर्तिनः ॥२॥

व्यासजी ने कहा—कमलनेत्र युधिष्ठिर ! राजाओं का धर्म प्रजाओं का पालन करना ही है। धर्म का अनुसरण करनेवालों के लिए सदा धर्म ही प्रमाण है।

स्वधर्मे वर्तमानस्त्वं किं नु शोचसि पाण्डव ।
राजा हि हन्याद् दद्याच्च प्रजा रक्षेच्च धर्मतः ॥३॥

पाण्डुनन्दन ! अपने धर्म पर आरूढ़ रहते हुए भी तुम शोक क्यों करते हो ? राजा का यह कर्तव्य है कि वह धर्मद्रोहियों का वध करे, सुपात्रों को दान दे और धर्मानुसार प्रजा की रक्षा करे।

अनुतिष्ठस्व तद् राजन् पितृपैतामहं पदम् ।
ब्राह्मणेषु तपो धर्मः स नित्यो वेदनिश्चितः ॥४॥

राजन् ! तुम अपने पिता-पितामहों के राज्य को ग्रहण करके उसका धर्मानुसार पालन करो। तपस्या तो ब्राह्मणों का नित्य-धर्म है। यही वेद का निश्चित सिद्धान्त है।

युधिष्ठिर उवाच

श्रोतुमिच्छामि भगवन् विस्तरेण महामुने ।
राजधर्मान् द्विजश्रेष्ठ चातुर्वर्ण्यस्य चाखिलान् ॥५॥

युधिष्ठिर बोले—भगवन् ! द्विजश्रेष्ठ ! महामुने ! मैं चारों वर्णों के सम्पूर्ण धर्मों और राजधर्म का विस्तारपूर्वक वर्णन सुनना चाहता हूँ।

आपत्सु च यथा नीतिः प्रणेतव्या द्विजोत्तम ।
धर्म्यमालक्ष्य पन्थानं विजयेयं कथं महीम् ॥६॥

द्विजश्रेष्ठ ! आपत्तिकाल में मुझे कैसी नीति से काम लेना चाहिए ? धर्मानुकूल मार्ग पर दृष्टि रखते हुए मैं किस प्रकार इस पृथिवी पर विजय पा सकता हूँ।

धर्मचर्या च राज्यं च नित्यमेव विरुध्यते ।
एवं मुह्यति मे चेतश्चिन्तयानस्य नित्यशः ॥७॥

एक ओर धर्म का आचरण तथा दूसरी ओर राज्य का पालन—ये दोनों सदा एक-दूसरे के विरुद्ध हैं। यह सोचकर मुझे सदा चिन्ता बनी रहती है और मेरे चित्त पर मोह छा रहा है।

व्यास उवाच

श्रोतुमिच्छसि चेद्धर्मं निखिलेन नराधिप ।
प्रैहि भीष्मं महाबाहो वृद्धं कुरुपितामहम् ॥८॥

व्यासजी ने कहा—महाबाहु नरेश्वर ! यदि तुम पूर्णरूप से धर्म का विवेचन सुनना चाहते हो तो कुरुकुल के वृद्ध पितामह भीष्म के पास जाओ।

स ते धर्मरहस्येषु संशयान् मनसि स्थितान् ।
छेत्ता भागीरथीपुत्रः सर्वज्ञः सर्वधर्मवित् ॥९॥

गङ्गापुत्र भीष्म सब धर्मों के ज्ञाता और सर्वज्ञ [धर्म, अर्थ, काम को जाननेवाले] हैं। वे धर्मरहस्यों के विषय में तुम्हारे मन में स्थित हुए सारे सन्देहों का समाधान कर देंगे।

युधिष्ठिर उवाच

घातयित्वा तमेवाजौ छलेनाजिह्मयोधिनम् ।
उपसम्प्रष्टुमर्हामि तमहं केन हेतुना ॥१०॥

युधिष्ठिर बोले—सरलतापूर्वक [बिना छल-कपट के] युद्ध करनेवाले भीष्मजी को मरवाकर क्या मैं उन्हीं से अपनी शंकाओं का निवारण कराने के योग्य रह गया हूँ ? मैं उन्हें अपना मुँह कैसे दिखा सकता हूँ ?

वासुदेव उवाच

नेदानीमतिनिर्बन्धं शोके त्वं कर्तुमर्हसि ।
यदाह भगवान् व्यासस्तत् कुरुष्व नृपोत्तम ॥११॥

श्रीकृष्ण बोले—नृपश्रेष्ठ ! अब आप हठपूर्वक

शोक को ही न पकड़े रहें [शोक में डूबे न रहें]। भगवान् व्यास जो आज्ञा देते हैं, वही करें।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स कृष्णेन राजा राजीवलोचनः।
हितार्थं सर्वलोकस्य समुत्तस्थौ महामनाः ॥१२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! श्रीकृष्ण के ऐसा कहने पर कमलनेत्र महामनस्वी राजा युधिष्ठिर समस्त जगत् के हित के लिए उठ खड़े हुए।

श्रुतवाक्यः श्रुतनिधिः श्रुतश्रव्यविशारदः।
व्यवस्य मनसः शान्तिमगच्छत् पाण्डुनन्दनः ॥१३॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर ने श्रेष्ठ पुरुषों के उपदेश को सुना था। वे वेद-शास्त्रों के ज्ञान की निधि थे। वे सुने हुए शास्त्रों और सुनने-योग्य नीति-ग्रन्थों के विचार में कुशल थे, अतः उन्होंने अपने कर्तव्य का निश्चय करके मन में पूर्ण शान्ति पा ली।

स तैः परिवृतो राजा नक्षत्रैरिव चन्द्रमाः।
धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य स्वपुरं प्रविवेश ह ॥१४॥

नक्षत्रों से घिरे हुए चन्द्रमा के समान राजा युधिष्ठिर ने वहाँ आये हुए सब लोगों से घिरकर, धृतराष्ट्र को आगे करके अपनी राजधानी हस्तिनापुर में प्रवेश किया।

प्रवेशने तु पार्थानां जनानां पुरवासिनाम्।
दिदृक्षूणां सहस्राणि समाजग्मुः सहस्रशः ॥१५॥

जनमेजय ! कुन्तीकुमारों के हस्तिनापुर में प्रवेश करते समय उन्हें देखने के लिए दस लाख नगरनिवासी राजमार्गों पर एकत्र हो गये।

स राजमार्गः शुशुभे समलंकृतचत्वरः।
यथा चन्द्रोदये राजन् वर्धमानो महोदधिः ॥१६॥

राजन् ! जैसे चन्द्रोदय होने पर समुद्र उमड़ने लगता है, वैसे ही जिसके चौराहे खूब सजाये गये थे, वह राजमार्ग मनुष्यों की उमड़ती हुई भीड़ से अत्यन्त शोभा पा रहा था।

गृहाणि राजमार्गेषु रत्नवन्ति महान्ति च।
प्राकम्पन्तेव भारेण स्त्रीणां पूर्णानि भारत ॥१७॥

भरतनन्दन ! राजमार्गों के आस-पास जो रत्नविभूषित विशाल भवन थे, वे स्त्रियों से भरे होने के कारण उनके भारी भार से काँपते हुए-से प्रतीत होते थे।

ताः शनैरिव सव्रीडं प्रशशंसुर्युधिष्ठिरम्।
भीमसेनार्जुनौ चैव माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥१८॥

भवनों में विद्यमान वे नारियाँ लजाती हुई-सी धीरे-धीरे युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन और पाण्डुपुत्र माद्रीकुमार नकुल-सहदेव की प्रशंसा कर रही थीं।

तमतीत्य यथायुक्तं राजमार्गं युधिष्ठिरः।
अलंकृतं शोभमानमुपायाद् राजवेश्म ह ॥१९॥

राजन् ! उस समलंकृत शोभासम्पन्न राजमार्ग को लाँघकर राजा युधिष्ठिर राजभवन के समीप जा पहुँचे।

ततः प्रकृतयः सर्वाः पौरा जानपदास्तदा।
ऊचुः कर्णसुखा वाचः समुपेत्य ततस्ततः ॥२०॥

तत्पश्चात् मन्त्री-सेनापति आदि प्रकृतिवर्ग के सभी लोग, नगरनिवासी और जनपदवासी मनुष्य इधर-उधर से आकर कर्णप्रिय=कानों को सुख देनेवाली बातें कहने लगे—

दिष्ट्या जयसि राजेन्द्र शत्रूञ्छत्रनिषूदन।
दिष्ट्या राज्यं पुनः प्राप्तं धर्मेण च बलेन च ॥२१॥

शत्रुहन्ता नरेश ! बड़े सौभाग्य की बात है कि आप विजयी हुए हैं। आपने धर्म के प्रभाव और बल से अपना राज्य पुनः पा लिया—यह भी अत्यन्त हर्ष का विषय है।

भव नस्त्वं महाराज राजेह शरदां शतम्।
प्रजाः पालय धर्मेण यथेन्द्रस्त्रिदिवं तथा ॥२२॥

महाराज ! आप सैकड़ों वर्षों तक हमारे राजा बने रहें। जैसे इन्द्र स्वर्गलोक का पालन करते हैं, वैसे ही आप भी धर्मपूर्वक प्रजा का पालन और रक्षण करें।

उपवेश्य महात्मानं कृष्णां च द्रुपदात्मजाम्।
जुहाव पावकं धौम्यो विधिवन्मन्त्रपुरस्कृतम् ॥२३॥

पुरोहित धौम्य ने महात्मा युधिष्ठिर और द्रुपदपुत्री कृष्णा [द्रौपदी] को आसन पर बिठाकर विधि और मन्त्र के साथ अग्निहोत्र सम्पन्न कराया।

ततः कुन्तीसुतो राजा गतमन्युर्गतज्वरः।
काञ्चने प्राङ्मुखो हृष्टो न्यसीदत् परमासने ॥२४॥

तत्पश्चात् कुन्तीकुमार राजा युधिष्ठिर खेद और

चिन्ता से रहित हो पूर्व की ओर मुख करके प्रसन्नतापूर्वक स्वर्ण के सुन्दर सिंहासन पर विराजमान हुए।

तत उत्थाय दाशार्हः शंखमादाय पूजितम् ।
अभ्यषिञ्चत् पतिं भूमेः कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥२५॥

तदनन्तर दशार्हवंशी श्रीकृष्ण ने श्रेष्ठ पाञ्चजन्य शंख हाथ में ले उसके जल से भूपाल कुन्तीकुमार युधिष्ठिर का अभिषेक किया।

पौरजानपदान् सर्वान् विसृज्य कुरुनन्दनः ।
यौवराज्येन कौन्तेयं भीमसेनमयोजयत् ॥२६॥

राज्याभिषेक के पश्चात् नगर और जनपद के निवासियों को विदा करके कुरुनन्दन युधिष्ठिर ने कुन्तीकुमार भीमसेन को युवराज के पद पर प्रतिष्ठित किया।

मन्त्रे च निश्चये चैव षाड्गुण्यस्य च चिन्तने ।
विदुरं बुद्धिसम्पन्नं प्रीतिमान् स समादिशत् ॥२७॥

तदनन्तर उन्होंने अति प्रसन्नता के साथ बुद्धिमान् विदुर को मन्त्रणा,[1] कर्तव्य-निश्चय और छहों[2] गुणों के चिन्तनकार्य में नियुक्त किया।

कृताकृतपरिज्ञाने तथाऽऽयव्ययचिन्तने ।
सञ्जयं योजयामास वृद्धं सर्वगुणैर्युतम् ॥२८॥

कौन-सा कार्य सम्पन्न हुआ और कौन-सा करना शेष है—इसकी जाँच करने तथा आय-व्यय पर विचार करने के कार्य में उन्होंने सर्वगुणसम्पन्न वयोवृद्ध सञ्जय की नियुक्ति की।

बलस्य परिमाणे च भक्तवेतनयोस्तथा ।
नकुलं व्यादिशद् राजा कर्मणां चान्ववेक्षणे ॥२९॥

सेना की गणना करना, उसे भोजन तथा वेतन देना और उसके काम की देख-भाल करना—इन सब कार्यों का भार राजा युधिष्ठिर ने नकुल को सौंप दिया।

परचक्रोपरोधे च दुष्टानां चावमर्दने ।
युधिष्ठिरो महाराज फाल्गुनं व्यादिदेश ह ॥३०॥

महाराज ! शत्रु-देशों पर आक्रमण करने और दुष्टों का दमन करने के लिए युधिष्ठिर ने अर्जुन को नियुक्त किया।

द्विजानां देवकार्येषु कार्येष्वन्येषु चैव ह ।
धौम्यं पुरोधसां श्रेष्ठं नित्यमेव समादिशत् ॥३१॥

ब्राह्मणों की देख-भाल, यज्ञ-कार्यों और पूजापाठ, उपासना, पञ्चयज्ञादि कार्यों पर सदा के लिए पुरोहितों में श्रेष्ठ महर्षि धौम्य की नियुक्ति की गई।

सहदेवं समीपस्थं नित्यमेव समादिशत् ।
तेन गोप्यो हि नृपतिः सर्वावस्थो विशाम्पते ॥३२॥

प्रजेश्वर ! सहदेव को राजा युधिष्ठिर ने सर्वदा अपने पास रहने का आदेश दिया। उन्हें सभी अवस्थाओं में राजा की रक्षा का काम सौंपा गया।

यानमन्यत योग्यांश्च येषु येष्विह कर्मसु ।
तांस्तांस्तेष्वेव युयुजे प्रीयमाणो महीपतिः ॥३३॥

प्रसन्न हुए महाराज युधिष्ठिर ने जिन-जिन लोगों को जिन-जिन कार्यों के योग्य समझा, उन-उनको उन्हीं कार्यों पर नियुक्त किया।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

त्रयोदशोऽध्यायः

युधिष्ठिर का भीष्म के पास जाना और भीष्म का उन्हें प्रश्न पूछने की आज्ञा देना

जनमेजय उवाच

प्राप्य राज्यं महाबाहुर्धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
यदन्यदकरोद् विप्र तन्मे वक्तुमिहार्हसि ॥१॥

जनमेजय ने पूछा—विप्रवर ! राज्य-प्राप्ति के पश्चात् धर्मपुत्र महाबाहु युधिष्ठिर ने कौन-कौन-सा कार्य किया था; आप मुझे वह सब बताने की कृपा करें।

वैशम्पायन उवाच

प्राप्य राज्यं महाराज कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
चातुर्वर्ण्यं यथायोग्यं स्वे स्वे स्थाने न्यवेशयत् ॥२॥

---

[1] राजकार्य के सम्बन्ध में गुप्त परामर्श देने का नाम 'मन्त्रणा' है।

[2] सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय—ये छह राजा के नीतिसम्बन्धी गुण कहलाते हैं।

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज ! कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ने राज्य प्राप्त करने के पश्चात् सर्वप्रथम चारों वर्णों को योग्यतानुसार अपने-अपने स्थान [कर्तव्यपालन] में स्थिर किया ।

कृपाय च महाराज गुरुवृत्तिमवर्तत ।
विदुराय च राजासौ पूजां चक्रे यतव्रतः ।।३।।

महाराज ! राजा ने कृपाचार्य के साथ वही बर्ताव किया जो एक शिष्य को अपने गुरु के प्रति करना चाहिए । नियमपूर्वक व्रतपालक युधिष्ठिर ने विदुरजी का भी पूजनीय पुरुष की भाँति आदर-सत्कार किया ।

तथा सर्वं स नगरं प्रसाद्य भरतर्षभ ।
उवाच मधुरं राजा गोविन्दमभिगम्य च ।।४।।

भरतश्रेष्ठ ! समस्त नगर की प्रजा को प्रसन्न करके राजा युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण के पास जाकर मधुरवाणी में कहा—

वयं राज्यमनुप्राप्ताः पृथिवी च वशे स्थिता ।
तव प्रसादाद् भगवन्न च धर्मच्युता वयम् ।।५।।

"भगवन् ! हमने आपकी ही कृपा से राज्य पाया है और यह पृथिवी हमारे अधिकार में आई है । आपकी कृपा से ही हम धर्म से भ्रष्ट नहीं हुए हैं ।

यदि त्वनुग्रहवती बुद्धिस्ते मयि माधव ।
त्वामग्रतः पुरस्कृत्य भीष्मं यास्यामहे वयम् ।।६।।

"माधव ! यदि आपका विचार मुझपर अनुग्रह करने का है तो हम लोग आपको ही आगे करके भीष्मजी के पास चलेंगे ।"

श्रुत्वैवं धर्मराजस्य वचनं मधुसूदनः ।
पार्श्वस्थं सात्यकिं प्राह रथो मे युज्यतामिति ।।७।।

जनमेजय ! धर्मराज का यह वचन सुनकर मधुसूदन श्रीकृष्ण ने पास ही खड़े हुए सात्यकि से कहा, "मेरा रथ जोतकर तैयार किया जाए ।"

ततः स च हृषीकेशः स च राजा युधिष्ठिरः ।
कृपादयश्च ते सर्वे चत्वारः पाण्डवाश्च ते ।।८।।
रथैस्तैर्नगरप्रख्यैः पताकाध्वजशोभितैः ।
ययुराशु कुरुक्षेत्रं वाजिभिः शीघ्रगामिभिः ।।९।।

राजन् ! रथ तैयार हो जाने पर श्रीकृष्ण, राजा युधिष्ठिर, कृपाचार्य आदि सब लोग तथा शेष चारों पाण्डव ध्वजा-पताकाओं से सुशोभित और शीघ्रगामी घोड़ों द्वारा संचालित नगराकार विशाल रथों से शीघ्रतापूर्वक कुरुक्षेत्र की ओर बढ़े ।

तेऽवतीर्य कुरुक्षेत्रं केशमज्जास्थिसंकुलम् ।
देहन्यासः कृतो यत्र क्षत्रियैस्तैर्महात्मभिः ।।१०।।

वे सब लोग केश, मज्जा और हड्डियों से भरे हुए कुरुक्षेत्र में उतरे जहाँ महामनस्वी क्षत्रियों ने अपने शरीर का त्याग किया था ।

तत्र ते ददृशुर्भीष्मं शरप्रस्तरशायिनम् ।
स्वरश्मिजालसंवीतं सायंसूर्यसमप्रभम् ।।११।।

वहाँ उन्होंने देखा कि भीष्मजी शरशय्या पर सो रहे हैं और अपने तेज की किरणों से घिरे हुए सायंकालीन सूर्य की भाँति देदीप्यमान हो रहे हैं ।

उपास्यमानं मुनिभिर्देवैरिव शतक्रतुम् ।
देशे परमधर्मिष्ठे नदीमोघवतीमनु ।।१२।।

जैसे देवता इन्द्र की उपासना करते हैं, वैसे ही बहुत-से ऋषि ओघवती नदी के किनारे परम धर्ममय स्थान में उनके समीप बैठे हुए थे ।

दूरादेव तमालोक्य संयम्य प्रचलं मनः ।
एकीकृत्येन्द्रियग्राममुपतस्थुर्महामुनीन् ।।१३।।

वे सब लोग दूर से ही भीष्म पितामह को देखकर, चञ्चल मन को वश में करके और समस्त इन्द्रियों को एकाग्र कर वहाँ बैठे हुए महामुनियों की सेवा में उपस्थित हुए ।

अभिवाद्य तु गोविन्दः सात्यकिस्ते च पार्थिवाः ।
व्यासादीनृषिमुख्यांश्च गाङ्गेयमुपतस्थिरे ।।१४।।

श्रीकृष्ण, सात्यकि एवं अन्य राजाओं ने व्यास आदि महर्षियों को प्रणाम करके गङ्गानन्दन भीष्म के निकट पहुँचकर उन्हें मस्तक झुकाया ।

ततो वृद्धं तथा दृष्ट्वा गाङ्गेयं यदुकौरवाः ।
परिवार्य ततः सर्वे निषेदुः पुरुषर्षभाः ।।१५।।

तत्पश्चात् वे सभी यदुवंशी तथा कौरवश्रेष्ठ वृद्ध गङ्गानन्दन भीष्मजी का दर्शन करके उन्हें चारों ओर से घेरकर बैठ गये ।

ततो निशाम्य गाङ्गेयं शाम्यमानमिवानलम् ।
किञ्चिद् दीनमना भीष्ममिति होवाच केशवः ।।१६।।

तदनन्तर श्रीकृष्ण ने मन-ही-मन कुछ दुःखी हो

बुझती हुई अग्नि के समान दिखाई देनेवाले गङ्गानन्दन भीष्म को सुनाकर इस प्रकार कहा—

कच्चिज्ज्ञानानि सर्वाणि प्रसन्नानि यथा पुरा ।
कच्चिन्न व्याकुला चैव बुद्धिस्ते वदतां वर ॥१७॥

"वक्ताओं में श्रेष्ठ भीष्मजी ! क्या आपकी सम्पूर्ण ज्ञानेन्द्रियाँ पहले की भाँति प्रसन्न हैं ? आपकी बुद्धि व्याकुल तो नहीं हुई है ?

शराभिघातदुःखात् ते कच्चिद् गात्रं न दूयते ।
मानसादपि दुःखाद्धि शारीरं बलवत्तरम् ॥१८॥

"आपको बाणों की चोट सहने का जो कष्ट उठाना पड़ा है, उससे आपके शरीर में विशेष कष्ट तो नहीं हो रहा है, क्योंकि मानसिक दुःख से शारीरिक दुःख अधिक प्रबल होता है—उसे सहन करना कठिन हो जाता है ।

सुसूक्ष्मोऽपि तु देहे वै शल्यो जनयते रुजम् ।
किं पुनः शरसंघातैश्चितस्य तव पार्थिव ॥१९॥

"राजन् ! यदि शरीर में कोई अत्यन्त छोटा-सा काँटा भी गड़ जाए तो वह भी भारी वेदना उत्पन्न कर देता है, फिर जो बाण-समूह से पाट दिया गया है, उस आपके शरीर की पीड़ा के विषय में तो कहना ही क्या है ?

कामं नैतत् तवाख्येयं प्राणिनां प्रभवाप्ययौ ।
उपदेष्टुं भवाञ्छक्तो देवानामपि भारत ॥२०॥

"भरतनन्दन ! अवश्य ही आपके समक्ष यह कहना व्यर्थ होगा कि 'सभी प्राणियों के जन्म और मरण प्रारब्ध के अनुसार निश्चित हैं, अतः आपको दैव का विधान समझकर अपने मन में दुःखी नहीं होना चाहिए ।' आपको कोई क्या उपदेश करेगा ! आप तो देवताओं को भी उपदेश देने में समर्थ हैं ।

यच्च भूतं भविष्यं च भवच्च पुरुषर्षभ ।
सर्वं तज्ज्ञानवृद्धस्य तव भीष्म प्रतिष्ठितम् ॥२१॥

"पुरुषप्रवर भीष्म ! आप ज्ञान में सबसे बढ़े-चढ़े हैं । आपकी बुद्धि में भूत, भविष्य और वर्तमान सभी कुछ प्रतिष्ठित है ।

सत्ये तपसि दाने च यज्ञाधिकरणे तथा ।
धनुर्वेदे च वेदे च नीत्यां चैवानुरक्षणे ॥२२॥
अनृशंसं शुचिं दान्तं सर्वभूतहिते रतम् ।
महारथं त्वत्सदृशं न कञ्चिदनुशुश्रुम ॥२३॥

"सत्य, तप, दान और यज्ञ के अनुष्ठान में, वेद, धनुर्वेद एवं नीतिशास्त्र के ज्ञान में, प्रजा के पालन में, कोमलतापूर्ण व्यवहार, अन्तः-बाह्य पवित्रता, मन और इन्द्रियों के संयम तथा समस्त प्राणियों के हित-साधन में आपके समान मैंने दूसरे किसी महारथी को नहीं सुना है ।

मनुष्येषु मनुष्येन्द्र न दृष्टो न च मे श्रुतः ।
भवतो वा गुणैर्युक्तः पृथिव्यां पुरुषः क्वचित् ॥२४॥

"मनुजेन्द्र ! मनुष्यों में आपके समान गुणों से युक्त पुरुष इस पृथिवी पर न तो मैंने कहीं देखा है और न सुना ही है ।

तदस्य तप्यमानस्य ज्ञातीनां संक्षयेन वै ।
ज्येष्ठस्य पाण्डुपुत्रस्य शोकं भीष्म व्यपानुद ॥२५॥

"अतः भीष्मजी ! मैं आपसे यह निवेदन करता हूँ कि ये ज्येष्ठ पाण्डव अपने कुटुम्बीजनों के वध से बहुत सन्तप्त हो रहे हैं, आप इनके शोक को दूर करें ।

ये च केचन लोकेऽस्मिन्नर्थाः संशयकारकाः ।
तेषां छेत्ता नास्ति लोके त्वदन्यः पुरुषर्षभ ॥२६॥

पुरुषश्रेष्ठ ! संसार में जितने भी सन्देहग्रस्त विषय हैं, उनका समाधान करनेवाला आपको छोड़कर और कोई नहीं है ।"

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा तु वचनं भीष्मो वासुदेवस्य धीमतः ।
किञ्चिदुन्नाम्य वदनं प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ॥२७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! परम बुद्धिमान् वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण का वचन सुनकर भीष्मजी ने अपना मुख कुछ ऊपर उठाया और हाथ जोड़कर कहा—

भीष्म उवाच

शराभितापाद् व्यथितं मनो मे मधुसूदन ।
गात्राणि चावसीदन्ति न च बुद्धिः प्रसीदति ॥२८॥

भीष्मजी बोले—मधुसूदन ! इन बाणों के गड़ने से जो जलन हो रही है, उसके कारण मेरे मन में बड़ी व्यथा है । सारा शरीर पीड़ा के कारण शिथिल हो गया है और बुद्धि कुछ काम नहीं दे रही है ।

न च मे प्रतिभा काचिदस्ति किञ्चित्प्रभाषितुम् ।
पीड्यमानस्य गोविन्द विषानलसमैः शरैः ॥२९॥

गोविन्द ! ये बाण विष और अग्नि के समान मुझे पीड़ा दे रहे हैं, अतः मुझमें कुछ भी कहने की शक्ति नहीं रह गई है ।

युधिष्ठिरस्तु धर्मात्मा मां धर्माननुपृच्छतु ।
एवं प्रीतो भविष्यामि धर्मान्वक्ष्यामि चाखिलान् ॥३०॥

फिर भी धर्मात्मा युधिष्ठिर मुझसे एक-एक करके धर्मों के विषय में प्रश्न करें, इससे मुझे प्रसन्नता होगी और मैं सम्पूर्ण धर्मों का उपदेश कर सकूँगा ।

वासुदेव उवाच

लोकस्य कदनं कृत्वा लज्जया च युधिष्ठिरः ।
अभिशापभयाद् भीतो भवन्तं नोपसर्पति ॥३१॥

श्रीकृष्ण बोले—प्रजानाथ ! युधिष्ठिर जगत् का संहार करके बहुत लज्जित हैं, वे शाप के भय से भयभीत होने के कारण आपके निकट नहीं आ रहे हैं ।

भीष्म उवाच

ब्राह्मणानां यथा धर्मो दानमध्ययनं तपः ।
क्षत्रियाणां तथा कृष्ण समरे देहपातनम् ॥३२॥

भीष्म पितामह ने कहा—श्रीकृष्ण ! जैसे दान, अध्ययन और तप ब्राह्मणों का धर्म है, उसी प्रकार युद्धभूमि में शत्रुओं के शरीर को मार गिराना क्षत्रियों का धर्म है ।

पितॄन्पितामहान्भ्रातॄन् गुरून्सम्बन्धिबान्धवान् ।
मिथ्याप्रवृत्तान् यः संख्ये निहन्याद् धर्म एव सः ॥३३॥

जो असत्य के मार्ग पर चलनेवाले पिता [ताऊ-चाचा], दादा, भाई, गुरुजन, सम्बन्धी तथा बन्धु-बान्धवों को संग्राम में मार डालता है, उसका वह कार्य धर्म ही है ।

लोहितोदां केशतृणां गजशैलां ध्वजद्रुमाम् ।
महीं करोति युद्धेषु क्षत्रियो यः स धर्मवित् ॥३४॥

जो क्षत्रिय युद्धभूमि में रक्तरूपी जल, केशरूपी तृण, हाथीरूपी पर्वत और ध्वजरूपी वृक्षों से युक्त रक्त की नदी बहा देता है, वह धर्म का ज्ञाता है ।

आहूतेन रणे नित्यं योद्धव्यं क्षत्रबन्धुना ।
धर्म्यं स्वर्ग्यं च लोक्यं च युद्धं हि मनुरब्रवीत् ॥३५॥

संग्राम में शत्रु के ललकारने पर क्षत्रियबन्धु को सदा ही युद्ध के लिए उद्यत रहना चाहिए । महर्षि मनु ने कहा है कि युद्ध क्षत्रिय के लिए धर्म का पोषक, स्वर्ग की प्राप्ति करानेवाला और लोक में कीर्ति फैलानेवाला है ।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु भीष्मेण धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
विनीतवदुपागम्य तस्थौ संदर्शनेऽग्रतः ॥३६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! भीष्मजी के ऐसा कहने पर धर्मपुत्र युधिष्ठिर उनके निकट जाकर एक विनम्र मनुष्य के समान उनकी दृष्टि के सामने खड़े हो गये ।

अथास्य पादौ जग्राह भीष्मश्चापि ननन्द तम् ।
मूर्ध्नि चैनमुपाघ्राय निषीदेत्यब्रवीत् तदा ॥३७॥

फिर उन्होंने भीष्मजी के दोनों चरण छूकर उन्हें प्रणाम किया । तब भीष्मजी ने उन्हें आश्वासन देकर प्रसन्न किया और उनका मस्तक सूँघकर कहा—"बेटे ! बैठ जाओ ।"

तमुवाचाथ गाङ्गेयो वृषभः सर्वधन्विनाम् ।
मां पृच्छ तात विश्रब्धं मा भैस्त्वं कुरुसत्तम ॥३८॥

तत्पश्चात् सम्पूर्ण धनुर्धरों में श्रेष्ठ गङ्गानन्दन भीष्मजी ने उनसे कहा—"तात ! मैं इस समय स्वस्थ हूँ, तुम मुझसे निर्भय होकर प्रश्न करो । कुरुश्रेष्ठ ! तुम डरो मत ।"

इति महाभारते शान्तिपर्वणि त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

चतुर्दशोऽध्यायः

भीष्मजी द्वारा राजधर्म का कथन

युधिष्ठिर उवाच

राज्ञां वै परमो धर्म इति धर्मविदो विदुः ।
महान्तमेतं भारं च मन्ये तद् ब्रूहि पार्थिव ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! धर्मज्ञ विद्वानों की यह मान्यता है कि राजाओं का धर्म श्रेष्ठ है, परन्तु मैं तो इसे बहुत बड़ा भार मानता हूँ, अतः भूपाल ! आप मुझे राजधर्म का उपदेश कीजिए ।

भीष्म उवाच

शृणु कार्त्स्न्येन मत्तस्त्वं राजधर्मान् युधिष्ठिर ।
निरुच्यमानान् नियतो यच्चान्यदपि वाञ्छसि ॥२॥

भीष्मजी बोले—युधिष्ठिर ! अब तुम विनयपूर्वक एकाग्र हो मुझसे सम्पूर्णरूप से राजधर्मों का वर्णन सुनो तथा और भी जो कुछ सुनना चाहते हो, उसका श्रवण करो ।

उत्थानेन सदा पुत्र प्रयतेथा युधिष्ठिर ।
न ह्युत्थानमृते दैवं राज्ञामर्थं प्रसाधयेत् ॥३॥

पुत्र युधिष्ठिर ! तुम सदा पुरुषार्थ के लिए प्रयत्नशील रहना । पुरुषार्थ के बिना केवल प्रारब्ध राजाओं के प्रयोजन को सिद्ध नहीं कर सकता ।

साधारणं द्वयं ह्येतद् दैवमुत्थानमेव च ।
पौरुषं हि परं मन्ये दैवं निश्चितमुच्यते ॥४॥

यद्यपि कार्य की सिद्धि में प्रारब्ध और पुरुषार्थ—ये दोनों साधारण कारण माने गये हैं, तथापि मैं पुरुषार्थ को ही प्रधान मानता हूँ, क्योंकि प्रारब्ध तो पहले से ही निश्चित बताया गया है ।

विपन्ने च समारम्भे सन्तापं मा स्म वै कृथाः ।
घटस्वैव सदाऽऽत्मानं राज्ञामेष परो नयः ॥५॥

यदि आरम्भ किया हुआ कार्य पूर्ण न हो सके अथवा उसमें विघ्न उपस्थित हो जाए तो उसके लिए तुम्हें दुःखी नहीं होना चाहिए । तुम सदा अपने-आपको पुरुषार्थ में लगाये रखो । यही राजाओं की सर्वोत्तम नीति है ।

न हि सत्यादृते किञ्चिद् राज्ञां वै सिद्धिकारकम् ।
सत्ये हि राजा निरतः प्रेत्य चेह च नन्दति ॥६॥

सत्य के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु राजाओं के लिए सिद्धिदायक नहीं है । सत्यपरायण राजा इहलोक और परलोक में सुख पाता है ।

ऋषीणामपि राजेन्द्र सत्यमेव परं धनम् ।
तथा राज्ञां परं सत्यान्नान्यद् विश्वासकारणम् ॥७॥

हे राजेन्द्र ! ऋषियों के लिए भी सत्य ही परम धन है । इसी प्रकार राजाओं के लिए सत्य से बढ़कर दूसरा कोई ऐसा साधन नहीं है, जो प्रजा में उसके प्रति विश्वास उत्पन्न करा सके ।

गुणवाञ्छीलवान् दान्तो मृदुर्धर्म्यो जितेन्द्रियः ।☐
सुदर्शः स्थूललक्ष्यश्च न भ्रश्येत सदा श्रियः ॥८॥

जो मनुष्य [अथवा राजा] गुणवान्, शीलयुक्त, मन को वश में रखनेवाला, कोमलस्वभाव, धर्मपरायण, जितेन्द्रिय, प्रसन्नमुख और दानशील होता है वह कभी लक्ष्मी [या राजलक्ष्मी] से भ्रष्ट नहीं होता ।

आर्जवं सर्वकार्येषु श्रयेथाः कुरुनन्दन ।
पुनर्नयविचारेण त्रयीसंवरणेन च ॥९॥

कुरुनन्दन ! तुम सभी कार्यों में सरलता एवं कोमलता का आश्रय लेना, परन्तु नीतिशास्त्र के चिन्तन एवं मनन से यह विदित होता है कि अपने छिद्र, अपनी मन्त्रणा और अपने कार्यकौशल—इन तीन बातों को गुप्त रखने में सरलता का अवलम्बन लेना उचित नहीं है ।

मृदुर्हि राजा सततं लङ्घ्यो भवति सर्वशः ।
तीक्ष्णाच्चोद्विजते लोकस्तस्मादुभयमाश्रय ॥१०॥

सदा कोमलतापूर्ण व्यवहार करनेवाले राजा की आज्ञा का लोग उल्लङ्घन कर देते हैं और सर्वदा कठोर बर्ताव करने से लोग उद्विग्न हो उठते हैं, अतः तुम आवश्यकता-अनुसार कोमलता और कठोरता दोनों को अपनाओ ।

उद्यम्य शस्त्रमायान्तमपि वेदान्तगं रणे ।
निगृह्णीयात् स्वधर्मेण धर्मापेक्षी नराधिपः ॥११॥

वेदान्त का पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मण भी यदि शस्त्र उठाकर युद्ध में सामना करने के लिए आ रहा

हो तो धर्मपालन की इच्छा रखनेवाले राजा को अपने धर्म के अनुसार ही युद्ध करके उसे बन्दी बना लेना चाहिए।

विनश्यन्तञ्च धर्मं हि योऽभिरक्षेत् स धर्मवित्।
न तेन धर्महा स स्यान्मन्युस्तन्मन्युमृच्छति ॥१२॥

जो राजा उस [आततायी ब्राह्मण] के द्वारा नष्ट होते हुए धर्म की रक्षा करता है, वह धर्मज्ञ है। उसे मौत के घाट उतारने से वह [राजा] धर्म का नाशक नहीं माना जाता। वस्तुतः क्रोध ही उसके क्रोध से टक्कर लेता है।

राज्ञा नित्यं दया कार्या चातुर्वर्ण्ये विपश्चिता।
धर्मात्मा सत्यवाक् चैव राजा रञ्जयति प्रजाः ॥१३॥

बुद्धिमान् राजा को चारों वर्णों पर सदा दया करनी चाहिए, क्योंकि धर्मात्मा और सत्यवादी नरेश ही प्रजा को प्रसन्न रख सकता है।

न च क्षान्तेन ते नित्यं भाव्यं पुत्र समन्ततः।
अधर्मो हि मृदू राजा क्षमावानिव कुञ्जरः ॥१४॥

बेटे! तुम्हें सदा और सब ओर [सबके प्रति] क्षमाशील ही नहीं बने रहना चाहिए, क्योंकि क्षमाशील हाथी के समान कोमल स्वभाववाला राजा दूसरों को भयभीत न कर सकने के कारण अधर्म के प्रसार में ही सहायक होता है।

क्षममाणं नृपं नित्यं नीचः परिभवेज्जनः।
हस्तियन्ता गजस्येव शिर एवारुरुक्षति ॥१५॥

नीच मनुष्य क्षमाशील राजा का सदा उसी प्रकार तिरस्कार करते रहते हैं, जैसे हाथी का महावत उसके सिर पर ही चढ़े रहना चाहता है।

तस्मान्नैव मृदुर्नित्यं तीक्ष्णो नैव भवेन्नृपः।
वासन्तार्क इव श्रीमान् न शीतो न च घर्मदः ॥१६॥

जैसे वसन्त ऋतु का तेजस्वी सूर्य न तो बहुत ठण्डक पहुँचाता है और न कड़ी धूप ही देता है, वैसे ही राजा को भी न तो बहुत कोमल होना चाहिए और न अधिक कठोर ही।

प्रत्यक्षेणानुमानेन तथौपम्यागमैरपि।
परीक्ष्यास्ते महाराज स्वे परे चैव नित्यशः ॥१७॥

महाराज! प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम—इन चारों प्रमाणों के द्वारा सदा अपने-पराये की पहचान करते रहना चाहिए।

व्यसनानि च सर्वाणि त्यजेथा भूरिदक्षिण।
लोकस्य व्यसनी नित्यं परिभूतो भवत्युत ॥१८॥

प्रचुर दक्षिणा देनेवाले नरेश! तुम्हें सभी प्रकार के व्यसनों[1] को त्याग देना चाहिए, क्योंकि व्यसनों में आसक्त हुआ राजा सब लोगों के द्वारा तिरस्कृत [अपमानित] होता है।

भवितव्यं सदा राज्ञा गर्भिणीसहधर्मिणा।
कारणं च महाराज शृणु येनेदमिष्यते ॥१९॥

महाराज! राजा का प्रजा के साथ गर्भिणी स्त्री का-सा व्यवहार होना चाहिए, क्यों, कारण बताता हूँ, सुनो।

यथा हि गर्भिणी हित्वा स्वं प्रियं मनसोऽनुगम्।
गर्भस्य हितमाधत्ते तथा राज्ञाप्यसंशयम् ॥२०॥
वर्तितव्यं कुरुश्रेष्ठ सदा धर्मानुवर्तिना।
स्वं प्रियं तु परित्यज्य यद्यल्लोकहितं भवेत् ॥२१॥

जैसे गर्भवती स्त्री अपने मनचाहे प्रिय भोजन आदि को छोड़कर केवल गर्भस्थ बालक के हित का ध्यान रखती है, वैसे ही धर्मात्मा राजा को भी निःसन्देह वैसा ही बर्ताव करना चाहिए। कुरुकुल-भूषण! राजा अपने को प्रिय लगनेवाले विषय को तिलाञ्जलि देकर जिसमें सब लोगों का हित हो वही कार्य करे।

---

[1] महर्षि मनु ने काम और क्रोध से उत्पन्न होनेवाले अट्ठारह व्यसन गिनाये हैं—

मृगयाऽक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः।
तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः॥
पैशुन्यं साहसं द्रोहं ईर्ष्यासूयार्थदूषणम्।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः॥

—मनु० ७।४७-४८

शिकार करना, जुआ खेलना, दिन में सोना, पर निन्दा, परस्त्रीसेवन, मद्यादि का सेवन, नाचना, गाना, बजाना और व्यर्थ इधर-उधर घूमना—ये दस कामज व्यसन हैं।

चुगलखोरी, दुःसाहस, द्रोह, ईर्ष्या, असूया [डाह], अर्थदूषण, कठोर वचन और कठोर दण्ड—ये आठ क्रोध से उत्पन्न होनेवाले व्यसन हैं।

न सन्त्याज्यं च ते धैर्यं कदाचिदपि पाण्डव ।
धीरस्य स्पष्टदण्डस्य न भयं विद्यते क्वचित् ।।२२।।

पाण्डुपुत्र ! तुम्हें कभी भी धैर्य नहीं छोड़ना चाहिए । जो अपराधियों को दण्ड देने में संकोच नहीं करता और सदा धैर्य रखता है, उस राजा को कभी भय नहीं होता ।

परिहासश्च भृत्यैस्ते नात्यर्थं वदतां वर ।
कर्तव्यो राजशार्दूल दोषमत्र हि मे शृणु ।।२३।।

वक्ताओं में श्रेष्ठ राजसिंह ! तुम्हें सेवकों के साथ अधिक मनोविनोद [हँसी-मजाक] नहीं करना चाहिए । इसमें जो दोष हैं, वह बताता हूँ, सुनो ।

अवमन्यन्ति भर्तारं संघर्षादुपजीविनः ।
स्वे स्थाने न च तिष्ठन्ति लङ्घयन्ति च तद्वचः ।।२४।।

राजा से जीविका चलानेवाले सेवक अधिक मुँह लगने पर स्वामी का अपमान कर बैठते हैं । वे अपनी मर्यादा में स्थिर नहीं रहते और स्वामी की आज्ञा का उल्लंघन करने लगते हैं ।

प्रेष्यमाणा विकल्पन्ते गुह्यं चाप्यनुयुञ्जते ।
अयाच्यं चैव याचन्ते भोज्यान्याहारयन्ति च ।।२५।।

किसी कार्य के लिए भेजे जाने पर वे उसकी सिद्धि में सन्देह उत्पन्न कर देते हैं । राजा की गोपनीय त्रुटियों को भी सबके समक्ष ला देते हैं । न माँगने योग्य वस्तु को भी माँग बैठते हैं और राजा के लिए रखे हुए भोज्य पदार्थों को स्वयं खा जाते हैं ।

क्रुश्यन्ति परिदीप्यन्ति भूमिपायाधितिष्ठते ।
उत्कोचैर्वञ्चनाभिश्च कार्याण्यनुविहन्ति च ।।२६।।

राज्य के स्वामी राजा को कोसते हैं, उसके प्रति क्रोध से तमतमा उठते हैं, घूस लेकर तथा धोखा देकर राजा के कार्यों में विघ्न डालते हैं ।

जर्जरं चास्य विषयं कुर्वन्ति प्रतिरूपकैः ।
स्त्रीरक्षिभिश्च सज्जन्ते तुल्यवेषा भवन्ति च ।।२७।।

वे बनावटी [जाली] आज्ञापत्र प्रसारित करके राजा के राज्य को जर्जर कर देते हैं । रनवास के रक्षकों से मिल जाते हैं अथवा उन-जैसी वेशभूषा धारण करके वहाँ घूमते-फिरते हैं ।

वान्तं निष्ठीवनं चैव कुर्वते चास्य सन्निधौ ।
निर्लज्जा राजशार्दूल व्याहरन्ति च तद्वचः ।।२८।।

राजा के समीप ही मुँह फाड़कर जँभाई लेते और थूकते हैं । नृपश्रेष्ठ ! वे मुँहलगे नौकर लाज त्यागकर मनमानी बातें बोलते हैं ।

हयं वा दन्तिनं वापि रथं वा नृपसत्तम ।
अभिरोहन्त्यनादृत्य हर्षुले पार्थिवे मृदौ ।।२९।।

नृपशिरोमणे ! परिहासशील कोमल स्वभाववाले राजा के सेवक उसकी अवहेलना करते हुए उसके हाथी, घोड़े और रथादि को अपनी सवारी के काम में लाते हैं ।

निन्दन्ते स्वानधिकारान् संत्यजन्ते च भारत ।
न वृत्या परितुष्यन्ति राजदेयं हरन्ति च ।।३०।।

हे भारत ! उनके अधिकार में जो कार्य सौंपा जाता है, उसे वे बुरा बताते और छोड़ देते हैं । उन्हें जो वेतन दिया जाता है उससे सन्तुष्ट नहीं होते और राजकीय धन को हड़पते रहते हैं ।

क्रीडितुं तेन चेच्छन्ति ससूत्रेणेव पक्षिणा ।
अस्मत्प्रणेयो राजेति लोकांश्चैवं वदन्त्युत ।।३१।।

जैसे लोग डोर में बँधी हुई चिड़ियों के साथ खेलते हैं, वैसे ही वे राजा के साथ क्रीड़ा करना चाहते हैं और साधारण लोगों से कहते हैं कि— "राजा तो हमारा दास है ।"

एते चैवापरे चैव दोषाः प्रादुर्भवन्त्युत ।
नृपतौ मार्दवोपेते हर्षुले च युधिष्ठिर ।।३२।।

युधिष्ठिर ! राजा जब परिहासशील तथा कोमल स्वभाव का हो जाता है, तब ये ऊपर कथित तथा अन्य दूसरे बहुत-से दोष उत्पन्न हो जाते हैं ।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि चतुर्दशोऽध्यायः ।।१४।।

पञ्चदशोऽध्यायः

राजा के धर्मानुकूल नीतिपूर्ण व्यवहार का वर्णन

भीष्म उवाच

नित्योद्युक्तेन वै राज्ञा भवितव्यं युधिष्ठिर ।
प्रशस्यते न राजा हि नारीवोद्यमवर्जितः ॥१॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! राजा को सदा उद्योगी होना चाहिए। जो पुरुषार्थ छोड़कर स्त्री की भाँति निठल्ला बैठा रहता है, ऐसे राजा की प्रशंसा नहीं होती ।

द्वाविमौ ग्रसते भूमिः सर्पो बिलशयानिव ।
राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ॥२॥

जैसे साँप बिल में रहनेवाले चूहों को खा जाता है, ऐसे ही दूसरों से युद्ध न करनेवाले राजा और वेद-अध्ययन तथा प्रचार के लिए प्रवास न करनेवाले ब्राह्मण को भूमि निगल जाती है ।

तदेतन्नरशार्दूल हृदि त्वं कर्तुमर्हसि ।
सन्धेयानभिसन्धत्स्व विरोध्यांश्च विरोधय ॥३॥

नृपश्रेष्ठ ! तुम इस बात को अपने हृदय में धारण कर लो—जो सन्धि करने के योग्य हों उनसे सन्धि करो तथा जो विरोध के पात्र हों उनका डटकर विरोध करो ।

सप्ताङ्गस्य च राज्यस्य विपरीतं य आचरेत् ।
गुरुर्वा यदि वा मित्रं प्रतिहन्तव्य एव सः ॥४॥

जो सात अङ्गों [राजा, मन्त्री, मित्र, कोष, देश, दुर्ग, सेना] से युक्त राज्य के विपरीत आचरण करे, वह गुरु हो या मित्र, मार डालने के ही योग्य है ।

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः ।
उत्पथप्रतिपन्नस्य दण्डो भवति शाश्वतः ॥५॥

घमण्ड में भरकर कर्तव्य तथा अकर्तव्य का ज्ञान न रखनेवाला और कुमार्ग पर चलनेवाला मनुष्य यदि अपना गुरु हो, तो उसे भी दण्ड देने का सनातन विधान है ।

लोकरञ्जनमेवात्र राज्ञां धर्मः सनातनः ।
सत्यस्य रक्षणं चैव व्यवहारस्य चार्जवम् ॥६॥

लोक में प्रजा को प्रसन्न रखना ही राजाओं का सनातन धर्म है। सत्य की रक्षा और व्यवहार की सरलता भी राजोचित कर्तव्य हैं ।

न हिंस्यात् परवित्तानि देयं काले च दापयेत् ।
विक्रान्तः सत्यवाक् क्षान्तो नृपो न चलते पथः ॥७॥

दूसरों के धन का नाश न करे। जिसको जो कुछ देना हो, उसे वह समय पर दिलाने की व्यवस्था करे। पराक्रमी, सत्यवादी और क्षमाशील बना रहे—ऐसा करनेवाला राजा कभी पथभ्रष्ट नहीं होता।

आत्मवांश्च जितक्रोधः शास्त्रार्थकृतनिश्चयः ।
धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च सततं रतः ॥८॥
त्रय्यां[1] संवृतमन्त्रश्च राजा भवितुमर्हति ।
वृजिनं च नरेन्द्राणां नान्यच्चारक्षणात् परम् ॥९॥

जिसने अपने मन को वश में कर लिया है, क्रोध को जीत लिया है और शास्त्रों के सिद्धान्त का निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त कर लिया है, जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-प्राप्ति के प्रयत्न में लगा रहता है, जिसे चारों वेदों का ज्ञान है और जो अपने गुप्त विचारों को दूसरों पर प्रकट नहीं होने देता, वही राजा होने योग्य होता है। प्रजा की रक्षा न करने से बढ़कर राजाओं के लिए दूसरा कोई पाप नहीं है ।

चातुर्वर्ण्यस्य धर्माश्च रक्षितव्या महीक्षिता ।
धर्मसंकररक्षा च राज्ञां धर्मः सनातनः ॥१०॥

राजा को ब्राह्मण आदि चारों वर्णों के धर्मों की रक्षा करनी चाहिए। प्रजा को धर्मसंकरता से बचाना राजाओं का सनातन धर्म है ।

न विश्वसेच्च नृपतिर्न चात्यर्थं च विश्वसेत् ।
षाड्गुण्यगुणदोषांश्च नित्यं बुद्ध्यावलोकयेत् ॥११

---

[1] त्रय्याम्—वेद चार हैं ऋग्यजुः, साम और अथर्व, परन्तु चारों वेदों में तीन प्रकार के मन्त्र हैं—पद्यात्मक, गद्यात्मक और गद्यपद्यात्मक अथवा ऋक्, गीति और यजुस्, अतः वेदों को 'वेदत्रयी' भी कहते हैं। संख्या की दृष्टि से वेद चार ही हैं।

राजा किसी पर भी विश्वास न करे। विश्वसनीय व्यक्ति का भी अत्यन्त विश्वास न करे। राजनीति के छः गुणों [सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय] के गुण-दोषों का अपनी बुद्धि द्वारा सदा निरीक्षण करे।

द्विट्छिद्रदर्शी नृपतिर्नित्यमेव प्रशस्यते।
त्रिवर्गे विदितार्थश्च युक्तचारोपधिश्च यः ॥१२॥

शत्रुओं के छिद्र देखनेवाले राजा की सदा प्रशंसा होती है। जिसे धर्म, अर्थ और काम के तत्त्व का ज्ञान है, जिसने शत्रु के रहस्यों को जानने और उसके मन्त्री आदि में फूट डालने के लिए गुप्तचर लगा रखा है, वह भी प्रशंसा के योग्य है।

कोशस्योपार्जनरतिर्यमवैश्रवणोपमः ।
वेत्ता च दशवर्गस्य स्थानवृद्धिक्षयात्मनः ॥१३॥

राजा को चाहिए कि वह अपने कोष को भरा-पूरा रखने का प्रयत्न करता रहे। वह न्याय करने में यमराज और धन-संग्रह करने में कुबेर के समान हो। उसे स्थान, वृद्धि तथा क्षय के कारण दस वर्गों[1] का सदा ज्ञान रखना चाहिए।

अभृतानां भवेद् भर्ता भृतानामन्ववेक्षकः।
नृपतिः सुमुखश्च स्यात् स्मितपूर्वाभिभाषिता ॥१४॥

जिनके भरण-पोषण का प्रबन्ध न हो उनका भरण-पोषण राजा स्वयं करे तथा जिनका भरण-पोषण हो रहा हो उन सबकी देखभाल रखे। राजा को सदा हँसमुख रहना चाहिए और मुस्कराते हुए वार्तालाप करना चाहिए।

उपासिता च वृद्धानां जिततन्द्रिरलोलुपः।
सतां वृत्ते स्थितमतिः सन्तोष्यश्चारुदर्शनः ॥१५॥

राजा को वृद्धों की सेवा या सङ्ग करना चाहिए। वह आलस्य को जीते और लोलुपता को त्याग दे, सत्पुरुषों के व्यवहार में मन लगाये और सन्तुष्ट होने योग्य स्वभाव बनाए रखे। वेष-भूषा ऐसी हो जिससे वह [राजा] देखने में सुन्दर जान पड़े।

न चाददीत वित्तानि सतां हस्तात् कदाचन।
असद्भ्यश्च समादद्यात् सद्भ्यस्तु प्रतिपादयेत् ॥१६॥

श्रेष्ठ मनुष्यों के हाथ से कभी धन न छीने। दुष्टों से दण्ड के रूप में धन लेना चाहिए और सज्जनों को धन देना चाहिए।

स्वयं प्रहर्ता दाता च वश्यात्मा रम्यसाधनः।
काले दाता च भोक्ता च शुद्धाचारस्तथैव च ॥१७॥

स्वयं दुष्टों पर प्रहार करे, दानशील बने, मन को वश में रखे, सुरम्य साधन से युक्त रहे, यथा-अवसर धन का दान और उपभोग भी करे और सतत शुद्ध एवं सदाचारी बना रहे।

शूरान् भक्तानसंहार्यान् कुले जातानरोगिणः।
शिष्टान् धर्मरतान् साधूनचलानचलानिव ॥१८॥
सहायान् सततं कुर्याद् राजा भूतिपुरस्कृतः।
तैश्च तुल्यो भवेद् भोगैश्छत्रमात्राज्ञयाधिकः ॥१९॥

जो शूरवीर तथा भक्त हों, जिन्हें विपक्षी फोड़ न सकें, जो कुलीन, नीरोग और शिष्ट हों, जो धर्मपरायण तथा साधु-स्वभाव के हों, जो पर्वतों के समान अटल रहनेवाले हों—ऐसे लोगों को ही राजा सदा अपना सहायक बनाए और उन्हें ऐश्वर्य का पुरस्कार दे। उन्हें अपने समान ही सुखभोग की सुविधा प्रदान करे। केवल राजोचित छत्र धारण करना और सबको आज्ञा प्रदान करना—इन दो बातों में ही वह उन सहायकों की अपेक्षा अधिक रहे।

सर्वाभिशङ्की नृपतिर्यश्च सर्वहरो भवेत्।
स क्षिप्रमनृजुर्लुब्धः स्वजनेनैव बध्यते ॥२०॥

जो राजा सबपर सन्देह करनेवाला और सबका सर्वस्व हरण करनेवाला होता है ऐसा कुटिल और लोभी राजा एक दिन अपने ही लोगों के हाथों शीघ्र मारा जाता है।

शुचिस्तु पृथिवीपालो लोकचित्तग्रहे रतः।
न पतत्यरिभिर्ग्रस्तः पतितश्चावतिष्ठते ॥२१॥

जो नरेश बाहर-भीतर से पवित्र रहकर प्रजा के

---

[1] मन्त्री, राष्ट्र, दुर्ग, कोष और दण्ड—ये पाँच 'प्रकृति' कहलाते हैं। अपने और शत्रुपक्ष—दोनों को मिलाकर ये ही दस वर्ग कहलाते हैं। यदि दोनों के मन्त्र आदि समान हों तो ये स्थान के हेतु होते हैं अर्थात् दोनों पक्षों की स्थिति स्थिर रहती है। यदि अपने पक्ष में इनकी अधिकता हो तो ये वृद्धि के साधक होते हैं और कमी हो तो क्षय के कारण बनते हैं।

हृदय को जीतने का प्रयत्न करता है, वह शत्रुओं का आक्रमण होनेपर भी उनके वश में नहीं पड़ता। यदि उसका पतन भी हो जाए तो वह सहायकों को पाकर शीघ्र उठ खड़ा होता है।

अक्रोधनो ह्यव्यसनी मृदुदण्डो जितेन्द्रियः।
राजा भवति भूतानां विश्वास्यो हिमवानिव ॥२२॥

क्रोधशून्य, निर्व्यसनी, कठोर दण्ड न देनेवाला और जितेन्द्रिय राजा हिमालय के समान सम्पूर्ण प्राणियों का विश्वासपात्र बन जाता है।

प्राज्ञस्त्यागगुणोपेतः पररन्ध्रेषु तत्परः।
सुदर्शः सर्ववर्णानां नयापनयवित् तथा ॥२३॥
क्षिप्रकारी जितक्रोधः सुप्रसादो महामनाः।
अरोषप्रकृतिर्युक्तः क्रियावानविकत्थनः ॥२४॥
आरब्धान्येव कार्याणि सुपर्यवसितानि च।
यस्य राज्ञः प्रदृश्यन्ते स राजा राजसत्तमः ॥२५॥

जो बुद्धिमान्, त्यागी, शत्रुओं के छिद्रों [दोषों] को जानने में तत्पर, देखने में सुन्दर, सभी वर्णों के न्याय और अन्याय को समझनेवाला, शीघ्र कार्य करने में समर्थ, क्रोधविजयी, आश्रितों पर कृपालु, महामनस्वी, कोमल स्वभावयुक्त, उद्योगी, कर्मठ और आत्म-प्रशंसा से दूर रहनेवाला है, जिस राजा के आरम्भ किये हुए सभी कार्य सुन्दर रूप से समाप्त होते दिखाई देते हैं—वह समस्त राजाओं में श्रेष्ठ है।

पुत्रा इव पितुर्गेहे विषये यस्य मानवाः।
निर्भया विचरिष्यन्ति स राजा राजसत्तमः ॥२६॥

जैसे पुत्र अपने पिता के घर में निर्भय होकर रहते हैं, वैसे ही जिस राजा के राज्य में मनुष्य निर्भय होकर विचरते हैं, वह सब राजाओं में श्रेष्ठ है।

न यस्य कूटं कपटं न माया न च मत्सरः।
विषये भूमिपालस्य तस्य धर्मः सनातनः ॥२७॥

जिस राजा के राज्य में कूटनीति, कपट, माया और ईर्ष्या का सर्वथा अभाव हो, उसी के द्वारा सनातन धर्म का पालन होता है।

यः सत्करोति ज्ञानानि ज्ञेये परहिते रतः।
सतां वर्त्मानुगस्त्यागी स राजा राज्यमर्हति ॥२८॥

जो ज्ञान और ज्ञानियों का सत्कार करता है, शास्त्र के ज्ञातव्य विषयों के समझने और परोपकार करने में संलग्न रहता है, सत्पुरुषों के मार्ग पर चलनेवाला और स्वार्थ-त्यागी है, वही राजा राज्य-संचालन के योग्य समझा जाता है।

यस्य चाराश्च मन्त्राश्च नित्यं चैव कृताकृताः।
न ज्ञायन्ते हि रिपुभिः स राजा राज्यमर्हति ॥२९

जिस राजा के गुप्तचर, गुप्त विचार, निश्चय किये हुए करने योग्य कर्म [निर्णय] और न किये [अधूरे छोड़े] हुए कर्म शत्रुओं द्वारा कभी जाने न जा सकें, वही राजा राज्य पाने का अधिकारी है।

राजानं प्रथमं विन्देत् ततो भार्यां ततो धनम्।
राजन्यसति लोकस्य कुतो भार्या कुतो धनम् ॥३०।

मनुष्य पहले राजा को प्राप्त करें। तत्पश्चात् पत्नी का परिग्रह और धन का सञ्चय करें। लोक-रक्षक राजा के न होने पर कैसे पत्नी सुरक्षित रहेगी और कैसे धन की रक्षा हो सकेगी!

तद्राज्ये राज्यकामानां नान्यो धर्मो सनातनः।
ऋते रक्षां तु विस्पष्टां रक्षा लोकस्य धारिणी ॥३१।

राज्य चाहनेवाले राजाओं के लिए राज्य में प्रज की भली-भाँति रक्षा को छोड़कर और कोई सनातन धर्म नहीं है। प्रजा की रक्षा ही जगत् को धारण करनेवाली है।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

षोडशोऽध्यायः

भीष्मजी द्वारा राज्य-रक्षा के साधनों का वर्णन, सायंकाल युधिष्ठिर आदि का हस्तिनापर में प्रवेश

भीष्म उवाच

कथितं राजधर्माणां नवनीतं युधिष्ठिर ।
रक्षामेव प्रशंसन्ति साधनं चात्र मे शृणु ॥१॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! मैंने तुम्हारे समक्ष राजधर्मरूपी दूध के नवनीत [सार]का कथन कर दिया । नीति के सभी आचार्य राजा के लिए प्रजापालनरूप धर्म की ही प्रशंसा करते हैं, अतः इस रक्षात्मक धर्म के साधनों का वर्णन करता हूँ, सुनो !

चारश्च प्रणिधिश्चैव काले दानममत्सरात् ।
युक्त्यादानं न चादानमयोगेन युधिष्ठिर ॥२॥
सतां संग्रहणं शौर्यं दाक्ष्यं सत्यं प्रजाहितम् ।
अनार्जवैरार्जवैश्चैव शत्रुपक्षस्य भेदनम् ॥३॥
साधूनामपरित्यागः कुलीनानां च धारणम् ।
निचयश्च निचेयानां सेवा बुद्धिमतामपि ॥४॥
बलानां हर्षणं नित्यं प्रजानामन्ववेक्षणम् ।
कार्येष्वखेदः कोशस्य तथैव च विवर्धनम् ॥५॥
नीतिधर्मानुसरणं नित्यमुत्थानमेव च ।
रिपूणामनवज्ञानं नित्यं चानार्यवर्जनम् ॥६॥

युधिष्ठिर ! गुप्तचरों की नियुक्ति, दूसरे राष्ट्रों में राजदूत भेजना, सेवकों को उनके प्रति ईर्ष्या न रखते हुए समय पर वेतन और भत्ता देना, युक्तिपूर्वक कर लेना, अन्याय से प्रजा के धन को न हड़पना, सत्पुरुषों का संग्रह करना, शूरवीरता, कार्यदक्षता, सत्यभाषण, प्रजा का हितचिन्तन, सरल अथवा कुटिल उपायों से शत्रुपक्ष में फूट डालना, साधु पुरुषों का त्याग न करना, कुलीन मनुष्यों को अपने पास रखना, संग्रह करने योग्य वस्तुओं का संग्रह करना, बुद्धिमानों की सेवा करना, पुरस्कार प्रदान आदि द्वारा सेना का हर्ष और उत्साह बढ़ाना, सदा प्रजा की देखभाल करना, कार्य करने में कष्ट का अनुभव न करना, कोष की वृद्धि करना, नीतिधर्म का अनुसरण करना, सदा ही उद्योगशील बने रहना, शत्रुओं की ओर से सावधान रहना तथा नीच कर्मों और दुष्ट पुरुषों को सदा के लिए त्याग देना—ये सभी राज्य की रक्षा के साधन हैं ।

उत्थानं हि नरेन्द्राणां बृहस्पतिरभाषत ।
राजधर्मस्य तन्मूलं श्लोकांश्चात्र निबोध मे ॥७॥

बृहस्पति ने राजाओं के लिए उद्योग के महत्त्व का प्रतिपादन किया है । उद्योग ही राजधर्म का मूल है । इस विषय में जो श्लोक हैं, उन्हें बताता हूँ, सुनो—

उत्थानेनामृतं लब्धमुत्थानेनासुरा हताः ।
उत्थानेन महेन्द्रेण श्रैष्ठ्यं प्राप्तं दिवीह च ॥८॥

"देवराज इन्द्र ने उद्योग से ही अमृत प्राप्त किया, उद्योग से ही असुरों का संहार किया और उद्योग से ही देवलोक [त्रिविष्टप=तिब्बत] और इहलोक में श्रेष्ठता प्राप्त की ।

उत्थानवीरः पुरुषो वाग्वीरानधितिष्ठति ।
उत्थानवीरान् वाग्वीरा रमयन्त उपासते ॥९॥

"जो उद्योग में वीर [पुरुषार्थी] है, वह पुरुष वाग्वीर [वाचाल] पुरुषों पर अपना आधिपत्य जमा लेता है । वाग्वीर विद्वान् उद्योगवीर पुरुषों का मनोरंजन करते हुए उनकी उपासना करते हैं ।

उत्थानहीनो राजा हि बुद्धिमानपि नित्यशः ।
प्रधर्षणीयः शत्रूणां भुजङ्ग इव निर्विषः ॥१०॥

"जो राजा उद्योगहीन होता है, वह बुद्धिमान् होने पर भी विषरहित साँप की भाँति सदैव शत्रुओं द्वारा पराजित होता रहता है ।

न च शत्रुरवज्ञेयो दुर्बलोऽपि बलीयसा ।
अल्पोऽपि हि दहत्यग्निर्विषमल्पं हिनस्ति च ॥११॥

बलवान् पुरुष को चाहिए कि वह दुर्बल शत्रु की भी अवहेलना न करे, उसे छोटा न समझे, क्योंकि आग थोड़ी-सी भी हो तो भी जला डालती है और विष अल्प मात्रा में होने पर भी मार डालता है ।

एकाङ्गेनापि सम्भूतः शत्रुर्दुर्गमुपाश्रितः ।
सर्वं तापयते देशमपि राज्ञः समृद्धिनः ॥१२॥

चतुरङ्गिणी सेना [रथ, हाथी, घोड़े, पैदल] के एक अङ्ग से भी सम्पन्न हुआ शत्रु दुर्ग का आश्रय लेकर समृद्धिशाली राजा के सम्पूर्ण देश को सन्तप्त कर डालता है।

राज्यं हि सुमहत्तन्त्रं धार्यते नाकृतात्मभिः ।
न शक्यं मृदुना बोढुमायासस्थानमुत्तमम् ॥१३॥

राज्य एक बहुत बड़ा तन्त्र है। जिन्होंने अपनी आत्मा को वश में नहीं किया है और जो बहुत कोमल प्रकृति के होते हैं, वे इसका भार वहन नहीं कर सकते। उनके लिए राज्य बहुत वड़ा जञ्जाल हो जाता है।

राज्यं सर्वामिषं नित्यमार्जवेनेह धार्यते ।
तस्मान्मिश्रेण सततं वर्तितव्यं युधिष्ठिर ॥१४॥

युधिष्ठिर ! राज्य सबके उपभोग की वस्तु है, अतः सदा सरलभाव से ही उसका सञ्चालन किया जा सकता है। इसलिए राजा में क्रूरता और कोमलता [तीक्ष्णता और मृदुता] दोनों भावों का सम्मिश्रण होना चाहिए।

यद्यप्यस्य विपत्तिः स्याद् रक्षमाणस्य वै प्रजाः ।
सोऽप्यस्य विपलो धर्म एवंवृत्ता हि भूमिपाः ॥१५॥

प्रजा की रक्षा करते हुए राजा के प्राण चले जाएँ तो भी वह उसके लिए महान् धर्म है। राजाओं के व्यवहार और बर्ताव ऐसे ही होने चाहिएँ।

एष ते राजधर्माणां लेशः समनुवर्णितः ।
भूयस्ते यत्र सन्देहस्तद् ब्रूहि कुरुसत्तम ॥१६॥

कुरुश्रेष्ठ ! यह मैंने तुम्हारे समक्ष राजधर्मों का लेशमात्र [थोड़ा-सा] वर्णन किया है। अब तुम्हें जिस बात में सन्देह हो वह पूछ लो।

वैशम्पायन उवाच

ततो दीनमना भीष्ममुवाच कुरुसत्तमः ।
नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यां पादौ तस्य शनैः स्पृशन् ॥१
श्व इदानीं स्वसन्देहं प्रक्ष्यामि त्वां पितामह ।
उपैति सविता ह्यस्तं रसमापीय पार्थिवम् ॥१

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भीष्म के ऐसा कहने पर कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिर ने मन-ही- दुःखी हो दोनों आँखों में आँसू भरकर धीरे से भीष्म के चरणों का स्पर्श किया और कहा—"पितामह इस समय सूर्य अपनी किरणों द्वारा पृथिवी के का पान करके अस्ताचल को जा रहा है, अतः मैं कल आपसे अपना सन्देह निवारण करूँगा।"

ततो द्विजातीनभिवाद्य केशवः
कृपश्च ते चैव युधिष्ठिरादयः ।
प्रदक्षिणीकृत्य महानदीसुतं
ततो रथानारुरुहुर्मुदान्विताः ॥१९

तत्पश्चात् ब्राह्मणों को प्रणाम करके श्रीकृ कृपाचार्य और युधिष्ठिर आदि ने गङ्गान भीष्मजी की प्रदक्षिणा की। फिर वे प्रसन्नतापू अपने-अपने रथों पर आरूढ़ हो गये।

दृषद्वतीं चाप्यवगाह्य सुव्रताः
कृतोदकार्थाः कृतजप्यमङ्गलाः ।
उपास्य सन्ध्यां विधिवत्परन्तपा-
स्ततः पुरं ते विविशुर्गजाह्वयम् ॥२

मार्ग में दृषद्वती नदी में स्नान करके उत्तम का पालन करनेवाले वे शत्रुसन्तापी वीर विधिपू आचमन, सन्ध्या और जप आदि मङ्गल कार्यों अनुष्ठान करके वहाँ से हस्तिनापुर में लौट आ

इति महाभारते शान्तिपर्वणि षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

सप्तदशोऽध्यायः

वर्णाश्रम-धर्मों का वर्णन

वैशम्पायन उवाच

ततः काल्यं समुत्थाय कृतपूर्वाह्णिकक्रियाः ।
ययुस्ते नगराकारैः रथैः पाण्डवयादवाः ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नृप जनमेजय ! रात्रि व्यतीत होने पर दूसरे दिन प्रातःकाल उ पाण्डव और यदुवंशी वीर प्रातःकालीन क निवृत्त हो नगराकार विशाल रथों पर सवार ह हस्तिनापुर से चल दिये।

प्रतिपद्य कुरुक्षेत्रं भीष्ममासाद्य चानघ ।
निषेदुरभितो भीष्मं परिवार्य समन्ततः ।।२।।

निष्पाप नरेश ! कुरुक्षेत्र में जा भीष्मजी के पास पहुँचकर वे सब उन्हें चारों ओर से घेरकर उनके पास ही बैठ गये ।

ततो राजा महातेजा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
अब्रवीत् प्राञ्जलिर्भीष्मं प्रतिपूज्य यथाविधि ।।३।।

तब महातेजस्वी धर्मराज राजा युधिष्ठिर ने भीष्मजी का विधिवत् सत्कार कर [चरण-स्पर्श और सुखपूर्वक रात्रि व्यतीत करने का समाचार पूछकर] उनसे दोनों हाथ जोड़कर कहा—

के धर्माः सर्ववर्णानां चातुर्वर्ण्यस्य के पृथक् ।
चातुर्वर्ण्याश्रमाणां च राजधर्माश्च के मताः ।।४।।

"पितामह ! कौन-से ऐसे धर्म हैं, जो सभी वर्णों के लिए उपयोगी हो सकते हैं ? चारों वर्णों के पृथक्-पृथक् धर्म कौन-से हैं ? चारों वर्णों के साथ चारों आश्रमों के धर्म कौन-से हैं तथा राजा द्वारा पालनीय धर्म कौन-कौन-से माने गये हैं ?"

भीष्म उवाच

अदत्तस्यानुपादानं दानमध्ययनं तपः ।
अहिंसा सत्यमक्रोध इज्या धर्मस्य लक्षणम् ।।५।।

भीष्मजी बोले—बिना दी हुई वस्तु को न लेना, दान देना, वेद का अध्ययन करना, द्वन्द्वों का सहना, किसी भी प्राणी के प्रति वैर की भावना न रखना, सत्य बोलना, क्रोध न करना तथा यज्ञ करना—ये सब धर्म के लक्षण हैं ।

अक्रोधः सत्यवचनं संविभागः क्षमा तथा ।
प्रजनः स्वेषु दारेषु शौचमद्रोह एव च ।
आर्जवं भृत्यभरणं नवैते सार्ववर्णिकाः ।।६।।

किसी पर क्रोध न करना, सत्य बोलना, धन को बाँटकर भोग करना, क्षमाभाव रखना, अपनी ही पत्नी के गर्भ से सन्तान उत्पन्न करना, बाहर-भीतर से पवित्र रहना, किसी से द्रोह न करना, सरल भाव रखना, अपने आश्रित नौकर-चाकरों का भरण-पोषण करना—ये नौ धर्म सभी वर्णों के लिए समान उपयोगी हैं ।

ब्राह्मणस्य तु यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि केवलम् ।
दममेव महाराज धर्ममाहुः पुरातनम् ।।७।।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव तत्र कर्म समाप्यते ।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ।।८।।

अब मैं केवल ब्राह्मणों का जो धर्म है, उसे बता रहा हूँ । महाराज ! मनोनिग्रह को ब्राह्मणों का सनातन धर्म बताया गया है । वह दूसरा कर्म करे या न करे, उसे सदा वेद-शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिए, क्योंकि इसी से उसके सब कामों की पूर्ति हो जाती है । सब जीवों के प्रति मैत्री-भाव रखने के कारण वह 'मैत्र' कहलाता है ।

क्षत्रियस्यापि यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि भारत ।
दद्याद् राजन् न याचेत यजेत न च याजयेत् ।।९।।
नाध्यापयेदधीयीत प्रजाश्च परिपालयेत् ।
नित्योद्युक्तो दस्युवधे रणे कुर्यात् पराक्रमम् ।।१०।।

भरतनन्दन ! अब क्षत्रिय का जो धर्म है वह बताता हूँ । राजन् ! क्षत्रिय दान दे परन्तु किसी से याचना न करे । वह स्वयं यज्ञ करे परन्तु पुरोहित बनकर दूसरों का यज्ञ न कराए । वह अध्ययन करे परन्तु दूसरों को न पढ़ाए और प्रजाओं का सब प्रकार से पालन करे । वह लुटेरे और डाकुओं का वध करने के लिए सदा तैयार रहे तथा रणभूमि में पराक्रम प्रकट करे ।

अविक्षतेन देहेन समराद् यो निवर्तते ।
क्षत्रियो नास्य तत्कर्म प्रशंसन्ति पुराविदः ।।११।।

जो क्षत्रिय क्षत-विक्षत [शरीर पर घाव] हुए बिना ही युद्धभूमि से लौट आता है, उसके इस कर्म की सनातन धर्म को जाननेवाले विद्वान् प्रशंसा नहीं करते ।

दानमध्ययनं यज्ञो राज्ञां क्षेमो विधीयते ।
नास्य कृत्यतमं किञ्चिदन्यद् दस्युनिबर्हणात् ।।१२।।

यद्यपि दान, अध्ययन और यज्ञ—इनके अनुष्ठान से भी राजाओं का कल्याण होता है, तथापि लुटेरों के संहार से बढ़कर उनके लिए दूसरा कोई श्रेष्ठ कर्म नहीं है ।

परिनिष्ठितकार्यस्तु नृपतिः परिपालनात् ।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यादैन्द्रो राजन्य उच्यते ।।१३।।

राजा दूसरा कर्म करे या न करे, प्रजा की रक्षा करनेमात्र से वह कृतकृत्य हो जाता है। उसमें इन्द्र [ऐश्वर्य-सम्बन्धी] बल की प्रधानता होने से राजा 'ऐन्द्र' कहलाता है।

वैश्यस्यापि यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि शाश्वतम्।
दानमध्ययनं यज्ञः शौचेन धनसंचयः ॥१४॥

अब वैश्य का जो सनातन धर्म है, वह तुम्हें बता रहा हूँ। दान देना, स्वाध्याय और यज्ञ करना तथा पवित्रतापूर्वक [ईमानदारी से] धन कमाना—ये वैश्य के कर्म हैं।

पितृवत् पालयेद् वैश्यो युक्तः सर्वान् पशूनिह।
विकर्म तद् भवेदन्यत् कर्म यत् स समाचरेत् ॥१५॥

वैश्य सदा प्रयत्नशील रहकर पुत्रों की रक्षा करनेवाले पिता के समान सब प्रकार के पशुओं का पालन करे। इन कर्मों के अतिरिक्त वह और जो कुछ भी करेगा, वह उसके लिए विपरीत कर्म ही होगा।

रक्षया स हि तेषां वै महत्सुखमवाप्नुयात्।
प्रजापतिर्हि वैश्याय सृष्ट्वा परिददौ पशून् ॥१६॥

पशु-पालन से वैश्य को महान् सुख की प्राप्ति होती है। प्रजापति ने पशुओं की सृष्टि करके उनके पालन का भार वैश्य को सौंप दिया था।

शूद्रस्यापि हि यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि भारत।
एतेषामेव वर्णानां परिचर्या विधीयते ॥१७॥

हे भारत! अब मैं तुम्हें शूद्र का धर्म बताता हूँ। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन तीनों वर्णों की सेवा करना ही शूद्र का शास्त्रविहित कर्म है।

तेषां शुश्रूषणाच्चैव महत् सुखमवाप्नुयात्।
शूद्र एतान् परिचरेत् त्रीन् वर्णाननुपूर्वशः ॥१८॥

वह उन तीनों वर्णों की सेवा से ही महान् सुख प्राप्त करता है, अतः शूद्र इन तीनों वर्णों की क्रमशः सेवा करे।

आश्रमाणां महाबाहो शृणु सत्यपराक्रम।
चतुर्णामपि नामानि कर्माणि च युधिष्ठिर ॥१९॥

सत्यपराक्रमी महाबाहु युधिष्ठिर! अब तुम चारों आश्रम के नाम और उनके कर्म सुनो।

वानप्रस्थं भैक्ष्यचर्यं गार्हस्थ्यं च महाश्रमम्।
ब्रह्मचर्याश्रमं प्राहुश्चतुर्थं ब्राह्मणैर्वृतम् ॥२०॥

ब्रह्मचर्य, महान् आश्रम गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ, और भैक्ष्यचर्य [संन्यास]—ये चार आश्रम हैं। चतुर्थ आश्रम संन्यास का अवलम्बन केवल ब्राह्मणों ने किया है।

जटाधारणसंस्कारं द्विजातित्वमवाप्य च।
आधानादीनि कर्माणि प्राप्य वेदमधीत्य च ॥२१॥
सदारो वाप्यदारो वा आत्मवान् संयतेन्द्रियः।
वानप्रस्थाश्रमं गच्छेत् कृतकृत्यो गृहाश्रमात् ॥२२॥

[ब्रह्मचर्य आश्रम में] चूड़ाकर्म संस्कार और उपनयन के पश्चात् द्विजत्व को प्राप्त हो वेदाध्ययन को समाप्त कर [समावर्तन के बाद विवाह करे, फिर] गृहस्थ-आश्रम में अग्निहोत्र आदि कर्म सम्पन्न करके इन्द्रियों को वश में रखते हुए मनस्वी पुरुष स्त्री को साथ लेकर अथवा बिना स्त्री के ही गृहस्थाश्रम से कृतकृत्य हो वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करे।

तत्रारण्यकशास्त्राणि समधीत्य स धर्मवित्।
ऊर्ध्वरेताः प्रव्रजित्वा गच्छत्यक्षरसात्मताम् ॥२३॥

वहाँ धर्मज्ञ मनुष्य आरण्यकशास्त्रों का अध्ययन करते हुए वानप्रस्थ धर्म का पालन करे। तदनन्तर ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक उस आश्रम से निकल जाए तथा विधिपूर्वक संन्यास ग्रहण कर ले। इस प्रकार संन्यास लेनेवाला मनुष्य अविनाशी परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

चरितब्रह्मचर्यस्य ब्राह्मणस्य विशाम्पते।
भैक्षचर्यास्वधीकारः प्रशस्त इह मोक्षिणः ॥२४॥

हे प्रजापाल! जिसने ब्रह्मचर्य का पालन किया है, उस ब्रह्मचारी ब्राह्मण के मन में यदि मोक्ष की अभिलाषा उत्पन्न हो जाए तो उसे ब्रह्मचर्य से ही संन्यासाश्रम में प्रविष्ट होने का उत्तम अधिकार प्राप्त हो जाता है।

यत्रास्तमितशायी स्यान्निराशीरनिकेतनः।
यथोपलब्धजीवी स्यान्मुनिर्दान्तो जितेन्द्रियः ॥२५॥

संन्यासी को चाहिए कि वह मन और इन्द्रियों को वश में रखते हुए मुनिवृत्ति से रहे। वह किसी वस्तु की कामना न करे। अपने लिए मठ या कुटी न बनवाए। निरन्तर घूमता रहे और जहाँ सूर्यास्त हो

वहीं ठहर जाए। प्रारब्धवश जो कुछ मिल जाए, उसी से जीवन-यापन करे।

निराशीः स्यात्सर्वसमो निर्भोगो निर्विकारवान्।
विप्रः क्षेमाश्रमं प्राप्तो गच्छत्यक्षरसात्मताम् ॥२६॥

आशा-तृष्णा का सर्वथा परित्याग करके सबके प्रति समभाव रखे। भोगों से दूर रहे और हृदय में किसी प्रकार का विकार न आने दे। इन्हीं सब धर्मों के कारण इस आश्रम को 'मोक्षाश्रम' कहते हैं। इस आश्रम में आया हुआ ब्राह्मण अविनाशी ब्रह्म के साथ एकता प्राप्त कर लेता है।

स्वदारतुष्टस्त्वृतुकालगामी
नियोगसेवी न शठो न जिह्मः
मिताशनो देवरतः कृतज्ञः
सत्यो मृदुश्चानृशंसः क्षमावान् ॥२७॥

गृहस्थ को चाहिए कि वह अपनी ही स्त्री के प्रति अनुराग रखता हुआ सन्तुष्ट रहे। ऋतुकाल में ही पत्नी के साथ गमन करे। शास्त्रों की आज्ञा का पालन करे। शठता और कुटिलता से दूर रहे, परिमित भोजन करे, ब्रह्म एवं देवयज्ञ का अनुष्ठान करे, उपकार करनेवालों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करे, सत्य बोले, सबके प्रति मृदुभाव रखे। किसी के प्रति क्रूरता न करे और सदा क्षमाशील रहे।

शुश्रूषां सततं कुर्वन् गुरोः सम्प्रणमेत च।
षट्कर्मसु निवृत्तश्च न प्रवृत्तश्च सर्वशः ॥२८॥

ब्रह्मचारी को चाहिए कि वह निरन्तर गुरु की सेवा में संलग्न रहता हुआ विनयशील बना रहे। जीवन-निर्वाह के उद्देश्य से किये जानेवाले यजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन और दान तथा प्रतिग्रह—इन छह कर्मों से अलग रहे एवं कभी भी किसी असत् [खोटे] कर्म में प्रवृत्त न हो।

न चाऽऽत्यधिकारेण सेवेत द्विषतो न च।
एषाश्रमपदस्तात ब्रह्मचारिण इष्यते ॥२९॥

अपने अधिकार का प्रदर्शन करते हुए व्यवहार न करे, द्वेष रखनेवालों का सङ्ग न करे। तात युधिष्ठिर! ब्रह्मचारी के लिए यही आश्रम-धर्म अभीष्ट है।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

अष्टादशोऽध्यायः

राजा की आवश्यकता और उत्पत्ति का प्रतिपादन

युधिष्ठिर उवाच

चातुराश्रम्यमुक्तं ते चातुर्वर्ण्यं तथैव च।
राष्ट्रस्य यत् कृत्यतमं ततो ब्रूहि पितामह ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह! आपने आश्रमों और वर्णों के धर्म बतलाये। अब आप मुझे यह बताइए कि सम्पूर्ण राष्ट्र का—राष्ट्र में रहनेवाले प्रत्येक नागरिक का मुख्य कर्तव्य क्या है?

भीष्म उवाच

राष्ट्रस्यैतत् कृत्यतमं राज्ञ एवाभिषेचनम्।
अनिन्द्रमबलं राष्ट्रं दस्यवोऽभिभवन्त्युत ॥२॥

भीष्मजी बोले—युधिष्ठिर! राष्ट्र अथवा राष्ट्रवासी प्रजा का सबसे प्रथम कार्य यह है कि वह किसी योग्य राजा का अभिषेक करे, क्योंकि राजारहित राष्ट्र निर्बल होता है। उसे डाकू और लुटेरे लूटते और सताते हैं।

अराजकेषु राष्ट्रेषु धर्मो न व्यवतिष्ठते।
परस्परं च खादन्ति सर्वथा धिगराजकम् ॥३॥

अराजक राष्ट्र में धर्म की स्थिति नहीं रहती, अतः वहाँ के लोग एक-दूसरे को हड़पने लगते हैं। अराजक देश को सर्वथा धिक्कार है!

नाराजकेषु राष्ट्रेषु वस्तव्यमिति रोचये।
न हि पापात्परतरमस्ति किञ्चिदराजकात् ॥४॥

मेरी रुचि तो यह है कि राजा से हीन देश में निवास नहीं करना चाहिए, क्योंकि पापपूर्ण अराजकता से बढ़कर और कोई पाप नहीं है।

प्रीयते हि हरन् पापः परवित्तमराजके।
यदास्य उद्धरन्त्यन्ये तदा राजानमिच्छति ॥५॥

अराजक राष्ट्र में दूसरे के धन का अपहरण करनेवाला पापाचारी मनुष्य बड़ा प्रसन्न होता है, परन्तु जब दूसरे लुटेरे उसका भी धन लूट लेते हैं,

तब वह राजा की आवश्यकता अनुभव करता है ।

पापा ह्यपि तदा क्षेमं न लभन्ते कदाचन ।
एकस्य हि द्वौ हरतो द्वयोश्च बहवोऽपरे ॥६॥

अराजक देश में पापी मनुष्य भी कभी कुशलतापूर्वक नहीं रह सकते । एक का धन दो मिलकर उठा ले जाते हैं और उन दोनों के धन को अन्य बहुत-से लुटेरे लूटकर ले जाते हैं ।

अदासः क्रियते दासो ह्रियन्ते च बलात्स्त्रियः ।
एतस्मात्कारणाद् देवाः प्रजापालान् प्रचक्रिरे ॥७॥

अराजक राष्ट्र में जो दास नहीं है उसे दास बना लिया जाता है, स्त्रियों को बलपूर्वक हर लिया जाता है, अतः विद्वानों ने प्रजापालक नरेशों की सृष्टि की ।

राजा चेन्न भवेल्लोके पृथिव्यां दण्डधारकः ।
जले मत्स्यानिवाभक्ष्यन् दुर्बलं बलवत्तराः ॥८॥

यदि इस जगत् में पृथिवी पर राजा न हो तो बलवान् मनुष्य निर्बलों को ऐसे ही लूटकर खा जाएँ जैसे जल में बड़ी मछली छोटी को खा जाती है ।

अराजकाः प्रजाः पूर्वं विनेशुरिति नः श्रुतम् ।
सहितास्तास्तदा जग्मुरसुखार्ताः पितामहम् ॥९॥
अनीश्वरा विनश्यामो भगवन्नीश्वरं दिश ।
यं पूजयेम सम्भूय यश्च नः प्रतिपालयेत् ।
ततो मनुं व्यादिदेश मनुर्नाभिननन्द ताः ॥१०॥

हमने सुना है कि पूर्वकाल में राजा के न रहने पर प्रजावर्ग के लोग परस्पर एक-दूसरे को लूटते हुए नष्ट हो रहे थे, तब दुःख से पीड़ित हुई सारी प्रजाएँ एक-साथ मिलकर ब्रह्माजी के पास गईं और उनसे कहने लगीं—"राजा के बिना तो हम लोग नष्ट हो रहे हैं । आप हमें कोई ऐसा राजा दीजिए जो शासन करने में समर्थ हो । हम सब लोग मिलकर जिसकी पूजा करें और जो निरन्तर हमारा पालन करता रहे ।" तब ब्रह्माजी ने मनु को राजा होने की आज्ञा दी परन्तु मनु ने उन प्रजाओं को स्वीकार नहीं किया ।

मनुरुवाच

बिभेमि कर्मणः पापाद् राज्यं हि भृशदुस्तरम् ।
विशेषतो मनुष्येषु मिथ्यावृत्तेषु नित्यदा ॥११॥

महर्षि मनु ने कहा—भगवन् ! मैं पापकर्म से बहुत डरता हूँ । राज्य-संचालन अत्यन्त कठिन कर्म है—विशेषरूप से सदा मिथ्याचार में प्रवृत्त रहनेवाले मनुष्यों पर शासन करना तो और भी कठिन है ।

भीष्म उवाच

तमब्रुवन् प्रजा मा भैः कर्तॄनेनो गमिष्यति ।
पशूनामधिपञ्चाशद्धिरण्यस्य तथैव च ।
धान्यस्य दशमं भागं दास्यामः कोशवर्धनम् ॥१२॥

भीष्मजी कहते हैं—तब समस्त प्रजाओं ने मनु से कहा—"महाराज ! आप भयभीत न हों । पाप तो उन्हीं को लगेगा, जो उसे करेंगे । हम लोग आपकी कोशवृद्धि के लिए पचास पशुओं पर एक पशु तथा स्वर्ण का भी पचासवाँ भाग देते रहेंगे और अनाज का दसवाँ भाग कर के रूप में देंगे ।

यं च धर्मं चरिष्यन्ति प्रजा राज्ञा सुरक्षिताः ।
चतुर्थं तस्य धर्मस्य त्वत्संस्थं वै भविष्यति ॥१३॥

आप जैसे राजा के द्वारा सुरक्षित हुई प्रजाएँ जो-जो धर्म करेंगी, उसका चौथा भाग आपको मिलता रहेगा ।

ततो महीं परिययौ पर्जन्य इव वृष्टिमान् ।
शमयन् सर्वतः पापान् स्वकर्मसु च योजयन् ॥१४॥

तब प्रजा के निवेदन को स्वीकार करके मनु महाराज वर्षा करनेवाले मेघ के समान पापाचारियों को शान्त करते हुए और उन्हें वर्णाश्रमोचित कर्मों में लगाते हुए भूमण्डल पर चारों ओर विचरने लगे ।

एवं ये भूतिमिच्छेयुः पृथिव्यां मानवाः क्वचित् ।
कुर्युः राजानमेवाग्रे प्रजानुग्रहकारणात् ॥१५॥

इस प्रकार जो मनुष्य ऐश्वर्य-वृद्धि की कामना रखते हों, उन्हें सर्वप्रथम इस भूमण्डल में प्रजाओं पर अनुग्रह करने के लिए कोई राजा अवश्य बना लेना चाहिए ।

कृतज्ञो दृढभक्तिः स्यात् संविभागी जितेन्द्रियः ।
ईक्षितः प्रतिवीक्षेत मृदु वल्गु च सुष्ठु च ॥१६॥

राजा उपकार करनेवालों के प्रति कृतज्ञ तथा अपने भक्तों पर सुदृढ़ स्नेह रखनेवाला हो । वह उपभोग में आनेवाली वस्तुओं का यथायोग्य विभाजन करके उन्हें उपयोग में ले । इन्द्रियों को वशमें रखे ।

जो उसकी ओर देखे [उससे कुछ आशा रखे] उसे वह भी देखे [उसकी आशा को पूर्ण करे] तथा स्वभाव से मृदु, मधुर और सरल रहे ।

युधिष्ठिर उवाच

किमाहुर्दैवतं विप्रा राजानं भरतर्षभ ।
मनुष्याणामधिपतिं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥१७॥

युधिष्ठिर ने पूछा—भरतश्रेष्ठ पितामह ! जो मनुष्यों का अधिपति है, उस राजा को ब्राह्मण लोग देवतास्वरूप क्यों बतलाते हैं ? कृपया यह मुझे बताएँ ।

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
बृहस्पतिं वसुमना यथा पप्रच्छ भारत ॥१८॥

भीष्मजी बोले—हे भारत ! इस विषय में जानकार लोग उस प्राचीन इतिहास का उदाहरण दिया करते हैं, जिसके अनुसार राजा वसुमना ने बृहस्पतिजी से यही बात पूछी थी ।

राजा वसुमना नाम कौसल्यो धीमतां वरः ।
महर्षिं किल पप्रच्छ कृतप्रज्ञं बृहस्पतिम् ॥१९॥

कहते हैं, प्राचीनकाल में बुद्धिमानों में श्रेष्ठ कोसल नरेश वसुमना ने शुद्ध बुद्धिवाले महर्षि बृहस्पति से पूछा—

वसुमना उवाच

केन भूतानि वर्धन्ते क्षयं गच्छन्ति केन वा ।
कमर्चन्तो महाप्राज्ञ सुखमव्ययमाप्नुयुः ॥२०॥

वसुमना ने पूछा—महाप्राज्ञ ! राज्य में रहनेवाले प्राणियों की वृद्धि कैसे होती है ? उनका ह्रास कैसे होता है ? किस देवता की पूजा करनेवाले लोगों को अक्षय सुख की प्राप्ति हो सकती है ?

बृहस्पतिरुवाच

राजमूलो महाप्राज्ञ धर्मो लोकस्य लक्ष्यते ।
प्रजा राजभयादेव न खादन्ति परस्परम् ॥२१॥

बृहस्पतिजी ने कहा—महामते ! संसार में जो धर्म देखा जाता है, उसका मूल कारण राजा ही है । राजा के भय से ही प्रजा एक-दूसरे को हड़प नहीं कर पाती है ।

यथा ह्यनुदये राजन् भूतानि शशिसूर्ययोः ।
अन्धे तमसि मज्जेयुरपश्यन्तः परस्परम् ॥२२॥
एवमेव विना राज्ञा विनश्येयुरिमाः प्रजाः ।
अन्धे तमसि मज्जेयुरगोपाः पशवो यथा ॥२३॥

राजन् ! जसे सूर्य और चन्द्रमा का उदय न होने पर समस्त प्राणी घोर अन्धकार में डूब जाते हैं और एक-दूसरे को देख नहीं पाते, वैसे ही राजा के विना ये सारी प्रजाएँ परस्पर लड़-झगड़कर नष्ट हो जाएँगी और बिना चरवाहे के पशुओं की भाँति दुःख के घोर अन्धकार में डूब जाएँगी ।

हरेयुर्बलवन्तोऽपि दुर्बलानां परिग्रहान् ।
हन्युर्व्यायच्छमानांश्च यदि राजा न पालयेत् ॥२४॥

यदि राजा प्रजा की रक्षा न करे तो बलवान् मनुष्य दुर्बलों की बहू-बेटियों तथा धन को हर ले जाएँ और अपने घर-बार की रक्षा का प्रयत्न करनेवालों को मार डालें ।

न दारा न च पुत्रः स्यान्न धनं न परिग्रहः ।
विष्वग्लोपः प्रवर्तेत यदि राजा न पालयेत् ॥२५॥

यदि राजा रक्षा न करे तो संसार में स्त्री, पुत्र, धन अथवा घरबार—कुछ भी किसी का नहीं हो सकता, सब ओर सबकी सारी सम्पत्ति का लोप हो जाए ।

यानं वस्त्रमलङ्कारान् रत्नानि विविधानि च ।
हरेयुः सहसा पापा यदि राजा न पालयेत् ॥२६॥

यदि राजा प्रजा का पालन न करे तो पापाचारी लुटेरे सहसा आक्रमण करके वाहन, वस्त्र, आभूषण और नाना प्रकार के रत्न लूट ले जाएँ ।

न योनिदोषो वर्तेत न कृषिर्न वणिक्पथः ।
मज्जेद्धर्मस्त्रयी न स्याद्यदि राजा न पालयेत् ॥२७॥

यदि राजा राष्ट्र का पालन न करे तो व्यभिचार से किसी को घृणा न हो, खेती नष्ट हो जाए, व्यापार चौपट हो जाए, धर्म रसातल को चला जाए और वेदों का कहीं पता भी न चले ।

त्रस्तमुद्विग्नहृदयं हाहाभूतमचेतनम् ।
क्षणेन विनशेत् सर्वं यदि राजा न पालयेत् ॥२८॥

यदि राजा प्रजा की रक्षा न करे तो सारा जगत् भयभीत, उद्विग्नचित्त, हाहाकारपरायण और अचेत होकर क्षणभर में नष्ट हो जाए ।

हस्ताद्धस्तं परिमुषेद् भिद्येरन् सर्वसेतवः ।
भयार्तं विद्रवेत् सर्वं यदि राजा न पालयेत् ।।२९।।

यदि राजा राष्ट्र का पालन न करे तो चोर और लुटेरे हाथ में रखी हुई वस्तु को भी हाथ से छीन ले जाएँ, सारी मर्यादाएँ नष्ट हो जाएँ और सब लोग भय से पीड़ित हो चारों ओर भागते फिरें।

अनयाः सम्प्रवर्तेरन् भवेद् वै वर्णसंकरः ।
दुर्भिक्षमाविशेद् राष्ट्रं यदि राजा न पालयेत् ।।३०।।

यदि राजा प्रजा की रक्षा न करे तो सर्वत्र अन्याय एवं अत्याचार फैल जाए, वर्णसंकर सन्तानें उत्पन्न होने लगें और सारे देश में अकाल पड़ जाए।

विवृत्य हि यथाकामं गृहद्वाराणि शेरते ।
मनुष्या रक्षिता राज्ञा समन्तादकुतोभयाः ।।३१।।

राजा के द्वारा रक्षित मनुष्य सब ओर से निर्भय हो जाते हैं, वे अपनी इच्छा के अनुसार घर के दरवाजे खोलकर सोते हैं।

स्त्रियाश्चापुरुषा मार्गं सर्वालङ्कारभूषिताः ।
निर्भयाः प्रतिपद्यन्ते यदि रक्षति भूमिपः ।।३२।।

यदि पृथिवी का पालन करनेवाला राजा अपने राज्य की रक्षा करता है तो समस्त आभूषणों से अलंकृत सुन्दरी स्त्रियाँ किसी पुरुष को साथ लिये बिना भी निर्भय होकर मार्ग से आती-जाती हैं।

धर्ममेव प्रपद्यन्ते न हिंसन्ति परस्परम् ।
अनुगृह्णन्ति चान्योऽन्यं यदा रक्षति भूमिपः ।।३३।।

जब राष्ट्र राजा द्वारा रक्षित होता है तब लोग धर्म का ही पालन करते हैं, कोई किसी की हिंसा नहीं करता और सभी एक-दूसरे पर अनुग्रह रखते हैं।

यजन्ते च महायज्ञैस्त्रयो वर्णाः पृथग्विधैः ।
युक्ताश्चाधीयते विद्यां यदा रक्षति भूमिपः ।।३४।।

जब राजा रक्षा करता है तब तीनों वर्णों के लोग पञ्चमहायज्ञों [ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ और बलिवैश्वदेवयज्ञ] का अनुष्ठान करते हैं और मनोयोगपूर्वक विद्याध्ययन में लगे रहते हैं।

यस्याभावेन भूतानामभावः स्यात् समन्ततः ।
भावे च भावो नित्यं स्यात् कस्तं न प्रतिपूजयेत् ।।३५।।

जिसके न रहने पर सब ओर से समस्त प्राणियों का अभाव होने लगता है और जिसके रहने पर सदा सबका अस्तित्व बना रहता है, उस राजा का पूजन [आदर-सत्कार] कौन नहीं करेगा ?

न हि जात्ववमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः ।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ।।३६।।

'यह भी एक मनुष्य है'—ऐसा समझकर पृथिवीपालक नरेश की अवहेलना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि राजा मनुष्यरूप में एक महान् देवता है।

युधिष्ठिर उवाच

य एष राजन् राजेति शब्दश्चरति भारत ।
कथमेष समुत्पन्नस्तन्मे ब्रूहि परन्तप ।।३७।।

युधिष्ठिर ने पूछा—शत्रुसन्तापक भरतवंशी नरश्रेष्ठ ! लोक में जो यह 'राजा' शब्द प्रचलित है, इसकी उत्पत्ति कैसे हुई ? यह मुझे बताने की कृपा करें।

भीष्म उवाच

नियतस्त्वं नरव्याघ्र शृणु सर्वमशेषतः ।
यथा राज्यं समुत्पन्नमादौ कृतयुगेऽभवत् ।।३८।।

भीष्मजी बोले—पुरुषसिंह ! आदि सत्ययुग में जिस प्रकार राजा और राज्य की उत्पत्ति हुई वह सारा वृत्तान्त तुम एकाग्र होकर सुनो।

न वै राज्यं न राजासीन्न च दण्डो न दाण्डिकः ।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम् ।।३९।।

पहले न कोई राज्य था, न राजा, न दण्ड था और न दण्ड देनेवाला, सम्पूर्ण प्रजा धर्म के द्वारा ही एक-दूसरे की रक्षा करती थी।

पाल्यमानास्तथान्योन्यं नरा धर्मेण भारत ।
खेदं परमुपाजग्मुस्ततस्तान् मोह आविशत् ।।४०।।

हे भारत ! सब मनुष्य धर्म के द्वारा परस्पर पालित और पोषित होते थे। कुछ समय पश्चात् लोग परस्पर संरक्षण-कार्य में महान् कष्ट का अनुभव करने लगे, फिर उन सबपर मोह छा गया।

ते मोहवशमापन्ना मनुजा मनुजर्षभ ।
प्रतिपत्तिविमोहाच्च धर्मस्तेषामनीनशत् ।।४१।।

नरश्रेष्ठ ! जब सभी मनुष्य मोह के वशीभूत हो गये, तब कर्तव्याकर्तव्य के ज्ञान से शून्य होने के कारण उनके धर्म का नाश हो गया।

नष्टायां प्रतिपत्तौ च मोहवश्या नरास्तदा ।
लोभस्य वशमापन्नाः सर्वे भरतसत्तम ॥४२॥

भरतश्रेष्ठ ! कर्तव्य-अकर्तव्य का ज्ञान नष्ट हो जाने पर मोह के वशीभूत हुए सब मनुष्य लोभ के अधीन हो गये ।

अप्राप्तस्याभिमर्शं तु कुर्वन्तो मनुजास्ततः ।
कामो नामापरस्तत्र प्रत्यपद्यत वै प्रभो ॥४३॥

तत्पश्चात् जो वस्तु उन्हें प्राप्त नहीं थी, उसे पाने का वे प्रयत्न करने लगे । प्रभो ! इतने में ही काम नामक दूसरे दोष ने उन्हें घेर लिया ।

ताँस्तु कामवशं प्राप्तान् रागो नाम समस्पृशत् ।
रक्ताश्च नाभ्यजानन्त कार्याकार्ये युधिष्ठिर ॥४४॥

युधिष्ठिर ! काम के अधीन हुए उन मनुष्यों पर राग नामक शत्रु ने आक्रमण कर दिया । राग के चंगुल में फँसकर वे ये न जान सके कि कर्तव्य क्या है और अकर्तव्य क्या है ?

अगम्यागमनं चैव वाच्यावाच्यं तथैव च ।
भक्ष्याभक्ष्यं च राजेन्द्र दोषादोषं च नात्यजन् ॥४५॥

राजेन्द्र ! उन्होंने अगम्यागमन, वाच्य-अवाच्य, भक्ष्य-अभक्ष्य और दोष-अदोष— कुछ भी नहीं छोड़ा ।

विप्लुते नरलोके वै ब्रह्म चैव ननाश ह ।
नाशाच्च ब्रह्मणो राजन् धर्मो नाशमथागमत् ॥४६॥

इस प्रकार मनुष्यलोक में धर्म का नाश हो जाने पर वेदों के स्वाध्याय का भी लोप हो गया । राजन् ! वैदिक ज्ञान का लोप होने से यज्ञादि कर्मों का भी नाश हो गया ।

नष्टे ब्रह्मणि धर्मे च देवाँस्त्रासः समाविशत् ।
ते त्रस्ता नरशार्दूल ब्रह्माणं शरणं ययुः ॥४७॥

इस प्रकार जब वेद और धर्म का नाश होने लगा तब विद्वानों के मन में भय समा गया । पुरुष-सिंह ! वे भयभीत होकर ब्रह्माजी की शरण में गये ।

प्रसाद्य भगवन्तं ते देवं लोकपितामहम् ।
ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे दुःखवेगसमाहताः ॥४८॥

लोकपितामह भगवान् ब्रह्मा को प्रसन्न [आदर-सत्कार] करके दुःख के वेग से पीड़ित हुए समस्त देव [विद्वान्] हाथ जोड़कर उनसे बोले—

भगवन् नरलोकस्थं ग्रस्तं ब्रह्म सनातनम् ।
लोभमोहादिभिर्भावैस्ततो नो भयमाविशत् ॥४९॥

"भगवन् ! मनुष्यलोक में लोभ, मोह आदि दूषित भावों ने सनातन वैदिक ज्ञान को लुप्त कर डाला है, अतः हमारे हृदयों में भय समा गया है ।"

तानुवाच सुरान् सर्वान् स्वयम्भूर्भगवाँस्ततः ।
श्रेयोऽहं चिन्तयिष्यामि व्येतु वो भीः सुरर्षभाः ॥५०॥

तब भगवान् ब्रह्मा ने उन सब देवों=विद्वानों से कहा—"श्रेष्ठ सुरगण ! तुम्हारा भय दूर हो जाना चाहिए । मैं तुम्हारे कल्याण का उपाय सोचूँगा ।"

ततोऽध्यायसहस्राणां शतं चक्रे स्वबुद्धिजम् ।
यत्र धर्मस्तथैवार्थः कामश्चैवाभिवर्णितः ॥५१॥

तत्पश्चात् ब्रह्माजी ने अपनी बुद्धि से एक लाख अध्यायों का एक ऐसा नीतिशास्त्र रचा, जिसमें धर्म, अर्थ और काम का विस्तारपूर्वक वर्णन था ।

देवानुवाच संहृष्टस्ततः स भगवान् प्रभुः ।
उपकाराय लोकस्य त्रिवर्गस्थापनाय च ।
नवनीतं सरस्वत्या बुद्धिरेषा प्रभाविता ॥५२॥

इस शास्त्र का निर्माण करके ब्रह्माजी अत्यन्त प्रसन्न हुए और बोले—"देवगण ! समस्त जगत् के उपकार और धर्म, अर्थ तथा काम की स्थापना के लिए वाणी का सारभूत यह विचार यहाँ प्रकट किया गया है ।

दण्डेन नीयते चेदं दण्डं नयति वा पुनः ।
दण्डनीतिरिति ख्याता त्रीँल्लोकानभिवर्तते ॥५३॥

इस शास्त्र के अनुसार दण्ड के द्वारा जगत् का सन्मार्ग पर स्थापन किया जाता है तथा राजा इसके अनुसार प्रजावर्ग में दण्ड की स्थापना करता है, अतः यह विद्या दण्डनीति के नाम से विख्यात है । इसका तीनों लोकों में विस्तार होगा ।"

ततस्तां भगवान् नीतिं पूर्वं जग्राह शङ्करः ।
बहुरूपो विशालाक्षः शिवः स्थाणुरुमापतिः ॥५४॥

तत्पश्चात् सबसे पूर्व भगवान् शङ्कर ने इस नीतिशास्त्र को ग्रहण किया । वे बहुरूप, विशालाक्ष, शिव, स्थाणु, उमापति आदि नामों से प्रसिद्ध हैं ।

प्रजानामायुषो ह्रासं विज्ञाय भगवाञ्छिवः ।
संचिक्षेप ततः शास्त्रं महार्थं ब्रह्मणा कृतम् ।
वैशालाक्षमिति प्रोक्तं तदिन्द्रः प्रत्यपद्यत ॥५५॥

भगवान् शिव ने प्रजावर्ग की आयु का ह्रास होता जानकर ब्रह्माजी द्वारा रचित उस महान् अर्थ से भरे हुए शास्त्र का संक्षेप किया था, अतः इसका नाम 'वैशालाक्ष' हो गया। फिर इसे इन्द्र ने ग्रहण किया।

दशाध्यायसहस्राणि सुब्रह्मण्यो महातपाः ।
भगवानपि तच्छास्त्रं सञ्चिक्षेप पुरन्दरः ।
सहस्रैः पञ्चभिस्तात यदुक्तं बाहुदन्तकम् ।।५६।।

महातपस्वी सुब्रह्मण्य भगवान् पुरन्दर ने जब इसे ग्रहण किया तब इसमें दस सहस्र अध्याय थे। फिर उन्होंने भी इसका संक्षेप किया, जिससे यह पाँच सहस्र अध्यायों का ग्रन्थ हो गया। तात ! यही ग्रन्थ 'बाहुदन्तक' नामक नीतिशास्त्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

अध्यायानां सहस्रैस्तु त्रिभिरेव बृहस्पतिः ।
संचिक्षेपेश्वरो बुद्ध्या बार्हस्पत्यं तदुच्यते ।।५७।।

तदनन्तर सामर्थ्यशाली बृहस्पति ने अपनी बुद्धि से उसका संक्षेप किया, तब इसमें तीन सहस्र अध्याय रह गये। यही 'बार्हस्पत्य' नीतिशास्त्र कहलाता है।

अध्यायानां सहस्रेण काव्यः संक्षेपमब्रवीत् ।
तच्छास्त्रममितप्रज्ञो योगाचार्यो महायशाः ।।५८।।

तत्पश्चात् महायशस्वी, योगशास्त्र के आचार्य और अमित बुद्धिमान् शुक्राचार्य ने एक हजार अध्यायों में इस शास्त्र का संक्षेप किया।

एवं लोकानुरोधेन शास्त्रमेतन्महर्षिभिः ।
संक्षिप्तमायुर्विज्ञाय मर्त्यानां ह्रासमेव च ।।५९।।

इस प्रकार मनुष्यों की आयु का ह्रास होता जानकर संसार के कल्याण के लिए महर्षियों ने इस शास्त्र का संक्षेप किया है।

अथ देवाः समागम्य विष्णुमूचुः प्रजापतिम् ।
एकोऽयोऽर्हति मर्त्येभ्यः श्रैष्ठ्यं वै तं समादिश ।।६०।।

तदनन्तर देवों [विद्वानों] ने प्रजापति विष्णु के पास जाकर उनसे निवेदन किया—"भगवन् ! मनुष्यों में जो एक पुरुष सबसे श्रेष्ठ पद प्राप्त करने का अधिकारी हो, उसका नाम निर्देश कीजिए।"

मुहूर्तं सञ्चिन्त्य विष्णुस्तानुवाच ततः सुरान् ।
राजा भवतु सर्वेषां पृथुर्वैन्यः प्रतापवान् ।।६१।।

विष्णुजी एक मुहूर्त तक सोच-विचारकर उन देवों [विद्वानों] से बोले—"वेन के पुत्र महाप्रतापी पृथु आप सबके राजा होने योग्य हैं।"

रञ्जिताश्च प्रजाः सर्वास्तेन राजेति शब्द्यते ।
ब्राह्मणानां क्षतत्राणात् ततः क्षत्रिय उच्यते ।।६२।।

उन्होंने समस्त प्रजा का रञ्जन किया था, अतः वे राजा कहलाते थे और ब्राह्मणों का क्षत से त्राण करने के कारण वे क्षत्रिय कहलाने लगे।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि अष्टादशोऽध्यायः ।।१८।।

एकोनविंशोऽध्यायः

राजा के प्रधान कर्तव्यों और दण्डनीति द्वारा युगों के निर्माण का वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

पार्थिवेन विशेषेण किं कार्यमवशिष्यते ।
कथं रक्ष्यो जनपदः कथं जेयाश्च शत्रवः ।।१।।

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! राजा के द्वारा विशेषरूप से पालन करने योग्य और कौन-सा कार्य शेष है ? उसे ग्रामों की रक्षा कैसे करनी चाहिए तथा शत्रुओं को किस प्रकार जीतना चाहिए ?

कथं चारं प्रयुञ्जीत वर्णान् विश्वासयेत्कथम् ।
कथं भृत्यान् कथं दारान् कथं पुत्रांश्च भारत ।।२।।

हे भारत ! राजा गुप्तचर की नियुक्ति कैसे करे ? सब वर्णों के मन में विश्वास कैसे उत्पन्न करे ? वह सेवकों, स्त्रियों और पुत्रों को कैसे कार्य में लगाए और उनके मन में कैसे विश्वास पैदा करे ?

भीष्म उवाच

राजवृत्तं महाराज शृणुष्वावहितोऽखिलम् ।
यत् कार्यं पार्थिवेनादौ पार्थिवप्रकृतेन वा ।।३।।

भीष्मजी ने कहा—महाराज ! क्षत्रिय राजा अथवा राजकार्य करनेवाले अन्य पुरुष को सबसे

प्रथम जो कार्य करना चाहिए, वह सारा राजकीय आचार-व्यवहार सावधान होकर सुनो ।

आत्मा जेयः सदा राज्ञा ततो जेयाश्च शत्रवः ।
अजितात्मा नरपतिर्विजयेत कथं रिपून् ॥४॥

राजा को सर्वप्रथम सदा अपने आपपर विजय प्राप्त करनी चाहिए, तत्पश्चात् शत्रुओं को जीतने का प्रयत्न करना चाहिए । जिस राजा ने अपने-आप पर विजय नहीं पाई, वह शत्रुओं पर विजय कैसे पा सकता है ?

एतावानात्मविजयः पञ्चवर्गविनिग्रहः ।
जितेन्द्रियो नरपतिर्बाधितुं शक्नुयादरीन् ॥५॥

आँख-कान आदि पाँचों इन्द्रियों को वश में रखना ही स्वयं पर विजय पाना है । जितेन्द्रिय राजा ही शत्रुओं का दमन कर सकता है ।

न्यसेत गुल्मान् दुर्गेषु सन्धौ च कुरुनन्दन ।
नगरोपवने चैव पुरोद्यानेषु चैव हि ॥६॥

कुरुनन्दन ! राजा को दुर्गों [किलों], राज्य की सीमा पर तथा नगर और गाँवों के मध्य में सेना रखनी चाहिए ।

संस्थानेषु च सर्वेषु पुरेषु नगरेषु च ।
मध्ये च नरशार्दूल तथा राजनिवेशने ॥७॥

नरसिंह ! इसी प्रकार सभी पड़ावों पर, बड़े-बड़े ग्रामों और नगरों में, अन्तःपुर में तथा राजमहल के आसपास भी रक्षक सैनिकों की नियुक्ति करनी चाहिए ।

प्रणिधींश्च ततः कुर्याज्जडान्धबधिराकृतीन् ।
पुंसः परीक्षितान् प्राज्ञान् क्षुत्पिपासाश्रमक्षमान् ॥८॥

तत्पश्चात् सुपरीक्षित, जो बुद्धिमान् होने पर भी देखने में गूंगे, अन्धे तथा बहरे-से प्रतीत हों, जो भूख-प्यास और परिश्रम सहने की शक्ति रखते हों, ऐसे लोगों को गुप्तचर बनाकर आवश्यक कार्यों में नियुक्त करना चाहिए ।

अमात्येषु च सर्वेषु मित्रेषु विविधेषु च ।
पुत्रेषु च महाराज प्रणिदध्यात् समाहितः ॥९॥

महाराज ! राजा को चाहिए कि वह एकाग्रचित्त हो सब मन्त्रियों, नाना प्रकार के मित्रों और पुत्रों पर भी गुप्तचर नियुक्त करे ।

पुरे जनपदे चैव तथा सामन्तराजसु ।
यथा न विद्युरन्योन्यं प्रणिधेयास्तथा हि ते ॥१०॥

नगर, जनपद तथा जहाँ मल्ल लोग व्यायाम करते हों उन स्थानों में ऐसी युक्ति से गुप्तचर नियुक्त करने चाहिएँ, जिससे वे आपस में भी एक-दूसरे को न पहचान सकें ।

चारांश्च विद्यात् प्रहितान् परेण भरतर्षभ ।
आपणेषु विहारेषु समाजेषु च भिक्षुषु ॥११॥
आरामेषु तथोद्याने पण्डितानां समागमे ।
देशेषु चत्वरे चैव सभास्वावसथेषु च ॥१२॥

भरतभूषण ! राजा को अपने गुप्तचरों द्वारा बाजारों, लोगों के घूमने-फिरने के स्थानों, सामाजिक उत्सवों, भिक्षुओं की टोलियों, बगीचों, उद्यानों, विद्वानों की सभाओं, विभिन्न प्रान्तों, चौराहों, सभाओं और धर्मशालाओं में शत्रुओं के भेजे हुए गुप्तचरों का पता लगाते रहना चाहिए ।

एवं विचिनुयाद् राजा परचारं विचक्षणः ।
चारे हि विदिते पूर्वं हितं भवति पाण्डव ॥१३॥

पाण्डुपुत्र ! इस प्रकार बुद्धिमान् राजा शत्रु के गुप्तचरों का पता लगाता रहे । यदि वह शत्रु के गुप्तचरों का पहले ही पता लगा लेता है, तो इससे उसका बहुत बड़ा हित होता है ।

यदा तु हीनं नृपतिर्विद्यादात्मानमात्मना ।
अमात्यैः सह सम्मन्त्र्य कुर्यात्सन्धिं बलीयसा ॥१४॥

यदि राजा को अपना पक्ष स्वयं ही निर्बल जान पड़े तो अपने मन्त्रियों के साथ परामर्श करके बलवान् शत्रु के साथ सन्धि कर लेनी चाहिए ।

उच्छिद्यमानमात्मानं ज्ञात्वा राजा महामतिः ।
पूर्वापकारिणो हन्याल्लोकद्विष्टांश्च सर्वशः ॥१५॥

यदि यह पता लग जाए कि कोई हमारी जड़ उखाड़ रहा है तो परम बुद्धिमान् राजा पहले के अपकारियों को और जनता के साथ द्वेष रखनेवालों को सर्वथा नष्ट कर दे ।

व्यासक्तं यदि विज्ञातं दुर्बलं च विचक्षणः ।
यात्रामाज्ञापयेद् वीरः कल्यः पुष्टबलः सुखी ॥१६॥

यदि शत्रु दूसरों के साथ युद्ध में लगा हुआ तथा

दुर्बल जान पड़े और इधर अपनी सेना प्रबल हो तो युद्धनिपुण, सुख के साधनों से सम्पन्न तथा वीर राजा को उचित है कि वह अपनी सेना को शत्रु पर आक्रमण करने की आज्ञा दे दे।

न च वश्यो भवेदस्य नृपो यश्चातिवीर्यवान्।
हीनश्च बलवीर्याभ्यां कर्षयंस्तत्परो वसेत् ॥१७॥

बल और पराक्रम से हीन राजा को चाहिए कि वह अपने से अत्यन्त शक्तिशाली नरेश के अधीन भी न रहे। उसे चाहिए कि वह गुप्तरूप से प्रबल शत्रु को क्षीण करने का प्रयत्न करता रहे।

राष्ट्रं च पीडयेत्तस्य शस्त्राग्निविषमूर्च्छनैः।
अमात्यवल्लभानां च विवादाँस्तस्य कारयेत् ॥१८॥

उसे चाहिए कि शस्त्रों के प्रहार से घायल करके, आग लगाकर तथा विष के प्रयोग द्वारा मूर्च्छित करके शत्रु के राष्ट्र में रहनेवाले लोगों को पीड़ा दे। मन्त्रियों तथा राजा के प्रिय व्यक्तियों में कलह करा दे।

वर्जनीयं सदा युद्धं राज्यकामेन धीमता।
उपायैस्त्रिभिरादानमर्थस्याह बृहस्पतिः ॥१९॥
सान्त्वेन तु प्रदानेन भेदेन च नराधिप।
यदर्थं शक्नुयात्प्राप्तं तेन तुष्येद्धि पण्डितः ॥२०॥

जो बुद्धिमान् राजा राज्य का हित चाहे, उसे सदा युद्ध को टालने का ही प्रयत्न करना चाहिए। नरेश्वर! बृहस्पतिजी ने साम, दान और भेद—इन तीन उपायों से ही राजा के लिए धन की आय बताई है। इन उपायों से जो धन प्राप्त हो सके, विद्वान् राजा को उसी से सन्तुष्ट रहना चाहिए।

आददीत बलिं चापि प्रजाभ्यः कुरुनन्दन।
स षड्भागमपि प्राज्ञस्तासामेवाभिगुप्तये ॥२१॥

कुरुनन्दन! बुद्धिमान् नरेश प्रजाजनों से उन्हीं की रक्षा के लिए उनकी आय का छठा भाग कर के रूप में ग्रहण करे।

दशधर्मगतेभ्यो यद् वसु बह्वल्पमेव च।
तदाददीत सहसा पौराणां रक्षणाय वै ॥२२॥

मत्त-उन्मत्त आदि जो दस[1] प्रकार के दण्डनीय मनुष्य हैं, उनसे थोड़ा या अधिक जो धन दण्ड के रूप में प्राप्त हो, उसे नगरवासियों की रक्षा के लिए ही सहसा ग्रहण कर ले।

यथा पुत्रास्तथा पौत्रा द्रष्टव्यास्ते न संशयः।
भक्तिश्चैषां न कर्तव्या व्यवहारे प्रदर्शिते ॥२३॥

राजा को चाहिए कि वह अपनी प्रजा को पुत्रों और पौत्रों की भाँति स्नेह-दृष्टि से देखे, परन्तु न्याय करते समय स्नेहवश किसी के साथ पक्षपात नहीं करना चाहिए।

आकरे लवणे शुल्के तरे नागबले तथा।
न्यसेदमात्यान्नृपतिः स्वाप्तान्वा पुरुषान्हितान् ॥२४॥

स्वर्ण आदि की खान, नमक, अनाजादि की मण्डी, नाव के घाट और हाथियों के यूथ—इन सब स्थानों पर होनेवाली आय के निरीक्षण के लिए मन्त्रियों को अथवा अपना हित चाहनेवाले विश्वसनीय पुरुषों को राजा नियुक्त करे।

नित्यमुद्यतदण्डः स्यादाचरेदप्रमादतः।
लोके चायव्ययौ दृष्ट्वा बृहद्वृक्षमिवास्रवत् ॥२५॥

वह सदा अपराधियों को दण्ड देने के लिए उद्यत रहे, प्रत्येक कार्य सावधानी के साथ करे। लोगों का आय-व्यय देखकर ताड़ के वृक्ष से रस निकालने की भाँति उससे धनरूपी रस ले अर्थात् जैसे रस-प्राप्ति के लिए पेड़ को नहीं काटा जाता उसी प्रकार कर-प्राप्ति के लिए प्रजा का उच्छेद न करे।

दण्डे त्रिवर्गः सततं सुप्रणीते प्रवर्तते।
दैवं हि परमो दण्डो रूपतोऽग्निरिवोत्थितः ॥२६॥

दण्ड का ठीक-ठीक प्रयोग होने पर राजा के धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि सदा होती रहती है, अतः दण्ड महान् देवता है। यह अग्नि के समान तेजस्वी रूप से प्रकट हुआ है।

न स्याद् यदीह दण्डो वै प्रमथेयुः परस्परम्।
भयाद्दण्डस्य नान्योऽन्यं घ्नन्ति चैव युधिष्ठिर ॥२७॥

युधिष्ठिर! यदि संसार में दण्ड की व्यवस्था

---

[1] दस प्रकार के अपराधी निम्न हैं—१. मत्त, २. उन्मत्त, ३. दस्यु, ४. तस्कर=चोर, ५. प्रतारक=ठग ६. शठ, ७. लम्पट, ८. जुआरी, ९. कृत्रिम लेखक, और १० घूसखोर।

न होती तो सब लोग एक-दूसरे को नष्ट कर डालते। दण्ड के भय से ही मनुष्य आपस में मार-काट नहीं मचाते हैं।

दण्डेन रक्ष्यमाणा हि राजन्नहरहः प्रजाः ।
राजानं वर्धयन्तीह तस्माद् दण्डः परायणम् ॥२८॥

राजन्! दण्ड से सुरक्षित रहती हुई प्रजा ही इस लोक में अपने राजा को प्रतिदिन धन-धान्य से सम्पन्न करती रहती है, अतः दण्ड ही सबको आश्रय देनेवाला है।

माता पिता च भ्राता च भार्या चैव पुरोहितः ।
नादण्ड्यो विद्यते राज्ञो यः स्वधर्मे न तिष्ठति ॥२९॥

माता, पिता, भाई, स्त्री तथा पुरोहित कोई भी क्यों न हो, जो अपने धर्म में स्थिर नहीं रहता, उसे राजा अवश्य दण्ड दे, राजा के लिए कोई भी अदण्डनीय नहीं है।

विभज्य दण्डः कर्तव्यो धर्मेण न यदृच्छया ।
दुष्टानां निग्रहो दण्डो हिरण्यं बाह्यतः क्रिया ॥३०॥

परन्तु धर्म के अनुसार न्याय-अन्याय का विचार करके ही दण्ड का विधान करना चाहिए, मनमानी नहीं करनी चाहिए। दण्ड का मुख्योद्देश्य है—दुष्टों का दमन करना, न कि स्वर्णमुद्राएं लेकर कोष को भरना। दण्ड के रूप में धन लेना तो गौण कर्म है।

व्यङ्गत्वं च शरीरस्य वधो नाल्पस्य कारणात् ।
शरीरपीडास्तास्ताश्च देहत्यागो विवासनम् ॥३१॥

किसी छोटे-से अपराध पर प्रजा का अङ्ग-भङ्ग करना, उसका वध कर देना, उसे नाना प्रकार की यातनाएँ देना, उसे देहत्याग के लिए विवश करना अथवा देश से निकाल देना कदापि उचित नहीं है।

सम्यग्दण्डधरो नित्यं राजा धर्ममवाप्नुयात् ।
नृपस्य सततं दण्डः सम्यग्धर्मः प्रशस्यते ॥३२॥

भली-भाँति दण्ड धारण करनेवाला राजा सदा धर्म का भागी होता है। सदा दण्ड धारण किये रहना राजा के लिए श्रेष्ठ धर्म है और इसकी प्रशंसा की गई है।

वेदवेदाङ्गवित् प्राज्ञः सुतपस्वी नृपो भवेत् ।□
दानशीलश्च सततं यज्ञशीलश्च भारत ॥३३॥

हे भारत! राजा को वेद और वेदाङ्गों का विद्वान्, बुद्धिमान्, तपस्वी, सदा दानशील और यज्ञ-परायण होना चाहिए।

एते गुणाः समस्ताः स्युर्नृपस्य सततं स्थिराः ।
व्यवहारलोपे नृपतेः कुतो स्वर्गः कुतो यशः ॥३४॥

ये सारे गुण राजा में स्थिरभाव से रहने चाहिएँ। यदि राजा का न्यायोचित व्यवहार ही लुप्त हो गया तो उसे न स्वर्ग की ही प्राप्ति हो सकती है और न यश की।

यदा तु पीडितो राजा भवेद् राज्ञा बलीयसा ।
तदाभिसंश्रयेद् दुर्गं बुद्धिमान् पृथिवीपतिः ॥३५॥

बुद्धिमान् पृथिवीपालक नरेश जब किसी अत्यन्त बलवान् राजा से पीड़ित होने लगे, तब उसे दुर्ग का आश्रय लेना चाहिए।

ये गुप्ताश्चैव दुर्गाश्च देशास्तेषु प्रवेशयेत् ।
धनिनो बलमुख्यांश्च सान्त्वयित्वा पुनः पुनः ॥३६॥

राज्य में जो धनी और सेना के प्रधान-प्रधान अधिकारी हों अथवा जो प्रमुख सेनाएँ हों उन सबको बारम्बार सान्त्वना देकर ऐसे स्थानों में रख दे जो अत्यन्त गुप्त और दुर्गम हों।

सस्याभिहारं कुर्याच्च स्वयमेव नराधिपः ।
असम्भवे प्रवेशस्य दाहयेदग्निना भृशम् ॥३७॥

राजा स्वयं ही ध्यान देकर खेतों में तैयार हुई अन्न की फसल को कटवाकर किले के भीतर रखवा ले। यदि किले में लाना सम्भव न हो तो उन फसलों को आग लगाकर जला दे।

क्षेत्रस्थेषु च सस्येषु शत्रोरुपजयेन्नरान् ।
विनाशयेद् वा तत्सर्वं बलेनाथ स्वकेन वा ॥३८॥

शत्रु के खेतों में जो अन्न हों, उन्हें नष्ट करने के लिए वहीं के लोगों में फूट डाल दे अथवा अपनी ही सेना द्वारा उस सबको नष्ट करा दे, जिससे शत्रु के पास खाद्य-सामग्री का अभाव हो जाए।

नदीमार्गेषु च तथा संक्रमानवसादयेत् ।
जलं विस्रावयेत् सर्वमविस्राव्यं च दूषयेत् ॥३९॥

नदी के मार्गों पर जो पुल पड़ते हों उन सबको तुड़वा दे। शत्रु के मार्ग में जो जलाशय हों उनका सारा जल इधर-उधर बहा दे। जो जल बहाया न

जा सके उसे दूषित कर दे, जिससे वह पीने योग्य न रह जाए।

द्वारेषु च गुरूण्येव यन्त्राणि स्थापयेत्सदा।
आरोपयेच्छतघ्नीश्च स्वाधीनानि च कारयेत् ॥४०॥

किले अथवा नगर के सभी द्वारों पर भारी-भारी यन्त्र और तोप सदा लगाए रखे और उन सबको अपने अधिकार में रखे।

काष्ठानि चाभिहार्याणि तथा कूपांश्च खानयेत्।
संशोधयेत् तथा कूपान्कृतपूर्वान्पयोऽर्थिभिः ॥४१॥

किले के भीतर बहुत-सा ईंधन इकट्ठा कर ले और कुएँ खुदवाए। जल पीने की इच्छावालों ने पहले जो कुएँ बना रखे हों उनको भी पानी निकलवाकर शुद्ध करा ले।

नक्तमेव च भक्तानि पाचयेत नराधिपः।
न दिवा ज्वालयेदग्निं वर्जयित्वाऽग्निहोत्रकम् ॥४२॥

राजा को चाहिए कि वह युद्ध के अवसरों पर नगर के लोगों को रात्रि में ही भोजन बनाने की आज्ञा दे। दिन में अग्निहोत्र को छोड़कर और किसी काम के लिए कोई आग न जलाए।

महादण्डश्च तस्य स्याद्यस्याग्निर्वै दिवा भवेत्।
प्रघोषयेदथैवं च रक्षणार्थं पुरस्य वै ॥४३॥

नगर की रक्षा के लिए यह घोषणा करा दे कि—"जिसके यहाँ दिन में आग जलती हुई पाई जाएगी, उसे बड़ा भारी दण्ड दिया जाएगा।"

भिक्षुकांश्चाक्रिकांश्चैव क्लीबोन्मत्तान् कुशीलवान्।
बाह्यान् कुर्यान्नरश्रेष्ठ दोषाय स्युर्हि तेऽन्यथा ॥४४॥

नरश्रेष्ठ! जब युद्ध छिड़ रहा हो उस समय राजा को चाहिए कि वह भीख माँगनेवालों, गाड़ीवानों, हीजड़ों, पागलों और नाटक करनेवालों को नगर से बाहर निकाल दे, अन्यथा वे बहुत बड़ी विपत्ति ला सकते हैं।

चत्वरेष्वथ तीर्थेषु सभास्वावसथेषु च।
यथार्थवर्णं प्रणिधिं कुर्यात्सर्वस्य पार्थिवः ॥४५॥

राजा को चाहिए कि वह चौराहों पर, तीर्थों में और धर्मशालाओं में सबकी मनोवृत्ति को जानने के लिए किसी उत्तम वर्णवाले पुरुष को गुप्तचर नियुक्त करे।

विशालान् राजमार्गांश्च कारयीत नराधिपः।
प्रपाश्च विपणाँश्चैव यथोद्देशं समाविशेत् ॥४६॥

प्रत्येक नरेश को बड़ी-बड़ी सड़कें बनवा
चाहिएँ और जहाँ जैसी आवश्यकता हो उसी
अनुसार जलक्षेत्र [प्याऊ] और बाजारों की व्यवस
करनी चाहिए।

भाण्डागारायुधागारान् योधागाराँश्च सर्वशः।
न जात्वन्यः प्रपश्येत गुह्यमेतद् युधिष्ठिर ॥४७

युधिष्ठिर! अन्न के भण्डार, शस्त्रागार औ
योद्धाओं के निवासस्थान—इन सब स्थानों को गु
रीति से बनवाना चाहिए, जिससे दूसरे इन्हें देख
सकें।

अर्थसंनिचयं कुर्याद् राजा परबलार्दितः।
तैलं वसा मधु घृतमौषधानि च सर्वशः ॥४८॥

शत्रुओं की सेना से पीड़ित हुआ राजा ध
सञ्चय तथा तेल, चर्बी, मधु, घी, सब प्रकार
औषध आदि आवश्यक वस्तुओं का संग्रह करके रखे

आयुधानां च सर्वेषां शक्त्यृष्टिप्रासवर्मणाम्।
संचयानेवमादीनां कारयीत नराधिपः ॥४९॥

इसी प्रकार राजा को चाहिए कि वह शरि
ऋष्टि और प्रास आदि सब प्रकार के आयुधों, कव
और ऐसी ही अन्य आवश्यक वस्तुओं का सं
कराए।

औषधानि च सर्वाणि मूलानि च फलानि च।
चतुर्विधाँश्च वैद्यान् वै संगृह्णीयाद् विशेषतः ॥५०।

सब प्रकार के औषध, मूल, फल और च
प्रकार के वैद्यों [(१) आथर्वणी=मन्त्रबल
चिकित्सा करनेवाले, (२) आङ्गीरसी=संकल्पश
से चिकित्सा करनेवाले, (३) दैवी=अग्नि,
सूर्य आदि से चिकित्सा करनेवाले और (४) मनुष्य
=चूर्ण, अवलेह, भस्म आदि से चिकित्सा करनेवा
का विशेषरूप से संग्रह करे।

नटाँश्च नर्तकाँश्चैव मल्लान् मायाविनस्तथा।
शोभयेयुः पुरवरं मोदयेयुश्च सर्वशः ॥५१

साधारण स्थिति में राजा को नटों, नर्तकों, मल
और ऐन्द्रजालिकों [जादूगरों] को भी अपने
आश्रय देना चाहिए, क्योंकि ये राजधानी की शो

बढ़ाते हैं और अपने खेलों से सबको आनन्द-प्रदान करते हैं।

यतः शङ्का भवेच्चापि भृत्यतोऽथापि मन्त्रितः ।
पौरेभ्यो नृपतेर्वापि स्वाधीनान् कारयीत तान् ॥५२॥

यदि राजा को अपने किसी नौकर पर, मन्त्री पर, पुरवासियों पर अथवा किसी पड़ोसी राजा पर कोई सन्देह हो जाए तो समयोचित उपायों से उन सबको अपने वश में कर ले।

कृते कर्मणि राजेन्द्र पूजयेद् धनसञ्चयैः ।
दानेन च यथार्हेण सान्त्वेन विविधेन च ॥५३॥

हे राजेन्द्र ! जब कोई अभीष्ट कार्य पूरा हो जाए तो उसमें सहयोग देनेवालों का प्रभूत धन, यथायोग्य पुरस्कार-प्रदान और अनेक प्रकार के मधुर वचनों से सत्कार करना चाहिए।

राज्ञा सप्तैव रक्ष्याणि तानि चैव निबोध मे ।
आत्मामात्याश्च कोशश्च दण्डो मित्राणि चैव हि ॥५४
तथा जनपदाश्चैव पुरं च कुरुनन्दन ।
एतत् सप्तात्मकं राज्यं परिपाल्यं प्रयत्नतः ॥५५॥

कुरुनन्दन ! राजा को उचित है कि सात वस्तुओं की अवश्य रक्षा करे। वे सात वस्तुएँ कौन-सी हैं, यह मुझसे सुनो ! राजा का अपना शरीर, मन्त्री, कोष, दण्ड [सेना], मित्र, राष्ट्र तथा नगर—ये राज्य के सात अङ्ग हैं। राजा को इन सबका प्रयत्नपूर्वक पालन करना चाहिए।

षाड्गुण्यं च त्रिवर्गं च त्रिवर्गपरमं तथा ।
यो वेत्ति पुरुषव्याघ्र स भुंक्ते पृथिवीमिमाम् ॥५६॥

पुरुषसिंह ! जो राजा छह गुण, तीन वर्ग और तीन परम वर्ग—इन सबको भली-भाँति जानता है, वही इस पृथिवी का उपभोग कर सकता है।

षाड्गुण्यमिति यत्प्रोक्तं तन्निबोध युधिष्ठिर ।
सन्धायासनमित्येव यात्रासन्धानमेव च ॥५७॥
विगृह्यासनमित्येव यात्रां सम्परिगृह्य च ।
द्वैधीभावस्तथान्येषां संश्रयोऽथ परस्य च ॥५८॥

युधिष्ठिर ! इनमें छह गुणों का परिचय सुनो—शत्रु से सन्धि करके शान्ति से बैठ जाना, शत्रु पर चढ़ाई करना, वैर करके बैठ जाना, शत्रु को भयभीत करने के लिए आक्रमण का प्रदर्शनमात्र करके बैठ जाना, शत्रुओं में भेद डलवा देना और किसी दुर्ग या दुर्जय राजा का आश्रय लेना, ये छह गुण हैं।

त्रिवर्गश्चापि यः प्रोक्तस्तमिहैकमनाः शृणु ।
क्षयः स्थानं च वृद्धिश्च त्रिवर्गः परमस्तथा ॥५९॥
धर्मश्चार्थश्च कामश्च सेवितव्योऽथ कालतः ।
धर्मेण च महीपालश्चिरं पालयते महीम् ॥६०॥

जिन वस्तुओं को त्रिवर्ग में गिना जाता है, उनको भी ध्यानपूर्वक सुनो—क्षय, स्थान और वृद्धि—ये ही तीन वर्ग हैं तथा धर्म, अर्थ एवं काम—इन्हें परम त्रिवर्ग कहते हैं। इन सबका समयानुसार सेवन करना चाहिए। राजा धर्मानुसार आचरण करे तो वह पृथिवी का दीर्घकाल तक पालन कर सकता है।

किं तस्य तपसा राज्ञः किं च तस्याध्वरैरपि ।
सुपालितप्रजो यः स्यात् सर्वधर्मविदेव सः ॥६१॥

जिस राजा ने अपनी प्रजा का भली-भाँति पालन किया है, उसे तप करने की क्या आवश्यकता है और यज्ञों के अनुष्ठान से भी क्या प्रयोजन है ? वह तो स्वयं ही सम्पूर्ण धर्मों का ज्ञाता है।

युधिष्ठिर उवाच

दण्डनीतिश्च राजा च समस्तौ तावुभावपि ।
कस्य किं कुर्वतः सिद्ध्येत् तन्मे ब्रूहि पितामह ॥६२॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! दण्डनीति तथा राजा दोनों मिलकर ही कार्य करते हैं। इनमें किसके क्या करने से कार्यसिद्धि होती है ? यह मुझे बताइए—

भीष्म उवाच

महाभाग्यं दण्डनीत्याः सिद्धैः शब्दैः सहेतुकैः ।
शृणु मे शंसतो राजन् यथावदिह भारत ॥६३॥

भीष्मजी बोले—राजन् ! भरतनन्दन ! दण्डनीति से राजा और प्रजा के जिस महान् सौभाग्य का उदय होता है, उसका वर्णन मैं लोकप्रसिद्ध और युक्तियुक्त शब्दों द्वारा करता हूँ। तुम यथावत् रूप से सुनो—

दण्डनीतिः स्वधर्मेभ्यश्चातुर्वर्ण्यं नियच्छति ।
प्रयुक्ता स्वामिना सम्यगधर्मेभ्यो नियच्छति ॥६४॥

यदि राजा दण्डनीति का उत्तम रीति से प्रयोग करे तो वह चारों वर्णों को अपने-अपने धर्म में बल-

पूर्वक लगाती है और उन्हें अधर्म की ओर जाने से रोक देती है।

कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम्।
इति ते संशयो मा भूद् राजा कालस्य कारणम् ॥६५॥

काल राजा का कारण है अथवा राजा काल का—ऐसा संशय तुम्हें नहीं होना चाहिए। यह ध्रुव सत्य है कि राजा ही काल का कारण होता है।

दण्डनीत्यां यदा राजा सम्यक् कार्त्स्न्येन वर्तते।
तदा कृतयुगं नाम कालसृष्टं प्रवर्तते ॥६६॥

जिस समय राजा दण्डनीति का पूरा-पूरा एवं ठीक प्रयोग करता है, उस समय पृथिवी पर पूर्णरूप से सत्ययुग का आरम्भ हो जाता है। राजा से प्रभावित हुआ समय ही सत्ययुग की सृष्टि कर देता है।

ततः कृतयुगे धर्मो नाधर्मो विद्यते क्वचित्।
सर्वेषामेव वर्णानां नाधर्मे रमते मनः ॥६७॥

उस सत्ययुग में धर्म-ही-धर्म रहता है, अधर्म का कहीं लेश भी दिखाई नहीं देता और किसी भी वर्ण की अधर्म में रुचि नहीं होती।

व्याधयो न भवन्त्यत्र नाल्पायुर्दृश्यते नरः।
विधवा न भवन्त्यत्र कृपणो न तु जायते ॥६८॥

उस समय संसार में रोग नहीं होते, कोई भी मनुष्य अल्पायु दिखाई नहीं देता, स्त्रियाँ विधवा नहीं होतीं और कोई भी मनुष्य दीन-दुःखी नहीं होता।

दण्डनीत्यां यदा राजा त्रीनंशाननुवर्तते।
चतुर्थमंशमुत्सृज्य तदा त्रेता प्रवर्तते ॥६९॥

जब राजा दण्डनीति के एक-चौथाई अंश को छोड़कर केवल तीन अंशों का अनुसरण करता है, तब त्रेतायुग आरम्भ हो जाता है।

अर्धं त्यक्त्वा यदा राजा नीत्यर्धमनुवर्तते।
ततस्तु द्वापरं नाम स कालः सम्प्रवर्तते ॥७०॥

जब राजा दण्डनीति के आधे भाग को त्यागकर आधे का अनुसरण करता है, तब द्वापर नामक युग का आरम्भ हो जाता है।

दण्डनीतिं परित्यज्य यदा कार्त्स्न्येन भूमिपः।
प्रजाः क्लिश्नात्ययोगेन प्रवर्तेत तदा कलिः ॥७१॥

जब राजा सम्पूर्ण दण्डनीति का परित्याग करके अयोग्य उपायों द्वारा प्रजा को पीड़ित करने लगता है, तब कलियुग का आरम्भ हो जाता है।

कलावधर्मो भूयिष्ठं नृशंसा जायते प्रजा।
व्याधयश्च भवन्त्यत्र म्रियन्ते च गतायुषः ॥७२॥

कलियुग में अधर्म अधिक होता है, प्रजा क्रूर जाती है। सबको रोग-व्याधि सताने लगती हैं लोग छोटी अवस्था में ही मरने लगते हैं।

राजा कृतयुगस्रष्टा त्रेताया द्वापरस्य च।
युगस्य च चतुर्थस्य राजा भवति कारणम् ॥७३॥

राजा ही सत्ययुग की सृष्टि करनेवाला होता तथा राजा ही त्रेता, द्वापर और चौथे कलियुग सृष्टि का कारण है।

दण्डनीतिं पुरस्कृत्य विजानन् क्षत्रियः सदा।
अनवाप्तं च लिप्सेत लब्धं च परिपालयेत् ॥७४॥

अतः विज्ञ क्षत्रिय नरेश को चाहिए कि वह स दण्डनीति को सामने रखकर उसके द्वारा अप्रा वस्तु को पाने की इच्छा करे और प्राप्त हुई वस्तु रक्षा करे।

लोकस्य सीमन्तकरी मर्यादा लोकभाविनी।
सम्यङ्नीता दण्डनीतिर्यथा माता तथा पिता ॥७५॥

यदि दण्डनीति का भली-भाँति प्रयोग कि जाए तो वह बालक की रक्षा करनेवाले माता-पि के समान लोक की सुन्दर व्यवस्था करनेवाली त धर्ममर्यादा और जगत् की रक्षा करने में सम होती है।

यस्यां भवन्ति भूतानि तद् विद्धि मनुजर्षभ।
एष एव परो धर्मो यद् राजा दण्डनीतिमान् ॥७६

नरश्रेष्ठ! तुम्हें यह पता होना चाहिए कि प्राणी दण्डनीति के आधार पर ही टिके हुए हैं। र दण्डनीति से युक्त होकर उसी के अनुसार चले— उसका परम धर्म है।

तस्मात् कौरव्य धर्मेण प्रजाः पालय नीतिमान्।
एवंवृत्तः प्रजा रक्षन् स्वर्गं जेतासि दुर्जयम् ॥७

अतः कुरुनन्दन! तुम दण्डनीति का आश्र धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करो। यदि नीतियुक्त व हार का पालन करते हुए प्रजा की रक्षा करोगे तुम दुर्जय स्वर्ग को जीत लोगे।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि एकोनविंशोऽध्यायः ॥१९॥

विंशोऽध्यायः

राजा को उभयलोक में सुख-प्राप्ति करानेवाले छत्तीस गुणों का वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

केन वृत्तेन वृत्तज्ञ वर्तमानो महीपतिः ।
सुखेनार्थान् सुखोदर्कानिह च प्रेत्य चाप्नुयात् ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—आचार के ज्ञाता पितामह ! कैसा आचरण करने से राजा इहलोक और परलोक में भविष्य में सुख देनेवाले पदार्थों को सरलता से प्राप्त कर सकता है ?

भीष्म उवाच

अयं गुणानां षट्त्रिंशत्षट्त्रिंशद्गुणसंयुतः ।
यान् गुणाँस्तु गुणोपेतः कुर्वन् गुणमवाप्नुयात् ॥२॥

भीष्मजी बोले—राजन् ! जिन गुणों को आचरण में लाकर राजा उत्कर्ष-लाभ करता है, वे गुण छत्तीस हैं। राजा को चाहिए कि वह इन गुणों से युक्त होने का प्रयत्न करे ।

चरेद्धर्मानकटुको मुञ्चेत्स्नेहं न चास्तिकः ।
अनृशंसश्चरेदर्थं चरेत् काममनुद्धतः ॥३॥

[मैं उन गुणों का क्रमशः वर्णन करता हूँ—] (१) राजा स्वधर्मों [कर्तव्यों] का आचरण करे परन्तु जीवन में कटुता न आने दे। (२) आस्तिक रहते हुए दूसरे के साथ प्रेम का व्यवहार न छोड़े। (३) क्रूरता का आश्रय लिये बिना ही अर्थ-संग्रह करे। (४) मर्यादा का उल्लंघन न करते हुए ही विषयों को भोगे ।

प्रियं ब्रूयादकृपणः शूरः स्यादविकत्थनः ।
दाता नापात्रवर्षी स्यात् प्रगल्भः स्यादनिष्ठुरः ॥४॥

(५) दीनता न दिखाते हुए ही प्रिय भाषण करे। (६) शूरवीर बने परन्तु बढ़-चढ़कर बातें न करे। (७) दानशील हो किन्तु अपात्र को दान न दे। (८) साहसी हो परन्तु निष्ठुर न बने ।

सन्दधीत न चानार्यैर्विगृह्णीयान्न बन्धुभिः ।
नाभक्तं कारयेच्चारं कुर्यात् कार्यमपीडया ॥५॥

(९) दुष्टों के साथ मेल न करे। (१०) बन्धु-बान्धवों के साथ लड़ाई-झगड़ा न ठाने। (११) जो राजभक्त न हो ऐसे गुप्तचर से काम न ले। (१२) किसी को पीड़ा पहुँचाये बिना ही अपना काम करे।

अर्थं ब्रूयान्न चासत्सु गुणान् ब्रूयान्न चात्मनः ।
आदद्यान्न च साधुभ्यो नासत्पुरुषमाश्रयेत् ॥६॥

(१३) दुष्टों से अपना अभीष्ट कार्य न कहे। (१४) अपने गुणों का स्वयं ही वर्णन न करे। (१५) श्रेष्ठ पुरुषों से उनका धन न छीने। (१६) नीच पुरुषों का आश्रय न ले ।

नापरीक्ष्य नयेद्दण्डं न च मन्त्रं प्रकाशयेत् ।
विसृजेन्न च लुब्धेभ्यो विश्वसेन्नापकारिषु ॥७॥

(१७) जाँच-पड़ताल किये बिना किसी को दण्ड न दे। (१८) गुप्त मन्त्रणा को प्रकट न करे। (१९) लोभियों को धन न दे। (२०) जिन्होंने कभी अपकार किया हो, उनपर विश्वास न करे ।

अनीर्षुर्गुप्तदारः स्याच्चोक्षः स्यादघृणी नृपः ।
स्त्रियः सेवेत नात्यर्थं मृष्टं भुञ्जीत नाहितम् ॥८॥

(२१) ईर्ष्यारहित होकर अपनी स्त्री की रक्षा करे। (२२) राजा शुद्ध रहे परन्तु किसी से घृणा न करे। (२३) स्त्रियों का अधिक सेवन न करे। (२४) शुद्ध और स्वादिष्ट भोजन करे परन्तु अहितकर भोजन न करे।

अस्तब्धः पूजयेन्मान्यान् गुरून् सेवेदमायया ।
अर्चेद् देवानदम्भेन श्रियमिच्छेदकुत्सिताम् ॥९॥

(२५) उद्दण्डता छोड़कर विनीतभाव से माननीय पुरुषों का सम्मान करे। (२६) निष्कपट भाव से गुरुजनों की सेवा करे। (२७) दम्भहीन होकर विद्वानों का सत्कार करे। (२८) ईमानदारी से धन पाने की इच्छा करे ।

सेवेत प्रणयं हित्वा दक्षः स्यान्न त्वकालवित् ।
सान्त्वयेन्न च मोक्षाय अनुगृह्णन्न चाक्षिपेत् ॥१०॥

(२९) हठ छोड़कर प्रीति का पालन करे। (३०) कार्य-कुशल हो परन्तु अवसर के ज्ञान से शून्य न हो। (३१) केवल पिण्ड छुड़ाने के लिए किसी को सान्त्वना या भरोसा न दे। (३२) किसी पर कृपा करते समय आक्षेप न करे।

प्रहरेन्न त्वविज्ञाय हत्वा शत्रून् न शोचयेत् ।
क्रोधं कुर्यान्न चाकस्मान्मृदुः स्यान्नापकारिष ॥११॥

(३३) बिना जाने किसी पर प्रहार न करे। (३४) शत्रुओं को मारकर शोक न करे। (३५) अकस्मात् किसी पर क्रोध न करे और (३६) कोमल हो, परन्तु अपकार करनेवालों के लिए नहीं।

एवं चरस्व राज्यस्थो यदि श्रेय इहेच्छसि।
अतोऽन्यथा नरपतिर्भयमृच्छत्यनुत्तमम् ॥१२॥

युधिष्ठिर! यदि इस लोक में कल्याण चाहते हो तो राजसिंहासन पर बैठकर ऐसा ही आचरण करो, क्योंकि इसके विपरीत आचरण करनेवाल राजा भारी विपत्ति में पड़ जाता है।

इति सर्वान् गुणानेतान् यथोक्तान् योऽनुवर्तते।
अनुभूयेह भद्राणि प्रेत्य स्वर्गे महीयते ॥१३

जो राजा यथार्थरूप से बताये गये इन स गुणों का अनुवर्तन करता है, वह इस संसार में सु का अनुभव करके मरने के पश्चात् स्वर्गलोक [श्रे मनुष्य-योनि] में प्रतिष्ठित होता है।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि विंशोऽध्यायः ॥२०॥

एकविंशोऽध्यायः

राजा के धर्मपूर्वक प्रजापालनरूपी परम धर्म का प्रतिपादन

युधिष्ठिर उवाच

कथं राजा प्रजा रक्षन्नाधिबन्धेन युज्यते।
धर्मेण नापराध्नोति तन्मे ब्रूहि पितामह ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह! किस प्रकार प्रजापालक नरेश चिन्ता में नहीं पड़ता और धर्म के विषय में अपराधी नहीं होता—यह मुझे बताइए।

भीष्म उवाच

अर्चयित्वा यजेथास्त्वं गृहे गुणवतो द्विजान्।
प्रत्युत्थायोपसंगृह्य चरणावभिवाद्य च ॥२॥

भीष्मजी बोले—जब गुणवान् ब्राह्मण घर पर पधारें, उस समय उन्हें देखते ही खड़े होकर उनका स्वागत करो। उनका चरणस्पर्श कर प्रणाम करो और विधिपूर्वक उनका आदर-सत्कार करो।

धर्मकार्याणि निर्वर्त्य मङ्गलानि प्रयुज्य च।
ब्राह्मणान् वाचयेथास्त्वमर्थसिद्धिजयाशिषः ॥३॥

सर्वप्रथम सन्ध्या-वन्दन आदि धर्म-कृत्यों को पूर्ण करके माङ्गलिक वस्तुओं का दर्शन करने के पश्चात् ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन कराओ और अर्थ-सिद्धि तथा विजय-प्राप्ति के लिए उनका आशीर्वाद ग्रहण करो।

आर्जवेन च सम्पन्नो धृत्या बुद्ध्या च भारत।
यथार्थं प्रतिगृह्णीयात् कामक्रोधौ च वर्जयेत् ॥४॥

भरतनन्दन! राजा को चाहिए कि वह सरल-स्वभाव हो, धैर्य तथा बुद्धि के बल से सत्य को ही ग्रहण करे और काम-क्रोध का परित्याग कर दे।

कामक्रोधौ पुरस्कृत्य योऽर्थं राजानुतिष्ठति।
न स धर्मं न चाप्यर्थं प्रतिगृह्णाति बालिशः ॥५॥

जो राजा काम और क्रोध का आश्रय लेकर ध का उपार्जन करना चाहता है, वह मूर्ख न तो धर्म पाता है और न धन ही उसके हाथ आता है।

मा स्म लुब्धाँश्च मूर्खांश्च कामार्थे च प्रयूयुजः।
अलुब्धान् बुद्धिसम्पन्नान् सर्वकर्मसु योजयेत् ॥६॥

तुम लोभी और मूर्ख मनुष्यों को काम और अ के साधनों में न लगाओ। जो लोभ-शून्य और बु मान् हों, उन्हें ही समस्त कार्यों में नियुक्त कर चाहिए।

मूर्खो ह्यधिकृतोऽर्थेषु कार्याणामविशारदः।
प्रजाः क्लिश्नात्ययोगेन कामक्रोधसमन्वितः ॥७॥

जो कार्यसाधन में कुशल नहीं है तथा जो क्रोध वशीभूत है, ऐसे मूर्ख मनुष्य को यदि धन-संग्रह अधिकारी बना दिया जाए तो वह अनुचित उपा से प्रजा को पीड़ा पहुँचाता है।

दापयित्वा करं धर्म्यं राष्ट्रं नीत्या यथाविधि।
तथैतं कल्पयेद् राजा योगक्षेममतन्द्रितः ॥८॥

प्रजा से धर्मानुकूल [आय का छठा भाग] लेकर, राज्य का नीति के अनुसार विधिपूर्वक पा करते हुए, राजा को आलस्यरहित होकर प्रजा योगक्षेम की व्यवस्था करनी चाहिए।

गोपायितारं दातारं धर्मनित्यमतन्द्रितम्।
अकामद्वेषसंयुक्तमनुरज्यन्ति मानवाः ॥९॥

जो राजा आलस्य छोड़, राग-द्वेष से रहित हो सदा प्रजा की रक्षा करता है, दान देता है और निरन्तर धर्म तथा न्याय में तत्पर रहता है, उसके प्रति प्रजा के सभी लोग अनुरक्त होते हैं।

मा स्माधर्मेण लोभेन लिप्सेथास्त्वं धनागमम्।
धर्मार्थावध्रुवौ तस्य यो न शास्त्रपरो भवेत् ॥१०॥

राजन्! तुम लोभवश अधर्ममार्ग से कभी धन पाने की इच्छा मत करना, क्योंकि जो लोग शास्त्र के अनुसार नहीं चलते, उनके धर्म तथा अर्थ दोनों ही अनिश्चित एवं अस्थिर होते हैं।

अपशास्त्रपरो राजा धर्मार्थान्नाधिगच्छति।
अस्थाने चास्य तद् वित्तं सर्वमेव विनश्यति ॥११॥

शास्त्र से विपरीत चलनेवाला राजा न तो धर्म की सिद्धि कर पाता है और न अर्थ की ही। यदि उसे धन की प्राप्ति हो भी जाए तो वह सारा ही बुरे कामों में नष्ट हो जाता है।

अर्थमूलोऽपि हिंसां च कुरुते स्वयमात्मनः।
करैरशास्त्रदृष्टैर्हि मोहात्सम्पीडयन् प्रजाः ॥१२॥

जो धन का लोभी राजा मोहवश प्रजा से शास्त्र-विरुद्ध अधिक कर लेकर उसे कष्ट पहुँचाता है, वह अपने ही हाथों अपना विनाश करता है।

ऊधश्छिन्द्यात्तु यो धेन्वाः क्षीरार्थी न लभेत्पयः।
एवं राष्ट्रमयोगेन पीडितं न विवर्धते ॥१३॥

जैसे दूध चाहनेवाला मनुष्य यदि गाय की औड़ी काट ले तो इससे दूध नहीं पा सकता, वैसे ही राज्य में रहनेवाली प्रजा का अनुचित उपाय से शोषण किया जाए तो उससे राज्य की उन्नति नहीं होती।

यो हि दोग्ध्रीमुपास्ते च स नित्यं विन्दते पयः।
एवं राष्ट्रमुपायेन भुञ्जानो लभते फलम् ॥१४॥

जो दूध देनेवाली गौ की प्रतिदिन सेवा करता है, वही दूध पाता है; इसी प्रकार उचित उपाय से राष्ट्र की रक्षा करनेवाला राजा ही उससे लाभ उठाता है।

अथ राष्ट्रमुपायेन भुज्यमानं सुरक्षितम्।
जनयत्यतुलां नित्यं कोशवृद्धिं युधिष्ठिर ॥१५॥

युधिष्ठिर! यदि न्याय-सङ्गत उपाय से राष्ट्र को सुरक्षित रखते हुए उस-[प्रजा]-का उपभोग किया [कर के रूप में उससे धन लिया] जाए तो वह सदा राजा के कोश की अनुपम वृद्धि करती है।

दोग्ध्री धान्यं हिरण्यं च मही राज्ञा सुरक्षिता।
नित्यं स्वेभ्यः परेभ्यश्च तृप्ता माता यथा पयः ॥१६॥

जैसे माता तृप्त रहने पर ही बालक को यथेष्ट दूध पिलाती है, वैसे ही राजा से सुरक्षित होने पर ही दुधारू गौ के समान यह पृथिवी राजा के स्वजनों और दूसरे लोगों को सदा अन्न और स्वर्ग देती है।

मालाकारोपमो राजन् भव माऽऽङ्गारिकोपमः।
तथा युक्तश्चिरं राज्यं भोक्तुं शक्ष्यसि पालयन् ॥१७॥

युधिष्ठिर! तुम माली के समान बनो, कोयला बनानेवाले के समान नहीं [माली वृक्ष की जड़ को सींचता है, उसकी रक्षा करता है तब उससे फल और फूल ग्रहण करता है, परन्तु कोयला बनानेवाला वृक्ष को जड़ से काट देता है। तुम भी माली के समान राज्यरूपी उद्यान को सींचकर सुरक्षित रखो और न्यायोचित कर लो, कोयला बनानेवालों की भाँति सारे राज्य को जलाकर भस्म न करो]। ऐसा करके प्रजापालन में तत्पर रहकर तुम दीर्घकाल तक राज्य का उपभोग कर सकोगे।

एवं धर्मेण वृत्तेन प्रजास्त्वं परिपालय।
स्वन्तं पुण्यं यशो नित्यं प्राप्स्यसे कुरुनन्दन ॥१८॥

कुरुनन्दन! इस प्रकार तुम धर्मानुकूल व्यवहार करते हुए प्रजा का पालन करो। ऐसा करने से तुम परिणाम में सुखद पुण्य और चिरस्थायी यश प्राप्त कर लोगे।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि एकविंशोऽध्यायः ॥२१॥

द्वाविंशोऽध्यायः

राजा के लिए सदाचारी पुरोहित की आवश्यकता, ऋत्विजों के लक्षण, यज्ञ और दक्षिणा का महत्त्व तथा तप की श्रेष्ठता

भीष्म उवाच

य एव तु सतो रक्षेदसतश्च निवर्तयेत् ।
स एव राज्ञा कर्तव्यो राजन् राजपुरोहितः ।।१।।

भीष्मजी बोले—राजन् ! राजा को चाहिए कि वह एक ऐसे विद्वान् ब्राह्मण को अपना पुरोहित बनाए जो उसके सब सत्कर्मों की रक्षा करे और उसे असत्कर्मों से दूर रखे ।

धर्मात्मा मन्त्रविद्येषां राज्ञां राजन् पुरोहितः ।
राजा चैवंगुणो येषां कुशलं तेषु सर्वशः ।।२।।

राजन् ! जिन राजाओं का पुरोहित धर्मात्मा तथा परामर्श देने में कुशल होता है और जिनका राजा भी ऐसे ही गुणों से सम्पन्न होता है, उन राजा और प्रजाओं का सब प्रकार से कल्याण होता है ।

ब्रह्मक्षत्रस्य सम्मानात् प्रजाः सुखमवाप्नुयात् ।
विमाननात् तयोरेव प्रजा नश्येयुरेव हि ।।३।।

ब्राह्मण [पुरोहित] और क्षत्रिय [राजा] का सम्मान करने से प्रजा को सुख की प्राप्ति होती है और उनका अनादर करने से प्रजा का विनाश ही होता है ।

युधिष्ठिर उवाच

क्वसमुत्थाः कथं शीला ऋत्विजः स्युः पितामह ।
कथं विधाश्च राजेन्द्र तद् ब्रूहि वदतां वर ।।४।।

युधिष्ठिर ने पूछा—वक्ताओं में श्रेष्ठ पितामह ! हे राजेन्द्र ! ऋत्विजों की उत्पत्ति किस निमित्त से हुई है ? उनके स्वभाव कैसे होने चाहिएँ और वे किस-किस प्रकार के होते हैं ? ये सब बातें मुझे बताइए ।

भीष्म उवाच

प्रतिकर्म पराचार ऋत्विजां स्म विधीयते ।
छन्दः सामादि विज्ञाय द्विजानां श्रुतमेव च ।।५।।

भीष्मजी बोले—राजन् ! जो ब्राह्मण छन्दशास्त्र, 'ऋक्', 'साम' और 'यजुः' नामक तीनों वेद और ऋषि-प्रणीत स्मृति एवं दर्शन-शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर चुके हैं, वे ही ऋत्विज होने योग्य हैं । ऋत्विजों का मुख्य आचार है—राजा के लि 'शान्ति', व 'पौष्टिक' आदि कर्मों का अनुष्ठान ।

ये त्वेकरतयो नित्यं धीराश्च प्रियवादिनः ।□
परस्परस्य सुहृदः समन्तात् समदर्शिनः ।
अनृशंसाः सत्यवाक्या अकुसीदा अर्थर्जवः ।।६।।

जो सदा एकमात्र यजमान के ही हितसाधन तत्पर रहनेवाले, धीर, प्रियवादी, एक-दूसरे के सुहृ और सब ओर समान दृष्टि रखनेवाले हैं, जो क्रूरता रहित, सत्यवादी और सरल हैं, जो ब्याज नह लेते तथा—

अद्रोहोऽनभिमाना ह्रीस्तितिक्षा दमः शमः ।
यस्मिन्नेतानि दृश्यन्ते स पुरोहित उच्यते ।।७।।

जिनमें द्रोह और अभिमान का अभाव है, जिनमें लज्जा, सहनशीलता, इन्द्रियसंयम और मनोनिग्रह आदि सद्गुण देखे जाते हैं, वे ही पुरोहित कहलाते हैं ।

धीमान् सत्यधृतिर्दान्तो भूतानामविहिंसकः ।□
अकामाद्वेषसंयुक्तस्त्रिभिः शुक्लैः समन्वितः ।
ज्ञानतृप्तो ह्रीमान्तथा स ब्रह्मासनमर्हति ।।८।।

जो बुद्धिमान् सत्य को धारण करनेवाला, जितेन्द्रिय, किसी भी प्राणी की हिंसा न करनेवाला और राग-द्वेषादि दोष से दूर रहनेवाला है, जिनके शास्त्रज्ञान, सदाचार तथा कुल—ये तीनों अत्यन्त शुद्ध एवं निर्दोष हैं, जो ज्ञान-विज्ञान से तृप्त तथा लज्जाशील है—वही ब्रह्मा के आसन पर बैठने का अधिकारी है ।

युधिष्ठिर उवाच

श्रद्धावता च यष्टव्यमित्येषा वैदिकी श्रुतिः ।
मिथ्योपेतस्य यज्ञस्य किमु श्रद्धा करिष्यति ।।९।।

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! 'प्रत्येक श्रद्धालु को यज्ञ करना चाहिए'—ऐसी वेद की आज्ञा है । यदि दरिद्र श्रद्धा के बल पर यज्ञ में लग जाए और

उचित दक्षिणा न दे सका तो वह यज्ञ मिथ्याभाव से युक्त होगा, ऐसी स्थिति में उस न्यूनता की पूर्ति श्रद्धा से कैसे होगी ?

भीष्म उवाच

न वेदानां परिभवान्न शाठ्येन न मायया ।
कश्चिन्महदवाप्नोति मा ते भूद् बुद्धिरीदृशी ॥१०॥

भीष्मजी ने कहा—युधिष्ठिर ! वेदों की निन्दा करने से, शठतापूर्ण व्यवहार से और छल-कपट से कोई भी महान् पद नहीं पा सकता, अतः तुम्हारी बुद्धि ऐसी नहीं होनी चाहिए ।

यज्ञाङ्गं दक्षिणा तात वेदानां परिबृंहणम् ।
न यज्ञा दक्षिणाहीनास्तारयन्ति कथञ्चन ॥११॥

तात ! दक्षिणा यज्ञों का अङ्ग है । वही वेदोक्त यज्ञों का विस्तार एवं उनकी न्यूनता की पूर्ति करनेवाली है । दक्षिणाहीन यज्ञ किसी प्रकार भी यजमान का उद्धार नहीं कर सकते ।

शक्तिस्तु पूर्णपात्रेण सम्मिता न समाभवत् ।
अवश्यं तात यष्टव्यं त्रिभिवर्णैर्यथाविधि ॥१२॥

धनी और दरिद्र के लिए समान दक्षिणा का विधान नहीं है । दरिद्र की शक्ति को पूर्णपात्र[1] से नापा गया है [जहाँ धनी के लिए बहुत देने का विधान है, वहाँ दरिद्र के लिए एक पूर्णपात्र ही दक्षिणा में देने का विधान कर दिया है], अतः तात ! ब्राह्मण आदि तीनों वर्णों को अवश्य ही विधिपूर्वक यज्ञों का अनुष्ठान करना चाहिए ।

तपो यज्ञादपि श्रेष्ठमित्येषा परमा श्रुतिः ।
तत्ते तपः प्रवक्ष्यामि विद्वंस्तदपि मे शृणु ॥१३॥

यज्ञ की अपेक्षा भी तप श्रेष्ठ है, यह वेद का परमोत्तम वचन है । विद्वान् युधिष्ठिर ! मैं तुम्हें तप का स्वरूप बताता हूँ, तुम मुझसे उनके विषय में सुनो !

अहिंसा सत्यवचनमानृशंस्यं दमो घृणा ।□
एतत् तपो विदुर्धीरा न शरीरस्य शोषणम् ॥१४॥

किसी भी प्राणी के प्रति वैर की भावना न रखना, सत्य बोलना, क्रूरता का न होना, मनोनिग्रह और सबके प्रति दयालु होना—इन्हीं को धीर पुरुषों ने तप माना है । शरीर को सुखाने का नाप तप नहीं है ।

अप्रामाण्यं च वेदानां शास्त्राणां चाभिलङ्घनम् ।
अव्यवस्था च सर्वत्र तद् वै नाशनमात्मनः ॥१५॥

वेदों को अप्रामाणिक बताना, शास्त्रों की आज्ञा का उल्लङ्घन करना और सर्वत्र अव्यवस्था उत्पन्न करना—ये सब दुर्गुण अपना ही नाश करनेवाले हैं ।

सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम् ।
एतावाञ्ज्ञानविषयः किं प्रलापः करिष्यति ॥१६॥

सब प्रकार की कुटिलता मृत्यु का स्थान है और सरलता परब्रह्म की प्राप्ति का स्थान है । इतना ही ज्ञान का विषय है, अन्य सब प्रलापमात्र है, वह किस काम आएगा ?

इति महाभारते शान्तिपर्वणि द्वाविंशोऽध्यायः ॥२२॥

त्रयोविंशोऽध्यायः

राजा के कर्तव्यों का वर्णन, युधिष्ठिर की राज्य से विरक्ति, भीष्मजी द्वारा पुनः राज्य की महत्ता का प्रतिपादन

युधिष्ठिर उवाच

यया वृत्या महीपालो विवर्धयति मानवान् ।
पुण्याँश्च लोकान् जयति तन्मे ब्रूहि पितामह ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! राजा जिस वृत्ति से रहने पर अपनी प्रजा की उन्नति करता है और स्वयं भी विशुद्ध लोकों पर विजय प्राप्त कर लेता है, वह मुझे बताइए—

---

[1] पूर्णपात्र का परिमाण निम्न है—आठ मुट्ठी अन्न को 'किञ्चित्' कहते हैं । आठ किञ्चित् का एक 'पुष्कल' होता है और चार पुष्कल का एक 'पूर्णपात्र' होता है । इस प्रकार दो सौ छप्पन [२५६] मुट्ठी का एक पूर्णपात्र होता है ।

भीष्म उवाच

दानशीलो भवेद् राजा यज्ञशीलश्च भारत ।
उपवासतपःशीलः प्रजानां पालने रतः ॥२॥

भीष्मजी ने कहा—भरतनन्दन ! राजा को सदा ही दानशील, यज्ञशील, उपवास तथा तपस्या में तत्पर और प्रजापालन में संलग्न रहना चाहिए ।

सर्वाश्चैव प्रजा नित्यं राजा धर्मेण पालयन् ।
उत्थानेन प्रदानेन पूजयेच्चापि धार्मिकान् ॥३॥

समस्त प्रजाओं का सर्वदा धर्मपूर्वक पालन करनेवाले राजा को घर पर आये हुए धर्मात्मा पुरुषों का खड़े होकर स्वागत करना चाहिए तथा उत्तम वस्तुएँ प्रदान कर उनका मान-सन्मान करना चाहिए ।

राज्ञा हि पूजितो धर्मस्ततः सर्वत्र पूज्यते ।
यद् यदाचरते राजा तत्प्रजानां स्म रोचते ॥४॥

राजा द्वारा जिस धर्म का आदर किया जाता है, उसी का निःसन्देह सर्वत्र आदर होने लगता है, क्योंकि राजा जो-जो कार्य करने लगता है, प्रजावर्ग को वही करना अच्छा लगता है ।

नित्यमुद्यतदण्डश्च भवेन्मृत्युरिवारिषु ।
निहन्यात् सर्वतो दस्यून् न कामात् कस्यचित् क्षमेत् ॥५

राजा को चाहिए कि वह शत्रुओं को दण्ड देने के लिए सदा यमराज की भाँति उद्यत रहे । वह डाकुओं और लुटेरों को सब ओर से पकड़कर मार डाले, स्वार्थवश किसी दुष्ट के अपराध को क्षमा न करे ।

यं हि धर्मं चरन्तीह प्रजा राज्ञा सुरक्षिताः ।
चतुर्थं तस्य धर्मस्य राजा भारत विन्दति ॥६॥

हे भरतकुमार ! राजा द्वारा सुरक्षित हुई प्रजा राज्य में जिस धर्म का आचरण करती है, उसका चौथा भाग राजा को भी मिल जाता है ।

यद् राष्ट्रेऽकुशलं किञ्चिद् राज्ञोऽरक्षयतः प्रजाः ।
चतुर्थं तस्य पापस्य राजा भारत विन्दति ॥७॥

हे भारत ! यदि राजा प्रजा की रक्षा नहीं करता तो उसके राज्य में प्रजा जो कुछ भी अशुभ कार्य करती है, उस पाप-कर्म का एक चौथाई भाग राजा को भोगना पड़ता है ।

अप्याहुः सर्वमेवेति भूयोऽर्धमिति निश्चयः ।
कर्मणः पृथिवीपाल नृशंसोऽनृतवागपि ॥८॥

भूपाल ! कुछ लोगों का मत है कि उपर्युक्त अवस्था में राजा को पूरे पाप का भागी होना पड़ता है और कुछ लोगों का दृढ़मत है कि उसे आधा पा लगता है । ऐसा राजा क्रूर और मिथ्यावादी समझा जाता है ।

तादृशात्किल्बिषाद् राजा शृणु येन प्रमुच्यते ।
प्रत्याहर्तुमशक्यं स्याद् धनं चोरैर्हृतं यदि ।
तत्स्वकोशात्प्रदेयं स्यादशक्तेनोपजीवता ॥९॥

ऐसे पाप से राजा को किस प्रकार छुटकार मिल सकता है, वह बताता हूँ, सुनो ! चोरों य लुटेरों ने यदि किसी के धन का अपहरण कर लिया हो और राजा पता लगाकर उस धन को लौटा सके तो उस असमर्थ नरेश को चाहिए कि वह अप आश्रय में रहनेवाले उस व्यक्ति को उतना ही ध राजकीय कोष से प्रदान कर दे ।

न हि कामात्मना राज्ञा सततं कामबुद्धिना ।
नृशंसेनातिलुब्धेन शक्यं पालयितुं प्रजाः ॥१०॥

ज़ो राजा कामासक्त हो सदा काम का ह चिन्तन करनेवाला, क्रूर तथा अत्यन्त लोभी होता वह प्रजा का पालन नहीं कर सकता ।

युधिष्ठिर उवाच

नाहं राज्यसुखान्वेषी राज्यमिच्छाम्यपि क्षणम् ।
धर्मार्थं रोचये राज्यं धर्मश्चात्र न विद्यते ॥१

युधिष्ठिर ने कहा—पितामह ! मैं राज्य से सु पाने की आशा रखकर एक क्षण के लिए भी रा करने की इच्छा नहीं करता । मैं तो धर्म के लिए राज्य की कामना करता था, परन्तु इसमें धर्म है नहीं ।

तदलं मम राज्येन यत्र धर्मो न विद्यते ।
वनमेव गमिष्यामि तस्माद् धर्मचिकीर्षया ॥१२

जिसमें धर्म ही नहीं उस राज्य से मुझे क्या है ! अतः अब मैं धर्म करने की इच्छा से वन च जाऊँगा ।

तत्र मेध्येष्वरण्येषु न्यस्तदण्डो जितेन्द्रियः ।
धर्ममाराधयिष्यामि मुनिर्मूलफलाशनः ॥१३

वहाँ वन के पावन प्रदेशों में हिंसा को छो

दूँगा और जितेन्द्रिय हो मुनिवृत्ति से रहकर फल-मूल खाते हुए धर्म की आराधना करूँगा।

भीष्म उवाच

वेदाहं तव या बुद्धिरानृशंस्यगुणैव सा।
न च शुद्धानृशंस्येन शक्यं राज्यमुपासितुम्॥१४॥

भीष्मजी बोले—हे राजन्! मैं जानता हूँ कि तुम्हारी बुद्धि में दया तथा कोमलतारूपी गुण ही भरा है, परन्तु केवल दया और कोमलता से राज्य का सञ्चालन नहीं किया जा सकता।

अपि तु त्वां मृदुप्रज्ञमत्यार्यमतिधार्मिकम्।
क्लीबं धर्मघृणायुक्तं न लोको बहु मन्यते॥१५॥

तुम्हारी बुद्धि अत्यन्त कोमल है। तुम आर्य—सज्जन और बड़े धर्मात्मा हो। धर्म के प्रति तुम्हारा महान् आग्रह है। यह सब होने पर भी संसार के लोग तुम्हें कायर समझकर अधिक मान-सम्मान नहीं करेंगे।

वृत्तं तु स्वमपेक्षस्व पितृपैतामहोचितम्।
नैव राज्यं तथा वृत्तं यथा त्वं स्थातुमिच्छसि॥१६॥

तुम्हारे बाप-दादाओं ने जिस आचार-व्यवहार को अपनाया था, तुम भी उसे ही प्राप्त करने की इच्छा रखो। तुम जिस प्रकार रहना चाहते हो, वह राजाओं का आचरण नहीं है।

शौर्यं बलं च सत्यं च पिता तव सदाब्रवीत्।
माहात्म्यं च महौदार्यं भवतः कुन्त्ययाचत॥१७॥

तुम्हारे पिता पाण्डु तुम्हारे लिए सदा कहा करते थे कि मेरे पुत्र में शूरता, बल और सत्य की वृद्धि हो। तुम्हारी माता कुन्ती भी यही इच्छा किया करती थी कि तुम्हारी महत्ता और उदारता बढ़े।

दानमध्ययनं यज्ञं प्रजानां परिपालनम्।
धर्ममेतमधर्मं वा जन्मनैवाभ्यजायथाः॥१८॥

दान देना, स्वाध्याय करना, यज्ञानुष्ठान और प्रजा का पालन—ये धर्मरूप हों या अधर्मरूप, तुम्हारा जन्म इन्हीं कर्मों को करने के लिए हुआ है।

नैकान्तविनिपातेन विचचारेह कश्चन।
धर्मो गृही वा राजा वा ब्रह्मचारी यथा पुनः॥१९॥

कोई धर्मनिष्ठ हो, गृहस्थ हो, राजा हो या ब्रह्मचारी हो—पूर्णरूपेण धर्म का आचरण नहीं कर सकता [कुछ-न-कुछ पाप हो ही जाता है]।

अल्पं हि सारभूयिष्ठं यत् कर्मोदारमेव तत्।
कृतमेवाकृताच्छ्रेयो न पापीयोऽस्त्यकर्मणः॥२०॥

कोई कार्य देखने में छोटा होने पर भी यदि उसमें सार अधिक हो तो वह महान् ही है। न करने की अपेक्षा कुछ करना ही उत्तम है, क्योंकि कर्तव्य-कर्म न करनेवाले से बढ़कर दूसरा कोई पापी नहीं है।

दानेनान्यं बलेनान्यमन्यं सूनृतया गिरा।
सर्वतः प्रतिगृह्णीयाद् राज्यं प्राप्येह धार्मिकः॥२१॥

धर्मात्मा राजा राज्य पाने के पश्चात् किसी को दान से, किसी को बल से और किसी को मधुर वाणी द्वारा सब ओर से अपने वश में कर ले।

युधिष्ठिर उवाच

किं तात परमं स्वर्ग्यं का ततः प्रीतिरुत्तमा।
किं ततः परमैश्वर्यं ब्रूहि मे यदि पश्यसि॥२२॥

युधिष्ठिर ने पूछा—हे तात! स्वर्ग-प्राप्ति का उत्तम साधन क्या है? उससे कौन-सी उत्तम प्रसन्नता प्राप्त होती है और उसकी अपेक्षा महान् ऐश्वर्य क्या है? यदि आप इन बातों को जानते हैं तो मुझे बताइए।

भीष्म उवाच

यस्मिन् भयार्दितः सम्यक् क्षेमं विन्दत्यपि क्षणम्।
स स्वर्गजित्तमोऽस्माकं सत्यमेतद् ब्रवीमि ते॥२३

भीष्मजी बोले—राजन्! भयभीत मनुष्य जिसके पास पहुँचकर एक क्षण के लिए भी भली-भाँति शान्ति पा लेता है, वही हम लोगों में स्वर्ग-प्राप्ति का सबसे बड़ा अधिकारी है, यह मैं तुमसे सच्ची बात कहता हूँ।

त्वमेव प्रीतिमांस्तस्मात् कुरूणां कुरुसत्तम।
भव राजा जय स्वर्गं सतो रक्षासतो जहि॥२४॥

अतः कुरुश्रेष्ठ! तुम्हीं प्रसन्नतापूर्वक कुरुदेश की प्रजा के स्वामी बनो। सत्पुरुषों की रक्षा और दुष्टों का संहार करो। इस प्रकार अपने कर्तव्य का पालन करके स्वर्गलोक को जीत लो।

अनु त्वां तात जीवन्तु सुहृदः साधुभिः सह।
पर्जन्यमिव भूतानि स्वादुद्रुममिव द्विजाः॥२५॥

तात ! जैसे सब प्राणी मेघ के और पक्षी मीठे फलवाले वृक्ष के सहारे जीवन-निर्वाह करते हैं, वैसे ही साधु पुरुषोंसहित सारे सुहृद्गण तुम्हारे आश्रय में रहकर अपना जीवन-यापन करें ।

धृष्टं शूरं प्रहर्तारमनृशंसं जितेन्द्रियम् ।
वत्सलं संविभक्तारमुपजीवन्ति तं नराः ॥२६॥

जो राजा निर्भय, शूरवीर, प्रहार करने में कुशल, दयालु, जितेन्द्रिय, प्रजावत्सल और दानी होता है, उसी का आश्रय लेकर मनुष्य जीवन-निर्वाह करते हैं ।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि त्रयोविंशोऽध्यायः ॥२३॥

चतुर्विंशोऽध्यायः

राजा के लिए मित्र-अमित्र की पहचान, उनके साथ नीतिपूर्ण व्यवहार का तथा मन्त्री और सभासद् आदि के लक्षणों का निर्देश

युधिष्ठिर उवाच

यदप्यल्पतरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम् ।
पुरुषेणासहायेन किमु राज्ञा पितामह ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! छोटे-से-छोटा कार्य भी बिना किसी की सहायता के अकेले मनुष्य के द्वारा कया जाना कठिन हो जाता है, फिर राजा दूसरे की सहायता के बिना महान् राज्य का सञ्चालन कैसे कर सकता है ?

किंशीलः किंसमाचारो राज्ञोऽथ सचिवो भवेत् ।
कीदृशे विश्वसेद् राजा कीदृशे न च विश्वसेत् ॥२॥

अतः राजा की सहायता के लिए जो सचिव [मन्त्री] हो, उसका स्वभाव और आचरण कैसा होना चाहिए ? राजा कैसे मन्त्री पर विश्वास करे और कैसे पर न करे ?

भीष्म उवाच

सत्यं प्रशास्तुं राज्यं न शक्यमेकेन भारत ।
असहायवता तात नैवार्थाः केचिदप्युत ॥३॥

भीष्मजी बोले—तात ! भरतनन्दन ! यह सत्य है कि कोई भी सहायकों के बिना अकेले राज्य नहीं चला सकता । राज्य ही क्या, सहायकों के बिना किसी भी प्रयोजन की सिद्धि नहीं हो सकती ।

चतुर्विधानि मित्राणि राज्ञां राजन् भवन्त्युत ।
सहार्थो भजमानश्च सहजः कृत्रिमस्तथा ॥४॥

राजन् ! राजा के सहायक अथवा मित्र चा प्रकार के होते हैं—(१) सहार्थ, (२) भजमा (३) सहज और (४) कृत्रिम ।[1]

चतुर्णां मध्यमौ श्रेष्ठौ नित्यं शंक्यौ तथापरौ ।
सर्वे नित्यं शङ्कितव्याः प्रत्यक्षं कार्यमात्मनः ॥५॥

उपर्युक्त चार प्रकार के मित्रों में भजमान औ सहज—ये मध्यवाले दो मित्र श्रेष्ठ समझे जाते किन्तु शेष दो की ओर से सदा सशंक रहना चाहिए वास्तव में तो अपने कार्य को दृष्टि में रखकर स मित्रों से सदा सावधान रहना चाहिए ।

न हि राज्ञा प्रमादो वै कर्तव्यो मित्ररक्षणे ।
प्रमादिनं हि राजानं लोकाः परिभवन्त्युत ॥६॥

राजा को अपने मित्रों की रक्षा में कभी असा धानी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि असावधान रा का सभी लोग तिरस्कार करते हैं ।

असाधुः साधुतामेति साधुर्भवति दारुणः ।
अरिश्च मित्रं भवति मित्रं चापि प्रदुष्यति ॥७
अनित्यचित्तः पुरुषस्तस्मिन् को जातु विश्वसेत् ।
तस्मात्प्रधानं यत् कार्यं प्रत्यक्षं तत्समाचरेत् ।

समय पाकर दुष्ट मनुष्य श्रेष्ठ और श्रेष्ठ म दुष्ट हो जाया करता है । शत्रु भी मित्र बन जात

---

[1] 'सहार्थ' मित्र वे होते हैं जो किसी शर्त पर एक-दूसरे की सहायता के लिए मित्रता करते हैं । 'भजमान' मित्र वे होते हैं जिसके साथ वंश-परम्परागत मित्रता हो । 'सहज' मित्र वे कहलाते हैं जिनमें जन्म से ही साथ रहने अथवा घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण मित्रता हो है । 'कृत्रिम' मित्र वे होते हैं जिन्हें धनादि देकर बनाया जाता है ।

और मित्र भी बिगड़ जाता है, क्योंकि मनुष्य का चित्त सदैव एक-सा नहीं रहता, अतः उसपर सदा कौन विश्वास करेगा ? इसलिए जो प्रधान कार्य हो उसे अपनी आँखों के सामने पूरा करा देना चाहिए।

एकान्तेन हि विश्वासः कृत्स्नो धर्मनाशकः।
अविश्वासश्च सर्वत्र मृत्युना च विशिष्यते ॥९॥

किसी पर भी किया हुआ अत्यन्त विश्वास धर्म तथा अर्थ दोनों का नाशक हो जाता है और सर्वत्र अविश्वास करना भी मृत्यु से बढ़कर है।

अकालमृत्युर्विश्वासो विश्वसन् हि विपद्यते।
यस्मिन् करोति विश्वासमिच्छतस्तस्य जीवति ॥१०॥

दूसरों पर किया हुआ पूर्ण विश्वास अकाल मृत्यु के समान है, क्योंकि अधिक विश्वास करनेवाला मनुष्य भारी विपत्ति में पड़ जाता है। वह जिसपर विश्वास करता है, उसी की इच्छा पर उसका जीवन निर्भर होता है।

तस्माद् विश्वसितव्यं च शङ्कितव्यं च केषुचित्।
एषा नीतिगतिस्तात लक्ष्या चैव सनातनी ॥११

अतः राजा को कुछ चुने हुए व्यक्तियों पर विश्वास तो करना चाहिए, परन्तु उनकी ओर से सतर्क भी रहना चाहिए। तात! यह प्राचीन नीति की गति है, इसे सदा दृष्टि में रखना चाहिए।

यस्तु वृद्ध्या न तृप्येत क्षये दीनतरो भवेत्।
एतदुत्तममित्रस्य निमित्तमिति चक्षते ॥१२॥

जो राजा की उन्नति से कभी तृप्त न हो—उसकी अधिकाधिक उन्नति ही चाहता रहे और अवनति होने पर अत्यन्त दुःखी हो जाए, यही उत्तम मित्र की पहचान बताई गई है।

यन्मन्येत ममाभावादस्याभावो भवेदिति।
तस्मिन् कुर्वीत विश्वासं यथा पितरि वै तथा ॥१३॥

जिसके विषय में ऐसी मान्यता हो कि मेरे न रहने [मर जाने] पर यह भी नहीं रहेगा, उसपर पिता के समान विश्वास करना चाहिए।

रूपवर्णस्वरोपेतस्तितिक्षुरनसूयकः।
कुलीनः शीलसम्पन्नः स ते स्यात्प्रत्यनन्तरः ॥१४॥

जिसका रंग-रूप सुन्दर और स्वर मधुर हो, जो क्षमाशील हो, निन्दक न हो तथा कुलीन एवं शीलसम्पन्न हो—ऐसा व्यक्ति तुम्हारा प्रधान सचिव होना चाहिए।

कुलीनं शिक्षितं प्राज्ञं ज्ञानविज्ञानपारगम्।
सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञं सहिष्णुं देशजं तथा ॥१५॥
कृतज्ञं बलवन्तं च क्षान्तं दान्तं जितेन्द्रियम्।
अलुब्धं लब्धसन्तुष्टं स्वामिमित्रबुभूषकम् ॥१६॥
सचिवं देशकालज्ञं सत्त्वसंग्रहणे रतम्।
सततं युक्तमनसं हितैषिणमतन्द्रितम् ॥१७॥

राजा उसी को मन्त्री बनाए जो कुलीन, शिक्षित, विद्वान्, ज्ञान-विज्ञान में पारङ्गत, सब शास्त्रों के रहस्य को जाननेवाला, सहनशील, अपने देश का निवासी, कृतज्ञ, बलवान्, क्षमाशील, मन का दमन करनेवाला, जितेन्द्रिय, निर्लोभ, जो मिल जाए उसी में सन्तुष्ट रहनेवाला, स्वामी तथा उसके मित्र की उन्नति चाहनेवाला, देशकाल का ज्ञाता, आवश्यक वस्तुओं के संग्रह करने में तत्पर, सदा मन को वश में रखनेवाला, स्वामी का हितैषी और आलस्यरहित हो।

सचिवं यः प्रकुरुते न चैनमवमन्यते।
तस्य विस्तीर्यते राज्यं ज्योत्स्ना ग्रहपतेरिव ॥१८॥

जो राजा ऐसे योग्य व्यक्ति को सचिव [मन्त्री] बनाता है और उसका कभी अनादर नहीं करता, उसका राज्य चन्द्रमा की चन्द्रिका की भाँति चारों ओर फैल जाता है।

एतैरेव गुणैर्युक्तो राजा शास्त्रविशारदः।
एष्टव्यो धर्मपरमः प्रजापालनतत्परः ॥१९॥

राजा को भी ऐसे ही गुणों से युक्त होना चाहिए। साथ ही उसमें शास्त्रज्ञान, धर्मपरायणता और प्रजा-पालन की लगन भी होनी चाहिए; ऐसा ही राजा प्रजा के लिए वाञ्छनीय होता है।

धीरो मर्षी शुचिस्तीक्ष्णः काले पुरुषकारवित्।
शुश्रूषुः श्रुतवान् श्रोता ऊहापोहविशारदः ॥२०॥

राजा धीर, क्षमाशील, पवित्र, समय-समय पर तीक्ष्ण, पुरुषार्थ को जाननेवाला, सेवा करने के लिए उत्सुक, ज्ञान-श्रवणपरायण और तर्क-वितर्क में कुशल हो।

मेधावी धारणयुक्तो यथान्यायोपपादकः ।
दान्तः सदा प्रियभाषी क्षमावांश्च विपर्यये ॥२१॥

वह मेधावी, धारणशक्ति-सम्पन्न, यथोचित कार्य करनेवाला, इन्द्रिय-संयमी, प्रियवचन बोलनेवाला और शत्रु को भी क्षमा प्रदान करनेवाला हो ।

आलस्यं चैव निद्रा च व्यसनान्यतिहास्यता ।
यस्यैतानि न विद्यन्ते तस्यैव सुचिरं मही ॥२२॥

जिस राजा में आलस्य, निद्रा, दुर्व्यसन और अत्यन्त हास्यप्रियता—ये दुर्गण नहीं हैं, उसी के अधिकार में यह पृथिवी दीर्घकाल तक रहती है ।

वृद्धसेवी महोत्साहो वर्णानां चैव रक्षिता ।
धर्मचर्याः सदा यस्य तस्येयं सुचिरं मही ॥२३॥

जो वृद्धों की सेवा करनेवाला, महान् उत्साही, चारों वर्णों का रक्षक और सदा धर्माचरण में तत्पर रहता है, उसी के अधिकार में यह पृथिवी चिरकाल तक रहती है ।

युधिष्ठिर उवाच

सभासदः सहायाश्च सुहृदश्च विशाम्पते ।
परिच्छदास्तथामात्याः कीदृशाः स्युः पितामह ॥२४॥

युधिष्ठिर ने पूछा—प्रजापालक पितामह ! राजा के सभासद्, सहायक, सुहृद्, परिच्छद [सेनापति आदि] और अमात्य [मन्त्री] कैसे होने चाहिएँ ।

भीष्म उवाच

ह्रीनिषेवास्तथा दान्ताः सत्यार्जवसमन्विताः ।
शक्ताः कथयितुं सम्यक् ते तव स्युः सभासदः ॥२५॥

भीष्मजी बोले—तात ! जो व्यक्ति लज्जाशील, जितेन्द्रिय, सत्यवादी, सरल और किसी विषय पर अच्छी प्रकार प्रवचन करने में समर्थ हों, ऐसे लोग तुम्हारे सभासद् होने चाहिएं ।

अमात्याँश्चातिशूराँश्च ब्राह्मणांश्च परिश्रुतान् ।
एतान् सहायाँल्लिप्सेथाः सर्वास्वापत्सु भारत ॥२६॥

भरतनन्दन ! कुन्तीकुमार ! मन्त्रियों को, अत्यन्त शूरवीर पुरुषों को, विद्वान् ब्राह्मणों को, पूर्णतया सन्तुष्ट रहनेवालों को और सभी कार्यों के लिए उत्साह रखनेवालों को—इन सब लोगों को तुम सभी आपत्तियों में सहायक बनाने की इच्छा करना ।

कुलीनः पूजितो नित्यं न हि शक्तिं निगूहति ।
प्रसन्नमप्रसन्नं वा पीडितं हतमेव वा ।
आवर्तयति भूयिष्ठं तदेव ह्यनुपालितम् ॥२७॥

जो कुलीन हो, जिसका सदा सन्मान किया जाए, जो अपनी शक्ति को छिपाये नहीं, तथा राजा प्रसन हो या अप्रसन्न, पीड़ित हो या हताहत हो—प्रत्ये अवस्था में जो सदा उसका अनुसरण करता हो, वह सुहृद् होने योग्य है ।

कुलीना देशजाः प्राज्ञा रूपवन्तो बहुश्रुताः ।
प्रगल्भाश्चानुरक्ताश्च ते तव स्युः परिच्छदाः ॥२८

जो कुलीन हों, अपने ही देश में उत्पन्न हुए हो बुद्धिमान्, रूपवान्, बहुश्रुत, निर्भय और अनुरक हों, वे ही तुम्हारे परिच्छद [सेनापति आदि] हो चाहिएँ ।

दौष्कुलेयाश्च लुब्धाश्च नृशंसा निरपत्रपाः ।
ते त्वां तात निषेवेयुर्यावदार्द्रकपाणयः ॥२९॥

हे तात ! जो निन्दित कुल में उत्पन्न, लोभ क्रूर और निर्लज्ज हैं, वे तभी तक तुम्हारी सेव करेंगे जबतक उनकी पाँचों अंगुलियाँ घी में रहेंगी

कुलीनान् शीलसम्पन्नानिङ्गितज्ञाननिष्ठुरान् ।
देशकालविधानज्ञान् भर्तृकार्यहितैषिणः ।
नित्यमर्थेषु सर्वेषु राजा कुर्वीत मन्त्रिणः ॥३

अच्छे कुल में उत्पन्न, शीलसम्पन्न, संकेतों समझनेवाले, दयालु, देशकाल के विधान को स झनेवाले और स्वामी के अभीष्टकार्य की सिद्धि ए हित चाहनेवाले मनुष्यों को राजा सदा सभी का के लिए अपना मन्त्री बनाए ।

नैकमिच्छेद् गणं हित्वा स्याच्चेदन्यतरग्रहः ।
यस्त्वेको बहुभिः श्रेयान् कामं तेन गणं त्यजेत् ॥३

व्यक्ति और समूह में से चयन करना हो समूह को छोड़कर एक व्यक्ति को ग्रहण करने इच्छा न करे, परन्तु यदि एक व्यक्ति बहुत मनु की अपेक्षा गुणों में श्रेष्ठ हो और इन दोनों में से को चुनना पड़े तो ऐसी स्थिति में कल्याण चाह वाले मनुष्य को एक के लिए समूह को छोड़ चाहिए ।

अमानी सत्यवान् क्षान्तो जितात्मा मानसंयुतः ।
स ते मन्त्रसहायः स्यात् सर्वावस्थापरीक्षितः ॥३

जो निरभिमानी, सत्यवादी, क्षमाशील, जितात्मा और सम्मानित हो तथा जिसकी सभी अवस्थाओं में परीक्षा कर ली गई हो, ऐसा पुरुष ही तुम्हारी गुप्त मन्त्रणा में सहायक होना चाहिए।

कुलीनः कुलसम्पन्नस्तितिक्षुर्दक्ष आत्मवान् । ☐
शूरः कृतज्ञः सत्यश्च श्रेयसः पार्थ लक्षणम् ।।३३।।

कुन्तीकुमार ! उत्तम कुल में जन्म होना, सदा श्रेष्ठ कुल के सम्पर्क में रहना, सहनशीलता, कार्य-दक्षता, मनस्विता, शूरवीरता, कृतज्ञता और सत्य-भाषण—ये ही श्रेष्ठ पुरुष के लक्षण हैं।

अलुब्धान्शिक्षितान्दान्तान्धर्मेषु परिनिष्ठितान् ।
स्थापयेत् सर्वकार्येषु राजा धर्मार्थरक्षिणः ।।३४।।

जो निर्लोभी, शिक्षित, जितेन्द्रिय, धर्मनिष्ठ तथा धर्म और अर्थ की रक्षा करनेवाले हों, उन्हीं को राजा अपने समस्त कार्यों में लगाए।

येषां वैनयिकी बुद्धिः प्रकृतिश्चैव शोभना ।
तेजो धैर्यं क्षमा शौचमनुरागः स्थितिर्धृतिः ।।३५।।
परीक्ष्य च गुणान्नित्यं प्रौढभावान्धुरंधरान् ।
पञ्चोपधाव्यतीतांश्च कुर्याद् राजार्थकारिणः ।।३६।।

जिनमें विनययुक्त बुद्धि, सुन्दर स्वभाव, तेज, वीरता, क्षमा, पवित्रता, प्रेम, धैर्य और स्थिरता हो, उनके इन गुणों की परीक्षा करके यदि वे राजकीय कार्य-भार को सँभालने में प्रौढ़ और निष्कपट सिद्ध हों तो राजा उनमें से पांच व्यक्तियों को चुनकर अर्थमन्त्री बनाए।

मन्त्रिण्यननुरक्ते तु विश्वासो नोपपद्यते ।
तस्मादननुरक्ताय नैव मन्त्रं प्रकाशयेत् ।।३७।।

जिस मन्त्री का राजा के प्रति प्रेम न हो, उसका विश्वास करना ठीक नहीं है, अतः अनुरागरहित मन्त्री के समक्ष अपने गुप्त विचार को प्रकट न करे।

व्यथयेद्धि स राजानं मन्त्रिभिः सहितोऽनृजुः ।
मारुतोपहितच्छिद्रैः प्रविश्याग्निरिव द्रुमम् ।।३८।।

वह कपटी मन्त्री यदि गुप्त विचारों को जान ले तो अन्य मन्त्रियों के साथ मिलकर राजा को उसी प्रकार पीड़ा पहुँचाता है जैसे अग्नि हवा से भरे हुए छिद्रों में घुसकर सारे वृक्ष को भस्म कर डालती है।

अनृजुस्त्वनुरक्तोऽपि सम्पन्नश्चेतरैर्गुणैः ।
राज्ञः प्रज्ञानयुक्तोऽपि न मन्त्रं श्रोतुमर्हति ।।३९।।

जो अनुरक्त हो, अन्यान्य गुणों से सम्पन्न हो और बुद्धिमान् हो, वह भी यदि सरल स्वभाव न हो तो राजा के गुप्त परामर्श को सुनने का अधिकारी नहीं है।

योऽमित्रैः सह सम्बद्धो न पौरान् बहु मन्यते ।
असुहृत् तादृशो ज्ञेयो न मन्त्रं श्रोतुमर्हति ।।४०।।

जिसका शत्रुओं के साथ सम्बन्ध हो और अपने राज्य के नागरिकों के प्रति जिसकी उदारबुद्धि न हो, ऐसा स्नेहहीन मनुष्य भी गुप्त मन्त्रणा को सुनने का अधिकारी नहीं है।

अविद्वानशुचिः स्तब्धः शत्रुसेवी विकत्थनः ।
असुहृत् क्रोधनो लुब्धो न मन्त्रं श्रोतुमर्हति ।।४१।।

जो मूर्ख, अपवित्र, निष्ठुर, शत्रु के साथ मेल-जोल रखनेवाला, क्रोधी तथा लोभी है और मित्र नहीं है, उसे गुप्त मन्त्रणा सुनने का अधिकार नहीं है।

कृतप्रज्ञश्च मेधावी बुधो जानपदः शुचिः ।
सर्वकर्मसु यः शुद्धः स मन्त्रं श्रोतुमर्हति ।।४२।।

जिसकी बुद्धि तीव्र हो, धारणशक्ति प्रबल हो, जो अपने ही देश में उत्पन्न, विद्वान् और शुद्ध आचार-वाला हो और सब प्रकार के कार्यों में परीक्षा करने पर निर्दोष सिद्ध हुआ हो, वह गुप्त मन्त्रणा सुनने का अधिकारी है।

ज्ञानविज्ञानसम्पन्नः प्रकृतिज्ञः परात्मनोः ।
सुहृदात्मसमो राज्ञः स मन्त्रं श्रोतुमर्हति ।।४३।।

जो ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न, अपने और शत्रुपक्ष के लोगों की प्रकृति को जाननेवाला तथा राजा का अपने आत्मा के समान प्रिय मित्र हो, वह गुप्त मन्त्रणा सुनने का अधिकारी है।

सत्यवाक् शीलसम्पन्नो गम्भीरः सत्रपो मृदुः ।
पितृपैतामहो यः स्यात् स मन्त्रं श्रोतुमर्हति ।।४४।।

जो सत्यवादी, शीलयुक्त, गम्भीर, लज्जाशील, कोमल स्वभाव का और बाप-दादाओं के समय से ही राजा की सेवा करता आया है, वह गुप्त मन्त्रणा सुनने का अधिकारी है।

सन्तुष्टः सम्मतः सत्यः शौटीरो द्वेष्यपापकः ।
मन्त्रवित् कालविच्छूरः स मन्त्रं श्रोतुमर्हति ।।४५।।

जो सन्तोषी, सज्जनों द्वारा सम्मानित, सत्यपरायण, शूरवीर, पाप से घृणा करनेवाला, राजकीय मन्त्रणा को समझनेवाला, समय को पहचाननेवाला और शौर्यसम्पन्न है, वह गुप्त मन्त्रणा को सुनने का अधिकारी है ।

पौरजानपदा यस्मिन् विश्वासं धर्मतो गताः ।
योद्धा नयविपश्चिच्च स मन्त्रं श्रोतुमर्हति ।।४६।।

नगर और जनपद के मनुष्य जिसपर धर्मतः विश्वास करते हों, जो कुशल योद्धा और नीतिशास्त्र का पण्डित हो, वही गुप्त मन्त्रणा सुनने का अधिकारी है ।

तस्मात् सर्वगुणैरेतैरुपपन्नाः सुपूजिताः ।
मन्त्रिणः प्रकृतिज्ञाः स्युस्त्र्यवरा महदीप्सवः ।।४७।।

अतः जो उपर्युक्त सभी गुणों से समलंकृत, सभी के द्वारा सम्मानित, प्रकृति को परखनेवाले और महत्त्वाकांक्षी हों, ऐसे पुरुषों को मन्त्रिपद पर नियु
करना चाहिए । राजा के मन्त्रियों की संख्या कम
कम तीन होनी चाहिए ।

स्वासु प्रकृतिषुच्छिद्रं लक्षयेरन् परस्य च ।
मन्त्रिणां मन्त्रमूलं हि राज्ञो राष्ट्रं विवर्धते ।।४

मन्त्रियों को अपनी और शत्रु की प्रकृतियों
जो दोष या दुर्बलता हो उसपर ध्यान देना चा
क्योंकि मन्त्रियों द्वारा प्रदत्त परामर्श ही राजा
राष्ट्र का मूल है, उसी के आधार पर राज्य
उन्नति होती है ।

नास्य छिद्रं परः पश्येच्छिद्रेषु परमन्वियात् ।
गूहेत् कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद् विवरमात्मनः ।।४

राजा ऐसा प्रयत्न करे कि शत्रु उसके छिद्र
को न जान सके परन्तु वह शत्रु की सारी दुर्बलत
को जान ले । जैसे कछुआ अपने सब अङ्गों को
रहता है, वैसे ही राजा को भी अपने गुप्त वि
और छिद्रों को छिपाये रखना चाहिए ।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि चतुर्विशोऽध्यायः ।।२४।।

पञ्चविंशोऽध्यायः

राजा की व्यवहारनीति, दण्ड का औचित्य, दूत आदि के गुण

युधिष्ठिर उवाच

कथं स्विदिह राजेन्द्र पालयन् पार्थिवः प्रजाः ।
प्रीतिं धर्मविशेषेण कीर्तिमाप्नोति शाश्वतीम् ।।१।।

युधिष्ठिर ने पूछा—हे राजेन्द्र ! इस संसार में राजा किस प्रकार धर्मविशेष के द्वारा प्रजा का पालन करे, जिससे वह लोगों का प्रेम और अक्षय कीर्ति प्राप्त कर सके ।

भीष्म उवाच

व्यवहारेण शुद्धेन प्रजापालनतत्परः ।
प्राप्य धर्मं च कीर्तिं च लोकानाप्नोत्युभौ शुचिः ।।२।।

भीष्मजी बोले—राजन् ! जो राजा बाहर-भीतर से पवित्र रहकर शुद्ध-व्यवहार से प्रजापालन में तत्पर रहता है, वह धर्म और कीर्ति प्राप्त करके अपने दोनों लोकों को सुधार लेता है ।

प्रजाः पालयतोऽसम्यगधर्मेणेह भूपतेः ।
हार्दं भयं सम्भवति स्वर्गश्चास्य विरुद्ध्यते ।।३।

जो राजा अन्याय और अधर्मपूर्वक प्रज
पालन करता है, उसके हृदय में भय बना रह
और उसका परलोक भी बिगड़ जाता है ।

विनयेच्चापि दुर्वृत्तान् प्रहारैरपि पार्थिवः ।
सान्त्वेनोपप्रदानेन शिष्टाँश्च परिपालयेत् ।।४

राजा को चाहिए कि जो दुराचारी हों,
मार-पीटकर भी सुमार्ग पर लाने का प्रयत्न करे
जो श्रेष्ठ पुरुष हों उन्हें मीठी वाणी से सान्त्व
हुए सुख-सुविधा की वस्तुएँ प्रदान कर उनका
करे ।

राज्ञो वधं चिकीर्षेद् यस्तस्य चित्रो वधो भवेत्
आदीपकस्य स्तेनस्य वर्णसंकरकस्य च

जो राजा के वध की इच्छा करे, जो ग्र
गृह में आग लगाए, चोरी करे या व्यभिचार

वर्णसंकरता फैलाये, ऐसे अपराधी का वध अनेक प्रकार से करना चाहिए।

सम्यक् प्रणयतो दण्डं भूमिपस्य विशाम्पते ।
युक्तस्य वा नास्त्यधर्मो धर्म एव हि शाश्वतः ॥६॥

नरेश्वर ! जो भली-भाँति विचारकर अपराधी को उचित दण्ड देता है तथा अपने कर्तव्यपालन के लिए सदा उद्यत रहता है, उस राजा को पाप नहीं लगता, अपितु उसे सनातन धर्म की ही प्राप्ति होती है।

कामकारेण दण्डं तु यः कुर्यादविचक्षणः ।
स इहाकीर्तिसंयुक्तो मृतो नरकमृच्छति ॥७॥

जो अज्ञानी राजा बिना विचारे स्वेच्छापूर्वक दण्ड देता है, वह इस लोक में अपयश का भागी होता है और मरने पर नरक में जाता है।

न परस्य प्रवादेन परेषां दण्डमर्पयेत् ।
आगमानुगमं कृत्वा बध्नीयान्मोक्षयीत वा ॥८॥

राजा एक के अपराध पर दूसरे को दण्ड न दे अपितु शास्त्र के अनुसार विचार करके अपराध सिद्ध होने पर अपराधी को कारागार में डाल दे और निरपराध हो तो मुक्त कर दे।

न तु हन्यान्नृपो जातु दूतं कस्याञ्चिदापदि ।
दूतस्य हन्ता निरयमाविशेत् सचिवैः सह ॥९॥

राजा कभी किसी विपत्ति में भी किसी के दूत का वध न करे। दूत की हत्या करनेवाला नरेश अपने मन्त्रियोंसहित नरक में गिरता है, कष्ट उठाता है।

कुलीनः शीलसम्पन्नो वाग्मी दक्षः प्रियंवदः ।
यथोक्तवादी स्मृतिमान्दूतः स्यात्सप्तभिर्गुणैः ॥१०॥

कुलीन, शीलयुक्त, वाक्पटु, चतुर, मधुरभाषी, सन्देश को ज्यों-का-त्यों कहनेवाला और स्मरणशक्ति से सम्पन्न—इन सात गुणों से युक्त [राजा का] दूत होना चाहिए।

एतैरेव गुणैर्युक्तः प्रतीहारोऽस्य रक्षिता ।
शिरोरक्षश्च भवति गुणैरेतैः समन्वितः ॥११॥

राजा के द्वाररक्षक प्रतिहारी [द्वारपाल] में भी ये ही गुण होने चाहिएँ। उसका शिरोरक्षक [अथवा अङ्गरक्षक] भी इन्हीं गुणों से युक्त होना चाहिए।

धर्मशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः सन्धिविग्रहिको भवेत् ।
मतिमान् धृतिमान् ह्रीमान् रहस्यविनिगूहिता ॥१२॥
कुलीनः सत्त्वसम्पन्नः शुक्लोऽमात्यः प्रशस्यते ।
एतैरेव गुणैर्युक्तस्तथा सेनापतिर्भवेत् ॥१३॥

धर्मशास्त्र का तत्त्वज्ञ, सन्धि-विग्रह के अवसरों को जाननेवाला, बुद्धिमान्, धैर्यशाली, लज्जाशील, रहस्य को गुप्त रखनेवाला, कुलीन, साहसी और शुद्ध हृदयवाला मन्त्री ही उत्तम माना जाता है। सेनापतियों को भी इन्हीं गुणों से सम्पन्न होना चाहिए।

व्यूहयन्त्रायुधानां च तत्त्वज्ञो विक्रमान्वितः ।
वर्षशीतोष्णवातानां सहिष्णुः पररन्ध्रवित् ॥१४॥

वह [सेनापति] व्यूहरचना, यन्त्रों के प्रयोग और नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों को चलाने की कला का मर्मज्ञ हो, पराक्रमी हो, सर्दी-गर्मी और आँधी-वर्षा के कष्ट को धैर्यपूर्वक सहनेवाला तथा शत्रु के छिद्र [दुर्बलता, त्रुटि] आदि को जाननेवाला हो।

विश्वासयेत् पराँश्चैव विश्वसेच्च न कस्यचित् ।
पुत्रेष्वपि हि राजेन्द्र विश्वासो न प्रशस्यते ॥१५॥

राजा दूसरों के मन में अपने प्रति विश्वास उत्पन्न करे परन्तु स्वयं कभी किसी का विश्वास न करे। नरेश्वर ! अपने पुत्रों पर भी पूरा-पूरा विश्वास करना उत्तम नहीं माना गया है।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि पञ्चविंशोऽध्यायः ॥२५॥

षड्विंशोऽध्यायः

राजा के निवासयोग्य नगरादि का वर्णन, प्रजापालन-सम्बन्धी व्यवहार तथा तपस्वियों के सम्मान का निर्देश

युधिष्ठिर उवाच

कथंविधं पुरं राजा स्वयमावस्तुमर्हति ।
कृतं वा कारयित्वा वा तन्मे ब्रूहि पितामह ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! राजा को स्वयं कैसे नगर में निवास करना चाहिए ? वह पूर्व-निर्मित राजधानी में रहे अथवा नये नगर का निर्माण कराकर उसमें निवास करे, यह मुझे बताने की कृपा करें ।

भीष्म उवाच

वस्तव्यं यत्र कौन्तेय सपुत्रज्ञातिबन्धुना ।
न्याय्यं तत्र परिप्रष्टुं वृत्तिं गुप्तिं च भारत ॥२॥

भीष्मजी बोले—भरतभूषण ! कुन्तीकुमार ! पुत्र, पारिवारिक जन और बन्धुवर्ग के साथ राजा जिस नगर में निवास करे, उसमें जीवन-यापन तथा रक्षा की व्यवस्था के सम्बन्ध में तुम्हारा प्रश्न करना न्यायोचित है ।

तस्मात्ते वर्तयिष्यामि दुर्गकर्म विशेषतः ।
श्रुत्वा तथा विधातव्यमनुष्ठेयं च यत्नतः ॥३॥

अतः मैं तुम्हारे समक्ष दुर्गनिर्माण की क्रिया का विशेष रूप से वर्णन करूँगा । तुम इस विषय को सुनकर वैसा ही करना और यत्नपूर्वक दुर्ग का निर्माण कराना ।

षड्विधं दुर्गमास्थाय पुराण्यथ निवेशयेत् ।
सर्वसम्पत्प्रधानं यद् बाहुल्यं चापि सम्भवेत् ॥४॥

जहाँ सब प्रकार की सम्पत्ति प्रचुरमात्रा में उपलब्ध हो, साथ ही जो स्थान बहुत विस्तृत हो, वहाँ छह प्रकार के दुर्गों का आश्रय लेकर राजा को नगर बसाने चाहिएँ ।

धन्वदुर्गं महीदुर्गं गिरिदुर्गं तथैव च ।
मनुष्यदुर्गमब्दुर्गं वनदुर्गं च तानि षट् ॥५

उन छह दुर्गों के नाम ये हैं—धन्वदुर्ग,[1] मही गिरिदुर्ग,[3] मनुष्यदुर्ग,[4] जलदुर्ग[5] और वनदुर्ग[6] ।

यत्पुरं दुर्गसम्पन्नं धान्यायुधसमन्वितम् ।
दृढप्राकारपरिखं हस्त्यश्वरथसंकुलम् ।
विद्वाँसः शिल्पिनो यत्र निचयाश्च सुसञ्चिताः ।
धार्मिकाश्च जना यत्र चत्वरापणशोभितम् ।
प्रसिद्धव्यवहारं च सुप्रशस्तनिवेशनम् ।
शूराढ्यजनसम्पन्नं ब्रह्मघोषानुनादितम् ।
समाजोत्सवसम्पन्नं सदापूजितदैवतम् ।
वश्यामात्यबलो राजा तत्पुरं स्वयमाविशेत् ।

जिस नगर में इनमें से कोई-न-कोई दुर्ग हो, अन्न और अस्त्र-शस्त्रों का बाहुल्य हो, जिसके और दृढ़ परकोटा [चारदीवारी] तथा गहरी चौड़ी खाई बनी हो, जहाँ हाथी-घोड़े और रथों बहुतायत हो, जहाँ विद्वान् और कारीगर बसे जहाँ आवश्यक वस्तुओं के भण्डार भरे हों, धार्मिक मनुष्य रहते हों, चौराहे और बाजार नगर की शोभा बढ़ा रहे हों, जहाँ का न्याय-वि और न्यायालय सुप्रसिद्ध हो, जहाँ का प्रत्ये सुन्दर और सुशोभित हो, जिसमें योद्धा और ध लोग निवास करते हों, जहाँ वेदमन्त्रों की गूँजती रहती हो, जहाँ सदा ही सामाजिक

---

१. जिसके चारों ओर बालू का घेरा हो उस किले को 'धन्व-[अथवा मरु]-दुर्ग' कहते हैं ।

२. समतल भूमि पर बना किला 'महीदुर्ग' कहलाता है ।

३. पर्वत-शिखर पर बना और चारों ओर से ऊँची-ऊँची पर्वतमालाओं से घिरा हुआ किला 'गिरिदुर्ग' कहलाता है ।

४. सैनिक किले का नाम 'मनुष्यदुर्ग' है ।

५. जिसके चारों ओर जल हो, वह 'जलदुर्ग' कह है ।

६. जो स्थान विशाल और भयंकर वनों से घिरा हु उसे 'वनदुर्ग' कहते हैं ।

और हवन-यज्ञ का क्रम चलता रहता हो, ऐसे नगर में अपने वश में रहनेवाले मन्त्रियों तथा सेना के साथ राजा को स्वयं निवास करना चाहिए।

तत्र कोशं बलं मित्रं व्यवहारं च वर्धयेत् ।
पुरे जनपदे चैव सर्वदोषान् निवर्तयेत् ॥१०॥

राजा को चाहिए कि वह उस नगर में कोष, सेना, मित्रों की संख्या और व्यवहार को बढ़ाए। नगर और ग्रामों में जो दोष हों, उन्हें भी दूर करे।

भाण्डागारायुधागारं प्रयत्नेनाभिवर्धयेत् ।
निचयान् वर्धयेत्सर्वांस्तथा यन्त्रायुधालयान् ॥११॥

अन्नभण्डार और अस्त्र-शस्त्रों के संग्रहालय को प्रयत्नपूर्वक बढ़ाए। सब प्रकार की वस्तुओं के भण्डारों की भी वृद्धि करे, यन्त्रों और अस्त्र-शस्त्रों की निर्माणशालाओं की उन्नति करे।

ाज्ञा मेधाविनो दान्ता दक्षाः शूरा बहुश्रुताः ।
कुलीनाः सत्त्वसम्पन्ना युक्ताः सर्वेषु कर्मसु ॥१२॥

राजा को चाहिए कि वह विद्वान्, बुद्धिमान्, जितेन्द्रिय, कार्यकुशल, शूर, बहुज्ञ, कुलीन तथा ाहस और धैर्य से सम्पन्न पुरुषों को यथायोग्य समस्त कर्मों में नियुक्त करे।

जयेद् धार्मिकान् राजा निगृह्णीयादधार्मिकान् ।
नियुञ्ज्याच्च प्रयत्नेन सर्ववर्णान् स्वकर्मसु ॥१३॥

राजा को चाहिए कि वह धार्मिक पुरुषों का त्कार करे एवं दुष्टों को दण्ड दे और यत्नपूर्वक सभी र्णों को अपने-अपने कार्यों में लगाए।

ाह्यमाभ्यन्तरं चैव पौरजानपदं तथा ।
ारैः सुविदितं कृत्वा ततः कर्म प्रयोजयेत् ॥१४॥

राजा को चाहिए कि गुप्तचरों द्वारा नगर और ामों के बाहरी तथा भीतरी समाचारों को भली-ाँति जानकर, उनके अनुसार कार्य करे।

ारान्मन्त्रं च कोशं च दण्डं चैव विशेषतः ।
नुतिष्ठेत् स्वयं राजा सर्वं ह्यत्र प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

गुप्तचरों से मिलने, गुप्तमन्त्रणा करने, कोष ी जाँच-पड़ताल करने और विशेषरूप से अपरा-ायों को दण्ड देने का कार्य राजा स्वयं करे, क्योंकि हीं पर सारा राज्य प्रतिष्ठित होता है।

ासीनारिमित्राणां सर्वमेव चिकीर्षितम् ।
पुरे जनपदे चैव ज्ञातव्यं चारचक्षुषा ॥१६॥

राजा को गुप्तचररूपी नेत्रों द्वारा देखकर सदा इस बात की जानकारी रखनी चाहिए कि उसके शत्रु, मित्र और तटस्थ व्यक्ति नगर तथा ग्रामों में कब क्या करना चाहते हैं।

ततस्तेषां विधातव्यं सर्वमेवाप्रमादतः ।
भक्तान् पूजयता नित्यं द्विषतश्च निगृह्णता ॥१७॥

उनकी चेष्टाएँ जान लेने के पश्चात् उनके प्रतिकार के लिए सारा कार्य अत्यन्त सावधानी से करना चाहिए। राजा को उचित है कि वह अपने भक्तों का सदा आदर करे और द्वेष रखनेवालों को कारागार में डाल दे।

यष्टव्यं क्रतुभिर्नित्यं दातव्यं चाप्यपीडया ।
प्रजानां रक्षणं कार्यं न कार्यं धर्मबाधकम् ॥१८॥

राजा को प्रतिदिन यज्ञ करना और दूसरों को कष्ट न देते हुए दान देना चाहिए। उसे प्रजा की रक्षा करनी चाहिए और ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिए जिससे धर्म में बाधा उपस्थित होती हो।

कृपणानाथवृद्धानां विधवानां च योषिताम् ।
योगक्षेमं च वृत्तिं च नित्यमेव प्रकल्पयेत् ॥१९॥

दीन, अनाथ, वृद्ध और विधवा स्त्रियों के योगक्षेम तथा जीविका आदि का प्रबन्ध राजा को सदा करते रहना चाहिए।

आश्रमेषु यथाकालं चैलभाजनभोजनम् ।
सदैवोपहरेद् राजा सत्कृत्याभ्यर्च्य मान्य च ॥२०॥

राजा को चाहिए कि आश्रमों में यथासमय वस्त्र, पात्र और भोजनादि सामग्री सदा ही भेजा करे। सबको सत्कार, पूजन तथा सम्मानपूर्वक वे वस्तुएँ अर्पित करे।

आत्मानं सर्वकार्याणि तापसे राष्ट्रमेव च ।
निवेदयेत् प्रयत्नेन तिष्ठेत् प्रह्वश्च सर्वदा ॥२१॥

अपने राज्य में जो तपस्वी हों उन्हें अपने निजी सभी कार्य और राष्ट्र-सम्बन्धी समाचार प्रयत्नपूर्वक बताया करे तथा उनके सामने सदा विनीतभाव से रहे।

सर्वार्थत्यागिनं राजा कुले जातं बहुश्रुतम् ।
पूजयेत् तादृशं दृष्ट्वा शयनासनभोजनैः ॥२२॥

जिसने सब-कुछ त्याग दिया है, ऐसे कुलीन और विद्वान् तपस्वी को देखकर राजा शय्या, आसन और भोजन प्रदान कर उसका सम्मान करे।

तस्मिन् कुर्वीत विश्वासं राजा कस्याञ्चिदापदि।
तापसेषु हि विश्वासमपि कुर्वन्ति दस्यवः ॥२३॥

कैसी भी आपत्ति का समय क्यों न हो, राजा को तपस्वी पर विश्वास करना चाहिए, क्योंकि चोर-डाकू भी तपस्वी महात्माओं पर विश्वास हैं।

एष ते लक्षणोद्देशः संक्षेपेण प्रकीर्तितः।
यादृशे नगरे राजा स्वयमावस्तुमर्हति

युधिष्ठिर ! तुम्हारे प्रश्न के अनुसार स्वयं जैसे नगर में निवास करना चाहिए लक्षण मैंने यहाँ संक्षेप से बता दिया है।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि षड्विंशोऽध्यायः ॥२६॥

सप्तविंशोऽध्यायः

राष्ट्र की रक्षा और वृद्धि तथा प्रजा से कर लेने का प्रकार

युधिष्ठिर उवाच

राष्ट्रगुप्तिं च मे राजन् राष्ट्रस्यैव तु संग्रहम्।
सम्यग्जिज्ञासमानाय प्रब्रूहि भरतर्षभ ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—भरतश्रेष्ठ नरेश ! अब भली-भाँति जानने के इच्छुक मुझे यह बताइए कि राष्ट्र की रक्षा और उसकी वृद्धि कैसे हो सकती है ?

भीष्म उवाच

राष्ट्रगुप्तिं च ते सम्यग् राष्ट्रस्यैव तु संग्रहम्।
हन्त सर्वं प्रवक्ष्यामि तत्त्वमेकमनाः शृणु ॥२॥

भीष्मजी बोले— राजन् ! मैं तुम्हें राष्ट्र की रक्षा और उसके विकास का सम्पूर्ण रहस्य बताता हूँ। तुम ध्यानपूर्वक सुनो !

ग्रामस्याधिपतिः कार्यो दशग्राम्यस्तथापरः।
द्विगुणायाः शतस्यैवं सहस्रस्य च कारयेत् ॥३॥

एक ग्राम का, दस ग्रामों का, बीस ग्रामों का, सौ ग्रामों का और एक सहस्र ग्रामों का पृथक्-पृथक् एक-एक अधिपति बनाना चाहिए।

ग्रामीयान् ग्रामदोषाँश्च ग्रामिकः प्रतिभावयेत्।
तान् ब्रूयाद् दशपायासौ स तु विंशतिपाय वै ॥४॥
सोऽपि विंशत्यधिपतिर्वृत्तं जानपदे जने।
ग्रामाणां शतपालाय सर्वमेव निवेदयेत् ॥५॥

ग्राम के स्वामी का यह कर्तव्य है कि वह ग्रामवासियों के मामलों और अपराधों का वहीं रहकर पता लगाए और उनका पूर्ण विवरण दस ग्राम के अधिपति के पास भेज दे। इसी प्रकार दस ग्रामवाला बीस गाँववाले के पास और बीस गाँववाल
अधीनस्थ जनपद के लोगों का सम्पूर्ण वृत्त
ग्रामवाले अधिकारी को सूचित कर दे। [इ
सौ ग्रामों का स्वामी अपने अधिकृत क्षेत्रों क
एक सहस्र ग्रामों के अधिपति को भेज दे, फि
ग्रामाधिपति स्वयं राजा के समक्ष जाकर आ
आये हुए सभी विवरणों को उसके समक्ष
करे।]

यानि ग्राम्याणि भोज्यानि ग्रामिकस्तान्युपा
दशपस्तेन भर्तव्यस्तेनापि द्विगुणाधि

ग्राम में जो आय अथवा उपज हो, उ
ग्राम-अधिपति अपने ही पास रखे [तथा
नियत अंश का वेतनरूप में उपभोग करे]
से नियत वेतन देकर उसे दस ग्राम-अधिप
भरण-पोषण करना चाहिए और उसे बीस
अधिपति का भरण-पोषण करना चाहिए।

ग्रामं ग्रामशताध्यक्षो भोक्तुमर्हति सत्कृतः
महान्तं भरतश्रेष्ठ सुस्फीतं जनसंकुलम्

सम्मानित सौ ग्रामों का अधिपति एक
आय का उपभोग कर सकता है। भरतश्रे
ग्राम बहुत बड़ी बस्तीवाला, मनुष्यों से भ
धन-धान्य से सम्पन्न हो।

शाखानगरमर्हस्तु सहस्रपतिरुत्तमः
धान्यहैरण्यभोगेन भोक्तुं राष्ट्रियसङ्गतः

सहस्र ग्रामों का श्रेष्ठ अधिपति एक

[कस्बे] की आय प्राप्त करने का अधिकारी है। वहाँ जो अन्न और स्वर्ण की आय हो, उसका वह उपभोग कर सकता है। उसे राष्ट्रवासियों के साथ मिलकर रहना चाहिए।

तेषां संग्रामकृत्यं स्याद् ग्रामकृत्यं च तेषु यत्।
धर्मज्ञः सचिवः कश्चित् तत् तत्पश्येदतन्द्रितः ॥९॥

इन अधिपतियों के अधिकार में जो युद्ध-सम्बन्धी और ग्राम के प्रबन्ध-सम्बन्धी कार्य सौंपे गये हों, उनकी देख-भाल कोई आलस्यरहित धर्मज्ञ मन्त्री किया करे।

विक्रयं क्रयमध्वानं भक्तं च सपरिच्छदम्।
ोगक्षेमं च सम्प्रेक्ष्य वणिजां कारयेत् करान् ॥१०॥

राजा को माल के क्रय, विक्रय, उसके मँगाने का र्च, उसमें काम करनेवाले नौकरों का वेतन, बचत ौर योगक्षेम के निर्वाह को दृष्टि में रखकर ही यापारियों पर कर लगाना चाहिए।

त्पत्तिं दानवृत्तिं च शिल्पं सम्प्रेक्ष्य चासकृत्।
ल्पं प्रतिकरानेवं शिल्पिनः प्रति कारयेत् ॥११॥

इसी प्रकार माल की उपज, उसकी खपत और ल्प की उत्तम-मध्यम आदि श्रेणियों का बार-बार रीक्षण करके शिल्प और शिल्पकारों पर कर गाए।

च्चावचकरा दाप्याः सुनृपेण युधिष्ठिर।
या यथा न सीदेरंस्तथा कुर्यान्महीपतिः ॥१२॥

युधिष्ठिर! राजा को चाहिए कि वह लोगों की मर्थ्य के अनुसार भारी और हल्के कर लगाए। पाल को उतना ही कर लेना चाहिए, जितने से जा संकट में न पड़ जाए।

च्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषां चापि तृष्णया।
द्विषन्ति परिख्यातं राजानमतिखादिनम् ॥१३॥

राजा को चाहिए कि तृष्णा के वशीभूत होकर पने जीवन के मूलाधार प्रजाओं के जीवनभूत खेती दि का उच्छेद न करे। यदि राजा अधिक शोषण रनेवाला प्रसिद्ध हो जाए तो समस्त प्रजा उससे द्वेष रने लगती है।

द्विष्टस्य कुतः श्रेयो नाप्रियो लभते फलम्।
सौपम्येन दोग्धव्यं राष्ट्रमक्षीणबुद्धिना ॥१४॥

जिससे सब लोग द्वेष करते हों, उसका कल्याण कैसे हो सकता है? जो प्रजावर्ग का प्रिय नहीं होता, उसे कोई लाभ नहीं मिलता। बुद्धिमान् राजा को चाहिए कि वह गाय के बछड़े की भाँति राष्ट्र से धीरे-धीरे अपने उदर की पूर्ति करे।

भृतो वत्सो जातबलः पीडां सहति भारत।
न कर्म कुरुते वत्सो भृशं दुग्धो युधिष्ठिर।
राष्ट्रमप्यतिदुग्धं हि न कर्म कुरुते महत् ॥१५॥

भरतनन्दन युधिष्ठिर! जिस गौ का दूध अधिक नहीं दुहा जाता, उसका बछड़ा अधिक समय तक उसके दूध से पुष्ट और बलवान् होकर भारी बोझ ढोने का कष्ट सहन कर लेता है, परन्तु जिसका दूध अधिक दुह लिया गया है, उसका बछड़ा निर्बल होने के कारण वैसा काम नहीं कर सकता। इसी प्रकार राष्ट्र का भी अधिक दोहन करने से वह दरिद्र हो जाता है और कोई महान् कर्म नहीं कर पाता।

आपदर्थं च निर्यातं धनं त्विह विवर्धयेत्।
राष्ट्रं च कोशभूतं स्यात् कोशो वेश्मगतस्तथा ॥१६॥

राजा को चाहिए कि वह अपने देश में लोगों के पास संग्रहीत धन को आपत्ति के समय काम आने के लिए बढ़ाए तथा अपने राष्ट्र को घर में रखा हुआ कोष समझे।

प्रागेव तु धनादानमनुभाष्य ततः पुनः।
सन्निपत्य स्वविषये भयं राष्ट्रे प्रदर्शयेत् ॥१७॥

राजा पहले ही धन लेने की आवश्यकता बताकर फिर अपने राज्य में सर्वत्र दौरा करे तथा राष्ट्र पर आनेवाले भय की ओर सबका ध्यान आकर्षित करे।

इयमापत्समुत्पन्ना परचक्रभयं महत्।
अपि चान्ताय कल्पन्ते वेणोरिव फलागमाः ॥१८॥
अरयो मे समुत्थाय बहुभिर्दस्युभिः सह।
इदमात्मवधायैव राष्ट्रमिच्छन्ति बाधितुम् ॥१९॥

वह राष्ट्रवासियों से कहे—"सज्जनो! अपने देश पर यह बहुत बड़ी आपत्ति आ पहुँची है। शत्रु-दल के आक्रमण का महान् भय उपस्थित है। जैसे बाँस में फल लगना उसके विनाश का कारण होता है, वैसे ही हमारे शत्रु बहुत-से लुटेरों को साथ लेकर अपने ही विनाश के लिए उठकर हमारे इस राष्ट्र

को पीड़ित करना चाहते हैं।

अस्यामापदि घोरायां सम्प्राप्ते दारुणे भये।
परित्राणाय भवतां प्रार्थयिष्ये धनानि वः ॥२०॥

"इस घोर आपत्ति और दारुण भय के समय मैं आप लोगों की रक्षा के लिए [ऋण रूप में] आपसे धन माँग रहा हूँ।

प्रतिदास्ये च भवतां सर्वं चाहं भयक्षये।
नारयः प्रतिदास्यन्ति यद्धरेयुर्बलादितः ॥२१॥

"जब यह संकट दूर हो जाएगा, तब मैं आप लोगों का सारा धन आपको लौटा दूँगा। शत्रु आकर यहाँ से बलपूर्वक जो धन लूट ले जाएँगे, उसे वे कभी वापस नहीं करेंगे।

कलत्रमादितः कृत्वा सर्वं वो विनशेदिति।
अपि चेत् पुत्रदारार्थमर्थसञ्चय इष्यते ॥२२॥

"शत्रुओं का आक्रमण होने पर आपकी स्त्रियों पर पहले संकट आएगा, फिर आपका सारा धन भी नष्ट हो जाएगा। स्त्री और पुत्रों की रक्षा के लिए धन की आवश्यकता होती है।

नन्दामि वः प्रभावेण पुत्राणामिव प्रेरये।
यथाशक्त्युपगृह्णामि राष्ट्रस्यापीडया च वः ॥२३॥

"जैसे पुत्रों की उन्नति से पिता को प्रसन्नता होती है, वैसे ही आपकी बढ़ती हुई समृद्धि से मुझे भी प्रसन्नता होती है। इस समय राष्ट्र पर आये हुए संकट को टालने के लिए मैं आप लोगों से आपकी शक्ति के अनुसार ही धन ग्रहण करूँगा, जिससे राष्ट्रवासियों को किसी प्रकार का कष्ट न हो।"

इति वाचा मधुरया श्लक्ष्णया सोपचारया।
स्वरश्मीनभ्यवसृजेद् योगमाधाय कालवित् ॥२४॥

समय की गतिविधि पहचाननेवाले राजा को चाहिए कि वह इस प्रकार स्नेहसिक्त और विनयपूर्ण मधुर वचनों द्वारा समझा-बुझाकर उपयुक्त उपाय का आश्रय ले और अपने पैदल सैनिकों या सेवकों को प्रजावर्ग के घर पर धनसंग्रह के लिए भेजे।

प्राकारं भृत्यभरणं व्ययं संग्रामतो भयम्।
योगक्षेमं च सम्प्रेक्ष्य गोमिनः कारयेत्करम् ॥२५॥

नगर की रक्षा के लिए परकोटा बनवाना है, सेवकों और सैनिकों का भरण-पोषण करना है, अन्य आवश्यक व्यय करने हैं, युद्ध के संकट को टा
तथा सबके योगक्षेम की चिन्ता करनी है—
बातों की आवश्यकता दिखाकर राजा धनवा
से कर ग्रहण करे।

उपेक्षिता हि नश्येयुर्गोमिनोऽरण्यवासिनः।
तस्मात् तेषु विशेषेण मृदुपूर्वं समाचरेत् ॥

यदि राजा वैश्यों के हानिलाभ की
करके उन्हें कर-भार से पीड़ित करता है तो
छोड़कर भाग जाते हैं और वन में रहने
इसलिए उनके साथ कोमलता का व्यवहार
चाहिए।

सान्त्वनं रक्षणं दानमवस्था चाप्यभीक्ष्णशः।
गोमिनां पार्थ कर्तव्यः संविभागः प्रियाणि च ॥

कुन्तीकुमार! वैश्यों को सान्त्वना दे,
रक्षा करे, उन्हें धन की सहायता दे, उनकी
को सुदृढ़ रखने का सदा प्रयत्न करे, उन्हें आ
वस्तुएँ प्रदान करे तथा सदा उनका प्रिय का
रहे।

युधिष्ठिर उवाच

यदि राजा समर्थोऽपि कोशार्थी स्यान्महामते
कथं तदा प्रवर्तेत तन्मे ब्रूहि पितामह

युधिष्ठिर ने पूछा—परम बुद्धिमान् पि
जब राजा पूर्णतः समर्थ हो—उसपर कोई
आया हो, फिर भी वह अपने कोष की वृ
चाहे तो उसे किस प्रकार के उपाय काम
चाहिएँ, यह मुझे बताइए।

भीष्म उवाच

मधुदोहं दुहेद् राष्ट्रं भ्रमरा इव पादप
वत्सापेक्षी दुहेच्चैव स्तनाँश्च न विकुट्टयेत्

भीष्मजी बोले—जैसे भौंरा धीरे-धीरे
वृक्ष का रस लेता है, वृक्ष को काटता नहीं
मनुष्य बछड़े को कष्ट न देकर शनैः-शनै
दुहता है, उसके थनों को कुचलता नहीं है,
राजा कोमलता के साथ ही राष्ट्ररूपी गौ
करे, उसे कुचले नहीं।

जलौकावत् पिबेद् राष्ट्रं मृदुनैव नराधिपः
व्याघ्रीव च हरेत् पुत्रान् संदशेन्न च पीडयेत्

जैसे जोंक धीरे-धीरे शरीर का रक्त चूसती है, जैसे बाघिन अपने बच्चों को दाँतों से पकड़कर इधर-उधर ले जाती है, परन्तु न तो उन्हें काटती है और न उनके शरीर को पीड़ा पहुँचाती है, वैसे ही राजा कोमल उपायों द्वारा राष्ट्र का दोहन करे ।

अल्पेनाल्पेन देयेन वर्धमानं प्रदापयेत् ।
ततो भूयस्ततो भूयः क्रमवृद्धि समाचरेत् ॥३१॥

राजा पहले थोड़ा-थोड़ा कर ले, फिर धीरे-धीरे उसे बढ़ाये तथा उस बढ़े हुए कर को ग्रहण करे । तत्पश्चात् समयानुसार पुनः उसमें थोड़ी-थोड़ी वृद्धि करते हुए क्रमशः बढ़ाता रहे ।

दमयन्निव दम्यानि शश्वद् भारं विवर्धयेत् ।
मृदुपूर्वं प्रयत्नेन पाशानभ्यवहारयेत् ॥३२॥

जैसे बछड़ों को पहले-पहल भार ढोने का अभ्यास करानेवाला पुरुष उन्हें प्रयत्नपूर्वक नाथता है, फिर शनैः-शनैः उनपर अधिक भार लादता है, उसी प्रकार प्रजा पर भी पहले कर का भार कम रखे, फिर उसे धीरे-धीरे बढ़ाये ।

पानागारनिवेशाश्च वेश्याः प्रापणिकाँस्तथा ।
कुशीलवाः सकितवा ये चान्ये केचिदीदृशाः ॥३३॥
नियम्याः सर्व एवैते ये राष्ट्रस्योपघातकाः ।
एते राष्ट्रेऽभितिष्ठन्तो बाधन्ते भद्रिकाः प्रजाः ॥३४॥

मधु-[शराब]-शाला खोलनेवाले, वेश्याएँ, कुट्टनियाँ, वेश्याओं के दलाल, जुआरी और ऐसे ही निकृष्ट व्यवसाय करनेवाले जितने लोग हों, वे सम्पूर्ण राष्ट्र को हानि पहुँचानेवाले हैं, अतः इन सबको दण्ड देकर दबाये रखना चाहिए । यदि ये राज्य में टिके रहते हैं तो कल्याण-मार्ग पर चलनेवाली प्रजा को अत्यन्त पीड़ित करते हैं ।

स्थानान्येतानि संयम्य प्रसङ्गो भूतिनाशनः ।
कामे प्रसक्तः पुरुषः किमकार्यं विवर्जयेत् ॥३५॥

उपर्युक्त मदिरालय आदि स्थानों पर रोक लगा देनी चाहिए, क्योंकि इनसे कामविषयक आसक्ति बढ़ती है, जो धन-वैभव और कल्याण का नाश करनेवाली है । काम में आसक्त मनुष्य किसी कुकर्म को नहीं छोड़ता ।

मद्यमांसपरस्वानि तथा दारा धनानि च ।
आहरेद् रागवशगस्तथा शास्त्रं प्रदर्शयेत् ॥३६॥

आसक्ति में फँसा हुआ मनुष्य मांस खाता है मदिरा पीता है और पर-धन तथा पर-स्त्री का अपहरण करता है, साथ ही दूसरों को भी यही सब-कुछ करने की प्रेरणा देता है ।

मा ते राष्ट्रे याचनका भूवन्मा चापि दस्यवः ।
एषां दातार एवैते नैते भूतस्य भावकाः ॥३७॥

तुम्हारे राज्य में भिखमंगे और लुटेरे न हों, क्योंकि ये सब प्रजा के धन को केवल छीननेवाले हैं, उनके ऐश्वर्य को बढ़ानेवाले नहीं हैं ।

ये भूतान्युनुगृह्णन्ति वर्धयन्ति च ये प्रजाः ।
ते ते राष्ट्रेषु वर्तन्तां या भूतानामभावकाः ॥३८॥

जो सब प्राणियों पर दया करते और प्रजा की उन्नति में योग देते हैं, वे तुम्हारे राष्ट्र में निवास करें । जो लोग प्राणियों की हिंसा करनेवाले हैं, वे न रहें ।

धनिनः पूजयेन्नित्यं पानाच्छादनभोजनैः ।
वक्तव्याश्चानुगृह्णीध्वं प्रजाः सह मयेति वै ॥३९॥

राजा को चाहिए कि वह देश के धनी व्यक्तियों का सदा भोजन, वस्त्र और अन्नदान आदि द्वारा सत्कार करे तथा उनसे विनयपूर्वक कहे—"आप लोग मेरे सहित मेरी इन प्रजाओं पर कृपादृष्टि रखें ।"

अङ्गमेतन्महद् राज्ये धनिनो नाम भारत ।
ककुदं सर्वभूतानां धनस्थो नात्र संशयः ॥४०॥

भरतनन्दन ! धनीजन राष्ट्र के मुख्य अङ्ग हैं । धनवान् मनुष्य समस्त प्राणियों में प्रधान होता है, इसमें संशय नहीं है ।

प्राज्ञः शूरो धनस्थश्च स्वामी धार्मिक एव च ।
तपस्वी सत्यवादी च बुद्धिमाँश्चापि रक्षति ॥४१॥

विद्वान्, शूरवीर, धनी, धर्मनिष्ठ, स्वामी, तपस्वी, सत्यवादी और बुद्धिमान् मनुष्य ही प्रजा की रक्षा करते हैं ।

तस्मात् सर्वेषु भूतेषु प्रीतिमान् भव पार्थिव ।
सत्यमार्जवमक्रोधमानृशंस्यं च पालय ॥४२॥

अतः भूपाल ! तुम समस्त प्राणियों से प्रेम रखो और सत्य, सरलता, अक्रोध और दयालुता आदि सद्धर्मों का पालन करो ।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि सप्तविंशोऽध्यायः ॥२७॥

अष्टाविंशोऽध्यायः

राजा के कर्तव्यों का वर्णन तथा उसके लिए धर्मपालन की आवश्यकता

भीष्म उवाच

शत्रून् जय प्रजा रक्ष यजस्व क्रतुभिर्नृप ।
युध्यस्व समरे वीरो भूत्वा कौरवनन्दन ।।१।।

भीष्मजी बोले—नरेश्वर ! कौरवनन्दन ! तुम शत्रुओं को जीतो, प्रजा की रक्षा करो, नाना प्रकार के यज्ञ करते रहो और समरभूमि में वीरतापूर्वक लड़ो ।

संरक्ष्यान् पालयेद् राजा स राजा राजसत्तमः ।
ये केचित्तान् न रक्षन्ति तैरर्थो नास्ति कश्चन ।।२।।

जो रक्षा करने योग्य मनुष्यों की रक्षा करता है, वही राजा समस्त राजाओं में शिरोमणि है। जो रक्षा के पात्र मनुष्यों की रक्षा नहीं करते ऐसे राजाओं की संसार को कोई आवश्यकता नहीं है ।

आत्मानं सर्वतो रक्षन् राजन् रक्षस्व मेदिनीम् ।
आत्ममूलमिदं सर्वमाहुर्वै विबुधाः जनाः ।।३।।

राजन् ! तुम चहुँ ओर से अपनी रक्षा करते हुए ही इस सम्पूर्ण पृथिवी की रक्षा करो, क्योंकि बुद्धिमान् लोगों का कहना है कि इन सबका मूल अपना सुरक्षित शरीर ही है।

किं छिद्रं को नु सङ्गो मे किं वास्त्यविनिपातितम् ।
कुतो मामाश्रयेद् दोष इति नित्यं विचिन्तयेत् ।।४।।

मुझमें कौन-सी दुर्बलता है, किस प्रकार की आसक्ति है और कौन-सा ऐसा दोष है, जो अबतक दूर नहीं हुआ है और किस कारण से मुझपर दोष आता है ? इन सब बातों का राजा को सदा विचार करते रहना चाहिए ।

अतीतदिवसे वृत्तं प्रशंसन्ति न वा पुनः ।
गुप्तैश्चारैरनुमतैः पृथिवीमनुसारयेत् ।।५।।

'कल तक मेरा जैसा आचार-व्यवहार रहा है, उसकी प्रजा प्रशंसा करती है या नहीं'—इस बात का पता लगाने के लिए अपने विश्वासपात्र गुप्तचरों को पृथिवी पर सब ओर घुमाते रहना चाहिए ।

ये च त्वाभिप्रशंसेयुर्निन्देयुरथवा पुनः ।
सर्वान् सुपरिणीतांस्तान् कारयेथा युधिष्ठिर ।।६।।

युधिष्ठिर ! जो लोग तुम्हारी प्रशंसा करें और जो तुम्हारी निन्दा करें, तुम्हें उन सबका सत्कार ही करना चाहिए ।

एकान्तेन हि सर्वेषां न शक्यं तात रोचितुम् ।
मित्रामित्रमथो मध्यं सर्वभूतेषु भारत ।।७।।

तात ! किसी का कोई भी काम सबको सर्वथा अच्छा ही लगे, ऐसा सम्भव नहीं है । भरतनन्दन ! सभी प्राणियों के मित्र, शत्रु और मध्यस्थ [उदासीन] होते हैं ।

यानङ्गिराः क्षत्रधर्मान्मान्धात्रे प्रत्यभाषत ।
तत्ते सर्वं प्रवक्ष्यामि निखिलेन युधिष्ठिर ।।८।।

युधिष्ठिर! अङ्गिरा के पुत्र उतथ्य ने मान्धाता से जिन-जिन क्षत्रियधर्मों का वर्णन किया था, वह सारा प्रसङ्ग पूरा-का-पूरा तुम्हें बता रहा हूँ, सुनो !

उतथ्य उवाच

धर्माय राजा भवति न कामकरणाय तु ।
मान्धातरिति जानीहि राजा लोकस्य रक्षिता ।।९।।

उतथ्य ने कहा—मान्धाता ! राजा धर्म का पालन और प्रचार करने के लिए ही होता है, किंतु अपने सुखों का उपभोग करने के लिए नहीं । तुम्हें यह भी जानना चाहिए कि राजा सारे संसार का [illegible] होता है ।

राजा चरति चेद्धर्मं देवत्वायैव कल्पते ।
स चेदधर्मं चरति नरकायैव गच्छति ।।१०।।

यदि राजा धर्माचरण करता है, तो देवता बन जाता है और यदि वह अधर्माचरण करता है तो नरक में जा गिरता है ।

धर्मे तिष्ठन्ति भूतानि धर्मो राजनि तिष्ठति ।
तं राजा साधु यः शास्ति स राजा पृथिवीपतिः ।।११।।

समस्त प्राणी धर्म के आधार पर स्थित हैं और धर्म राजा में प्रतिष्ठित है। जो राजा सम्यक् रूप से धर्म का पालन और उसके अनुकूल शासन करता है, वही दीर्घकाल तक इस पृथिवी का स्वामी बना रहता है ।

यस्मिन् धर्मो विराजेत तं राजानं प्रचक्षते ।
यस्मिन् विलीयते धर्मस्तं देवा वृषलं विदुः ॥१२॥

जिसमें धर्म विद्यमान हो उसी को राजा कहते हैं तथा जिसमें धर्म [वृष] का लय हो गया हो उसे विद्वान् लोग 'वृषल' मानते हैं ।

वृषो हि भगवान् धर्मो तस्य यः कुरुते ह्यलम् ।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत् ॥१३॥

वृष नाम है भगवान् धर्म का । जो धर्म के विषय में 'अलम्' [बस] कह देता है, धर्म का लोप कर देता है, उसे विद्वान् वृषल समझते हैं । इसलिए धर्म की सदा ही वृद्धि ही करनी चाहिए लोप नहीं ।

धर्मे वर्धति वर्धन्ति सर्वभूतानि सर्वदा ।
तस्मिन् ह्रसति हीयन्ते तस्माद् धर्मं न लोपयेत् ॥१४

धर्म की वृद्धि होने पर सदा सभी प्राणियों की उन्नति और वृद्धि होती है तथा ह्रास होने पर सबका ह्रास हो जाता है, अतः धर्म का कभी लोप नहीं होने देना चाहिए ।

धनात् स्रवति धर्मो हि धारणाद् वेति निश्चयः ।
अकार्याणां मनुष्येन्द्र स सीमान्तकरः स्मृतः ॥१५

नरेन्द्र ! धन से धर्म की उत्पत्ति होती है, सबको धारण करने के कारण वह निश्चित रूप से धर्म कहा गया है । वह धर्म अकर्तव्य=पाप की सीमा का अन्त करनेवाला माना गया है ।

कामक्रोधावनादृत्य धर्ममेवानुपालय ।
धर्मः श्रेयस्करतमो राज्ञां भरतसत्तम ॥१६॥

भरतभूषण ! तुम भी काम और क्रोध को त्यागकर धर्म का पालन करो । धर्म ही राजाओं के लिए सबसे बढ़कर कल्याण करनेवाला है ।

अथाददानः कल्याणमनसूयुर्जितेन्द्रियः ।
वर्धते मतिमान् राजा स्रोतोभिरिव सागरः ॥१७॥

जो कल्याणकारी गुणों का ग्रहण करनेवाला, अनिन्दक, जितेन्द्रिय तथा बुद्धिमान् होता है, वह राजा उसी प्रकार वृद्धि को प्राप्त होता है, जैसे नदियों के प्रवाह से समुद्र ।

दर्पो नाम श्रियः पुत्रो जज्ञेऽधर्मादिति श्रुतिः ।
तेन देवासुरा राजन् नीताः सुबहवो व्ययम् ॥१८॥
राजर्षयश्च बहवस्तथा बध्यस्व पार्थिव ।
राजा भवति तं जित्वा दासस्तेन पराजितः ॥१९॥

राजन् ! सम्पत्ति का पुत्र है दर्प, जो अधर्म के अंश से उत्पन्न हुआ है, यह श्रुति का कथन है । उस दर्प ने बहुत-से देवों, असुरों और राजर्षियों को नष्ट कर दिया है । अतः भूपाल ! अब भी चेतो । जो दर्प को जीत लेता है, वह राजा होता है और जो उससे पराजित हो जाता है, वह दास बन जाता है ।

स यथा दर्पसहितमधर्मं नानुसेवते ।
तथा वर्तस्व मान्धातश्चिरं चेत्स्थातुमिच्छसि ॥२०॥

मान्धाता ! यदि तुम चिरकाल तक राजसिंहासन पर आरूढ़ रहना चाहते हो तो ऐसा बर्ताव करो, जिससे तुम्हारे द्वारा दर्प और अधर्म का सेवन न हो ।

दुर्बलस्य च यच्चक्षुर्मुनेराशीविषस्य च ।☐
अविषह्यतमं मन्ये मा स्म दुर्बलमासदः ॥२१॥

दुर्बल मनुष्य, मुनि और विषधर सर्प—इन सबकी दृष्टि को मैं अत्यन्त दुःसह मानता हूँ, अतः तुम किसी दुर्बल प्राणी को मत सताना ।

संविभज्य यदा भुङ्क्ते नामात्यानवमन्यते ।
निहन्ति बलिनं दृप्तं स राज्ञो धर्म उच्यते ॥२२॥

राजा जब सबको यथायोग्य विभाग देकर स्वयं उपभोग करता है, मन्त्रियों का अनादर नहीं करता और बल के घमण्ड में चूर रहनेवाले दुष्ट पुरुष या शत्रु को मार डालता है, तब उसका यह सब कार्य राजधर्म कहलाता है ।

त्रायते हि यदा सर्वं वाचा कायेन कर्मणा ।
पुत्रस्यापि न मृष्येच्च स राज्ञो धर्म उच्यते ॥२३॥

जब वह मन, वाणी और शरीर के द्वारा सबकी रक्षा करता है तथा अपराध करने पर पुत्र को भी क्षमा नहीं करता, तब राजा का यह व्यवहार राजधर्म कहलाता है ।

यदा रक्षति राष्ट्राणि यदा दस्यूनपोहति ।
यदा जयति संग्रामे स राज्ञो धर्म उच्यते ॥२४॥

जब राजा सम्पूर्ण राष्ट्र की रक्षा करता है, डाकू और लुटेरों को मार भगाता है तथा संग्राम में विजयी होता है, तब यह सब राजधर्म कहा जाता है ।

कृपणानाथवृद्धानां यदाश्रु परिमार्जति ।
हर्षं संजनयन् नृणां स राज्ञो धर्म उच्यते ॥२५॥

जब राजा दीन, अनाथ और वृद्धों के आँसू पोंछता है और इस व्यवहार द्वारा सब मनुष्यों के हृदय में हर्ष उत्पन्न करता है, तब उसका यह सद्भाव राजधर्म कहलाता है।

विवर्धयति मित्राणि तथारींश्च विकर्षति।
सम्पूजयति साधूंश्च स राज्ञो धर्म उच्यते ॥२६॥

जो राजा अपने मित्रों की वृद्धि, शत्रुओं का नाश और सज्जनों का समादर करता है, उसे राजधर्म कहते हैं।

सत्यं पालयति प्रीत्या नित्यं भूमिं प्रयच्छति।
पूजयेदतिथीन् भृत्यान् स राज्ञो धर्म उच्यते ॥२७॥

प्रेम-[श्रद्धा]-पूर्वक सत्य का पालन करना, प्रतिदिन भूमिदान करना और अतिथियों तथा भरण-पोषण करने योग्य व्यक्तियों का सत्कार करना—यह सब राजधर्म कहलाता है।

न जात्वदक्षो नृपतिः प्रजाः शक्नोति रक्षितुम्।
भारो हि सुमहांस्तात राज्यं नाम सुदुष्करम् ॥२८॥

तात! जो दक्ष नहीं है, वह राजा कभी प्रजा की रक्षा नहीं कर सकता, क्योंकि राज्य का सञ्चालन अत्यन्त दुष्कर कार्य और बहुत बड़ा भार है।

तद्दण्डविन्नृपः प्राज्ञः शूरः शक्नोति रक्षितुम्।
न हि शक्यमदण्डेन क्लीबेनाबुद्धिनापि वा ॥२९॥

राज्य की रक्षा वही राजा कर सकता है जो बुद्धिमान् और शूरवीर होने के साथ-साथ ही दण्ड देने की नीति को भी जानता है। जो दण्ड देने में हिचकिचाता है, वह नपुंसक और बुद्धिहीन राजा राज्य की रक्षा नहीं कर सकता।

धर्ममेवानुवर्तस्व न धर्माद् विद्यते परम्।
धर्मे स्थिता हि राजानो जयन्ति पृथिवीमिमाम् ॥३०॥

राजन्! तुम धर्म का ही अनुसरण करो। धर्म से बढ़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है। धर्म में स्थित रहनेवाले राजा इस सारी पृथिवी को जीत लेते हैं।

मृषावादं परिहरेत् कुर्यात्प्रियमयाचितः।□
न कामान्न च संरम्भान्न द्वेषाद् धर्ममुत्सृजेत् ॥३१॥

मिथ्या भाषण करना छोड़ दे, बिना प्रार्थना किये ही दूसरों का प्रिय करे। किसी कामना से, क्रोध से या भय से कभी धर्म का त्याग न करे।

संग्रहश्चैव भूतानां दानं च मधुरा च वाक्।
अप्रमादश्च शौचं च राज्ञो भूतिकरं महत् ॥३२॥

समस्त प्राणियों को अपने पक्ष में मिलाये रखना, दान देना, मधुर भाषण, प्रमाद का त्याग करना और अन्तः-बाह्य पवित्रता—ये राजा का ऐश्वर्य बढ़ानेवाले बहुत बड़े साधन हैं।

दातारं संविभक्तारं मार्दवोपगतं शुचिम्।
असंत्यक्तमनुष्यं च तं जनाः कुर्वते नृपम् ॥३३॥

जो पुरुष दानशील, सबके लिए ठीक-ठीक विभागपूर्वक आवश्यक वस्तुओं का वितरण करनेवाला, मृदुस्वभाव, शुद्ध आचार-विचारवाला और मनुष्यों का त्याग न करनेवाला होता है, उसी को लोग राजा बनाते हैं।

मूढमैन्द्रियकं लुब्धमनार्यचरितं शठम्।
अनतीतोपधं हिंस्रं दुर्बुद्धिमबहुश्रुतम् ॥३४॥
त्यक्तोदात्तं मद्यरतं द्यूतस्त्रीमृगयापरम्।
कार्ये महति युञ्जानो हीयते नृपतिः श्रियः ॥३५॥

जो राजा मूर्ख, इन्द्रियलोलुप, लोभी, दुराचारी, शठ, कपटी, हिंसक, दुर्बुद्धि, अनेक शास्त्रों के ज्ञान से शून्य, महत्त्वाकांक्षारहित, शराबी, जुआरी, स्त्रीलम्पट और मृगयासक्त पुरुषों को महत्त्वपूर्ण पदों पर नियुक्त करता है, वह लक्ष्मी से हीन हो जाता है।

रक्षाधिकरणं युद्धं तथा धर्मानुशासनम्।
मन्त्रचिन्ता सुखं काले पञ्चभिर्वर्धते मही ॥३६॥

रक्षा के साधन दुर्गादि, युद्ध, धर्मानुसार राज्य का शासन, मन्त्रचिन्तन और यथा-समय सबको सुख प्रदान करना—इन पाँचों साधनों द्वारा राज्य की वृद्धि होती है।

यदार्यजनविद्विष्टं कर्म तन्नाचरेद् बुधः।
यत् कल्याणमभिध्यायेत् तत्रात्मानं नियोजयेत् ॥३७॥

जिसे सज्जन बुरा समझते हों, बुद्धिमान् राजा वैसा कार्य कभी न करे। जिस कार्य को सबके लिए हितकारी समझे, उसी में अपने-आपको लगाए।

प्रिये नातिभृशं हृष्येदप्रिये न च संज्वरेत्।
न तप्येदर्थकृच्छ्रेषु प्रजाहितमनुस्मरन् ॥३८॥

यदि अपना प्रिय हो जाए तो प्रसन्न न हो और अप्रिय हो जाए तो अत्यन्त चिन्ता न करे। यदि

आर्थिक संकट आ पड़े तो प्रजा के हित का चिन्तन करते हुए तनिक भी सन्तप्त न हो ।

अदाता ह्यनतिस्नेहो दण्डेनावर्तयन् प्रजाः ।
साहसप्रकृती राजा क्षिप्रमेव विनश्यति ॥३९॥

जो दुःसाहसी, दान न देनेवाला और स्नेहशून्य एवं दण्ड के द्वारा प्रजा को बार-बार सताता है, वह राजा शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ।

अथ मानयितुर्दाम्नः श्लक्षणस्य वशवर्तिनः ।
व्यसनं स्वमिवोत्पन्नं विजिघांसन्ति मानवाः ॥४०॥

जो सबका मान करनेवाला, दानी, स्नेहयुक्त और दूसरों के वशवर्ती होकर रहता है, उसपर यदि कोई संकट आ जाए तो सब लोग उसे अपना ही संकट मानकर उसे दूर करने का प्रयत्न करते हैं ।

भीष्म उवाच

स एवमुक्तो मान्धाता तेनोतथ्येन भारत ।
कृतवानविशङ्कश्च एकः प्राप च मेदिनीम् ॥४१॥

भीष्मजी कहते हैं—भरतनन्दन ! उतथ्य के इस प्रकार उपदेश करने पर मान्धाता ने निःशङ्क होकर उनकी आज्ञा का पालन किया और पृथिवी का चक्रवर्ती राज्य पा लिया ।

भवानपि तथा सम्यङ् मान्धातेव महीपते ।
धर्मं कृत्वा महीं रक्ष स्वर्गे स्थानमवाप्स्यसि ॥४२॥

भूपाल ! मान्धाता की भाँति तुम भी भली-भाँति धर्म का पालन करते हुए इस पृथिवी की रक्षा करो, फिर तुम भी स्वर्गलोक में स्थान पा लोगे ।

युधिष्ठिर उवाच

अथ यः क्षत्रियो राजा क्षत्रियं प्रत्युपाव्रजेत् ।
कथं सम्प्रति योद्धव्यस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥४३॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! यदि कोई क्षत्रिय राजा किसी अन्य क्षत्रिय राजा पर आक्रमण कर दे तब उसे उसके साथ किस प्रकार युद्ध करना चाहिए, यह मुझे बताइए ।

भीष्म उवाच

नैवासन्नद्धकवचो योद्धव्यः क्षत्रियो रणे ।
एक एकेन वाच्यश्च विसृजेति क्षिपामि च ॥४४॥

भीष्मजी बोले—राजन् ! जो कवच बाँधे हुए न हो, उस क्षत्रिय के साथ रणभूमि में युद्ध नहीं करना चाहिए । एक योद्धा दूसरे अकेले योद्धा से कहे—"तुम मुझपर शस्त्र छोड़ो [प्रहार करो], मैं भी तुमपर प्रहार करता हूँ ।"

स चेत्सन्नद्ध आगच्छेत्सन्नद्धव्यं ततो भवेत् ।
स चेत्ससैन्य आगच्छेत् ससैन्यस्तमथाह्वयेत् ॥४५॥

यदि वह कवच बाँधकर सामने आ जाए तो स्वयं भी कवच धारण कर ले । यदि विपक्षी सेना को साथ लेकर आक्रमण करे तो स्वयं भी सेना के साथ आकर शत्रु को ललकारे ।

स चेन्निकृत्या युद्ध्येत निकृत्या प्रतियोधयेत् ।
अथ चेद् धर्मतो युद्ध्येद् धर्मेणैव निवारयेत् ॥४६॥

यदि वह छल से युद्ध करे तो स्वयं भी उसी रीति से उसका सामना करे और यदि वह धर्म से युद्ध आरम्भ करे तो धर्म से ही उसका सामना करना चाहिए ।

नाश्वेन रथिनं यायादुदियाद् रथिनं रथी ।
व्यसने न प्रहर्तव्यं न भीताय जिताय च ॥४७॥

घोड़े के द्वारा रथी पर आक्रमण न करे । रथी का सामना रथी को करना चाहिए । यदि शत्रु किसी संकट में पड़ जाए तो उसपर प्रहार न करे । डरे और पराजित हुए शत्रु पर भी कभी प्रहार नहीं करना चाहिए ।

विशीर्णकवचं चैव तवास्मीति च वादिनम् ।
कृताञ्जलिं न्यस्तशस्त्रं गृहीत्वा न हि हिंसयेत् ॥४८॥

जिसका कवच छिन्न-भिन्न हो गया हो, जो "मैं तुम्हारा हूँ"—ऐसा कह रहा हो, जो हाथ जोड़े हुए खड़ा हो, जिसने शस्त्र भूमि पर रख दिये हों—ऐसे विपक्षी योद्धा को बन्दी बनाकर मौत के घाट न उतारे ।

इषुर्लिप्तो न कर्णी स्यादसतामेतदायुधम् ।
यथार्थमेव योद्धव्यं न क्रुद्ध्येत जिघांसतः ॥४९॥

युद्ध में विषलिप्त और कर्णी बाण का प्रयोग नहीं करना चाहिए । ये दुष्टों के अस्त्र हैं । यथार्थ रीति [सरल नीति] से ही युद्ध करना चाहिए । यदि कोई व्यक्ति युद्ध में किसी का वध करना चाहता हो तो उसपर क्रोध नहीं करना चाहिए ।

कर्म चैतदसाधूनामसाधून् साधुना जयेत् ।
धर्मेण निधनं श्रेयो न जयः पापकर्मणा ।।५०।।

यह[क्रोध करना] तो दुष्टों का काम है । श्रेष्ठ-पुरुषों को तो दुष्टों पर भी धर्म से ही विजय पानी चाहिए । धर्मपूर्वक युद्ध करते हुए मर जाना भी अच्छा है, परन्तु पापकर्म के द्वारा विजय पाना अच्छा नहीं है ।

नाधर्मश्चरितो राजन् सद्यः फलति गौरिव ।
मूलानि च प्रशाखाश्च दहन् समधिगच्छति ।।५१।।

जैसे भूमि में बोये हुए बीज का फल तुरन्त नहीं मिलता, वैसे ही किये हुए पाप का फल भी तत्काल नहीं मिलता परन्तु जब वह फल मिलता है, तब मूल और शाखा दोनों को जलाकर भस्म कर देता है ।

पापेन कर्मणा वित्तं लब्ध्वा पापः प्रहृष्यति ।
स वर्धमानः स्तेयेन पापः पापे प्रसज्जति ।।५२।।
न धर्मोऽस्तीति मन्वानः शुचीनवहसन्निव ।
अश्रद्दधानश्च भवेद् विनाशमुपगच्छति ।।५३।।

पापी मनुष्य पापकर्म द्वारा धन पाकर हर्षित हो जाता है । वह पापी चोरी से ही बढ़ता हुआ पाप में आसक्त हो जाता है और यह समझकर कि धर्म है ही नहीं, पवित्रात्मा पुरुषों की हँसी उड़ाता है । धर्म में उसकी तनिक भी श्रद्धा नहीं रह जाती और पाप के द्वारा वह विनाश के मुख में जा पड़ता है ।

महादृतिरिवाध्मातः सुकृते नैव वर्तते ।
ततः समूलो ह्रियते नदीं कूलादिव द्रुमः ।।५४।।

जैसे चमड़े की थैली हवा भरने से फूल जाती है, वैसे ही पापी भी पाप से फूल उठता है । वह धर्म में कभी प्रवृत्त नहीं होता, परिणामस्वरूप जैसे नदी के किनारे पर खड़ा वृक्ष वहाँ से जड़सहित उखड़कर नदी में बह जाता है, उसी प्रकार वह पापी भी समूल नष्ट हो जाता है ।

अथैनमभिनिन्दन्ति भिन्नं कुम्भमिवाश्मनि ।
तस्माद् धर्मेण विजयं कोशं लिप्सेत भूमिपः ।।५५।।

पत्थर पर पटके हुए घड़े के समान उस [अधर्मशील] के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं और सभी लोग उसकी निन्दा करते हैं, अतः राजा को चाहिए कि वह धर्मपूर्वक ही धन और विजय प्राप्त करने की इच्छा करे ।

नाधर्मेण महीं जेतुं लिप्सेत जगतीपतिः ।
अधर्मविजयं लब्ध्वा को नु मन्येत भूमिपः ।।५६।।

किसी भी राजा को अधर्म के द्वारा पृथिवी पर विजय प्राप्त करने की इच्छा कभी नहीं करनी चाहिए । अधर्म से विजय पाकर कौन भूपाल सम्मानित हो सकता है ?

अधर्मयुक्तो विजयो ह्यध्रुवोऽस्वर्ग्य एव च ।
सादयत्येष राजानं महीं च भरतर्षभ ।।५७।।

अधर्म से प्राप्त की हुई विजय अस्थायी और स्वर्ग से गिरानेवाली होती है । भरतश्रेष्ठ ! ऐसी विजय राजा एवं राज्य दोनों का विनाश कर देती है ।

युधिष्ठिर उवाच

क्षत्रधर्माद्धि पापीयान्न धर्मोऽस्ति नराधिप ।
अपयानेन युद्धेन राजा हन्ति महाजनम् ।।५८।।

युधिष्ठिर ने पूछा—नरेश ! क्षत्रिय-धर्म से बढ़कर पापपूर्ण दूसरा कोई धर्म नहीं है, क्योंकि राजा किसी देश पर आक्रमण करके तथा युद्ध छेड़कर महान् जनसंहार कर डालता है ।

अथ स्म कर्मणा केन लोकान् जयति पार्थिवः ।
विद्वन् जिज्ञासमानाय प्रब्रूहि भरतर्षभ ।।५९।।

हे विद्वन् ! भरतभूषण ! अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि राजा को किस कर्म से पुण्य लोकों [उत्तम योनियों] की प्राप्ति होती है, यही मुझे बताइए ।

भीष्म उवाच

निग्रहेण च पापानां साधूनां संग्रहेण च ।
यज्ञैर्दानैश्च राजानो भवन्ति शुचयोऽमलाः ।।६०।।

भीष्मजी बोले—राजन् ! पापियों को दण्ड देने से, सत्पुरुषों को श्रद्धापूर्वक अपनाने से तथा यज्ञों का अनुष्ठान और दान करने से राजा लोग सब प्रकार के दोषों से छूटकर निर्मल तथा शुद्ध हो जाते हैं ।

उपरुन्धन्ति राजानो भूतानि विजयार्थिनः ।
त एव विजयं प्राप्य वर्धयन्ति पुनः प्रजाः ।।६१।।

जो राजा विजय की कामना रखकर युद्ध के समय प्राणियों को कष्ट पहुँचाते हैं, वे ही विजयप्राप्ति के पश्चात् पुनः सारी प्रजा की उन्नति करते हैं ।

अभीतो विकिरञ्शत्रून् प्रतिगृह्य शरांस्तथा ।
न तस्मात्त्रिदशाः श्रेयो भुवि पश्यन्ति किञ्चन ।।६२।।

जो निर्भय होकर शत्रुओं पर बाण-वृष्टि करता है और स्वयं भी बाणों का आघात सहता है, उस क्षत्रिय के लिए उस कर्म से बढ़कर विद्वान् लोग इस भूमण्डल पर दूसरा कोई कल्याणकारी कार्य नहीं देखते हैं ।

अधर्मः क्षत्रियस्यैष यच्छय्यामरणं भवेत् ।
विसृजञ्श्लेष्ममूत्राणि कृपणं परिदेवयन् ।।६३।।
अविक्षतेन देहेन प्रलयं योऽधिगच्छति ।
क्षत्रियो नास्य तत्कर्म प्रशंसन्ति पुराविदः ।।६४।।

शय्या पर लेटे हुए मरना क्षत्रिय के लिए अधर्म है । जो क्षत्रिय कफ और मल-मूत्र त्यागता हुआ तथा दुःखी होकर विलाप करता हुआ बिना घायल हुए शरीर से मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, उसके इस कर्म की प्राचीन धर्म के ज्ञाता विद्वान् लोग प्रशंसा नहीं करते ।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि अष्टाविंशोऽध्यायः ।।२८।।

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

गणतन्त्र राज्य का वर्णन और उसकी नीति

युधिष्ठिर उवाच

गणानां वृत्तिमिच्छामि श्रोतुं मतिमतां वर ।
यथा गणाः प्रवर्धन्ते न भिद्यन्ते च भारत ।
अरींश्च विजिगीषन्ते सुहृदः प्राप्नुवन्ति च ।।१।।

युधिष्ठिर ने पूछा—बुद्धिमानों में श्रेष्ठ पितामह ! अब मैं गणतन्त्र राज्यों का व्यवहार और वृत्तान्त सुनना चाहता हूँ । हे भारत ! गणराज्यों की जनता जिस प्रकार अपनी उन्नति करती है, जिस प्रकार आपस में मतभेद नहीं होने देती, जिस प्रकार शत्रुओं पर विजय पाना चाहती है और जिस उपाय से उसे सुहृदों की प्राप्ति होती है—ये सारी बातें सुनने की मेरी प्रबल इच्छा है ।

भीष्म उवाच

गणानां च कुलानां च राज्ञां भरतसत्तम ।
वैरसन्दीपनावेतौ लोभामर्षौ नराधिप ।।२।।

भीष्मजी बोले—भरतभूषण ! नरेश्वर ! गणों में, कुलों में तथा राजाओं में वैर की अग्नि प्रज्वलित करनेवाले ये दो ही दोष हैं—लोभ और अमर्ष ।

लोभमेको हि वृणुते ततोऽमर्षमनन्तरम् ।
तौ क्षयव्ययसंयुक्तावन्योन्यं च विनाशिनौ ।।३।।

पहले एक मनुष्य लोभ का वरण करता है [लोभ के वशीभूत होकर दूसरे का धन हड़पना चाहता है], तदनन्तर दूसरे के मन में अमर्ष [क्रोध] उत्पन्न होता है, फिर लोभ और अमर्ष से प्रभावित हुए वे दोनों व्यक्ति समुदाय, धन और जन की बड़ी भारी हानि उठाकर एक-दूसरे के विनाशक बन जाते हैं ।

चारमन्त्रबलादानैः सामदानविभेदनैः ।
क्षयव्ययभयोपायैः प्रकर्षन्तीतरेतरम् ।।४।।

वे भेद लेने के लिए गुप्तचरों को भेजते हैं, गुप्त-मन्त्रणाएँ करते हैं और सेना एकत्र करने में जुट जाते हैं । साम, दाम और भेद नीति का प्रयोग करते हैं । इतना ही नहीं, जनसंहार, अपार धन राशि का व्यय तथा अनेक प्रकार के भय उपस्थित करनेवाले विविध उपायों द्वारा एक-दूसरे को दुर्बल कर देते हैं ।

तत्रादानेन भिद्यन्ते गणाः संघातवृत्तयः ।
भिन्ना विमनसः सर्वे गच्छन्त्यरिवशं भयात् ।।५।।

संघबद्ध होकर जीवन-निर्वाह करनेवाले सैनिकों को भी यदि समय पर भोजन और वेतन न मिले तो वे भी फूट जाते हैं । फूट जाने पर सबके मन एक-दूसरे के विपरीत हो जाते हैं और वे सब-के-सब भय के कारण शत्रु के अधीन हो जाते हैं ।

भेदे गणा विनेशुर्हि भिन्नास्तु सुजयाः परैः ।
तस्मात्संघातयोगेन प्रयतेरन् गणाः सदा ।।६।।

आपस में फूट पड़ने से ही संघ या गणराज्य नष्ट हुए हैं । फूट होने पर शत्रु उन्हें सरलता से जीत लेते हैं, अतः गणों को चाहिए कि वे सदा

संघबद्ध—एकमत होकर ही विजय के लिए प्रयत्न करें।

अर्थाश्चैवाधिगम्यन्ते संघातबलपौरुषैः ।
बाह्याश्च मैत्रीं कुर्वन्ति तेषु संघातवृत्तिषु ॥७॥

जो सामूहिक बल-पुरुषार्थ से सम्पन्न हैं, उन्हें अनायास ही सब प्रकार के अभीष्ट पदार्थों की प्राप्ति हो जाती है। संघबद्ध होकर जीवन-यापन करनेवालों के साथ संघ से बाहर के लोग भी मैत्री करना चाहते हैं।

ज्ञानवृद्धाः प्रशंसन्ति शुश्रूषन्तः परस्परम् ।
विनिवृत्ताभिसंधानाः सुखमेधन्ति सर्वशः ॥८॥

ज्ञानवृद्ध लोग गणराज्य के नागरिकों की प्रशंसा करते हैं। संघबद्ध लोगों के मन में एक-दूसरे को ठगने की दुर्भावना नहीं होती। वे सभी एक-दूसरे की सेवा करते हुए सुखपूर्वक उन्नति करते हैं।

धर्मिष्ठान् व्यवहारांश्च स्थापयन्तश्च शास्त्रतः ।
यथावत् प्रतिपश्यन्तो विवर्धन्ते गणोत्तमाः ॥९॥

गणराज्य के श्रेष्ठ नागरिक-शास्त्र के अनुसार ही धर्मानुकूल व्यवहारों की स्थापना करते हैं। वे यथोचित दृष्टि से सबको देखते हुए उन्नति की दिशा में आगे बढ़ते हैं।

पुत्रान्भ्रातॄन्निगृह्णन्तो विनयन्तश्च तान्सदा ।
विनीतांश्च प्रगृह्णन्तो विवर्धन्ते गणोत्तमाः ॥१०॥

गणराज्य के श्रेष्ठ पुरुष कुमार्गगामी अपने पुत्रों और भाइयों को भी दण्ड देते हैं। वे उन्हें सदा उत्तम शिक्षा प्रदान करते हैं और शिक्षित हो जाने पर उन सबको अति आदर से अपनाते हैं, अतः वे विशेष उन्नति करते हैं।

प्राज्ञाञ्शूरान्महोत्साहान्कर्मसु स्थिरपौरुषान् ।
मानयन्तः सदा युक्ता विवर्धन्ते गणा नृप ॥११॥

नरेश्वर! संघराज के सदस्य सदा बुद्धिमान्, शूरवीर, महान् उत्साही और सभी कार्यों में दृढ़ उत्साह का परिचय देनेवाले लोगों का सदा आदर करते हुए राज्य की उन्नति के लिए पुरुषार्थी बने रहते हैं, अतः वे शीघ्र आगे बढ़ जाते हैं।

क्रोधो भेदो भयं दण्डः कर्षणं निग्रहो वधः ।
नयत्यरिवशं सद्यो गणान् भरतसत्तम ॥१२॥

भरतश्रेष्ठ! संघ-राज्य के लोगों में यदि क्रोध, फूट, भय, दण्डप्रहार, दूसरों को निर्बल बनाने, बन्धन में डालने या मार डालने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाए तो वह उन्हें तत्काल शत्रुओं के वश में डाल देती है।

मन्त्रगुप्तिः प्रधानेषु चारश्चामित्रकर्षण ।
न गणाः कृत्स्नशो मन्त्रं श्रोतुमर्हन्ति भारत ॥१३॥

शत्रुसंहारक! हे भारत! गण अथवा संघ के सभी लोग गुप्तमन्त्रणा सुनने के अधिकारी नहीं हैं। मन्त्रणा को गुप्त रखने और गुप्तचरों की नियुक्ति का कार्य प्रधान-प्रधान व्यक्तियों के ही अधीन होता है।

जात्या च सदृशाः सर्वे कुलेन सदृशास्तथा ।
न चोद्योगेन बुद्ध्या वा रूपद्रव्येण वा पुनः ॥१४॥
भेदाच्चैव प्रदानाच्च भिद्यन्ते रिपुभिर्गणाः ।
तस्मात्संघातमेवाहुर्गणानां शरणं महत् ॥१५॥

जाति और कुल में सभी एकसमान हो सकते हैं परन्तु उद्योग, बुद्धि और रंग-सौन्दर्य में सबका एक-सा होना असम्भव है। शत्रु लोग गणराज्य के लोगों में भेद-बुद्धि पैदा करके और उनमें से कुछ लोगों को धन देकर भी सम्पूर्ण संघ में फूट डाल देते हैं, अतः संघबद्ध रहना ही गणराज्य के नागरिकों का महान् आश्रय है।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥२९॥

त्रिशोऽध्यायः

माता-पिता तथा गुरु की सेवा का महत्त्व

युधिष्ठिर उवाच

महानयं धर्मपथो बहुशाखश्च भारत ।
किं स्विदेवेह धर्माणामनुष्ठेयतमं मतम् ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—हे भारत ! धर्म का मार्ग बहुत बड़ा है और इसकी शाखाएँ भी बहुत हैं । इन धर्मों [कर्तव्यों] में से किसको आप विशेषरूप से आचरण में लाने योग्य समझते हैं ?

किं कार्यं सर्वधर्माणां गरीयो भवतो मतम् ।
यथाहं परमं धर्ममिह च प्रेत्य चाप्नुयाम् ॥२॥

सब धर्मों में कौन-सा कार्य आपको श्रेष्ठ जान पड़ता है, जिसका अनुष्ठान करके मैं इहलोक और परलोक में भी परम धर्म का फल प्राप्त कर सकूँ ?

भीष्म उवाच

मातापित्रोर्गुरूणां च पूजा बहुमता मम ।
इह युक्तो नरो लोकान् यशश्च महदश्नुते ॥३॥

भीष्मजी बोले—राजन् ! मुझे तो माता-पिता और गुरुजनों का सम्मान ही अधिक महत्त्वपूर्ण धर्म जान पड़ता है । संसार में इस पुण्य कार्य में संलग्न होकर मनुष्य महान् यश और श्रेष्ठ लोक [योनि] को पाता है ।

एत एव त्रयो लोका एत एवाश्रमास्त्रयः ।□
एत एव त्रयो वेदा एत एव त्रयोऽग्नयः ॥४॥

ये माता-पिता और गुरुजन ही तीनों लोक हैं, ये ही तीनों आश्रम हैं, ये ही तीनों वेद हैं और ये ही तीनों अग्नियाँ हैं ।

पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः ।
गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी ॥५॥

पिता गार्हपत्य अग्नि है, माता दक्षिणाग्नि मानी गई है और गुरु आहवनीय अग्नि का रूप है । लौकिक अग्नियों से माता-पिता आदि अग्नियों का गौरव कहीं अधिक है ।

त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकांश्च विजेष्यसि ।
पितृवृत्या त्विमं लोकं मातृवृत्या तथा परम् ।
ब्रह्मलोकं गुरोर्वृत्या नियमेन चरिष्यसि ॥६॥

यदि तुम इन तीनों की सेवा में कोई भूल नहीं करोगे तो तीनों लोकों को जीत लोगे । पिता की सेवा से इस लोक को, माता की सेवा से परलोक को और नियमपूर्वक गुरु की सेवा से ब्रह्मलोक=मोक्ष को प्राप्त कर लोगे ।

नैतानतिशयेज्जातु नात्यश्नीयान्न दूषयेत् ।
नित्यं परिचरेच्चैव तद् वै सुकृतमुत्तमम् ।
कीर्ति पुण्यं यशो लोकान् प्राप्स्यसे राजसत्तम ॥७॥

इन तीनों की आज्ञा का कभी उल्लंघन न करे, इनको भोजन कराने के पूर्व स्वयं भोजन न करे, इनपर कोई दोषारोपण न करे तथा सदा इनकी सेवा में संलग्न रहे, यही सर्वोत्तम पुण्यकर्म है । हे राजेन्द्र ! इनकी सेवा से तुम कीर्ति, पवित्र यश और उत्तम लोक सब-कुछ प्राप्त कर लोगे ।

सर्वे तस्यादृता लोका यस्यैते त्रय आदृताः ।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः ॥८॥

जिसने इन तीनों का आदर-सत्कार कर लिया, उसके द्वारा सम्पूर्ण लोकों का आदर हो गया और जिसने इनका अपमान किया, उसके सम्पूर्ण शुभकर्म निष्फल हो जाते हैं ।

दशाचार्यानुपाध्याय उपाध्यायान् पिता दश ।□
पितॄन् दश तु मातैका नास्ति मातृसमो गुरुः ॥९॥

उपाध्याय [विद्यागुरु] दस आचार्यों से अधिक महत्त्व रखता है । पिता दस उपाध्यायों से बढ़कर है और माता का महत्त्व दस पिताओं से भी अधिक है । माता के समान दूसरा कोई गुरु नहीं है ।

गुरुर्गरीयान् पितृतो मातृतश्चेति मे मतिः ।
उभौ हि मातापितरौ जन्मन्येवोपयुज्यतः ।
आचार्यशिष्टा या जातिः सा दिव्या साजरामरा ॥१०॥

मेरा विश्वास यह है कि गुरु का पद माता और पिता से भी बढ़कर है, क्योंकि माता-पिता तो केवल इस शरीर को जन्म देने के ही उपयोग में आते हैं परन्तु आचार्य का उपदेश प्राप्त करके जो दूसरा जन्म प्राप्त होता है, वह दिव्य है, अजर-अमर है ।

विद्यां श्रुत्वा ये गुरुं नाद्रियन्ते
प्रत्यासन्ना कर्मणा मानसेन ।
तेषां पापं भ्रूणहत्या विशिष्टं
नान्यस्तेभ्यः पापकृदस्ति लोके ॥११॥

जो लोग विद्या पढ़कर गुरु का आदर नहीं करते, निकट रहकर मन, वचन और कर्म से गुरु की सेवा नहीं करते, उन्हें भ्रूण-[गर्भ के बालक की]-हत्या से भी बढ़कर पाप लगता है। संसार में उनसे बड़ा पापी दूसरा कोई नहीं है।

तस्मात् पूजयितव्याश्च संविभज्याश्च यत्नतः ।
गुरवो ह्यर्चितव्याश्च पुराणं धर्ममिच्छता ॥१२॥

अतः जो पुरातन [वैदिक] धर्म का फल पाना चाहते हैं, उन्हें चाहिए कि वे गुरुओं का सम्मान करें और प्रयत्नपूर्वक उन्हें आवश्यक वस्तुएँ लाकर दें।

येन प्रीणाति पितरं तेन प्रीतः प्रजापतिः ।
प्रीणाति मातरं येन पृथिवी तेन पूजिता ॥१३॥

मनुष्य जिस कर्म से पिता को प्रसन्न करता है, उसी के द्वारा प्रजापति परमेश्वर भी प्रसन्न होते हैं और जिस व्यवहार से वह माता को प्रसन्न कर लेता है, उसी के द्वारा सम्पूर्ण पृथिवी की भी पूजा हो जाती है।

मित्रद्रुहः कृतघ्नस्य स्त्रीघ्नस्य गुरुघातिनः ।
चतुर्णां वयमेतेषां निष्कृतिं नानुशुश्रुमः ॥१४॥

मित्रद्रोही, कृतघ्न, स्त्रीघाती और गुरु-हत्यारा—इन चारों के पाप का प्रायश्चित्त हमारे सुनने में नहीं आया है।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि त्रिंशोऽध्यायः ॥३०॥

एकत्रिंशोऽध्यायः

सत्य-असत्य का विवेचन, धर्म का लक्षण तथा व्यावहारिक नीति का कथन

युधिष्ठिर उवाच

कथं धर्मे स्थातुमिच्छन् नरो वर्तेत भारत ।
विद्वन् जिज्ञासमानाय प्रब्रूहि भरतर्षभ ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—हे भारत ! धर्म में स्थित रहने के इच्छुक मनुष्य को कैसा व्यवहार करना चाहिए ? विद्वन् ! मैं इस विषय में जानना चाहता हूँ। भरतभूषण ! आप मेरे लिए इसका वर्णन कीजिए।

सत्यं चैवानृतं चोभे लोकानावृत्य तिष्ठतः ।
तयोः किमाचरेद् राजन् पुरुषो धर्मनिश्चितः ॥२॥

राजन् ! सत्य और असत्य—ये दोनों सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त करके स्थित हैं, परन्तु धर्म पर विश्वास करनेवाला मनुष्य इन दोनों में से किसका आचरण करे ?

किं स्वित्सत्यं किमनृतं किं स्विद्धर्म्यं सनातनम् ।
कस्मिन्काले वदेत्सत्यं कस्मिन्कालेऽनृतं वदेत् ॥३॥

सत्य क्या है और झूठ क्या है ? कौन-सा कार्य सनातनधर्म के अनुकूल है ? किस समय सत्य बोलना चाहिए और झूठ कब बोलना चाहिए ?

भीष्म उवाच

सत्यस्य वचनं साधु न सत्याद् विद्यते परम् ।
यत्तु लोकेषु दुर्ज्ञानं तत्प्रवक्ष्यामि भारत ॥४॥

भीष्मजी ने कहा—भरतनन्दन ! सत्य बोलना अच्छा है। सत्य से बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है, परन्तु लोक में जिसे जानना अत्यन्त कठिन है, उसी को मैं बता रहा हूँ।

भवेत्सत्यं न वक्तव्यं वक्तव्यमनृतं भवेत् ।
यत्रानृतं भवेत् सत्यं सत्यं वाप्यनृतं भवेत् ॥५॥

जहाँ असत्य ही सत्य का काम करे [किसी प्राणी को संकट से बचाए] अथवा सत्य ही झूठ बन जाए [किसी के जीवन को संकट में डाल दे], ऐसे अवसरों पर सत्य नहीं बोलना चाहिए, वहाँ झूठ बोलना ही उचित है।

प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम् ।
यः स्यात् प्रभवसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥६॥

प्राणियों के अभ्युदय और कल्याण के लिए ही धर्म का प्रवचन किया गया है, अतः जो इस उद्देश्य से युक्त हो अर्थात् जिससे लोक और परलोक दोनों

सिद्ध होते हों, वही धर्म है, ऐसा शास्त्रवेत्ताओं का मत है।

धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः।
यत्स्याद् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः ॥७॥

सबको धारण [अधोगति से बचाने और जीवन की रक्षा] करने के कारण धर्म को 'धर्म' कहते हैं। धर्म ने ही सारी प्रजा को धारण कर रखा है, अतः जिससे धारण तथा पोषण होता हो, वही धर्म है, ऐसा धर्मवेत्ताओं का मत है।

अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।
यत्सादहिंसासंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः ॥८॥

प्राणियों की हिंसा न हो, इसलिए धर्म का उपदेश किया गया है, अतः जो अहिंसा से युक्त हो, उसी का नाम धर्म है, ऐसा धर्मवेत्ताओं का निश्चय है।

अहिंसा सत्यमक्रोधस्तपो दानं दमो मतिः।
अनसूयाप्यमात्सर्यमनीर्ष्या शीलमेव च।
एष धर्मः कुरुश्रेष्ठ कथितः परमेष्ठिना ॥९॥

कुरुश्रेष्ठ! अहिंसा, सत्य, अक्रोध, तप, दान, मनोनिग्रह, विशुद्ध बुद्धि, किसी के दोष न देखना, किसी से डाह और जलन न रखना तथा उत्तम शीलस्वभाव का परिचय देना—ये धर्म हैं। प्रजापति परमेश्वर ने इसी को सनातन धर्म बताया है।

येऽन्यायेन जिहीर्षन्तो धनमिच्छन्ति कस्यचित्।
तेभ्यस्तु न तदाख्येयं स धर्म इति निश्चयः ॥१०॥

जो अन्याय से अपहरण करने की इच्छा रखकर किसी धनी के धन का पता लगाना चाहते हों, उन लुटेरों को उसका पता न बताना यहाँ धर्म है, ऐसा धर्मवेत्ताओं का मत है।

प्राणात्यये विवाहे च वक्तव्यमनृतं भवेत्।
अर्थस्य रक्षणार्थाय परेषां धर्मकारणात् ॥११॥

प्राण-संकट के समय, विवाह के अवसर पर, दूसरे के धन की रक्षा के लिए और धर्म की रक्षा के लिए असत्य बोला जा सकता है।

यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यः
तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः।
मायाचारो मायया बाधितव्यः
साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः ॥१२॥

जो मनुष्य जिसके साथ जैसा व्यवहार करे, उसके साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए, यह धर्म है। कपटपूर्ण आचरण करनेवाले को वैसे ही आचरण के द्वारा दबाना उचित है और सदाचारी को सद्व्यवहार के द्वारा अपनाना चाहिए।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि एकत्रिंशोऽध्यायः ॥३१॥

द्वात्रिंशोऽध्यायः

सदाचार और ईश्वर-भक्ति का महत्त्व

युधिष्ठिर उवाच

क्लिश्यमानेषु भूतेषु तैस्तैर्भावैस्ततस्ततः।
दुर्गाण्यतितरेद् येन तन्मे ब्रूहि पितामह ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह! संसार के प्राणी भिन्न-भिन्न भावों द्वारा जहाँ-तहाँ अनेक प्रकार के कष्ट उठा रहे हैं, अतः जिस उपाय से मनुष्य इन दुःखों से छुटकारा पा सके वह मुझे बताइए।

भीष्म उवाच

आश्रमेषु यथोक्तेषु यथोक्तं ये द्विजातयः।
वर्तन्ते संयतात्मानो दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥२॥

भीष्मजी बोले—राजन्! जो द्विज [ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य] अपने मन का निग्रह करके शास्त्रोक्त चारों आश्रमों में रहते हुए उनके अनुसार ठीक-ठीक आचरण करते हैं, वे दुःखों से छूट जाते हैं।

ये दम्भान्नाचरन्ति स्म येषां वृत्तिश्च संयता।
विषयांश्च निगृह्णन्ति दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥३॥

जो दम्भयुक्त आचरण नहीं करते, जिनकी जीविका नियमानुकूल चलती है और जो विषयों की बढ़ती हुई इच्छा को रोक लेते हैं, वे दुःखसागर को लाँघ जाते हैं।

प्रत्याहुर्नोच्यमाना ये न हिंसन्ति च हिंसिताः।
प्रयच्छन्ति न याचन्ते दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥४॥

जो दूसरों के बुरा-भला कहने पर भी स्वयं उन्हें उत्तर नहीं देते, मार खाकर भी किसी को मारते नहीं, स्वयं दान देते हैं परन्तु किसी से माँगते नहीं, वे भी भीषण कष्टों से पार हो जाते हैं।

वासयन्त्यतिथीन् नित्यं नित्यं ये चानसूयकाः।
नित्यं स्वाध्यायशीलाश्च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥५॥

जो प्रतिदिन सत्कारपूर्वक अतिथियों को अपने घर में ठहराते हैं, कभी किसी के दोष नहीं देखते और नित्य नियमपूर्वक वेद का स्वाध्याय करते हैं, वे दुर्गम दुःखों से छूट जाते हैं।

माता पित्रोश्च ये वृत्तिं वर्तन्ते धर्मकोविदाः।
वर्जयन्ति दिवास्वप्नं दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥६॥

जो धर्मज्ञ पुरुष सदा माता-पिता की सेवा में लगे रहते हैं और केवल विचारों की दुनिया में नहीं रहते, वे सभी कष्टों को लाँघ जाते हैं।

ये वा पापं न कुर्वन्ति कर्मणा मनसा गिरा।
निक्षिप्तदण्डा भूतेषु दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥७॥

जो मन, वचन और कर्म से कभी पाप नहीं करते और किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं पहुँचाते, वे भी दुःखों के पार हो जाते हैं।

स्वेषु दारेषु वर्तन्ते न्यायवृत्तिमृतावृतौ।
अग्निहोत्रपराः सन्तो दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥८॥

जो गृहस्थ प्रतिदिन अग्निहोत्र करते हैं तथा ऋतुकाल में अपनी ही पत्नी के साथ सन्तान के लिए धर्मानुकूल समागम करते हैं—वे दुःखों से छूट जाते हैं।

ये वदन्तीह सत्यानि प्राणत्यागेऽप्युपस्थिते।
प्रमाणभूता भूतानां दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥९॥

जो लोग प्राण जाने का अवसर उपस्थित होने पर भी सत्य बोलना नहीं छोड़ते, वे समस्त प्राणियों के विश्वासपात्र बने रहकर सभी दुःखों को लाँघ जाते हैं।

कर्माण्यकुहकार्थानि येषां वाचश्च सूनृताः।
येषामर्थाश्च सम्बद्धा दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥१०॥

जिनके शुभकर्म दिखावे के लिए नहीं होते, जो सदा मधुर वचन बोलते हैं तथा जिनका धन सत्कर्मों में व्यय होता है, वे भीषण कष्टों से पार हो जाते हैं।

ये तपश्च तपस्यन्ति कौमारब्रह्मचारिणः।
विद्यावेदव्रतस्नाता दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥११॥

जो तप करते, कुमारावस्था से ही ब्रह्मचर्यपालन में तत्पर रहते और विद्या तथा वेदों के अध्ययन-सम्बन्धी व्रत को पूर्ण करके स्नातक बनते हैं, वे दुर्गम विपत्तियों से छुटकारा पा जाते हैं।

परश्रिया न तप्यन्ति ये सन्तः पुरुषर्षभाः।
ग्राम्यादर्थान्निवृत्ताश्च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥१२॥

जो ईर्ष्यावश दूसरों की सम्पत्ति से जलते नहीं हैं और ग्राम्य विषय-भोगों से निवृत्त हो गये हैं, वे मनुष्यों में श्रेष्ठ साधु पुरुष दुस्तर विपत्ति से छुटकारा पा जाते हैं।

ये न मानित्वमिच्छन्ति मानयन्ति च ये परान्।
मान्यमानान् नमस्यन्ति दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥१३॥

जो दूसरों से सम्मान नहीं चाहते, जो स्वयं ही दूसरों का सम्मान करते हैं तथा सम्माननीय जनों को नमस्कार करते हैं, वे भीषण कष्टों से छूट जाते हैं।

ये क्रोधं सन्नियच्छन्ति क्रुद्धान् संशमयन्ति च।
न च कुप्यन्ति भूतानां दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥१४॥

जो क्रोध को वश में रखते हैं, क्रोधी मनुष्यों को शान्त करते और स्वयं किसी भी प्राणी पर कुपित नहीं होते, वे दुस्तर दुःखों के पार हो जाते हैं।

यात्रार्थं भोजनं येषां सन्तानार्थं च मैथुनम्।
वाक्सत्यवचनार्थाय दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥१५॥

जिनका भोजन स्वाद के लिए न होकर जीवन-यात्रा के निर्वाह के लिए होता है, जो विषय-वासना की तृप्ति के लिए नहीं, सन्तान की इच्छा से मैथुन में प्रवृत्त होते हैं और जिनकी वाणी केवल सत्य बोलने के लिए है—वे समस्त दुःखों से छूट जाते हैं।

ईश्वरं सर्वभूतानां जगतः प्रभवाप्ययम्।
भक्ता नारायणं देवं दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥१६॥

जो समस्त प्राणियों के स्वामी और जगत् की उत्पत्ति तथा प्रलय के कारण भगवान् नारायण में भक्तिभाव रखते हैं, वे घोर कष्टों और आपत्तियों से छूट जाते हैं।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥३२॥

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

आलस्य का दुष्परिणाम, नम्र होने और निन्दा सह लेने का लाभ

युधिष्ठिर उवाच

**किं पार्थिवेन कर्तव्यं किं च कृत्वा सुखी भवेत् ।
एतदाचक्ष्व तत्त्वेन सर्वधर्मभृतां वर ।।१।।**

युधिष्ठिर ने पूछा—समस्त धर्मात्माओं में श्रेष्ठ पितामह ! राजा को क्या करना चाहिए ? क्या करने से वह सुखी हो सकता है ? यह मुझे यथार्थरूप से बताइए ।

भीष्म उवाच

**हन्त तेऽहं प्रवक्ष्यामि शृणु कार्यैकनिश्चयम् ।
यथा राज्ञेह कर्तव्यं यच्च कृत्वा सुखी भवेत् ।।२।।**

भीष्मजी बोले—राजन् ! राजा के जो कर्तव्य हैं और जो-कुछ करके वह सुखी हो सकता है, उस कार्य का निश्चय करके अब मैं तुम्हें बताता हूँ, सुनो !

**न चैवं वर्तितव्यं स्म यथेदमनुशुश्रुमः ।
उष्ट्रस्य च महद् वृत्तं तन्निबोध युधिष्ठिर ।।३।।**

युधिष्ठिर ! हमने एक ऊँट का जो महान् वृत्तान्त सुन रखा है, तुम उसका श्रवण करो । राजा को वैसा आचरण नहीं करना चाहिए ।

**जातिस्मरो महानुष्ट्रः प्राजापत्ये युगेऽभवत् ।
तपः सुमहदातिष्ठदरण्ये संशितव्रतः ।।४।।**

प्राजापत्य [सत्य] युग में एक महान् ऊँट था । उसे अपने पूर्वजन्म की स्मृति थी । उसने कठोर व्रत के पालन का नियम लेकर वन में भीषण तप आरम्भ किया ।

**तपसस्तस्य चान्तेऽथ प्रीतिमानभवद् विभुः ।
वरेण छन्दयामास ततश्चैनं पितामहः ।।५।।**

उस तपस्या के अन्त में पितामह भगवान् ब्रह्मा अत्यन्त प्रसन्न हुए । उन्होंने उससे वर माँगने के लिए कहा ।

उष्ट्र उवाच

**भगवंस्त्वत्प्रसादान्मे दीर्घा ग्रीवा भवेदियम् ।
योजनानां शतं साग्रं गच्छामि चरितुं विभो ।।६।।**

ऊँट बोला—भगवन् ! आपकी कृपा से मेरी यह गर्दन बहुत लम्बी हो जाए, जिससे जब मैं चरने के लिए जाऊँ तो सौ योजन से भी अधिक दूरी तक की खाद्य वस्तुएँ ग्रहण कर सकूँ ।

भीष्म उवाच

**एवमस्त्विति चोक्तः स वरदेन महात्मना ।
प्रतिलभ्य वरं श्रेष्ठं ययावुष्ट्रः स्वकं वनम् ।।७।।**

भीष्मजी कहते हैं—वरदायक महात्मा ब्रह्माजी ने 'एवमस्तु—ऐसा ही हो' कहकर उसे मुँहमाँगा वर दे दिया । वह उत्तम वर पाकर ऊँट अपने वन में चला गया ।

**स चकार तदाऽऽलस्यं वरदानात् सुदुर्मतिः ।
न चैच्छच्चरितुं गन्तुं दुरात्मा कालमोहितः ।।८।।**

वह खोटी बुद्धिवाला ऊँट यह वरदान पाकर आलसी बन गया । वह दुरात्मा काल से मोहित होकर चरने के लिए कहीं जाना ही नहीं चाहता था ।

**स कदाचित्प्रसार्यैवं तां ग्रीवां शतयोजनाम् ।
चचाराश्रान्तहृदयो वातश्चागात्ततो महान् ।।९।।**

एक समय की बात है, वह अपनी सौ योजन लम्बी गर्दन फैलाकर चर रहा था । उसका मन चरने से कभी थकता ही नहीं था । इतने में ही बड़े जोर से हवा चलने लगी ।

**स गुहायां शिरो ग्रीवां निधाय पशुरात्मनः ।
आस्ते तु वर्षमभ्यागात् सुमहत्प्लावयज्जगत् ।।१०।।**

वह पशु किसी गुफा में अपनी गर्दन डालकर चर रहा था कि इतने में सारे संसार को जल से आप्लावित करती हुई बड़ी भारी वर्षा होने लगी ।

**अथ शीतपरीताङ्गो जम्बुकः क्षुच्छ्रमान्वितः ।
सदारस्तां गुहामाशु प्रविवेश जलार्दितः ।।११।।**

वर्षा आरम्भ होने पर भूख और थकावट से कष्ट पाता हुआ एक गीदड़ अपनी गीदड़ी के साथ शीघ्र ही उस गुहा में आ घुसा । वह जल से पीड़ित था और सर्दी के कारण उसके सारे अङ्ग अकड़ गये थे ।

**स दृष्ट्वा मांसजीवी तु सुभृशं क्षुच्छ्रमान्वितः ।
अभक्षयत् ततो ग्रीवामुष्ट्रस्य भरतर्षभ ।।१२।।**

भरतश्रेष्ठ ! वह मांसजीवी गीदड़ अत्यन्त भूख के कारण कष्ट पा रहा था, अतः वह ऊँट की गर्दन का मांस काट-काटकर खाने लगा ।

यदा त्वबुध्यतात्मानं भक्ष्यमाणं स वै पशुः ।
तदा संकोचने यत्नमकरोद् भृशदुःखितः ।।१३।।

जब उस पशु को यह पता चला कि उसकी गर्दन खाई जा रही है, तब वह अत्यन्त दुःखी हो उसे समेटने का प्रयत्न करने लगा ।

यावदूर्ध्वमधश्चैव ग्रीवां संक्षिपते पशुः ।
तावत्तेन सदारेण जम्बुकेन स भक्षितः ।।१४।।

जबतक वह पशु अपनी गर्दन को ऊपर-नीचे समेटने का प्रयत्न करता रहा, तबतक गीदड़ीसहित सियार ने उसे काटकर खा लिया ।

स हत्वा भक्षयित्वा च तमुष्ट्रं जम्बुकस्तदा ।
विगते वातवर्षे तु निश्चक्राम गुहामुखात् ।।१५।।

इस प्रकार ऊँट को मारकर खा जाने के पश्चात् जब आँधी और वर्षा बन्द हो गई, तब वह गीदड़ गुफा के मुख से बाहर निकल गया ।

एवं दुर्बुद्धिना प्राप्तमुष्ट्रेण निधनं तदा ।
आलस्यस्य क्रमात्पश्य महान्तं दोषमागतम् ।।१६।।

इस प्रकार उस मूर्ख ऊँट की मृत्यु हो गई । देखो, उसके आलस्य के क्रम से कितना महान् दोष प्राप्त हो गया ![1]

त्वमप्येवंविधं हित्वा योगेन नियतेन्द्रियः ।
वर्तस्व बुद्धिमूलं तु विजयं मनुरब्रवीत् ।।१७।।

अतः तुम्हें भी ऐसे आलस्य को छोड़कर इन्द्रियों को वश में रखते हुए बुद्धिपूर्वक वर्ताव करना उचित है । 'विजय का मूल बुद्धि ही है'—ऐसा मनु महाराज का कथन है ।

बुद्धिश्रेष्ठानि कर्माणि बाहुमध्यानि भारत ।
तानि जंघाजघन्यानि भारप्रत्यवराणि च ।।१८।।

भरतनन्दन ! बुद्धिवल से किये गये कार्य श्रेष्ठ होते हैं । बाहुबल से किये जानेवाले कार्य मध्यम हैं । जांघ और पैर के बल से किये गये कर्म जघन्य—अधमकोटि के हैं और सिर पर भार ढोने के कार्य सबसे निम्न श्रेणी के हैं ।

राज्यं तिष्ठति दक्षस्य संगृहीतेन्द्रियस्य च ।
आर्तस्य बुद्धिमूलं हि विजयं मनुरब्रवीत् ।।१९।।

जो जितेन्द्रिय और कार्यदक्ष है, उसी का राज्य स्थिर रहता है । महर्षि मनु का कथन है कि संकट में पड़े हुए राजा की विजय का मूल कारण बुद्धिवल ही है ।

परीक्ष्यकारिणो ह्यर्थास्तिष्ठन्तीह युधिष्ठिर ।
सहाययुक्तेन मही कृत्स्ना शक्या प्रशासितुम् ।।२०।।

युधिष्ठिर ! जो भली-भाँति परीक्षा करके कोई कार्य करता है, उसके पास ही धन स्थिर रहता है। सहायकों से सम्पन्न नरेश ही सम्पूर्ण पृथिवी का शासन कर सकता है ।

युधिष्ठिर उवाच

राजा राज्यमनुप्राप्य दुर्लभं भरतर्षभ ।
अमित्रस्यातिवृद्धस्य कथं तिष्ठेदसाधनः ।।२१।।

युधिष्ठिर ने पूछा—भरतभूषण ! राजा एक दुर्लभ राज्य को पाकर भी सेना और कोष आदि साधनों से हीन हो तो सभी दृष्टियों से अत्यन्त बढ़े-चढ़े हुए शत्रु के सामने कैसे टिक सकता है ?

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
सरितां चैव संवादं सागरस्य च भारत ।।२२।।

भीष्मजी बोले—भरतकुमार ! इस विषय में बुद्धिमान् लोग नदियों और समुद्र के संवादरूप एक प्राचीन उपाख्यान का दृष्टान्त दिया करते हैं ।

सुरारिनिलयः शश्वत्सागरः सरिताम्पतिः ।
पप्रच्छ सरितः सर्वाः संशयं जातमात्मनः ।।२३।।

एक समय की बात है, असुरों के निवासस्थान और सरिताओं के स्वामी समुद्र ने सम्पूर्ण नदियों अपने मन का एक सन्देह पूछा ।

सागर उवाच

समूलशाखान् पश्यामि निहतान् कायिनो द्रुमान् ।
युष्माभिरिह पूर्णाभिर्नद्यस्तत्र न वेतसम् ।।२४।।

---

[1] कहानी सत्य नहीं होतीं, वे किसी विषय का प्रतिपादन करने के लिए घड़ी जाती हैं । पाठक कहानी पर विचार न कर उसके तथ्य की ओर ध्यान दें । कहानी में जीवन का तथ्य भरा हुआ है ।

समुद्र ने पूछा—नदियो ! मैं देखता हूँ कि जब बाढ़ आने के कारण तुम लबालब भर जाती हो, तब विशालकाय वृक्षों को जड़मूल और शाखाओंसहित उखाड़कर अपने प्रवाह में बहा लाती हो, परन्तु उनमें बेंत का कोई पेड़ दिखाई नहीं देता ।

अकायश्चाल्पसारश्च वेतसः कूलजश्च वः ।
अवज्ञया वा नानीतः किं च वा तेन वः कृतम् ॥२५॥

बेंतों का शरीर तो नहीं के बराबर बहुत पतला है। उसमें कुछ दम नहीं होता और वह तुम्हारे किनारे पर जमता है, फिर भी तुम उसे नहीं लातीं, इसका क्या कारण है ? क्या तुम उसे अवहेलनावश कभी नहीं लाईं अथवा उसने तुम्हारा कोई उपकार किया है ?

तदहं श्रोतुमिच्छामि सर्वासामेव वो मतम् ।
यथा चेमानि कूलानि हित्वा नायाति वेतसः ॥२६॥

इस विषय में तुम सबका विचार मैं सुनना चाहता हूँ। क्या कारण है कि बेंत का वृक्ष तुम्हारे इन तटों को छोड़कर नहीं आता है ?

गाङ्गोवाच

तिष्ठन्त्येते यथास्थानं नगा ह्येकनिकेतनाः ।
ते त्यजन्ति ततः स्थानं प्रातिलोम्यान्न वेतसः ॥२७॥

गङ्गा बोली—नदीश्वर ! ये वृक्ष अपने-अपने स्थान पर अकड़कर खड़े रहते हैं, हमारे प्रवाह के सामने मस्तक नहीं झुकाते । इसी प्रतिकूल व्यवहार के कारण उन्हें नष्ट होकर अपना स्थान छोड़ना पड़ता है, परन्तु बेंत ऐसा नहीं है ।

वेतसो वेगमायान्तं दृष्ट्वा नमति नापरे ।
सरिद्वेगेऽव्यतिक्रान्ते स्थानमासाद्य तिष्ठति ॥२८॥

बेंत नदी के वेग को आते हुए देखकर झुक जाता है, परन्तु दूसरे वृक्ष ऐसा नहीं करते, [अतः वे उखड़ जाते हैं परन्तु] सरिताओं का वेग शान्त होने पर बेंत पुनः अपने स्थान में ही स्थित हो जाता है ।

कालज्ञः समयज्ञश्च सदा वश्यश्च नोद्धतः ।
अनुलोमस्तथास्तब्धस्तेन नाभ्येति वेतसः ॥२९॥

बेंत समय को पहचानता है तथा उसके अनुसार व्यवहार करता है, सदा हमारे वश में रहता है, कभी उद्दण्डता नहीं दिखाता । वह सदा अनुकूल बना रहता है, उसमें कभी अकड़ नहीं आती, अतः उसे स्थान छोड़कर यहाँ नहीं आना पड़ता ।

मारुतोदकवेगेन ये नमन्त्युन्नमन्ति च ।
ओषध्यः पादपा गुल्मा न ते यान्ति पराभवम् ॥३०॥

जो पौधे, वृक्ष या लता-गुल्म हवा और पानी के वेग से झुक जाते हैं और वेग शान्त होने पर सिर उठाते हैं, उनका कभी पराभव नहीं होता ।

भीष्म उवाच

यो हि शत्रोर्विवृद्धस्य प्रभोर्बन्धविनाशने ।
पूर्वं न सहते वेगं क्षिप्रमेव विनश्यति ॥३१॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इसी प्रकार जो राजा बल में बढ़े-चढ़े तथा बन्धन में डालने और विनाश करने में समर्थ शत्रु के प्रथम वेग को सिर झुकाकर नहीं सहता है, वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है ।

सारासारं बलं वीर्यमात्मनो द्विषतश्च यः ।
जानन् विचरति प्राज्ञो न स याति पराभवम् ॥३२॥

जो बुद्धिमान् राजा अपने तथा शत्रु के सार-असार, बल तथा पराक्रम को जानकर उसके अनुसार व्यवहार करता है, वह कभी पराजित नहीं होता ।

एवमेव यदा विद्वान् मन्यतेऽतिबलं रिपुम् ।
संश्रयेद् वैतसीं वृत्तिमेतत् प्रज्ञानलक्षणम् ॥३३॥

इसी प्रकार बुद्धिमान् राजा जब शत्रु के बल को अपने से अधिक समझे, तब बेंत का ही ढंग अपना ले, अर्थात् उसके समक्ष नतमस्तक हो जाए। यही बुद्धिमानी का लक्षण है ।

युधिष्ठिर उवाच

विद्वान् मूर्खप्रगल्भेन मृदुतीक्ष्णेन भारत ।
आक्रुश्यमानः सदसि कथं कुर्यादरिन्दम ॥३४॥

युधिष्ठिर ने पूछा—शत्रुमर्दन भारत ! यदि कोई ढीठ मूर्ख मधुर अथवा तीखे शब्दों में भरी सभा में किसी विद्वान् की निन्दा करने लगे, तो वह उसके साथ कैसा व्यवहार करे ?

भीष्म उवाच

श्रूयतां पृथिवीपाल यथैषोऽर्थोऽनुगीयते ।
सदा सुचेताः सहते नरस्येहाल्पमेधसः ॥३५॥

भीष्मजी ने कहा—भूपाल ! सुनो, इस विषय में

सदा से जैसी बात कही जाती है, वह बताता हूँ। विशुद्धचित्त-मनुष्य इस संसार में सदा ही मूर्खों के कठोर वचनों को सहन करता है।

टिट्टिभं तमुपेक्षेत वाशमानमिवातुरम्।
लोकविद्वेषमापन्नो निष्फलं प्रतिपद्यते ॥३६॥

श्रेष्ठ पुरुष को चाहिए कि वह टिटिहरी अथवा रोगी की भाँति टाँय-टाँय करते हुए उस निन्दा करनेवाले की उपेक्षा कर दे। इससे वह सब लोगों के द्वेष का पात्र बन जाएगा और उसके सभी मनोरथ निष्फल हो जाएँगे।

प्राकृतो हि प्रशंसन् वा निन्दन् वा किं करिष्यति।
वने काक इवाबुद्धिर्वाशमानो निरर्थकम् ॥३७

जैसे वन में कौआ व्यर्थ ही काँव-काँव किया करता है, उसी प्रकार मूर्ख भी अकारण ही निन्दा करता है। वह प्रशंसा करे या निन्दा, किसी का क्या भला या बुरा करेगा? [कुछ भी तो नहीं]।

उपेक्षितव्यो यत्नेन तादृशः पुरुषाधमः।
यद् यद् ब्रूयादल्पमतिस्तत्तदस्य सहेद् बुधः ॥३८॥

ऐसे नराधम की प्रयत्नपूर्वक उपेक्षा कर देनी चाहिए। मूर्ख मनुष्य जो कुछ भी कह दे, विद्वान् पुरुष को वह सब सह लेना चाहिए।

निषेकं विपरीतं स आचष्टे वृत्तचेष्टया।
मयूर इव कौपीनं नृत्यं सन्दर्शयन्निव ॥३९॥

मोर जब नाचता है, तब वह अपने गुप्त अङ्गों को भी प्रकट कर देता है। इसी प्रकार जो मूर्ख अनुचित आचरण करता है, वह उस कुचेष्टा द्वारा अपने छिपे हुए दोषों को भी प्रकट कर देता है।

यस्यावाच्यं न लोकेऽस्ति नाकार्यं चापि किञ्चन।
वाचं तेन न संदध्याच्छुचिः संश्लिष्टकर्मणा ॥४०

संसार में जिसके लिए कुछ भी कह देना या कर डालना असम्भव नहीं है, ऐसे मनुष्य से उस भले पुरुष को बात भी नहीं करनी चाहिए, जो अपने सत्कर्म के द्वारा विशुद्ध समझा जाता है।

प्रत्यक्षं गुणवादी यः परोक्षे चापि निन्दकः।
स मानवः श्ववल्लोके नष्टलोकपरावरः ॥४१॥

जो सामने तो प्रशंसा करता है और परोक्ष में निन्दा करता है, वह मनुष्य संसार में कुत्ते के समान है। उसके लोक और परलोक दोनों नष्ट हो जाते हैं।

मनुष्यशालावृकमप्रशान्तं
जनापवादे सततं निविष्टम्।
मातङ्गमुन्मत्तमिवोन्नदन्तं
त्यजेत तं श्वानमिवातिरौद्रम् ॥४२॥

जो सदा लोगों की निन्दा में ही तत्पर रहता है, वह मनुष्य के शरीररूप घर में रहनेवाला भेड़िया है। वह सदा अशान्त बना रहता है। वह मतवाले हाथी के समान चीत्कार करता है और महाभयंकर कुत्ते के समान काटने को दौड़ता है। श्रेष्ठ पुरुष को चाहिए कि उसे सदा के लिए त्याग दे।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥३३॥

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

त्रिवर्ग का विचार, पदच्युत राजा के पुनरुत्थान के उपाय तथा शील का महत्त्व

युधिष्ठिर उवाच

तात धर्मार्थकामानां श्रोतुमिच्छामि निश्चयम्।
लोकयात्रा हि कार्त्स्न्येन तिष्ठेत् केषु प्रतिष्ठिता ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—तात! मैं धर्म, अर्थ और काम के सम्बन्ध में आपका निश्चित मत सुनना चाहता हूँ। किनपर आश्रित होने पर संसारयात्रा का पूर्णरूप से निर्वाह होता है।

धर्मार्थकामाः किं मूलास्त्रयाणां प्रभवश्च कः।
अन्योऽन्यं चानुषज्जन्ते वर्तन्ते च पृथक् पृथक् ॥२॥

धर्म, अर्थ और काम का मूल क्या है? इन तीनों की उत्पत्ति का कारण क्या है? ये कहीं एकसाथ मिले हुए और कहीं पृथक्-पृथक् क्यों रहते हैं?

भीष्म उवाच

यदा ते स्युः सुमनसो लोके धर्मार्थनिश्चये।
कालप्रभवसंस्थासु सज्जन्ते च त्रयस्तदा ॥३॥

भीष्मजी बोले—राजन्! संसार में जब मनुष्यों

का चित्त शुद्ध होता है और वे धर्मपूर्वक किसी अर्थ की प्राप्ति का निश्चय करके प्रवृत्त होते हैं, उस समय उचित काल, कारण और कर्मानुष्ठानवश धर्म, अर्थ और काम—तीनों एकसाथ मिले हुए प्रकट होते हैं।

धर्ममूलः सदैवार्थः कामोऽर्थफलमुच्यते ।
संकल्पमूलास्ते सर्वे संकल्पो विषयात्मकः ॥४॥

इनमें धर्म सदा ही अर्थ [धन] की प्राप्ति का कारण है और काम अर्थ का फल कहलाता है, परन्तु इन तीनों का मूल कारण है संकल्प । संकल्प विषयरूप है ।

विषयाश्चैव कार्त्स्न्येन सर्व आहारसिद्धये ।
मूलमेतत् त्रिवर्गस्य निवृत्तिर्मोक्ष उच्यते ॥५॥

सारे विषय पूर्णरूप से इन्द्रियों के उपभोग में आने के लिए हैं। संकल्प ही धर्म, अर्थ और काम का मूल है, इससे निवृत्त होना ही 'मोक्ष' कहलाता है ।

धर्माच्छरीरसंगुप्तिर्धर्मार्थं चार्थ उच्यते ।
कामो रतिफलाश्चात्र सर्वे ते च रजस्वलाः ॥६॥

धर्म से शरीर की रक्षा होती है, धर्म का उपार्जन करने के लिए ही अर्थ की आवश्यकता बताई जाती है और काम का फल है रति । ये सभी रजोगुणमय हैं।

अपध्यानमलो धर्मो मलोऽर्थस्य निगूहनम् ।
सम्प्रमोदमलः कामो भूयः स्वगुणवर्जितः ॥७॥

फल की इच्छा धर्म का मल है, संग्रह करके रखना अर्थ का मल है और आमोद-प्रमोद काम का मल है, परन्तु यह त्रिवर्ग यदि अपने दोषों से रहित हो तो कल्याणकारक होता है ।

यो धर्मार्थौ परित्यज्य काममेवानुवर्तते ।
स धर्मार्थपरित्यागात् प्रज्ञानाशमिहार्च्छति ॥८॥

राजन् ! जो धर्म और अर्थ को तिलाञ्जलि देकर केवल काम का सेवन करता है, उन दोनों के त्याग से संसार में उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है ।

प्रज्ञानाशात्मको मोहस्तथा धर्मार्थनाशकः ।
तस्मान्नास्तिकता चैव दुराचारश्च जायते ॥९॥

बुद्धि का नाश ही मोह है । वह धर्म तथा अर्थ दोनों का विनाशक है । इसी से मनुष्य में नास्तिकता आ जाती है और वह दुराचारी बन जाता है ।

दुराचारान् यदा राजा प्रदुष्टान्न नियच्छति ।
तस्मादुद्विजते लोकः सर्पाद्वेश्मगतादिव ॥१०॥

जब राजा दुराचारियों और दुष्टों को दण्ड देकर वश में नहीं करता है, तब सारी प्रजा घर में रहनेवाले सर्प की भाँति उस राजा से उद्विग्न हो उठती है ।

तं प्रजा नानुवर्तन्ते ब्राह्मणा न च साधवः ।
ततः संशयमाप्नोति तथा वध्यत्वमेति च ॥११॥

उस अवस्था में प्रजा उसका अनुसरण नहीं करती । साधु और ब्राह्मण भी साथ नहीं देते । फिर तो उसका जीवन संकट में पड़ जाता है और अन्त में वह प्रजा के ही हाथों मारा जाता है ।

अपध्वस्तस्त्ववमतो दुःखं जीवितमृच्छति ।
जीवेच्च यदपध्वस्तस्तच्छुद्धं मरणं भवेत् ॥१२॥

वह अपने पद से भ्रष्ट और अपमानित होकर दुःखमय जीवन बिताता है । यदि पदभ्रष्ट होकर भी वह जीता है तो उसका वह जीवन स्पष्टरूप में मृत्यु के ही समान है ।

अत्रैतदाहुराचार्याः पापस्य परिगर्हणम् ।
सेवितव्या त्रयी विद्या सत्कारो ब्राह्मणेषु च ॥१३॥

उस दशा में आचार्यगण उसके लिए यह कर्तव्य बताते हैं कि वह अपने पापों की निन्दा करे, नित्य वेदों का स्वाध्याय करे और ब्राह्मणों का सत्कार करे ।

महामना भवेद्धर्मे विवहेच्च महाकुले ।
ब्राह्मणांश्चापि सेवेत क्षमायुक्तान् मनस्विनः ॥१४॥

धर्माचरण में विशेष मन लगाए । उत्तम कुल में विवाह करे । उदार तथा क्षमाशील ब्राह्मणों की सेवा में तत्पर रहे ।

जपेदुदकशीलः स्यात् सततं सुखमास्थितः ।
धर्मान्वितान्सम्प्रविशेद् बहिः कृत्वेह दुष्कृतीन् ॥१५॥

वह जल में खड़ा होकर गायत्री का जप करे । सदा प्रसन्न रहे । पापियों को राज्य से बाहर निकालकर धर्मात्मा पुरुषों का सङ्ग करे ।

प्रसादयेन्मधुरया वाचा वाप्यथ कर्मणा ।
तवास्मीति वदेन्नित्यं परेषां कीर्तयन् गुणान् ॥१६॥

मीठी वाणी तथा उत्तम कर्म के द्वारा सबको प्रसन्न रखे, दूसरों के गुणों का गान करे और सबसे

यही कहे—'मैं आपका ही हूँ, आप मुझे अपना ही समझें।'

अपापो ह्येवमाचारः क्षिप्रं बहुमतो भवेत् ।
पापान्यपि हि कृच्छ्राणि शमयेन्नात्र संशयः ।।१७।।

जो राजा इस प्रकार अपना आचरण बना लेता है, वह शीघ्र ही निष्पाप होकर सबके सम्मान का पात्र बन जाता है। वह अपने कठिन-से-कठिन पापों का भी प्रक्षालन कर लेता है—इसमें सन्देह नहीं है।

युधिष्ठिर उवाच

कथं हि प्राप्यते शीलं श्रोतुमिच्छामि भारत ।
किंलक्षणं च तत् प्रोक्तं ब्रूहि मे वदतां वर ।।१८।।

युधिष्ठिर ने पूछा—हे भारत ! शील की प्राप्ति कैसे होती है, यह सुनने की मेरी प्रबल अभिलाषा है। वक्ताओं में श्रेष्ठ पितामह ! उस शील का लक्षण क्या है ? यह भी मुझे बताइए।

भीष्म उवाच

शीलेन हि त्रयो लोकाः शक्या जेतुं न संशयः ।
न हि किञ्चिदसाध्यं वै लोके शीलवतां भवेत् ।।१९।।

भीष्मजी बोले—शील के द्वारा तीनों लोकों पर विजय पाई जा सकती है—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। शीलवानों के लिए संसार में कुछ भी असाध्य नहीं है।

धर्मः सत्यं तथा वृत्तं लक्ष्मी चैव बलं तथा । ☐
शीलमूला महाप्राज्ञ सदा नास्त्यत्र संशयः ।।२०।।

महाप्राज्ञ ! धर्म, सत्य, सदाचार, बल और लक्ष्मी—ये सब सदा शील के ही आधार पर रहते हैं [शील ही इनकी जड़ है], इसमें संशय नहीं है।

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा ।
अनुग्रहश्च दानं च शीलमेतत्प्रशस्यते ।।२१।।

मन, वचन और कर्म से किसी भी प्राणी के प्रति द्रोह न करना, सब प्राणियों पर दया करना और दान देना—यह शील कहलाता है, जिसकी सब प्रशंसा करते हैं।

यदन्येषां हितं न स्यादात्मनः कर्म पौरुषम् ।
अपत्रपेत वा येन न तत् कुर्यात् कथञ्चन ।।२२।।

अपना जो भी पुरुषार्थ और कर्म दूसरों के लिए हितकर न हो अथवा जिसे करने में संकोच अनुभव होता हो, उसे किसी प्रकार भी नहीं करना चाहिए।

तत्तु कर्म तथा कुर्याद् येन श्लाघ्येत संसदि ।
शीलं समासेनैतत् ते कथितं कुरुसत्तम ।।२३।।

कुरुश्रेष्ठ ! किसी भी कर्म को इस प्रकार करना चाहिए कि भरी सभा में मनुष्य की प्रशंसा हो। यह संक्षेप में शील का स्वरूप बताया गया है।

यद्यप्यशीला नृपते प्राप्नुवन्ति श्रियं क्वचित् ।
न भुञ्जते चिरं तात समूलाश्च न सन्ति ते ।।२४।।

राजन् ! तात ! यद्यपि कहीं-कहीं शीलहीन मनुष्य भी राज्यलक्ष्मी को प्राप्त कर लेते हैं, तथापि वे चिरकाल तक उसका उपभोग नहीं कर पाते और जड़मूलसहित नष्ट हो जाते हैं।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ।।३४।।

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

आपत्ति के समय राजा का धर्म

युधिष्ठिर उवाच

मित्रैः प्रहीयमाणस्य बह्वमित्रस्य का गतिः ।
राज्ञः संक्षीणकोशस्य बलहीनस्य भारत ।।१।।

युधिष्ठिर ने पूछा—भारत ! यदि राजा के शत्रु अधिक हो जाएँ, मित्र उसका साथ छोड़ने लगें, सेना और कोष भी नष्ट हो जाए तो उसके लिए कौन-सा मार्ग हितकर है ?

भीष्म उवाच

गुह्यं धर्मज्ञ मा प्राक्षीरतीव भरतर्षभ ।
अपृष्टो नोत्सहे वक्तुं धर्ममेतं युधिष्ठिर ।।२।।

भीष्मजी बोले—धर्मपुत्र ! भरतभूषण युधिष्ठिर ! यह तो तुमने मुझसे अति गोपनीय विषय पूछा है। यदि तुम्हारे द्वारा यह प्रश्न न किया गया होता तो

मैं इस समय इस आपद्धर्म के विषय में कुछ भी नहीं कह सकता था ।

राज्ञः कोशक्षयादेव जायते बलसंक्षयः ।
कोशं च जनयेद् राजा निर्जलेभ्यो यथा जलम् ॥३॥
कालं प्राप्यानुगृह्णीयादेष धर्मः सनातनः ।
उपायधर्मं प्राप्येमं पूर्वैराचरितं जनैः ॥४॥

कोष के नष्ट होने से ही राजा के बल का नाश होता है, अतः जैसे मनुष्य निर्जल स्थानों से भी खोदकर जल निकाल लेता है, वैसे ही राजा संकटकाल में निर्धन प्रजा से भी यथासाध्य धन लेकर अपना कोष बढ़ाए, फिर अच्छा समय आने पर उस धन के द्वारा प्रजा पर अनुग्रह करे—यही सनातन धर्म है । पूर्वकाल के राजाओं ने भी आपत्तिकाल में इस उपायधर्म को पाकर इसका आचरण किया है ।

सर्वात्मनैव धर्मस्य न परस्य न चात्मनः ।
सर्वोपायैरुज्जिहीर्षेदात्मानमिति निश्चयः ॥५॥

संकटकाल में मनुष्य अपने या दूसरे के धर्म की ओर न देखे, अपितु सम्पूर्ण हृदय से सभी उपायों द्वारा अपने ही उद्धार की अभिलाषा करे, यही सबका निश्चय है ।

क्षत्रियो वृत्तिसंरोधे कस्य नादातुमर्हति ।
अन्यत्र तापसस्वाच्च ब्राह्मणस्वाच्च भारत ॥६॥

भरतनन्दन ! क्षत्रिय यदि आजीविका से रहित हो जाए तो वह तपस्वी और ब्राह्मण का धन छोड़कर और किसका धन नहीं ले सकता अर्थात् सभी का ले सकता है ।

यथा वै ब्राह्मणः सीदन्नयाज्यमपि याजयेत् ।
अभोज्यान्नानि चाश्नीयात् तथेदं नात्र संशयः ॥७॥

जैसे जीविका के अभाव में कष्ट पाता हुआ ब्राह्मण यज्ञ के अनधिकारी का भी यज्ञ करा सकता है और प्राणरक्षा के लिए अभक्ष्य अन्न भी खा सकता है, वैसे ही यह [पूर्वश्लोक में] क्षत्रिय के लिए भी सन्देहरहित कर्तव्य का निर्देश किया गया है ।

भैक्ष्यचर्या न विहिता न च विट्शूद्रजीविका ।
आददीत विशिष्टेभ्यो नावसीदेत् कथञ्चन ॥८॥

क्षत्रिय के लिए भीख माँगना अथवा वैश्य या शूद्र की जीविका अपनाने का विधान नहीं है । वह आपत्तिकाल में विशिष्ट अर्थात् धनवानों से बलपूर्वक धन ग्रहण कर ले । धन के अभाव में वह किसी प्रकार का कष्ट न भोगे ।

अन्यत्र राजन् हिंसाया वृत्तिर्नेहास्ति कस्यचित् ।
अप्यरण्यसमुत्थस्य एकस्य चरतो मुनेः ॥९॥

राजन् ! इस संसार में किसी की भी ऐसी वृत्ति नहीं है, जो हिंसा से शून्य हो । औरों की तो बात ही क्या है, वन में रहकर एकाकी विचरनेवाले तपस्वी मुनि की भी वृत्ति सर्वथा हिंसारहित नहीं है ।

न शङ्खलिखितां वृत्तिं शक्यमास्थाय जीवितुम् ।
विशेषतः कुरुश्रेष्ठ प्रजापालनमीप्सया ॥१०॥

कुरुश्रेष्ठ ! कोई भी ललाट में लिखी हुई वृत्ति का ही भरोसा करके जीवन-निर्वाह नहीं कर सकता, विशेषरूप से प्रजापालन के इच्छुक राजा का भाग्य के भरोसे निर्वाह करना तो सर्वथा असम्भव है ।

परस्परं हि संरक्षा राज्ञा राष्ट्रेण चापदि ।
नित्यमेव हि कर्तव्या एष धर्मः सनातनः ॥११॥

संकट के समय राजा और राज्य की प्रजा दोनों को निरन्तर एक-दूसरे की रक्षा करनी चाहिए—यही प्राचीन धर्म है ।

राजा राष्ट्रं यथाऽऽपत्सु द्रव्यौघैरपि रक्षति ।
राष्ट्रेण राजा व्यसने रक्षितव्यस्तथा भवेत् ॥१२॥

प्रजा पर आपत्ति आने पर जैसे राजा राशि-राशि धन लुटाकर भी उसकी रक्षा करता है, वैसे ही राजा पर संकट आने पर राष्ट्र की प्रजा को भी उसकी रक्षा करनी चाहिए।

कोशं दण्डं बलं मित्रं यदन्यदपि संचितम् ।
न कुर्वीतान्तरं राष्ट्रे राजा परिगतः क्षुधा ।
बीजं भक्तेन सम्पाद्यमिति धर्मविदो विदुः ॥१३॥

राजा भूख से पीड़ित होने [जीविका के लिए कष्ट पाने] पर भी कोष, राजदण्ड, सेना, मित्र और अन्य सञ्चित साधनों को कभी राज्य से दूर न करे। धर्मज्ञ पुरुषों का कथन है कि मनुष्य को अपने भोजन के लिए संगृहीत अन्न में से भी बीज के लिए बचाकर रखना चाहिए ।

राज्ञः कोशबलं मूलं कोशमूलं पुनर्बलम् ।
तन्मूलं सर्वधर्माणां धर्ममूलाः पुनः प्रजाः ॥१४॥

राजा का मूलाधार है सेना और कोष। इनमें भी कोष सेना की जड़ है। सेना सम्पूर्ण धर्मों की रक्षा का मूल कारण है और धर्म प्रजा की जड़ है।

नान्यानपीडयित्वेह कोशः शक्यः कुतो बलम्।
तदर्थं पीडयित्वा च दोषं प्राप्तुं न सोऽर्हति ॥१५॥

दूसरों को पीड़ा दिये बिना धन का संग्रह नहीं किया जा सकता तथा धन-संग्रह के बिना सेना-संग्रह कैसे हो सकता है ? अतः आपत्तिकाल में कोष-संग्रह के लिए प्रजा को पीड़ा देकर भी राजा दोष का भागी नहीं हो सकता।

धनेन जयते लोकावुभौ परमिमं तथा।
सत्यं च धर्मवचनं यथा नास्त्यधनस्तथा ॥१६॥

धन से मनुष्य इहलोक और परलोक दोनों पर विजय पाता है, साथ ही धर्म एवं अर्थ का भी सम्पादन कर लेता है परन्तु निर्धन को इन कार्यों में वैसी सफलता नहीं मिलती। उसका अस्तित्व नहीं के बराबर होता है।

न च राज्यसमो धर्मः कश्चिदस्ति परन्तप।
धर्मः संशब्दितो राज्ञामापदर्थमतोऽन्यथा ॥१७॥

परन्तप ! राजा के लिए राज्य की रक्षा के समान दूसरा कोई धर्म नहीं है। अभी जिस धर्म की चर्चा की गई है, वह केवल राजाओं के लिए आपत्तिकाल में ही आचरण में लाने योग्य है, अन्यथा नहीं।

दानेन कर्मणा चान्ये तपसान्ये तपस्विनः।
बुद्ध्या दाक्ष्येण चैवान्ये विन्दन्ति धनसञ्चयान् ॥१८॥

कुछ लोग दान से, कुछ लोग यज्ञानुष्ठान करने से, कुछ तपस्वी तप करने से, कुछ लोग बुद्धि से और अन्य बहुत-से मनुष्य कार्य-कौशल से धन प्राप्त कर लेते हैं।

अधनं दुर्बलं प्राहुर्धनेन बलवान् भवेत्।
सर्वं धनवता प्राप्यं सर्वं तरति कोशवान् ॥१९॥

निर्धन को दुर्बल कहा गया है। धन से मनुष्य बलवान् बनता है। धनवान् को सब-कुछ मिल जाता है। जिसके पास कोष है, वह समस्त संकटों से पार हो जाता है।

कोशेन धर्मश्च कामश्च परलोकस्तथा ह्ययम्।
तं च धर्मेण लिप्सेत नाधर्मेण कदाचन ॥२०॥

धन-संग्रह [कोष] से धर्म, काम, लोक और परलोक की सिद्धि होती है, परन्तु उस धन को धर्मपूर्वक ही उपार्जित करने की इच्छा करे, अधर्म से कभी नहीं।

युधिष्ठिर उवाच

क्षीणस्य दीर्घसूत्रस्य भिन्नामात्यस्य सर्वशः।
आपन्नचेतसो ब्रूहि किं कार्यमवशिष्यते ॥२१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! जिसका कोष और सेना क्षीण हो गई है, जो आलसी है, जिसके मन्त्री शत्रुओं द्वारा फोड़ लिये गये हैं और विपत्ति में पड़कर जिसका चित्त व्याकुल हो गया हो, उसे संकट से मुक्त होने के लिए क्या करना चाहिए ?

भीष्म उवाच

बाह्यश्चेद्विजिगीषुः स्याद्धर्मार्थकुशलः शुचिः।
जवेन सन्धिं कुर्वीत पूर्वभुक्तान् विमोचयेत् ॥२२॥

भीष्मजी बोले—राजन् ! यदि विजयाभिलाषी आक्रमणकारी राजा बाहर का हो, उसका आचार-विचार शुद्ध और वह धर्म तथा अर्थ के साधन में कुशल हो तो शीघ्रतापूर्वक उसके साथ सन्धि कर लेनी चाहिए तथा जो ग्राम एवं नगर अपने पूर्वजों के अधिकार में रहे हों, वे यदि आक्रमणकारी के अधिकार में चले गये हों तो उसे मधुर वचनों से समझा-बुझाकर उन्हें उसके हाथ से छुड़ाने की चेष्टा करे।

योऽधर्मविजिगीषुः स्याद् बलवान्पापनिश्चयः।
आत्मनः सन्निरोधेन सन्धिं तेनापि रोचयेत् ॥२३॥

जो विजय चाहनेवाला शत्रु अधर्मपरायण हो और बलवान् होने के साथ-साथ पापपूर्ण विचार रखता हो, उसके साथ अपना कुछ खोकर भी सन्धि कर लेने की इच्छा रखे।

अपास्य राजधानीं वा तरेद् द्रव्येण चापदम्।
तद्भावयुक्तो द्रव्याणि जीवन् पुनरुपार्जयेत् ॥२४॥

अथवा आवश्यकता हो तो अपनी राजधानी को भी छोड़कर तथा बहुत-सा धन देकर उस विपत्ति से पार हो जाए। यदि वह जीवित रहे तो राजोचित गुणों से युक्त होने पर पुनः धन का उपार्जन कर सकता है।

यास्तु कोशबलत्यागाच्छक्यास्तरितुमापदः ।
कस्तत्राधिकमात्मानं संत्यजेदर्थधर्मवित् ।।२५।।

कोष और सेना का त्याग कर देने से ही जहाँ विपत्तियों को पार किया जा सके, ऐसी स्थिति में कौन धर्म और अर्थ का ज्ञाता मनुष्य अपनी सबसे अधिक मूल्यवान् वस्तु शरीर का त्याग करेगा ?

अवरोधान् जुगुप्सेत का सपत्नधने दया ।
न त्वेवात्मा प्रदातव्यः शक्ये सति कथञ्चन ।।२६।।

शत्रु का आक्रमण होने पर राजा को सर्वप्रथम अपने अन्तःपुर की रक्षा का प्रयत्न करना चाहिए। यदि वहाँ शत्रु का अधिकार हो जाए तो उधर से अपनी मोह-ममता हटा लेनी चाहिए, क्योंकि शत्रु के अधिकार में गये हुए धन तथा परिवार पर दया=ममता प्रदर्शित करना किस काम का ? जहाँ तक सम्भव हो अपने-आपको किसी प्रकार भी शत्रु के चंगुल में नहीं फँसने देना चाहिए ।

युधिष्ठिर उवाच

आभ्यन्तरे प्रकुपिते बाह्ये चोपनिपीडिते ।
क्षीणे कोशे श्रुते मन्त्रे किं कार्यमवशिष्यते ।।२७।।

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! यदि बाहर से राष्ट्र और दुर्गादि पर आक्रमण करके शत्रु उसे पीड़ा दे रहे हों तथा भीतर से मन्त्री आदि भी प्रकुपित हों, कोष खाली हो गया हो और राजा का गुप्त रहस्य सबके कानों में पड़ गया हो, तब उसे क्या करना चाहिए ?

भीष्म उवाच

क्षिप्रं वा सन्धिकामः स्यात्क्षिप्रं वा तीक्ष्णविक्रमः ।
तदापनयनं क्षिप्रमेतावत् साम्परायिकम् ।।२८

भीष्मजी बोले—राजन् ! उस दशा में राजा या तो तुरन्त सन्धि का विचार कर ले अथवा शीघ्रातिशीघ्र दुःसह पराक्रम प्रकट करके शत्रु को राज्य से बाहर खदेड़ दे। ऐसा उद्योग करते हुए यदि मृत्यु भी हो जाए तो वह परलोक में मङ्गलकारी होती है।

अनुरक्तेन चेष्टेन हृष्टेन जगतीपतिः ।
अल्पेनापि हि सैन्येन महीं जयति भूमिपः ।।२९।।

यदि सेना स्वामी के प्रति अनुराग रखनेवाली, प्रिय और हृष्ट-पुष्ट हो तो उस थोड़ी-सी सेना के द्वारा भी राजा भूमण्डल पर विजय पा सकता है।

हतो वा दिवमारोहेद्धत्वा वा क्षितिमावसेत् ।
युद्धे हि सन्त्यजन्प्राणान्शक्रस्यैति सलकोताम् ।।३०।।

यदि वह युद्ध में मारा जाए तो स्वर्गलोक के शिखर पर आरूढ़ हो सकता है अथवा यदि उसने शत्रु को मार गिराया तो वह पृथिवी का राज्य भोग सकता है। जो युद्ध में प्राण त्यागता है वह स्वर्गलोक में जाता है।

सर्वलोकागमं कृत्वा मृदुत्वं गन्तुमेव च ।
विश्वासाद् विनयं कुर्याद् विश्वसेच्चाप्युपायतः ।।३१।।

अथवा निर्बल राजा शत्रु में कोमलता लाने के लिए विपक्ष के सभी लोगों को सन्तुष्ट करके उनके मन में विश्वास जमाकर उनसे युद्ध बन्द करने के लिए अनुनय-विनय करे और स्वयं भी उपायपूर्वक उनपर विश्वास करे।

अपचिक्रमिषुः क्षिप्रं साम्ना वा परिसान्त्वयन् ।
विलङ्घयित्वा मन्त्रेण ततः स्वयमुपक्रमेत् ।।३२।।

अथवा वह मधुर वचनों द्वारा विपक्ष के मन्त्री आदि को प्रसन्न करके दुर्ग से निकल भागने का प्रयत्न करे। तत्पश्चात् कुछ समय व्यतीत करके श्रेष्ठ पुरुषों की सम्मति ले अपनी खोई हुई सम्पत्ति अथवा राज्य को पुनः प्राप्त करने का यत्न करे।

युधिष्ठिर उवाच

सर्वत्र प्रार्थ्यमानेन दुर्बलेन महाबलैः ।
एकेनैवासहायेन शक्यं स्थातुं भवेत् कथम् ।।३३।।

युधिष्ठिर ने पूछा—हे भारत ! जब अनेक महाबली शत्रु किसी दुर्बल राजा को सब ओर से हड़प जाने के लिए तैयार हो जाएँ, तब उस एकमात्र असहाय राजा को उस परिस्थिति का सामना कैसे करना चाहिए ?

विग्रहं केन वा कुर्यात् सन्धिं वा केन योजयेत् ।
कथं वा शत्रुमध्यस्थो वर्तेत बलवानपि ।।३४।।

वह किसके साथ विग्रह करे ? किसके साथ सन्धि करे और बलवान् पुरुष भी यदि शत्रुओं से मिल जाए तो उसके साथ कैसा व्यवहार करे ?

भीष्म उवाच

त्वद्युक्तोऽयमनुप्रश्नो युधिष्ठिर सुखोदयः ।
शृणु मे पुत्र कार्त्स्न्येन गुह्यमापत्सु भारत ।।३५।।

भीष्मजी बोले—भरतनन्दन वत्स युधिष्ठिर ! तुम्हारा यह विस्तारपूर्वक पूछना अति उचित और सुख की प्राप्ति करानेवाला है। आपत्ति के समय क्या करना चाहिए, यह विषय गोपनीय होने से सबको ज्ञात नहीं है। तुम यह सब रहस्य मुझसे सुनो !

अमित्रं मित्रतां याति मित्रं चापि प्रदुष्यति ।
सामर्थ्ययोगात्कार्याणामनित्या वै सदा गतिः ।।३६।।

भिन्न-भिन्न कार्यों का ऐसा प्रभाव पड़ता है कि उनके कारण कभी शत्रु भी मित्र बन जाता है और कभी मित्र का मन भी द्वेषभावना से दूषित हो जाता है। वस्तुतः शत्रु-मित्र की परिस्थिति सदा एक-सी नहीं रहती ।

तस्माद्विश्वसितव्यं च विग्रहं च समाचरेत् ।
देशं कालं च विज्ञाय कार्याकार्यविनिश्चये ।।३७।।

अतः देशकाल को समझकर कर्तव्य-अकर्तव्य का निश्चय करके किसी पर विश्वास और किसी के साथ युद्ध करना चाहिए ।

सन्धातव्यं बुधैर्नित्यं व्यवस्य च हितार्थिभिः ।
अमित्रैरपि सन्धेयं प्राणा रक्ष्या हि भारत ।।३८।।

भरतकुमार ! कर्तव्य का विचार करके सदा हितैषी विद्वान् मित्रों के साथ सन्धि करनी चाहिए एवं आवश्यकता पड़ने पर शत्रु से भी सन्धि कर लेनी चाहिए, क्योंकि प्राणों की रक्षा सदा ही कर्तव्य है ।

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
मार्जारस्य च संवादं न्यग्रोधे मूषकस्य च ।।३९।।

इस विषय में विद्वान् लोग वटवृक्ष के आश्रय में रहनेवाले एक बिलाव और चूहे के संवादरूप एक प्राचीन कथानक का दृष्टान्त दिया करते हैं ।

वने महति कस्मिंश्चिन्न्यग्रोधः सुमहानभूत् ।
लताजालपरिच्छिन्नो नानाद्विजगणान्वितः ।।४०।।

किसी विशाल वन में एक बहुत बड़ा बरगद का वृक्ष था। वह लतासमूहों से आच्छादित और नाना-प्रकार के पक्षियों से सुशोभित था ।

तस्य मूलं समाश्रित्य कृत्वा शतमुखं बिलम् ।
वसति स्म महाप्राज्ञः पलितो नाम मूषकः ।।४१।।

उस वृक्ष की जड़ में सौ द्वारोंवाला बिल बनाकर एक परम बुद्धिमान् चूहा निवास करता था, जिसका नाम पलित था ।

शाखां तस्य समाश्रित्य वसति स्म सुखं पुरा ।
लोमशो नाम मार्जारः पक्षिसंघातखादकः ।।४२।।

उसी वटवृक्ष की एक शाखा पर पहले कभी लोमश नाम का एक बिलाव भी बड़े सुख से रहता था। वह पक्षियों के समूह का भक्षक था ।

तत्र चागत्य चाण्डालो ह्यरण्ये कृतकेतनः ।
प्रयोजयति चोन्माथं नित्यमस्तं गते रवौ ।।४३।।
तत्र स्नायुमयान्पाशान्यथावत्संविधाय सः ।
गृहं गत्वा सुखं शेते प्रभातामेति शर्वरीम् ।।४४।।

उसी विशाल वन में एक चाण्डाल भी अपना घर बनाकर रहता था। वह प्रतिदिन सायंकाल सूर्यास्त हो जाने पर वहाँ आकर जाल फैला देता और उसकी ताँत की डोरियों को यथास्थान बाँधकर घर जाकर आनन्दपूर्वक सोता था; फिर प्रातःकाल होने पर वहाँ आ जाता था ।

तत्र स्म नित्यं बध्यन्ते नक्तं बहुविधा मृगाः ।
कदाचिदत्र मार्जारस्त्वप्रमत्तो व्यबध्यत ।।४५।।

रात्रि में उस जाल में अनेक प्रकार के पशु फँस जाते थे [उन्हीं को लेने के लिए वह प्रातःकाल वहाँ आता था]। एक दिन अपनी असावधानी के कारण पूर्वोक्त बिलाव भी उस जाल में फँस गया ।

तस्मिन् बद्धे महाप्राणे शत्रौ नित्याततायिनि ।
तं कालं पलितो ज्ञात्वा प्रचचार सुनिर्भयः ।।४६।।

अत्यन्त शक्तिशाली और सदा का आततायी शत्रु के जाल में फँस गया है, यह बात जब पलित को ज्ञात हुई, तब वह बिल से बाहर निकलकर, निर्भय हो चहुँ ओर विचरने लगा ।

तेनानुचरता तस्मिन् वने विश्वस्तचारिणा ।
भक्ष्यं मृगयमाणेन चिराद् दृष्टं तदामिषम् ।
स तमुन्माथमारुह्य तदामिषमभक्षयत् ।।४७।।

विश्वस्त होकर उस वन में विचरते और आहार की खोज करते हुए उस चूहे ने बहुत देर के पश्चात्

वह मांस देखा जो जाल पर बिखेरा गया था। फिर तो चूहा जाल पर चढ़कर उस मांस को खाने लगा।

तस्योपरि सपत्नस्य बद्धस्य मनसा हसन्।
आमिषे तु प्रसक्तः स कदाचिदवलोकयन् ॥४८॥

जाल पर चढ़ मांस-भक्षण में लगा हुआ वह चूहा अपने शत्रु की अवस्था पर मन-ही-मन हँस रहा था। इतने में ही उसकी दृष्टि दूसरी ओर घूम गई।

अपश्यदपरं घोरमात्मनः शत्रुमागतम्।
नकुलं हरिणं नाम चपलं ताम्रलोचनम् ॥४९॥

फिर तो उसने एक दूसरे भयंकर शत्रु को वहाँ आया हुआ देखा। वह जाति का न्यौला था। वह चपल न्यौला हरिण के नाम से प्रसिद्ध था। उसकी आँखें तांबे के समान दिखाई देती थीं।

शाखागतमरिं चान्यमपश्यत् कोटरालयम्।
उलूकं चन्द्रकं नाम तीक्ष्णतुण्डं क्षपाचरम् ॥५०॥

दूसरी ओर दृष्टि घुमाने पर उसे बरगद की शाखा पर बैठा हुआ एक और शत्रु दिखाई दिया, जो वृक्ष की खोखल में निवास करता था। वह चन्द्रक नाम से प्रसिद्ध उल्लू था। उसकी चोंच अत्यन्त तीखी थी। वह रात्रि में विचरनेवाला पक्षी था।

गतस्य विषयं तत्र नकुलोलूकयोस्तथा।
अथास्यासीदियं चिन्ता तत्प्राप्य सुमहद्भयम् ॥५१॥

न्यौले और उल्लू दोनों का लक्ष्य बने हुए उस चूहे को महान् भय उत्पन्न हुआ। अब उसे इस प्रकार चिन्ता होने लगी—

गतं मां सहसा भूमिं नकुलो भक्षयिष्यति।
उलूकश्चेह तिष्ठन्तं मार्जारः पाशसंक्षयात् ॥५२॥

'यदि मैं पृथिवी पर उतरकर भागता हूँ तो सहसा न्यौला मुझे पकड़कर खा जाएगा। यदि यहीं ठहरा रहता हूँ तो उल्लू मुझे मार डालेगा और यदि जाल काटकर भीतर घुसता हूँ तो बिलाव जीवित नहीं छोड़ेगा।

न त्वेवास्मद्विधः प्राज्ञः सम्मोहं गन्तुमर्हति।
करिष्ये जीविते यत्नं यावद् युक्त्या प्रतिग्रहात् ॥५३॥

'परन्तु मेरे जैसे बुद्धिमान् को घबराना नहीं चाहिए, अतः जहाँ तक युक्ति से काम निकलेगा, परस्पर सहयोग का आदान-प्रदान करके मैं जीवन-रक्षा के लिए प्रयत्न करूँगा।

न हि बुद्ध्यान्वितः प्राज्ञो नीतिशास्त्रविशारदः।
निमज्जत्यापदं प्राप्य महतीं दारुणामपि ॥५४॥

'बुद्धिमान्, विद्वान् और नीतिशास्त्र का ज्ञाता पुरुष भारी और भयंकर विपत्ति में पड़ने पर भी उसमें डूब नहीं जाता है, उससे छूटने की चेष्टा करता है।

न त्वन्यामिह मार्जाराद् गतिं पश्यामि साम्प्रतम्।
विषमस्थो ह्ययं शत्रुः कृत्यं चास्य महन्मया ॥५५॥

'इस समय इस बिलाव का आश्रय लेने के सिवा मुझे कोई दूसरा मार्ग दिखाई नहीं देता। यद्यपि यह मेरा प्रबल शत्रु है, तथापि इस समय यह स्वयं भी भारी संकट में पड़ा हुआ है। मेरे द्वारा इसका भी बड़ा भारी काम निकल सकता है।

जीवितार्थी कथं त्वद्य शत्रुभिः प्रार्थितस्त्रिभिः।
तस्मादेनमहं शत्रुं मार्जारं संश्रयामि वै ॥५६॥

'इधर मैं अपने जीवन की रक्षा चाहता हूँ, उधर तीन-तीन शत्रु मुझपर घात लगाये बैठे हैं, अतः क्यों न आज मैं अपने शत्रु इस बिलाव का ही सहारा लूँ!

बलिना संनिकृष्टस्य शत्रोरपि परिग्रहः।
कार्य इत्याहुराचार्या विषमे जीवितार्थिना ॥५७॥

'आचार्यों का कथन है कि संकट उपस्थित होने पर जीवन की रक्षा चाहनेवाले महाबली पुरुष को भी अपने निकटवर्ती शत्रु से सन्धि=मेल कर लेनी चाहिए।

श्रेष्ठो हि पण्डितः शत्रुर्न च मित्रमपण्डितः।
मम त्वमित्रे मार्जारे जीवितं सम्प्रतिष्ठितम् ॥५८॥

'विद्वान् शत्रु भी उत्तम होता है परन्तु मूर्ख मित्र कभी अच्छा नहीं होता। मेरा जीवन तो आज मेरे शत्रु बिलाव के ही अधीन है।

हन्तास्मै सम्प्रवक्ष्यामि हेतुमात्माभिरक्षणे।
अपीदानीमयं शत्रुः सङ्गत्या पण्डितो भवेत् ॥५९॥

'अच्छा, अब मैं इसे आत्मरक्षा के लिए एक युक्ति बताता हूँ। सम्भव है, इस समय यह शत्रु मेरी सङ्गति से विद्वान् हो जाए—विवेक से काम ले!'

ततोऽर्थगतितत्त्वज्ञः सन्धिविग्रहकालवित्।
सान्त्वपूर्वमिदं वाक्यं मार्जारं मूषकोऽब्रवीत् ।।६०।।

ऐसा विचार करके अर्थसिद्धि के उपाय को यथार्थरूप से जाननेवाले तथा सन्धि और विग्रह के अवसर को समझनेवाले चूहे ने उस बिलाव को सान्त्वना देते हुए मधुरवाणी में कहा—

सौहृदेनाभिभाषे त्वां कच्चिन्मार्जार जीवसि।
जीवितं हि तवेच्छामि श्रेयः साधारणं हि नौ ।।६१।।

"भाई बिलाव ! मैं तुम्हारे प्रति मैत्री का भाव रखकर वार्तालाप कर रहा हूँ। तुम अभी जीवित तो हो न ? मैं चाहता हूँ कि तुम्हारा जीवन सुरक्षित रहे, क्योंकि इसमें मेरा और तुम्हारा दोनों का एक-सा कल्याण है।

न ते सौम्य भयं कार्यं जीविष्यसि यथासुखम्।
अहं त्वामुद्धरिष्यामि यदि मां न जिघांससि ।।६२।।

"सौम्य ! तुम्हें भयभीत नहीं होना चाहिए। तुम सुखपूर्वक जीवित रह सकोगे। यदि तुम मुझे मार डालने की इच्छा छोड़ दो तो मैं इस आपत्ति से तुम्हें छुटकारा दिला दूँगा।

सतां साप्तपदं मैत्रं स सखा मेऽसि पण्डितः।
सांवास्यकं करिष्यामि नास्ति ते भयमद्य वै ।।६३।।

"सज्जनों में सात पग साथ-साथ चलने से ही मित्रता हो जाती है। हम और तुम तो यहाँ सदा से ही साथ रहते आये हैं, अतः तुम मेरे विद्वान् मित्र हो। मैं इतने दिन तक साथ रहने के अपने मित्रोचित धर्म को अवश्य निभाऊँगा, अतः अब तुम्हें कोई भय नहीं है।

न हि शक्तोऽसि मार्जार पाशं छेत्तुं मया विना।
अहं छेत्स्यामि पाशाँस्ते यदि मां त्वं न हिंससि ।।६४।।

"भाई बिलाव ! तुम मेरी सहायता के बिना अपना यह बन्धन नहीं काट सकते। यदि तुम मेरी हिंसा न करो तो मैं तुम्हारे सारे बन्धन काट डालूंगा।

कश्चित्तरति काष्ठेन सुगम्भीरां महानदीम्।
स तारयति तत्काष्ठं स च काष्ठेन तार्यते ।।६५।।

"कोई मनुष्य जब किसी लकड़ी के सहारे किसी गहरी तथा विशाल नदी को पार करता है, तब उस लकड़ी को भी किनारे लगा देता है और वह लकड़ी भी उसे तारने में सहायक होती है।

ईदृशो नौ समायोगो भविष्यति सुविस्तरः।
अहं त्वां तारयिष्यामि मां च त्वं तारयिष्यसि ।।६६।।

इसी प्रकार हम दोनों का संयोग भी चिरस्थायी होगा। मैं तुम्हें विपत्ति से पार कर दूँगा और तुम मुझे आपत्ति से बचा लोगे।"

अथ सुव्याहृतं श्रुत्वा तस्य शत्रोर्विचक्षणः।
हेतुमद् ग्रहणीयार्थं मार्जारो वाक्यमब्रवीत् ।।६७।।

अपने उस शत्रु का यह युक्तियुक्त और मान लेने योग्य उत्तम भाषण सुनकर बुद्धिमान् बिलाव ने कहा—

नन्दामि सौम्य भद्रं ते यो मां जीवितुमिच्छसि।
श्रेयश्च यदि जानीषे क्रियतां मा विचारय ।।६८।।

"सौम्य ! मैं तुम्हारा अभिनन्दन करता हूँ। तुम्हारा मङ्गल हो, जोकि तुम मुझे जीवन प्रदान करना चाहते हो। यदि तुम मेरे कल्याण का कोई उपाय जानते हो तो इसे अवश्य करो, कोई अन्यथा विचार मन में मत लाओ।

अहं हि भृशमापन्नस्त्वमापन्नतरो मया।
द्वयोरापन्नयोः सन्धिः क्रियतां मा चिराय च ।।६९।।

"मैं भारी संकट में फँसा हुआ हूँ और तुम मुझ भी भारी विपत्ति में पड़े हुए हो। इस प्रकार आपत्ति पड़े हुए हम दोनों को सन्धि कर लेनी चाहिए। इस विलम्ब नहीं होना चाहिए।

न्यस्तमानोऽस्मि भक्तोऽस्मि शिष्यस्त्वद्धितकृत्तथा।
निदेशवशवर्ती च भवन्तं शरणं गतः ।।७०

"इस समय मेरा मान भङ्ग हो चुका है। तुम्हारा भक्त तथा शिष्य बन गया हूँ। मैं सदा तुम्हा हित का साधन करूँगा और सदा तुम्हारी आज्ञा अधीन रहूँगा। मैं सब प्रकार से तुम्हारी शरण आ गया हूँ।"

इत्येवमुक्तः पलितो मार्जारं वशमागतम्।
वाक्यं हितमुवाचेदमभिनीतार्थमर्थवत् ।।७१।।

बिलाव के ऐसा कहने पर अपने प्रयोजन समझनेवाले उस पलित नामक चूहे ने वश में उस बिलाव से यह अभिप्रायपूर्ण हितकर बात कही

उदारं यद् भवानाह नैतच्चित्रं भवद्विधे ।
विहितो यस्तु मार्गो मे हितार्थं शृणु तं मम ।।७२।।

"भाई बिलाव ! आपने जो उदारतापूर्ण वचन कहा है, यह आप-जैसे बुद्धिमान् के लिए आश्चर्य की बात नहीं है । मैंने दोनों के हित के लिए जो मार्ग निर्धारित किया है, वह मुझसे सुनो—

अहं त्वानुप्रवेक्ष्यामि नकुलान्मे महद् भयम् ।
त्रायस्व भो मा वधीस्त्वं शक्तोऽस्मि तव रक्षणे ।।७३।।

"भाई ! इस न्यौले से मुझे बहुत भय लग रहा है, अतः मैं तुम्हारे पीछे इस जाल में प्रवेश कर जाऊँगा, परन्तु तुम मुझे मार न डालना, बचा लेना; क्योंकि जीवित रहने पर ही मैं तुम्हारी रक्षा कर सकूँगा ।

उलूकाच्चैव मां रक्ष क्षुद्रः प्रार्थयते हि माम् ।
अहं छेत्स्यामि ते पाशान् सखे सत्येन ते शपे ।।७४।।

"इधर यह नीच उल्लू भी मेरे प्राणों का ग्राहक बना हुआ है । इससे भी तुम मुझे बचा लो । सखे ! मैं तुमसे सत्य की शपथ खाकर कहता हूँ, मैं तुम्हारे बन्धन काट दूँगा ।"

तद्वचः संगतं श्रुत्वा लोमशो युक्तमर्थवत् ।
हर्षादुद्वीक्ष्य पलितं स्वागतेनाभ्यपूजयत् ।।७५।।

चूहे की यह युक्तियुक्त, सुसंगत और अभिप्रायपूर्ण बात सुनकर लोमश [बिलाव] ने उसकी ओर हर्षभरी दृष्टि से देखा और स्वागतपूर्वक उसका अभिनन्दन किया ।

तं सम्पूज्याथ पलितं मार्जारः सौहृदे स्थितः ।
स विचिन्त्याब्रवीद् धीरः प्रीतस्त्वरित एव च ।।७६।।

इस प्रकार पलित की प्रशंसा और सम्मान करके सौहार्द में प्रतिष्ठित हुए धीरबुद्धि बिलाव ने भलीभाँति सोचविचारकर तुरन्त ही प्रसन्नतापूर्वक कहा—

शीघ्रमागच्छ भद्रं ते त्वं मे प्राणसमः सखा ।
तव प्राज्ञ प्रसादाद्धि प्रायः प्राप्स्यामि जीवितम् ।।७७।।

"भाई ! शीघ्र आओ ! तुम्हारा कल्याण हो ! तुम तो मेरे प्राणों के समान प्रिय मित्र हो । विद्वन् ! इस समय मुझे प्रायः तुम्हारी ही कृपा से जीवन प्राप्त होगा ।

यद् यदेवंगतेनाद्य शक्यं कर्तुं मया तव ।
तदाज्ञापय कर्तास्मि सन्धिरेवास्तु नौ सखे ।।७८।।

"मित्रवर ! इस अवस्था में पड़े हुए मुझ सेवक द्वारा तुम्हारा जो-जो कार्य किया जा सकता हो, उसके लिए मुझे आज्ञा दो, मैं अवश्य करूँगा । हम दोनों में सन्धि रहनी चाहिए ।"

एवमाश्वासितो विद्वान् मार्जारेण स मूषकः ।
मार्जारोरसि विस्रब्धः सुष्वाप पितृमातृवत् ।।७९।।

बिलाव ने जब उस विद्वान् चूहे को पूर्वोक्तरूप से आश्वासन प्रदान कर दिया, तब वह माता-पिता की गोद के समान उस बिलाव की छाती पर निर्भय होकर सो गया ।

लीनं तु तस्य गात्रेषु मार्जारस्य च मूषकम् ।
दृष्ट्वा तौ नकुलोलूकौ निराशौ प्रत्यपद्यताम् ।।८०।।

चूहे को बिलाव के अङ्गों में छिपा हुआ देखकर न्यौला और उल्लू दोनों निराश हो गये ।

लीनः स तस्य गात्रेषु पलितो देशकालवित् ।
चिच्छेद पाशान् नृपते कालापेक्षी शनैः शनैः ।।८१।।

नरेश्वर ! चूहा देशकाल की गति को भलीभाँति जानता था, अतः वह बिलाव के अङ्गों में ही छिपा रहकर चाण्डाल के आने की प्रतीक्षा करता हुआ धीरे-धीरे उस जाल को काटने लगा ।

अथ बन्धपरिक्लिष्टो मार्जारो वीक्ष्य मूषकम् ।
छिन्दन्तं वै तदा पाशानत्वरन्तं त्वरान्वितः ।।८२।।
तमत्वरन्तं पलितं पाशानां छेदने तदा ।
सन्नोदयितुमारेभे मार्जारो मूषकं तथा ।।८३।।

बिलाव जाल के बन्धन से तंग आ गया था । जब उसने देखा कि चूहा जाल तो काट रहा है, परन्तु इस कार्य में शीघ्रता नहीं कर रहा है, तब वह उतावला होकर बन्धन काटने में शीघ्रता न करनेवाले प
नामक चूहे को प्रेरित करता हुआ बोला—

किं सौम्य नातित्वरसे किं कृतार्थो
छिन्धि पाशानमित्रघ्न पुरा

"सौम्य ! तुम शी
क्या तुम्हारा कार्य
हेलना करते
आ रहा
को

इत्युक्तस्त्वरता तेन मतिमान् पलितोऽब्रवीत् ।
मार्जारमकृतप्रज्ञं पथ्यमात्महितं वचः ॥८५॥

उतावले हुए विलाव के ऐसा कहने पर बुद्धिमान् पलित ने दूषित विचार रखनेवाले उस बिलाव से अपने लिए हितकर और लाभदायक बात कही—

तूष्णीं भव न ते सौम्य त्वरा कार्या न सम्भ्रमः ।
वयमेवात्र कालज्ञा न कालः परिहास्यते ॥८६॥

"सौम्य ! चुप रहो, तुम्हें शीघ्रता नहीं करनी चाहिए । घबराने की कोई आवश्यकता नहीं है । मैं समय को भली-भाँति पहचानता हूँ, ठीक अवसर आने पर मैं कभी नहीं चूकूंगा ।

अकाले कृत्यमारब्धं कर्तुर्नार्थाय कल्पते ।
तदेव काल आरब्धं महतेऽर्थाय कल्पते ॥८७॥

"बिना अवसर के आरम्भ किया हुआ कार्य करनेवाले के लिए लाभदायक नहीं होता और वही कार्य उपयुक्त समय पर प्रारम्भ किया जाए तो महान् अर्थ का साधक हो जाता है ।

अकाले विप्रमुक्तान्मे त्वत्त एव भयं भवेत् ।
तस्मात्कालं प्रतीक्षस्व किमिति त्वरसे सखे ॥८८॥

"यदि तुम असमय में ही छूट गये तो मुझे तुम्हीं से भय प्राप्त हो सकता है, अतः मेरे मित्र ! थोड़ी देर और प्रतीक्षा करो, इतनी शीघ्रता क्यों कर रहे हो ?

यदा पश्यामि चाण्डालमायान्तं शस्त्रपाणिनम् ।
ततश्छेत्स्यामि ते पाशान् प्राप्ते साधारणे भये ॥८९॥

"जब मैं देखूँगा कि चाण्डाल हाथ में हथियार लिये आ रहा है, तब तुमपर साधारण-सा भय उपस्थित होने पर मैं शीघ्र ही तुम्हारे बन्धन काट ँगा ।

यपक्रान्ते त्रस्ते भीते च लोमश ।
मि भवान् शाखां भजिष्यति ॥९०॥

आप त्रास और भय से

उस समय मैं बिल में

की शाखा पर जा

।

चूहे के ऐसा कहने पर अपने जीवन की रक्षा चाहनेवाला परम बुद्धिमान् लोमश नामक विलाव अपने हित की बात बताता हुआ चूहे से इस प्रकार बोला—

न ह्येवं मित्र कार्याणि प्रीत्या कुर्वन्ति साधवः ।
यथा त्वं मोक्षितः कृच्छ्रात्त्वरमाणेन वै मया ॥९२॥
तथा हि त्वरमाणेन त्वया कार्यं हितं मम ।
यत्नं कुरु महाप्राज्ञ यथा रक्षाऽऽवयोर्भवेत् ॥९३॥

"श्रेष्ठ पुरुष मित्रों के कार्य बड़े प्रेम और प्रसन्नता के साथ किया करते हैं, तुम्हारी भाँति नहीं । जैसे मैंने तुरन्त ही तुम्हें संकट से छुड़ा लिया था, इसी प्रकार तुम्हें भी शीघ्र ही मेरे हित का कार्य करना चाहिए । महाप्राज्ञ ! तुम ऐसा प्रयत्न करो जिससे हम दोनों की रक्षा हो सके ।

यदि किञ्चिन्मयाज्ञानात्पुरस्ताद् दुष्कृतं कृतम् ।
न तन्मनसि कर्तव्यं क्षामये त्वां प्रसीद मे ॥९४॥

"यदि मैंने अज्ञानवश पहले कभी तुम्हारा कोई अपराध किया हो तो तुम्हें उसे मन में नहीं ला चाहिए, उसके लिए मैं क्षमा माँगता हूँ । तुम मुझ प्रसन्न हो जाओ ।"

तमेवंवादिनं प्राज्ञः शास्त्रबुद्धिसमन्वितः ।
उवाचेदं वचः श्रेष्ठं मार्जारं मूषकस्तदा ॥९५

चूहा महाविद्वान् और नीतिशास्त्र को जा वाली बुद्धि से सम्पन्न था । उसने उस समय प्रकार कहनेवाले बिलाव से यह उत्तम प्रिय कहा—

यन्मित्रं भीतवत्साध्यं यन्मित्रं भयसंहितम् ।
सुरक्षितव्यं तत्कार्यं पाणिः सर्पमुखादिव ॥९६

"जो किसी डरे हुए प्राणी द्वारा मित्र ब गया और जो स्वयं भी भयभीत होकर ही उ मित्र बना हो—इन दोनों प्रकार के मित्रों की ही रक्षा होनी चाहिए जैसे सपेरा सर्प के मुख से बचाकर ही उसे खिलाता है ।

कृत्वा बलवता सन्धिमात्मानं यो न रक्षति ।
अपथ्यमिव तद् भुक्तं तस्य नार्थाय कल्पते ॥९

"जो व्यक्ति बलवान् से सन्धि करके अपनी

का ध्यान नहीं रखता, उसका वह मेल-जोल खाये हुए अपथ्य अन्न के समान हितकारी नहीं होता ।

न कश्चित्कस्यचिन्मित्रं न कश्चित्कस्यचिद्रिपुः ।
अर्थतस्तु निबद्ध्यन्ते मित्राणि रिपवस्तथा ॥९८॥

"न तो कोई किसी का मित्र है और न कोई किसी का शत्रु । स्वार्थ को लेकर ही मित्र और शत्रु एक-दूसरे से बंधे हैं ।

न च कश्चित्कृते कार्ये कर्तारं समवेक्षते ।
तस्मात्सर्वाणि कार्याणि सावशेषाणि कारयेत् ॥९९॥

"काम पूरा हो जाने पर कोई भी उसके करनेवाले को नहीं देखता—उसके हित पर ध्यान नहीं देता, अतः सभी कार्यों को अधूरा ही रखना चाहिए ।

तस्मिन् कालेऽपि च भवान्दिवाकीर्तिभयार्दितः ।
मम न ग्रहणे शक्तः पलायनपरायणः ॥१००॥

"जब चाण्डाल आ पहुँचेगा, उस समय तुम उसके भय से भयभीत हो भागने लग जाओगे, मुझे न पकड़ सकोगे ।.

छिन्नं तु तन्तुबाहुल्यं तन्तुरेकोऽवशेषितः ।
छेत्स्याम्यहं तमप्याशु निर्वृत्तो भव लोमश ॥१०१॥

"मैंने बहुत-से तन्तु काट डाले हैं, केवल एक तन्तु शेष छोड़ा हुआ है । उसे भी मैं शीघ्र ही काट डालूंगा, अतः लोमशजी ! तुम शान्त रहो, घबराओ मत ।"

तयोः संवदतोरेवं तथैवापन्नयोर्द्वयोः ।
क्षयं जगाम सा रात्रिर्लोमशं त्वाविशद् भयम् ॥१०२॥

इस प्रकार संकट में पड़े हुए उन दोनों के वार्तालाप करते-करते ही वह रात्रि व्यतीत हो गई । अब लोमश के मन में बड़ा भारी भय समा गया ।

ततः प्रभातसमये श्वयूथपरिवारितः ।
परिघो नाम चाण्डालः शस्त्रपाणिरदृश्यत ॥१०३॥

तदनन्तर प्रातःकाल कुत्तों के समूह से घिरा हुआ परिघ नामक चाण्डाल हाथ में हथियार लेकर आता दिखाई दिया ।

तं दृष्ट्वा यमदूताभं मार्जारस्त्रस्तचेतनः ।
उवाच वचनं भीतः किमिदानीं करिष्यसि ॥१०४॥

यमदूत के समान उस चाण्डाल को आते देख बिलाव का चित्त भय से व्याकुल हो गया । उसने डरते-डरते यही कहा—"भाई चूहे ! अब क्या करोगे ?"

अथ तावापि सन्त्रस्तौ तं दृष्ट्वा घोरसंकुलम् ।
क्षणेन नकुलोलूकौ नैराश्यमुपजग्मतुः ॥१०५॥

एक ओर वे दोनों भयभीत थे, दूसरी ओर भयानक प्राणियों से घिरा हुआ चाण्डाल आ रहा था । उन सबको देखकर नेवला और उल्लू क्षणभर में ही निराश हो गये ।

बलिनौ मतिमन्तौ च संघाते चाप्युपागतौ ।
अशक्तौ सुनयात्तस्मात् सम्प्रधर्षयितुं बलात् ॥१०६॥

वे दोनों बलवान् और बुद्धिमान् तो थे ही । वे चूहे की घात में समीप ही बैठे हुए थे, परन्तु अच्छी नीति से संगठित हो जाने के कारण चूहे और बिलाव पर वे बलपूर्वक आक्रमण न कर सके ।

कार्यार्थे कृतसन्धानौ दृष्ट्वा मार्जारमूषकौ ।
उलूकनकुलौ तत्र जग्मतुः स्वं स्वमालयम् ॥१०७॥

चूहे और बिलाव को कार्यवश सन्धिसूत्र में बँधे देख उल्लू और नेवला दोनों अपने-अपने निवास को चले गये ।

ततश्चिच्छेद तं पाशं मार्जारस्य च मूषकः ।
विप्रमुक्तोऽथ मार्जारस्तमेवाभ्यपतद् द्रुमम् ॥१०८॥
स तस्मात्सम्भ्रमावर्तान्मुक्तो घोरेण शत्रुणा ।
बिलं विवेश पलितः शाखां लेभे स लोमशः ॥१०९॥

तत्पश्चात् चूहे ने बिलाव का बन्धन काट दिया । जाल से छूटते ही बिलाव उसी पेड़ पर चढ़ गया । उस घोर शत्रु और उस भारी घबराहट से छुटकारा पाकर पलित अपने बिल में घुस गया और लोमश वृक्ष की शाखा पर जा बैठा ।

उन्माथमप्यादाय चाण्डालो वीक्ष्य सर्वशः ।
विहताशः क्षणेनास्ते तस्माद् देशादपाक्रमत् ।
जगाम स स्वभवनं चाण्डालो भरतर्षभ ॥११०॥

भरतकुलभूषण ! चाण्डाल ने उस जाल को लेकर उसे सब ओर से उलट-पलटकर देखा तथा निराश होकर क्षणभर में उस स्थान से हट गया और अन्त में अपने घर चला गया ।

ततस्तस्माद्भयान्मुक्तो दुर्लभं प्राप्य जीवितम् ।
बिलस्थं पादपाग्रस्थः पलितं लोमशोऽब्रवीत् ॥१११॥

उस भारी भय से छूट, दुर्लभ जीवन पाकर वृक्ष की शाखा पर बैठे हुए लोमश ने बिल के भीतर विराजमान चूहे से कहा—

अकृत्वा संविदं काञ्चित् सहसा समवप्लुतः ।
कृतज्ञं कृतकर्माणं कच्चिन्मां नाभिशंकसे ॥११२॥

"भाई ! तुम मुझसे कोई वार्तालाप किये बिना ही इस प्रकार सहसा बिल में क्यों घुस गये ? मैं तो तुम्हारा अति कृतज्ञ हूँ । मैंने तुम्हारे प्राणों की रक्षा करके तुम्हारा भी बहुत बड़ा कार्य किया है । तुम्हें मेरी ओर से कोई शंका तो नहीं है ?

गत्वा च मम विश्वासं दत्त्वा च मम जीवितम् ।
मित्रोपभोगसमये किं मां त्वं नोपसर्पसि ॥११३॥

"मित्रवर ! तुमने आपत्ति के समय मेरा विश्वास किया और मुझे जीवनदान दिया । अब तो मित्रता के उपभोग का समय है, ऐसे समय तुम मेरे पास क्यों नहीं आते हो ?

कृत्वा हि पूर्वं मित्राणि यः पश्चान्नानुतिष्ठति ।
न स मित्राणि लभते कृच्छ्रास्वापत्सु दुर्मतिः ॥११४॥

"जो दुष्टबुद्धिवाला मनुष्य पहले बहुत-से मित्र बनाकर पीछे उस मित्रभाव में स्थिर नहीं रहता, वह कष्टदायिनी विपत्ति में पड़ने पर उन मित्रों का विश्वास नहीं पाता अर्थात् उनसे उसे कोई सहायता नहीं मिलती ।

अमात्यो भव मे प्राज्ञ पितेवेह प्रशाधि माम् ।
न तेऽस्ति भयमस्मत्तो जीवितेनात्मनः शपे ॥११५॥

"विद्वन् ! तुम मेरे मन्त्री बन जाओ और पिता की भाँति मुझे कर्तव्य का उपदेश दो । मैं अपने जीवन की शपथ खाकर कहता हूँ कि तुम्हें हम लोगों की ओर से कोई भय नहीं है ।"

एवमुक्तः परां शान्तिं मार्जारेण स मूषकः ।
उवाच परमन्त्रज्ञः श्लक्ष्णमात्महितं वचः ॥११६॥

बिलाव की ऐसी परम शान्तिपूर्ण बातें सुनकर उत्तम मन्त्रणा के ज्ञाता चूहे ने मधुर वाणी में अपने लिए हितकर यह वचन कहा—

यद् भवानाह तत्सर्वं मया ते लोमश श्रुतम् ।
ममापि तावद् ब्रुवतः शृणु यत् प्रतिभाति मे ॥११७॥

"लोमश ! तुमने जो कुछ कहा है, वह सब मैंने ध्यानपूर्वक सुना है । अब मेरी बुद्धि में जो विचार स्फुरित हो रहा है, उसे बताता हूँ, मेरे कथन को भी सुन लो ।

वेदितव्यानि मित्राणि विज्ञेयाश्चापि शत्रवः ।
एतत्सुसूक्ष्मं लोकेऽस्मिन्दृश्यते प्राज्ञसम्मतम् ॥११८॥

"अपने मित्रों को जानना चाहिए और शत्रुओं को भी अच्छी प्रकार समझ लेना चाहिए—इस संसार में मित्र और शत्रु की यह पहचान अत्यन्त सूक्ष्म और विज्ञजनों को अभिमत है ।

शत्रुरूपा हि सुहृदो मित्ररूपाश्च शत्रवः ।
सन्धितास्ते न बुद्ध्यन्ते कामक्रोधवशं गतः ॥११९॥

"अवसर आने पर कितने ही मित्र शत्रु बन जाते हैं और कितने ही शत्रु मित्र बन जाते हैं । परस्पर सन्धि कर लेने के पश्चात् जब वे काम तथा क्रोध के वशीभूत हो जाते हैं, तब यह समझना कठिन हो जाता है कि वे मित्रभाव से युक्त हैं या शत्रुभाव से ।

नास्ति जातु रिपुर्नाम मित्रं नाम न विद्यते ।
सामर्थ्ययोगाज्जायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा ॥१२०॥

"न कभी कोई शत्रु होता है और न मित्र होता है । कार्यवश ही लोग एक-दूसरे के मित्र और शत्रु हुआ करते हैं ।

नास्ति मत्री स्थिरा नाम न च ध्रुवमसौहृदम् ।
अर्थयुक्त्यानुजायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा ॥१२१॥

"मैत्री और शत्रुता कोई सदा स्थिर रहनेवाली वस्तु नहीं है । स्वार्थ के सम्बन्ध से मित्र और शत्रु होते रहते हैं ।

अर्थयुक्त्या हि जायन्ते पिता माता सुतस्तथा ।
मातुला भागिनेयाश्च तथा सम्बन्धिबान्धवाः ॥१२२॥

"माता-पिता, पुत्र, मामा, भाँजे, सम्बन्धी तथा बन्धु-बान्धव— इन सब में स्वार्थ के कारण ही प्रे होता है ।

पुत्रं हि मातापितरौ त्यजतः पतितं प्रियम् ।
लोको रक्षति चात्मानं पश्य स्वार्थस्य सारताम् ॥१२

"अपना प्रिय पुत्र भी यदि पतित हो जाता है तो माता-पिता उसे भी त्याग देते हैं और सब लोग सदा अपनी ही रक्षा करना चाहते हैं । देखो, सोचो और विचारो, इस संसार में स्वार्थ ही सार है ।

कारणात्प्रियतामेति द्वेष्यो भवति कारणात् ।
अर्थार्थी जीवलोकोऽयं न कश्चित्कस्यचित्प्रियः ॥१२४॥
सख्यं सोदर्ययोर्भ्रात्रोर्दम्पत्योर्वा परस्परम् ।
कस्यचिन्नाभिजानामि प्रीतिं निष्कारणामिह ॥१२५॥

"मनुष्य कारण से ही प्रेम-पात्र और कारणवश ही द्वेषभाजन वनता है। यह जीव-जगत् स्वार्थ का ही साथी है। कोई किसी का प्रिय नहीं है। दो सगे भाइयों और पति एवं पत्नी में भी जो परस्पर प्रेम होता है, वह भी स्वार्थवश ही है। मैं इस संसार में किसी के भी प्रेम को निष्कारण=स्वार्थ-रहित नहीं समझता।

प्रियो भवति दानेन प्रियवादेन चापरः ।□
मन्त्रहोमजपैरन्यः कार्यार्थं प्रीयते जनः ॥१२६॥

"कोई दान देने से प्रिय होता है, कोई मधुर-वचन बोलने से प्रीतिपात्र बन जाता है और कोई कार्य-सिद्धि के लिए मन्त्र, होम तथा जप करने से प्रेम का भाजन बन जाता है।

उत्पन्ना कारणे प्रीतिरासीन्नौ कारणान्तरे ।
प्रध्वस्ते कारणस्थाने सा प्रीतिर्विनिवर्तते ॥१२७॥

"हम दोनों की प्रीति विशेष कारण से उत्पन्न हुई थी, उस कारण के समाप्त हो जाने से अब वह स्थिर नहीं रह सकती, क्योंकि कारण का स्थान नष्ट होने पर उससे उत्पन्न हुई प्रीति भी स्वयं नष्ट हो जाती है।

किन्तु तत्कारणं मन्ये येनाहं भवतः प्रियः ।
अन्यत्राभ्यवहारार्थं तत्रापि च बुधा वयम् ॥१२८॥

"अब मेरे शरीर को खा जाने के सिवा दूसरा कौन-सा ऐसा कारण रह गया है, जिससे मैं यह मान लूं कि वास्तव में तुम्हारा मुझपर प्रेम है? इस समय तुम्हारा [illegible] स्वार्थ है, उसे मैं भली-भाँति समझता हूँ।

आसीन्मैत्री तु तावन्नौ यावद्धेतुरभूत् पुरा ।
सा गता सह तेनैव कालयुक्तेन हेतुना ॥१२९॥

"पहले जब उपयुक्त कारण था, तब हम दोनों में मैत्री हो गई थी, परन्तु काल द्वारा उपस्थित उस कारण के निवृत्त होने के साथ ही वह मैत्री भी चली गई।

त्वं तु मे जातितः शत्रुः सामर्थ्यान्मित्रतां गतः ।
तत्कृत्यमभिनिर्वर्त्य प्रकृतिः शत्रुतां गता ॥१३०॥

"तुम जाति से ही मेरे शत्रु हो, विशेष प्रयोजन से मित्र बन गये थे। वह प्रयोजन सिद्ध कर लेने के पश्चात् तुम्हारी प्रकृति पुनः सहज शत्रु-भाव को प्राप्त हो गई है।

त्वद्वीर्येण प्रमुक्तोऽहं मद्वीर्येण तथा भवान् ।
अन्योन्यानुग्रहे वृत्ते नास्ति भूयः समागमः ॥१३१॥

"तुम्हारे पराक्रम से मैं प्राणसंकट से मुक्त हुआ और मेरी शक्ति से तुमने छुटकारा पाया। जब एक-दूसरे पर अनुग्रह करने का काम पूरा हो गया, तब हमें परस्पर मिलने की आवश्यकता नहीं है।

त्वं हि सौम्य कृतार्थोऽद्य निर्वृत्तार्थास्तथा वयम् ।
न तेऽस्त्यद्य मया कृत्यं किञ्चिदन्यत्र भक्षणात् ॥१३२

"सौम्य! अब तुम्हारा कार्य सिद्ध हो गया और मेरा प्रयोजन भी पूरा हो गया, अतः अब मुझे खा लेने के सिवा मेरे द्वारा तुम्हारा अन्य कोई प्रयोजन सिद्ध होनेवाला नहीं है।

अहमन्नं भवान्भोक्ता दुर्बलोऽहं भवान् बली ।
नावयोर्विद्यते सन्धिर्वियुक्ते विषमे बले ॥१३३॥

"मैं अन्न हूँ और तुम मुझे खानेवाले हो। मैं दुर्बल हूँ और तुम बलवान् हो। मेरे और तुम्हारे बल में कोई समानता नहीं है, दोनों में बहुत अन्तर है, अतः हम दोनों में सन्धि नहीं हो सकती।

जनामि क्षुधितं तु त्वामाहारसमयश्च ते ।
स त्वं मामभिसन्धाय भक्ष्यं मृगयसे पुनः ॥१३४॥

"मैं जानता हूँ कि तुम भूखे हो और यह तुम्हारे भोजन का समय है, अतः तुम मुझसे पुनः सन्धि करके अपने लिए भोजन खोज रहे हो।

नाहं त्वया समेष्यामि वृत्तो हेतुः समागमे ।
शिवं ध्यायस्व मे स्वस्थः सुकृतं स्मरसे यदि ॥१३५॥

"अब मैं तुमसे नहीं मिलूंगा। हम दोनों के मिलने का जो उद्देश्य था, वह पूरा हो गया। यदि तुम्हें मेरे शुभ कर्म=उपकार का स्मरण है तो स्वयं नीरोग रहकर मेरे भी कल्याण का चिन्तन करो।

शत्रोरनार्यभूतस्य क्लिष्टस्य क्षुधितस्य च ।
भक्ष्यं मृगयमाणस्य कः प्राज्ञो विषयं व्रजेत् ॥१३६॥

"जो अपना शत्रु हो, दुष्ट हो, विपत्ति में पड़ा हो, भूखा हो और अपने लिए भोजन खोज रहा हो, उसके समक्ष कोई भी बुद्धिमान् [जो उसका भोज्य हो] कैसे जा सकता है ?

कामं सर्वं प्रदास्यामि न त्वाऽऽत्मानं कदाचन ।
आत्मार्थे सन्ततिस्त्याज्या राज्यं रत्नं धनानि च ॥१३७

"मैं तुम्हें इच्छानुसार सब-कुछ दे सकता हूँ; परन्तु अपने-आपको कभी नहीं दूंगा । अपनी रक्षा के लिए तो सन्तति, राज्य, रत्न और धन—सबका त्याग किया जा सकता है ।

ऐश्वर्यधनरत्नानां प्रत्यमित्रे निवर्ततताम् ।
दृष्टा हि पुनरावृत्तिर्जीवतामिति नः श्रुतम् ॥१३८॥

"हमने सुना है कि यदि प्राणी जीवित रहे तो वह शत्रुओं द्वारा अपने अधिकार में किये हुए ऐश्वर्य, धन और रत्नों को पुनः लौटा सकता है । यह बात प्रत्यक्ष देखी भी गई है ।"

इत्यभिव्यक्तमेवं स. पलितेनाभिर्भत्सितः ।
मार्जारो व्रीडितो भूत्वा मूषकं वाक्यमब्रवीत् ॥१३९॥

पलित ने जब इस प्रकार स्पष्टरूप से बिलाव की भर्त्सना की, तब उसने लज्जित होकर चूहे से इस प्रकार कहा—

लोमश उवाच

सत्यं शपे त्वयाहं वै मित्रद्रोहो विगर्हितः ।
तन्मन्येऽहं तव प्रज्ञां यस्त्वं मम हिते रतः ॥१४०॥

लोमश बोला—भाई ! मैं तुमसे सत्य की शपथ खाकर कहता हूं—मित्र से द्रोह करना तो अत्यन्त घृणित है । तुम जो सदा मेरे हित में तत्पर रहते हो, इसे मैं तुम्हारी उत्तम बुद्धि का परिणाम समझता हूँ ।

उक्तवानर्थतत्त्वेन मया सम्भिन्नदर्शनः ।
न तु मामन्यथा साधो त्वं ग्रहीतुमिहार्हसि ॥१४१॥

श्रेष्ठ पुरुष ! तुमने तो यथार्थरूप से नीतिशास्त्र का सार ही कह दिया । मुझसे तुम्हारा विचार पूरा-पूरा मिलता है । किन्तु मित्रवर ! तुम मुझे गलत मत समझो । मेरा भाव तुमसे विपरीत नहीं है ।

प्राणप्रदानजं त्वत्तो मयि सौहृदमागतम् ।
धर्मज्ञोऽस्मि गुणज्ञोऽस्मि कृतज्ञोऽस्मि विशेषतः ॥१४२॥
मित्रेषु वत्सलश्चास्मि त्वद्भक्तश्च विशेषतः ।
तस्मादेवं पुनः साधो मय्याचरितुमर्हसि ॥१४३॥

तुमने मुझे प्राणदान दिया है, इसी से मुझपर तुम्हारे सौहार्द का प्रभाव पड़ा । मैं धर्म के मर्म को जानता हूँ, गुणों का मूल्य समझता हूँ और विशेषतः तुम्हारे प्रति कृतज्ञ हूँ । मैं मित्रवत्सल हूँ और विशेषरूप से तुम्हारा भक्त बन गया हूँ, अतः मेरे अच्छे मित्र ! तुम पुनः मेरे साथ वैसा ही बर्ताव करो—मेल-जोल बढ़ाकर मेरे साथ घूमो-फिरो ।

त्वया हि वाच्यमानोऽहं जह्यां प्राणान्सबान्धवः ।
तदेतत् धर्मतत्त्वज्ञ न त्वं शंकितुमर्हसि ॥१४४॥

यदि तुम कहो तो मैं बन्धु-बान्धवोंसहित अपने प्राण भी तुम्हारे लिए दे सकता हूँ । धर्म के तत्त्व को जाननेवाले पलित ! तुम्हें मुझपर सन्देह नहीं करना चाहिए ।

मूषक उवाच

संस्तवैर्वा धनौघैर्वा नाहं शक्यः पुनस्त्वया ।
न हि ह्यमित्रे वशं यान्ति प्राज्ञा निष्कारणं सखे ।
अस्मिन्नर्थे च गाथे द्वे निबोधोशनसा कृते ॥१४

मूषक बोला—सखे ! तुम मेरी कितनी ही स्तुति क्यों न करो, मेरे लिए कितनी ही धनराशि क्यों न लुटा दो, परन्तु अब मैं तुम्हारे साथ मिल नहीं सकता । बुद्धिमान् और विद्वान् पुरुष बिना किसी विशेष कारण के अपने शत्रु के वश में नहीं जाते हैं । इस विषय में शुक्राचार्य ने दो गाथाएँ कहीं हैं, उन्हें ध्यानपूर्वक सुनो—

शत्रुसाधारणे कृत्ये कृत्वा सन्धि बलीयसा ।
समाहितश्चरेद् युक्त्या कृतार्थश्च न विश्वसेत् ॥१

"जब अपने और शत्रु पर एक-जैसा संकट आ हो, तब निर्बल को सबल शत्रु के साथ मेल कर बड़ी सावधानी और युक्ति से अपना काम निकाल चाहिए और जब काम निकल जाए, तब उस पर विश्वास नहीं करना चाहिए [यह प्रथम गा है ।]

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत् ।
नित्यं विश्वासयेदन्यान्परेषां तु न विश्वसेत् ॥१४

[दूसरी गाथा यह है—] "जो विश्वासपात्र

हो उसपर विश्वास न करे और जो विश्वासपात्र हो उसपर भी अधिक विश्वास न करे। अपने प्रति सदा दूसरों में विश्वास उत्पन्न करे परन्तु स्वयं दूसरों का विश्वास न करे।"

संक्षेपो नीतिशास्त्राणामविश्वासः परो मतः।
नृषु तस्मादविश्वासः पुष्कलं हितमात्मनः॥१४८॥

संक्षेप में नीतिशास्त्र का सार यह है—किसी का भी विश्वास न करना ही सर्वोत्तम है। इसलिए दूसरे लोगों पर विश्वास न करने में ही अपना विशेष हित है।

वध्यन्ते न ह्यविश्वस्ताः शत्रुभिर्दुर्बला अपि।
विश्वस्तास्तेषु वध्यन्ते बलवन्तोऽपि दुर्बलैः॥१४९॥

जो विश्वास न करके सावधान रहते हैं, वे दुर्बल होने पर भी शत्रुओं द्वारा नहीं मारे जाते, परन्तु जो उनपर विश्वास करते हैं, वे बलशाली होने पर भी दुर्बल शत्रुओं द्वारा मार डाले जाते हैं।

त्वद्विधेभ्यो मया ह्यात्मा रक्ष्यो मार्जार सर्वदा।
रक्ष त्वमपि चात्मानं चाण्डालाज्जातिकिल्बिषात्॥

"भाई बिलाव! तुम-जैसे लोगों से मुझे सदा अपनी रक्षा करनी चाहिए और तुम भी अपने जन्म-जात शत्रु चाण्डाल से अपने को बचाये रखो।

भीष्म उवाच

स तस्य ब्रुवतस्त्वेवं सन्त्रासाज्जतसाध्वसः।
शाखां हित्वा जवेनाशु मार्जारः प्रययौ ततः॥१५१॥

भीष्मजी कहते हैं—चूहे के इस प्रकार कहते समय चाण्डाल का नाम सुनते ही बिलाव बहुत डर गया और उस शाखा को छोड़कर अत्यन्त शीघ्रता से तुरन्त दूसरी ओर चला गया।

ततः शास्त्रार्थतत्त्वज्ञो बुद्धिसामर्थ्यमात्मनः।
विश्राव्य पलितः प्राज्ञो बिलमन्यज्जगाम ह॥१५२॥

तत्पश्चात् नीतिशास्त्र के अर्थ और तत्त्व को जाननेवाला बुद्धिमान् पलित अपनी बौद्धिक शक्ति का परिचय दे दूसरे बिल में चला गया।

एवं प्राज्ञवता बुद्ध्या दुर्बलेन महाबलाः।
एकेन बहवोऽमित्राः पलितेनाभिसन्धिताः॥१५३॥
अरिणापि समर्थेन सन्धिं कुर्वीत पण्डितः।
मूषकश्च बिडालश्च मुक्तावन्योन्यसंश्रयात्॥१५४॥

इस प्रकार दुर्बल और अकेला होने भी बुद्धिमान् पलित चूहे ने अपने बुद्धि-बल से अनेक प्रबल शत्रुओं को परास्त कर दिया, अतः संकट के समय विद्वान् पुरुष को चाहिए कि बलवान् शत्रु के साथ भी सन्धि कर ले। देखो, चूहा और बिलाव दोनों एक-दूसरे का आश्रय लेकर आपत्ति से छुटकारा पा गये थे।

कालेन रिपुणा सन्धिः काले मित्रेण विग्रहः।
कार्य इत्येव सन्धिज्ञाः प्राहुर्नित्यं नराधिप॥१५५॥

नरेश्वर! समय के अनुसार शत्रु के साथ भी सन्धि और मित्र के साथ भी युद्ध करना उचित है। सन्धि-तत्त्व के मर्मज्ञ विद्वान् पुरुष इसी बात को सदा कहते हैं।

न भयं विद्यते राजन् भीतस्यानागते भये।
अभीतस्य च विश्रम्भात् सुमहज्जायते भयम्॥१५६॥

राजन्! जो मनुष्य भय उपस्थित होने से पूर्व ही उसकी ओर से सशङ्क रहता है, उसके सामने प्रायः भय का अवसर ही नहीं आता है, परन्तु जो निःशङ्क होकर दूसरों पर विश्वास कर लेता है, उसे सहसा महान् भय का सामना करना पड़ता है।

अभीश्चरति यो नित्यं मन्त्रोऽदेयः कथञ्चन।
अविज्ञानाद्धि विज्ञातो गच्छेदास्पवदर्शिषु॥१५७॥

जो मनुष्य अपने को बुद्धिमान् समझकर निर्भय विचरता है, उसे कभी कोई परामर्श नहीं देना चाहिए, क्योंकि वह दूसरे की सम्मति सुनता ही नहीं है। भय को न जानने की अपेक्षा भय को जाननेवाला ठीक है, क्योंकि वह उससे बचने के लिए उपाय जानने की इच्छा से परिणामदर्शी पुरुषों के पास जाता है।

तस्मादभीतवद् भीतो विश्वस्तवदविश्वसन्।
कार्याणां गुरुतां प्राप्य नानृतं किञ्चिदाचरेत्॥१५८॥

अतः बुद्धिमान् पुरुष को डरते हुए भी निर्भय के समान रहना चाहिए तथा भीतर से विश्वास न करते हुए भी ऊपर से विश्वासी पुरुष के समान बर्ताव करना चाहिए। कार्यों की कठिनता को देखकर कभी कोई मिथ्या-आचरण नहीं करना चाहिए।

शत्रुसाधारणे कृत्ये कृत्वा सन्धिं बलीयसा।
समागतश्चरेद् युक्त्या कृतार्थो न च विश्वसेत्॥१५९॥

अपने और शत्रु के प्रयोजन यदि समान हों तो बलवान् शत्रु के साथ सन्धि करके उससे मिलकर युक्तिपूर्वक अपना काम बनाये और कार्य पूरा हो जाने पर फिर कभी उसका विश्वास न करे।

अविरुद्धां त्रिवर्गेण नीतिमेतां महीपते।
अभ्युत्तिष्ठ श्रुतादस्माद् भूयः संरक्षयन् प्रजाः ॥१६०॥

भूपाल ! यह नीति धर्म, अर्थ और काम के अनुकूल है। तुम इसका आश्रय लो। मुझसे सुने हुए इस उपदेश के अनुसार कर्तव्यपालन में तत्पर हो समस्त प्रजा की रक्षा करते हुए अपनी उन्नति के लिए उठकर खड़े हो जाओ।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥३५॥

षट्त्रिंशोऽध्यायः

शत्रु से सदा सावधान रहने के विषय में राजा ब्रह्मदत्त और पूजनी चिड़िया का संवाद

युधिष्ठिर उवाच

उक्तो मन्त्रो महाबाहो विश्वासो नास्ति शत्रुषु।
कथं हि राजा वर्तेत यदि सर्वत्र नाश्वसेत् ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—महाबाहो ! आपने परामर्श दिया है कि शत्रुओं पर विश्वास नहीं करना चाहिए। साथ ही आपने यह भी कहा है कि कहीं भी विश्वास करना उचित नहीं है, परन्तु यदि राजा सर्वत्र अविश्वास ही करे तो वह राजकार्यों को कैसे चला सकता है ?

भीष्म उवाच

शृणु राजन् यद् वृत्तं ब्रह्मदत्तनिवेशने।
पूजन्या सह संवादं ब्रह्मदत्तस्य भूपतेः ॥२॥

भीष्मजी ने कहा—राजन् ! महाराज ब्रह्मदत्त के घर में पूजनी चिड़िया के साथ उनका जो संवाद हुआ था, उसे तुम्हारे समाधान के लिए सुनाता हूँ, सुनो !

काम्पिल्ये ब्रह्मदत्तस्य त्वन्तःपुरनिवासिनी।
पूजनी नाम शकुनिर्दीर्घकालं सहोषिता ॥३॥

काम्पिल्य नगर में ब्रह्मदत्त नामक एक राजा राज्य करता था। उसके अन्तःपुर में पूजनी नाम की चिड़िया दीर्घकाल तक निवास करती रही।

अभिप्रजाता सा तत्र पुत्रमेकं सुवर्चसम्।
समकालं च राज्ञोऽपि देव्यां पुत्रो व्यजायत ॥४॥

एक दिन उसने रनिवास में ही एक बच्चा दिया। वह बड़ा तेजस्वी था। उसी दिन उसके साथ ही राजा की रानी के गर्भ से भी एक बालक उत्पन्न हुआ।

तयोरर्थे कृतज्ञा सा खेचरी पूजनी सदा।
समुद्रतीरं गत्वा सा त्वाजहार फलद्वयम् ॥५॥

आकाश में उड़नेवाली वह कृतज्ञ पूजनी चिड़िया प्रतिदिन समुद्रतट पर जाकर वहाँ से उन दोनों बच्चों के लिए दो फल ले आया करती थी।

पुष्ट्यर्थं स्वपुत्रस्य राजपुत्रस्य चैव ह।
फलमेकं सुतायादाद् राजपुत्राय चापरम् ॥६॥

अपने बच्चे की पुष्टि के लिए एक फल तो व उसे दे देती और दूसरा राजा के बेटे की पुष्टि लिए उस राजकुमार को अर्पित कर देती थी।

ततोऽगच्छत् परां वृद्धिं राजपुत्रः फलाशनात्।
ततः स धात्र्या कक्षेण ऊह्यमानो नृपात्मजः ॥७
ददर्श तं पक्षिसुतं बाल्यादागत्य बालकः।
ततो बाल्याच्च यत्नेन तेनाक्रीडत पक्षिणा ॥८

राजकुमार उस फल को खा-खाकर अत्यन्त पु हो गया। एक दिन धाय उस राजकुमार को गोद लिये हुए घूम रही थी। वह बालक ही तो ठहर बाल-स्वभाववश आकर उसने उस चिड़िया के ब को देखा और रुचिपूर्वक उसके साथ खेलने लगा।

शून्ये च तमुपादाय पक्षिणं समजातकम्।
हत्वा ततः स राजेन्द्र धात्र्या हस्तमुपागतः ॥९

हे राजेन्द्र ! राजकुमार ने अपने साथ ही उत्प हुए उस पक्षी को सूने स्थान में ले-जाकर मार डा और उसे मारकर वह धाय की गोद में आ बैठा।

अथ सा पूजनी राजन्नागमत् फलहारिणी।
अपश्यन्निहतं पुत्रं तेन बालेन भूतले ॥१०

राजन् ! कुछ समय पश्चात् जब पूजनी फल लेकर लौटी तो उसने देखा कि राजकुमार ने उसके बच्चे को मार डाला है और वह धरती पर पड़ा है।

बाष्पपूर्णमुखी दीना दृष्ट्वा तं रुदती सुतम् ।
पूजनी दुःखसन्तप्ता रुदती वाक्यमब्रवीत् ॥११॥

अपने बच्चे की ऐसी दुर्गति देखकर पूजनी के मुख पर आँसुओं की धारा बह निकली तथा वह दुःख से सन्तप्त हो रोती हुई इस प्रकार कहने लगी—

क्षत्रिये संगतं नास्ति न प्रीतिर्न च सौहृदम् ।
कारणात्सान्त्वयन्त्येते कृतार्थाः सन्त्यजन्ति च ॥१२॥

"क्षत्रिय में संगति निभाने की भावना नहीं होती। उसमें न तो प्रेम होता है, न सौहार्द। ये किसी हेतु अथवा स्वार्थ से ही दूसरों को सान्त्वना देते हैं। जब इनका काम निकल जाता है, तब ये आश्रित व्यक्ति को त्याग देते हैं।

अहमस्य करोम्यद्य सदृशीं वैरयातनाम् ।
कृतघ्नस्य नृशंसस्य भृशं विश्वासघातिनः ॥१३॥

"यह राजकुमार कृतघ्न, अत्यन्त क्रूर और विश्वासघाती है। अच्छा, आज मैं इससे इस वैर का बदला लेकर ही रहूँगी।"

इत्युक्त्वा चरणाभ्यां तु नेत्रे नृपसुतस्य सा ।
भित्त्वा स्वस्था तत इदं पूजनी वाक्यमब्रवीत् ॥१४॥

ऐसा कहकर पूजनी ने अपने दोनों पञ्जों से राजकुमार की दोनों आँखें फोड़ डालीं। तत्पश्चात् आकाश में स्थिर होकर वह बोली—

इच्छयेह कृतं पापं सद्यस्तं चोपसर्पति ।
कृतं प्रतिकृतं येषां न नश्यति शुभाशुभम् ॥१५॥

"संसार में इच्छापूर्वक जो पाप किया जाता है, उसका फल तत्काल ही कर्ता को मिल जाता है। जिनके पाप का बदला मिल जाता है, उनके पूर्वकृत शुभाशुभ नष्ट नहीं होते हैं।

पापं कर्म कृतं किञ्चिद् यदि तस्मिन्न दृश्यते ।
नृपते तस्य पुत्रेषु पौत्रेष्वपि च नप्तृषु ॥१६॥

"नरेश्वर ! यदि यहाँ किये हुए पापकर्म का कोई फल कर्ता को मिलता न दिखाई दे तो यह समझना चाहिए कि उसका फल उसके बेटे, पोते और नातियों को भोगना पड़ेगा।"

ब्रह्मदत्तः सुतं दृष्ट्वा पूजन्या हृतलोचनम् ।
कृते प्रतिकृतं मत्वा पूजनीमिदमब्रवीत् ॥१७॥

राजा ब्रह्मदत्त ने देखा कि पूजनी ने उसके पुत्र की आँखें निकाल ली हैं, तब उन्होंने यह समझ लिया कि राजपुत्र को उसके कुकर्म का फल मिल गया है। यह सोचकर राजा ने क्रोध को त्याग दिया और पूजनी से कहा—

ब्रह्मदत्त उवाच

अस्ति वै कृतमस्माभिरस्ति प्रतिकृतं त्वया ।
उभयं तत् समीभूतं वस पूजनि मा गमः ॥१८॥

ब्रह्मदत्त ने कहा—पूजनी ! हमने तेरा अपराध किया और तूने उसका बदला चुका लिया। हम दोनों का हिसाब चुकता हो गया, अतः अब तू यहीं रह, अन्यत्र मत जा।

पूजन्युवाच

सकृत् कृतापराधस्य तत्रैव परिलम्बतः ।
न तद् बुधाः प्रशंसन्ति श्रेयस्तत्रापसर्पणम् ॥१९॥

पूजनी बोली—राजन् ! एक बार किसी का अपराध करके पुनः उसी स्थान पर टिके रहने के कार्य को विद्वान् अच्छा नहीं बताते। वहाँ से भाग जाने में ही उसका कल्याण है।

पूर्वं सम्मानना यत्र पश्चाच्चैव विमानना ।
जह्यात्तत्सत्ववान्स्थानं शत्रोः सम्मानितोऽपि सन् ॥२०

जहाँ पहले सम्मान मिला हो, वहीं पीछे अपमान होने लगे तो प्रत्येक शक्तिशाली मनुष्य को पुनः सम्मान मिलने पर भी उस स्थान को छोड़ देना चाहिए।

उषितास्मि तवागारे दीर्घकालं समर्चिता ।
तदिदं वैरमुत्पन्नं सुखमाशु व्रजाम्यहम् ॥२१॥

राजन् ! मैं बहुत समय तक बड़े आदर के साथ आपके घर में रही हूँ, परन्तु अब यह वैर उत्पन्न हो गया, अतः मैं अति शीघ्र यहाँ से सुखपूर्वक चली जाऊँगी।

ब्रह्मदत्त उवाच

संवासाज्जायते स्नेहो जीवितान्तकरेष्वपि ।
अन्योन्यस्य च विश्वासः श्वपचेन शुनो यथा ॥२२॥

ब्रह्मदत्त बोले—पूजनी ! एकसाथ रहने से एक-

दूसरे के घातक प्राणियों में भी परस्पर स्नेह उत्पन्न हो जाता है और वे एक-दूसरे का विश्वास करने लगते हैं, जैसे चाण्डाल के साथ रहने से कुत्ते का उसके प्रति स्नेह और विश्वास उत्पन्न हो जाता है।

अन्योन्यकृतवैराणां संवासान्मृदुतां गतम् ।
नैव तिष्ठति तद् वैरं पुष्करस्थमिवोदकम् ॥२३॥

जिनका परस्पर वैर हो गया हो, एक साथ रहने से उनका वह वैर भी मृदु हो जाता है। जैसे कमल-पत्र पर जल नहीं ठहरता, वैसे ही वह वैर भी टिक नहीं पाता।

पूजन्युवाच

वैरं पञ्चसमुत्थानं तच्च बुध्यन्ति पण्डिताः ।☐
स्त्रीकृतं वास्तुजं वाग्जं ससापत्नापराधजम् ॥२४॥

पूजनी बोली—नरेश्वर ! वैर पाँच कारणों से हुआ करता है, इस बात को बुद्धिमान् लोग भली-भाँति जानते हैं—१. स्त्री के लिए, २. गृह और भूमि के लिए, ३. कठोर वाणी के कारण, ४. जातिगत द्वेष के कारण तथा ५. किसी समय किये हुए अपराध के कारण।

कृतवैरे न विश्वासः कार्यस्त्विह सुहृद्यपि ।
छन्नं सन्तिष्ठते वैरं गूढोऽग्निरिव दारुषु ॥२५॥

जिसने वैर बाँध लिया हो, इस संसार में ऐसे मित्र पर भी विश्वास नहीं करना चाहिए, क्योंकि जैसे लकड़ी में आग छिपी रहती है, वैसे ही उसके हृदय में वैरभाव छिपा रहता है।

न वित्तेन न पारुष्यैर्न सान्त्वेन न च श्रुतैः ।
कोपाग्निः शाम्यते राजंस्तोयाग्निरिव सागरे ॥२६॥

राजन् ! जैसे बड़वानल समुद्र में किसी प्रकार शान्त नहीं होता, वैसे ही क्रोधाग्नि भी न धन से, न कठोरता दिखाने से, न मधुर वचनों द्वारा समझाने-बुझाने से और न शास्त्र-ज्ञान से ही शान्त होती है।

न हि वैराणि शाम्यन्ति कुले दुःखगतानि च ।
आख्यातारश्च विद्यन्ते कुले वै ध्रियते पुमान् ॥२७॥

जब किसी कुल में दुःखदायी वैर बँध जाता है, तब वह शान्त नहीं होता। उसे स्मरण करानेवाले बने ही रहते हैं, अतः जबतक कुल में एक भी पुरुष जीवित रहता है, तबतक वह वैर नहीं मिटता।

उपगूह्य तु वैराणि सान्त्वयन्ति नराधिप ।
अथैनं प्रतिपिंषन्ति पूर्णं घटमिवाश्मनि ॥२८॥

प्रजेश्वर ! दुष्ट प्रकृति के लोग मन में वैर रखकर ऊपर से शत्रु को मीठे वचनों द्वारा सान्त्वना देते रहते हैं, परन्तु अवसर पाते ही उसे उसी प्रकार पीस डालते हैं जैसे कोई पानी से भरे हुए घड़े को पत्थर पर पटककर चूर-चूर कर देता है।

तस्मादन्यत्र यास्यामि वस्तुं नाहमिहोत्सहे ।
कृतमेतदनार्यं मे तव पुत्रे च पार्थिव ॥२९॥

राजन् ! मैंने तुम्हारे पुत्र के साथ दुष्टतापूर्ण व्यवहार किया है, अतः अब मैं यहाँ रहने का साहस नहीं कर सकती, दूसरे स्थान पर चली जाऊँगी।

कुभार्यां च कुपुत्रं च कुराजानं कुसौहृदम् ।☐
कुसम्बन्धं कुदेशं च दूरतः परिवर्जयेत् ॥३०॥

दुराचारिणी स्त्री, आज्ञा न माननेवाले पुत्र, अन्यायी राजा, विश्वासघाती मित्र और दुष्ट देश को दूर से ही त्याग देना चाहिए।

कुपुत्रे नास्ति विश्वासः कुभार्यायां कुतो रतिः ।☐
कुराज्ये निर्वृतिर्नास्ति कुदेशे नास्ति जीविका ॥३१॥

कुपुत्र पर कभी विश्वास नहीं हो सकता। दुष्टा भार्या पर प्रेम कैसे हो सकता है ? कुटिल राजा के राज्य में कभी शान्ति नहीं मिल सकती और दुष्ट देश में जीवन-निर्वाह नहीं हो सकता।

सा भार्या या प्रियं ब्रूते स पुत्रो यत्र निर्वृतिः ।☐
तन्मित्रं यत्र विश्वासः स देशो यत्र जीव्यते ॥३२॥

पत्नी वह है जो प्रिय वचन बोले। पुत्र वह है जिससे सुख मिले। मित्र वही श्रेष्ठ है जिसपर विश्वास बना रहे और देश वह उत्तम है जहाँ जीविका चल सके।

यत्र नास्ति बलात्कारः स राजा तीव्रशासनः ।
भीरवे नास्ति सम्बन्धो दरिद्रं यो बुभूषते ॥३३॥

उग्रशासनवाला राजा वही श्रेष्ठ है, जिसके राज्य में बलात्कार न हो, किसी प्रकार का भय न रहे, जो दरिद्र का पालन करना चाहता हो और प्रजा के साथ जिसका पाल्य-पालक-सम्बन्ध सदा बना रहे।

बलिषड्भागमुद्धृत्य बलिं समुपयोजयेत् ।
न रक्षति प्रजाः सम्यग्यः स पार्थिवतस्करः ॥३४॥

जो प्रजा की आय का छठा भाग कररूप में लेकर उसका उपभोग करता है परन्तु प्रजा का भलीभाँति पालन नहीं करता, वह तो राजाओं में चोर है।

नित्योद्विग्नाः प्रजा यस्य करभारप्रपीडिताः ।
अनर्थैर्विप्रलुप्यन्ते स गच्छति पराभवम् ॥३५॥

जिसकी प्रजा सर्वदा कर के भार से पीड़ित हो नित्य व्याकुल रहती है तथा नाना प्रकार के अनर्थ उसे सताते रहते हैं, वह राजा पराभव को प्राप्त होता है।

बलिना विग्रहो राजन् न कदाचित्प्रशस्यते ।
बलिना विग्रहो यस्य कुतो राज्यं कुतः सुखम् ॥३६॥

नरेश्वर ! शक्तिशाली के साथ युद्ध छेड़ना कभी अच्छा नहीं माना जाता। जिसने बलवान् के साथ झगड़ा मोल ले लिया उसका राज्य और सुख स्थिर नहीं रह सकते।

भीष्म उवाच

सैवमुक्त्वा शकुनिका ब्रह्मदत्तं नराधिप ।
राजानं समनुज्ञाप्य जगामाभीप्सितां दिशम् ॥३७॥

भीष्मजी कहते हैं—प्रजेश्वर ! पूजनी चिड़िया राजा ब्रह्मदत्त से ऐसा कहकर उनसे विदा ले अपनी अभीष्ट दिशा को चली गई।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥३६॥

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

प्राचीन इतिहास द्वारा युधिष्ठिर को कूटनीति का उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

युगक्षयात् परिक्षीणे धर्मे लोके च भारत ।
दस्युभिः पीड्यमाने च कथं स्थेयं पितामह ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—हे भारत ! पितामह ! सत्ययुग, त्रेता और द्वापर—ये तीनों युग समाप्त हो गये हैं, अतः जगत् में धर्म का भी क्षय हो चला है। डाकू और लुटेरे इस धर्म में और भी बाधा डाल रहे हैं, ऐसे समय में कैसे रहना चाहिए ?

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्यामि नीतिमापत्सु भारत ।
उत्सृज्यापि घृणां काले यथा वर्तेत भूमिपः ॥२॥

भीष्मजी ने कहा—भरतकुमार ! ऐसे समय में तुम्हें आपत्तिकाल की वह नीति बता रहा हूँ, जिसके अनुसार राजा द्वारा दया को तिलाञ्जलि देकर समयोचित व्यवहार करना चाहिए।

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
भारद्वाजस्य संवादं राज्ञः शत्रुञ्जयस्य च ॥३॥

इस विषय में भारद्वाज कणिक और राजा शत्रुञ्जय के संवादरूप एक प्राचीन इतिहास का उदाहरण दिया जाता है।

राजा शत्रुञ्जयो नाम सौवीरेषु महारथः ।
भारद्वाजमुपागम्य पप्रच्छार्थविनिश्चयम् ॥४॥

सौवीर देश में उत्पन्न महारथी राजा शत्रुञ्जय ने भारद्वाज कणिक के पास जाकर अपने कर्तव्य का निश्चय करने के लिए उनसे इस प्रकार प्रश्न किया—

अलब्धस्य कथं लिप्सा लब्धं केन विवर्धते ।
वर्धितं पाल्यते केन पालितं प्रणयेत् कथम् ॥५॥

"अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति कैसे होती है ? प्राप्त द्रव्य की वृद्धि कैसे हो सकती है ? बढ़े हुए द्रव्य की रक्षा किससे की जाती है और उस सुरक्षित द्रव्य का सदुपयोग कैसे किया जाना चाहिए ?"

भारद्वाज उवाच

नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः ।
अच्छिद्रश्छिद्रदर्शी च परेषां विवरानुगः ॥६॥

भारद्वाज कणिक बोले—राजा को सदा दण्ड देने के लिए उद्यत और पुरुषार्थी होना चाहिए। राजा अपने में निर्बलता न रहने दे परन्तु शत्रु की निर्बलता पर सदा ही दृष्टि रखे और यदि शत्रुओं की दुर्बलता का पता चल जाए तो उनपर आक्रमण कर दे।

नित्यमुद्यतदण्डस्य भृशमुद्विजते नरः ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि दण्डेनैव प्रसाधयेत् ॥७॥

जो सदा दण्ड देने के लिए उद्यत रहता है, उससे प्रजा बहुत डरती है, अतः समस्त प्राणियों को दण्ड के द्वारा ही वश में करना चाहिए।

छिन्नमूले त्वधिष्ठाने सर्वेषां जीवनं हृतम् ।
कथं हि शाखास्तिष्ठेयुश्छिन्नमूले वनस्पतौ ।।८।।

यदि मूल-आधार नष्ट हो जाए तो उसके आश्रय से जीवन-यापन करनेवाले सभी शत्रुओं का जीवन नष्ट हो जाता है । यदि वृक्ष की जड़ काट दी जाए तो उसकी शाखाएँ कैसे रह सकती हैं !

मूलमेवादितश्छिन्द्यात् परपक्षस्य पण्डितः ।
ततः सहायान् पक्षं च मूलमेवानुसाधयेत् ।।९।।

बुद्धिमान् मनुष्य पहले शत्रुपक्ष के मूल को ही उखाड़ फेंके, तत्पश्चात् उसके सहायकों और पक्षपातियों को भी उसके मूल के पथ का ही अनुसरण कराये ।

सुमन्त्रितं सुविक्रान्तं सुयुद्धं सुपलायितम् ।
आपदास्पदकाले तु कुर्वीत न विचारयेत् ।।१०।।

संकटकाल उपस्थित होने पर राजा उत्तम मन्त्रणा, महान् पराक्रम और उत्साहपूर्वक युद्ध करे तथा अवसर आने पर चतुरता से पलायन भी करे । आपत्काल के समय आवश्यक कर्म झटपट कर डालना चाहिए, अधिक सोच-विचार नहीं करना चाहिए ।

वाङ्मात्रेण विनीतः स्याद्धृदयेन यथा क्षुरः ।
श्लक्ष्णपूर्वाभिभाषी च कामक्रोधौ विवर्जयेत् ।।११।।

राजा केवल वार्तालाप में ही विनीत हो परन्तु हृदय को छुरे के समान तीक्ष्ण बनाये रखे, पहले मुस्कराकर मीठे वचन बोले और काम-क्रोध को त्याग दे ।

सपत्नसहिते कार्ये कृत्वा सन्धिं न विश्वसेत् ।
अपक्रामेत् ततः शीघ्रं कृतकार्यो विचक्षणः ।।१२।।

शत्रु के साथ किये जानेवाले समझौते आदि कार्य में सन्धि करके भी उसपर विश्वास न करे । अपना काम बना लेने पर बुद्धिमान् मनुष्य वहाँ से शीघ्र हट जाए ।

शत्रुं च मित्ररूपेण सान्त्वेनैवाभिसान्त्वयेत् ।
नित्यशश्चोद्विजेत्तस्माद् गृहात्सर्पयुतादिव ।।१३।।

शत्रु को उसका मित्र बनकर मधुर वचनों से सान्त्वना प्रदान करता रहे, परन्तु जैसे-सर्पयुक्त गृह से मनुष्य डरता है उसी प्रकार उस शत्रु से भी सदा व्याकुल [सावधान] रहे ।

अञ्जलिं शपथं सान्त्वं प्रणम्य शिरसा वदेत् ।
अश्रुप्रमार्जनं चैव कर्तव्यं भूतिमिच्छता ।।१४।।

ऐश्वर्य-अभिलाषी राजा को चाहिए कि वह अवसर देखकर शत्रु के सामने हाथ जोड़े, शपथ खाये, आश्वासन दे और चरणों में सिर झुकाकर वार्तालाप करे । इतना ही नहीं, वह धीरज देकर उसके आँसू तक पोंछे ।

कोकिलस्य वराहस्य मेरोः शून्यस्य वेश्मनः ।
नटस्य भक्तिमित्रस्य यच्छ्रेयस्तत् समाचरेत् ।।१५।।

राजा को चाहिए कि कोयल, सूअर, सुमेरु पर्वत, शून्य घर, नट और अनुरक्त सुहृद—इनमें जो श्रेष्ठ गुण तथा विशेषताएँ हैं, उन्हें काम में लाये ।[1]

उत्थायोत्थाय गच्छेत नित्ययुक्तो रिपोर्गृहान् ।
कुशलं चास्य पृच्छेत यद्यप्यकुशलं भवेत् ।।१६।।

राजा को चाहिए कि वह प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर तथा पूर्ण सावधान होकर शत्रु के घर जाए और चाहे उसका अमङ्गल ही क्यों न हो रहा हो, सदा उसकी कुशल पूछे तथा मङ्गल-कामना करे ।

नालसाः प्राप्नुवन्त्यर्थान्न क्लीबा नाभिमानिनः ।
न च लोकरवाद् भीता न वै शश्वत् प्रतीक्षिणः ।।१७

जो आलसी, भीरु [कायर, डरपोक], अभिमानी, लोक-निन्दा से डरनेवाले और सदा समय की प्रतीक्षा में बैठे रहनेवाले हैं, ऐसे लोग अपने अभीष्ट अर्थ को नहीं पा सकते ।

बकवच्चिन्तयेदर्थान् सिंहवच्च पराक्रमेत् ।
वृकवच्चावलुम्पेत शरवच्च विनिष्पतेत् ।।१८।।

राजा बगुले के समान एकाग्रचित्त होकर कर्तव्य-विषय का चिन्तन करे । सिंह के समान पराक्रम प्रकट करे । भेड़िये की भाँति सहसा आक्रमण करके

---

[1] कोयल का श्रेष्ठ गुण है—उसके कण्ठ का माधुर्य, सूअर के आक्रमण को रोकना कठिन है—यही उसकी विशेषता है, मेरुपर्वत का गुण है सबसे उन्नत होना, सूने घर की विशेषता है बहुतों को आश्रय देना, नट का गुण है अपने प्रदर्शन द्वारा दूसरों को प्रसन्न एवं सन्तुष्ट करना तथा अनुरक्त मित्र की विशेषता है मित्र का हित-साधन—ये सारे गुण राजा को धारण करने चाहिएँ ।

शत्रु का धन लूट ले और बाण की भाँति शत्रुओं पर टूट पड़े ।

पानमक्षास्तथा नार्यो मृगया गीतवादितम् ।
एतानि युक्त्या सेवेत प्रसङ्गो ह्यत्र दोषवान् ॥१९॥

मद्यपान, जूआ, स्त्री-सहवास, शिकार खेलना और गाना-बजाना—इन सबका संयमपूर्वक अनासक्ति भाव से सेवन करे, क्योंकि इनमें आसक्त होना अनिष्टकारक है ।

कुर्यात्तृणमयं चापं शयीत मृगशायिकाम् ।
अन्धः स्यादन्धवेलायां बाधिर्यमपि संश्रयेत् ॥२०॥

राजा तिनकों से ही धनुष बना ले, हिरण के समान चौकन्ना होकर सोये, अन्धा बने रहने का समय हो तो अन्धे का भाव धारण किये रहे और अवसर पड़ने पर बहरा भी बन जाए ।

देशकालौ समासाद्य विक्रमेत विचक्षणः ।
देशकालव्यतीतो हि विक्रमो निष्फलो भवेत् ॥२१॥

बुद्धिमान् नरेश देश और काल को अपने अनुकूल पाकर पराक्रम प्रकट करे । देश-काल की अनुकूलता न होने पर किया गया पराक्रम निष्फल होता है ।

दण्डेनोपनतं शत्रुं यो राजा न नियच्छति ।
स मृत्युमुपगृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा ॥२२॥

जो राजा दण्ड से नतमस्तक हुए शत्रु को पाकर भी उसे नष्ट नहीं कर देता, वह अपनी मृत्यु को निमन्त्रण देता है, ठीक वैसे ही जैसे खच्चरी मृत्यु के लिए ही गर्भ धारण करती है ।

सुपुष्पितः स्यादफलः फलवान् स्याद् दुरारुहः ।
आमः स्यात्पक्वसंकाशो न च शीर्येत कस्यचित् ॥२३॥

नीतिज्ञ राजा को ऐसे वृक्ष के समान होना चाहिए जिसमें फूल तो खूब लगे हों परन्तु फल न हो । फल लगने पर भी उसपर चढ़ना अत्यन्त कठिन हो, कच्चा होने पर भी पके-जैसा दिखाई दे और स्वयं कभी जीर्ण-शीर्ण न हो ।

आशां कालवतीं कुर्यात्तां च विघ्नेन योजयेत् ।
विघ्नं निमित्ततो ब्रूयान्निमित्तं चापि हेतुतः ॥२४॥

राजा शत्रु की आशा पूर्ण होने में विलम्ब उत्पन्न करे, उसमें विघ्न डाल दे । उस विघ्न का कोई कारण बता दे और उस कारण को युक्तियुक्त सिद्ध कर दे ।

भीतवत् संविधातव्यं यावद्भयमनागतम् ।
आगतं तु भयं दृष्ट्वा प्रहर्तव्यमभीतवत् ॥२५॥

जबतक अपने ऊपर भय न आया हो तबतक डरे हुए की भाँति उसे टालने का प्रयत्न करना चाहिए, परन्तु जब भय को सामने आया हुआ देखे तब निडर होकर शत्रु पर आक्रमण करना चाहिए ।

अनागतं विजानीयाद् यच्छेद् भयमुपस्थितम् ।
पुनर्वृद्धिभयात् किंचिदनिवृत्तं निशामयेत् ॥२६॥

भविष्य में जो संकट आनेवाले हों, उन्हें पहले से ही जानने का प्रयत्न करे और जो भय सामने उपस्थित हो जाए, उसे दबाने की चेष्टा करे । दबा हुआ भय भी पुनः बढ़ सकता है, इस डर से यही समझे कि अभी वह दबा नहीं है [अतः सदा सावधान रहे] ।

प्रत्युपस्थितकालस्य सुखस्य परिवर्जनम् ।
अनागतसुखाशा च नैव बुद्धिमतां नयः ॥२७॥

जिसके सुलभ होने का समय आ गया हो उस सुख को त्याग देना और भविष्य में मिलनेवाले सुख की आशा करना—यह बुद्धिमानों की नीति नहीं है ।

योऽरिणा सह संधाय सुखं स्वपिति विश्वसन् ।
स वृक्षाग्रे प्रसुप्तो वा पतितः प्रतिबुध्यते ॥२८॥

जो शत्रु के साथ सन्धि करके विश्वासपूर्वक सुख से सोता है, वह उस मनुष्य के समान है जो वृक्ष की शाखा पर गाढ़ निद्रा में सो गया हो । ऐसा मनुष्य नीचे गिरने [शत्रु द्वारा संकट में फँसने पर] ही होश में आता है ।

कर्मणा येन तेनैव मृदुना दारुणेन च ।
उद्धरेद् दीनमात्मानं समर्थो धर्ममाचरेत् ॥२९॥

मनुष्य कोमल अथवा कठोर—जिस किसी भी उपाय से सम्भव हो सके, दीन-अवस्था से अपना उद्धार करे, फिर समर्थ होकर धर्म का आचरण करे ।

अशंक्यमपि शङ्केत नित्यं शङ्केत शङ्कितात् ।
भयं ह्यशङ्किताज्जातं समूलमपि कृन्तति ॥३०॥

जो सन्देह करने योग्य न हो ऐसे व्यक्ति पर भी सन्देह करे—उसकी ओर से सावधान रहे तथा

जिसकी ओर से भय की आशङ्का हो, उसकी ओर से तो सदा सब प्रकार से चौकन्ना रहे ही। जिसकी ओर से भय की आशङ्का नहीं है, उसकी ओर से यदि भय उत्पन्न होता है, तो वह जड़मूलसहित नष्ट कर देता है।

अवधानेन मौनेन काषायेण जटाजिनैः।
विश्वासयित्वा द्वेष्टारमवलुम्पेद् यथा वृकः ॥३१॥

शत्रु के हित के प्रति मनोयोग दिखाकर, मौनव्रत लेकर, गेरुए वस्त्र पहनकर तथा जटा एवं मृगचर्म धारण करके अपने प्रति विश्वास उत्पन्न करे और जब विश्वास हो जाए तब अवसर देखकर भूखे भेड़िये की भाँति शत्रु पर टूट पड़े।

पुत्रो वा यदि वा भ्राता पिता वा यदि वा सुहृत्।
अर्थस्य विघ्नं कुर्वाणा हन्तव्या भूतिमिच्छता ॥३२

पुत्र, भाई, पिता अथवा मित्र जो भी अर्थ-प्राप्ति [प्रयोजन-सिद्धि] में साधक हों, उन्हें ऐश्वर्य-अभिलाषी राजा अवश्य मार डाले।

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथं प्रतिपन्नस्य दण्डो भवति शासनम् ॥३३॥

यदि गुरु भी अभिमान के वशीभूत होकर कर्तव्य और अकर्तव्य को नहीं समझ रहा हो तथा बुरे मार्ग पर चलता हो, तो उसे भी दण्ड देना उचित है, दण्ड ही उसे सुमार्ग पर लाता है।

अभ्युत्थानाभिवादाभ्यां सम्प्रदानेन केनचित्।
प्रतिपुष्पफलाघाती तीक्ष्णतुण्ड इव द्विजः ॥३४॥

शत्रु के आने पर उठकर उसका स्वागत करे, उसे प्रणाम करे तथा कोई अपूर्व उपहार दे। इन सब व्यवहारों से पहले उसे वश में करे, तत्पश्चात् उसके साधन और साध्य पर ठीक वैसे ही आघात करे जैसे तीखी चोंचवाला पक्षी वृक्ष के प्रत्येक फूल और फल पर चोंच मारता है।

अमित्रं नैव मुञ्चेत वदन्तं करुणान्यपि।
दुःखं तत्र न कर्तव्यं हन्यात् पूर्वापकारिणम् ॥३५॥

शत्रु करुणाजनक वचन बोल रहा हो, गिड़गिड़ा रहा हो, तो भी उसे मारे बिना न छोड़े। जिसने पहले अपना अपकार किया हो, उसे अवश्य मार डाले और उसमें दुःख न माने।

प्रहरिष्यन् प्रियं ब्रूयात् प्रहृत्यैव प्रियोत्तरम्।
असिनापि शिरश्छित्त्वा शोचेत च रुदेत च ॥३६॥

प्रहार करने के लिए उद्यत होकर भी मधुर वचन बोले, प्रहार करने के पश्चात् भी मीठी वाणी ही बोले, तलवार से शत्रु का मस्तक काटकर भी उसके लिए शोक करे और रोये।

ऋणशेषमग्निशेषं शत्रुशेषं तथैव च।
पुनः पुनः प्रवर्धन्ते तस्माच्छेषं न धारयेत् ॥३७॥

ऋण, अग्नि और शत्रु—इनमें से कोई भी शेष रह जाए तो वह निरन्तर बढ़ता रहता है, अतः इनमें से किसी को भी शेष नहीं छोड़ना चाहिए।

वर्धमानमृणं तिष्ठेत् परिभूताश्च शत्रवः।
जनयन्ति भयं तीव्रं व्याधयश्चाप्युपेक्षिताः ॥३८॥

यदि बढ़ता हुआ ऋण शेष रह जाए, अपमानित शत्रु जीवित रह जाएँ और उपेक्षित रोग शेष रह जाए तो ये सब महान् भय उपस्थित करते हैं।

नासम्यक्कृतकारी स्यादप्रमत्तः सदा भवेत्।
कण्टकोऽपि हि दुश्छिन्नो विकारं कुरुते चिरम् ॥३९॥

किसी कार्य को अधूरा न छोड़े और सदा सावधान रहे। शरीर में गड़ा हुआ काँटा भी यदि पूर्णरूप से न निकाल दिया जाए—उसका कुछ भाग शरीर में ही रह जाए तो वह दीर्घकाल तक विकार उत्पन्न करता है।

वधेन च मनुष्याणां मार्गाणां दूषणेन च।
आगाराणां विनाशैश्च परराष्ट्रं विनाशयेत् ॥४०॥

मनुष्यों को मौत के घाट उतारकर, सड़कों को तोड़-फोड़कर और घरों को नष्ट-भ्रष्ट करके शत्रु के राष्ट्र का विध्वंस करना चाहिए।

गृध्रदृष्टिर्बकालीनः श्वचेष्टः सिंहविक्रमः।
अनुद्विग्नः काकशङ्की भुजङ्गचरितं चरेत् ॥४१॥

राजा गीध के समान दूरदर्शी हो, बगुले के समान लक्ष्य पर दृष्टि जमाए, कुत्ते के समान चौकन्ना रहे, सिंह के समान पराक्रम प्रकट करे, मन में उद्वेग=व्याकुलता को स्थान न दे, कौए की भाँति सशंक रहकर दूसरों की चेष्टा पर ध्यान रखे और दूसरों के बिल में प्रवेश करनेवाले सर्प की भाँति शत्रु का छिद्र देखकर उसपर प्रहार करे।

शूरमञ्जलिपातेन भीरुं भेदेन भेदयेत् ।
लुब्धमर्थप्रदानेन समं तुल्येन विग्रहः ।।४२।।

शूरवीर को हाथ जोड़कर वश में करे, डरपोक को भय दिखाकर फोड़ ले, लोभी को धन देकर वश में कर ले और जो बराबर का हो उसके साथ युद्ध छेड़ दे ।

मृदुरित्यवजानन्ति तीक्ष्ण इत्युद्विजन्ति च ।
तीक्ष्णकाले भवेत्तीक्ष्णो मृदुकाले मृदुर्भवेत् ।।४३।।

राजा सदा कोमल रहे तो लोग उसकी अवहेलना करते हैं और सदा कठोर बना रहे तो उससे उद्विग्न हो उठते हैं, अतः जब कठोरता दिखाने का समय हो तब वह कठोर बने और जब कोमलतापूर्ण व्यवहार करने का अवसर हो तब वह कोमल बन जाए ।

मृदुनैव मृदुं हन्ति मृदुना हन्ति दारुणम् ।
नासाध्यं मृदुना किञ्चित् तस्मात्तीक्ष्णतरो मृदुः ।।४४।।

बुद्धिमान् राजा कोमल उपाय से कोमल शत्रु का नाश करता है तथा कोमल उपाय से ही प्रचण्ड शत्रु का भी संहार कर डालता है। कोमल उपाय से कुछ भी असाध्य नहीं है, इसलिए कोमलता ही अत्यन्त तीक्ष्ण है ।

काले मृदुर्यो भवति काले भवति दारुणः ।
प्रसाधयति कृत्यानि शत्रुं चाप्यधितिष्ठति ।।४५।।

जो समय पर कोमल होता है और समय पर कठोर बन जाता है, वह अपने सारे कार्य सिद्ध कर लेता है तथा शत्रु पर भी उसका अधिकार हो जाता है ।

न तत्तरेद् यस्य न पारमुत्तरे-
न्न तद्धरेद् यत्पुनराहरेत् परः ।
न तत्खनेद् यस्य न मूलमुद्धरे-
न्न तं हन्याद् यस्य शिरो न पातयेत् ।।४६।।

जिसके पार न उतर सके उस नदी को तैरने का साहस न करे । शत्रु जिसे बलपूर्वक पुनः छीन ले ऐसे धन का अपहरण ही न करे । ऐसे वृक्ष या शत्रु को उखाड़ने अथवा नष्ट करने का प्रयत्न न करे जिसकी जड़ को उखाड़ फेंकना सम्भव न हो और उस वीर पर आक्रमण न करे, जिसके सिर को काटकर पृथिवी पर न गिरा सके ।

इतीदमुक्तं वृजनाभिसंहितं
न चैतदेवं पुरुषः समाचरेत् ।
परप्रयुक्ते न कथं विभावये-
दतो मयोक्तं भवतो हितार्थिना ।।४७।।

मैंने शत्रु के प्रति जो पापपूर्ण व्यवहार का उपदेश किया है, इसे समर्थ पुरुष सम्पत्ति के समय कभी आचरण में न लाये, परन्तु जब शत्रु ऐसे ही व्यवहारों द्वारा अपने ऊपर संकट उपस्थित कर दे तब उसके प्रतिकार के लिए वह इन्हीं उपायों को काम में लाने का विचार क्यों न करे ! यह सब-कुछ मैंने तुम्हारे हित की इच्छा से ही बताया है ।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि सप्तत्रिंशोऽध्यायः ।।३७।।

अष्टात्रिंशोऽध्यायः

शरणागत की रक्षा-विषय में एक बहेलिये और कपोत एवं कपोती की कथा

युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद ।
शरणं पालयानस्य यो धर्मस्तं वदस्व मे ।।१।।

युधिष्ठिर ने पूछा—सर्वशास्त्रों के मर्मज्ञ, परम बुद्धिमान् पितामह ! आप मुझे यह बताइए कि शरणागत की रक्षा करनेवाले प्राणी को किस धर्म [फल] की प्राप्ति होती है ?

भीष्म उवाच

महान् धर्मो महाराज शरणागतपालने ।
अर्हः प्रष्टुं भवांश्चैव प्रश्नं भरतसत्तम ।।२।।

भीष्मजी बोले—महाराज ! शरणागत की रक्षा करने में महान् धर्म है। भरतकुलभूषण ! तुम्हीं ऐसा पूछने के अधिकारी हो ।

शिबिप्रभृतयो राजन् राजानः शरणागतान् ।

परिपाल्य महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥३॥

राजन् ! शिबि आदि महात्मा राजाओं ने शरणागतों की रक्षा करके ही परम सिद्धि=मोक्ष प्राप्त कर ली थी।

श्रूयते च कपोतेन शत्रुः शरणमागतः ।
पूजितश्च यथान्यायं स्वैश्च मांसैर्निमन्त्रितः ॥४॥

यह भी सुना जाता है कि एक कबूतर ने शरण में आये हुए शत्रु का यथायोग्य सत्कार किया था और अपना मांस खाने के लिए उसे आमन्त्रित किया था।

युधिष्ठिर उवाच

कथं पुरा कपोतेन शत्रुः शरणमागतः ।
स्वमांसं भोजितः कां च जातिं लेभे स भारत ॥५॥

युधिष्ठिर ने पूछा—हे भारत ! प्राचीनकाल में कबूतर ने शरणागत शत्रु को किस प्रकार अपना मांस खिलाया तथा ऐसा करने से उसे कौन-सी सद्गति प्राप्त हुई ?

भीष्म उवाच

कश्चित् क्षुद्रसमाचारः पृथिव्यां कालसन्निभः ।
विचचार महारण्ये घोरः शकुनिलुब्धकः ॥६॥

भीष्मजी बोले—एक समय की बात है किसी महावन में कोई भयंकर बहेलिया चारों ओर विचर रहा था। वह अत्यन्त खोटे आचार-विचार का था और पृथिवी पर काल के समान जान पड़ता था।

स वै क्षारकमादाय द्विजान् हत्वा वने सदा ।
चकार विक्रयं तेषां पतङ्गानां जनाधिप ॥७॥

- प्रजेश्वर ! वह प्रतिदिन जाल लेकर वन में जाता और बहुत-से पक्षियों को मारकर उन्हें बाजार में बेच दिया करता था।

ततः कदाचित् तस्याथ वनस्थस्य समन्ततः ।
पातयन्निव वृक्षाँस्तान् सुमहान् वातसम्भ्रमः ॥८॥

एक दिन जब वह वन में घूम रहा था, उसी समय चारों ओर से बड़े जोर की आँधी उठी और वायु का प्रचण्ड वेग वहाँ के समस्त वृक्षों को धराशायी करता हुआ-सा जान पड़ा।

मेघसंकुलमाकाशं विद्युन्मण्डलमण्डितम् ।
क्षणेन पूरयामास सलिलेन वसुन्धराम् ॥९॥

आकाश में मेघों की घटाएँ घिर आईं और विद्युन्मण्डल से उसकी अपूर्व शोभा होने लगी, फिर उन घटाओं ने क्षणभर में ही इस पृथिवी को जलराशि से भर दिया।

ततो धाराकुले काले सम्भ्रमन् नष्टचेतनः ।
शीतार्तस्तद्वनं सर्वमाकुलेनान्तरात्मना ॥१०॥

उस समय मूसलाधार वृष्टि हो रही थी। बहेलिया शीत से पीड़ित हो अचेत-सा हो गया और व्याकुल हृदय से सारे वन में भटकने लगा।

नैव निम्नं स्थलं वापि सोऽविन्दत विहङ्गहा ।
पूरितो हि जलौघेन तस्य मार्गो वनस्य च ॥११॥

वन का मार्ग, जिसपर वह आता-जाता था, जल के प्रवाह में डूब गया था, अतः उस बहेलिये को ऊँची-नीची भूमि का कुछ भी पता नहीं चलता था।

पक्षिणो वर्षवेगेन हता लीनास्तदाभवन् ।
मृगसिंहवराहाश्च स्थलमाश्रित्य शेरते ॥१२॥

वर्षा के वेग से बहुत-से पक्षी मरकर भूमि पर लोट गये थे और कितने ही अपने घोंसलों में छिपे बैठे थे। मृग, सिंह और सूअर स्थलभूमि का आश्रय लेकर सो रहे थे।

स तु शीतहतैर्गात्रैर्न जगाम न तस्थिवान् ।
ददर्श पतितां भूमौ कपोतीं शीतविह्वलाम् ॥१३॥

उधर बहेलिये के सारे अङ्ग सर्दी से ठिठुर गये थे, अतः वह न तो चल पाता था और न खड़ा ही हो पाता था। इसी अवस्था में उसने भूमि पर गिरी हुई एक कबूतरी को देखा, जो सर्दी के कारण व्याकुल हो रही थी।

दृष्ट्वाऽऽर्तोऽपि हि पापात्मा स तां पञ्जरकेऽक्षिपत् ।
स्वयं दुःखाभिभूतोऽपि दुःखमेवाकरोत् परे ॥१४॥

वह पापी व्याध यद्यपि स्वयं भी अति कष्ट में था, तथापि उसने उस कबूतरी को उठाकर पिंजरे में डाल लिया। स्वयं दुःख से पीड़ित होने पर भी उसने दूसरे प्राणी को दुःख ही पहुंचाया।

सोऽपश्यत् तरुखण्डेषु मेघनीलवनस्पतिम् ।
सेव्यमानं विहङ्गौघैश्छायावासफलार्थिभिः ॥१५॥

इतने में ही उसे वृक्षों के समूह में एक मेघ के समान सघन तथा नील विशाल वृक्ष दिखाई दिया।

जिसपर बहुत-से पक्षी छाया, निवास और फल की इच्छा से आश्रय लेते थे।

अथाभवद् क्षणेनैव वियद् विमलतारकम्।
घनैर्मुक्तं नभो दृष्ट्वा लुब्धकः शीतविह्वलः ॥१६॥
दिशो विलोकयामास विगाढां प्रेक्ष्य शर्वरीम्।
दूरतो मे निवेशश्च अस्माद् देशादिति प्रभो ॥१७॥

प्रभो! वर्षा समाप्त हुई। एक क्षण में ही आकाश के बादल फट गये तथा निर्मल तारे चमक उठे। आकाश को मेघों से मुक्त हुआ देख शीत से काँपते हुए उस बहेलिये ने सम्पूर्ण दिशाओं की ओर दृष्टिपात किया और गाढ़े अन्धकार से भरी हुई रात्रि को देखकर मन-ही मन सोचा, 'मेरा घर तो यहाँ से बहुत दूर है।'

कृतबुद्धिर्द्रुमे तस्मिन् वस्तुं तां रजनीं ततः।
स शिलायां शिरः कृत्वा तत्र सुष्वाप पक्षिहा ॥१८॥

फिर उसने रात्रि में उस वृक्ष के नीचे ही रहने का निश्चय किया और एक शिला पर सिर रखकर वह बहेलिया वहीं सो गया।

अथ वृक्षस्य शाखायां विहङ्गः ससुहृज्जनः।
दीर्घकालोषितो राजंस्तत्र चित्रतनूरुहः ॥१९॥

राजन्! उस वृक्ष पर बहुत दिनों से एक कबूतर अपने मित्रों के साथ निवास करता था। उसके शरीर के रोएँ चितकबरे थे।

तस्य कल्यगता भार्या चरितं नाभ्यवर्तत।
प्राप्तां च रजनीं दृष्ट्वा स पक्षी पर्यतप्यत ॥२०॥

उसकी प्राणप्रिया प्रातः से ही दाना चुगने के लिए गई थी, जो लौटकर नहीं आई। अब रात हुई देखकर वह कबूतर उसके लिए अत्यन्त व्याकुल होने लगा।

वातवर्षं महच्चासीन्न चागच्छति मे प्रिया।
किं नु तत्कारणं येन साद्यापि न निवर्तते ॥२१॥

वह कबूतर दुःखी होकर इस प्रकार विलाप करने लगा—"अहो! आज बड़ी भारी आँधी आई और वर्षा हुई है, परन्तु अब तक मेरी भार्या लौटकर नहीं आई। ऐसा कौन-सा कारण हो गया, जिससे वह अभी तक नहीं लौट सकी है।

अपि स्वस्ति भवेत् तस्यै प्रियायै मम कानने।
तया विरहितं हीदं शून्यमद्य गृहं मम ॥२२॥

"क्या इस वन में मेरी प्राणप्रिया सकुशल होगी? उसके बिना आज मेरा यह घर—यह घोंसला सूना लग रहा है।

पुत्रपौत्रवधूभृत्यैराकीर्णमपि सर्वतः।
भार्याहीनं गृहस्थस्य शून्यमेव गृहं भवेत् ॥२३॥

"पुत्र, पौत्र, पुत्रवधू और अन्य भरण-पोषण के योग्य कुटुम्बीजनों से भरा होने पर भी गृहस्थ का घर उसकी पत्नी के बिना सूना ही रहता है।

न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते।
गृहं तु गृहिणीहीनमरण्यसदृशं मतम् ॥२४॥

"वास्तव में ईंट-पत्थरों से बने घर को घर नहीं कहते, घरवाली का नाम ही घर है। गृह-पत्नी से शून्य घर को तो जंगल के समान ही माना गया है।

न भुङ्क्ते मय्यभुक्ते या नास्नाते स्नाति सुव्रता।
नातिष्ठत्युपतिष्ठेत शेते च शयिते मयि ॥२५॥

"उत्तम व्रत का पालन करनेवाली वह मुझे भोजन कराये बिना भोजन नहीं करती, स्नान कराये बिना स्नान नहीं करती, मुझे बिठाये बिना बैठती नहीं और मेरे सो जाने पर सोती है।

हृष्टे भवति सा हृष्टा दुःखिते मयि दुःखिता।
प्रोषिते दीनवदना क्रुद्धे च प्रियवादिनी ॥२६॥

"मेरे प्रसन्न होने पर वह हर्ष से खिल उठती है और मेरे दुःखी होने पर स्वयं भी दुःख में डूब जाती है। मेरे बाहर के लिए तैयार होने पर उसके मुख पर दीनता छाती है और मुझे क्रोध आने पर वह मधुर वचनों द्वारा शान्त कर देती है।

पतिव्रता पतिगतिः पतिप्रियहिते रता।
यस्य स्यात्तादृशी भार्या धन्यः स पुरुषो भुवि ॥२७॥

"वह पतिव्रता है। पति के सिवा अन्य कोई उसकी गति नहीं है। वह सदा ही पति के प्रिय एवं हित में तत्पर रहती है। जिसको ऐसी पत्नी मिल जाए, वह पुरुष इस संसार में धन्य है!

वृक्षमूलेऽपि दयिता यस्य तिष्ठति तद् गृहम्।
प्रासादोऽपि तथा हीनः कान्तार इति निश्चितम् ॥२८

"वृक्ष के नीचे भी जिसकी पत्नी साथ हो, उसके लिए वही घर है और बहुत बड़ी अट्टालिका भी यदि

स्त्री से शून्य है तो वह निश्चय ही घोर घने जंगल के समान है।

धर्मार्थकामकालेषु भार्या पुंसः सहायिनी।
विदेशगमने चास्य सैव विश्वासकारिका ।।२६।।

"पुरुष के धर्म, अर्थ और काम के अवसरों पर उसकी पत्नी ही उसकी मुख्य सहायिका होती है। परदेश जाने पर भी वही उसके लिए विश्वसनीय मित्र का कार्य करती है।

भार्या हि परमो ह्यर्थः पुरुषस्येह पठ्यते।
असहायस्य लोकेऽस्मिल्लोकयात्रा सहायिनी ।।३०।।

"पुरुष की प्रधान सम्पत्ति उसकी पत्नी ही बताई जाती है। इस संसार में जो असहाय है, उसे भी संसार-यात्रा में सहायता देनेवाली उसकी पत्नी ही है।

तथा रोगाभिभूतस्य नित्यं कृच्छ्रगतस्य च।
नास्ति भार्यासमं किञ्चिन्नरस्यार्तस्य भेषजम् ।।३१।।

"जो मनुष्य रोग से पीड़ित हो और बहुत समय से संकट में फँसा हो, उस पीड़ित मनुष्य के लिए भी पत्नी के समान दूसरी कोई ओषधि नहीं है।

नास्ति भार्यासमो बन्धुर्नास्ति भार्यासमा गतिः।
नास्ति भार्यासमो लोके सहायो धर्मसंग्रहे ।।३२।।

"संसार में पत्नी के समान कोई बन्धु नहीं है, पत्नी के समान कोई आश्रय नहीं है और पत्नी के समान धर्मसंग्रह में सहायक भी दूसरा कोई नहीं है।

यस्य भार्या गृहे नास्ति साध्वी च प्रियवादिनी।
अरण्यं तेन गन्तव्यं यथारण्यं तथा गृहम् ।।३३।।

"जिसके घर में सती-साध्वी और मधुर-वचन बोलनेवाली भार्या नहीं है, उसे वन में चले जाना चाहिए, क्योंकि उसके लिए जैसा घर है, वैसा ही वन है।"

एवं विलपतस्तस्य श्रुत्वा तु करुणं वचः।
गृहीता शकुनिघ्नेन कपोती वाक्यमब्रवीत् ।।३४।।

युधिष्ठिर ! इस प्रकार विलाप करते हुए कबूतर का वह करुणाजनक वचन सुनकर व्याध के द्वारा पकड़ी हुई उस कबूतरी ने कहा—

कपोत्युवाच

अहोऽतीवसुभाग्याहं यस्या मे दयितः पतिः।
असतो वा सतो वापि गुणानेवं प्रभाषते ।।३५।।

कबूतरी बोली—अहो ! मेरा महान् सौभाग्य है कि मेरे प्रियतम पतिदेव इस प्रकार मेरे गुणों का, चाहे वे मुझमें हों या न हों, गान कर रहे हैं।

न सा स्त्रीत्यभिमन्तव्या यस्यां भर्ता न तुष्यति।
तुष्टे भर्तरि नारीणां तुष्टाः स्युः सर्वदेवताः ।।३६।।

उस स्त्री को स्त्री नहीं समझना चाहिए, जिसका पति उससे सन्तुष्ट नहीं रहता। पति के सन्तुष्ट रहने से स्त्रियों पर सारे देवता सन्तुष्ट रहते हैं।

इति संचिन्त्य दुःखार्ता भर्तारं दुःखितं तदा।
कपोती लुब्धकेनापि गृहीता वाक्यमब्रवीत् ।।३७।।

ऐसा सोचकर दुःख से व्याकुल हो बहेलिये के बन्धन में पड़ी हुई कबूतरी ने अपने दुःखी पति से उस समय ये वचन कहे—

हन्त वक्ष्यामि ते श्रेयः श्रुत्वा तु कुरु तत्तथा।
शरणागतसंत्राता भव कान्त विशेषतः ।।३८।।

प्राणनाथ ! मैं आपके कल्याण की बात बता रही हूँ, उसे सुनकर आप वैसा ही कीजिए। इस समय विशेष प्रयत्न करके एक शरणागत प्राणी की रक्षा कीजिए।

एष शाकुनिकः शेते तव वासं समाश्रितः।
शीतार्तश्च क्षुधार्तश्च पूजामस्मै समाचर ।।३९।।

यह बहेलिया आपके निवास-स्थान पर आक सर्दी और भूख से व्याकुल होकर सो रहा है। आ इसकी यथोचित सेवा कीजिए।

यो हि कश्चिद् द्विजं हन्याद् गां च लोकस्य मातर
शरणागतं च यो हन्यात् तुल्यं तेषां च पातकम् ।।४

जो कोई मनुष्य ब्राह्मण की, लोकमाता गाय क और शरणागत की हत्या करता है, उन तीनों समान रूप से पाप लगता है।

यस्तु धर्मं यथाशक्ति गृहस्थो ह्यनुवर्तते।
स प्रेत्य लभते लोकानक्षयानिति शुश्रुम ।।४१।।

जो गृहस्थ यथाशक्ति अपने धर्म का पाल करता है, वह मरने के पश्चात् अक्षय लोकों में जा है, ऐसा हमने सुना है।

स त्वं सन्तानवानद्य पुत्रवानसि च द्विज।
तत्स्वदेहे दयां त्यक्त्वा धर्मार्थौ परिगृह्य च ।।४२।।

पूजामस्मै प्रयुङ्क्ष्व त्वं प्रीयेतास्य मनो यथा ।
इति दुःखान्विता प्रोक्त्वा भर्तारं समुदैक्षत ॥४३॥

पक्षिप्रवर ! आप अब सन्तानवान् तथा पुत्रवान् हो चुके हो, अतः आप अपने शरीर पर दया न करके धर्म और अर्थ पर ही दृष्टि रखते हुए इस व्याध का ऐसा सत्कार करें, जिससे इसका मन प्रसन्न हो जाए। ऐसा कहकर अत्यन्त दुःखी हो वह पति के मुँह की ओर ताकने लगी।

भीष्म उवाच

स पत्न्या वचनं श्रुत्वा धर्मयुक्तिसमन्वितम् ।
हर्षेण महता युक्तो वाक्यं व्याकुललोचनः ॥४४॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! अपनी पत्नी की वह धर्मानुकूल तथा युक्तियुक्त बात सुनकर कबूतर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसकी आँखों में आनन्द के आँसू छलक आये।

तं वै शाकुनिकं दृष्ट्वा विधिदृष्टेन कर्मणा ।
स पक्षी पूजयामास यत्नात्तं पक्षिजीविनम् ॥४५॥
उवाच स्वागतं तेऽद्य ब्रूहि किं करवाणि ते ।
सन्तापश्च न कर्तव्यः स्वगृहे वर्तते भवान् ॥४६॥

उस पक्षी [कबूतर] ने पक्षियों की हिंसा से जीवन-यापन करनेवाले उस व्याध की ओर देखकर शास्त्र-विधि के अनुसार यत्नपूर्वक उसका पूजन किया और बोला—"आज आपका स्वागत है। बहेलिये ! मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? आपको सन्ताप नहीं करना चाहिए, आप अपने ही घर में हैं।

प्रणयेन ब्रवीमि त्वां त्वं हि नः शरणागतः ।
अरावप्युचितं कार्यमातिथ्यं गृहमागते ॥४७॥

"मैं अति प्रेमपूर्वक पूछ रहा हूँ, क्योंकि आप हमारे घर पधारे हैं। यदि शत्रु भी घर पर आ जाए तो उसका उचित आदर-सत्कार करना चाहिए।

शरणागतस्य कर्तव्यमातिथ्यं हि प्रयत्नतः ।
पञ्चयज्ञप्रवृत्तेन गृहस्थेन विशेषतः ॥४८॥

यूँ तो घर पर आये हुए अतिथि का सभी को प्रयत्नपूर्वक आदर-सत्कार करना चाहिए, परन्तु पञ्चयज्ञों के अधिकारी गृहस्थ का यह प्रधान धर्म है।

पञ्चयज्ञांस्तु यो मोहान्न करोति गृहाश्रमे ।
तस्य नायं न च परो लोको भवति धर्मतः ॥४९॥

जो गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी मोहवश पञ्चमहायज्ञों का अनुष्ठान नहीं करता, उसे धर्म के अनुसार न तो इस लोक की प्राप्ति होती है और न परलोक की ही।

तद् ब्रूहि मां सुविश्रब्धो यत्त्वं वाचा वदिष्यसि ।
तत्करिष्याम्यहं सर्वं मा त्वं शोके मनः कृथाः ॥५०॥

"तुम पूर्ण विश्वास रखकर मुझे अपनी बात बताओ। तुम अपने मुख से जो कुछ कहोगे, मैं वही सब-कुछ करूँगा, तुम अपने मन में चिन्ता न करो।"

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा शकुनेर्लुब्धकोऽब्रवीत् ।
बाधते खलु मे शीतं संत्राणं हि विधीयताम् ॥५१॥

कबूतर की यह बात सुनकर बहेलिये ने कहा—"इस समय मुझे ठण्ड लग रही है, अतः इससे बचने का कोई उपाय करो।"

एवमुक्तस्ततः पक्षी पर्णान्यास्तीर्य भूतले ।
यथाशक्ति हि पर्णेन ज्वलनार्थं द्रुतं ययौ ॥५२॥

उसके ऐसा कहने पर उस पक्षी ने बहुत-से पत्ते लाकर भूमि पर रख दिये और अग्नि लाने के लिए अपने पंखों द्वारा यथाशक्ति बड़ी तेजी से उड़ान लगाई।

स गत्वाङ्गारकर्मान्तं गृहीत्वाग्निमथागमत् ।
ततः शुष्केषु पर्णेषु पावकं सोऽप्यदीपयत् ॥५३॥

वह लुहार के घर जाकर आग ले आया और उसे सूखे पत्तों पर रखकर उसने वहाँ अग्नि प्रज्वलित कर दी।

स संदीप्तं महत्कृत्वा तमाह शरणागतम् ।
प्रतापय सुविश्रब्धः स्वगात्राण्यकुतोभयः ॥५४॥

प्रचण्ड अग्नि प्रदीप्त करके कबूतर ने शरणागत अतिथि से कहा—"आप भयरहित और निश्चिन्त होकर अपने सारे अङ्गों को आग से तपाओ।"

स तथोक्तस्तथेत्युक्त्वा लुब्धो गात्राण्यतापयत् ।
अग्निं प्रत्यागतप्राणस्ततः प्राह विहङ्गमम् ।
दत्तमाहारमिच्छामि त्वया क्षुद् बाधते हि माम् ॥५५॥

तब उस व्याध ने 'बहुत अच्छा' कहकर अपने सारे अङ्गों को आग से सेका। अग्नि के सेक से उसकी ज़ान में जान आई। तत्पश्चात् वह कबूतर से

बोला—"भाई ! अब मुझे भूख सता रही है, अतः तुम्हारा दिया हुआ कुछ भोजन करना चाहता हूँ।"

स तद्वचः प्रतिश्रुत्य वाक्यमाह विहङ्गमः।
न मेऽस्ति विभवो येन नाशयेयं क्षुधां तव ॥५६॥
उत्पन्नेन हि जीवामो वयं नित्यं वनौकसः।
सञ्चयो नास्ति चास्माकं मुनीनामिव भोजने ॥५७॥

उसकी बात सुनकर कबूतर बोला—"भैया ! मेरे पास सम्पत्ति तो है नहीं, जिससे मैं तुम्हारी भूख मिटा सकूँ। हम वनवासी पक्षी हैं और प्रतिदिन चुगे हुए अन्न से ही अपना निर्वाह करते हैं। मुनियों की भाँति हमारे पास भोजन का संग्रह नहीं रहता।"

इत्युक्त्वा तं तदा तत्र विवर्णवदनोऽभवत्।
कथं नु खलु कर्तव्यमिति चिन्तापरस्तदा ॥५८॥

ऐसा कहकर कबूतर का मुख कुछ उदास हो गया। वह इस चिन्ता में डूब गया कि मुझे क्या करना चाहिए ?

मुहूर्ताल्लब्धसंज्ञस्तु स पक्षी पक्षिघातिनम्।
उवाच तर्पयिष्ये त्वां मुहूर्तं प्रतिपालय ॥५९॥

थोड़ी देर में उसे कुछ स्मरण आया और उस पक्षी ने व्याध से कहा—"अच्छा, थोड़ी देर ठहरिए। मैं आपकी तृप्ति करूँगा।"

इत्युक्त्वा शुष्कपर्णैस्तु समुज्ज्वाल्य हुताशनम्।
हर्षेण महताविष्टः स पक्षी वाक्यमब्रवीत् ॥६०॥

ऐसा कहकर उसने सूखे पत्तों से पुनः अग्नि प्रज्वलित की और अत्यन्त हर्ष में भरकर बहेलिये से कहा—

ऋषीणां देवतानां च पितॄणां च महात्मनाम्।
श्रुतः पूर्वं मया धर्मो महानतिथिपूजने ॥६१॥

"मैंने ऋषियों, देवताओं, पितरों और महात्माओं के मुख से पहले ही सुन रखा है कि अतिथि की पूजा करने में महान् धर्म है।

कुरुष्वानुग्रहं सौम्य सत्यमेतद्ब्रवीमि ते।
निश्चिता खलु मे बुद्धिरतिथिप्रतिपूजने ॥६२॥

"सौम्य ! अतिथि-पूजा के महत्त्व को समझकर मैंने भी आज आपके सम्यक् आतिथ्य का निश्चय कर लिया है। आप मुझे ही ग्रहण करके मुझे कृतार्थ कीजिए। यह मैं आपसे सच्ची बात कहता हूँ।"

ततः कृतप्रतिज्ञो वै स पक्षी प्रहसन्निव।
तमग्निं त्रिः परिक्रम्य प्रविवेश महामतिः ॥६३॥

ऐसा कहकर अतिथि-पूजन के लिए दृढ़प्रतिज्ञ उस परम बुद्धिमान् पक्षी ने तीन बार अग्निदेव की परिक्रमा की और हँसता हुआ-सा अग्नि में प्रविष्ट हो गया।

अग्निमध्ये प्रविष्टं तं लुब्धो दृष्ट्वा तु पक्षिणम्।
चिन्तयामास मनसा किमिदं वै मया कृतम् ॥६४॥

पक्षी को आग के भीतर प्रविष्ट हुआ देखकर व्याध ने मन-ही-मन सोचा कि मैंने यह क्या कर डाला ?

किमीदृशं नृशंसेन मया कृतमबुद्धिना।
भविष्यति हि मे नित्यं पातकं कृतजीविनः ॥६५॥

"हाय ! मुझ क्रूर और बुद्धिहीन ने कैसा पाप कर डाला ? मैंने अपना जीवन ही ऐसा बना रखा है कि मुझसे सदा पाप होता ही रहेगा।"

स विनिन्दंस्तथाऽऽत्मानं पुनः पुनरुवाच ह।
अविश्वास्यः सुदुर्बुद्धिः सदा निकृतिनिश्चयः ॥६६॥

इस प्रकार बारम्बार अपनी निन्दा करता हुआ वह पुनः बोला—"मैं अति दुष्टबुद्धि मनुष्य हूँ। मुझपर किसी को विश्वास नहीं करना चाहिए। शठता और क्रूरता ही मेरे जीवन का सिद्धान्त बन गया है।

नृशंसस्य ममाद्यायं प्रत्यादेशो न संशयः।
दत्तः स्वमांसं दहता कपोतेन महात्मना ॥६७॥

"मुझ क्रूर और कुकर्मी को महात्मा कबूतर ने अपने शरीर की आहुति देकर अपना मांस अर्पित किया है। इसमें सन्देह नहीं कि इस अपूर्व त्याग के द्वारा उसने मुझे धर्माचरण का उपदेश दिया है।

सोऽहं त्यक्ष्ये प्रियान्प्राणान्पुत्रान्दारांस्तथैव च।
उपदिष्टो हि मे धर्मः कपोतेन महात्मना ॥६८॥

"अब मैं पाप से मुख मोड़कर स्त्री, पुत्र और अपने प्रिय प्राणों का भी परित्याग कर दूँगा। महात्मा कबूतर ने मुझे विशुद्ध धर्म का उपदेश किया है।

अद्य प्रभृति देहं स्वं सर्वभोगैर्विवर्जितम्।
यथा स्वल्पं सरो ग्रीष्मे शोषयिष्याम्यहं तथा ॥६९॥

"आज से मैं अपने शरीर को सम्पूर्ण भोगों से वञ्चित करके वैसे ही सुखा डालूँगा, जैसे गर्मी में छोटा-सा सरोवर सूख जाता है।

अहो देहप्रदानेन दर्शितातिथिपूजना ।
तस्माद् धर्मं चरिष्यामि धर्मो हि परमा गतिः ।।७०।।

"अहो! महात्मा कबूतर ने अपने शरीर का दान करके मेरे समक्ष अतिथि-सत्कार का उज्ज्वल आदर्श उपस्थित किया है, अतः मैं भी अब धर्म का ही आचरण करूँगा, क्योंकि धर्म ही परम गति है।"

एवमुक्त्वा विनिश्चित्य रौद्रकर्मा स लुब्धकः ।
महाप्रस्थानमाश्रित्य प्रययौ संशितव्रतः ।।७१।।

ऐसा कह और धर्माचरण का निश्चय कर वह भयानक कर्म करनेवाला व्याध कठोरव्रत का आश्रय ले महाप्रस्थान के पथ पर चल दिया।

ततो यष्टिं शलाकां च क्षारकं पञ्जरं तथा ।
तां च बद्धां कपोतीं स प्रमुच्य विससर्ज ह ।।७२।।

उस समय उसने कैद की हुई कबूतरी को पींजरे से मुक्त करके अपनी लाठी, शलाका, जाल और पिंजरा सब-कुछ छोड़ दिया।

ततो गते शाकुनिके कपोती प्राह दुःखिता ।
संस्मृत्य च भर्तारं रुदती शोककर्शिता ।।७३।।

युधिष्ठिर! उस बहेलिये के चले जाने पर कबूतरी अपने पति का स्मरण करके शोकाकुल हो उठी और दुःखी हो रोती हुई विलाप करने लगी।

नाहं ते विप्रियं कान्त कदाचिदपि संस्मरे ।
लालिताहं त्वया नित्यं बहुमानाच्च पूजिता ।।७४।।

"प्रियतम! आपने कभी मेरा अप्रिय किया हो, इसका मुझे स्मरण नहीं है। आपने सदा ही मेरे साथ दुलार किया और बड़े सम्मान के साथ मुझे आदरपूर्वक रखा।

कन्दरेषु च शैलानां नदीनां निर्झरेषु च ।
द्रुमाग्रेषु च रम्येषु रमिताहं त्वया सह ।।७५।।
आकाशगमने चैव विहृताहं त्वया सुखम् ।
रमामि स्म पुरा कान्त तन्मे नास्त्यद्य किंचन ।।७६।।

"मैंने आपके साथ पर्वतों की गुहाओं में, नदियों के तटों पर, झरनों के आसपास तथा वृक्षों की सुरम्य शाखाओं पर रमण किया है। आकाश-यात्रा में भी मैं सदा आपके साथ रमण करती रही हूँ। प्राणेश्वर! जैसे मैं पहले आपके साथ आनन्दपूर्वक रमण करती थी, अब उन सब सुखों में से कुछ भी मेरे लिए शेष नहीं रह गया है।

मितं ददाति हि पिता मितं भ्राता मितं सुतः ।
अमितस्य हि दातारं भर्तारं का न पूजयेत् ।।७७।।

"पिता, भ्राता और पुत्र—ये सब लोग नारी को परिमित सुख देते हैं। केवल पति ही उसे अपरिमित या असीम सुख देता है—ऐसे पति का कौन स्त्री आदर-सत्कार नहीं करेगी!

नास्ति भर्तृसमो नाथो नास्ति भर्तृसमं सुखम् ।
विसृज्य धनसर्वस्वं भर्ता वै शरणं स्त्रियाः ।।७८।।

"स्त्री के लिए पति के समान कोई रक्षक नहीं है और पति के तुल्य कोई सुख भी नहीं है। उसके लिए तो धन और सर्वस्व को त्यागकर पति ही गति है।

न कार्यमिह मे नाथ जीवितेन त्वया विना ।
पतिहीना तु का नारी सती जीवितुमुत्सहेत् ।।७९।।

"प्राणनाथ! इस संसार में आपके बिना जीवन से भी क्या प्रयोजन है? ऐसी कौन-सी पतिव्रता स्त्री होगी, जो पति के बिना जीवित रह सकेगी?"

एवं विलप्य बहुधा करुणं सा सुदुःखिता ।
पतिव्रता सम्प्रदीप्तं प्रविवेश हुताशनम् ।।८०।।

इस प्रकार अनेक प्रकार से करुणाजनक विलाप करके अत्यन्त दुःख में डूबी हुई वह पतिव्रता कबूतरी उसी प्रज्वलित अग्नि में समा गई।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि अष्टात्रिंशोऽध्यायः ।।३८।।

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

लोभ से होनेवाले पापों का वर्णन, दम और तप की महिमा

युधिष्ठिर उवाच

पापस्य यदधिष्ठानं यतः पापं प्रवर्तते ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं तत्त्वेन भरतर्षभ ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—भरतभूषण ! मैं यथार्थरूप से यह सुनना चाहता हूँ कि पाप का अधिष्ठान क्या है और उसकी प्रवृत्ति किससे होती है ?

भीष्म उवाच

पापस्य यदधिष्ठानं तच्छृणुष्व नराधिपः ।
एको लोभो महाग्राहो लोभात् पापं प्रवर्तते ॥२॥

भीष्मजी बोले—नृप ! पाप का जो अधिष्ठान है, उसे सुनो। एकमात्र लोभ ही पाप का कारण है। वह मनुष्य को निगल जाने के लिए एक बड़ा ग्राह है। लोभ से ही पाप की प्रवृत्ति होती है।

अतः पापमधर्मश्च तथा दुःखमनुत्तमम् ।
निकृत्या मूलमेतद्धि येन पापकृतो जनाः ॥३॥

लोभ से ही पाप, अधर्म तथा महान् दुःख की उत्पत्ति होती है। शठता और छलकपट का मूल कारण भी लोभ ही है। इसी के कारण मनुष्य पापाचारी हो जाते हैं।

लोभात्क्रोधः प्रभवति लोभात्कामः प्रवर्तते ।□
लोभान्मोहश्च माया च मानः स्तम्भः परासुता ॥४॥

लोभ से क्रोध उत्पन्न होता है, लोभ से ही काम की प्रवृत्ति होती है तथा लोभ से ही माया, मोह, अभिमान, उद्दण्डता और पराधीनता आदि दोष प्रादुर्भूत होते हैं।

अक्षमा ह्रीपरित्यागः श्रीनाशो धर्मसंक्षयः ।□
अभिध्याप्रख्यता चैव सर्वं लोभात्प्रवर्तते ॥५॥

असहनशीलता, निर्लज्जता, धन का नाश, धर्म की हानि, चिन्ता और अपयश—ये सब लोभ के ही कारण प्रकट होते हैं।

दम्भो द्रोहश्च निन्दा च पैशुन्यं मत्सरस्तथा ।
भवन्त्येतानि कौरव्य लुब्धानामकृतात्मनाम् ॥६॥

हे कुरुनन्दन ! दम्भ, द्रोह, निन्दा, चुगली और मत्सरता—ये सभी दोष अजितात्मा लोभी पुरुषों में ही होते हैं।

दर्पः क्रोधो मदः स्वप्नो हर्षः शोकोऽतिमानिता ।□
एत एव हि कौरव्य दृश्यन्ते लुब्धबुद्धिषु ॥७॥

हे कुरुनन्दन ! जिनकी बुद्धि लोभ में फँसी हुई है, उन मनुष्यों में दर्प, क्रोध, मद, दुःस्वप्न, हर्ष, शोक और अतिमान=स्वार्थ—ये ही दोष दिखाई देते हैं।

युधिष्ठिर उवाच

अनर्थानामधिष्ठानमुक्तो लोभः पितामह ।
अज्ञानमपि वै तात श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥८॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! आपने सब अनर्थों के आधारभूत लोभ का वर्णन तो किया, अब अज्ञान का भी यथार्थरूप से वर्णन कीजिए, मैं उसके परिणाम को भी सुनना चाहता हूँ।

भीष्म उवाच

करोति पापं योऽज्ञानान्नात्मनो वेत्ति च क्षयम् ।
प्रद्वेष्टि साधुवृत्ताँश्च स लोकस्यैति वाच्यताम् ॥९॥

भीष्मजी बोले—युधिष्ठिर ! जो मनुष्य अज्ञान-वश पाप करता है और उससे होनेवाली अपनी हानि को नहीं समझता एवं श्रेष्ठ पुरुषों से द्वेष करता है, उसकी संसार में बड़ी निन्दा होती है।

अज्ञानान्निरयं याति तथाज्ञानेन दुर्गतिम् ।
अज्ञानात् क्लेशमाप्नोति तथापत्सु निमज्जति ॥१

अज्ञान के कारण जीव नरक में पड़ता है। अज्ञान से ही उसकी दुर्गति होती है। अज्ञान से वह क उठाता है और विपत्तियों के सागर में डूब जाता है।

रागो द्वेषस्तथा मोहो हर्षः शोकोऽभिमानिता ।
कामः क्रोधश्च दर्पश्च तन्द्रा चालस्यमेव च ॥१
इच्छा द्वेषस्तथा तापः परवृद्ध्युपतापिता ।
अज्ञानमेतन्निर्दिष्टं पापानां चैव याः क्रियाः ॥१

राजन् ! राग, द्वेष, मोह, हर्ष, शोक, अभिमा काम, क्रोध, दर्प, तन्द्रा, आलस्य, इच्छा, वैर, ता दूसरों की उन्नति देखकर जलना और पाप में प्रवृ होना—इन सबको अज्ञान बताया गया है, [क्यों ये अज्ञान से ही प्रकट होते हैं]।

युधिष्ठिर उवाच

महानयं धर्मपथो बहुशाखश्च भारत।
किं स्विदेवेह धर्माणामनुष्ठेयतमं मतम् ॥१३॥

युधिष्ठिर ने पूछा—हे भारत ! धर्म का मार्ग बहुत बड़ा है। इससे बहुत-सी शाखाएँ निकली हुई हैं। इन धर्मों में कौन-सा धर्म सर्वोत्तम और अवश्य पालन करने योग्य माना गया है ?

भीष्म उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि येन श्रेयो ह्यवाप्स्यसि।
पीत्वामृतमिव प्राज्ञो ज्ञानतृप्तो भविष्यसि ॥१४॥

भीष्मजी बोले—युधिष्ठिर ! मैं अति प्रसन्नतापूर्वक तुम्हें वह उपाय बताता हूँ, जिससे तुम्हें कल्याण की प्राप्ति होगी। जैसे अमृत का पान कर पूर्ण तृप्ति हो जाती है, उसी प्रकार तुम ज्ञानी होकर इस ज्ञानामृत से पूर्णतः तृप्त हो जाओगे।

धर्मस्य विधयो नैके ये वै प्रोक्ता महर्षिभिः।
स्वं स्वं विज्ञानमाश्रित्य दमस्तेषां परायणम् ॥१५॥

महर्षियों ने अपने-अपने ज्ञान के अनुसार धर्म की एक नहीं अनेक विधियाँ बताई हैं, परन्तु उन सबका आधार दम [मनोनिग्रह] ही है।

दमं निःश्रेयसं प्राहुर्वृद्धा निश्चितदर्शिनः।
ब्राह्मणस्य विशेषेण दमो धर्मः सनातनः ॥१६॥

धर्म के सिद्धान्त को जाननेवाले वृद्धजन दम को परम कल्याण का साधन बताते हैं। विशेषरूप से ब्राह्मणों के लिए तो दम ही सनातन धर्म है।

दमात् तस्य क्रियासिद्धिर्यथावदुपलभ्यते।
दमो दानं तथा यज्ञानधीतं चातिवर्तते ॥१७॥

दम से ही उसे अपने शुभ कर्मों की यथावत् सिद्धि प्राप्त होती है। दम उसके लिए दान, यज्ञ-अनुष्ठान और स्वाध्याय से भी बढ़कर है।

दमस्तेजो वर्धयति पवित्रं च दमः परम्।
विपाप्मा तेजसा युक्तः पुरुषो विन्दते महत् ॥१८॥

दम से तेज की वृद्धि होती है, दम परम पवित्र साधन है, दम से पापरहित हुआ तेजस्वी मनुष्य मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

दमेन सदृशं धर्मं नान्यं लोकेषु शुश्रुम।
दमो हि परमो लोके प्रशस्तः सर्वधर्मिणाम् ॥१९॥

हमने संसार में दम के समान दूसरा कोई धर्म नहीं सुना। लोक में सभी धर्मावलम्बियों के यहाँ दम को उत्कृष्ट बताया गया है। सबने उसकी प्रभूत प्रशंसा की है।

सुखं दान्तः प्रस्वपिति सुखं च प्रतिबुध्यते।
सुखं पर्येति लोकाँश्च मनश्चास्य प्रसीदति ॥२०॥

दम का सेवी सुख से सोता है, सुख से जागता है और सुखपूर्वक ही लोकों में विचरता है। उसका मन सदा प्रसन्न रहता है।

अदान्तः पुरुषः क्लेशमभीक्ष्णं प्रतिपद्यते।
अनर्थांश्च बहूनन्यान् प्रसृजत्यात्मदोषजान् ॥२१॥

अदान्त [जिसका मन वश में नहीं है—वह पुरुष] निरन्तर क्लेश उठाता है। साथ ही वह अपने ही दोषों से अन्य बहुत-से दोषों की सृष्टि कर लेता है।

क्षमा धृतिरहिंसा च समता सत्यमार्जवम्। □
इन्द्रियाभिजयो दाक्ष्यं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥२२॥
अकार्पण्यमसंरम्भः सन्तोषः प्रियवादिता। □
अविहिंसानसूया चाप्येषां समुदयो दमः ॥२३॥

क्षमा, धैर्य, अहिंसा, समता, सत्यभाषण, सरलता, इन्द्रिय-विजय, दक्षता, कोमलता, लज्जा, स्थिरता, उदारता, क्रोधहीनता, सन्तोष, मधुर भाषण का स्वभाव, किसी भी प्राणी को कष्ट न देना और दूसरों के दोष न देखना—इन सद्गुणों का उदय होना ही दम कहलाता है।

गुरुपूजा च कौरव्य दया भूतेष्वपैशुनम्।
जनवादं मृषावादं स्तुतिनिन्दाविसर्जनम् ॥२४॥
कामं क्रोधं च लोभं च दर्पं स्तम्भं विकत्थनम्।
रोषमीर्ष्यावमानं च नैव दान्तो निषेवते ॥२५॥

हे कुरुनन्दन ! मनोनिग्रही में गुरुजनों के प्रति आदर का भाव, समस्त प्राणियों के प्रति दया और किसी की भी चुगली न खाने की प्रवृत्ति होती है। वह लोकापवाद, असत्य-भाषण, निन्दा-स्तुति की प्रवृत्ति, काम, क्रोध, लोभ, दर्प, जड़ता, डींग हाँकना, रोष, ईर्ष्या और दूसरों का अपमान—इन दुर्गुणों का कभी सेवन नहीं करता।

अनिन्दितो ह्यकामात्मा नाल्पेष्वर्थ्यनसूयकः।
समुद्रकल्पः स नरो न कथञ्चन पूर्यते ॥२६॥

दान्त [दमनशील] पुरुष की कभी निन्दा नहीं होती। उसके मन में कोई कामना नहीं होती। वह छोटी-छोटी वस्तुओं के लिए किसी के समक्ष हाथ नहीं फैलाता अथवा तुच्छ विषय-भोगों की अभिलाषा नहीं रखता, दूसरों के दोष नहीं देखता। वह समुद्र के समान अगाध और गम्भीर होता है। जैसे समुद्र अनन्त जलराशि पाकर भी भरता नहीं है, वैसे ही वह भी निरन्तर धर्म-सञ्चय से कभी तृप्त नहीं होता।

सुवृत्तः शीलसम्पन्नः प्रसन्नात्माऽऽत्मविद् बुधः।
प्राप्येह लोके सत्कारं सुगतिं प्रतिपद्यते ॥२७॥

जो सदाचारी, शीलसम्पन्न, प्रसन्नचित्त और आत्मतत्त्व को जाननेवाला है, वह विद्वान् पुरुष इस लोक में मान-सम्मान पाकर परलोक में परमगति पाता है।

एक एव दमे दोषो द्वितीयो नोपपद्यते।
यदेनं क्षमया युक्तमशक्तं मन्यते जनः ॥२८॥

दम [मनोनिग्रह] में एक ही दोष है, दूसरा नहीं। वह यह कि क्षमाशील होने के कारण उसे लोग असमर्थ समझने लगते हैं।

एकोऽस्य सुमहाप्राज्ञ दोषः स्यात्सुमहान्गुणः।
क्षमायां विपुला लोकाः सुलभा हि सहिष्णुता ॥२९॥

महाप्राज्ञ युधिष्ठिर! उसका यह एक दोष ही महान् गुण हो सकता है। क्षमा धारण करने से उसे अनेक पुण्यलोक [श्रेष्ठ योनियाँ] सुलभ होते हैं। साथ ही क्षमा से सहिष्णुता भी आ जाती है।

दान्तस्य किमरण्येन तथादान्तस्य भारत।
यत्रैव निवसेद् दान्तस्तदरण्यं स चाश्रमः ॥३०॥

भारत! संयमी पुरुष को वन में जाने की क्या आवश्यकता है और जो असंयमी है, उसे वन में रहने से भी क्या लाभ है? संयमी मनुष्य जहाँ रहे वहीं उसके लिए वन और आश्रम है।

वैशम्पायन उवाच

एतद् भीष्मस्य वचनं श्रुत्वा राजा युधिष्ठिरः।
अमृतेनेव संतृप्तः प्रहृष्टः समपद्यत ॥३१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भीष्मजी की यह बात सुनकर राजा युधिष्ठिर अति प्रसन्न हुए, मानो अमृत पीकर तृप्त हो गये हों।

पुनश्च परिपप्रच्छ भीष्मं धर्मभृतां वरम्।
तपः प्रति स चोवाच तस्मै सर्वं कुरूद्वह ॥३२॥

कुरुश्रेष्ठ! तत्पश्चात् उन्होंने धर्मात्माओं में श्रेष्ठ भीष्मजी से पुनः तप के विषय में प्रश्न किया। तब भीष्मजी ने उन्हें उसके विषय में सब-कुछ बताना आरम्भ किया।

भीष्म उवाच

सर्वमेतत् तपोमूलं कवयः परिचक्षते।
न ह्यतप्ततपा मूढः क्रियाफलमवाप्नुते ॥३३॥

भीष्मजी बोले—राजन्! इस सम्पूर्ण जगत् क मूलकारण तप ही है, ऐसा विद्वान् पुरुष कहते हैं। जिस मूढ़ ने तप नहीं किया, उसे अपने शुभ कर्मों क फल नहीं मिलता।

प्रजापतिरिदं सर्वं तपसैवासृजत् प्रभुः।
तथैव वेदानृषयस्तपसा प्रतिपेदिरे ॥३४॥

भगवान् प्रजापति ने तप से ही इस सारे संसा की सृष्टि की है और ऋषियों ने तप करके ही वे का ज्ञान प्राप्त किया है।

औषधान्यगदादीनि क्रियाश्च विविधास्तथा।
तपसैव हि सिद्ध्यन्ति तपोमूलं हि साधनम् ॥३

औषध, आरोग्यादि की प्राप्ति तथा नाना प्र की क्रियाएँ तप से ही सिद्ध होती हैं, क्योंकि प्र साधन की जड़ तपस्या ही है।

यद्दुरापं भवेत्किंचित्तत्सर्वं तपसो भवेत्।
ऐश्वर्यमृषयः प्राप्तास्तपसैव न संशयः ॥३६

संसार में जो कुछ भी दुर्लभ वस्तु है, वह तपस्या से सुलभ हो सकती है। ऋषियों ने तप से ही अणिमा आदि अष्टविध ऐश्वर्य [आठ प्र की सिद्धियों] को प्राप्त किया है, इसमें सन्देह है।

न दुष्करतरं दानान्नातिमातरमाश्रयः।
त्रैविद्येभ्यः परं नास्ति संन्यासः परमं तपः ॥३७॥

दान से बढ़कर कोई दुष्कर धर्म नहीं है, से बड़ा कोई दूसरा आश्रय नहीं है, वेदों के वि से श्रेष्ठ कोई विद्वान् नहीं है और संन्यास बड़ा तप है।

अहिंसा सत्यमक्रोधः सर्वाश्रमगतं तपः ।
तपसा शक्यते प्राप्तुं देवत्वमपि निश्चयात् ॥३८॥

किसी भी प्राणी की हिंसा न करना, सत्य बोलना और मन में क्रोध न आने देना—यह सभी आश्रमियों के लिए उपयोगी तप है। इस तप से निश्चय ही देवत्व भी प्राप्त किया जा सकता है।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥३९॥

चत्वारिंशोऽध्यायः

सत्य के लक्षण, स्वरूप और महत्त्व का वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

सत्यं धर्मं प्रशंसन्ति विप्रर्षिपितृदेवताः ।
सत्यमिच्छाम्यहं श्रोतुं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! ब्राह्मण, ऋषि, पितर और देवता—ये सभी सत्य-भाषणरूप धर्म की प्रशंसा करते हैं, अतः मैं यह सुनना चाहता हूँ कि सत्य क्या है ? मुझे उसका उपदेश कीजिए।

सत्यं किं लक्षणं राजन् कथं वा तदवाप्यते ।
सत्यं प्राप्य भवेत्किं च कथं चैव तदुच्यताम् ॥२॥

राजन् ! सत्य का लक्षण क्या है ? उसकी प्राप्ति कैसे होती है ? सत्य का पालन करने से क्या लाभ होता है और कैसे होता है ? यह बताइए।

भीष्म उवाच

सत्यं सत्सु सदा धर्मः सत्यं धर्मः सनातनः ।
सत्यमेव नमस्येत सत्यं हि परमा गतिः ॥३॥

भीष्मजी ने कहा—राजन् ! सत्पुरुषों में सदा सत्यरूप धर्म ही दृष्टिगोचर होता है। सत्य ही सनातन धर्म है। सत्य को ही सदा सिर झुकाना चाहिए, क्योंकि सत्य ही जीव की परम गति है।

सत्यं धर्मस्तपो योगः सत्यं ब्रह्म सनातनम् ।
सत्यं यज्ञः परः प्रोक्तः सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥४॥

सत्य ही धर्म, तप और योग है। सत्य ही सनातन ब्रह्म है। सत्य को ही परम यज्ञ कहा गया है और सब-कुछ सत्य पर ही टिका हुआ है।

आचारानिह सत्यस्य प्रवक्ष्यामि च लक्षणम् ।
प्राप्यते च यथा सत्यं तच्च श्रोतुमिहार्हसि ॥५॥

अब मैं तुम्हें सत्य के आचार और लक्षण बताऊँगा। साथ ही यह भी बताऊँगा कि सत्य की प्राप्ति कैसे होती है ? तुम ध्यान देकर सुनो।

सत्यं च समता चैव दमश्चैव न संशयः ।□
अमात्सर्यं क्षमा चैव ह्रीस्तितिक्षानसूयता ॥६॥
त्यागो ध्यानमथार्यत्वं धृतिश्च सततं स्थिरा ।□
अहिंसा चैव राजेन्द्र सत्याकारास्त्रयोदश ॥७॥

हे राजेन्द्र ! सत्य, समता, दम=मनोनिग्रह, मत्सरता [डाह] का अभाव, क्षमा, लज्जा, सहनशीलता, अनसूया [दूसरों के दोष न देखना], त्याग, परमात्मा का ध्यान, आर्यता=श्रेष्ठ आचरण, सदा स्थिर रहनेवाला धैर्य और अहिंसा—ये तेरह सत्य के ही रूप हैं, इसमें संशय नहीं है।

सत्यं नामाव्ययं नित्यमविकारि तथैव च ।
सर्वधर्माविरुद्धेन योगेनैतदवाप्यते ॥८॥

सदा एकरस, अविनाशी और अविकारी होना ही सत्य का लक्षण है। समस्त धर्मों के अनुकूल कर्तव्यपालनरूप योग के द्वारा इस सत्य की प्राप्ति होती है।

आत्मनीष्टे तथानिष्टे रिपौ च समता तथा ।
इच्छाद्वेषक्षयं प्राप्य कामक्रोधक्षयं तथा ॥९॥

अपने प्रिय मित्र और अप्रिय शत्रु में भी समानभाव रखना 'समता' है। इच्छा, द्वेष, काम और क्रोध को मिटा देना ही समता की प्राप्ति का उपाय है।

दमो नान्यस्पृहा नित्यं गाम्भीर्यं धैर्यमेव च ।
अभयं रोगशमनं ज्ञानेनैतदवाप्यते ॥१०॥

दूसरे की वस्तु को लेने की इच्छा न करना, सदा गम्भीरता और धीरता धारण करना, भय को त्याग देना और मनोविकारों का शमन—यह 'दम' [मनोनिग्रह] का लक्षण है। इसकी प्राप्ति ज्ञान से होती है।

अमात्सर्यं बुधाः प्राहुर्दाने धर्मे च संयमः ।
अवस्थितेन नित्यं च सत्येनामत्सरी भवेत् ॥११॥

दान और धर्म करते समय मन पर संयम रखना अर्थात् इस विषय में दूसरों से ईर्ष्या न करना इसे विद्वान् लोग 'मत्सरता का अभाव' कहते हैं। सदा सत्य का पालन करने से मनुष्य मत्सरता से रहित हो जाता है।

अक्षमायाः क्षमायाश्च प्रियाणीहाप्रियाणि च ।
क्षमते सम्मतः साधुः साध्वाप्नोति च सत्यवाक् ॥१२॥

जो सहने और न सहने योग्य व्यवहारों तथा प्रिय और अप्रिय वचनों को भी समानरूप से सहन कर लेता है, वही सर्वसम्मत श्रेष्ठ क्षमाशील मनुष्य है। सत्यवादी मनुष्य को ही उत्तम रीति से क्षमाभाव की प्राप्ति होती है।

कल्याणं कुरुते बाढं धीमान्न ग्लायते क्वचित् ।
प्रशान्तवाङ्मना नित्यं ह्रीस्तु धर्मादवाप्यते ॥१३॥

जो बुद्धिमान् मनुष्य भली-भाँति दूसरों का कल्याण करता है और मन में कभी खिन्न नहीं होता, जो मन और वाणी से सदा शान्त रहता है, वही लज्जाशील माना जाता है। यह लज्जा नामक गुण धर्म के आचरण से प्राप्त होता है।

धर्मार्थहेतोः क्षमते तितिक्षा क्षान्तिरुच्यते ।
लोकसंग्रहणार्थं वै सा तु धैर्येण लभ्यते ॥१४॥

धर्म और अर्थ के लिए मनुष्य जो कष्ट सहन करता है, उसकी वह सहनशीलता 'तितिक्षा' कहलाती है। लोगों के समक्ष आदर्श उपस्थित करने के लिए उसका अवश्य पालन करना चाहिए। इसकी प्राप्ति धैर्य से होती है।

त्यागः स्नेहस्य यत्त्यागो विषयाणां तथैव च ।
रागद्वेषप्रहीणस्य त्यागो भवति नान्यथा ॥१५॥

विषयों की आसक्ति का त्याग ही वास्तविक त्याग है। राग-द्वेष से रहित होने पर ही त्याग की सिद्धि होती है, अन्यथा नहीं।

आर्यता नाम भूतानां यः करोति प्रयत्नतः ।
शुभं कर्म निराकारो वीतरागस्तथैव च ॥१६॥

जो मनुष्य अपने को प्रकट न करके प्रयत्नपूर्वक प्राणियों की भलाई का काम करता है, उसके उस श्रेष्ठ भाव और आचरण का नाम ही 'आर्यता' है। यह गुण आसक्ति के त्याग से प्राप्त होता है।

धृतिर्नाम सुखे दुःखे यथा नाप्नोति विक्रियाम् ।
तां भजेत सदा प्राज्ञो य इच्छेद् भूतिमात्मनः ॥१७॥

सुख अथवा दुःख प्राप्त होने पर मन में विकार न होना 'धृति' है। अपनी उन्नति चाहनेवाले बुद्धिमान् पुरुष को सदा ही 'धृति' का सेवन करना चाहिए।

सर्वथा क्षमिणा भाव्यं तथा सत्यपरेण च ।
वीतहर्षभयक्रोधो धृतिमाप्नोति पण्डितः ॥१८॥

मनुष्य को सदा क्षमाशील और सत्य में तत्पर रहना चाहिए। जिसने हर्ष, भय और क्रोध तीनों को त्याग दिया है उस बुद्धिमान् मनुष्य को 'धैर्य' की प्राप्ति होती है।

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा ।
अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः ॥१९॥

मन, वचन और कर्म द्वारा सभी प्राणियों के साथ कभी द्रोह न करना तथा दया और दान—यह श्रेष्ठ पुरुषों का सनातन धर्म है।

सत्यं ब्रह्म तपः सत्यं सत्यं विसृजते प्रजाः ।
सत्येन धार्यते लोकः स्वर्गं सत्येन गच्छति ॥२०॥

सत्य ही ब्रह्म है, सत्य ही तप है, सत्य ही प्रजा की सृष्टि करता है, सत्य के ही आधार पर संसार टिका हुआ है और सत्य के ही प्रभाव से मनुष्य स्वर्ग में जाता है।

नास्ति सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम् ।
स्थितिर्हि सत्यं धर्मस्य तस्मात्सत्यं न लोपयेत् ॥२१॥

सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं और झूठ से बढ़कर कोई पाप नहीं है। सत्य ही धर्म की आधार-शिला है, अतः सत्य का लोप नहीं करना चाहिए।

अनृतं तमसो रूपं तमसा नीयते ह्यधः ।
तमोग्रस्ता न पश्यन्ति प्रकाशं तमसाऽऽवृताः ॥२२॥

असत्य अन्धकार का रूप है। वह मनुष्य को नीचे गिराता है। अज्ञानान्धकार से घिरे हुए मनुष्य तमोगुण से ग्रस्त होकर ज्ञान के प्रकाश को नहीं देख पाते हैं।

उपैति सत्याद् दानं हि तथा यज्ञाः सदक्षिणाः ।
त्रेताग्निहोत्रं वेदाश्च ये चान्ये धर्मनिश्चयः ॥२३॥

दान का, दक्षिणासहित यज्ञ का, त्रिविध [दक्षिण, आहवनीय और गार्हपत्य] अग्नियों में हवन का, वेदों के स्वाध्याय का तथा अन्य जो धर्म का निर्णय करनेवाले शास्त्र हैं, उनके भी अध्ययन का फल मनुष्य सत्य से प्राप्त कर लेता है।

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम् ।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ॥२४॥

यदि एक ओर एक सहस्र अश्वमेध यज्ञों को और दूसरी ओर केवल सत्य को तराजू पर रखा जाए तो एक सहस्र अश्वमेध यज्ञों की अपेक्षा सत्य का पलड़ा ही भारी होगा।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि चत्वारिंशोऽध्यायः ॥४०॥

एकचत्वारिंशोऽध्यायः

काम-क्रोधादि तेरह दोषों का निरूपण तथा उनके नाश का उपाय

युधिष्ठिर उवाच

यतः प्रभवति क्रोधः कामश्च भरतर्षभ ।
शोकमोहौ विधित्सा च परासुत्वं तथा मदः ॥१॥
लोभो मात्सर्यमीर्ष्या च कुत्सासूया कृपा तथा ।
एतत् सर्वं महाप्राज्ञ याथातथ्येन मे वद ॥२॥

युधिष्ठिर ने पूछा—भरतश्रेष्ठ ! महाबुद्धिमान् पितामह ! काम, क्रोध, शोक, मोह, विधित्सा [शास्त्र-विरुद्ध कार्य करने की इच्छा], परासुता [दूसरों के वध की इच्छा], मद, लोभ, मात्सर्य, ईर्ष्या, निन्दा, दोषदृष्टि और कंजूसी—ये सब दोष किससे उत्पन्न होते हैं ? यह ठीक-ठीक बताने की कृपा करें।

भीष्म उवाच

त्रयोदशैतेऽतिबलाः शत्रवः प्राणिनां स्मृताः ।
उपासन्ते महाराज समन्तात् पुरुषानिह ॥३॥

भीष्मजी बोले—महाराज युधिष्ठिर ! तुम्हारे द्वारा कथित ये तेरह दोष मनुष्यों के अत्यन्त प्रबल शत्रु माने गये हैं। ये संसार में मनुष्यों को सब ओर से घेरे रहते हैं।

वृका इव विलुम्पन्ति दृष्ट्वैते पुरुषं बलात् ।
एभ्यः प्रवर्तते दुःखमेभ्यः पापं प्रवर्तते ॥४॥

ये मनुष्य को देखते ही भेड़ियों की भाँति बलपूर्वक उनपर टूट पड़ते हैं। इन्हीं से सबको दुःख प्राप्त होता है और इन्हीं की प्रेरणा से मनुष्य की पापों में प्रवृत्ति होती है।

एतेषामुदयं स्थानं क्षयं च पृथिवीपते ।
हन्त ते कथयिष्यामि क्रोधस्योत्पत्तिमादितः ।
यथातत्त्वं क्षितिपते तदिहैकमनाः शृणु ॥५॥

भूपाल ! अब मैं यह बताता हूँ कि इनकी उत्पत्ति कैसे होती है ? ये किस प्रकार स्थिर रहते हैं और कैसे इनका नाश होता है ? सर्वप्रथम क्रोध की उत्पत्ति का यथार्थरूप से वर्णन करता हूँ। तुम यहाँ एकाग्रचित्त होकर इस विषय को सुनो !

लोभात् क्रोधः प्रभवति परदोषैरुदीर्यते ।
क्षमया तिष्ठते राजन् क्षमया विनिवर्तते ॥६॥

राजन् ! क्रोध लोभ से उत्पन्न होता है, दूसरों के दोष देखने से बढ़ता है, क्षमा करने से स्थिर हो जाता और क्षमा से ही निवृत्त हो जाता है।

संकल्पाज्जयते कामः सेव्यमानो विवर्धते ।
यदा प्राज्ञो विरमते तदा सद्यः प्रणश्यति ॥७॥

काम संकल्प से उत्पन्न होता है, सेवन करने से बढ़ता है और जब बुद्धिमान् मनुष्य उससे विरक्त हो जाता है, तब वह तत्काल नष्ट हो जाता है।

प्रीत्या शोकः प्रभवति वियोगात्तस्य देहिनः ।
यदा निरर्थकं वेत्ति तदा सद्यः प्रणश्यति ॥८॥

जिसपर प्रेम हो उस प्राणी के वियोग से शोक प्रकट होता है, परन्तु जब मनुष्य यह समझ लेता है कि शोक व्यर्थ है—उससे कोई लाभ नहीं है तो तुरन्त ही उस शोक की निवृत्ति हो जाती है।

अज्ञानप्रभवो मोहः पापाभ्यासात्प्रवर्तते ।
यदा प्राज्ञेषु रमते तदा सद्यः प्रणश्यति ॥९॥

मोह अज्ञान से उत्पन्न होता है और पाप की आवृत्ति करने से बढ़ता है। जब मनुष्य विद्वानों का

सत्सङ्ग करता है, तब उसका मोह तत्काल नष्ट हो जाता है।

विरुद्धानीह शास्त्राणि ये पश्यन्ति कुरुद्वह।
विधित्सा जायते तेषां तत्त्वज्ञान्निवर्तते ॥१०॥

कुरुश्रेष्ठ! जो लोग धर्म के विरोधी शास्त्रों का अवलोकन करते हैं, उनके मन में विधित्सा [अनुचित कार्य करने की इच्छा] उत्पन्न होती है, यह तत्त्वज्ञान से दूर होती है।

परासुता क्रोधलोभादभ्यासाच्च प्रवर्तते।
दयया सर्वभूतानां निर्वेदात्सा निवर्तते ॥११॥

परासुता [दूसरों के वध की इच्छा] क्रोध, लोभ और अभ्यास के कारण उत्पन्न होती है। समस्त प्राणियों के प्रति दया और वैराग्य होने से उसकी निवृत्ति हो जाती है।

कुलाज्ज्ञानात्तथैश्वर्यान्मदो भवति देहिनाम्।
एभिरेव तु विज्ञातैः स च सद्यः प्रणश्यति ॥१२॥

अपने उत्तम कुल, उत्कृष्ट ज्ञान और ऐश्वर्य का अभिमान होने से देहाभिमानी मनुष्यों पर मद सवार हो जाता है परन्तु इनके यथार्थस्वरूप का ज्ञान होते ही वह मद तत्काल उतर जाता है।

अज्ञानप्रभवो लोभो भूतानां दृश्यते सदा।
अस्थिरत्वं च भोगानां दृष्ट्वा ज्ञात्वा निवर्तते ॥१३॥

प्राणियों का भोगों के प्रति जो लोभ दृष्टिगोचर होता है, वह अज्ञान के ही कारण है। भोगों की क्षणभंगुरता को देखने तथा जानने से वह शान्त हो जाता है।

सत्यत्यागात्तु मात्सर्यमहितानां च सेवया।
एतत्तु क्षीयते तात साधूनामुपसेवनात् ॥१४॥

सत्य के त्याग और दुष्टों का सङ्ग करने से मात्सर्य-दोष की उत्पत्ति होती है। तात! श्रेष्ठ पुरुषों की सेवा और उनका सङ्ग करने से उसका नाश होता है।

ईर्ष्या कामात्प्रभवति सहर्षाच्चैव जायते।
इतरेषां तु सत्त्वानां प्रज्ञया सा प्रणश्यति ॥१५॥

मन में कामना उत्पन्न होने से तथा दूसरे प्राणियों की प्रसन्नता को देखने से ईर्ष्या की उत्पत्ति होती है और विवेकशील बुद्धि के द्वारा उसका नाश होता है।

विभ्रमाल्लोकबाह्यानां द्वेष्यैर्वाक्यैरसम्मतैः।
कुत्सा सञ्जायते राजन्नुपेक्षाभिः प्रशाम्यति ॥१६॥

राजन्! समाज से बहिष्कृत हुए नीच मनुष्यों के द्वेषपूर्ण तथा अप्रामाणिक वचनों को सुनकर भ्रम में पड़ जाने से निन्दा करने का स्वभाव बन जाता है, उपेक्षा से उसकी शान्ति हो जाती है।

प्रतिकर्तुं न शक्ता ये बलस्थायापकारिणे।
असूया जायते तीव्रा कारुण्याद्विनिवर्तते ॥१७॥

जो लोग अपकार करनेवाले बलवान् मनुष्य से बदला लेने में असमर्थ होते हैं, उनके हृदय में तीव्र असूया [दोषदर्शन की प्रवृत्ति] उत्पन्न होती है। दया का भाव जाग्रत् होने से उसकी निवृत्ति हो जाती है।

कृपणान् सततं दृष्ट्वा ततः सञ्जायते कृपा।
धर्मनिष्ठां यदा वेत्ति तदा शाम्यति सा कृपा ॥१८॥

सदा कृपण=कंजूस लोगों को देखने से अपने में भी कृपणता का भाव उत्पन्न हो जाता है। धर्मनिष्ठ पुरुषों के उदारभाव को जान लेने पर कृपणता का भाव नष्ट हो जाता है।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥४१॥

द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

नीच और श्रेष्ठ पुरुषों के लक्षण

युधिष्ठिर उवाच

आनृशंस्यं विजानामि दर्शनेन सतां सदा।
नृशंसान्न विजानामि तेषां कर्म च भारत ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—भरतनन्दन! सदा सज्जनों के सङ्ग और दर्शन से मैं इस बात को जानता हूँ कि कोमलतापूर्ण व्यवहार कैसे किया जाता है परन्तु नृशंस मनुष्यों और उनके कर्मों का मुझे विशेष ज्ञान नहीं है।

कण्टकान् कूपमग्निं च वर्जयन्ति यथा नराः।
तथा नृशंसकर्माणं वर्जयन्ति नरा नरम् ॥२॥

जैसे मनुष्य मार्ग में आनेवाले काँटों, कुएं और आग को बचाकर चलते हैं, उसी प्रकार मनुष्य नृशंस [क्रूरतापूर्ण] कर्म करनेवाले पुरुष को भी दूर से ही त्याग देते हैं।

नृशंसो दह्यते नित्यं प्रेत्य चेह च भारत।
तस्मात्त्वं ब्रूहि कौरव्य तस्य धर्मविनिश्चयम् ॥३॥

भारत! कुरुनन्दन! नृशंस मनुष्य दोनों लोकों में सदा शोक की अग्नि से जलता रहता है, अतः आप मुझे नृशंस मनुष्य और उसके धर्म-कर्म का यथार्थ परिचय दीजिए।

भीष्म उवाच

स्पृहा स्याद् गर्हिता चैव विधित्सा चैव कर्मणाम्।
आक्रोष्टा क्रुश्यते चैव वञ्चितो बुद्ध्यते च सः ॥४॥
दत्तानुकीर्तिर्विषमः क्षुद्रो नैकृतिकः शठः।
असंविभागी मानी च तथा सङ्गी विकत्थनः ॥५॥
सर्वातिशङ्की पुरुषो बलीशः कृपणोऽथवा।
वर्गप्रशंसी सततमाश्रमद्वेषसंकरी ॥६॥
हिंसाविहारः सततमविशेषगुणागुणः।
बह्वलीकोऽमनस्वी च लुब्धोऽत्यर्थं नृशंसकृत् ॥७॥

भीष्मजी बोले--राजन्! जिसके मन में अत्यन्त घृणित इच्छाएँ रहती हैं, जो हिंसा-प्रधान कुत्सित कर्मों को प्रारम्भ करना चाहता है, स्वयं दूसरों की निन्दा करता है और दूसरे उसकी निन्दा करते हैं, जो अपने को दैव [भाग्य] से वञ्चित समझता है तथा पाप में प्रवृत्त होता है, अपने द्वारा प्रदत्त दान का बारम्बार बखान करता है, जिसके मन में विषमता भरी रहती है, जो नीच कर्म करनेवाला, दूसरों की जीविका को नष्ट करनेवाला और शठ है, जो भोग्य वस्तुओं को दूसरों को दिये बिना ही अकेले भोगता है, जो अभिमानी है, जो विषयों में आसक्त और अपनी प्रशंसा के लिए व्यर्थ ही बढ़-चढ़कर बातें बनानेवाला है, जिसके मन में सबके प्रति सन्देह बना रहता है, जो कौए की भाँति वञ्चक दृष्टि रखनेवाला है, जो अति कृपण है, जो अपने ही वर्ग के लोगों की प्रशंसा करता, सदा आश्रमों से द्वेष रखता और वर्णसंकरता फैलाता है, जिसका घूमना-फिरना हिंसा के लिए होता है, जो गुण को भी अवगुण के समान समझता है और अत्यन्त झूठ बोलता है, जिसके मन में उदारता नहीं है और जो अत्यन्त लोभी है, ऐसा मनुष्य ही नृशंस कर्म करनेवाला कहा गया है।

धर्मशीलं गुणोपेतं पापमित्यवगच्छति।
आत्मशीलप्रमाणेन न विश्वसिति कस्यचित् ॥८॥

वह धर्मात्मा और गुणवान् पुरुषों को ही पापी मानता है तथा अपने स्वभाव को आदर्श मानकर किसी पर विश्वास नहीं करता।

परेषां यत्र दोषः स्यात्तद् गुह्यं सम्प्रकाशयेत्।
समानेष्वेव दोषेषु वृत्त्यर्थमुपघातयेत् ॥९॥

वह जहाँ दूसरों की निन्दा होती है, वहाँ उनके गुप्त दोषों को भी प्रकट कर देता है तथा अपने और दूसरे के अपराध बराबर होने पर भी वह आजीविका के लिए दूसरों का ही सर्वनाश करता है।

तथोपकारिणं चैव मन्यते वञ्चितं परम्।
दत्त्वापि च धनं काले संतपत्युपकारिणे ॥१०॥

जो उसका उपकार करता है, उसे वह अपने जाल में फँसा हुआ समझता है और उपकारी को भी यदि कभी धन देता है तो उसके लिए बहुत समय तक पश्चात्ताप करता रहता है।

भक्ष्यं पेयमथो लेह्यं यच्चान्यत्साधु भोजनम्।
प्रेक्षमाणेषु योऽश्नीयान्नृशंसमिति तं वदेत् ॥११॥

जो मनुष्य दूसरों के देखते रहने पर भी उत्तम भक्ष्य, पेय, लेह्य [चाटने योग्य] तथा अन्य भोज्य पदार्थों को अकेला ही खा जाता है, उसे भी नृशंस ही कहना चाहिए।

ब्राह्मणेभ्यः प्रदायाग्रं यः सुहृद्भिः सहाश्नुते।
स प्रेत्य लभते स्वर्गमिह चानन्त्यमश्नुते ॥१२॥

जो पहले ब्राह्मणों को दे-[खिला]-कर तत्पश्चात् अपने सुहृदों के साथ स्वयं भोजन करता है, वह इस लोक में अनन्त सुख भोगता है और मृत्यु के पश्चात् स्वर्गलोक [उत्कृष्ट मानव-योनि] में जाता है।

एष ते भरतश्रेष्ठ नृशंसः परिकीर्तितः।
शिष्टांस्तु परिपृच्छेथा यान्वक्ष्यामि शुचिव्रतान् ॥१३॥

भरतश्रेष्ठ! इस प्रकार तुम्हारे प्रश्न के अनुसार यहाँ नृशंस मनुष्य का परिचय दिया गया है। तुम्हें

शिष्ट पुरुषों से ही अपनी शंकाओं का समाधान करना चाहिए। पवित्र नियमों का पालन करनेवाले उन शिष्ट पुरुषों का मैं परिचय दे रहा हूँ।

शिष्टाचारः प्रियो येषु दमो येषु प्रतिष्ठितः।
सुखं दुःखं समं येषां सत्यं येषां परायणम् ।।१४।।
दातारो न ग्रहीतारो दयावन्तस्तथैव च।
पितृदेवातिथेयाश्च नित्योद्युक्तास्तथैव च ।।१५।।
सर्वोपकारिणो वीराः सर्वधर्मानुपालकाः।
सर्वभूतहिताश्चैव सर्वदेयाश्च भारत ।।१६।।
न ते चालयितुं शक्या धर्मव्यापारकारिणः।
न तेषां भिद्यते वृत्तं यत्पुरा साधुभिः कृतम् ।।१७।।
कामक्रोधव्यपेता ये निर्ममा निरहंकृताः।
सुव्रताः स्थिरमर्यादास्तानुपास्व च पृच्छ च ।।१८।।

जिन्हें शिष्टाचार प्रिय है, जिनमें इन्द्रिय-संयम प्रतिष्ठित है, जिनके लिए सुख और दुःख समान हैं, सत्य ही जिनका परम आश्रय है; जो दान देते हैं, लेते नहीं, उनमें स्वभाव से ही दया भरी रहती है, जो देवताओं, पितरों और अतिथियों के सेवक होते हैं, जो सत्कर्म करने के लिए सदा उद्यत रहते हैं, भरतनन्दन! जो वीर पुरुष सबका उपकार करनेवाले, सम्पूर्ण धर्मों के रक्षक और सम्पूर्ण प्राणियों के हितैषी होते हैं, जो परहित के लिए सर्वस्व न्यौछावर कर देते हैं, जिन्हें सत्कर्म से विचलित नहीं किया जा सकता, जो धर्म के अनुष्ठान में तत्पर रहते हैं, जो पहले के श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा आचरित सदाचार का पालन करते हैं, उनका वह आचार कभी नष्ट नहीं होता। जो काम और क्रोध से रहित, ममता और अहंकार से शून्य, उत्तम व्रत का पालन करनेवाले और धर्ममर्यादा को स्थिर रखनेवाले हैं, उन्हीं महापुरुषों का सङ्ग करो, उन्हीं से अपने सन्देह पूछो।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ।।४२।।

त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

शोकाकुल मन की शान्ति के लिए राजा सेनजित् एवं ब्राह्मण के संवाद का वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

नष्टे धने वा दारे वा पुत्रे पितरि वा मृते।
यया बुद्धया नुदेच्छोकं तन्मे ब्रूहि पितामह ।।१।।

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह! धन के नष्ट हो जाने पर अथवा स्त्री, पुत्र या पिता के मर जाने पर जिस बुद्धि के द्वारा मनुष्य अपने शोक का निवारण करे, वह मुझे बताइए।

भीष्म उवाच

नष्टे धने वा दारे वा पुत्रे पितरि वा मृते।
अहो दुःखमिति ध्यायञ्शोकस्यापचितिं चरेत् ।।२।।

भीष्मजी बोले—वत्स! जब धन नष्ट हो जाए अथवा स्त्री, पुत्र या पिता की मृत्यु हो जाए, तब "अहो! संसार कैसा दुःखमय है"—ऐसा सोचकर मनुष्य शोक को दूर करनेवाले शम-दम आदि साधनों का अनुष्ठान करे।

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
यथा सेनजितं विप्रः कश्चिदेत्याब्रवीत्सुहृत् ।।३।।

इस विषय में किसी हितैषी ब्राह्मण ने राजा सेनजित् के पास आकर उन्हें जैसा उपदेश किया था, उसी प्राचीन इतिहास को विद्वान् लोग दृष्टान्त के रूप में कथन किया करते हैं।

पुत्रशोकाभिसन्तप्तं राजानं शोकविह्वलम्।
विषण्णमनसं दृष्ट्वा विप्रो वचनमब्रवीत् ।।४।।

राजा सेनजित् का पुत्र कालधर्म को प्राप्त हो गया था। वे उसी की शोकाग्नि से जल रहे थे। उनका मन विषाद में डूबा हुआ था। उस शोक से व्याकुल नरेश को देखकर ब्राह्मण ने इस प्रकार कहा—

ब्राह्मण उवाच

किं नु मुह्यसि मूढस्त्वं शोच्यः किमनुशोचसि।
यदा त्वामपि शोचन्तः शोच्या यास्यन्ति तां गतिम् ।।

ब्राह्मण ने कहा—राजन्! तुम मूढ मनुष्य की भाँति क्यों मोहित हो रहे हो? तुम स्वयं ही शोक के योग्य हो, फिर दूसरों के लिए शोक क्यों करते

हो ? अहो ! एक दिन ऐसा आएगा जबकि दूसरे शोचनीय मनुष्य तुम्हारे लिए भी शोक करते हुए उसी गति को प्राप्त होंगे ।

त्वं चैवाहं च ये चान्ये त्वामुपासन्ति पार्थिव ।
सर्वे तत्र गमिष्यामो यत एवागता वयम् ॥६॥

भूपाल ! तुम, मैं और ये अन्य सब लोग जो इस समय तुम्हारे समीप विराजमान हैं—सब वहीं जाएँगे, जहाँ से आये हैं ।

पश्य भूतानि दुःखेन व्यतिषिक्तानि सर्वशः ।
उत्तमाधममध्यानि तेषु तेष्विह कर्मसु ॥७॥

राजन् ! देखो इस संसार में उत्तम, मध्यम और अधम—सभी प्राणी भिन्न-भिन्न कामों में आसक्त हो दुःख से ग्रस्त हो रहे हैं ।

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महोदधौ ।
समेत्य च व्यपेयातां तद्वद्भूतसमागमः ॥८॥

जिस प्रकार समुद्र में बहते हुए दो काष्ठ कभी-कभी एक-दूसरे से मिल जाते हैं तथा मिलकर फिर अलग हो जाते हैं, उसी प्रकार संसार में प्राणियों का समागम होता है ।

एवं पुत्राश्च पौत्राश्च ज्ञातयो बान्धवास्तथा ।
तेषां स्नेहो न कर्तव्यो विप्रयोगो ध्रुवो हि तैः ॥९॥

इसी प्रकार पुत्र, पौत्र, जाति-बान्धव तथा सम्बन्धी भी मिल जाते हैं। उनके प्रति आसक्ति नहीं बढ़ानी चाहिए, क्योंकि एक दिन उनसे वियोग होना अवश्यम्भावी है ।

अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः ।
न त्वासौ वेद न त्वं तं कः सन्किमनुशोचसि ॥१०॥

तुम्हारा पुत्र किसी अज्ञात स्थिति से आया था और पुनः अज्ञात स्थिति में चला गया है। न तो वह तुम्हें जानता था और न तुम उसे जानते थे, फिर तुम उसके कौन होकर किसलिए शोकाकुल हो रहे हो ?

तृष्णार्तिप्रभवं दुःखं दुःखार्तिप्रभवं सुखम् ।
सुखात्सञ्जायते दुःखं दुःखमेवं पुनः पुनः ॥११॥

संसार में विषयों की तृष्णा से व्याकुलता होती है, उसी का नाम दुःख है तथा उस दुःख का विनाश ही सुख है । उस सुख के पश्चात् [पुनः कामना-जनित] दुःख होता है । इस प्रकार बारम्बार दुःख की प्राप्ति होती रहती है ।

सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम् ।
सुखदुःखे मनुष्याणां चक्रवत् परिवर्ततः ॥१२॥

सुख के पश्चात् दुःख और दुःख के बाद सुख आता है । मनुष्यों के सुख और दुःख चक्र की भाँति घूमते रहते हैं ।

सुखात्त्वं दुःखमापन्नः पुनरापत्स्यते सुखम् ।
न नित्यं लभते दुःखं न नित्यं लभते सुखम् ॥१३॥

इस समय तुम सुख से दुःख में आ पड़े हो । अब फिर तुम्हें सुख प्राप्त होगा । यहाँ किसी भी प्राणी को न तो सदा सुख ही प्राप्त होता है और न सदा दुःख ही ।

स्नेहपाशैर्बहुविधैराविष्टविषया जनाः ।
अकृतार्थाश्च सीदन्ते जलैः सैकतसेतवः ॥१४॥

मनुष्य नाना प्रकार के स्नेह-बन्धनों में बँधे हुए हैं, अतः वे सदा विषयों की आसक्ति से घिरे रहते हैं । जैसे बालू से बनाये हुए पुल जल के वेग से बह जाते हैं, उसी प्रकार उन मनुष्यों की विषय-कामना सफल नहीं होती, अतः वे दुःख पाते रहते हैं ।

स्नेहेन तिलवत् सर्वं सर्गचक्रे निपीड्यते ।
तिलपीडैरिवाक्रम्य क्लेशैरज्ञानसम्भवैः ॥१५॥

तेली लोग तेल के लिए जैसे तिलों को कोल्हू में पेरते हैं, वैसे ही स्नेह के कारण सब लोग अज्ञान-जनित क्लेशों द्वारा सृष्टिचक्र में पीसे जा रहे हैं ।

सञ्चिनोत्यशुभं कर्म कलत्रापेक्षया नरः ।
एकः क्लेशानवाप्नोति परत्रेह च मानवः ॥१६॥

मनुष्य स्त्री-पुत्रादि परिवार के लिए चोरी आदि पापकर्मों का संग्रह करता है, परन्तु इस लोक और परलोक में उसे अकेले ही उन समस्त कर्मों का दुःखदायी फल भोगना पड़ता है ।

किञ्चिदेव ममत्वेन यदा भवति कल्पितम् ।
तदेव परितापार्थं सर्वं सम्पद्यते तथा ॥१७॥

मनुष्य जिस-जिस भी पदार्थ में ममत्व कर लेता है, तब वे ही सब पदार्थ उसके दुःख का कारण बन जाते हैं ।

यद्यत्त्यजति कामानां तत्सुखस्याभिपूर्यते ॥
कामानुसारी पुरुषः कामाननु विनश्यति ॥१८॥

मनुष्य कामनाओं में से जिस-जिसका परित्याग कर देता है, वही उसके सुख की पूर्ति करनेवाली हो जाती है। जो मनुष्य कामनाओं के पीछे भागता है, वह उन्हीं के पीछे नष्ट हो जाता है।

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥१९॥

संसार में जो कुछ लौकिक भोगों का सुख है और जो स्वर्ग का महान् सुख है—वे दोनों तृष्णा के क्षय से होनेवाले सुख की सोलहवीं कला के बराबर भी नहीं हैं।

यदा संहरते कामान् कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
तदाऽऽत्मज्योतिरात्मायमात्मन्येव प्रपश्यति ॥२०॥

कछुआ जैसे अपने अङ्गों को सब ओर से समेट लेता है, वैसे ही यह जीव जब अपनी सम्पूर्ण कामनाओं को समेट लेता है, तब वह अपने विशुद्ध अन्तःकरण में स्वप्रकाशस्वरूप परमात्मा का दर्शन कर लेता है।

न बिभेति यदा चायं यदा चास्मान्न बिभ्यति ।
यदा नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥२१॥

जब मनुष्य किसी से भय नहीं मानता और इससे भी कोई भयभीत नहीं होता तथा जब यह न तो किसी वस्तु को चाहता है और न किसी से द्वेष ही करता है, तब परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

उभे सत्यानृते त्यक्त्वा शोकानन्दौ भयाभये ।
प्रियाप्रिये परित्यज्य प्रशान्तात्मा भविष्यति ॥२२॥

जब साधक सत्य और असत्य, शोक और हर्ष, भय और अभय तथा प्रिय और अप्रिय आदि सम्पूर्ण द्वन्द्वों का परित्याग कर देता है, तब उसका, चित्त शान्त हो जाता है।

यदा न कुरुते धीरः सर्वभूतेषु पापकम् ।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥२३॥

जब धीर पुरुष किसी भी प्राणी के प्रति मन, वचन और कर्म से पापपूर्ण व्यवहार नहीं करता, तब परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः ।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम् ॥२४

खोटी बुद्धिवाले मनुष्य के लिए जिसका त्याग करना कठिन है, जो मनुष्य के जीर्ण=वृद्ध हो जाने पर भी कभी जीर्ण नहीं होती, जो प्राणों के साथ जानेवाला रोग है, उस तृष्णा को जो त्याग देता है, उसी को सुख मिलता है।

भीष्म उवाच

एतैश्चान्यैश्च विप्रस्य हेतुमद्भिः प्रभाषितैः ।
पर्यवस्थापितो राजा सेनजिन्मुमुदे सुखी ॥२५॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! ब्राह्मण के कहे हुए इन पूर्वोक्त तथा अन्य युक्तियुक्त वचनों से राजा सेनजित् का चित्त स्थिर हो गया। वे शोक त्यागकर सुखी हो गये तथा प्रसन्नतापूर्वक रहने लगे।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥४३॥

चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

स्वकल्याण-इच्छुक पुरुष के कर्तव्य विषय में पिता के प्रति पुत्र द्वारा ज्ञान का उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

अतिक्रामति कालेऽस्मिन् सर्वभूतक्षयावहे ।
किं श्रेयः प्रतिपद्येत तन्मे ब्रूहि पितामह ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह! समस्त प्राणियों का संहार करनेवाला यह काल निरन्तर व्यतीत हो रहा है, ऐसी स्थिति में मनुष्य क्या करने से कल्याण का भागी हो सकता है, यह मुझे बताइए।

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
पितुः पुत्रेण संवादं तन्निबोध युधिष्ठिर ॥२॥

भीष्मजी बोले—युधिष्ठिर! इस विषय में ज्ञानी पुरुष पिता एवं पुत्र के संवादरूप इस प्राचीन इतिहास का उदाहरण दिया करते हैं। तुम उस संवाद को ध्यान देकर सुनो!

द्विजातेः कस्यचित्पार्थ स्वाध्यायनिरतस्य वै ।
पुत्रो बभूव मेधावी मेधावी नाम नामतः ॥३॥

कुन्तीकुमार! प्राचीन समय में एक ब्राह्मण थे जो सदा वेदशास्त्रों के स्वाध्याय में तत्पर रहते थे।

उनके एक पुत्र उत्पन्न हुआ जो नाम से तो मेधावी था ही, गुणों से भी मेधावी ही था।

सोऽब्रवीत्पितरं पुत्रः स्वाध्यायकरणे रतम् ।
मोक्षधर्मार्थकुशलो लोकतत्त्वविचक्षणः ॥४॥

वह पुत्र मोक्ष, धर्म तथा अर्थ में कुशल और लोकव्यवहार का मर्मज्ञ था। एक दिन उस पुत्र ने अपने स्वाध्याय में संलग्न पिता से कहा—

पुत्र उवाच

धीरः किं स्वित्तात कुर्यात्प्रजानन्
क्षिप्रं ह्यायुर्भ्रश्यते मानवानाम् ।
पितस्तदाचक्ष्व यथार्थयोगं
ममानुपूर्व्या यद् धर्मं चरेयम् ॥५॥

पुत्र बोला—पिताजी! मनुष्यों की आयु तीव्र गति से बीती जा रही है। यह जानते हुए धीरपुरुष को क्या करना चाहिए? तात! आप मुझे उस यथार्थ उपाय का उपदेश कीजिए, जिसके अनुसार मैं धर्म-मार्ग का अनुसरण कर सकूँ।

पितोवाच

वेदानधीत्य ब्रह्मचर्येण पुत्र
पुत्रानिच्छेत्पावनार्थं पितॄणाम् ।
अग्नीनाधाय विधिवच्चेष्टयज्ञो
वनं प्रविश्याथ मुनिर्बुभूषेत् ॥६॥

पिता ने कहा—वत्स! मनुष्य को चाहिए कि वह ब्रह्मचर्य-व्रतपूर्वक सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन करे, फिर गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होकर माता-पितादि के कल्याण के लिए सन्तान उत्पन्न करने की इच्छा करे, विधिपूर्वक तीनों अग्नियों की स्थापना करके यज्ञों का अनुष्ठान करे। तत्पश्चात् वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करे और मौनभाव से रहते हुए अन्त में संन्यासी होने की इच्छा करे।

पुत्र उवाच

एवमभ्याहते लोके समन्तात् परिवारिते ।
अमोघासु पतन्तीषु किं धीर इव भाषसे ॥७॥

पुत्र बोला—पिताजी! यह लोक जब इस प्रकार [आयु-क्षय] से मृत्यु द्वारा मारा जा रहा है, वृद्धावस्था द्वारा चारों ओर से घेर लिया गया है, दिन और रात्रि सफलतापूर्वक जीवन की डोर को काट रहे हैं, ऐसी अवस्था में भी आप धीर की भाँति कैसी बातें कर रहे हैं?

पितोवाच

कथमभ्याहतो लोकः केन वा परिवारितः ।
अमोघाः काः पतन्तीह किन्नु भीषयसीव माम् ॥८॥

पिता ने पूछा—पुत्र! तुम मुझे भयभीत-सा क्यों कर रहे हो? बताओ तो सही, यह लोक किसके द्वारा मारा जा रहा है, किसने इसे घेर रखा है और कौन-से ऐसे व्यक्ति हैं जो सफलतापूर्वक अपना कार्य करके व्यतीत हो रहे हैं?

पुत्र उवाच

मृत्युनाभ्याहतो लोको जरया परिवारितः ।
अहोरात्राः पतन्त्येते ननु कस्मान्न बुध्यसे ॥९॥

पुत्र बोला—पिताजी! यह समस्त संसार मृत्यु के द्वारा मारा जा रहा है। बुढ़ापे ने इसे चारों ओर से घेर लिया है तथा दिन-रात ही वे व्यक्ति हैं जो सफलतापूर्वक प्राणियों की आयु का अपहरणरूप अपना कार्य करके व्यतीत हो रहे हैं, इस बात को आप समझते क्यों नहीं हैं?

स्रवन्ति न निवर्तन्ते स्रोतांसि सरितामिव ।
आयुरादाय मर्त्यानां रात्र्यहानि पुनः पुनः ॥१०॥

जैसे नदियों का प्रवाह आगे की ओर ही बढ़ता चला जाता है, पीछे की ओर नहीं लौटता, वैसे ही रात और दिन भी मनुष्य की आयु का अपहरण करते हुए बारम्बार आते और व्यतीत होते चले जाते हैं।

यदाहमेतज्जानामि न मृत्युस्तिष्ठतीति ह ।
सोऽहं कथं प्रतीक्षिष्ये जालेनापिहितश्चरन् ॥११॥

जब मैं इस बात को जानता हूँ कि मृत्यु क्षणभर के लिए भी रुक नहीं सकती और मैं उसके जाल में फँसकर ही विचर रहा हूँ, तब मैं थोड़ी देर भी प्रतीक्षा कैसे कर सकता हूँ?

रात्र्यां रात्र्यां व्यतीतायामायुरल्पतरं यदा ।
गाधोदके मत्स्य इव सुखं विन्देत कस्तदा ॥१२॥

जब एक-एक रात्रि व्यतीत होने के साथ ही आयु क्षीण होती चली जा रही है, तब छिछले जल में रहनेवाली मछली की भाँति कौन सुख पा सकता है?

यस्यां रात्र्यां व्यतीतायां न किञ्चिच्छुभमाचरेत् ।
तदैव वन्ध्यं दिवसमिति विद्याद् विचक्षणः ।
अनवाप्तेषु कामेषु मृत्युरभ्येति मानवम् ॥१३॥

जिस रात्रि के व्यतीत होने पर मनुष्य कोई शुभ कर्म न करे, उस दिन को विद्वान् मनुष्य व्यर्थ ही गया समझे । मनुष्य की कामनाएँ पूर्ण भी नहीं होने पाती हैं कि मृत्यु उसके पास आ पहुँचती है ।

शष्पाणीव विचिन्वन्तमन्यत्रगतमानसम् ।
वृकीवोरणमासाद्य मृत्युरादाय गच्छति ॥१४॥

जैसे घास चरती हुई भेड़ों के पास सहसा व्याघ्री पहुँच जाती है और उन्हें दबोचकर चल देती है, वैसे ही मनुष्य का मन जब दूसरी ओर लगा होता है, उस समय अकस्मात् मृत्यु आ जाती है और उसे लेकर चल देती है ।

अद्यैव कुरु यच्छ्रेयो मा त्वां कालोऽत्यगादयम् ।
अकृतेष्वेव कार्येषु मृत्युर्वै सम्प्रकर्षति ॥१५॥

अतः जो कल्याणकारी कार्य हो उसे आज ही कर डालिए । आपका यह समय हाथ से न निकल जाए, क्योंकि समस्त कार्य अधूरे ही पड़े रह जाएँगे और मृत्यु आपको घसीटकर ले जाएगी ।

श्वःकार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम् ।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतमस्य न वा कृतम् ॥१६॥

कल किये जानेवाले काम को आज ही पूरा कर लेना चाहिए । जिसे सायंकाल करना हो उसे प्रातःकाल ही कर डालना चाहिए, क्योंकि मृत्यु यह नहीं देखती कि इसका काम अभी पूरा हुआ या नहीं ।

युवैव धर्मशीलः स्यादनित्यं खलु जीवितम् ।
कृते धर्मे भवेत्कीर्तिरिह प्रेत्य च वै सुखम् ॥१७॥

यौवनावस्था में ही सबको धर्म का आचरण करना चाहिए, क्योंकि जीवन निःसन्देह अनित्य है । धर्माचरण से संसार में मनुष्य की कीर्ति का विस्तार होता है और परलोक में भी उसे सुख मिलता है ।

दुर्बलं बलवन्तं च शूरं भीरुं जडं कविम् ।
अप्राप्ते सर्वकामार्थान् मृत्युरादाय गच्छति ॥१८॥

कोई दुर्बल हो या बलवान्, शूरवीर हो या कायर और मूर्ख हो या विद्वान्, मृत्यु उसकी समस्त कामनाओं के पूर्ण होने से पहले ही उसे उठा ले जाती है ।

मृत्युर्जरा च व्याधिश्च दुःखं चानेककारणम् ।
अनुषक्तं यदा देहे किं स्वस्थ इव तिष्ठसि ॥१९॥

पिताजी ! जब इस शरीर में मृत्यु, बुढ़ापा, रोग और अनेक कारणों से होनेवाले दुःखों का आक्रमण होता ही रहता है, तब आप स्वस्थ-से होकर क्यों बैठे हैं ?

जातमेवान्तकोऽन्ताय जरा चान्वेति देहिनम् ।
अनुषक्ता द्वयेनैते भावाः स्थावरजङ्गमाः ॥२०॥

देहधारी जीव के जन्म लेते ही मृत्यु और बुढ़ापा उसका अन्त करने के लिए उसके पीछे लग जाते हैं। ये समस्त चराचर प्राणी इन दोनों से बँधे हुए हैं।

न मृत्युसेनामायान्तीं जातु कश्चित् प्रबाधते ।
ऋते सत्यमसत्त्याज्यं सत्ये ह्यमृतमाश्रितम् ॥२१॥

सत्य के बिना कोई भी मनुष्य सामने आती हुई मृत्यु की सेना का कभी सामना नहीं कर सकता, अतः असत्य को त्याग देना चाहिए, क्योंकि अमृतत्व सत्य में ही स्थित है ।

तस्मात् सत्यव्रताचारः सत्ययोगपरायणः ।
सत्यागमः सदा दान्तः सत्येनैवान्तकं जयेत् ॥२२॥

सत्य में अमृतत्व है, अतः मनुष्य को सत्यव्रत का आचरण करना चाहिए, सत्ययोग में तत्पर रहना और शास्त्रों की बातों को सत्य मानकर श्रद्धापूर्वक सदा मन और इन्द्रियों का संयम करना चाहिए। इस प्रकार सत्य के द्वारा ही मनुष्य मृत्यु पर विजय पा सकता है ।

अमृतं चैव मृत्युश्च द्वयं देहे प्रतिष्ठितम् ।
मृत्युमापद्यते मोहात् सत्येनापद्यतेऽमृतम् ॥२३॥

अमृत और मृत्यु दोनों इसी शरीर में स्थित हैं। मनुष्य मोह के कारण मृत्यु को और सत्य के आचरण से अमृत को प्राप्त होता है ।

सोऽहं ह्यहिंस्रः सत्यार्थी कामक्रोधबहिष्कृतः ।
समदुःखसुखः क्षेमी मृत्युं हास्याम्यमर्त्यवत् ॥२४॥

मैं भी हिंसा से दूर रहकर सत्य की खोज करूँगा। काम और क्रोध को हृदय से निकालकर दुःख और सुख में समान-भाव रखूँगा तथा सबके लिए कल्याणकारी बनकर देवताओं के समान मृत्यु के भय से मुक्त हो जाऊँगा ।

यस्य वाङ्मनसी स्यातां सम्यक् प्रणिहिते सदा ।
तपस्त्यागश्च सत्यं च स वै सर्वमवाप्नुयात् ॥२५॥

जिसकी वाणी और मन दोनों सदा भली-भाँति एकाग्र रहते हैं और जो त्याग, तप तथा सत्य से सम्पन्न होता है, वह निश्चय ही सब-कुछ प्राप्त कर सकता है ।

नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तपः ।
नास्ति रागसमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम् ॥२६॥

संसार में विद्या=ज्ञान के समान कोई नेत्र नहीं है, सत्य के समान कोई तप नहीं है, राग के समान कोई दुःख नहीं है और त्याग के समान कोई सुख नहीं है ।

नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं
यथैकता समता सत्यता च ।
शीलं स्थितिराजंवं दण्डत्यागः
ततस्ततश्चोपरमः क्रियाभ्यः ॥२७॥

परमात्मा के साथ एकता एवं समता, सत्यभाषण, सदाचार, ब्रह्मनिष्ठा, दण्ड का परित्याग (अहिंसा), सरलता तथा सब प्रकार के सकाम कर्मों से निवृत्ति—इनके समान ब्राह्मण के लिए दूसरा कोई धन नहीं है ।

किं ते धनैर्बान्धवैर्वापि किं ते
किं दारैर्ब्राह्मण यो मरिष्यसि ।
आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टं
पितामहास्ते क्व गताः पिता च ॥२८॥

ब्राह्मणदेव ! जब आप एक दिन मृत्यु का ग्रास बन ही जाएंगे तब आपको इस धन से क्या लेना है अथवा बन्धु-बान्धओं से आपका क्या प्रयोजन है और स्त्री आदि से आपका कौन-सा कार्य सिद्ध होनेवाला है ? आप अपनी हृदयरूपी गुफा में स्थित हुए परमात्मा को खोजिए । तनिक सोचिए तो सही, आपके पिता और पितामह कहाँ चले गये ?

भीष्म उवाच

पुत्रस्यैतद्वचः श्रुत्वा यथाकार्षीत्पिता नृप ।
तथा त्वमपि वर्तस्व सत्यधर्मपरायणः ॥२९॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! पुत्र का यह वचन सुनकर पिता ने जैसे सत्य धर्म का अनुष्ठान किया था, उसी प्रकार तुम भी सत्यधर्म में तत्पर रहकर यथायोग्य व्यवहार करो ।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥४४॥

पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

मङ्कि-गीता—धन की तृष्णा से दुःख तथा उसकी कामना-त्याग से परम सुख की प्राप्ति

युधिष्ठिर उवाच

ईहमानः समारम्भान् यदि नासादयेद् धनम् ।
धनतृष्णाभिभूतश्च किं कुर्वन् सुखमाप्नुयात् ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! यदि कोई मनुष्य धन की तृष्णा से ग्रस्त होकर नाना प्रकार के उद्योग करने पर भी धन न पा सके तो वह क्या करे, जिससे उसे सुख की प्राप्ति हो सके ?

भीष्म उवाच

सर्वसाम्यमनायासं सत्यवाक्यं च भारत ।
निर्वेदश्चाविधित्सा च यस्य स्यात्स सुखी नरः ॥२॥

भीष्मजी बोले—हे भारत ! सबमें समता का भाव, व्यर्थ परिश्रम का अभाव, सत्यभाषण, संसार से वैराग्य और कर्मासक्ति का अभाव—ये पाँचों जिस मनुष्य में होते हैं, वह सुखी होता है ।

एतान्येव पदान्याहुः पञ्च वृद्धाः प्रशान्तये ।
एष स्वर्गश्च धर्मश्च सुखं चानुत्तमं मतम् ॥३॥

ज्ञानवृद्ध पुरुष इन्हीं पाँच वस्तुओं को शान्ति का कारण बताते हैं । यही स्वर्ग है और यही धर्म है तथा यही परमोत्तम सुख माना गया है ।

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
निर्वेदान्मङ्किना गीतं तन्निबोध युधिष्ठिर ॥४॥

युधिष्ठिर ! इस विषय में जानकार पुरुष एक प्राचीन इतिहास का उदाहरण दिया करते हैं । मङ्कि नामक मुनि ने भोगों से विरक्त होकर जो उद्गार

प्रकट किया था, वही इस इतिहास में वर्णित है। उसे सुनाता हूँ, सुनो !

ईहमानो धनं मङ्किर्भग्नेहश्च पुनः पुनः ।
केनचिद्धनशेषेण क्रीतवान् दम्यगोयुगम् ॥५॥

मुनिवर मङ्कि धन-प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार की चेष्टाएँ करते थे, परन्तु हर बार उनका प्रयत्न व्यर्थ हो जाता था। अन्त में जब बहुत थोड़ा धन शेष रह गया तब उस धन से उन्होंने दो नये बछड़े खरीदे।

सुसम्बद्धौ तु तौ दम्यौ दमनायाभिनिःसृतौ ।
आसीनमुष्ट्रं मध्येन सहसैवाभ्यधावताम् ॥६॥

एक दिन वे उन दोनों बछड़ों को परस्पर जोड़कर हल चलाने की शिक्षा देने के लिए ले-जा रहे थे। जब वे दोनों बछड़े ग्राम से बाहर निकले तो मार्ग में बैठे हुए एक ऊँट को बीच में करके सहसा दौड़ पड़े।

तयोः सम्प्राप्तयोरुष्ट्रः स्कन्धदेशममर्षणः ।
उत्थायोत्क्षिप्य तौ दम्यौ प्रससार महाजवः ॥७॥

जब वे उसकी गर्दन के पास पहुँचे तो ऊँट के लिए यह असह्य हो उठा, अतः वह क्रुद्ध होकर खड़ा हो गया और उन दोनों बछड़ों को लटकाये अति वेग से भागने लगा।

ह्रियमाणौ तु तौ दम्यौ तेनोष्ट्रेण प्रमाथिना ।
म्रियमाणौ च सम्प्रेक्ष्य मङ्किस्तत्राब्रवीदिदम् ॥८॥

बलपूर्वक अपहरण करनेवाले उस ऊँट के द्वारा उन दोनों बछड़ों को अपहृत होते और मरते देख मङ्कि ने इस प्रकार कहा—

न चैवाविहितं शक्यं दक्षेणापीहितुं धनम् ।
युक्तेन श्रद्धया सम्यगीहां समनुतिष्ठता ॥९॥

"मनुष्य कैसा ही चतुर क्यों न हो, जो उसके भाग्य में नहीं है, उस धन को वह श्रद्धापूर्वक सम्यक् प्रयत्न करके भी नहीं पा सकता।

कृतस्य पूर्वं चानर्थैर्युक्तस्याप्यनुतिष्ठतः ।
इमं पश्यत संगत्या मम दैवमुपप्लवम् ॥१०॥

"पहले मैंने जो प्रयत्न किया था, उसमें अनेक प्रकार के विघ्न खड़े हो गये। उन अनर्थों से युक्त होने पर भी मैं धनोपार्जन की चेष्टा में लगा रहा, परन्तु यह देखो, आज इन बछड़ों की सङ्गति से मुझ पर कैसा दैवी प्रकोप आ गया है !

उद्यम्योद्यम्य मे दम्यौ विषमेणेव गच्छति ।
उत्क्षिप्य काकतालीयमुत्पथेनैव धावतः ॥११॥
मणी वोष्ट्रस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरौ मम ।
शुद्धं हि दैवमेवेदं हठेनैवास्ति पौरुषम् ॥१२॥

"यह ऊँट मेरे बछड़ों को उछाल-उछालकर विषम मार्ग से लिये जा रहा है। काकतालीयन्याय[1] [दैवयोग] से इन्हें गर्दन पर उठाकर बुरे मार्ग से ही दौड़ रहा है। इस ऊँट के गले में मेरे दोनों प्यारे बछड़े दो मणियों के समान लटक रहे हैं। यह केवल भाग्य का ही खेल है। हठपूर्वक किये हुए पुरुषार्थ से क्या होता है ?

तस्मान्निर्वेद एवेह गन्तव्यः सुखमिच्छता ।
सुखं स्वपिति निर्विण्णो निराशश्चार्थसाधने ॥१३॥

"इसलिए सुख के इच्छुक मनुष्य को धन प्राप्ति की ओर से वैराग्य का ही आश्रय लेना चाहिए। धनोपार्जन की चेष्टा से निराश होकर जो विरक्त हो जाता है, वह सुख की नींद सोता है।

यः कामानाप्नुयात्सर्वान्यश्चैतान्केवलाँस्त्यजेत् ।
प्रापणात् सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते ॥१४॥

"जो मनुष्य अपनी सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त कर लेता है और जो इन सबका केवल त्याग कर देता है—इन दोनों के कार्यों में समस्त कामनाओं को प्राप्त करने की अपेक्षा उनका त्याग ही श्रेष्ठ है।

निवर्तस्व विधित्साभ्यः शाम्य निर्विद्य कामुक ।
असकृच्चासि निकृतो न च निर्विद्यसे ततः ॥१५॥

---

[1] कोई यात्री एक ताड़ के वृक्ष के नीचे बैठा हुआ था। उसी वृक्ष पर एक काक भी आ बैठा। कौए के आते ही ताड़ का एक पका हुआ फल नीचे गिर पड़ा। यद्यपि फल पककर स्वयमेव गिरा था परन्तु पथिक ने दोनों बातों को साथ होते देख यही समझा कि कौए के आने से ही ताड़ का फल गिरा है, अतः जहाँ संयोग से अकस्मात् कोई घटना घट जाए, वहाँ उसे काकतालीय न्याय से घटित हुई कहा जाता है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में बछड़ों का आना और ऊँट का मार्ग में बैठे रहना— बातें संयोगवश हो गई थीं।

"अरे कामनाओं के दास मन ! तू सब प्रकार की चेष्टाओं से निवृत्त हो जा और वैराग्यपूर्ण शान्ति धारण कर। तू धन-प्राप्ति के प्रयत्न में बारम्बार ठगा गया है, तो भी उसकी ओर से तुझे वैराग्य नहीं होता है।

न पूर्वे नापरे जातु कामानामन्तमाप्नुवन्।
त्यक्त्वा सर्वसमारम्भान्प्रतिबुद्धोऽस्मि जागृमि ॥१६॥

"पूर्वकाल के तथा पीछे के मनुष्य भी कभी कामनाओं का पार नहीं पा सके, अतः मैं सम्पूर्ण कर्मों का आयोजन त्यागकर सावधान हो गया हूँ तथा मैं पूर्णतया जग गया हूँ।

काम जानामि ते मूलं संकल्पात् किल जायसे।
न त्वां संकल्पयिष्यामि समूलो न भविष्यसि ॥१७॥

"हे काम ! मैं तेरे मूल [आधार, जड़] को जानता हूँ। निश्चय ही तू संकल्प से उत्पन्न होता है। अब मैं तेरा संकल्प ही नहीं करूँगा, जिससे तू समूल नष्ट हो जाएगा।

ईहा धनस्य न सुखा लब्ध्वा चिन्ता च भूयसी।
लब्धनाशे यथा मृत्युर्लब्धं भवति वा न वा ॥१८॥

"धन की इच्छा सुखदायिनी नहीं है। धन की प्राप्ति पर उसकी रक्षा आदि के लिए बड़ी भारी चिन्ता बढ़ जाती है। यदि धन की प्राप्ति होकर वह नष्ट हो जाए तब तो मनुष्य को मृत्यु के समान ही भयंकर कष्ट होता है तथा पुरुषार्थ करने पर भी धन मिलेगा या नहीं यह निश्चय नहीं होता।

धननाशेऽधिकं दुःखं मन्ये सर्वमहत्तरम्।
ज्ञातयो ह्यवमन्यन्ते मित्राणि च धनाच्च्युतम् ॥१९॥

"मैं समझता हूँ कि धन नष्ट होने पर जो दुःख होता है, वही सबसे बढ़कर है, क्योंकि धनहीन को अपने भाई-बन्धु और मित्र भी अपमानित करने लगते हैं।

परित्यागे न लभते ततो दुःखतरं नु किम्।
न च तुष्यति लब्धेन भूय एव च मार्गति ॥२०॥

"शरीर को न्योछावर कर देने पर भी जब मनुष्य को धन की प्राप्ति नहीं होती तो उसे इससे बढ़कर महान् दुःख और क्या हो सकता है ? यदि धन मिल भी जाए तो उतने से ही वह सन्तुष्ट नहीं होता, अपितु अधिक धन की खोज करने में जुट जाता है।

अनुतर्षुल एवार्थः स्वादु गाङ्गमिवोदकम्।
मद्विलापनमेतत्तु प्रतिबुद्धोऽस्मि संत्यज ॥२१॥

"हे काम ! स्वादिष्ट गङ्गाजल के समान यह धन तृष्णा की ही वृद्धि करनेवाला है। मैं भली-भाँति जान गया हूँ कि यह तृष्णा की वृद्धि मेरे नाश का कारण है, अतः तू मेरा पिण्ड छोड़ दे।

अर्थलोलुपता दुःखमिति बुद्धं चिरान्मया।
यद् यदालम्बसे काम तत्तदेवानुरुध्यसे ॥२२॥

"धनलोलुपता दुःख का कारण है, यह बात बहुत देर के पश्चात् मेरी समझ में आई है। हे काम ! तू जिस-जिसका आश्रय लेता है, उसी-उसी के पीछे पड़ जाता है।

अतत्त्वज्ञोऽसि बालश्च दुस्तोषोऽपूरणोऽनलः।
नैव त्वं वेत्थ सुलभं नैव त्वं वेत्थ दुर्लभम् ॥२३॥

"हे काम ! तू तत्त्वज्ञान से रहित तथा बालक के समान हठी है। तुझे सन्तुष्ट करना कठिन है और अग्नि के समान तेरा पेट भरना असम्भव है। तू यह नहीं जानता कि कौन-सी वस्तु सुलभ है और कौन-सी दुर्लभ है।

पाताल इव दुष्पूरो मां दुःखैर्योक्तुमिच्छसि।
नाहमद्य समावेष्टुं शक्यः काम पुनस्त्वया ॥२४॥

"हे काम ! पाताल के समान तुझे भरना कठिन है। तू मुझे दुःखों में फँसाना चाहता है परन्तु अब तू पुनः मेरे भीतर प्रविष्ट नहीं हो सकता।

निर्वेदमहमासाद्य द्रव्यनाशाद् यदृच्छया।
निर्वृत्तिं परमां प्राप्य नाद्य कामान्विचिन्तये ॥२५॥

"अकस्मात् धन नाश हो जाने से वैराग्य को प्राप्त होकर मुझे परम सुख मिल गया है, अतः अब मैं भोगों का चिन्तन नहीं करूँगा।

अतिक्लेशान् सहे चात्र नाहं बुद्ध्याम्यबुद्धिमान्।
निकृतो धननाशेन शये सर्वाङ्गविज्वरः ॥२६॥

"पहले मैं बड़े-बड़े दुःख उठाता था, क्योंकि ऐसा बुद्धिहीन हो गया था कि 'धन की कामना में दुःख है', इस बात को समझ ही नहीं पाता था, परन्तु अब धन का नाश होने से उससे वञ्चित होकर मैं सम्पूर्ण

अङ्गों के क्लेश और चिन्ताओं से मुक्त होकर सुख से सोता हूँ।

परित्यजामि काम त्वां हित्वा सर्वमनोगतीः।
न त्वं मया पुनः काम वत्स्यसे न च रंस्यसे ॥२७॥

"हे काम! मैं अपनी समस्त मनोवृत्तियों को दूर हटाकर तुझे छोड़ रहा हूँ। अब तू न तो मेरे साथ रह सकेगा और न मौज ही उड़ा सकेगा।

निर्वेदं निर्वृत्तिं तृप्तिं शान्तिं सत्यं दमं क्षमाम्।
सर्वभूतदयां चैव विद्धि मां समुपागतम् ॥२८॥

"हे काम! तू भली-भाँति समझ ले कि मुझे वैराग्य, सुख, तृप्ति, शान्ति, सत्य, दम, क्षमा और समस्त प्राणियों के प्रति दयाभाव—ये सभी सद्गुण प्राप्त हो गये हैं।

आत्मना सप्तमं कामं हत्वा शत्रुमिवोत्तमम्।
प्राप्यावध्यं ब्रह्मपुरं राजेव स्यामहं सुखी ॥२९॥

"काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य और ममता—ये देहधारियों के सात शत्रु हैं। इनमें सातवाँ कामरूपी शत्रु सबसे प्रबल है। उन सबके साथ इस महान् शत्रु काम का नाश करके मैं अविनाशी ब्रह्मपुर में स्थित हो राजा के समान सुखी होऊँगा।"

एतां बुद्धिं समास्थाय मङ्किर्निर्वेदमागतः।
सर्वान् कामान्परित्यज्य प्राप्य ब्रह्म महत्सुखम् ॥३०॥

राजन्! इसी बुद्धि का आश्रय लेकर मङ्कि धन और भोगों से विरक्त हो गये, तथा समस्त कामनाओं को त्यागकर उन्होंने परमानन्दस्वरूप परब्रह्म को प्राप्त कर लिया।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥४५॥

षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

नहुष के प्रश्नों के उत्तर में बोध्यगीता

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
गीतं विदेहराजेन जनकेन प्रशाम्यता ॥१॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! इसी विषय में शान्त भाव को प्राप्त हुए विदेहराज जनक ने जो उद्गार प्रकट किया था, उस प्राचीन इतिहास का उदाहरण दिया जाता है।

अनन्तमिव मे वित्तं यस्य मे नास्ति किञ्चन।
मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किञ्चन ॥२॥

[जनक ने कहा था—] मेरे पास अनन्त-सा धन-वैभव है; फिर भी मेरा कुछ नहीं है। इस मिथिलापुरी में आग लग जाए तो भी मेरा कुछ नहीं जलता।

अत्रैवोदाहरन्तीमं बोध्यस्य पदसञ्चयम्।
निर्वेदं प्रति विन्यस्तं तं निबोध युधिष्ठिर ॥३॥

युधिष्ठिर! इसी प्रसङ्ग में वैराग्य को लक्ष्य करके मुनिवर बोध्यजी ने जो वचन कहे हैं, उन्हें बताता हूँ, तुम ध्यानपूर्वक सुनो!

बोध्यं शान्तमृषिं राजा नाहुषः पर्यपृच्छत।
निर्वेदाच्छान्तिमापन्नं शास्त्रप्रज्ञानतर्पितम् ॥४॥

कहते हैं, किसी समय नहुषनन्दन राजा ययाति ने वैराग्य से शान्तभाव को प्राप्त हुए शास्त्र के उत्कृष्ट ज्ञान से पूर्ण तृप्त, परम शान्त बोध्य ऋषि से पूछा—

उपदेशं महाप्राज्ञ शमस्योपदिशस्व मे।
कां बुद्धिं समनुध्याय शान्तश्चरसि निर्वृतः ॥५॥

"महाप्राज्ञ! आप मुझे ऐसा उपदेश कीजिए जिससे मुझे शान्ति मिले। कौन-सी ऐसी बुद्धि है जिसका आश्रय लेकर आप शान्ति और सन्तोषपूर्वक विचरते हैं?

बोध्य उवाच

उपदेशेन वर्तेऽहं नानुशास्मीह कञ्चन।
लक्षणं तस्य वक्ष्येऽहं तत्स्वयं परिमृश्यताम् ॥६॥

बोध्य ऋषि ने कहा—राजन्! मैं किसी को उपदेश नहीं देता, अपितु स्वयं दूसरों से प्राप्त हुए उपदेश के अनुसार आचरण करता हूँ। मैं अपने को मिले हुए उपदेश का लक्षण वता रहा हूँ [जिन गुरुओं से उपदेश मिला है, उनका संकेतमात्र कर रहा हूँ] उसपर तुम स्वयं विचार करो।

पिङ्गला कुररः सर्पः सारङ्गान्वेषणं वने।
इषुकारः कुमारी च षडेते गुरवो मम ॥७॥

पिङ्गला, कुरर पक्षी, सर्प, वन में सारङ्ग के

अन्वेषण, बाण बनानेवाला और कुमारी कन्या—ये छह मेरे गुरु हैं ।

भीष्म उवाच

आशा बलवती राजन् नैराश्यं परमं सुखम् ।
आशां निराशां कृत्वा तु सुखं स्वपिति पिङ्गला ॥८॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! [बोध्यऋषि को अपने गुरुओं से जो उपदेश प्राप्त हुआ था, उसे इस प्रकार समझना चाहिए—] आशा अति प्रबल है। वही सबको दुःख देती है । निराशा ही परम सुख है। आशा को निराशा के रूप में परिणत करके पिङ्गला वेश्या[1] सुख से सो गई । [आशा के त्याग का उपदेश देने के कारण पिङ्गला गुरु हुई ।]

सामिषं कुररं दृष्ट्वा बध्यमानं निरामिषैः ।
आमिषस्य परित्यागात् कुररः सुखमेधते ॥९॥

अपनी चोंच में मांस का टुकड़ा लिये उड़ते हुए कुरर [क्रौञ्च] पक्षी को देखकर दूसरे पक्षी जो मांस नहीं लिये हुए थे, उसे मारने लगे । तब उस कुरर ने उस मांस के टुकड़े को त्याग दिया, फलस्वरूप पक्षियों ने उसका पीछा करना छोड़ दिया । इस प्रकार आमिष के त्याग से क्रौञ्च पक्षी सुखी हो गया । [भोगों के परित्याग का उपदेश देने के कारण क्रौञ्च पक्षी गुरु हुआ ।]

गृहारम्भो हि दुःखाय न सुखाय कदाचन ।
सर्पः परकृतं वेश्म प्रविश्य सुखमेधते ॥१०॥

घर बनाने का झंझट करना दुःख का ही कारण है, उससे कभी सुख नहीं मिलता । देखो, साँप दूसरों के बनाये हुए घर [बिल] में प्रवेश करके सुख से रहता है, [अतः अनिकेत रहने—घर-द्वार बनाने के चक्कर में न पड़ने का उपदेश देने के कारण सर्प गुरु हुआ ।]

सुखं जीवन्ति मुनयो भैक्ष्यवृत्तिं समाश्रिताः ।
अद्रोहेणैव भूतानां सारङ्गा इव पक्षिणः ॥११॥

जिस प्रकार पपीहा पक्षी किसी भी प्राणी से वैर न करके याचनावृत्ति से अपना निर्वाह करते हैं, उसी प्रकार मुनिजन भिक्षावृत्ति का आश्रय लेकर सुख से जीवन-यापन करते हैं । [अद्रोह का उपदेश देने के कारण पपीहा गुरु हुआ ।]

इषुकारो नरः कश्चिदिषावासक्तमानसः ।
समीपेनापि गच्छन्तं राजानं नावबुद्धवान् ॥१२॥

एक बार एक बाण-निर्माता को देखा गया । वह अपने कार्य में ऐसा तल्लीन था कि उसके पास से निकली हुई राजा की सवारी का भी उसे कुछ पता नहीं लगा । [इषुकार के द्वारा एकाग्रचित्तता का उपदेश प्राप्त होने के कारण वह गुरु हो गया ।]

बहूनां कलहो नित्यं द्वयोः संकथनं ध्रुवम् ।
एकाकि विचरिष्यामि कुमारी शंखको यथा ॥१३॥

बहुत-से मनुष्य एकसाथ रहें तो उनमें प्रतिदिन कलह होता है और दो व्यक्ति साथ-साथ रहें तो भी उनमें बातचीत तो अवश्य ही होती है, अतः मैं कुमारी कन्या[2] की कलाई में धारण की हुई शंख की एक-एक चूड़ी के समान अकेला ही विचरण करूँगा ।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥४६॥

---

[1] पिङ्गला नाम की कोई वेश्या थी। वह अपने प्रेमी की प्रतीक्षा में रात-रातभर बैठी रहती । वह इस आशा में रहती कि वह अब आया और अब आया । इसी आशा में उसकी रात्रि व्यतीत हो जाती । प्रेमी के न आने पर वह अत्यन्त दुःख का अनुभव करती । जब अनेक बार उसके साथ ऐसा हुआ तो उसके मन में खेद उत्पन्न हुआ । वह सोचने लगी—'मैं जो कुछ करती हूँ वह अनुचित है । मुझे इस घृणित कार्य से विरत हो जाना चाहिए ।' उसकी यह भावना दृढ़ होती गई और उस आशा की जड़ उखड़ गई जिसके कारण उसकी सारी रात आँखों में कट जाती थी और भारी दुःख उठाती थी। आशारहित होकर अब वह रातभर आराम से सोती है ।

[2] किसी सद्गृहस्थ के घर कुछ अतिथि आ गये । घर के सभी सदस्य बाहर गये हुए थे । घर में एक कुमारी कन्या ही थी, अतः उन अतिथियों के भोजन आदि का भार उसी पर आ पड़ा। वह उनके निमित्त भोजन बनाने के लिए धान कूटने लगी। उसने अपने हाथों में शंख-निर्मित चूड़ियाँ पहनी हुई थीं । धान कूटते समय वे बज उठीं। इनके घर में कुटा हुआ धान नहीं है, अतिथियों को इस बात का पता न चल जाए, इसलिए एक-एक करके उसने सभी चूड़ियाँ निकाल दीं । दोनों हाथों में केवल एक-एक चूड़ी ही शेष रह गई, तब उनका बजना बन्द हो गया। इस प्रकार एकाकी रहने का उपदेश देने के कारण वह कुमारी गुरु हुई ।

सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

आत्महत्यादि पापकर्म से बचने के सम्बन्ध में काश्यप ब्राह्मण और इन्द्र का संवाद

युधिष्ठिर उवाच

बान्धवाः कर्म वित्तं वा प्रज्ञा वेह पितामह ।
नरस्य का प्रतिष्ठा स्यादेतत् पृष्टो हि मे वद ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! अब मेरे प्रश्न के अनुसार मुझे यह बताइए कि मनुष्य को बन्धुवर्ग, कर्म, धन अथवा बुद्धि, इनमें से किसका आश्रय लेना चाहिए ?

भीष्म उवाच

प्रज्ञा प्रतिष्ठा भूतानां प्रज्ञा लाभः परो मतः ।
प्रज्ञा निःश्रेयसी लोके प्रज्ञा स्वर्गो मतः सताम् ॥२॥

भीष्मजी बोले—राजन् ! प्राणियों का प्रमुख आश्रय बुद्धि है। बुद्धि ही उनका सबसे बड़ा लाभ है। संसार में बुद्धि ही उनका कल्याण करनेवाली है। श्रेष्ठ पुरुषों के मत में बुद्धि ही स्वर्ग है।

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
इन्द्रकाश्यपसंवादं तन्निबोध युधिष्ठिर ॥३॥

युधिष्ठिर ! इस विषय में इतिहासवेत्ता इन्द्र और काश्यप के संवादरूप प्राचीन इतिहास का उदाहरण दिया करते हैं, उसे सुनो !

वैश्यः कश्चिदृषिसुतं काश्यपं संशितव्रतम् ।
रथेन पातयामास श्रीमान् दृप्तस्तपस्विनम् ॥४॥

प्राचीनकाल में धन के मद में चूर किसी धनी वैश्य ने कठोर व्रत का पालन करनेवाले तपस्वी ऋषिकुमार काश्यप को अपने रथ से धक्का देकर नीचे गिरा दिया।

आर्तः स पतितः क्रुद्धस्त्यक्त्वाऽऽत्मानमथाब्रवीत् ।
मरिष्याम्यधनस्येह जीवितार्थो न विद्यते ॥५॥

वह पीड़ा से कराहकर गिर पड़ा और कुपित होकर आत्महत्या के लिए उद्यत हो इस प्रकार बोला—"अब मैं प्राण त्याग दूंगा, क्योंकि इस संसार में धनहीन मनुष्य का जीवन व्यर्थ है।"

तथा मुमूर्षुमासीनमकूजन्तमचेतसम् ।
इन्द्रः शृगालरूपेण बभाषे लुब्धमानसम् ॥६॥

उसे इस प्रकार मरने की इच्छा से बैठे हुए, मूर्च्छा से अचेत हो कुछ न बोलते तथा मन-ही-मन धन के लिए ललचाते देखकर इन्द्रदेव सियार का रूप धारण करके वहाँ आये और उससे इस प्रकार कहने लगे—

मनुष्ययोनिमिच्छन्ति सर्वभूतानि सर्वशः ।
मनुष्यत्वे च विप्रत्वं सर्व एवाभिनन्दति ॥७॥

"मुने ! सभी प्राणी सब उपायों से मनुष्ययोनि पाने की अभिलाषा रखते हैं। उसमें भी ब्राह्मणत्व की प्रशंसा तो सभी लोग करते हैं।

मनुष्यो ब्राह्मणश्चासि श्रोत्रियश्चासि काश्यप ।
सुदुर्लभमवाप्यैतन्न दोषान्मर्तुमर्हसि ॥८॥

"काश्यप ! आप तो मनुष्य हैं, ब्राह्मण हैं तथा श्रोत्रिय भी हैं। ऐसा परम दुर्लभ शरीर पाकर आपको उसमें दोषदृष्टि करके स्वयं ही मरने के लिए उद्यत होना किसी भी प्रकार उचित नहीं है।

अहो सिद्धार्थता तेषां येषां सन्तीह पाणयः ।
अतीव स्पृहये तेषां येषां सन्तीह पाणयः ॥९॥

"अहो ! जिनके पास प्रभु-प्रदत्त हाथ हैं, उन्हें मैं कृतार्थ मानता हूँ। इस लोक में जिनके पास ए से अधिक हाथ हैं, उनके जैसा सौभाग्य पाने इच्छा मुझे बारम्बार होती है।

पाणिमद्भ्यः स्पृहास्माकं यथा तव धनस्य वै ।
न पाणिलाभादधिको लाभः कश्चन विद्यते ॥१०

"जैसे आपके मन में धन-प्राप्ति की अभिला है, वैसे ही हम पशुओं को हाथवाले मनुष्यों से हा पाने की लालसा रहती है। हमारी दृष्टि में हा की प्राप्ति से अधिक दूसरा कोई लाभ नहीं है।

अपाणित्वाद् वयं ब्रह्मन् कण्टकान्नोद्धरामहे ।
जन्तूनुच्चावचानङ्गे दशतो न कषाम वा ॥११

"ब्रह्मन् ! हाथ न होने के कारण हम अ शरीर में गड़े हुए काँटों को भी नहीं निकाल पाते जो छोटे-बड़े जीव-जन्तु हमारे शरीर में डँसते उन्हें भी हम हटा नहीं पाते।

अथ येषां पुनः पाणी देवदत्तौ दशाङ्गुली ।
उद्धरन्ति कृमीनङ्गाद् दशतो निकषन्ति च ॥१२॥

"जिनके पास प्रभु-प्रदत्त दस अङ्गुलियों से युक्त दो हाथ हैं, वे अपने अङ्गों से उन कृमियों को हटाते या नष्ट कर देते हैं, जो उन्हें डँसते हैं ।

वर्षाहिमातपानां च परित्राणानि कुर्वते ।
चैलमन्नं सुखं शय्यां निवातं चोपभुञ्जते ॥१३॥

"हाथवाले मनुष्य वर्षा, सर्दी और धूप से अपनी रक्षा कर लेते हैं, वस्त्र पहनते हैं, सुखपूर्वक अन्न खाते हैं, शय्या बिछाकर सोते हैं और एकान्त स्थान का उपभोग करते हैं ।

ये खल्वजिह्वाः कृपणा अल्पप्राणा अपाणयः ।
सहन्ते तानि दुःखानि दिष्टया त्वं न तथा मुने ॥१४॥

"मुने ! जो दुःख बिना हाथवाले दीन, दुर्बल और बेजुबान प्राणी सहते हैं, सौभाग्यवश वे तो आपको नहीं सहने पड़ते ।

दिष्टया त्वं न शृगालो वै न कृमिर्न च मूषकः ।
न सर्पो न च मण्डूको न चान्यः पापयोनिजः ॥१५॥

"यह भी सौभाग्य की बात है कि आप गीदड़, कीट, चूहा, साँप, मेढक या अन्य किसी पापयोनि में उत्पन्न नहीं हुए ।

इमे मां कृमयोऽदन्ति येषामुद्धरणाय मे ।
नास्ति शक्तिरपाणित्वात् पश्यावस्थामिमां मम ॥१६॥

"मुझे ये कीड़े-मकोड़े खा रहे हैं, जिन्हें निकाल फेंकने की शक्ति मुझमें नहीं है । हाथ न होने के कारण मेरी दुर्दशा को आप प्रत्यक्ष देख लें ।

अकार्यमिति चैवेमं नात्मानं सन्त्यजाम्यहम् ।
नातः पापीयसीं योनिं पतेयमपरामिति ॥१७॥

'आत्महत्या करना पाप है'—ऐसा सोचकर ही मैं अपने शरीर का परित्याग नहीं करता हूँ । मुझे भय है कि आत्महत्या करके मैं इससे भी बढ़कर अन्य किसी पापयोनि में न गिर जाऊँ ।

जात्यैवैके सुखितराः सन्त्यन्ये भृशदुःखिताः ।
नैकान्तं सुखमेवेह क्वचित्पश्यामि कस्यचित् ॥१८॥

"कुछ प्राणी जन्म से ही सुखी होते हैं, कुछ जन्म से ही अत्यन्त दुःखी होते हैं, परन्तु मैं कहीं किसी को ऐसा नहीं देखता जिसको सर्वथा सुख ही सुख हो ।

मनुष्या ह्याढ्यतां प्राप्य राज्यमिच्छन्त्यनन्तरम् ।
राज्याद् देवत्वमिच्छन्ति देवत्वादिन्द्रतामपि ॥१९॥

"मनुष्य धनी हो जाने पर राज्य पाना चाहते हैं, राज्य पाकर फिर देवत्व की इच्छा करते हैं और देवत्व से फिर इन्द्र का पद पाना चाहते हैं ।

भवेस्त्वं यद्यपि त्वाढ्यो न राजा न च दैवतम् ।
देवत्वं प्राप्य चेन्द्रत्वं नैव तुष्येस्तथा सति ॥२०॥

"यदि आप धनी हो जाएँ तो भी ब्राह्मण होने के कारण राजा नहीं हो सकते और कदाचित् राजा हो जाएँ तो देवता नहीं हो सकते । देवता और इन्द्र का पद भी पा जाएँ तो भी आप उससे सन्तुष्ट नहीं हो सकेंगे ।

न तृप्तिः प्रियलाभेऽस्ति तृष्णा नाद्भिः प्रशाम्यति ।
सम्प्रज्वलति सा भूयः समिद्भिरिव पावकः ॥२१

"प्रिय वस्तुओं की प्राप्ति होने से कभी तृप्ति नहीं होती । बढ़ी हुई तृष्णा जल से नहीं बुझती, ईंधन पाकर जलनेवाली अग्नि के समान वह और भी भड़क उठती है ।

वधबन्धपरिक्लेशैः क्लिश्यन्ते च पुनः पुनः ।
ते खल्वपि रमन्ते च मोदन्ते च हसन्ति च ॥२२॥

"कितने ही मनुष्य बारम्बार वध [आघात] और बन्धन के क्लेश भोगते रहते हैं, परन्तु वे भी [आत्महत्या नहीं करते अपितु] परस्पर क्रीड़ा करते, आनन्दित होते और हँसते हैं ।

न पुल्कसो न चाण्डाल आत्मानं त्यक्तुमिच्छति ।
तया तुष्टः स्वया योन्या मायां पश्येह यादृशीम् ॥२३॥

"भङ्गी अथवा चाण्डाल भी अपने शरीर को त्यागना नहीं चाहता, वह अपनी उसी योनि से सन्तुष्ट रहता है । देखिए, प्रभु की कैसी विचित्र लीला है ।

दृष्ट्वा कुणीन् पक्षहतान् मनुष्यानामयाविनः ।
सुसम्पूर्णः स्वया योन्या लब्धलाभोऽसि काश्यप ॥२४॥

"काश्यप ! कुछ मनुष्य लूले और लंगड़े हैं, कुछ को लकवा मार गया है, वहुत-से मनुष्य निरन्तर रोगी ही रहते हैं, उन सबकी ओर देखकर यह कहना पड़ता है कि आप अपनी योनि के अनुसार नीरोग

1779

और पूर्ण अङ्गवाले हैं। आपको मानव-शरीर का लाभ प्राप्त हो चुका है।

यदि ब्राह्मण देहस्ते निरातङ्को निरामयः।
अङ्गानि च समग्राणि न च लोकेषु धिक्कृतः ॥२५॥

"ब्राह्मणदेव! यदि आपका शरीर व्याधि-भय से रहित और नीरोग है, आपके सभी अङ्ग ठीक हैं, किसी अङ्ग में कोई विकार नहीं है, तो संसार में आप धिक्कार के पात्र नहीं हो सकते।

न केनचित् प्रवादेन सत्येनैवापहारिणा।
धर्मायोत्तिष्ठ विप्रर्षे नात्मानं त्यक्तुमर्हसि ॥२६॥

"यदि आपपर जातिच्युत करनेवाला कोई सच्चा कलंक लगा हो तो भी आपको प्राणों का त्याग [आत्महत्या] करना उचित नहीं है। ब्राह्मणदेव! आप धर्मपालन के लिए उठ खड़े होइए।

यदि ब्रह्मन् शृणोष्येतच्छ्रद्दधासि च मे वचः।
वेदोक्तस्यैव धर्मस्य फलं मुख्यमवाप्स्यसि ॥२७॥

"ब्रह्मन्! यदि आप मेरे वचनों को सुनेंगे और उनपर श्रद्धा करेंगे तो आपको वेदोक्त धर्म के पालन का ही प्रधान फल प्राप्त होगा।

स्वाध्यायमग्निसंस्कारमप्रमत्तोऽनुपालय ।□
सत्यं दमं च दानं च स्पर्धिष्ठा मा च केनचित् ॥२८॥

"आप सावधान होकर स्वाध्याय, अग्निहोत्र, सत्य, मनोनिग्रह और दानधर्म का पालन करो और किसी के साथ स्पर्धा मत करो।

पण्डितोऽहं पुरा चासं हैतुको वेदनिन्दकः।
आन्वीक्षिकीं तर्कविद्यामनुरक्तो निरर्थिकाम् ॥२९॥

"पूर्वजन्म में मैं पण्डित था और कुतर्क का आश्रय लेकर वेदों की निन्दा करता था। प्रत्यक्ष के आधार पर अनुमान को प्रमुखता देनेवाली थोथी तर्कविद्या पर ही उस समय मेरा अत्यधिक अनुराग था।

नास्तिकः सर्वशङ्की च मूर्खः पण्डितमानिकः।
तस्येयं फलनिर्वृत्तिः शृगालत्वं मम द्विज ॥३०॥

"मैं नास्तिक, सबपर सन्देह करनेवाला और मूर्ख होकर भी अपने-आपको पण्डित मानता था। हे द्विज! यह सियार की योनि मेरे उसी कुकर्म का फल है।

अपि जातु तथा तस्मादहोरात्रशतैरपि।
यदहं मानुषीं योनिं शृगालः प्राप्नुयां पुनः ॥३१॥

"अब मैं सैकड़ों दिन और रात साधन करके भी क्या कभी वह उपाय कर सकता हूँ जिससे आज गीदड़ की योनि में पड़ा हुआ मैं पुनः मनुष्ययोनि पा सकूँ?

सन्तुष्टश्चाप्रमत्तश्च यज्ञदानतपोरतिः।
ज्ञेयज्ञाता भवेयं वै वर्ज्यवर्जयिता तथा ॥३२॥

"जिस मनुष्ययोनि में सन्तुष्ट और सावधान रहकर यज्ञ, दान और तप-अनुष्ठान में लगा रह सकूँ, जिसमें मैं जानने योग्य वस्तु को जान लूँ और त्यागने योग्य वस्तु का परित्याग कर दूँ।"

ततस्तं मुनिरुत्थायावैक्षत ज्ञानचक्षुषा।
अनुज्ञातस्तु तेनाथ प्रविवेश स्वमालयम् ॥३३॥

यह सब सुनकर काश्यप मुनि ने उसकी ओर ज्ञानदृष्टि से देखा। [उन्हें इन्द्र जानकर] उनकी आज्ञा ले वे [आत्महत्या का विचार त्यागकर] पुनः अपने घर को लौट आये।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥४७॥

अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

शुभाशुभ कर्मों के फलभोग का प्रतिपादन

युधिष्ठिर उवाच

यद्यस्ति दत्तमिष्टं वा तपस्तप्तं तथैव च।
गुरूणां वापि शुश्रूषा तन्मे ब्रूहि पितामह ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह! यदि दान, यज्ञ, तप और गुरुओं की सेवा पुण्यकर्म है और उसका कुछ फल होता है, तो वह मुझे बताइए।

भीष्म उवाच

आत्मनानर्थयुक्तेन पापे निविशते मनः।
स्वकर्मकलुषं कृत्वा कृच्छ्रे लोके विधीयते ॥२॥

भीष्मजी बोले—राजन्! काम, क्रोधादि दोषों से युक्त बुद्धि की प्रेरणा से मन पापकर्म में प्रवृत्त होता है। इस प्रकार मनुष्य अपने ही कर्मों द्वारा पा

करके दुःखमय लोक [नीच योनियों] में गिराया जाता है।

दुर्भिक्षादेव दुर्भिक्षं क्लेशात् क्लेशं भयाद् भयम्।
मृतेभ्यः प्रमृतं यान्ति दरिद्राः पापकारिणः ॥३॥

पापाचारी दरिद्र मनुष्य दुर्भिक्ष से दुर्भिक्षग्रस्त, दुःख से दुःखी तथा भय से भयभीत होते हुए मरे हुओं से भी अधिक मृततुल्य हो जाते हैं।

उत्सवादुत्सवं यान्ति स्वर्गात्स्वर्गं सुखात्सुखम्।
श्रद्दधानाश्च दान्ताश्च धनाढ्याः शुभकारिणः ॥४॥

जो सदाचारी, जितेन्द्रिय, धनसम्पन्न और शुभकर्मकारी होते हैं, वे उत्सव से अधिक उत्सव को, स्वर्ग से अधिक स्वर्ग को और सुख से अधिक सुख को प्राप्त करते हैं।

पुलाका इव धान्येषु पुत्तिका इव पक्षिषु।
तद्विधास्ते मनुष्याणां येषां धर्मो न कारणम् ॥५॥

जिनका उद्देश्य धर्म नहीं है, ऐसे मनुष्य मानवसमाज में वैसे ही समझे जाते हैं जैसे धान्यों [अन्नों] में थोथा अन्न और पंखोंवाले जीवों में मच्छर या पतंगे।

सुशीघ्रमपि धावन्तं विधानमनुधावति।
शेते सह शयानेन येन येन यथा कृतम् ॥६॥
उपतिष्ठति तिष्ठन्तं गच्छन्तमनुगच्छति।
करोति कुर्वतः कर्म च्छायेवानुविधीयते ॥७॥

जिस-जिस मनुष्य ने जैसा कर्म किया होता है, वह उसके पीछे लगा रहता है। यदि कर्मकर्ता शीघ्रतापूर्वक दौड़ता है तो वह भी उतनी ही तेजी के साथ उसके पीछे दौड़ता है। जब वह सो जाता है तो उसका कर्मफल भी उसके साथ सो जाता है। जब वह खड़ा होता है तो वह भी पास ही खड़ा रहता है और जब मनुष्य चलता है तो वह भी उसके पीछे-पीछे चलने लगता है। इतना ही नहीं, कोई कार्य करते समय भी कर्म-संस्कार उसका साथ नहीं छोड़ता, सदा छाया के समान पीछे लगा रहता है।

येन येन यथा यद्यत् पुरा कर्म समीहितम्।
तत्तदेकतरो भुङ्क्ते नित्यं विहितमात्मना ॥८॥

जिस-जिस मनुष्य ने अपने-अपने पूर्वजन्म में जैसे-जैसे कर्म किये हैं, वह अपने किये हुए उन कर्मों का फल अकेला ही भोगता है।

स्वकर्मफलनिक्षेपं विधानपरिरक्षितम्।
भूतग्राममिमं कालः समन्तात् परिकर्षति ॥९॥

अपने-अपने कर्म का फल एक धरोहर के समान है, जो कर्मजनित अदृष्ट के द्वारा सुरक्षित रहता है। उपयुक्त अवसर आने पर काल [समय] इस कर्मफल को प्राणिवर्ग के पास खींच लाता है।

अप्रेर्यमाणानि यथा पुष्पाणि च फलानि च।
स्वकालं नाति वर्तन्ते तथा कर्म पुराकृतम् ॥१०॥

जैसे फूल और फल किसी की प्रेरणा के बिना ही अपने समय पर वृक्षों में लग जाते हैं, उसी प्रकार पहले किये कर्म भी अपने फलभोग के समय का उल्लंघन नहीं करते।

सम्मानश्चावमानश्च लाभालाभौ क्षयोदयौ।
प्रवृत्ता विनिवर्तन्ते विधानान्ते पुनः पुनः ॥११॥

सम्मान और अपमान, लाभ और हानि तथा उन्नति एवं अवनति—ये पूर्वजन्म के कर्मों के अनुसार बार-बार प्राप्त होते हैं और प्रारब्धभोग के पश्चात् निवृत्त हो जाते हैं।

आत्मना विहितं दुःखमात्मना विहितं सुखम्।
गर्भशय्यामुपादाय भुज्यते पौर्वदेहिकम् ॥१२॥

दुःख अपने ही किये हुए कर्मों का फल है और सुख भी अपने ही पहले किये हुए कर्मों का परिणाम है। जीव माता की गर्भशय्या में आते ही पूर्वशरीर द्वारा उपार्जित सुख-दुःख का उपभोग करने लगता है।

बालो युवा च वृद्धश्च यत्करोति शुभाशुभम्।
तस्यां तस्यामवस्थायां तत्फलं प्रतिपद्यते ॥१३॥

कोई बालक हो, युवक हो या वृद्ध हो, वह जो भी शुभ या अशुभ कर्म करता है, दूसरे जन्म में उसी-उसी अवस्था में उस-उस कर्म का फल उसे प्राप्त होता है।

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
तथा पूर्वकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति ॥१४॥

जैसे बछड़ा सहस्रों गौओं में से अपनी माँ को पहचानकर उसे पा लेता है, वैसे ही पहले का किया हुआ कर्म भी अपने कर्ता के पास पहुँच जाता है।

अलमन्यैरुपालम्भैः कीर्तितैश्च व्यतिक्रमैः । □
पेशलं चानुरूपं च कर्तव्यं हितमात्मनः ॥१५॥

दूसरों को उपालम्भ [उलाहना] देना बन्द करो। लोगों के अन्यान्य अपराधों की चर्चा करने का कोई प्रयोजन नहीं है। जो कार्य उत्तम, अनुकूल और अपने लिए हितकर जान पड़े वही कर्म करना चाहिए।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः ॥४८॥

एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

आश्रम धर्मों और शिष्टाचार का फलसहित वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

दानस्य किं फलं प्राहुर्धर्मस्य चरितस्य च ।
तपसश्च सुतप्तस्य स्वाध्यायस्य हुतस्य वा ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! आचरण में लाये हुए दानरूप धर्म का, भली-भाँति की हुई तपस्या का तथा स्वाध्याय और अग्निहोत्र का क्या फल बताया गया है ?

भीष्म उवाच

हुतेन शाम्यते पापं स्वाध्यायैः शान्तिरुत्तमा ।
दानेन भोगानित्याहुस्तपसा स्वर्गमाप्नुयात् ॥२॥

भीष्मजी बोले—युधिष्ठिर ! अग्निहोत्र[1] से पाप का निवारण किया जाता है, स्वाध्याय से उत्तम शान्ति मिलती है, दान से भोगों की प्राप्ति बताई गई है और तपस्या से मनुष्य स्वर्गलोक प्राप्त कर लेता है।

युधिष्ठिर उवाच

किं कस्य धर्माचरणं किं वा धर्मस्य लक्षणम् ।
धर्मः कतिविधो वापि तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥३॥

युधिष्ठिर ने पूछा—राजन् ! किसका धर्माचरण कैसा होता है अथवा धर्म का लक्षण क्या है ? अथवा धर्म के कितने भेद हैं, यह सब आप मुझे बताने की कृपा करें।

भीष्म उवाच

स्वधर्माचरणे युक्ता ये भवन्ति मनीषिणः ।
तेषां स्वर्गफलावाप्तिर्योऽन्यथा स विमुह्यते ॥४॥

भीष्मजी बोले—युधिष्ठिर ! जो मनीषी लोग अपने वर्णाश्रमोचित धर्म के आचरण में सावधानी के साथ लगे रहते हैं, उन्हें स्वर्गरूपी फल की प्राप्ति होती है। जो इसके विपरीत अधर्म का आचरण करता है, वह मोह के फंदे में फँस जाता है।[2]

---

१. महर्षि मनु ने लिखा है—

पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः ।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन् ॥
—मनु० ३।६८

गृहस्थियों के लिए चूल्हा, चक्की, झाड़ू, ओखली और पानी का घड़ा रखने का स्थान—ये पाँच पाप के स्थान हैं। इन्हें प्रयोग में लाता हुआ गहस्थ हिंसा के पाप से बँध जाता है।

तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः ।
पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥
—मनु० ३।६९

उन सब हिंसा-दोषों की निवृत्ति के लिए महर्षियों ने पञ्च महायज्ञ करने का विधान गृहस्थाश्रमियों के लिए बताया है।

इस विषय में महर्षि दयानन्द के विचार भी पठनीय हैं—

प्रश्न—क्या इस होम करने के बिना पाप होता है ?

उत्तर—हाँ, क्योंकि जिस मनुष्य के शरीर से जितना दुर्गन्ध पैदा होके वायु और जल को बिगाड़कर रोगोत्पत्ति का निमित्त होने से प्राणियों को दुःख प्राप्त होता है, उतना ही पाप उस मनुष्य को होता है। इसलिए उस पाप के निवारणार्थ उतना सुगन्ध वा उससे अधिक वायु और जल में फैलाना चाहिए।

—सत्यार्थ प्रकाश, तीसरा समुल्लास

२. इस श्लोक में पूर्वोक्त तीनों प्रश्नों के उत्तर एक-साथ दे दिये हैं। जो जिसका वर्ण या आश्रम है, उसका धर्माचरण भी वैसा ही है। धर्म का लक्षण है—स्वर्ग की प्राप्ति करानेवाला वर्णाश्रमोचित आचार। वर्ण और आश्रम के जितने भेद हैं उतने ही भेद उनके धर्म के भी हैं।

अवज्ञानमहंकारो दम्भश्चैव विगर्हितः ।□
अहिंसा सत्यमक्रोधः सर्वाश्रमगतं तपः ॥५॥

किसी का अनादर करना, अहंकार-प्रदर्शन और दम्भ करना—इन दुर्गुणों की विशेष निन्दा की गई है । किसी भी प्राणी की हिंसा न करना, सत्य बोलना और मन में क्रोध न आने देना—यह सभी आश्रमवासियों के लिए उपयोगी तप है ।

वात्सल्यात्सर्वभूतेभ्यो वाच्यः श्रोत्रसुखा गिरः ।
परितापोपघातश्च पारुष्यं चात्र गर्हितम् ॥६॥

वाणी ऐसी बोलनी चाहिए, जिसमें सब प्राणियों के प्रति स्नेह भरा हो और जो सुनते समय कानों को सुखद जान पड़े । दूसरों को पीड़ा देना, मारना और कटुवचन सुनाना—ये सब निन्दित कार्य हैं ।

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रतिनिवर्तते ।
स दत्त्वा दुष्कृतं तस्मै पुण्यमादाय गच्छति ॥७॥

जिस गृहस्थ के द्वार से कोई अतिथि भिक्षा न पाने के कारण निराश होकर लौट जाता है, वह उस गृहस्थ को अपना पाप दे उसका पुण्य लेकर चला जाता है ।

अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा यश्चरते मुनिः ।
न तस्य सर्वभूतेभ्यो भयमुत्पद्यते क्वचित् ॥८॥

जो मुनि सब प्राणियों को अभयदान देकर विचरता है, उसे सम्पूर्ण प्राणियों में किसी से कहीं भय प्राप्त नहीं होता ।

युधिष्ठिर उवाच

आचारस्य विधिं तात प्रोच्यमानं त्वयानघ ।
श्रोतुमिच्छामि धर्मज्ञ सर्वज्ञो ह्यपि मे मतः ॥९॥

युधिष्ठिर ने पूछा—धर्मज्ञ पितामह ! अब मैं आपके मुख से सदाचार की विधि सुनना चाहता हूँ, क्योंकि आप सर्वज्ञ [धर्म, अर्थ और काम के रहस्यों को जाननेवाले] हैं ।

भीष्म उवाच

दुराचारा दुर्विचेष्टा दुष्प्रज्ञाः प्रियसाहसाः ।
असन्तस्त्विति विख्याताः सन्तश्चाचारलक्षणाः ॥१०॥

भीष्मजी बोले—राजन् ! जो दुराचारी, बुरी चेष्टावाले और दुर्बुद्धि हैं तथा दुःसाहस को प्रिय माननेवाले हैं वे, 'दुष्टात्मा' नाम से विख्यात होते हैं; श्रेष्ठ पुरुष वे हैं जिनमें सदाचार दृष्टिगोचर हो—सदाचार ही उनका लक्षण है ।

पुरीषं यदि वा मूत्रं ये न कुर्वन्ति मानवाः ।
राजमार्गे गवां मध्ये धान्यमध्ये च ते शुभाः ॥११॥

जो मनुष्य राजमार्गों [सड़कों], गौओं के मध्य में और अन्न में मल-मूत्र का त्याग नहीं करते, वे श्रेष्ठ पुरुष समझे जाते हैं ।

सूर्यं सदोपतिष्ठेत न च सूर्योदये स्वपेत् ।
सायं प्रातर्जपन्सन्ध्यां तिष्ठेत्पूर्वां तथेतराम् ॥१२॥

प्रतिदिन सूर्य का उपस्थान करे । सूर्योदय के समय कभी न सोये । सायं और प्रातः दोनों समय सन्ध्योपासना करके गायत्री मन्त्र का जप करे ।

पञ्चार्द्रो भोजनं भुञ्ज्यात्प्राङ्मुखो मौनमास्थितः ।
न निन्द्यादन्नभक्ष्यांश्च स्वाद्वस्वादु च भक्षयेत् ॥१३॥

दोनों हाथ, दोनों पैर और मुख—इन पाँच अङ्गों को धोकर[१] पूर्व की ओर को मुख करके भोजन करे । भोजन करते समय मौन रहे । परोसे हुए अन्न की निन्दा न करे ।

आर्द्रपाणिः समुत्तिष्ठेन्नार्द्रपादः स्वपेन्निशि ।
देवर्षिर्नारदः प्राह एतदाचारलक्षणम् ॥१४॥

भोजन के पश्चात् हाथ धोकर उठे । रात्रि में गीले पैरों से न सोये । देवर्षि नारद इसी को सदाचार का लक्षण कहते हैं ।

अतिथीनां च सर्वेषां प्रेष्याणां स्वजनस्य च ।
सामान्यं भोजनं भृत्यैः पुरुषस्य प्रशस्यते ॥१५॥

गृहस्थ पुरुष को घर में अतिथियों, सेवकों और स्वजनों के लिए भी एक-जैसा भोजन बनवाना श्रेष्ठ माना गया है ।

सायं प्रातर्मनुष्याणामशनं देवनिर्मितम् ।
नान्तरा भोजनं दृष्टमुपवासी तथा भवेत् ॥१६॥

प्रातः और सायं, दो समय भोजन करना ही देवनिर्दिष्ट है । बीच में भोजन करने का विधान नहीं है । इस नियम के पालन करनेवाले को उपवास का फल प्राप्त होता है ।

---

[१] भोजन से तुरन्त पूर्व हाथ, पैर और मुँह धो लेने चाहिएँ ।

होमकाले तथा जुह्वनृतुकाले तथा व्रजन् ।
अनन्यस्त्रीजनः प्राज्ञो ब्रह्मचारी तथा भवेत् ॥१७॥

जो यज्ञ करने के समय प्रतिदिन हवन करता है, ऋतुकाल में ही स्त्री-सहवास करता है और परस्त्री पर कभी दृष्टि नहीं डालता, वह बुद्धिमान् मनुष्य ब्रह्मचारी के समान माना जाता है ।

लोष्ठमर्दी तृणच्छेदी नखखादी तु यो नरः ।
नित्योच्छिष्टः शंकुशुको नेहायुर्विन्दते महत् ॥१८॥

जो मनुष्य मिट्टी के ढेले फोड़ता, तिनके तोड़ता, नख चबाता, सदा जूठे हाथ और जूठे मुँह रहता है तथा खूँटी में बँधे हुए तोते के समान पराधीन जीवन बिताता है, उसे इस संसार में दीर्घायुष्य की प्राप्ति नहीं होती ।

गुरुभ्य आसनं देयं कर्तव्यं चाभिवादनम् ।
गुरूनभ्यर्च्य युज्यन्ते आयुषा यशसा श्रिया ॥१९॥

गुरुजनों के पधारने पर उन्हें बैठने के लिए आसन देना चाहिए तथा चरणस्पर्श-पूर्वक प्रणाम करना चाहिए । गुरुजनों का आदर-सत्कार करने से मनुष्य आयु, यश और धन से सम्पन होते हैं ।

तीर्थानां हृदयं तीर्थं शुचीनां हृदयं शुचिः ।
सर्वमार्यकृतं चौक्ष्यं वालसंस्पर्शनानि च ॥२०॥

तीर्थों में श्रेष्ठ तीर्थ निर्मल हृदय है, पवित्र वस्तुओं में अति पवित्र भी विशुद्ध हृदय ही है । शिष्टों द्वारा व्यवहार में लाया गया आचरण सर्वश्रेष्ठ है । चँवर आदि में लगे हुए गौ की पूँछ के बालों का स्पर्श भी शिष्टाचार-अनुमोदित होने के कारण शुद्ध है ।

प्रत्यादित्यं न मेहेत न पश्येदात्मनः शकृत् ।
सह स्त्रियाथ शयनं सहभोज्यं च वर्जयेत् ॥२१॥

सूर्य की ओर मुँह करके लघुशंका [पेशाब] न करे । अपनी विष्ठा पर दृष्टि न डाले । स्त्री के साथ एक शय्या पर सोना और एक थाली में भोजन करना छोड़ दे ।

त्वंकारं नामधेयं च ज्येष्ठानां परिवर्जयेत् ।
अवराणां समानानामुभयेषां न दुष्यति ॥२२॥

अपने से बड़ों का नाम लेकर अथवा 'तू' कहकर न पुकारे । जो अपने से छोटे या बराबरवाले हों, उनके लिए वैसा करना दोष की बात नहीं है ।

हृदयं पापवृत्तानां पापमाख्याति वैकृतम् ।
ज्ञानपूर्वं विनश्यन्ति गूहमाना महाजने ॥२३॥

पापियों का हृदय तथा उनके नेत्र और मुखादि का विचार ही उनके पापों को बता देता है । जो लोग जानबूझकर किये हुए पाप को महापुरुषों से छिपाते हैं, वे गिर जाते हैं ।

पापेनापिहितं पापं पापमेवानुवर्तते ।
धर्मेणापिहितो धर्मो धर्ममेवानुवर्तते ॥२४॥

पापी मनुष्य का पाप के द्वारा छिपाया हुआ पाप उसे पुनः पाप में ही लगाता है तथा धर्मात्मा का धर्म द्वारा गुप्त रखा हुआ धर्म उसे पुनः धर्म में ही प्रवृत्त करता है ।

मानसं सर्वभूतानां धर्ममाहुर्मनीषिणः ।
तस्मात् सर्वेषु भूतेषु मनसा शिवमाचरेत् ॥२५॥

मनीषी लोगों का कथन है कि सभी प्राणियों के लिए मन द्वारा किया हुआ धर्म ही श्रेष्ठ है, अतः मनुष्य को चाहिए कि वह मन से सम्पूर्ण जीवों का कल्याण सोचता रहे ।

धर्मो योनिर्मनुष्याणां देवानाममृतं दिवि ।
प्रेत्यभावे सुखं धर्माच्छश्वत्तैरुपभुज्यते ॥२६॥

धर्म ही मनुष्य की योनि है । वही स्वर्ग में देवताओं का अमृत है । धर्मात्मा मनुष्य मरने के पश्चात् धर्म के ही बल से सदा सुख भोगते हैं ।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥४९॥

पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

धर्माधर्म के स्वरूप का निर्णय, जाजलि मुनि का उपाख्यान

युधिष्ठिर उवाच

इमे वै मानवाः सर्वे धर्मं प्रति विशङ्किताः ।
कोऽयं धर्मः कुतो धर्मस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! संसार के सभी मनुष्य प्रायः धर्म के विषय में शंकित हैं, अतः मैं जानना चाहता हूँ कि धर्म क्या है ? उसकी उत्पत्ति कहाँ से हुई है ? यह मुझे बताइए ।

धर्मस्त्वयमिहार्थः किममुत्रार्थोऽपि वा भवेत् ।
उभयार्थो हि वा धर्मस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥२॥

पितामह ! इस लोक में सुख पाने के लिए जो कर्म किया जाता है, वही धर्म है अथवा पारलौकिक कल्याण के लिए जो कुछ किया है, उसे धर्म कहते हैं ? अथवा दोनों लोकों के सुधार के लिए किया जानेवाला कर्म ही धर्म कहलाता है ? यह मुझे बताइए ।

भीष्म उवाच

सदाचारः स्मृतिर्वेदास्त्रिविधं धर्मलक्षणम् ।
चतुर्थमर्थमित्याहुः कवयो धर्मलक्षणम् ॥३॥

भीष्मजी ने कहा—युधिष्ठिर ! वेद, स्मृति और सदाचार—ये तीन धर्म के स्वरूप को लक्षित करानेवाले हैं । कुछ विचारक अर्थ को भी धर्म का चौथा लक्षण बताते हैं ।

उभयत्र सुखोदर्क इह चैव परत्र च ।
अलब्ध्वा निपुणं धर्मं पापः पापेन युज्यते ॥४॥

धर्म का पालन करने से लोक और परलोक में सुख मिलता है । पापी मनुष्य विचारपूर्वक धर्म का आश्रय न लेने से पाप में प्रवृत्त हो उसके दुःखरूप फल का भागी होता है ।

सत्यस्य वचनं साधु न सत्याद्विद्यते परम् ।
सत्येन विधृतं सर्वं सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥५॥

सत्य बोलना उत्तम कर्म है । सत्य से बढ़कर दूसरा कोई कार्य नहीं है । सत्य ने ही सबको धारण कर रखा है और सत्य में ही सब-कुछ प्रतिष्ठित है ।

अपि पापकृतो रौद्राः सत्यं कृत्वा पृथक् पृथक् ।
अद्रोहमविसंवादं प्रवर्तन्ते तदाश्रयाः ॥६॥

क्रूर स्वभाववाले पापी भी पृथक्-पृथक् सत्य की सौगन्ध खाकर ही आपस में वैरभाव से बचे रहते हैं । इतना ही नहीं, प्रत्युत वे सत्य का आश्रय लेकर ही अपने-अपने कार्यों में संलग्न होते हैं ।

मन्यन्ते बलवन्तस्तं दुर्बलैः सम्प्रवर्तितम् ।
यदा नियतिदौर्बल्यमथैषामेव रोचते ॥७॥

कुछ बलवान् लोग धर्म को दुर्बलों का चलाया हुआ मानते हैं, किन्तु जब भाग्यवश वे भी दुर्बल हो जाते हैं, तब अपनी रक्षा के लिए उन्हें भी धर्म का ही आश्रय लेना अच्छा जान पड़ता है ।

असाधुभ्योऽस्य न भयं न चौरेभ्यो न राजतः ।
अकिंचित्कस्यचित्कुर्वन्निर्भयः शुचिरावसेत् ॥८॥

जो किसी का कुछ बिगाड़ता नहीं है उसे दुष्टों, चोरों अथवा राजा से भय नहीं होता । शुद्ध आचार और विचारवाला मनुष्य सदा निर्भय रहता है ।

सर्वतः शङ्कते स्तेनो मृगो ग्राममिवेयिवान् ।
बहुधाऽऽचरितं पापमन्यत्रैवानुपश्यति ॥९॥

ग्राम में आये हुए हिरण की भाँति चोर सबसे शंकित रहता है । वह अनेकों बार दूसरों के साथ जैसा पापपूर्ण व्यवहार कर चुका है, दूसरों को भी वह वैसा ही पापाचारी समझता है ।

मुदितः शुचिरभ्येति सर्वतो निर्भयः सदा ।
न हि दुश्चरितं किञ्चिदात्मनोऽन्येषु पश्यति ॥१०॥

जिसका आचार शुद्ध है, उसे कहीं से कोई भय नहीं होता । वह सदा प्रसन्न और सब ओर से निर्भय बना रहता है और वह अपना कोई दुष्कर्म दूसरों में नहीं देखता है ।

यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पूरुषः ।
न तत्परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः ॥११॥

मनुष्य दूसरों द्वारा किये हुए जिस व्यवहार को अपने लिए उचित नहीं समझता, दूसरों के प्रति भी वह वैसा व्यवहार न करे । उसे यह जानना चाहिए कि जो बर्ताव अपने लिए अप्रिय है, वह दूसरों के लिए भी प्रिय नहीं हो सकता ।

जीवितुं यः स्वयं चेच्छेत्कथं सोऽन्यं प्रघातयेत् ।
यद्यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिन्तयेत् ॥१२॥

जो मनुष्य स्वयं जीवित रहना चाहता हो, वह दूसरों के प्राण कैसे ले सकता है? मनुष्य अपने लिए जो-जो सुख-सुविधा चाहे, वही दूसरे के लिए भी सुलभ कराने की बात सोचे ।

सर्वं प्रियाभ्युपगतं धर्ममाहुर्मनीषिणः ।
पश्यैतं लक्षणोद्देशं धर्माधर्मे युधिष्ठिर ॥१३॥

हे युधिष्ठिर ! सबके साथ प्रेमपूर्वक व्यवहार करने से जो कुछ प्राप्त होता है, वह सब धर्म है, ऐसा विचारशील लोगों का कथन है और जो इसके विपरीत है वह अधर्म है। तुम धर्म और अधर्म का संक्षेप से यही लक्षण समझो ।

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
तुलाधारस्य वाक्यानि धर्मे जाजलिना सह ॥१४॥

राजन् ! धर्म के विषय में जाजलि के साथ तुलाधार वैश्य का जो वार्तालाप हुआ था, उसी प्राचीन इतिहास का विद्वान् लोग उदाहरण दिया करते हैं ।

वने वनचरः कश्चिज्जाजलिर्नाम वै द्विजः ।
सागरोद्देशमागम्य तपस्तेपे महातपाः ॥१५॥

प्राचीनकाल में जाजलि नाम से विख्यात एक ब्राह्मण था। वह वन में ही रहता और वन में ही विचरता था। उस महातपस्वी जाजलि ने समुद्र-तट पर जाकर महान् तप किया ।

स कदाचिन्निराहारो वायुभक्षो महातपाः ।
तस्थौ काष्ठवदव्यग्रो न चचाल च कर्हिचित् ॥१६॥

एक समय की बात है, वे महातपस्वी जाजलि निराहार रहकर वायुभक्षण करते हुए ठूंठ की भाँति खड़े हो गये। उस समय उनके मन में तनिक भी व्यग्रता नहीं थी और वे क्षणभर के लिए कभी विचलित नहीं होते थे ।

तस्य स्म स्थाणुभूतस्य निर्विचेष्टस्य भारत ।
कुलिङ्गशकुनौ राजन् नीडं शिरसि चक्रतुः ॥१७॥

भरतनन्दन ! चेष्टाशून्य होने के कारण वे ठूंठ-से जान पड़ते थे। राजन् ! उस समय उनके सिर पर गौरैया पक्षी के एक जोड़े ने अपने रहने के लिए एक घोंसला बना लिया ।

अतीतास्वथ वर्षासु शरत्काल उपस्थिते ।
प्राजापत्येन विधिना विश्वासात्काममोहितौ ॥१८॥
तत्रापातयतां राजन् शिरस्यण्डानि खेचरौ ।
तान्यबुध्यत तेजस्वी स विप्रः संशितव्रतः ॥१९॥

हे राजन् ! शनैः-शनैः वर्षा-ऋतु व्यतीत हो गई और शरत्काल आ पहुँचा। उस समय काम से मोहित होकर उन गौरैयों ने सन्तानोत्पादन की विधि से परस्पर समागम किया और विश्वास के कारण महर्षि के सिर पर ही अण्डे दे दिये। कठोर व्रत का आचरण करनेवाले उन तेजस्वी ब्राह्मण को भी यह ज्ञात हो गया कि पक्षियों ने मेरी जटाओं में अण्डे दिये हैं ।

बुद्ध्वा च स महातेजा न चचाल स जाजलिः ।
धर्मे कृतमना नित्यं नाधर्मं स त्वरोचयत् ॥२०॥

इस बात को जानकर भी महातेजस्वी जाजलि विचलित नहीं हुए। उनका मन सदा धर्म में लगा रहता था, अतः उन्हें अधर्म का कार्य पसन्द नहीं था ।

अहन्यहनि चागत्य ततस्तौ तस्य मूर्धनि ।
आश्वासितौ निवसतः सम्प्रहृष्टौ तदा विभो ॥२१॥

प्रभो ! गौरैयों का वह जोड़ा प्रतिदिन दाना चुगने के लिए जाता और फिर लौटकर उनके सिर पर ही बसेरा लेता था। वे आश्वस्त [रक्षा और सुरक्षा की गारंटी] और प्रसन्न होकर वहाँ निवास करते थे ।

अण्डेभ्यस्त्वथ पुष्टेभ्यः प्राजायन्त शकुन्तकाः ।
व्यवर्धन्त च तत्रैव न चाकम्पत जाजलिः ॥२२॥

अण्डों के पकने और परिपुष्ट होने पर उन्हें फोड़कर बच्चे बाहर निकले तथा वहीं पलकर बड़े होने लगे, तथापि जाजलि मुनि हिले-डुले नहीं ।

जातपक्षांश्च सोऽपश्यदुड्डीनान्पुनरागतान् ।
सायं सायं द्विजान्विप्रो न चाकम्पत जाजलिः ॥२३॥

बच्चों के पंख निकल आये, अतः वे दिन में दा चुगने के लिए निकल जाते तथा प्रतिदिन सायंकाल फिर वहीं लौट आते थे। विप्रवर जाजलि उन पक्षियों को आते-जाते देखते, परन्तु हिलते-डुलते नहीं थे।

कदाचिद् दिवसान्पञ्च समुत्पत्य विहङ्गमाः ।
षष्ठेऽहनि समाजग्मुर्न चाकम्पत जाजलिः ॥२४॥

कभी-कभी वे पक्षी उड़कर पाँच-पांच दिन तक बाहर ही रह जाते और छठे दिन वापस आते थे, तबतक भी जाजलि मुनि हिले-डुले नहीं ।

कदाचिन्मासमात्रेण समुत्पत्य विहङ्गमाः ।
नैवागच्छंस्ततो राजन्प्रातिष्ठत स जाजलिः ॥२५॥

राजन् ! एक समय वे आकाशचारी पक्षी उड़ जाने के पश्चात् एक मास तक लौटकर नहीं आये, तब मुनिवर जाजलि वहाँ से अन्यत्र चले गये ।

ततस्तेषु प्रलीनेषु जाजलिर्जातविस्मयः ।
सिद्धोऽस्मीति मतिं चक्रे ततस्तं मान आविशत् ॥२६॥

उन पक्षियों के अदृश्य हो जाने पर जाजलि को अत्यन्त आश्चर्य हुआ । वे मन-ही-मन यह सोचने लगे कि मैं सिद्ध हो गया हूँ । फिर तो उनके भीतर अहंकार आ गया ।

सम्भाव्य चटकान्मूर्ध्नि जाजलिर्जपतां वरः ।
आस्फोटयत्तथाऽऽकाशे धर्मः प्राप्तो मयेति वैः ॥२७॥

जपकर्ताओं में श्रेष्ठ जाजलि अपने मस्तक पर चिड़ियों के उत्पन्न होने और बढ़ने आदि की बातें स्मरण करके अपने को महान् धर्मात्मा समझने लगे और आकाश में ताल ठोकते हुए स्पष्टवाणी में बोले —"मैंने धर्म को पा लिया है ।"

अथान्तरिक्षे वागासीत्तां च शुश्राव जाजलिः ।
धर्मेण न समस्त्वं वै तुलाधारस्य जाजले ॥२८॥
वाराणस्यां महाप्राज्ञस्तुलाधारः प्रतिष्ठितः ।
सोऽप्येवं नार्हते वक्तुं यथा त्वं भाषसे द्विज ॥२९॥

इतने में ही आकाशवाणी[1] हुई—"जाजलि ! तुम धर्म में तुलाधार वैश्य के समान नहीं हो । काशी नगरी में तुलाधार वैश्य प्रतिष्ठित हैं । विप्रवर ! वे तुलाधार वैश्य भी ऐसी बात नहीं कह सकते, जैसी तुम कह रहे हो ।" जाजलि ने इस आकाशवाणी को सुना ।

सोऽमर्षवशमापन्नस्तुलाधारदिदृक्षया ।
पृथिवीमचरद् राजन् यत्रसायंगृहो मुनिः ॥३०॥

राजन् ! इससे वे अमर्ष [क्रोध] के वशीभूत हो गये और तुलाधार का दर्शन करने के लिए पृथिवी पर विचरने लगे । जहाँ सन्ध्या होती, वे मुनि वहीं टिक जाते थे ।

कालेन महतागच्छत्स तु वाराणसीं पुरीम् ।
विक्रीणन्तं च पण्यानि तुलाधारं ददर्श सः ॥३१॥

इस प्रकार दीर्घकाल के पश्चात् वे वाराणसी नगरी में जा पहुँचे । वहां उन्होंने तुलाधार वैश्य को वस्तुओं की बिक्री करते हुए देखा ।

सोऽपि दृष्ट्वैव तं विप्रमायान्तं भाण्डजीवनः ।
समुत्थाय सुसंहृष्टः स्वागतेनाभ्यपूजयत् ॥३२॥

विविध वस्तुओं के क्रय-विक्रय से जीवन-यापन करनेवाला तुलाधार भी ब्राह्मण को आते देख तुरन्त ही उठकर खड़ा हो गया और अति हर्ष के साथ आगे बढ़कर उसने ब्राह्मण का स्वागत-सत्कार किया ।

तुलाधार उवाच

आयानेवासि विदितो मम ब्रह्मन् न संशयः ।
करवाणि प्रियं किं ते तद् ब्रूहि द्विजसत्तम ॥३३॥

तुलाधार बोला—ब्रह्मन् ! आप मेरे पास आ रहे हैं, यह बात मुझे पहले ही ज्ञात हो गई थी, इसमें संशय नहीं है । द्विजश्रेष्ठ ! बताइए, मैं आपका कौन-सा प्रिय कार्य करूँ ?

जाजलिरुवाच

विक्रीणतः सर्वरसान् सर्वगन्धांश्च वाणिज ।
वनस्पतीनोषधींश्च तेषां मूलफलानि च ॥३४॥
अध्यगा नैष्ठिकीं बुद्धिं कुतस्त्वामिदमागतम् ।
एतदाचक्ष्व मे सर्वं निखिलेन महामते ॥३५॥

जाजलि ने कहा—वैश्यपुत्र ! तुम तो सब प्रकार के रस, गन्ध, वनस्पति, ओषधि, मूल और फल आदि बेचते हो । महामते ! तुम्हें यह धर्म में निष्ठा रखनेवाली बुद्धि कहाँ से प्राप्त हुई ? तुम्हें यह ज्ञान कैसे सुलभ हुआ ? यह सारा वृत्तान्त मुझे बताओ ।

---

[1] संस्कृत में हृदय को भी आकाश कहते हैं । हृदय के निर्मल होने पर उसमें परमात्मा की जो प्रेरणा सुन पड़ती है उसी का नाम आकाशवाणी है । जड़ आकाश कुछ नहीं बोल सकता । अथवा, बात को रोचक ढंग से कहने का यह काव्यमय प्रकार हो सकता है ।

तुलाधार उवाच

वेदाहं जाजले धर्मं सरहस्यं सनातनम् ।
सर्वभूतहितं मैत्रं पुराणं यं जना विदुः ॥३६॥

तुलाधार बोला—जाजले ! जो समस्त प्राणियों के लिए हितकारी तथा सबके प्रति मैत्रीभाव स्थापित करनेवाला है, जिसे सब लोग सनातन धर्म के रूप में जानते हैं, गूढ़ रहस्योंसहित उस सनातन धर्म का मुझे भी ज्ञान है ।

अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः ।
या वृत्तिः स परो धर्मस्तेन जीवामि जाजले ॥३७॥

जिसमें किसी भी प्राणी के प्रति द्रोह न करना पड़े अथवा कम-से-कम द्रोह करने से काम चल जाए, ऐसी जीवन-वृत्ति ही उत्तम धर्म है। जाजले ! मैं उसी से जीवन-निर्वाह करता हूँ ।

परच्छिन्नैः काष्ठतृणैर्मयेदं शरणं कृतम् ।
अलक्तं पद्मकं तुङ्गं गन्धांश्चोच्चावचांस्तथा ॥३८॥

मैंने दूसरों के द्वारा काटे गये काठ और घास-फूंस से यह घर तैयार किया है। अलक्तक [राल, महावर, लाक्षारस], पद्माख, तुङ्गकाष्ठ तथा चन्दन-कस्तूरी आदि गन्ध द्रव्य [एवं अन्य छोटी-बड़ी वस्तुओं को मैं दूसरों से खरीदकर बेचता हूँ]।

रसांश्च तांश्च विप्रर्षे मद्यवर्ज्यान् बहूनहम् ।
क्रीत्वा वै प्रतिविक्रीणे परहस्तादमायया ॥३९॥

हे विप्र ! ऋषिवर ! मेरे यहाँ मदिरा नहीं बेची जाती, उसे छोड़कर मैं बहुत-से पीने योग्य रसों को दूसरों से खरीदकर बेचता हूँ । माल बेचने में मैं छल-कपट और असत्य से काम नहीं लेता ।

सर्वेषां यः सुहृन्नित्यं सर्वेषां च हिते रतः ।
कर्मणा मनसा वाचा स धर्मं वेद जाजले ॥४०॥

जाजले ! जो प्राणिमात्र का मित्र होता है, जो मन, वचन और कर्म से सदा सबके हितसाधन में लगा रहता है, वही वास्तव में धर्म को जानता है ।

समोऽहं सर्वभूतेषु पश्य मे जाजले व्रतम् ।
तुला मे सर्वभूतेषु समातिष्ठति जाजले ॥४१॥

जाजले ! समस्त प्राणियों के प्रति मेरा समभाव है । यही मेरा व्रत और नियम है । इसपर दृष्टिपात करो । मुने ! मेरी तराजू सब मनुष्यों के लिए सम है—सबके लिए बराबर तोलती है ।

अहिंसादि कृतं कर्म इह चैव परत्र च ।
श्रद्धां निहन्ति वै ब्रह्मन् सा हता हन्ति तं नरम् ॥४२॥

अहिंसा और दयादि भावों से प्रेरित होकर किया हुआ कर्म दोनों लोकों में उत्तम फल देनेवाला है। ब्रह्मन् ! यदि मन में हिंसा की भावना हो तो वह श्रद्धा का नाश कर देती है। फिर नष्ट हुई श्रद्धा कर्मकर्ता इस हिंसक मनुष्य का ही सर्वनाश कर डालती है ।

अश्रद्धा परमं पापं श्रद्धा पापप्रमोचिनी ।
जहाति पापं श्रद्धावान् सर्पो जीर्णमिव त्वचम् ॥४३॥

अश्रद्धा सबसे बड़ा पाप है और श्रद्धा पाप से मुक्ति दिलानेवाली है। जैसे साँप अपनी पुरानी केंचुली को छोड़ देता है, वैसे ही श्रद्धालु मनुष्य पाप का परित्याग कर देता है ।

श्रद्धां कुरु महाप्राज्ञ ततः प्राप्स्यसि यत् परम् ।
श्रद्धावान् श्रद्दधानश्च धर्मश्चैव हि जाजले ॥४४॥

महाज्ञानी जाजले ! तुम जीवन में श्रद्धा धारण करो, तब तुम्हें परमगति की प्राप्ति होगी। श्रद्धा करनेवाला श्रद्धालु मनुष्य साक्षात् धर्म का स्वरूप है ।

भीष्म उवाच

तस्य विख्यातवीर्यस्य श्रुत्वा वाक्यानि स द्विजः ।
तुलाधारस्य कौन्तेय शान्तिमेवान्वपद्यत ॥४५

भीष्मजी कहते हैं—हे कौन्तेय ! ब्राह्मण जाजलि ने विख्यात प्रभावशाली तुलाधार के वचन सुनकर उन्हें हृदयङ्गम किया और शान्ति [मोक्ष] के मार्ग का अवलम्बन लिया ।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५०॥

एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

राजा विचख्नु द्वारा अहिंसा धर्म की प्रशंसा

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
प्रजानामनुकम्पार्थं गीतो भूपविचख्नुना ।।१।।

भीष्मजी बोले—राजन् ! प्राचीनकाल में राजा विचख्नु ने सम्पूर्ण प्राणियों पर दया करने के लिए जो उद्गार प्रकट किया था, उस प्राचीन इतिहास का इस प्रसङ्ग में विज्ञ पुरुष उदाहरण दिया करते हैं ।

छिन्नस्थूणं वृषं दृष्ट्वा विरावं च गवां भृशम् ।
गोग्रहे यज्ञवाटस्य प्रेक्षमाणः स पार्थिवः ।।२।।

एक समय किसी यज्ञशाला में राजा ने देखा कि एक बैल की गर्दन कटी हुई है और वहाँ बहुत-सी गौएँ आर्तनाद कर रही हैं । यज्ञशाला के प्राङ्गण में कितनी ही गौएँ खड़ी हैं । यह सब देखकर राजा बोले—

स्वस्ति गोभ्योऽस्तु लोकेषु ततो निर्वचनं कृतम् ।
हिंसायां हि प्रवृत्तायामाशीरेषा तु कल्पिता ।।३।।

जब उन गौओं की हिंसा होने जा रही थी, उस समय उन्होंने—"संसार में समस्त गौओं का कल्याण हो"—गौओं के लिए यह शुभ कामना प्रकट की और उस हिंसा का निषेध करते हुए कहा—

अघ्न्या इति गवां नाम क एता हन्तुमर्हति ।
महच्चकाराकुशलं वृषं गां वाऽऽलभेत यः ।।४।।

वेद में गौओं का अघ्न्या [अवध्य] कहा गया है, फिर कौन उन्हें मारने का विचार करेगा ? जो मनुष्य गाय और बैल को मारता है, वह महान् पाप करता है ।

अव्यवस्थितमर्यादैर्विमूढैर्नास्तिकैर्नरैः ।
संशयात्मभिरव्यक्तैर्हिंसा समनुवर्णिता ।।५।।

जो धर्म की मर्यादा से पतित हो चुके हैं, मूर्ख हैं, नास्तिक हैं और जिन्हें आत्मा के विषय में सन्देह है तथा जिनकी कहीं प्रसिद्धि नहीं है, ऐसे लोगों ने ही हिंसा का समर्थन किया है ।

सर्वकर्मस्वहिंसा हि धर्मात्मा मनुरब्रवीत् ।
कामकाराद्विहिंसन्ति बहिर्वेद्यां पशून्नराः ।।६।।

धर्मात्मा मनु महाराज ने सम्पूर्ण कर्मों में अहिंसा का ही प्रतिपादन किया है । मनुष्य अपनी ही इच्छा से यज्ञ की बाह्यवेदी पर पशुओं का बलिदान करते हैं ।

तस्मात्प्रमाणतः कार्यो धर्मः सूक्ष्मो विजानता ।
अहिंसा सर्वभूतेभ्यो धर्मेभ्यो ज्यायसी मता ।।७।।

अतः बुद्धिमान् पुरुष को उचित है कि वह वैदिक प्रमाण से धर्म के सूक्ष्म स्वरूप का निर्णय करे । सम्पूर्ण भूतों के लिए जिन धर्मों का विधान किया गया है, उनमें अहिंसा ही सबसे बड़ी मानी गई है ।

यदि यज्ञांश्च वृक्षांश्च यूपांश्चोद्दिश्य मानवाः ।
वृथा मांसं न खादन्ति नैष धर्मः प्रशस्यते ।।८।।

यदि यह तर्क दिया जाए कि मनुष्य यूप-निर्माण के उद्देश्य से जो वृक्ष काटते और यज्ञ के उद्देश्य से पशुबलि देकर मांस खाते हैं, वह व्यर्थ नहीं है, अपितु धर्म है, तो ऐसा तर्क ठीक नहीं, क्योंकि ऐसे धर्म की कोई प्रशंसा नहीं करता ।

सुरा मत्स्या मधु मांसमासवं कृसरौदनम् ।☐
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद् वेदेषु कल्पितम् ।
मानान्मोहाच्च लोभाच्च लौल्यमेतत्प्रकल्पितम् ।।९।।

सुरा, आसव, मधु, मांस और मछली तथा तिल एवं चावल की खिचड़ी—इन सब वस्तुओं को धूर्तों ने यज्ञ में प्रचलित कर दिया है । वेद में इनके प्रयोग का विधान नहीं है । धूर्तों ने अभिमान, मोह और लोभ के वशीभूत होकर उन वस्तुओं के प्रति अपनी लोलुपता ही प्रकट की है ।

बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः ।☐
अजसंज्ञानि बीजानि छागं नो हन्तुमर्हथ ।।१०।।

यज्ञों में बीजों द्वारा यजन करना चाहिए, ऐसी वैदिकी श्रुति है । बीजों का नाम अज है, अतः बकरे का वध करना हमें उचित नहीं है ।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ।।५१।।

द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

दीर्घकाल तक सोच-विचारकर कार्य करने की प्रशंसा : महर्षि गौतम और चिरकारी का उपाख्यान

युधिष्ठिर उवाच

कथं कार्यं परीक्षेत शीघ्रं वाथ चिरेण वा ।
सर्वथा कार्यदुर्गेऽस्मिन् भवान्नः परमो गुरुः ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! आप हमारे परम गुरु हैं, अतः यह बताने की कृपा करें कि यदि ऐसा कार्य उपस्थित हो जाए जो गुरुजनों की आज्ञा के कारण अवश्य कर्तव्य हो, परन्तु हिंसायुक्त होने के कारण दुष्कर एवं अनुचित हो तो ऐसे अवसर पर उस कार्य की परीक्षा कैसे करनी चाहिए ? उसे शीघ्र कर डालना चाहिए अथवा देर तक उसपर विचार करना चाहिए।

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
चिरकारेस्तु यत्पूर्वं वृत्तमाङ्गिरसे कुले ॥२॥

भीष्मजी बोले—वत्स ! इस विषय में इतिहासवेत्ता इस प्राचीन इतिहास का उदाहरण दिया करते हैं, जो पहले आङ्गिरस-कुलोत्पन्न चिरकारी पर बीत चुका है ।

चिरकारी महाप्राज्ञो गौतमस्याभवत् सुतः ।
चिरेण सर्वकार्याणि विमृश्यार्थान् प्रपद्यते ॥३॥

महर्षि गौतम के एक महाज्ञानी पुत्र था, जिसका नाम चिरकारी था । वह कर्तव्य-कार्यों का भलीभाँति विचार करके सभी कार्य विलम्ब से किया करता था ।

चिरं स चिन्तयत्यर्थांश्चिरं जाग्रच्चिरं स्वपन् ।
चिरं कार्याभिपत्तिं च चिरकारी तथोच्यते ॥४॥

वह सभी विषयों पर दीर्घकाल तक विचार करता था, चिरकाल तक जागता तथा चिरकाल तक सोता था और पर्याप्त विलम्ब से ही कार्य को पूर्ण करता था, अतः सब लोग उसे चिरकारी कहने लगे ।

अलसग्रहणं प्राप्तो दुर्मेधावी तथोच्यते ।
बुद्धिलाघवयुक्तेन जनेनादीर्घदर्शिना ॥५॥

अदूरदर्शी और मन्दबुद्धिवाले लोगों ने उसे आलसी की उपाधि दी । उसे दुर्बुद्धि कहा जाने लगा ।

व्यभिचारे तु कस्मिंश्चिद् व्यतिक्रम्यापरान् सुतान् ।
पित्रोक्तः कुपितेनाथ जहीमां जननीमिति ॥६॥

एक दिन गौतमजी ने अपनी पत्नी द्वारा किये गये किसी व्यभिचार पर क्रुद्ध हो अपने दूसरे पुत्रों को न कहकर चिरकारी से कहा—"पुत्र ! तू अपनी इस पापिनी माता को मौत के घाट उतार दे ।"

इत्युक्त्वा स तदा विप्रो गौतमो जपतां वरः ।
अविमृश्य महाभागो वनमेव जगाम सः ॥७॥

उस समय बिना विचारे ही ऐसी आज्ञा प्रदान कर जप करनेवालों में श्रेष्ठ ब्रह्मर्षि महाभाग गौतम वन में चले गये ।

स तथेति चिरेणोक्त्वा स्वभावाच्चिरकारिकः ।
विमृश्य चिरकारित्वाच्चिन्तयामास वै चिरम् ॥८॥

चिरकारी ने अपने स्वभाव के अनुसार देर करके कहा—"बहुत अच्छा ।" चिरकारी तो वह था ही, बहुत देर तक उस बात पर विचार करता रहा ।

पितुराज्ञां कथं कुर्यां न हन्यां मातरं कथम् ।
कथं धर्मच्छलेनास्मिन् निमज्जेयमसाधुवत् ॥९॥

उसने सोचा कि 'मैं किस उपाय से कार्य करूँ जिससे पिता की आज्ञा का पालन भी हो जाए और माता का वध भी न करना पड़े । धर्म के बहाने यह मुझपर महान् संकट आ गया है । दुष्टों की भाँति मैं इसमें डूबने का साहस कैसे करूँ ?

पितुराज्ञा परो धर्मः स्वधर्मो मातृरक्षणम् ।
अस्वतन्त्रं च पुत्रत्वं किं नु मां नानुपीडयेत् ॥१०॥

'पिता की आज्ञा का पालन करना परम धर्म है और माता की रक्षा करना भी स्वधर्म है । पुत्र कभी स्वतन्त्र नहीं होता । वह सदा माता-पिता के अधीन रहता है, अतः मैं क्या करूँ जिससे मुझे धर्म की हानिरूप पीड़ा न हो ?

स्त्रियं हत्वा मातरं च को हि जातु सुखी भवेत् ।
पितरं चाप्यवज्ञाय कः प्रतिष्ठामवाप्नुयात् ॥११॥

'एक तो नारी-जाति और उसमें भी माता ! उसका वध करके कौन पुत्र सुखी हो सकता है ? पिता

आज्ञा की अवहेलना करके भी कौन प्रतिष्ठा=आदर-सम्मान पा सकता है ?

प्रीतिमात्रं पितुः पुत्रः सर्वं पुत्रस्य वै पिता ।
शरीरादीनि देयानि पिता त्वेकः प्रयच्छति ॥१२॥

'पुत्र पिता का सम्पूर्ण प्रीतिरूप है और पिता पुत्र का सर्वस्व है । केवल पिता ही पुत्र को देहादि सम्पूर्ण देने योग्य वस्तुओं को देता है ।

तस्मात्पितुर्वचः कार्यं न विचार्यं कदाचन ।
पातकान्यपि पूयन्ते पितुः शासनकारिणः ॥१३॥

"अतः पिता के आदेश का पालन करना चाहिए, उसपर कभी विचार नहीं करना चाहिए । जो पिता की आज्ञा का पालन करता है, उसके पातक भी नष्ट हो जाते हैं ।

भोग्ये भोज्ये प्रवचने सर्वलोकनिदर्शने ।
भर्त्रा चैव समायोगे सीमन्तोन्नयने तथा ॥१४॥

'पुत्र के भोग्य [वस्त्रादि], भोज्य [अन्नादि], वेदाध्ययन, सम्पूर्ण लोक-व्यवहार की शिक्षा तथा गर्भाधान, पुंसवन और सीमन्तोन्नयन आदि समस्त संस्कारों के सम्पादन में पिता ही प्रभु है ।

पिता धर्मः पिता स्वर्गः पिता हि परमं तपः । □
पितरि प्रीतिमापन्ने सर्वाः प्रीयन्ति देवताः ॥१५॥

'पिता धर्म है, पिता स्वर्ग है और पिता ही सबसे बड़ी तपस्या है । पिता के प्रसन्न होने पर समस्त देवता प्रसन्न हो जाते हैं ।

एतद्विचिन्तितं तावत्पुत्रस्य पितृगौरवम् ।
पिता नाल्पतरं स्थानं चिन्तयिष्यामि मातरम् ॥१६॥

'पुत्र के विषय में पिता का जितना गौरव है, उसपर मैंने विचार कर लिया—पिता पुत्र के लिए कोई साधारण आश्रय नहीं है । अब मैं माता के विषय में सोचता हूँ ।

यो ह्ययं मयि संघातो मर्त्यत्वे पाञ्चभौतिकः ।
अस्य मे जननी हेतुः पावकस्य यथारणिः ॥१७॥

'मुझे जो यह पाञ्चभौतिक शरीर मिला है, इसके उत्पन्न होने में मेरी माता ही प्रमुख कारण है, जैसे अग्नि के प्रकट होने का मुख्य आधार अरणी नामक काष्ठ होता है ।

माता देहारणिः पुंसां सर्वस्यार्तस्य निर्वृत्तिः ।
मातृलाभे सनाथत्वमनाथत्वं विपर्यये ॥१८॥

'माता मनुष्यों के शरीररूपी अग्नि को प्रकट करनेवाली अग्नि है । संसार के समस्त दुःखी प्राणियों को सुख और सान्त्वना प्रदान करनेवाली माता ही है । जबतक माता जीवित रहती है, मनुष्य अपने को सनाथ समझता है और उसके न रहने पर वह अनाथ हो जाता है ।

समर्थं वासमर्थं वा कृशं वाप्यकृशं तथा ।
रक्षत्येव सुतं माता नान्यः पोष्टा विधानतः ॥१९॥

'पुत्र असमर्थ हो या समर्थ, दुर्बल हो या हृष्ट-पुष्ट, माता उसका पालन करती ही है । माता के सिवा दूसरा कोई विधिपूर्वक पुत्र का पालन-पोषण नहीं कर सकता ।

तदा स वृद्धो भवति तथा भवति दुःखितः ।
तदा शून्यं जगत्तस्य यदा मात्रा वियुज्यते ॥२०॥

'जब माता से विछोह हो जाता है, तभी मनुष्य अपने-आपको वृद्ध समझने लगता है । वह दुःखी हो जाता है और उसके लिए सारा संसार सूना प्रतीत होने लगता है ।

नास्ति मातृसमा छाया नास्ति मातृसमा गतिः । □
नास्ति मातृसमं त्राणं नास्ति मातृसमा प्रिया ॥२१॥

'माता के समान दूसरी कोई छाया=शरण नहीं है, माता के समान कोई आश्रय नहीं है । माता के समान अन्य कोई रक्षक नहीं है और बच्चे के लिए माता के समान दूसरी कोई प्रिय वस्तु नहीं है ।

कुक्षीसंधारणाद् धात्री जननाज्जननी स्मृता । □
अङ्गानां वर्धनादम्बा वीरसूत्वेन वीरसूः ॥२२॥

'वह गर्भाशय में धारण करने के कारण 'धात्री', जन्म देने के कारण 'जननी', शिशु के अङ्गों का वर्धन [पालन-पोषण] करने के कारण 'अम्बा' और वीर सन्तान का प्रसव करने के कारण 'वीरसू' कहलाती है ।

शिशोः शुश्रूषणाच्छुश्रूर्माता देहमनन्तरम् ।
चेतनावान्नरो हन्याद् यस्य नासुषिरं शिरः ॥२३॥

'वह शिशु की शुश्रूषा करके 'शुश्रू' नाम धारण करती है । माता अपना निकटतम शरीर है । जिसका मस्तिष्क विचारशून्य नहीं हो गया है, ऐसा कोई

चेतन मनुष्य अपनी माता का वध कभी नहीं कर सकता।'

एवं विमृशतस्तस्य चिरकारितया बहु।
दीर्घः कालो व्यतिक्रान्तस्ततोऽस्याभ्यागमत्पिता ॥२४

विलम्ब करने का स्वभाव होने के कारण चिरकारी इस प्रकार सोचता-विचारता रहा। इसी चिन्तन में बहुत अधिक समय व्यतीत हो गया। इतने में ही उसके पिता वन से लौट आये।

विमृश्य तेन कालेन पत्न्याः संस्थाव्यतिक्रमम्।
सोऽब्रवीद् भृशसंतप्तो दुःखेनाश्रूणि वर्तयन् ॥२५॥

उस समय अपनी पत्नी के वध के अनौचित्य पर विचार करके वे अत्यन्त सन्तप्त हो गये। वे दुःख के आँसू बहाते हुए मन-ही-मन इस प्रकार कहने लगे—

हत्वा साध्वीं च नारीं च व्यसनित्वाच्च वासिताम्।
भर्तव्यत्वेन भार्यां च को नु मां तारयिष्यति ॥२६

'जिसे मैंने पत्नी के रूप में अपने घर में शरण दी थी, जो सती-साध्वी नारी थी और भार्या होने के कारण मुझसे भरण-पोषण पाने की अधिकारिणी थी, उसी का मैंने प्रमादरूपी व्यसन के वशीभूत होने के कारण वध करा डाला। अब इस पाप से मेरा कौन उद्धार करेगा?

अन्तरेण मयाऽऽज्ञप्तश्चिरकारीत्युदारधीः।
यद्यद्य चिरकारी स्यात्स मां त्रायते पातकात् ॥२७॥

'परन्तु मैंने उदारबुद्धि चिरकारी को उसकी माता के वध की आज्ञा दी थी। यदि उसने इस कार्य में विलम्ब करके अपने नाम को सार्थक किया हो तो वही मुझे स्त्रीवध के पाप से बचा सकता है।

चिरकारिक भद्रं ते भद्रं ते चिरकारिकः।
यद्यद्य चिरकारी त्वं ततोऽसि चिरकारिकः ॥२८॥

'पुत्र चिरकारी! तेरा कल्याण हो। चिरकारी! तेरा मङ्गल हो। यदि आज भी तूने विलम्ब करने के अपने स्वभाव का अनुसरण किया हो, तभी तेरा चिरकारी नाम सफल हो सकता है।

त्राहि मां मातरं चैव तपो यच्चार्जितं मया।
आत्मानं पातकेभ्यश्च भवाद्य चिरकारिकः ॥२९॥

'पुत्र! आज विलम्ब करके तू वस्तुतः चिरकारी बन और मेरी, अपनी माता की तथा मैंने जो तप-अर्जन किया है, उसकी भी रक्षा कर। साथ ही अपने-आपको भी पाप से बचा ले।

चिरमाशंसितो मात्रा चिरं गर्भेण धारितः।
सफलं चिरकारित्वं कुरु त्वं चिरकारिक ॥३०॥

'तेरी माता चिरकाल से तेरे जन्म की आशा लगाये बैठी थी। उसने चिरकाल तक तुझे गर्भ में धारण किया है, अतः बेटे चिरकारी! आज तू अपनी माता की रक्षा करने के लिए चिरकारिता को सफल कर ले।'

एवं स दुःखितो राजन् महर्षिर्गौतमस्तदा।
चिरकारिं ददर्शाथ पुत्रं स्थितमथान्तिके ॥३१॥

राजन्! इस प्रकार दुःखी हुए महर्षि गौतम ने घर आने पर अपने पुत्र चिरकारी को समीप ही ख हुए देखा।

चिरकारी तु पितरं दृष्ट्वा परमदुःखितः।
शस्त्रं त्यक्त्वा ततो मूर्ध्ना प्रसादायोपचक्रमे ॥३२॥

पिता को उपस्थित देख चिरकारी अत्यन्त दुः हुआ। वह शस्त्र फेंककर उनके चरणों में मस्तक झुका उन्हे प्रसन्न करने की चेष्टा करने लगा।

गौतमस्तु सुतं दृष्ट्वा शिरसा पतितं भुवि।
पत्नीं चैव निराकारां परामभ्यागमन्मुदम् ॥३३॥

गौतम ने देखा कि चिरकारी पृथिवी पर मा टेककर पड़ा है और पत्नी लज्जा के कारण निश्चे [बुझी हुई-सी] खड़ी है। यह देखकर उन्हें प्रसन्नता हुई।

ततः पित्रा चिरं स्तुत्वा चिरं चाघ्राय मूर्धनि।
चिरं दोर्भ्यां परिष्वज्य चिरं जीवेत्युदाहृतः ॥३

फिर पिता ने चिरकाल तक उसकी प्रशंसा क देर तक उसका मस्तक सूँघा और दोनों भुज से खींचकर चिरकाल तक उसे हृदय से लगाये तथा आशीर्वाद देते हुए कहा—"पुत्र! चिरञ्जी हो!"

एवं स गौतमः पुत्रं प्रीतिहर्षगुणैर्युतः।
अभिनन्द्य महाप्राज्ञ इदं वचनमब्रवीत् ॥३

महामते! इस प्रकार प्रेम और हर्ष से भरे गौतम ने पुत्र का अभिनन्दन करके यह बात कही

चिरेण मित्रं बध्नीयाच्चिरेण च कृतं त्यजेत् ।
चिरेण हि कृतं मित्रं चिरं धारणमर्हति ॥३६॥

'चिरकाल तक सोच-विचारकर किसी के साथ मैत्री करनी चाहिए और जिसे मित्र बना लिया, उसे सहसा नहीं छोड़ना चाहिए। यदि छोड़ने की आवश्यकता पड़ ही जाए तो उसके परिणाम पर चिरकाल तक विचार करना चाहिए। चिरकाल तक सोच-विचारकर बनाये हुए मित्र की मैत्री चिरकाल तक टिकी रहती है।

रागे दर्पे च माने च द्रोहे पापे च कर्मणि ।
अप्रिये चैव कर्तव्ये चिरकारी प्रशस्यते ॥३७॥

राग, दर्प, अभिमान, द्रोह, पापाचरण तथा किसी का अप्रिय करने में जो विलम्ब करता है, उसकी प्रशंसा की जाती है।

बन्धूनां सुहृदां चैव भृत्यानां स्त्रीजनस्य च ।
अव्यक्तेष्वपराधेषु चिरकारी प्रशस्यते ॥३८॥

'बन्धुओं, सुहृदों, सेवकों और स्त्रियों के छिपे हुए अपराधों के विषय में कुछ निर्णय करने में जो शीघ्रता न करके चिरकाल तक सोच-विचार करता है, उसकी प्रशंसा की जाती है।'

एवं स गौतमस्तत्र प्रीतः पुत्रस्य भारत ।
कर्मणा तेन कौरव्य चिरकारितया तथा ॥३९॥

कुरुनन्दन ! हे भारत ! इस प्रकार गौतम अपने पुत्र के विलम्ब से कार्य करने के कारण अत्यन्त हर्षित हुए थे।

एवं सर्वेषु कार्येषु विमृश्य पुरुषस्ततः ।
चिरेण निश्चयं कृत्वा चिरं न परितप्यते ॥४०॥

इस प्रकार सभी कार्यों में विचार करके चिरकाल के पश्चात् किसी निश्चय पर पहुँचनेवाले पुरुष को दीर्घकाल तक पश्चात्ताप नहीं करना पड़ता।

चिरं धारयते रोषं चिरं कर्म नियच्छति ।
पश्चात्तापकरं कर्म न किञ्चिदुपपद्यते ॥४१॥

जो क्रोध को चिरकाल तक अपने भीतर दबाये रखता है तथा रोषपूर्वक किये जानेवाले कर्म को देर तक रोके रहता है, उसके द्वारा कोई कर्म ऐसा नहीं बनता जो पश्चात्ताप करानेवाला हो।

चिरं वृद्धानुपासीत चिरमन्वास्य पूजयेत् ।
चिरं धर्मं निषेवेत कुर्याच्चान्वेषणं चिरम् ॥४२॥

दीर्घकाल तक वृद्धों की सेवा करे। चिरकाल तक उनकी सङ्गति करके उनका आदर-सत्कार करे। चिरकाल तक धर्म का सेवन करे और दीर्घकाल तक उसका अनुसन्धान करे।

चिरमन्वास्य विदुषश्चिरं शिष्टान् निषेव्य च ।
चिरं विनीय चात्मानं चिरं यात्यनवज्ञताम् ॥४३॥

दीर्घकाल तक विद्वानों का सङ्ग करे और चिरकाल तक शिष्ट पुरुषों की सेवा में संलग्न रहे तथा चिरकाल तक मन को अपने वश में रखे। इससे मनुष्य चिरकाल तक अवज्ञा का नहीं अपितु सम्मान का भागी बनता है।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५२॥

त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

आत्मसंयम और ब्रह्म-प्राप्ति के साधनों का निर्देश

युधिष्ठिर उवाच

अविरोधेन भूतानां योगः षाड्गुण्यकारकः ।
यः स्यादुभयभाग्धर्मस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! प्रणियों का अहित न करते हुए मनुष्यों को शम-दम आदि छह गुणों की प्राप्ति करानेवाला जो योग है और भोग तथा मोक्ष दोनों फलों को प्राप्त करानेवाला जो धर्म है, वह मुझे बताइए।

गार्हस्थ्यस्य च धर्मस्य योगधर्मस्य चोभयोः ।
अदूरसम्प्रस्थितयोः किं स्विच्छ्रेयः पितामह ॥२॥

पितामह ! गार्हस्थ्यधर्म और योगधर्म—दोनों एक-दूसरे से दूर नहीं हैं, फिर भी दोनों में से कौन-सा श्रेष्ठ है ? यह भी बताने की कृपा करें।

भीष्म उवाच

उभौ धर्मौ महाभागावुभौ परमदुश्चरौ ।
उभौ महाफलौ तौ तु सद्भिराचरितावुभौ ॥३॥

भीष्मजी बोले—राजन् ! गार्हस्थ्य और योग-धर्म—दोनों महान् सौभाग्य प्रदान करनेवाले हैं। दोनों अत्यन्त दुष्कर हैं। दोनों के ही फल महान् हैं तथा श्रेष्ठ पुरुषों ने दोनों का ही आचरण किया है।

अत्र ते वर्तयिष्यामि प्रामाण्यमुभयोस्तयोः ।
शृणुष्वैकमनाः पार्थ छिन्नधर्मार्थसंशयम् ॥४॥

कुन्तीकुमार ! मैं तुम्हारे लिए इन दोनों धर्मों की प्रामाणिकता का प्रतिपादन करूँगा तथा तुम्हारे धर्म एवं अर्थविषयक सन्देह को मिटा दूंगा। तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो !

यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्तिजन्तवः ।
एवं गार्हस्थ्यमाश्रित्य वर्तन्त इतराश्रमाः ॥५॥

जैसे समस्त प्राणी माता की गोद का आश्रय पाकर ही जीवन-धारण करते हैं, वैसे ही गृहस्थाश्रम का आश्रय लेकर ही दूसरे आश्रम टिके हुए हैं।

गृहस्थ एव यजते गृहस्थस्तप्यते तपः ।
गार्हस्थ्यमस्य धर्मस्य मूलं यत्किंचिदेजते ॥६॥

गृहस्थ ही यज्ञ करता है, गृहस्थ ही तप करता है। मनुष्य जो कुछ भी चेष्टा करता है—जिस किसी भी शुभ कर्म का आचरण करता है, उस धर्म का मूल कारण गृहस्थ आश्रम ही है।

दर्शं च पौर्णमासं च अग्निहोत्रं च धीमतः ।
चातुर्मास्यानि चैवासंस्तेषु धर्मः सनातनः ॥७॥

बुद्धिमान् गृहस्थ के लिए दर्श, पौर्णमास, अग्नि-होत्र और चातुर्मास्य आदि के अनुष्ठान का विधान है, क्योंकि उनमें सनातनधर्म की स्थिति है।

अनारम्भाः सुधृतयः शुचयो ब्रह्मसंज्ञिताः ।
ब्रह्मणैव स्म ते देवाँस्तर्पयन्त्यमृतैषिणः ॥८॥

परन्तु जो संन्यास ग्रहण करके कर्म-अनुष्ठान से निवृत्त हो गये हैं तथा धीर, पवित्र और ब्रह्मस्वरूप में स्थित हैं, वे अविनाशी ब्रह्म को चाहनेवाले महात्मा पुरुष ब्रह्मज्ञान से ही देवताओं को तृप्त करते हैं।

चतुर्द्वारं पुरुषं चतुर्मुखं
चतुर्धा चैनमुपयाति वाचा ।
बाहुभ्यां वाच उदरादुपस्थात्
तेषां द्वारं द्वारपालो बुभूषेत् ॥९॥

मनुष्यों के हाथ-पैर, वाणी, उदर और उपस्थ—ये चार द्वार हैं। इनका द्वारपाल होने की इच्छा करे अर्थात् इनपर संयम रखे। वह शास्त्रवाक्यों के अनुसार इन चारों द्वारों के संयम से प्राप्त होनेवाले ऋक्, यजुः, साम, अथर्वरूप—चार मुखों से युक्त परमपुरुष परमात्मा को भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्म-योग तथा अष्टाङ्गयोग—इन चार उपायों से प्राप्त करता है।

नाक्षैर्दीव्येन्नाददीतान्यवित्तं
न वायोनीयस्य शृतं प्रगृह्णात् ।
क्रुद्धो न चैव प्रहरेत धीमाँ-
स्तथास्य तत्पाणिपादं सुगुप्तम् ॥१०

बुद्धिमान् पुरुष जूआ न खेले, दूसरों के धन का अपहरण न करे। नीच पुरुष का बनाया हुआ अन्न ग्रहण न करे और क्रोध में आकर किसी को मार न बैठे—ऐसा करने से उसके हाथ-पैर सुरक्षित रहते हैं।

नाक्रोशमृच्छेन्न वृथा वदेच्च
न पैशुनं जनवादं च कुर्यात् ।
सत्यव्रतो मितभाषोऽप्रमत्त-
स्तथास्य वाग्द्वारमथो सुगुप्तम् ॥१

किसी को गाली न दे, व्यर्थ न बोले, दूसरों की चुगली या निन्दा न करे, मितभाषी हो, सत्य वचन बोले और सत्यभाषण के लिए सदा सावधान रहे—ऐसा आचरण करने से वाक्-इन्द्रियरूपी द्वार की रक्षा होती है।

नानाशनः स्यान्न महाशनः स्या-
दलोलुपः साधुभिरागतः स्यात् ।
यात्रार्थमाहारमिहाददीत
तथास्य स्याज्जाठरी द्वारगुप्तिः ॥१

उपवास न करे, परन्तु ठूँस-ठूँसकर भी न खाय। सदा भोजन के लिए लालायित न रहे। सज्जनों का सङ्ग करे और जीवन-निर्वाह के लिए जितना आवश्यक हो, उतना ही अन्न पेट में डाले—ऐसा करने से उदरद्वार की सुरक्षा होती है।

न वीर पत्नीं विहरेत नारीं
न चाऽपि पत्नीमनृतौ हि गच्छेत् ।

भार्याव्रतं ह्यात्मनि धारयीत
उपस्थद्वारे गुप्तिस्तथा भवेत् ॥१३॥

वीर युधिष्ठिर ! मनुष्य को चाहिए कि अपनी धर्मपत्नी के साथ ही विहार करे, पर-स्त्री के साथ नहीं। अपनी पत्नी को भी जबतक वह ऋतुस्नाता न हुई हो, समागम के लिए अपने पास न बुलाये तथा मन में एकपत्नीव्रत धारण करे। ऐसा करने से उसके उपस्थद्वार की रक्षा होती है।

द्वाराणि यस्य सर्वाणि सुगुप्तानि मनीषिणः।
उपस्थमुदरं बाहू वाक् चतुर्थी स वै द्विजः ॥१४॥

जिस मनीषी मनुष्य के उपस्थ, उदर, हाथ-पैर और वाणी—ये सभी द्वार पूर्णतः रक्षित हैं, वही वास्तव में ब्राह्मण है।

मोघान्यगुप्तद्वारस्य सर्वाण्येव भवन्त्युत।
किं तस्य तपसा कार्यं किं यज्ञेन किमात्मना ॥१५॥

जिसके ये द्वार सुरक्षित नहीं हैं, उसके सारे शुभ कर्म निष्फल होते हैं। ऐसे मनुष्य को तपस्या, यज्ञ और आत्मचिन्तन से क्या लाभ हो सकता है ?

अनुत्तरीयवसनमनुपस्तीर्णशायिनम् ।□
बाहूपधानं शाम्यन्तं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥१६॥

जिसके पास वस्त्र के नाम पर एक लंगोटीमात्र है, ओढ़ने के लिए एक चादर तक नहीं है, जो बिना बिछौने के ही सोता है, बाँहों का तकिया लगाता है और सदा शान्तभाव से रहता है, उसी को विद्वान् लोग ब्राह्मण मानते हैं।

न वेदानां परिभवान्न शाठ्येन न मायया।
महत्प्राप्नोति पुरुषो ब्रह्मणि ब्रह्मविन्दति ॥१७॥

वेदों का अनादर करने से, शठता से और छल-कपटपूर्ण व्यवहार से कोई भी मनुष्य परब्रह्म-परमात्मा को नहीं पा सकता। वेदों तथा उसमें बताये हुए कर्मों का आश्रय लेने पर ही उसे ब्रह्म की प्राप्ति होती है।

सर्वं विदुर्वेदविदो वेदे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
वेदे हि निष्ठा सर्वस्य यद्यदस्ति च नास्ति च ॥१८॥

वेदज्ञ पुरुष सभी विषयों को जानते हैं क्योंकि वेदों में सब-कुछ प्रतिष्ठित है। जो-जो वस्तु है और जो नहीं है, उन सबकी स्थिति वेद में बताई गई है।

तपस्विनो धृतिमन्तः श्रुतिविज्ञानचक्षुषः।
सर्वमार्षं हि मन्यन्ते व्याहृतं विदितात्मनः ॥१९॥

तपस्वी, धैर्यवान्, वेद एवं विज्ञानरूप दृष्टि से सम्पन्न ऋषि-मुनि वेद को नित्यज्ञान-सम्पन्न परमेश्वर की निःश्वासभूत वाणी मानते हैं।

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥२०॥

ब्रह्म के दो रूप समझने चाहिएँ—शब्दब्रह्म [वेद] और परब्रह्म [सच्चिदानन्द-स्वरूप परमात्मा]। जो मनुष्य शब्दब्रह्म में पारंगत है, वह परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

ज्ञानं प्लावयते सर्वं यो ज्ञानं ह्यनुवर्तते।
ज्ञानादपेत्य या वृत्तिः सा विनाशयति प्रजाः ॥२१॥

जो ज्ञान का अनुसरण करता है, ज्ञान उसके समस्त संसार-बन्धन का नाश कर देता है। जो ज्ञान-रहित प्रवृत्ति होती है, वह प्रजा को जन्म और मरण के चक्र में डालकर उसका विनाश कर देती है।

आनृशंस्यं क्षमा शान्तिरहिंसा सत्यमार्जवम् ।□
अद्रोहोऽनभिमानश्च ह्रीस्तितिक्षा शमस्तथा।
पन्थानो ब्रह्मणस्त्वेते एतैः प्राप्नोति यत्परम् ॥२२॥

सम्पूर्ण प्राणियों पर दया, क्षमा, शान्ति, अहिंसा, सत्यभाषण, सरलता, निर्वैरता, निरभिमानता, लज्जा, तितिक्षा [सहनशीलता] और शम—ये पर-ब्रह्म-परमात्मा की प्राप्ति के मार्ग हैं। इनके द्वारा मनुष्य परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५३॥

चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

धर्म, अधर्म, वैराग्य और मोक्ष के सम्बन्ध में युधिष्ठिर के प्रश्न और उनका उत्तर, मोक्ष के साधनों का वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

कथं भवति पापात्मा कथं धर्मं करोति वा ।
केन निर्वेदमादत्ते मोक्षं वा केन गच्छति ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! मनुष्य पापी कैसे बन जाता है ? वह धर्माचरण कैसे करता है ? उसे वैराग्य कैसे प्राप्त होता है और वह मोक्ष की प्राप्ति किस साधन से करता है ?

भीष्म उवाच

विदिताः सर्वधर्मास्ते स्थित्यर्थं त्वं तु पृच्छसि ।
शृणु मोक्षं सनिर्वेदं पापं धर्मं च मूलतः ॥२॥

भीष्मजी बोले—राजन् ! तुम्हें सब धर्मों [आचरणीय कर्तव्यों] का ज्ञान है। तुम तो लोक-मर्यादा की रक्षा और मेरी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए मुझसे प्रश्न कर रहे हो। अच्छा, अब तुम मोक्ष, वैराग्य, पाप और धर्म का मूल क्या है, इन विषयों का श्रवण करो।

विज्ञानार्थं हि पञ्चानामिच्छा पूर्वं प्रवर्तते ।
प्राप्यैकं जायते कामो द्वेषो वा भरतर्षभ ॥३॥

भरतश्रेष्ठ ! मनुष्य को सर्वप्रथम [शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इन] पाँचों विषयों का अनुभव करने की इच्छा उत्पन्न होती है। तत्पश्चात् उन पाँचों विषयों में से किसी एक को प्राप्त करके उसके प्रति राग या द्वेष हो जाता है।

ततस्तदर्थं यतते कर्म चारभते महत् ।
इष्टानां रूपगन्धानामभ्यासं च चिकीर्षति ॥४॥

फिर जिसके प्रति राग होता है, उसकी प्राप्ति का प्रयत्न करता है। बड़े-बड़े कार्यों का आरम्भ करता है। वह अपने इच्छित रूप और गन्ध आदि का बारम्बार सेवन करना चाहता है।

ततो रागः प्रभवति द्वेषश्च तदनन्तरम् ।
ततो लोभः प्रभवति मोहश्च तदनन्तरम् ॥५॥

इससे उन विषयों के प्रति उसके मन में राग उत्पन्न हो जाता है। फिर प्रतिकूल विषय से द्वेष होता है। तत्पश्चात् अनुकूल विषय के लिए लोभ होता है और लोभ के पश्चात् उसके मन पर मोह अधिकार जमा लेता है।

लोभमोहाभिभूतस्य रागद्वेषान्वितस्य च ।
न धर्मे जायते बुद्धिर्व्याजाद् धर्मं करोति च ॥६॥

लोभ और मोह से घिरे हुए तथा राग-द्वेष के वशीभूत हुए मनुष्य की बुद्धि धर्म में प्रवृत्त नहीं होती। वह किसी-न-किसी बहाने से [दिखावे-मात्र के लिए] धर्माचरण किया करता है।

व्याजेन चरते धर्ममर्थं व्याजेन रोचते ।
व्याजेन सिद्ध्यमानेषु धनेषु कुरुनन्दन ॥७॥
तत्रैव कुरुते बुद्धि ततः पापं चिकीर्षति ।
सुहृद्भिर्वार्यमाणोऽपि पण्डितैश्चापि भारत ॥८॥

कुरुनन्दन ! वह किसी बहाने से ही धर्म करता है, छल-कपट से धन कमाने में रुचि रखता है और यदि कपट से धन-प्राप्ति में सफलता मिल गई तो वह उसी में अपनी सारी बुद्धि लगा देता है। भारत! फिर तो वह सुहृदों और विद्वानों के मना करने पर भी केवल पाप ही करना चाहता है।

अधर्मस्त्रिविधस्तस्य वर्धते रागमोहजः ।
पापं चिन्तयते चैव प्रब्रवीति करोति च ॥९॥

फिर उसका राग तथा मोहजनित तीन प्रकार का अधर्म बढ़ता है। वह मन से पाप की ही बात सोचता है, वाणी से पाप की बात ही बोलता है और क्रिया द्वारा भी पाप ही करता है।

स नेह सुखमाप्नोति कुत एव परत्र वै ।
एवं भवति पापात्मा धर्मात्मानं तु मे शृणु ॥१०॥

ऐसा मनुष्य इस लोक में ही सुख नहीं पा सकता, फिर परलोक में तो पा ही कैसे सकता है ! इस प्रकार मनुष्य पापी हो जाता है। अब धर्मात्मा के विषय में मुझसे सुनो !

यथा कुशलधर्मा स कुशलं प्रतिपद्यते ।
कुशलेनैव धर्मेण गतिमिष्टां प्रपद्यते ॥११॥

धर्मात्मा मनुष्य जैसे परहित-साधक कल्याणकारी धर्म का आचरण करता है, वैसे ही कल्याण का भागी होता है। वह कल्याणकारक धर्म के प्रभाव से ही अभीष्ट गति को प्राप्त होता है।

य एतान् प्रज्ञया दोषान् पूर्वमेवानुपश्यति।
कुशलः सुखदुःखानां साधूँश्चाप्यथ सेवते।
तस्य साधुसमाचारादभ्यासाच्चैव वर्धते ॥१२॥

जो मनुष्य अपनी बुद्धि से राग आदि दोषों को पहले ही देख लेता है, वह सुख-दुःख को समझने में प्रवीण हो जाता है। फिर वह श्रेष्ठ पुरुषों का सङ्ग करता है। उनके सत्सङ्ग और उत्तम कर्मों के आचरण से उसकी बुद्धि बढ़ती है।

प्रज्ञा धर्मे च रमते धर्मं चैवोपजीवति।
सोऽथ धर्मादवाप्तेषु धनेषु कुरुते मनः ॥१३॥

वह बढ़ी हुई बुद्धि धर्म में ही सुख मानती और उसी का आश्रय लेती है। वह मनुष्य धर्म से प्राप्त होनेवाले धन में ही मन लगाता है।

तस्यैव सिञ्चते मूलं गुणान् पश्यति यत्र वै।
धर्मात्मा भवति ह्येवं मित्रं च लभते शुभम् ॥१४॥

वह जहाँ गुण देखता है, उसी के मूल को सींचता है। ऐसा करने से वह पुरुष धर्मात्मा बन जाता है और शुभकारक मित्र प्राप्त कर लेता है।

स मित्रधनलाभात्तु प्रेत्य चेह च नन्दति।
शब्दे स्पर्शे रसे रूपे तथा गन्धे च भारत ॥१५॥
प्रभुत्वं लभते जन्तुर्धर्मस्यैतत् फलं विदुः।
स तु धर्मफलं लब्ध्वा न हृष्यति युधिष्ठिर ॥१६॥

भरतनन्दन! श्रेष्ठ मित्र और धन की प्राप्ति से वह इहलोक और परलोक—दोनों में आनन्दित होता है। ऐसा पुरुष शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध—इन पाँचों विषयों पर अधिकार प्राप्त कर लेता है। इसे धर्म का फल माना जाता है। युधिष्ठिर! वह धर्म का फल पाकर भी हर्ष से फूलकर कुप्पा नहीं हो जाता।

अतृप्यमानो निर्वेदमादत्ते ज्ञानचक्षुषा।
प्रज्ञाचक्षुर्यदा कामे रसे गन्धे न रज्यते ॥१७॥
शब्दे स्पर्शे तथा रूपे न च भावयते मनः।
विमुच्यते यदा कामान्न च धर्मं विमुञ्चति ॥१८॥

इससे तृप्त न होनेवाला विवेकदृष्टि से वैराग्य को ही ग्रहण करता है। बुद्धिरूपी नेत्र खुल जाने के कारण जब वह कामोपभोग, रस और गन्ध में अनुरक्त नहीं होता और शब्द, स्पर्श तथा रूप में भी उसका चित्त चलायमान नहीं होता, तब वह सब कामनाओं से मुक्त हो जाता है और धर्म का त्याग नहीं करता।

सर्वत्यागे च यतते दृष्ट्वा लोकं क्षयात्मकम्।
ततो मोक्षाय यतते नानुपायादुपायतः ॥१९॥
शनैर्निर्वेदमादत्ते पापं कर्म जहाति च।
धर्मात्मा चैव भवति मोक्षं च लभते परम् ॥२०॥

फिर वह सम्पूर्ण लोकों को नाशवान् समझकर मन से सर्वस्व को त्याग देने का प्रयत्न करता है। तत्पश्चात् वह अनुचित उपाय से नहीं, अपितु योग्य उपाय से मोक्षप्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हो जाता है। इस प्रकार शनैः-शनैः मनुष्य को वैराग्य की प्राप्ति होने पर वह पापकर्म तो छोड़ देता है और धर्मात्मा बन जाता है। अन्त में वह अपने परम लक्ष्य [मोक्ष] को प्राप्त कर लेता है।

तस्माद् धर्मे प्रवर्तेथाः सर्वावस्थं युधिष्ठिर।
धर्मे स्थितानां कौन्तेय सिद्धिर्भवति शाश्वती ॥२१॥

कुन्तीकुमार युधिष्ठिर! तुम सभी अवस्थाओं में धर्म का ही आचरण करो, क्योंकि जो लोग धर्म में स्थित रहते हैं, उन्हें सदा [परान्तकाल तक] रहनेवाली मोक्षरूपी परम सिद्धि प्राप्त होती है।

युधिष्ठिर उवाच

मोक्षः पितामहेनोक्त उपायान्नानुपायतः।
तमुपायं यथान्यायं श्रोतुमिच्छामि भारत ॥२२॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह! आपने उचित उपाय से मोक्ष-प्राप्ति की बात बताई, अनुचित उपाय से नहीं। भरतनन्दन! वह यथायोग्य उपाय क्या है? यह मैं सुनना चाहता हूँ।

भीष्म उवाच

पूर्वे समुद्रे यः पन्थाः स न गच्छति पश्चिमम्।
एकः पन्था हि मोक्षस्य तन्मे निगदतः शृणु ॥२३॥

भीष्मजी ने कहा—देखो, जो मार्ग पूर्व-समुद्र की ओर जाता है, वह पश्चिम-समुद्र की ओर नहीं

जा सकता। इसी प्रकार मोक्ष का भी एक ही मार्ग है। मैं उसे बताता हूँ, तुम ध्यानपूर्वक सुनो!

कामं क्रोधं च लोभं च भयं स्वप्नं च पञ्चमम्।
परित्यज्य निषेवेत यतवाग्योगसाधनम् ॥२४॥

काम, क्रोध, लोभ, भय और निद्रा—इन पाँचों दोषों का परित्याग करके वाणी को वश में रखते हुए योग-साधनों का सेवन करना चाहिए।

ध्यानमध्ययनं दानं सत्यं ह्रीरार्जवं क्षमा।
शौचमाहारतः शुद्धिरिन्द्रियाणां च संयमः ॥२५॥
एतैर्विवर्धते तेजः पाप्मानमुपहन्ति च।
सिध्यन्ति चास्य संकल्पा विज्ञानं च प्रवर्तते ॥२६॥

ध्यान, अध्ययन, दान, सत्य, लज्जा, सरलता, क्षमा, बाहर-भीतर की पवित्रता, आहार-शुद्धि तथा इन्द्रियों का वशीकरण—ये ही योग के साधन हैं। इन सबके द्वारा साधक का तेज बढ़ता है। वह अपने पापों का प्रक्षालन करता है। उसके संकल्प सिद्ध होने लगते हैं और हृदय में विज्ञान का आविर्भाव हो जाता है।

धूतपापः स तेजस्वी लघ्वाहारो जितेन्द्रियः।
कामक्रोधौ वशे कृत्वा निनीषेद् ब्रह्मणः पदम् ॥२७॥

इस प्रकार जब जीवन के दोष दूर हो जाएँ और साधक तेजस्वी, मिताहारी तथा जितेन्द्रिय हो जाए तब वह काम और क्रोध को अपने वश में करके अपने-आपको ब्रह्मपद में प्रतिष्ठित करने की इच्छा करे।

अमूढत्वमसंगित्वं कामक्रोधविवर्जनम्।
अदैन्यमनुदीर्णत्वमनुद्वेगो व्यवस्थितिः ॥२८॥
एष मार्गो हि मोक्षस्य प्रसन्नो विमलः शुचिः।
तथा वाक्कायमनसां नियमः कामतोऽन्यथा ॥२९॥

मूढ़ता और आसक्ति का अभाव, काम और क्रोध का परित्याग, दीनता, उद्दण्डता तथा उद्वेग से रहित होना, चित्त की स्थिरता और निष्काम भाव से मन, वाणी एवं इन्द्रियों का संयम—यह मोक्ष का स्वच्छ, निर्मल और पवित्र मार्ग है।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५४॥

पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

तृष्णा-परित्याग के विषय में माण्डव्य मुनि और जनक का संवाद

युधिष्ठिर उवाच

भ्रातरः पितरः पौत्रा ज्ञातयः सुहृदः सुताः।
अर्थहेतोर्हताः क्रूरैरस्माभिः पापकर्मभिः ॥१॥
येयमर्थोद्भवा तृष्णा कथमेतां पितामह।
निवर्तयेयं पापानि तृष्णया कारिता वयम् ॥२॥

युधिष्ठिर ने पूछा—हमने धन के लिए ही भाई, पिता, पौत्र, सम्बन्धी, सुहृद् और पुत्र—इन सबका संहार करा डाला, अतः हम लोग बड़े पापी और क्रूर हैं। पितामह! यह जो धनजनित तृष्णा है, इसी ने हमसे बड़े-बड़े पाप कराये हैं। हम इस तृष्णा को कैसे जीतें?

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
गीतं विदेहराजेन माण्डव्यायानुपृच्छते ॥३॥

भीष्मजी बोले—राजन्! एक बार माण्डव्य मुनि ने विदेहराज जनक से यही प्रश्न पूछा था, उसके उत्तर में विदेहराज ने जो उद्गार प्रकट किया ऐसे अवसरों पर विद्वान् लोग उसी प्राचीन इतिहा का दृष्टान्त देते हैं।

सुसुखं बत जीवामि यस्य मे नास्ति किञ्चन।
मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किञ्चन ॥४॥

राजा जनक ने कहा था—मैं बड़े सुख से जीव व्यतीत करता हूँ, क्योंकि इस संसार की कोई वस्तु मेरी नहीं है—किसी पर भी मेरा ममत्व है। यदि सारी मिथिला नगरी भी भस्म हो जाए, भी मेरा कुछ नहीं जलता है।

अर्थाः खलु समृद्धा हि बाढं दुःखं विजानताम्।
असमृद्धास्त्वपि सदा मोहयन्त्यविचक्षणान् ॥५॥

अत्यन्त समृद्धिसम्पन्न विषय भी विवेकियों

दुःखरूप ही जान पड़ते हैं परन्तु अज्ञानियों को तुच्छ विषय भी सदा मोह में डाले रहते हैं ।

यथैव शृङ्गं गोः काले वर्धमानस्य वर्धते ।
तथैव तृष्णा वित्तेन वर्धमानेन वर्धते ॥६॥

जैसे समयानुसार बढ़ते हुए बछड़े का सींग भी उसके शरीर के साथ ही बढ़ता जाता है, वैसे ही बढ़ते हुए धन के साथ मनुष्य की तृष्णा भी बढ़ती जाती है ।

किञ्चिदेव ममत्वेन यदा भवति कल्पितम् ।
तदेव परितापाय नाशे सम्पद्यते पुनः ॥७॥

कोई भी वस्तु क्यों न हो, जब उसके प्रति ममता कर ली जाती है—उसे अपना मान लिया जाता है, तब वही नष्ट होने पर सन्ताप का कारण बन जाती है ।

न कामाननुरुद्ध्येत दुःखं कामेषु वै रतिः ।
प्राप्यार्थमुपयुञ्जीत धर्मे कामान् विसर्जयेत् ॥८॥

कामनाओं अथवा भोगों की वृद्धि के लिए आग्रह नहीं रखना चाहिए । भोगों में जो आसक्ति होती है, वह दुःखरूप ही है । धन प्राप्त करके भी उसे धर्म में ही लगा देना चाहिए । काम-भोगों को तो सर्वथा त्याग देना चाहिए ।

विद्वान् सर्वेषु भूतेषु आत्मना सोपमो भवेत् ।
कृतकृत्यो विशुद्धात्मा सर्वं त्यजति चैव हि ॥९॥

बुद्धिमान् मनुष्य सभी प्राणियों के प्रति अपने समान ही भाव रखे । इससे वह कृतकृत्य और शुद्धचित्त होकर समस्त दोषों को त्याग देता है ।

उभे सत्यानृते त्यक्त्वा शोकानन्दौ प्रियाप्रिये ।
भयाभये च सन्त्यज्य स प्रशान्तो निरामयः ॥१०॥

वह [बुद्धिमान् मनुष्य] सत्य-असत्य, हर्ष-शोक, प्रिय-अप्रिय और भय-अभय आदि सभी द्वन्द्वों को त्यागकर अत्यन्त शान्त और निर्विकार हो जाता है ।

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः ।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम् ॥११॥

दुर्बुद्धियों के लिए जिसका त्याग अत्यन्त कठिन है, जो शरीर के वृद्ध हो जाने पर भी स्वयं जीर्ण न होकर नई-नवेली ही बनी रहती है, जिसे प्राणान्तकाल तक रहनेवाला रोग माना गया है, उस तृष्णा को जो त्याग देता है, उसी को परमसुख की प्राप्ति होती है ।

चारित्रमात्मनः पश्यंश्चन्द्रशुद्धमनामयम् ।
धर्मात्मा लभते कीर्ति प्रेत्य चेह यथासुखम् ॥१२॥

जो अपने आचार को चन्द्रमा के समान विशुद्ध, उज्ज्वल और निर्विकार देखता है, वह धर्मात्मा पुरुष इहलोक और परलोक में कीर्ति तथा उत्तम सुख पाता है ।

राज्ञस्तद् वचनं श्रुत्वा प्रीतिमानभवद् द्विजः ।
पूजयित्वा च तद्वाक्यं माण्डव्यो मोक्षमाश्रितः ॥१३॥

राजा जनक के ये उत्तम वचन सुनकर मुनिवर माण्डव्य अति प्रसन्न हुए । उनके कथन की प्रशंसा करके उन्होंने [मुनि ने] मोक्षमार्ग का आश्रय लिया ।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५५॥

षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

संन्यासी के स्वभाव, आचरण और धर्मों का वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

किंशीलः किंसमाचारः किंविद्यः किंपरायणः ।
प्राप्नोति ब्रह्मणः स्थानं यत् परं प्रकृतेर्ध्रुवम् ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! प्रकृति से परे जो परब्रह्म का अविनाशी परमधाम=मोक्षपद है, उसे कैसे स्वभाव, किस प्रकार के आचरण, कैसी विद्या तथा किन कर्मों में तत्पर रहनेवाला मनुष्य प्राप्त कर सकता है ?

भीष्म उवाच

मोक्षधर्मेषु निरतो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ।
प्राप्नोति परमं स्थानं यत् परं प्रकृतेर्ध्रुवम् ॥२॥

भीष्मजी बोले—राजन् ! जो मनुष्य मोक्ष-

साधक कर्मों में तत्पर, मिताहारी तथा जितेन्द्रिय होता है, वह उस प्रकृति से परे परब्रह्म परमात्मा के मोक्षधाम को प्राप्त कर लेता है।

स्वगृहादभिनिःसृत्य लाभेऽलाभे समो मुनिः।
समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥३॥

मुमुक्षु [मोक्ष-अभिलाषी] को चाहिए कि लाभ-हानि में समान भाव रखकर मुनिवृत्ति से रहे और भोगों के उपलब्ध होने पर भी उनके भोगने की इच्छा से रहित हो अपने घर से निकलकर संन्यास ग्रहण कर ले।

न चक्षुषा न मनसा न वाचा दूषयेदपि।
न प्रत्यक्षं परोक्षं वा दूषणं व्याहरेत् क्वचित् ॥४॥

वह नेत्र, मन और वाणी से दूसरों के दोष न देखे, न सोचे और न कहे। किसी के सामने या परोक्ष में पराये दोषों की चर्चा भी कहीं न करे।

न हिंस्यात् सर्वभूतानि मैत्रायणगतश्चरेत्।
नेदं जीवितमासाद्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥५॥

समस्त प्राणियों में से किसी की भी हिंसा न करे—किसी के प्रति वैरभाव न रखे। सबके प्रति मित्रभाव रखकर विचरता रहे। इस क्षणभङ्गुर जीवन को लेकर किसी के साथ शत्रुता न करे।

अतिवादाँस्तितिक्षेत नाभिमन्येत कञ्चन।
क्रोध्यमानः प्रियं ब्रूयादाक्रुष्टः कुशलं वदेत् ॥६॥

यदि कोई निन्दा करे या कटुवचन कहे तो उन्हें चुपचाप सह ले। किसी के प्रति अहंकार अथवा घमण्ड प्रकट न करे। कोई क्रोध भी करे तो उससे प्रियवचन ही बोले। यदि कोई गाली दे, तो भी उसके प्रति कल्याणकारी वचन ही बोले।

अवकीर्णः सुगुप्तश्च न वाचा ह्यप्रियं वदेत्।
मृदुः स्यादप्रतिक्रूरो विस्रब्धः स्यादकत्थनः ॥७॥

कोई धूल या कीचड़ फेंके तो मुमुक्षु उससे आत्मरक्षा मात्र करे। मुख से कोई अप्रियवचन न बोले। सर्वदा मृदुता का व्यवहार करे। किसी के प्रति कठोरता न करे। निश्चिन्त रहे और बहुत बढ़-बढ़कर बातें न बनाये।

न चान्नदोषान् निन्देत न गुणानभिपूजयेत्।
शय्यासने विविक्ते च नित्यमेवाभिपूजयेत् ॥८॥

भिक्षा में प्राप्त अन्न के दोष बताकर उसकी निन्दा न करे और न उसके गुण बताकर उन गुणों की प्रशंसा ही करे। सोने और बैठने के लिए सदा एकान्त का ही आदर करे।

नित्यतृप्तः सुसन्तुष्टः प्रसन्नवदनेन्द्रियः।
विभीर्जप्यपरो मौनी वैराग्यं समुपाश्रितः ॥९॥

सर्वदा तृप्त और सन्तुष्ट रहे। मुख और इन्द्रियों को प्रसन्न रखे। निर्भीक रहे। प्रणव [ओम्] का जप करता रहे और वैराग्य का आश्रय लेकर मौन रहे।

विजानतां मोक्ष एष श्रमः स्यादविजानताम्।
मोक्षयानमिदं कृत्स्नं विदुषां हारितोऽब्रवीत् ॥१०॥

यह संन्यासाश्रम ज्ञानियों के लिए तो मोक्षरूप है परन्तु अज्ञानियों के लिए श्रमरूप ही है। हारीत मुनि ने विद्वानों के लिए इस सम्पूर्ण धर्म को मोक्ष का विमान बताया है।

अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा यः प्रव्रजेद् गृहात्।
लोकास्तेजोमयास्तस्य तथाऽऽनन्त्याय कल्पते ॥११॥

जो मनुष्य सबको अभयदान देकर घर से निकल जाता है, उसे तेजोमय लोकों की प्राप्ति होती है तथा वह अनन्त परमात्मपद को प्राप्त करने में समर्थ होता है।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५६॥

सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

सङ्गम का नारदजी से शोकहीन स्थिति का वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

शोकाद् दुःखाच्च मृत्योश्च त्रसन्ते प्राणिनः सदा ।
उभयं नो यथा न स्यात् तन्मे ब्रूहि पितामह ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! संसार के सभी प्राणी सदा शोक-दुःख तथा मृत्यु से डरते रहते हैं, अतः आप हमें ऐसा उपदेश दें, जिससे हम लोगों को उन दोनों का भय न रहे ।

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
नारदस्य च संवादं सङ्गमस्य च भारत ॥२॥

भीष्मजी बोले—भरतकुमार ! इस विषय में विज्ञ लोग देवर्षि नारद और सङ्गमजी के संवादरूप प्राचीन इतिहास का कथन किया करते हैं ।

नारद उवाच

उरसेव प्रणमसे बाहुभ्यां तरसीव च ।
सम्प्रहृष्टमना नित्यं विशोक एव लक्ष्यसे ॥३॥

नारद ने पूछा—सङ्गमजी ! अन्य लोग त सिर झुकाकर प्रणाम करते हैं, परन्तु आप हृदय से प्रणाम करते जान पड़ते हैं । प्रतीत होता है, आप इस संसार-समुद्र को अपनी दोनों भुजाओं से ही तैरकर पार हो जाएँगे । आपका मन सदा प्रसन्न रहता है और आप सदा शोकशून्य-से दिखाई देते हैं ।

उद्वेगं न हि ते किञ्चित्सुसूक्ष्ममपि लक्षये ।
नित्यतृप्त इव स्वस्थो बालवच्च विचेष्टते ॥४॥

मैं आपके मन में कभी कोई थोड़ा-सा भी उद्वेग नहीं देख पाता हूँ । आप सदा तृप्त की भाँति अपने में ही स्थित रहकर बालकों के समान चेष्टा करते हैं [इसका क्या कारण है] ?

सङ्गम उवाच

भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वमेतत्तु मानद ।
तेषां तत्त्वानि जानामि ततो न विमना ह्यहम् ॥५॥

सङ्गमजी बोले—दूसरों को मान देनेवाले नारद ! मैं भूत, वर्तमान और भविष्य—इन सबके स्वरूप तथा तत्त्व को जानता हूँ, अतः मेरे मन में कभी दुःख और शोक नहीं होता ।

अगाधाश्चाप्रतिष्ठाश्च गतिमन्तश्च नारद ।
अन्धा जडाश्च जीवन्ति पश्यास्मानपि जीवतः ॥६॥

नारदजी ! देखिए, जैसे संसार में गम्भीर, अप्रतिष्ठित, प्रगतिशील, अन्धे और मूर्ख मनुष्य भी जीवित रहते हैं, उसी प्रकार हम भी जी रहे हैं ।

सहस्रिणोऽपि जीवन्ति जीवन्ति शतिनस्तथा ।
शाकेन चान्ये जीवन्ति पश्यास्मानपि जीवतः ॥७॥

जो सहस्र-पति हैं, वे भी जीते हैं । जो सैकड़ों के स्वामी हैं, वे भी जीवन-यापन करते हैं । बहुत-से लोग साग [शाकभाजी] से ही जीवन-निर्वाह करते हैं, उसी प्रकार हमें भी जीवित समझिए ।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य नायोगाद् विन्दते सुखम् ।
धृतिश्च दुःखत्यागश्चेत्युभयं तु सुखं नृप ॥८॥

जिसका चित्त योगयुक्त नहीं है, उसे समत्व-बुद्धि प्राप्त नहीं होती । योग के बिना कोई सुख नहीं ाता । राजन् ! धैर्य तथा दुःखों के सम्बन्ध का त ग्रे ही दोनों सुख के कारण हैं ।

ि हर्षजननं हर्ष उत्सेकवर्धनः ।
उ ायैव तस्मात्तान्संत्यजाम्यहम् ॥९॥

हर्षजनक होती है । हर्ष अभिमान को अभिमान नरक=दुःख में गिराने- बढ़ा इन तीनों का त्याग किया हुआ वाला है ।

ोहनान् सुखदुःखयोः ।
एतान् शोकभया ान्
पश्यामि साक्षिवल्लोके देहस्यास्य विचेष्टनात् ॥१०॥

शोक, भय और अभिमान—ये प्राणियों को सुख-दुःख में फँसाकर मोहित क नेवाले हैं, अतः जबतक यह शरीर चेष्टा कर रहा है, तबतक मैं इन सबको साक्षी की भाँति देखता हूँ ।

अर्थकामौ परित्यज्य विशोको विगतज्वरः ।
तृष्णामोहौ तु सन्त्यज्य चरामि पृथि ीमिमाम् ॥११॥

अर्थ तथा काम का परित्याग कर और तृष्णा एवं मोह को सर्वथा छोड़कर मैं शोक और सन्ताप से रहित हुआ इस पृथिवी पर विचरता ँ ।

न च मृत्योर्न चाधर्मान्न लोभान्न कुतश्चन ।
पीतामृतस्येवात्यन्तमिह वामुत्र च भयम् ॥१२॥

जैसे अमृतपान कर लेनेवाले को मृत्यु से भय नहीं होता, वैसे ही मुझे भी इहलोक या परलोक में मृत्यु, अधर्म, लोभ तथा अन्य किसी भी बात से कोई भय नहीं है ।

एतद् ब्रह्मन् विजानामि महत्कृत्वा तपोऽव्ययम् ।
तेन नारद सम्प्राप्तो न मां शोकः प्रबाधते ॥१३॥

ब्रह्मन् ! मैंने महान् तथा अक्षय तप करके यही ज्ञान उपलब्ध किया है, अतः नारदजी ! शोक की परिस्थिति उपस्थित होकर भी मुझे व्याकुल नहीं कर सकती ।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५७॥

अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

भीष्मजी द्वारा श्रेयः मार्ग का निर्देश

युधिष्ठिर उवाच

अतत्त्वज्ञस्य शास्त्राणां सततं संशयात्मनः ।
अकृतव्यवसायस्य श्रेयो ब्रूहि पितामह ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! जिसे शास्त्रों के तत्त्व का ज्ञान नहीं है, जिसका मन दा संशय में उलझा रहता है और जिसने परमार्थ के लिए कोई निश्चित ध्येय नहीं बनाया है, ऐसे मनुष्य का कल्याण कैसे हो सकता है, यह मुझे बताइए ।

भीष्म उवाच

गुरुपूजा च सततं वृद्धानां पर्युपासनम्
श्रवणं चैव शास्त्राणां कूटस्थं श्रेय उच्य

भीष्मजी बोले—हे युधिष्ठिर ! । सम्मान, वृद्धों की सेवा तथा शास्त्रों ये तीन कल्याण के अमोघ साधन बता

अनुग्रहं च मित्राणाममित्राणां च
संग्रहं च त्रिवर्गस्य श्रेय आहु ३॥

सुहृदों पर कृपा करना, श त्रु को दण्ड देना तथा धर्म, अर्थ और काम—इस त्रिवर्ग का संग्रह करना—इसे मनीषी पुरुष श्रेय कहते हैं ।

निवृत्तिः कर्मणः पापात्स ततं पुण्यशीलता ।□
सद्भिश्च समुदाचारः श्रेय एतदसंशयम् ॥४॥

पापकर्मों से दूर र हना, सदा पुण्यकार्यों में ही लगे रहना तथा सज्जनों के साथ रहकर सदाचार का ठीक-ठीक पालन करना—यह निःसन्देह कल्याण का मार्ग है ।

मार्दवं सर्व तेषु व्यवहारेषु चार्जवम् ।□
वाक् चैव म धुरा प्रोक्ता श्रेय एतदसंशयम् ॥५॥

समस्त प्राणियों के प्रति कोमलता का व्यवहार करना, व्यवहार में सरल होना और मधुर भाषण—यह भी संशयरहित कल्याण का मार्ग है ।

दैवतेभ्यः पितृभ्यश्च संविभागोऽतिथिष्वपि ।
असंत्यागश्च भृत्यानां श्रेय एतदसंशयम् ॥६॥

विद्वानों, पितरों [विशेष ज्ञानी, माता-पिता आदि] और अतिथियों को उनका भाग देना तथा भरण-पोषण करने योग्य सेवकों का त्याग न करना—यह कल्याण-प्राप्ति का निश्चित साधन है ।

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यज्ञानं तु दुष्करम् ।□
यद् भूतहितमत्यन्तमेतत् सत्यं ब्रवीम्यहम् ॥७॥

सत्यभाषण भी कल्याण का साधक है परन्तु सत्य को यथार्थ रूप से जानना कठिन है । मैं तो उसी को सत्य कहता हूँ जिससे प्राणियों का अत्यन्त हित होता हो ।

अहंकारस्य च त्यागः प्रणयस्य च निग्रहः ।
सन्तोषश्चैकचर्या च कूटस्थं श्रेय उच्यते ॥८॥

अहंकार का त्याग, अनुराग का निग्रह, सन्तोष तथा एकान्तवास—यह सुनिश्चित श्रेय कहलाता है ।

धर्मेण वेदाध्ययनं वेदान्तानां तथैव च ।
ज्ञानार्थानां च जिज्ञासा श्रेय एतदसंशयम् ॥९॥

धर्माचरणपूर्वक वेद तथा वेद के अङ्गों का स्वाध्याय करना और उनके सिद्धान्तों को जानने की इच्छा को जाग्रत् रखना निःसन्देह कल्याण का साधन है ।

नक्तंचर्यां दिवास्वप्नमालस्यं पैशुनं मदम् ।□
अतियोगमयोगं च श्रेयसोऽर्थी परित्यजेत् ॥१०॥

कल्याण का इच्छुक रात्रि में घूमना, दिन में सोना, आलस्य, चुगली, मादक वस्तुओं का सेवन, अधिक भोजन और बहुत कम भोजन करना—इन सब बातों को त्याग दे।

न लोके दीप्यते मूर्खः केवलात्मप्रशंसया।
अपि चापिहितः श्वभ्रे कृतविद्यः प्रकाशते ॥११॥

मूर्ख मनुष्य केवल अपनी प्रशंसा करने से संसार में यश नहीं पा सकता। विद्वान् पुरुष गुफा में छिपा रहे तो भी उसकी प्रसिद्धि हो जाती है।

नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्नाप्यन्यायेन पृच्छतः।
ज्ञानवानपि मेधावी जडवत् समुपाविशेत् ॥१२॥

बुद्धिमान् मनुष्य ज्ञानी होने पर भी बिना पूछे किसी को कोई उपदेश न करे। अन्यायपूर्वक पूछने पर भी किसी के प्रश्न का उत्तर न दे; जड़[मूर्ख]की भाँति चुपचाप बैठा रहे।

एवं प्रवर्तमानस्य वृत्तिं प्राणिहितात्मनः।
तपसैवेह बहुलं श्रेयो व्यक्तं भविष्यति ॥१३॥

जो पूर्वोक्त प्रकार की वृत्ति से रहकर जीविका चलाता है तथा प्राणियों के हित-साधन में मन लगाये रहता है, उस मनुष्य को स्वधर्मरूप तप के अनुष्ठान से इस लोक में परमकल्याण की प्राप्ति अवश्य हो जाएगी।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५८॥

एकोनषष्टितमोऽध्यायः

अरिष्टनेमि का सगर को वैराग्योत्पादक मोक्षप्राप्ति का उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

कथं नु युक्तः पृथिवीं चरेदस्मद्विधो नृपः।
नित्यं कैश्च गुणैर्युक्तः सङ्गपाशाद् विमुच्यते ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह! मेरे-जैसा राजा किस साधन और कैसे व्यवहार से युक्त होकर पृथिवी पर विचरे तथा सदा किन गुणों से सम्पन्न होकर वह आसक्ति के बन्धनों से छूट सकता है?

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्येऽहमितिहासं पुरातनम्।
अरिष्टनेमिना प्रोक्तं सगरायानुपृच्छते ॥२॥

भीष्मजी बोले—राजन्! इस विषय में राजा सगर के पूछने पर अरिष्टनेमि ने जो उत्तर दिया था, वही प्राचीन इतिहास मैं तुम्हें सुनाऊँगा।

सगर उवाच

किं श्रेयः परमं ब्रह्मन् कृत्वेह सुखमश्नुते।
कथं न शोचेन्न क्षुभ्येदेतदिच्छामि वेदितुम् ॥३॥

सगर ने पूछा—ब्रह्मन्! इस लोक में मनुष्य किस परम कल्याणकारी कर्म का अनुष्ठान करके सुख का भागी होता है और किस उपाय से उसे शोक और क्षोभ प्राप्त नहीं होता—यह मैं जानना चाहता हूँ।

अरिष्टनेमिरुवाच

सुखं मोक्षसुखं लोके न च मूढोऽवगच्छति।
प्रसक्तः पुत्रपशुषु धनधान्यसमाकुलः ॥४॥

अरिष्टनेमि ने कहा—सगर! संसार में वास्तविक सुख तो मोक्ष-सुख ही है, परन्तु जो धनधान्य के उपार्जन में व्यग्र तथा पुत्र और पशुओं में आसक्त है, उस मूढ़ मनुष्य को उसका यथार्थ ज्ञान नहीं होता।

सक्तबुद्धिरशान्तात्मा न शक्यं तच्चिकित्सितुम्।
स्नेहपाशसितो मूढो न स मोक्षाय कल्पते ॥५॥

जिसकी बुद्धि विषयों में आसक्त है, जिसका मन अशान्त रहता है, ऐसे मनुष्य की चिकित्सा करनी कठिन है, क्योंकि जो स्नेह के बन्धन में बँधा हुआ है, वह मूढ़ मोक्षप्राप्ति का अधिकारी नहीं होता।

सक्तभावा विनश्यन्ति नरास्तत्र न संशयः।
आहारसंचयाश्चैव तथा कीटपिपीलिकाः।
असक्ताः सुखिनो लोके सक्ताश्चैव विनाशिनः ॥६॥

जिनका चित्त विषयों में आसक्त होता है, वे कीड़े-मकोड़ों की भाँति आहार का संग्रह करते-करते ही नष्ट हो जाते हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। जो आसक्ति से रहित हैं, वे ही इस संसार में सुखी हैं। आसक्त मनुष्यों का तो नाश ही होता है।

मृते वा जीविते वाऽपि यदि भोक्ष्यति वै जनः ।
स्वकृतं ननु बुद्ध्वैवं कर्तव्यं हितमात्मनः ॥७॥

तुम जीवित रहो या मर जाओ, तुम्हारा प्रत्येक स्वजन जब अपने-अपने किये हुए कर्मों का ही फल भोगेगा, तब इस तथ्य को जानकर तुम्हें भी अपने कल्याण के साधन में जुट जाना चाहिए ।

क्षुत्पिपासादयो भावा जिता यस्येह देहिनः ।
क्रोधो लोभस्तथा मोहः सत्त्ववान्मुक्त एव सः ॥८॥

जिसने भूख, प्यास, क्रोध, लोभ और मोह आदि भावों पर विजय प्राप्त कर ली है, ऐसा सत्त्व-सम्पन्न मनुष्य सदा मुक्त ही है ।

द्यूते पाने तथा स्त्रीषु मृगयायां च यो नरः ।
न प्रमाद्यति सम्मोहात् सततं मुक्त एव सः ॥९॥

जो मोहवश जुआ, मद्यपान, परस्त्रीगमन और शिकार खेलना आदि व्यसनों में आसक्त होने का प्रमाद नहीं करता है, वह भी सदा मुक्त ही है ।

सम्भवं च विनाशं च भूतानां चेष्टितं तथा ।
यस्तत्त्वतो विजानाति लोकेऽस्मिन् मुक्त एव सः ॥१०

जो प्राणियों के जन्म, मृत्यु तथा चेष्टाओं को ठीक-ठीक जानता है, वह भी इस संसार में मुक्त ही है ।

क्षौमं च कुशचीरं च कौशेयं वल्कलानि च ।
आविकं च समं चर्म यस्य स्यान्मुक्त एव सः ॥११॥

जिसके लिए सन के वस्त्र, कुश के चीर, रेशमी वस्त्र, वल्कल, ऊनी वस्त्र और मृगचर्म—सब समान हैं, वह भी मुक्त ही है ।

सुखदुःखे समे यस्य लाभालाभौ जयाजयौ ।
इच्छाद्वेषौ भयोद्वेगौ सर्वथा मुक्त एव सः ॥१२॥

जिसकी दृष्टि में सुख-दुःख, हानि-लाभ, जय-पराजय—सब समान हैं और जिसके इच्छा-द्वेष, भय और उद्वेग सर्वथा नष्ट हो गये हैं, वह भी मुक्त ही है ।

वलिपलितसंयोगे कार्श्यं वैवर्ण्यमेव च ।
कुब्जभावं च जरया यः पश्यति स मुच्यते ॥१३॥

वृद्धावस्था आने पर इस शरीर में झुर्रियां पड़ जाती हैं, सिर के बाल श्वेत हो जाते हैं, देह कृश एवं कान्तिहीन हो जाती है और कमर झुक जाने के कारण मनुष्य कुबड़ा हो जाता है—इन सब बातों की ओर जिसकी सदा ही दृष्टि रहती है, वह मुक्त हो जाता है ।

पुंस्त्वोपघातं कालेन दर्शनोपरमं तथा ।
बाधिर्यं प्राणमन्दत्वं यः पश्यति स मुच्यते ॥१४॥

समय आने पर पुरुषत्व नष्ट हो जाता है, आँखों से दिखाई नहीं देता, कान बहरे हो जाते हैं और प्राणशक्ति क्षीण हो जाती है—इन बातों पर जो सदा विचार करता रहता है, वह संसार-बन्धन से छूट जाता है ।

इतिमहाभारते शान्तिपर्वणि एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥५९॥

षष्टितमोऽध्यायः

पराशरगीता—कल्याण-प्राप्ति के साधन, कर्मफल की अनिवार्यता, सदाचार, धर्मपालन, तपोबल की महिमा और नाना प्रकार के धर्म तथा कर्तव्यों का उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

अतः परं महाबाहो यच्छ्रेयस्तद् वदस्व मे ।
न तृप्याम्यमृतस्येव वचसस्ते पितामह ॥१॥

युधिष्ठिर बोले—महाबाहु पितामह ! अब इसके पश्चात् जो भी कल्याणप्राप्ति का मार्ग हो, वह मुझे बताइए । जैसे अमृत का पान करने से मन नहीं भरता, वैसे ही आपके वचन-श्रवण से मेरी तृप्ति नहीं हो रही है ।

किं कर्म पुरुषः कृत्वा शुभं पुरुषसत्तम ।
श्रेयः परमवाप्नोति प्रेत्य चेह च तद्वद ॥२॥

पुरुषप्रवर ! मनुष्य कौन-सा शुभ कर्म करके लोक और परलोक में परम-कल्याण की प्राप्ति सकता है, यह मुझे बताने की कृपा करें ।

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्यामि यथापूर्वं महायशाः ।
पराशरं महात्मानं पप्रच्छ जनको नृपः ॥३॥

भीष्मजी ने कहा—युधिष्ठिर ! इस विषय में भी मैं तुम्हें पूर्ववत् एक प्राचीन इतिहास सुनाऊँगा। एकबार महायशस्वी राजा जनक ने महात्मा पराशर मुनि से पूछा—

किं श्रेयः सर्वभूतानामस्मिल्लोके परत्र च ।
यद्भवेत्प्रतिपत्तव्यं तद् भवान् प्रब्रवीतु मे ।।४।।

"मुने ! कौन-सी ऐसी वस्तु है, जो सभी प्राणियों के लिए इस लोक और परलोक में भी कल्याणकारी तथा जानने योग्य है ? उसे आप मुझे बताइए ।

ततः स तपसा युक्तः सर्वधर्मविधानवित् ।
नृपायानुग्रहमना मुनिर्वाक्यमथाब्रवीत् ।।५।।

तब सम्पूर्ण धर्मों के विधान को जाननेवाले वे तपस्वी मुनि महाराज जनक पर अनुग्रह करने की इच्छा से इस प्रकार बोले—

पराशर उवाच

धर्म एव कृतः श्रेयानिहलोके परत्र च ।
तस्माद्धि परमं नास्ति यथा प्राहुर्मनीषिणः ।।६।।

पराशरजी बोले— राजन् ! मननशील लोगों का कथन है कि धर्म का विधिपूर्वक अनुष्ठान किया जाए तो वह इहलोक और परलोक में कल्याणकारी होता है। धर्म से बढ़कर श्रेय का उत्तम साधन अन्य कोई नहीं है ।

प्रतिपद्य नरो धर्मं स्वर्गलोके महीयते ।
धर्मात्मकः कर्मविधिर्देहिनां नृपसत्तम ।।७।।

नृपश्रेष्ठ ! धर्म को जानकर उसका आश्रय लेनेवाला मनुष्य स्वर्ग में गौरव पाता है । शास्त्रों में जो 'सत्यं वद, धर्मं चर—सत्य बोलो, धर्माचरण करो', दान दो, यज्ञ करो—आदि वाक्यों द्वारा मनुष्यों का कर्तव्य-विधान किया गया है वही धर्म का लक्षण है।

चतुर्विधा हि लोकेऽस्मिन् यात्रा तात विधीयते ।
मर्त्या यत्रावतिष्ठन्ते सा च कामात्प्रवर्तते ।।८।।

तात ! संसार में चार प्रकार की आजीविका का विधान है [ब्राह्मण की यज्ञादि के द्वारा, क्षत्रिय के लिए कर लेकर, वैश्य के लिए खेती आदि करना और शूद्र के लिए इन तीनों वर्णों की सेवा करना] । मनुष्य इन्हीं चार प्रकार की आजीविकाओं का आश्रय लेकर रहते हैं । यह जीविका दैव-इच्छा से चलती है ।

सुकृतासुकृतं कर्म निषेव्य विविधैः क्रमैः ।
दशार्धप्रविभक्तानां भूतानां बहुधा गतिः ।।९।।

जो प्राणी नाना प्रकार के पाप-पुण्य कर्म करके पञ्चत्व को प्राप्त हो जाते हैं, देह त्याग देते हैं, उनको मिलनेवाली गतियाँ अनेक प्रकार की बताई गई हैं । [पापियों को तिर्यग् योनि, पुण्यात्माओं को श्रेष्ठ मानव योनि, पाप-पुण्य समान रहने पर साधारण मनुष्य-जन्म और तत्त्वज्ञान से मुक्ति की प्राप्ति होती है ।]

नाबीजाज्जायते किञ्चिन्नाकृत्वा सुखमेधते ।
सुकृतैर्विन्दते सौख्यं प्राप्य देहक्षयं नरः ।।१०।।

जैसे बिना बीज के कोई अंकुर पैदा नहीं होता, वैसे ही पुण्यकर्म के बिना कोई सुखी या समृद्धिशाली नहीं हो सकता, अतः मनुष्य मृत्यु के पश्चात् पुण्यकर्मों के फल से ही सुख पाता है ।

चक्षुषा मनसा वाचा कर्मणा च चतुर्विधम् ।
कुरुते यादृशं कर्म तादृशं प्रतिपद्यते ।।११।।

मनुष्य नेत्र, मन, वाणी और कर्म द्वारा चार प्रकार के कर्म करता है और जैसा कर्म करता है, वैसा ही उसका फल पाता है ।

निरन्तरं च मिश्रं च लभते कर्म पार्थिव ।
कल्याणं यदि वा पापं न तु नाशोऽस्य विद्यते ।।१२।।

भूपाल ! मनुष्य कर्म के फलरूप में कभी केवल सुख और कभी सुख-दुःख दोनों एक-साथ प्राप्त करता है । पुण्य अथवा पाप कोई भी कर्म क्यों न हो, फल भोगे बिना उसका नाश नहीं होता ।

दमः क्षमा धृतिस्तेजः सन्तोषः सत्यवादिता ।
ह्रीरहिंसाव्यसनिता दाक्ष्यं चेति सुखावहाः ।।१३।।

मनो-निग्रह, क्षमाशीलता, धैर्य, तेज, सन्तोप, सत्य बोलना, लज्जा, अहिंसा, दुर्व्यसनों का अभाव और दक्षता—ये सब सुख के देनेवाले हैं ।

दुष्कृते सुकृते चापि न जन्तुर्नियतो भवेत् ।
नित्यं मनःसमाधाने प्रयतेत विचक्षणः ।।१४।।

मनुष्य को जीवनभर पाप या पुण्य-कर्मों में आसक्त नहीं होना चाहिए । बुद्धिमान् मनुष्य को अपने मन को परमात्मा के ध्यान में लगाने का प्रयत्न करना चाहिए ।

नायं परस्य सुकृतं दुष्कृतं चापि सेवते ।
करोति यादृशं कर्म तादृशं प्रतिपद्यते ॥१५॥

कोई भी प्राणी किसी दूसरे के द्वारा किये गये शुभ अथवा अशुभ कर्म के फल को नहीं भोगता । मनुष्य स्वयं जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल पाता है ।

सुखदुःखे समाधाय पुमानन्येन गच्छति ।
अन्येनैव जनः सर्वः संगतो यश्च पार्थिवः ॥१६॥

विवेकी मनुष्य सुख और दुःख को अपने भीतर विलीन करके अन्य [मोक्षप्राप्ति के] मार्ग द्वारा चलता है । जो स्त्री, पुत्र और धन आदि में आसक्त हैं, वे सब संसारी जीव उससे भिन्न दूसरे ही मार्ग पर चलते हैं [अतः जन्मते और मरते रहते हैं] ।

परेषां यदसूयेत न तत्कुर्यात् स्वयं नरः ।
यो ह्यसूयुस्तथायुक्तः सोऽवहासं नियच्छति ॥१७॥

मनुष्य दूसरे के जिस कर्म की निन्दा करे, स्वयं उस कर्म को कभी न करे । जो दूसरे की निन्दा करते हुए भी स्वयं उसी निन्दनीय कर्म में लगा रहता है, वह उपहास का पात्र होता है ।

भीरू राजन्यो ब्राह्मणः सर्वभक्षो
वैश्योऽनीहावान् हीनवर्णोऽलसश्च ।
विद्वाँश्चाशीलो वृत्तहीनः कुलीनः
सत्याद् विभ्रष्टो धार्मिकः स्त्री च दुष्टा ॥१८॥
रागी युक्तः पचमानोऽऽत्महेतोर्-
मूर्खो वक्ता नृपहीनं च राष्ट्रम् ।
एते सर्वे शोच्यतां यान्ति राजन्
यश्चायुक्तः स्नेहहीनः प्रजासु ॥१९॥

राजन् ! भीरु [डरपोक] क्षत्रिय, [भक्ष्याभक्ष्य का विचार न करके] सब-कुछ खानेवाला ब्राह्मण, धनोपार्जन की चेष्टा से हीन अथवा अकर्मण्य वैश्य, आलसी शूद्र, उत्तम गुणों से रहित विद्वान्, सदाचार का पालन न करनेवाला कुलीन पुरुष, सत्य से भ्रष्ट हुआ धार्मिक मनुष्य, दुराचारिणी स्त्री, विषयासक्त योगी, केवल अपने लिए भोजन बनानेवाला गृहस्थ, मूर्ख वक्ता, राजा से रहित राष्ट्र और अजितेन्द्रिय होकर प्रजा के प्रति स्नेह न रखनेवाला राजा—ये सब-के-सब शोचनीय [निन्दा के योग्य] हैं ।

अब कर्मफल की अनिवार्यता का वर्णन करते हैं—

मनोरथरथं प्राप्य इन्द्रियाख्यहयं नरः ।
रश्मिभिर्ज्ञानसम्भूतैर्यो गच्छति स बुद्धिमान् ॥२०॥

राजन् ! इन्द्रियरूप घोड़ों से युक्त मनोमय [सूक्ष्म] शरीर एक रथ है । ज्ञानमयी वृत्तियाँ ही इस रथ के घोड़ों की बागडोर हैं । इन उपकरणों से युक्त रथ पर आरूढ़ होकर जो मनुष्य यात्रा करता है, वह बुद्धिमान् है ।

आयुर्न सुलभं लब्ध्वा नावकर्षेद् विशाम्पते ।
उत्कर्षार्थं प्रयतेत नरः पुण्येन कर्मणा ॥२१॥

नरेश्वर ! मनुष्य-जीवन का मिलना सरल नहीं है, वह दुर्लभ वस्तु है । उसे पाकर आत्मा को गिराना नहीं चाहिए । मनुष्य को चाहिए कि वह पुण्य कर्मों के अनुष्ठान द्वारा आत्मोत्थान के लिए सदा प्रयत्नशील रहे ।

वर्णोत्कर्षमवाप्नोति नरः पुण्येन कर्मणा ।
दुर्लभं तमलब्ध्वा हि हन्यात् पापेन कर्मणा ॥२२॥

मनुष्य शुभकर्म से ही उत्तम मानव-योनि को प्राप्त करता है । पापी के लिए वह अत्यन्त दुर्ल है । वह उसे न पाकर अपने पापकर्म द्वारा अपना ही नाश करता है ।

स्वयं कृत्वा तु यः पापं शुभमेवानुतिष्ठति ।
प्रायश्चित्तं नरः कर्तुमुभयं सोऽश्नुते पृथक् ॥२३॥

जो मनुष्य जान-बूझकर पाप करने के पश्चा उसके प्रायश्चित्त के उद्देश्य से शुभ कर्म का अनुष्ठा करता है, वह शुभ और अशुभ दोनों का अ अलग फल भोगता है ।

सञ्चिन्त्य मनसा राजन्विदित्वा शक्यमात्मनः ।
करोति यः शुभं कर्म स वै भद्राणि पश्यति ॥२

राजन् ! जो मनुष्य मन में खूब सोच-विचार 'अशुभ कार्य मुझसे हो सकेगा या नहीं' इ निश्चय करके शुभ कर्म ही करता है, वह निश्च अपना कल्याण देखता है ।

राज्ञा जेतव्याः शत्रवश्चोन्नताश्च
सम्यक् कर्तव्यं पालनं च प्रजानाम् ।

अग्निश्चेयो बहुविधैश्चापि यज्ञै-
रन्त्ये मध्ये वा वनमाश्रित्य स्थेयम् ॥२५॥

भूपाल ! राजा को चाहिए कि वह बढ़े हुए शत्रुओं को जीते । प्रजा का न्यायपूर्वक पालन करे । नाना प्रकार के यज्ञों द्वारा अग्नि को तृप्त करे और वैराग्य होने पर मध्यम अथवा अन्तिम अवस्था में वन में जाकर रहे ।

दयान्वितः पुरुषो धर्मशीलो
भूतानि चात्मानमिवानुपश्येत् ।
गरीयसः पूजयेदात्मशक्त्या
सत्येन शीलेन सुखं नरेन्द्र ॥२६॥

नरेन्द्र ! प्रत्येक मनुष्य को मनो-निग्रही और धर्मात्मा होकर समस्त प्राणियों को अपने ही समान समझना चाहिए । जो विद्या, तप तथा अवस्था में अपने से बड़े हों—उनका आदर-सत्कार करना चाहिए । सत्यभाषण एवं श्रेष्ठ आचार-विचार से ही सुख मिलता है ।

अब धर्मोपार्जित धनादि का वर्णन करते हैं—

कः कस्य चोपकुरुते कश्च कस्मै प्रयच्छति ।
प्राणी करोत्ययं कर्म सर्वमात्मार्थमात्मना ॥२७॥

राजन् ! कौन किसका उपकार करता है और कौन किसको देता है ! यह मनुष्य सारा कार्य स्वयं अपने लिए ही करता है ।

गौरवेण परित्यक्तं निःस्नेहं परिवर्जयेत् ।
सोदर्यं भ्रातरमपि किमुतान्यं पृथग्जनम् ॥२८॥

अपना सगा भाई भी यदि अपने श्रेष्ठ स्वभाव और स्नेह को छोड़ दे तो लोग उसे भी त्याग देते हैं, फिर अन्य साधारण मनुष्य की तो बात ही क्या है !

न्यायागतं धनं चैव न्यायेनैव विवर्धितम् ।
संरक्ष्यं यत्नमास्थाय धर्मार्थमिति निश्चयः ॥२९॥

जो धन न्यायपूर्वक कमाया गया हो और न्याय से ही बढ़ाया गया हो, उसे प्रयत्नपूर्वक धर्म के उद्देश्य से बचाये रखना चाहिए । यही धर्मशास्त्र का निश्चय है ।

न धर्मार्थी नृशंसेन कर्मणा धनमर्जयेत् ।
शक्तितः सर्वकार्याणि कुर्यान्नर्द्धिमनुस्मरेत् ॥३०॥

धर्म चाहनेवाले पुरुष को क्रूर कर्म के द्वारा धन का उपार्जन नहीं करना चाहिए । अपनी शक्ति के अनुसार सदा शुभ कर्म ही करने चाहिएँ तथा धन बढ़ाने की चिन्ता में नहीं पड़ना चाहिए ।

देवतातिथिभृत्येभ्यः पितृभ्यश्चात्मनस्तथा ।
ऋणवाञ्जायते मर्त्यस्तस्मादनृणतां व्रजेत् ॥३१॥

प्रत्येक मनुष्य देवता, अतिथि, भरण-पोषण के योग्य पारिवारिकजन, पितर और अपने-आपका भी ऋणी होकर जन्म लेता है, अतः उसे ऋण से मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए ।

स्वाध्यायेन महर्षिभ्यो देवेभ्यो यज्ञकर्मणा ।
पितृभ्यः श्राद्धदानेन नृणामभ्यर्चनेन च ॥३२॥

वेद-शास्त्रों का स्वाध्याय करके ऋषियों के, यज्ञों का अनुष्ठान करके देवों [विद्वानों और अग्नि, वायु, सूर्य-चन्द्र आदि जड़ देवों] के, श्रद्धापूर्वक सेवा से पितरों [माता-पिता, दादा-दादी आदि] के और भोजन-वस्त्र आदि द्वारा स्वागत-सत्कार करके अतिथियों के ऋण से छुटकारा होता है ।

वाचा शेषावहार्येण पालनेनात्मनोऽपि च ।
यथावद् भृत्यवर्गस्य चिकीर्षेत् कर्म आदितः ॥३३॥

इसी प्रकार वेद-वाणी के पठन, श्रवण तथा मनन से, यज्ञशेष अन्न के भोजन से और जीवों की रक्षा करने से मनुष्य अपने ऋण से छूट जाता है । भरणीय पारिवारिकजनों के पालन-पोषण का आरम्भ से ही प्रबन्ध करना चाहिए । इससे उनके ऋण से भी मुक्ति मिल जाती है ।

येऽर्था धर्मेण ते सत्या येऽधर्मेण धिगस्तु तान् ।
धर्मं वै शाश्वतं लोके न जह्याद् धनकाङ्क्षया ॥३४॥

धर्म का पालन करते हुए ही जो धन प्राप्त होता है, वही सच्चा धन है । जो धन अधर्म से प्राप्त होता है, वह तो धिक्कार देने योग्य है । संसार में धन की इच्छा से शाश्वत धर्म का त्याग कभी नहीं करना चाहिए ।

आहिताग्निर्हि धर्मात्मा यः स पुण्यकृदुत्तमः ।
वेदा हि सर्वे राजेन्द्र स्थितास्त्रिष्वग्निषु प्रभो ॥३५॥

राजेन्द्र ! जो प्रतिदिन यज्ञ करता है, वही धर्मात्मा है और वही पुण्यकर्माओं में श्रेष्ठ है । प्रभो ! सम्पूर्ण

वेद दक्षिण, आहवनीय और गार्हपत्य—इन तीनों अग्नियों में ही स्थित हैं ।

स चाप्यग्न्याहितो विप्रः क्रिया यस्य न हीयते ।
श्रेयो ह्यनाहिताग्नित्वमग्निहोत्रं न निष्क्रियम् ॥३६॥

जिसका सदाचार एवं सत्यकर्म कभी लुप्त नहीं होता, वह ब्राह्मण [अग्निहोत्र न करने पर भी] अग्निहोत्री ही है। सदाचार का ठीक-ठीक पालन होने पर अग्निहोत्र न हो सके तो भी उत्तम है, परन्तु सदाचार का त्याग करके केवल अग्निहोत्र करना कदापि कल्याणकारी नहीं है ।

अग्निरात्मा च माता च पिता जनयिता तथा ।
गुरुश्च नरशार्दूल परिचर्या यथातथम् ॥३७॥

पुरुषसिंह ! अग्नि [परमात्मा, अग्निहोत्र], आत्मा, माता, जन्म देनेवाला पिता और गुरु—इन सबकी यथायोग्य सेवा करनी चाहिए ।

मानं त्यक्त्वा यो नरो वृद्धसेवी
विद्वान् क्लीबः पश्यति प्रीतियोगात् ।
दाक्ष्येण हीनो धर्मयुक्तो नदान्तो
लोकेऽस्मिन् वै पूज्यते सद्भिरार्यः ॥३८॥

जो अभिमान का त्याग करके वृद्धों की सेवा करता है, जो विद्वान् बनकर तथा कामभोग में अनासक्त होकर सबको प्रेमभाव से देखता है, मन में चतुराई न रखकर [सरलता से] धर्म में संलग्न रहता है तथा दूसरों का दमन अथवा हिंसा नहीं करता—वह मनुष्य इस संसार में आर्य=श्रेष्ठ कहलाता है और सत्पुरुष भी उसका समादर करते हैं ।

सद्भिस्तु सह संसर्गः शोभते धर्मदर्शिभिः ।
नित्यं सर्वास्ववस्थासु नासद्भिरिति मे मतिः ॥३९॥

धर्म पर दृष्टि रखनेवाले सत्पुरुषों के संसर्ग में रहना सदा ही श्रेष्ठ है, परन्तु किसी भी अवस्था में कभी दुर्जनों=दुष्टों का सङ्ग अच्छा नहीं है, यह मेरा [पराशर का] दृढ़ निश्चय है ।

यथोदयगिरौ द्रव्यं सन्निकर्षेण दीप्यते ।
तथा सत्सन्निकर्षेण हीनवर्णोऽपि दीप्यते ॥४०॥

जैसे सूर्य का सामीप्य प्राप्त होने पर उदयाचल पर्वत की प्रत्येक वस्तु चमक उठती है, वैसे ही सज्जनों के समीप रहने से निम्न वर्ण का मनुष्य भी सद्गुणों से सुशोभित होने लगता है ।

यादृशेन हि वर्णेन भाव्यते शुक्लमम्बरम् ।
तादृशं कुरुते रूपमेतदेवमवेहि मे ॥४१॥

श्वेत वस्त्र को जैसे रंग में रंगा जाता है, वह वैसा ही रूप धारण कर लेता है । इसी प्रकार जैसा सङ्ग किया जाता है, वैसा ही रंग अपने ऊपर चढ़ता है, यह बात मुझसे भली-भाँति समझ लो ।

तस्माद् गुणेषु रज्येथा मा दोषेषु कदाचन ।
अनित्यमिह मर्त्यानां जीवितं हि चलाचलम् ॥४२॥

अतः तुम सदा गुणों में ही अनुराग रखो, दोषों में कभी नहीं, क्योंकि संसार में मनुष्यों का जीवन अनित्य और चञ्चल है ।

सुखे वा यदि वा दुःखे वर्तमानो विचक्षणः ।
यश्चिनोति शुभान्येव स तन्त्राणीह पश्यति ॥४३॥

जो विद्वान् सुख अथवा दुःख में रहकर भी सदा शुभ कर्म का ही अनुष्ठान करता है, वही इस लोक में शास्त्रों को देखता [—पढ़ता] और समझता है।

धर्मादपेतं यत्कर्म यद्यपि स्यान्महाफलम् ।
न तत्सेवेत मेधावी न तद्धितमिहोच्यते ॥४४॥

धर्म के विरुद्ध कर्म यदि लौकिक दृष्टि से बहुत लाभदायक हो, तौ भी बुद्धिमान् मनुष्य को उसका सेवन नहीं करना चाहिए, क्योंकि उसे इस लोक में हितकर नहीं बताया गया है ।

अवज्ञया दीयते यत्तथैवाश्रद्धयापि वा ।
तमाहुरधमं दानं मुनयः सत्यवादिनः ॥४५॥

अवहेलना अथवा अश्रद्धा से जो कुछ दिया जाता है, उसे सत्यवादी मुनियों ने निकृष्ट कोटि का दान बताया है ।

अतिक्रामेन्मज्जमानो विविधेन नरः सदा ।
तथा प्रयत्नं कुर्वीत यथा मुच्येत संश्रयात् ॥४६॥

डूबता हुआ मनुष्य जिस प्रकार विविध उपायों द्वारा समुद्र से पार हो जाता है, वैसे ही तुम्हें भी सदा ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जिससे संसार-सागर से छुटकारा मिल जाए ।

दमेन शोभते विप्रः क्षत्रियो विजयेन तु ।
धनेन वैश्यः शूद्रस्तु नित्यं दाक्ष्येण शोभते ॥४७॥

ब्राह्मण मनो-निग्रह से, क्षत्रिय युद्ध में विजय

पाने से, वैश्य न्यायपूर्वक उपार्जित धन से और शूद्र सदा सेवाकार्य में कुशलता का परिचय देने से सुशोभित होता है।

तपः सर्वगतं तात हीनस्यापि विधीयते ।
जितेन्द्रियस्य दान्तस्य स्वर्गमार्गप्रवर्तकम् ॥४८॥

तात ! तपस्या में सभी का अधिकार है। जितेन्द्रिय और मनोनिग्रह-सम्पन्न हीन वर्ण के लिए भी तप का विधान है, क्योंकि तप मनुष्य को स्वर्ग के मार्ग पर लानेवाला है।

सुखितो दुःखितो वापि नरो लोभं परित्यजेत् ।
अवेक्ष्य मनसा शास्त्रं बुद्धया च नृपसत्तम ॥४९॥

नृपश्रेष्ठ ! मनुष्य सुख में हो या दुःख में, उसे चाहिए कि मन तथा बुद्धि से शास्त्र का तत्त्व समझकर लोभ का परित्याग कर दे।

असन्तोषोऽसुखायेति लोभादिन्द्रियसम्भ्रमः ।
ततोऽस्य नश्यति प्रज्ञा विद्येवाभ्यासवर्जिता ॥५०॥

असन्तोष दुःख का कारण है। लोभ से मन तथा इन्द्रियाँ चञ्चल हो जाती हैं, उससे मनुष्य की बुद्धि उसी प्रकार नष्ट हो जाती है, जैसे बिना अभ्यास के विद्या।

एकः शत्रुर्न द्वितीयोऽस्ति शत्रु-
रज्ञानतुल्यः पुरुषस्य राजन् ।
येनावृतः कुरुते सम्प्रयुक्तो
घोराणि कर्माणि सुदारुणानि ॥५१॥

राजन् ! मनुष्य का एक ही शत्रु है, उसके समान अन्य कोई शत्रु नहीं है। वह शत्रु है अज्ञान जिससे आवृत्त और प्रेरित होकर मनुष्य अत्यन्त घोर और क्रूरतापूर्ण कर्म करने लगता है।

उपभोगैरपि त्यक्तं नात्मानं सादयेन्नरः ।
चाण्डालत्वेऽपि मानुष्यं सर्वथा तात शोभनम् ॥५२॥

तात ! उपभोग के साधनों से वञ्चित होने पर भी मनुष्य अपने-आपको हीन न समझे। चाण्डाल की योनि में भी यदि मनुष्य-जन्म प्राप्त हो तो वह मानवेतर प्राणियों की अपेक्षा सर्वथा उत्तम है।

इयं हि योनिः प्रथमा यां प्राप्य जगतीपते ।
आत्मा वै शक्यते त्रातुं कर्मभिः शुभलक्षणैः ॥५३॥

भूपाल ! मनुष्य-योनि ही वह अद्वितीय योनि है, जिसे पाकर शुभकर्मों के अनुष्ठान से आत्मा का उद्धार किया जा सकता है।

यो दुर्लभतरं प्राप्य मानुषं द्विषते नरः ।
धर्मावमन्ता कामात्मा भवेत् स खलु वञ्च्यते ॥५४॥

जो मनुष्य अत्यन्त दुर्लभ मनुष्यशरीर को पाकर भी दूसरों से द्वेष करता है तथा धर्म का अनादर करता है और मन से कामनाओं में आसक्त हो जाता है, वह महान् लाभ से वञ्चित हो जाता है।

सान्त्वेनान्नप्रदानेन प्रियवादेन चाप्युत ।
समदुःखसुखो भूत्वा स परत्र महीयते ॥५५॥

जो सब लोगों को सान्त्वना=धैर्य प्रदान करता, भूखों को भोजन देता और प्रिय-वचन बोलकर सबका सत्कार करता है, वह सुख-दुःख में सम रहकर इहलोक और परलोक में प्रतिष्ठित होता है।

असङ्गः श्रेयसो मूलं ज्ञानं चैव परा गतिः ।
चीर्णं तपो न प्रणश्येद्वापः क्षेत्रे न नश्यति ॥५६॥

राजन् ! आसक्ति का अभाव ही कल्याण का मूल कारण है। ज्ञान ही सबसे उत्तम गति है। स्वयं किया हुआ तप और खेत में बोया हुआ बीज [सुपात्र को दिया हुआ दान]—ये कभी नष्ट नहीं होते।

छित्त्वाधर्ममयं पाशं यदा धर्मेऽभिरज्यते ।
दत्त्वाभयकृतं दानं तदा सिद्धिमवाप्नुते ॥५७॥

जो मनुष्य अधर्ममय बन्धन को काटकर जिस समय धर्म में अनुरक्त हो जाता है और समस्त प्राणियों को अभयदान दे देता है, उसे उसी समय उत्तम सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

मरणं जन्मनि प्रोक्तं जन्म वै मरणाश्रितम् ।
अविद्वान् मोक्षधर्मेषु बद्धो भ्रमति चक्रवत् ॥५८॥

जन्म में मृत्यु की स्थिति बताई गई है और मृत्यु में जन्म निहित है। जो मोक्ष-धर्म को नहीं जानता, वह अज्ञानी मनुष्य संसार में आबद्ध होकर जन्म-मरण के चक्र में घूमता रहता है।

नीहारेण हि संवीतः शिश्नोदरपरायणः ।
जात्यन्ध इव पन्थानमावृतात्मा न बुद्धयते ॥५९॥

जैसे जन्म का अन्धा मार्ग को नहीं देख पाता, वैसे ही शिश्नोदरपरायण [भोग-विलास में आसक्त] और अज्ञान से आवृत [ढका हुआ] जीव मायारूप

कुहरे से आच्छन्न होने के कारण मोक्ष-मार्ग को नहीं समझ पाता है।

स्वयंकृतानि कर्माणि जातो जन्तुः प्रपद्यते।
नाकृत्वा लभते कश्चित्किंचिदत्र प्रियाप्रियम् ॥६०॥

मनुष्य संसार में जन्म लेकर अपने पूर्वकृत कर्मों का ही फल भोगता है; पूर्वजन्म में किये बिना यहाँ कोई भी किसी इष्ट अथवा अनिष्ट फल को नहीं पाता।

न माता न पिता किंचित्कस्यचित्प्रतिपद्यते।
दानपथ्यौदनो जन्तुः स्वकर्मफलमश्नुते ॥६१॥

माता और पिता भी परलोक-साधन में किसी की कुछ सहायता नहीं कर सकते। परलोक-मार्ग में तो अपना किया हुआ दान ही पाथेय [राह-खर्च] का काम देता है। प्रत्येक प्राणी अपने कर्म का ही फल भोगता है।

व्यवसायं समाश्रित्य सहायान्योऽधिगच्छति।
न तस्य कश्चिदारम्भः कदाचिदवसीदति ॥६२॥

जो मनुष्य दृढ़ निश्चय और पूर्ण पुरुषार्थ का सहारा लेकर तदनुकल सहायकों का संग्रह करता है, उसका कोई भी कार्य कभी भी व्यर्थ नहीं होता।

अद्वैधमनसं युक्तं शूरं धीरं विपश्चितम्।
न श्रीः संत्यजते नित्यमादित्यमिव रश्मयः ॥६३॥

जिसके मन में दुविधा नहीं होती, जो पुरुषार्थी, धीर, वीर तथा विद्वान् होता है, उसे सम्पत्ति उसी प्रकार कभी नहीं छोड़ती जैसे किरणें सूर्य को।

आस्तिक्यव्यवसायाभ्यामुपायाद्विस्मयाद्धिया।
समारभेदनिन्द्यात्मा न सोऽर्थः परिसीदति ॥६४॥

अनिन्द्यात्मा [अनिन्दनीय स्वभाव से युक्त, जिसका हृदय उदार और प्रशस्त है] आस्तिक भाव, दृढ़ निश्चय और आवश्यक उपाय से, गर्वहीनता के साथ, उत्तम बुद्धिपूर्वक जिस कार्य को आरम्भ करता है, वह अपने कार्य में कभी असफल नहीं होता।

भीष्म उवाच

इत्युक्तो जनको राजन् याथातथ्यं मनीषिणा।
श्रुत्वा धर्मविदां श्रेष्ठः परां मुदामवाप ह ॥६५

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! ज्ञानी महात्मा पराशर मुनि के मुख से इस यथार्थ उपदेश को सुनकर धर्मज्ञों में श्रेष्ठ राजा जनक अत्यन्त प्रसन्न हुए।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि षष्टितमोऽध्यायः ॥६०॥

एकषष्टितमोऽध्यायः

हंसगीता—हंसरूपधारी[1] ब्रह्मा का साध्यगणों को उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

सत्यं दमं क्षमां प्रज्ञां प्रशंसन्ति पितामह।
विद्वांसो मनुजा लोके कथमेतन्मतं तव ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह! संसार में बहुत-से विद्वान् सत्य, मनोनिग्रह, क्षमा और प्रज्ञा की प्रशंसा करते हैं। इस विषय में आपका क्या मत है?

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्येऽहमितिहासं पुरातनम्।
साध्यानामिह संवादं हंसस्य च युधिष्ठिर ॥२॥

भीष्मजी बोले—युधिष्ठिर! इस विषय में साध्यगणों का हंस के साथ जो संवाद हुआ था, वही प्राचीन इतिहास मैं तुम्हें सुनाता हूँ।

हंसो भूत्वाथ सौवर्णस्त्वजो नित्यः प्रजापतिः।
स वै पर्येति लोकाँस्त्रीनथ साध्यानुपागमत् ॥३॥

एक समय की बात है, नित्य, अजन्मा प्रजाप =ब्रह्मा स्वर्णमय हंस का रूप धारण करके ती लोकों में विचर रहे थे। घूमते-फिरते वे साध्य के पास जा पहुँचे।

साध्या ऊचुः

श्रुतोऽसि नः पण्डितो धीरवादी
साधुशब्दश्चरते ते पतत्रिन्।

---

[1] मनुष्य पशु या पक्षी नहीं बन सकता। किसी बात को कहने की यह साहित्यिक शैली है। संवाद में जो तात्त्विक उपदेश है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

किं मन्यसे श्रेष्ठतमं द्विज त्वं
कस्मिन् मनस्ते रमते महात्मन् ।।४।।

साध्यगण बोले—महात्मन् ! हमने सुना है कि आप पण्डित और धीरवक्ता हैं। पक्षिप्रवर ! आपकी उत्तम वाणी का सर्वत्र प्रसार है। पतत्रिन् ! आपके मत में सर्वश्रेष्ठ वस्तु क्या है ? आपका मन किसमें रमता है ?

तन्नः कार्यं पक्षिवर प्रशाधि
यत्कार्याणां मन्यसे श्रेष्ठमेकम् ।
यत्कृत्वा वै पुरुषः सर्वबन्धैर्-
विमुच्यते विहगेन्द्रेह शीघ्रम् ।।५।।

पक्षिराज ! खगश्रेष्ठ ! समस्त कार्यों में से जिस एक कार्य को आप सबसे उत्तम समझते हों और जिसे करने से मनुष्य को सब प्रकार के बन्धनों से शीघ्र छुटकारा मिल सके, उसी का हमें उपदेश दीजिए।

हंस उवाच

इदं कार्यममृताशाः शृणोमि
तपो दमः सत्यमात्माभिगुप्तिः ।
ग्रन्थीन् विमुच्य हृदयस्य सर्वान्
प्रियाप्रिये स्वं वशमानयीत ।।६।।

हंस बोला—अमृतभोजी देवो ! मैंने सुना है कि तप, इन्द्रिय-मनोनिग्रह, सत्यभाषण, आत्मिक अस्मिता की सुरक्षा आदि कार्य ही सर्वोत्तम हैं। मनुष्य को चाहिए कि हृदय की सारी गाँठों को खोलकर प्रिय और अप्रिय को अपने वश में करे अर्थात् उनके लिए हर्ष और शोक न करे।

नारुन्तुदः स्यान्न नृशंसवादी
न हीनतः परमभ्याददीत ।
ययास्य वाचा पर उद्विजेत
न तां वदेद् रुषतीं पापलोक्याम् ।।७।।

किसी के मर्म में आघात न पहुँचाए, दूसरों के प्रति निष्ठुर वचन न बोले, किसी नीच मनुष्य से अध्यात्मशास्त्र का उपदेश ग्रहण न करे और जिसे सुनकर दूसरे लोग व्याकुल हो उठें, ऐसी नरक में डालनेवाली अमङ्गलमयी बात कभी मुँह से न निकाले।

वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति
यैराहतः शोचति रात्र्यहानि ।
परस्य नामर्मसु ते पतन्ति
तान् पण्डितो नावसृजेत् परेषु ।।८।।

वचनरूपी बाण जब मुख से निकल पड़ते हैं, तब उनके द्वारा घायल हुआ मनुष्य रात-दिन शोक में डूबा रहता है, क्योंकि वे दूसरों के मर्म पर आघात पहुँचाते हैं, अतः विद्वान् मनुष्य को किसी दूसरे पर वाग्बाणों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

परश्चेदेनमतिवादबाणैर्-
भृशं विध्येच्छम एवेह कार्यः ।
संरोष्यमाणः प्रतिहृष्यते यः
स आदत्ते सुकृतं वै परस्य ।।९।।

दूसरा कोई भी यदि किसी विद्वान् पुरुष को कटुवचनरूपी बाणों से बहुत अधिक चोट पहुँचाए तो भी उसे शान्त ही रहना चाहिए। जो दूसरों के क्रोध करने पर भी स्वयं बदले में प्रसन्न ही रहता है, वह उसके पुण्य को ग्रहण कर लेता है।

क्षेपायमाणाभिषङ्गव्यलीकं
निगृह्णाति ज्वलितं यश्च मन्युम् ।
अदुष्टचेता मुदितोऽनसूयुः
स आदत्ते सुकृतं वै परेषाम् ।।१०।।

जो संसार में निन्दा करानेवाले तथा आवेश में डालने के कारण अप्रिय प्रतीत होनेवाले प्रज्वलित क्रोध को रोक लेता है, चित्त में कोई विकार या दोष नहीं आने देता, सदा प्रसन्न रहता तथा दूसरों के दोष नहीं देखता—ऐसा मनुष्य अपने प्रति शत्रुभाव रखनेवाले लोगों के पुण्य ले लेता है।

आक्रुश्यमानो न वदामि किञ्चित्
क्षमाम्यहं ताड्यमानश्च नित्यम् ।
श्रेष्ठं ह्येतद् यत्क्षमामाहुरार्याः
सत्यं तथैवार्जवमानृशंस्यम् ।।११।।

यदि मुझे कोई दुर्वचन कहे [गाली दे] तो भी मैं बदले में कुछ नहीं कहता, कोई मुझे मारे तो उसे सदा क्षमा ही करता हूँ, क्योंकि आर्य=श्रेष्ठ लोग क्षमा, सत्य, सरलता और दया को ही उत्तम बताते हैं।

वेदस्योपनिषत्सत्यं सत्यस्योपनिषद् दमः ।
दमस्योपनिषन्मोक्ष एतत्सर्वानुशासनम् ॥१२॥

वेदाध्ययन का सार है सत्यभाषण, सत्यभाषण का सारतत्त्व है मनोनिग्रह और मनोनिग्रह का फल है मोक्ष। यही सम्पूर्ण शास्त्रों का उपदेश है।

वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं
तृष्णावेगमुदरोपस्थवेगम् ।
एतान्वेगान् यो विषहेदुदीर्णां-
स्तं मन्येऽहं ब्राह्मणं वै मुनिं च ॥१३॥

जो मनुष्य वाणी के वेग, मन और क्रोध के वेग, तृष्णा के वेग तथा पेट और जननेन्द्रिय के वेग—इन सब प्रचण्ड वेगों को सह लेता है, उसी को मैं ब्रह्मवेत्ता और मुनि मानता हूँ।

अक्रोधनः क्रुध्यतां वै विशिष्ट-
स्तथा तितिक्षुरतितिक्षोर्विशिष्टः ।
अमानुषान्मानुषो वै विशिष्ट-
स्तथाज्ञानाज्ज्ञानविद् वै विशिष्टः ॥१४॥

क्रोधी मनुष्यों की अपेक्षा क्रोध न करनेवाला मनुष्य श्रेष्ठ है। असहनशील से सहनशील बड़ा है। मनुष्येतर प्राणियों से मनुष्य बढ़कर है और अज्ञानी से ज्ञानवान् श्रेष्ठ है।

आक्रुश्यमानो नाक्रुश्येन्मन्युरेनं तितिक्षतः ।
आक्रोष्टारं निर्दहति सुकृतं चास्य विन्दति ॥१५॥

जो दूसरों के दुर्वचन कहने [गाली देने] पर भी बदले में उसे गाली नहीं देता, उस क्षमाशील मनुष्य का दवा हुआ क्रोध ही उस गाली देनेवाले को भस्म कर देता है और उसके पुण्य को भी ले लेता है।

यो नात्युक्तः प्राह रूक्षं प्रियं वा
यो वा हतो न प्रतिहन्ति धैर्यात् ।
पापं च यो नेच्छति तस्य हन्तु-
स्तस्येह देवाः स्पृहयन्ति नित्यम् ॥१६॥

जो दूसरों द्वारा अपने लिए कड़वी बात कही जाने पर भी उनके प्रति कठोर या प्रिय कुछ भी नहीं कहता और किसी के द्वारा प्रताड़ित किये जाने पर धैर्य के कारण बदले में न तो प्रताड़क को प्रताड़ना देता है और न उसकी बुराई ही चाहता है, उस महात्मा से मिलने के लिए देवता भी सदा लालायित रहते हैं।

पापीयसः क्षमेतैव श्रेयसः सदृशस्य च ।
विमानितो हतोऽऽक्रुष्टु एवं सिद्धिं गमिष्यति ॥१७॥

पाप करनेवाला अपराधी अवस्था में अपने से बड़ा हो अथवा बराबर, उसके द्वारा अपमानित होकर, मार खाकर और गाली सुनकर भी उसे क्षमा ही कर देना चाहिए। ऐसा करनेवाला पुरुष परमसिद्धि को प्राप्त होता है।

नाहं शप्तः प्रतिशपामि कंचिद्
दमं द्वारं ह्यमृतस्येह वेद्मि ।
गुह्यं ब्रह्म तदिदं वो ब्रवीमि
न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चित् ॥१८॥

कोई मुझे शाप=गाली दे तो मैं उसे बदले में शाप नहीं देता। मैं इन्द्रिय-संयम और मनोनिग्रह को ही मोक्ष का द्वार मानता हूँ। हे साध्यगणो! इस समय मैं तुम्हें एक रहस्य की बात बता रहा हूँ, सुनो! मनुष्ययोनि से बढ़कर कोई उत्तम योनि नहीं है।

यस्य वाङ्मनसी गुप्ते सम्यक् प्रणिहिते सदा ।
वेदास्तपश्च त्यागश्च स इदं सर्वमाप्नुयात् ॥१९॥

जिसकी वाणी और मन सुरक्षित होकर सदा सब प्रकार से परमात्मा में लगे रहते हैं, वह वेदाध्ययन, तप और त्याग—इन सबके फल को पा लेता है।

अतमृस्येव संतृप्येदवमानस्य पण्डितः ।
सुखं ह्यवमतः शेते योऽवमन्ता स नश्यति ॥२०॥

विद्वान् को चाहिए कि वह अपमानित होकर अमृत पीने की भाँति सन्तुष्ट हो, क्योंकि अपमानित पुरुष तो सुख से सोता है किन्तु अपमान करनेवाले का नाश हो जाता है।

यत्क्रोधनो यजति यद् ददाति
यद्वा तपस्तप्यति यज्जुहोति ।
वैवस्वतस्तद्धरतेऽस्य सर्वं
मोघः श्रमो भवति क्रोधनस्य ॥२१॥

क्रोधी मनुष्य जो पुण्य कर्म करता है, दान देता है, तप करता है, अथवा जो यज्ञ करता है, उसके उन सब कर्मों के फल को यमराज हर लेते हैं। क्रोध करनेवाले का वह किया हुआ सारा परिश्रम व्यर्थ जाता है।

चत्वारि यस्य द्वाराणि सुगुप्तान्यमरोत्तमाः ।
उपस्थमुदरं हस्तौ वाक् चतुर्थी स धर्मवित् ॥२२॥

देवेश्वरो ! जिस मनुष्य के उपस्थ, उदर, दोनों हाथ और वाणी—ये चारों द्वार सुरक्षित होते हैं, वही धर्मज्ञ है ।

सत्यं दमं ह्यार्जवमानृशंस्यं
धृतिं तितिक्षामतिसेवमानः ।
स्वाध्यायनित्योऽस्पृहयन् परेषा-
मेकान्तशील्यूर्ध्वगतिर्भवेत्सः ॥२३॥

जो मनुष्य सत्य व्यवहार, मनोनिग्रह, सरलता, दया, धैर्य और क्षमा का पूर्ण सेवन करता है, सदा स्वाध्याय में लगा रहता है, दूसरे की वस्तुओं को नहीं लेना चाहता और एकान्त में निवास करता है, वह जीवन में सदा उन्नत होता है ।

सर्वांश्चैनाननुचरन् वत्सवच्चतुरः स्तनान् ।
न पावनतमं किञ्चित् सत्यादध्यगतं क्वचित् ॥२४॥

जैसे बछड़ा अपनी माता के चारों स्तनों का पान करता है, उसी प्रकार मनुष्य को उपर्युक्त सभी सद्गुणों का सेवन करना चाहिए । मैंने अबतक सत्य से बढ़कर परम-पावन वस्तु कहीं पर कुछ भी नहीं देखी-समझी है ।

आचक्षेऽहं मनुष्येभ्यो देवेभ्यः प्रतिसंचरन् ।
सत्यं स्वर्गस्य सोपानं पारावारस्य नौरिव ॥२५॥

मैं चारों ओर घूमकर मनुष्यों और देवताओं से कहा करता हूँ कि जैसे जहाज समुद्र से पार होने का साधन है, उसी प्रकार सत्य ही स्वर्गलोक में पहुँचने की सीढ़ी है ।

यादृशैः संनिवसति यादृशांश्चोपसेवते ।
यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृग् भवति पूरुषः ॥२६॥

मनुष्य जैसे लोगों के साथ रहता है, जैसे मनुष्यों का सेवन करता है और जैसा होना चाहता है, वैसा ही हो जाता है ।

यदि सन्तं सेवते यद्यसन्तं
तपस्विनं यदि वा स्तेनमेव ।
वासो यथा रंगवशं प्रयाति
तथा स तेषां वशमभ्युपैति ॥२७॥

जैसे वस्त्र को जिस रंग में रँगा जाए, वह वैसा ही हो जाता है, वैसे ही कोई सज्जन, दुष्ट, तपस्वी अथवा चोर—जिसका सेवन करता है, वैसा ही हो जाता है अर्थात् उसपर उन्हीं का रंग चढ़ जाता है ।

न वै देवा हीनसत्त्वेन तोष्याः
सर्वाशिना दुष्कृतकर्मणा वा ।
सत्यव्रता ये तु नराः कृतज्ञा
धर्मे रतास्तैः सह सम्भजन्ते ॥२८॥

सत्त्वगुण से रहित तथा सब-कुछ भक्षण करनेवाले पापाचारी मनुष्य देवताओं को सन्तुष्ट नहीं कर सकते । जो मनुष्य नियमपूर्वक सत्य बोलनेवाले, कृतज्ञ और धर्म में तत्पर रहते हैं, उन्हीं के साथ देवता=विद्वान् लोग स्नेह-सम्बन्ध स्थापित करते हैं ।

अव्याहृतं व्याहृताच्छ्रेय आहुः
सत्यं वदेद् व्याहृतं तद् द्वितीयम् ।
धर्मं वदेद् व्याहृतं तत् तृतीयं
प्रियं वदेद् व्याहृतं तच्चतुर्थम् ॥२९॥

व्यर्थ बोलने की अपेक्षा मौन रहना श्रेष्ठ कहा गया है [यह वाणी की पहली विशेषता है], सत्य बोलना वाणी की दूसरी विशेषता है, धर्मसम्मत बोलना वाणी की तीसरी विशेषता है एवं प्रिय बोलना वाणी की चौथी विशेषता है ।

साध्या ऊचुः

केनायमावृतो लोकः केन वा न प्रकाशते ।
केन त्यजति मित्राणि केन स्वर्गं न गच्छति ॥३०॥

साध्यगणों ने पूछा—हे पक्षिप्रवर ! इस संसार को किसने आवृत कर रखा है ? किस कारण से उसका सत्यस्वरूप प्रकाशित नहीं होता ? मनुष्य किस हेतु से मित्रों का त्याग करता है ? और किस दोष के कारण वह स्वर्ग में नहीं जा पाता ?

हंस उवाच

अज्ञानेनावृतो लोको मात्सर्यान्न प्रकाशते ।
लोभात् त्यजति मित्राणि संगात्स्वर्गं न गच्छति ॥३१॥

हंस बोला—हे साध्यो ! अज्ञान ने इस लोक को आवृत कर [ढक] रखा है । आपस में डाह होने के कारण इसका स्वरूप प्रकाशित नहीं होता । मनुष्य लोभ के कारण मित्रों को त्याग देता है और आसक्ति-दोष के कारण वह स्वर्ग में नहीं जा पाता ।

साध्या ऊचुः

कः स्विदेको रमते ब्राह्मणानां
कः स्विदेको बहुभिर्जोषमास्ते ।
कः स्विदेको बलवान् दुर्बलोऽपि
कः स्विदेषां कलहं नान्ववैति ।।३२।।

साध्यों ने पूछा—हंस ! ब्राह्मणों में कौन एकमात्र सुख का अनुभव करता है ? वह कौन ऐसा एक मनुष्य है जो बहुतों के साथ रहकर भी चुप रहता है ? और वह कौन-सा एक मनुष्य है जो निर्बल होने पर भी बलवान् है और इनमें कौन ऐसा है जो किसी के साथ कलह नहीं करता ?

हंस उवाच

प्राज्ञ एको रमते ब्राह्मणानां
प्राज्ञश्चैको बहुभिर्जोषमास्ते ।
प्राज्ञ एको बलवान् दुर्बलोऽपि
प्राज्ञ एषां कलहं नान्ववैति ।।३३।।

हंस ने कहा—देवताओ ! ब्राह्मणों में ज़ो ज्ञानी है, केवल वही सुख का अनुभव करता है। ज्ञानी ही बहुतों के साथ रहकर भी मौन रहता है। एकमात्र ज्ञानी ही निर्बल होने पर भी बलवान् है और इनमें ज्ञानी ही किसी के साथ कलह नहीं करता।

साध्या ऊचुः

किं ब्राह्मणानां देवत्वं किं च साधुत्वमुच्यते ।
असाधुत्वं च किं तेषां किमेषां मानुषं मतम् ।।३४।।

साध्यों ने पूछा—हंस ! ब्राह्मणों का देवत्व क्या है ? उनमें साधुता क्या बताई जाती है ? उनमें असाधुता और मनुष्यता क्या मानी गई है ?

हंस उवाच

स्वाध्याय एषां देवत्वं व्रतं साधुत्वमुच्यते ।
असाधुत्वं परीवादो मृत्युर्मानुष्यमुच्यते ।।३५।।

हंस बोला—हे साध्यगणो ! वेद-शास्त्रों का स्वाध्याय ही ब्राह्मणों का देवत्व है। उत्तम व्रतों का पालन ही उनमें साधुता बताई जाती है। दूसरों की निन्दा करना ही उनकी असाधुता है और मृत्यु को प्राप्त होना ही उनकी मनुष्यता कही गई है।

भीष्म उवाच

संवाद इत्ययं श्रेष्ठः साध्यानां परिकीर्तितः ।
क्षेत्रं वै कर्मणां योनिः सद्भावः सत्यमुच्यते ।।३६।।

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस प्रकार साध्यों के साथ हंस का जो श्रेष्ठ संवाद हुआ था, वह मैंने तुम्हें सुना दिया। यह शरीर ही कर्मों की योनि है और सद्भाव को ही सत्य कहते हैं।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि एकषष्टितमोऽध्यायः ।।६१।।

द्विषष्टितमोऽध्याय।

नारदजी का शुकदेव को वैराग्य तथा ज्ञान का उपदेश

नारद उवाच

नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तपः ।
नास्ति रागसमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम् ।।१।।

नारदजी कहते हैं—विद्या के समान कोई नेत्र नहीं है। सत्य के समान कोई तप नहीं है। राग [मोह या आसक्ति] के समान कोई दुःख नहीं है और त्याग के समान कोई सुख नहीं है।

निवृत्तिः कर्मणः पापात्सततं पुण्यशीलता ।
सद्वृत्तिः समुदाचारः श्रेय एतदनुत्तमम् ।।२।।

पापकर्मों से दूर रहना, सदा शुभकर्मों का अनुष्ठान करना, श्रेष्ठ पुरुषों के साथ व्यवहार और सदाचार का पालन करना—यही सर्वोत्तम कल्याण का साधन है।

सर्वोपायात्तु कामस्य क्रोधस्य च विनिग्रहः ।
कार्यः श्रेयोऽर्थिना तौ हि श्रेयोघातार्थमुद्यतौ ।।३।।

जिसे कल्याण-प्राप्ति की इच्छा हो, उसे स उपायों द्वारा काम और क्रोध का दमन करना चाहि क्योंकि ये दोनों दोष कल्याण का नाश करने के लि उद्यत रहते हैं।

नित्यं क्रोधात्तपो रक्षेच्छ्रियं रक्षेच्च मत्सरात् ।
विद्यां मानावमानाभ्यामात्मानं तु प्रमादतः ।।४

मनुष्य को चाहिए कि सदा तप की क्रोध

लक्ष्मी की डाह से, विद्या की मान और अपमान से तथा अपने आत्मा की प्रमाद से रक्षा करे ।

आनृशंस्यं परो धर्मः क्षमा च परमं बलम् ।
आत्मज्ञानं परं ज्ञानं न सत्याद्विद्यते परम् ॥५॥

क्रूर स्वभाव का परित्याग सबसे बड़ा धर्म है । क्षमा सबसे बड़ा बल है । आत्मा का ज्ञान ही सर्वोत्कृष्ट ज्ञान है और सत्य से बढ़कर तो कुछ है ही नहीं ।

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत् ।
यद् भूतहितमत्यन्तमेतत् सत्यं मतं मम ॥६॥

सत्य बोलना सबसे उत्तम है परन्तु सत्य बोलने से भी श्रेष्ठ है हितकारक वचन बोलना । जिससे प्राणियों का अत्यन्त हित होता हो, वही मेरे विचार से सत्य है ।

सर्वारम्भपरित्यागी निराशीर्निष्परिग्रहः ।
येन सर्वं परित्यक्तं स विद्वान् स च पण्डितः ॥७॥

जो कार्य आरम्भ करने के सभी संकल्पों को त्याग चुका है, जिसके मन में कोई कामना नहीं है, जो किसी वस्तु का संग्रह नहीं करता और जिसने सब-कुछ त्याग दिया है वही विद्वान् है और वही पण्डित है ।

न हिंस्यात् सर्वभूतानि मैत्रायणगतश्चरेत् ।
नेदं जन्म समासाद्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥८॥

किसी भी प्राणी की हिंसा न करे । सबके प्रति मित्रभाव रखते हुए विचरे और इस मनुष्य-जन्म को प्राप्त करके किसी के साथ वैर न करे ।

परिग्रहं परित्यज्य भव तात जितेन्द्रियः ।
अशोकं स्थानमातिष्ठ इह चामुत्र चाभयम् ॥९॥

तात शुकदेव ! तुम संग्रह का त्याग करके जितेन्द्रिय हो जाओ और उस पद को प्राप्त करो—जो लोक और परलोक दोनों में निर्भय और सर्वथा शोकरहित है ।

निरामिषा न शोचन्ति त्यजेदामिषमात्मनः ।
परित्यज्यामिषं सौम्य दुःखतापाद्विमोक्ष्यसे ॥१०॥

जिन्होंने भोगों का परित्याग कर दिया है, वे कभी शोक में नहीं पड़ते; अतः प्रत्येक मनुष्य को भोगासक्ति का त्याग करना चाहिए । सौम्य ! भोगों का परित्याग कर देने पर तुम दुःख और सन्ताप से मुक्त हो जाओगे ।

शुभैर्लभते देवत्वं व्यामिश्रैर्जन्म मानुषम् ।
अशुभैश्चाप्यधोजन्म कर्मभिर्लभतेऽवशः ॥११॥

जीव सदा कर्मों के अधीन रहता है । वह शुभ-कर्मों के अनुष्ठान से देवता बनता है, दोनों के सम्मिश्रण [पाप-पुण्य के मेल] से मनुष्य-जन्म प्राप्त करता है और केवल अशुभ कर्मों से पशु-पक्षी आदि नीच योनियों में जाता है ।

अलं परिग्रहेणेह दोषवान् हि परिग्रहः ।
कृमिर्हि कोषकारस्तु बध्यते स परिग्रहात् ॥१२॥

संसार में विविधप्रकार की वस्तुओं के संग्रह की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि संग्रह से महान् दोष उत्पन्न होता है । रेशम का कीड़ा अपने संग्रह-दोष के कारण ही बन्धन में पड़ता है ।

अस्थिस्थूणं स्नायुयुतं मांसशोणितलेपनम् ।
चर्मावनद्धं दुर्गन्धि पूर्णं मूत्रपुरीषयोः ॥१३॥
जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम् ।
रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यज ॥१४॥

यह शरीर पञ्चभूतों का घर है । इसमें हड्डियों के खम्भे लगे हैं । यह नस-नाड़ियों से बंधा हुआ, रक्त-मांस से लिपा और चमड़े से मँढा हुआ है । इसमें मल-मूत्र भरा हुआ है, जिससे दुर्गन्ध आती रहती है । यह बुढ़ापे और शोक से व्याप्त, रोगों का घर, दुःखरूप, रजोगुणरूपी धूल से ढका हुआ और नाशवान् है, अतः तुम्हें इसकी आसक्ति त्याग देनी चाहिए ।

शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च ।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥१५॥

जीवन में शोक के सहस्रों और भय के सैकड़ों स्थान [अवसर] हैं, जो प्रतिदिन मूढ मनुष्यों पर ही अपना प्रभाव डालते हैं, विद्वान् पर नहीं ।

नार्थो न धर्मो न यशो योऽतीतमनुशोचति ।
अप्यभावेन युज्येत तच्चास्य न निवर्तते ॥१६॥

जो बीती बात के लिए शोक करता है, उसे न तो अर्थ की प्राप्ति होती है, न धर्म की । उसे कीर्ति भी नहीं मिलती । वह उसके अभाव का अनुभव करके

केवल दुःख ही उठाता है। उससे अभाव दूर नहीं होता।

भैषज्यमेतद् दुःखस्य यदेतन्नानुचिन्तयेत्।
चिन्त्यमानं हि न व्येति भूयश्चापि प्रवर्धते ॥१७॥

दुःख दूर करने की सबसे श्रेष्ठ औषधि यही है कि उसका बार-बार चिन्तन न किया जाए। चिन्तन करने से वह घटता नहीं अपितु बढ़ता जाता है।

प्रज्ञया मानसं दुःखं हन्याच्छारीरमौषधैः।
एतद्विज्ञानसामर्थ्यं न बालैः समतामियात् ॥१८॥

मानसिक दुःख को बुद्धि के द्वारा विचार से और शारीरिक रोग को औषध-सेवन द्वारा नष्ट करना चाहिए। शास्त्रज्ञान के प्रभाव से ही ऐसा होना सम्भव है। दुःख आने पर बालकों की भाँति रोना उचित नहीं है।

अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं द्रव्यसञ्चयः।
आरोग्यं प्रियसंवासो गृध्येत्तत्र न पण्डितः ॥१९॥

रूप, यौवन, जीवन, धन-संग्रह, नीरोगता और प्रियजनों का सम्मिलन (समागम) अनित्य हैं। विद्वान् मनुष्य को इनमें आसक्त नहीं होना चाहिए।

अन्तो नास्ति पिपासायास्तुष्टिस्तु परमं सुखम्।
तस्मात्सन्तोषमेवेह धनं पश्यन्ति पण्डिताः ॥२०॥

तृष्णा का कभी अन्त नहीं होता। सन्तोष ही परम सुख है, अतः पण्डित लोग संसार में सन्तोष को ही उत्तम धन समझते हैं।

धृत्या शिश्नोदरं रक्षेत्पाणिपादं च चक्षुषा।
चक्षुः श्रोत्रे च मनसा मनो वाचं च विद्यया ॥२१॥

मनुष्य को चाहिए कि वह धैर्य के द्वारा शिश्न और उदर की, नेत्र के द्वारा हाथ और पैर की, मन के द्वारा आँख और कान की तथा सद्विद्या के द्वारा मन एवं वाणी की रक्षा करे।

अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः।
आत्मनैव सहायेन यश्चरेत् स सुखी भवेत् ॥२२॥

जो अध्यात्मविद्या में अनुरक्त, कामना-शून्य, और भोगासक्ति से दूर है, जो [आत्मवान् होकर] विचरण करता है, वही सुखी होता है।

अहं कस्य कुतो वापि कः को मे ह भवेदिति।
प्रयोजनमतिर्नित्यमेवं मोक्षाश्रमे वसेत् ॥२३॥

'मैं किस स्वरूप का हूँ? कहाँ से आया हूँ? मेरा कौन है? इस जीवन का प्रयोजन क्या है?'—इत्यादि बातों का सदा विचार करते हुए संन्यासी को संन्यास-आश्रम में रहना चाहिए।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥६२॥

त्रिषष्टितमोऽध्यायः

शान्तिपर्व का सार : विविध विषयों पर मनोरम, सारगर्भित तथा मार्मिक उपदेश

व्यास उवाच

अदत्तस्यानुपादानं दानमध्ययनं तपः।
अहिंसा सत्यमक्रोधः इज्या धर्मस्य लक्षणम् ॥१॥

व्यासजी कहते हैं—बिना दी हुई वस्तु को न लेना, दान देना, वेदाध्ययन में तत्पर रहना, किसी भी प्राणी के प्रति वैर की भावना न रखना, सत्य बोलना, क्रोध न करना तथा यज्ञ करना—ये सब धर्म के लक्षण हैं।

यथा दारुमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
ब्राह्मणश्चानधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥२॥

जैसे लकड़ी का हाथी और चर्म-निर्मित मृग होते हैं, वैसे ही वेद-शास्त्रों से शून्य ब्राह्मण होता है। ये तीनों नाममात्र धारण करते हैं [नाम के अनुसार काम नहीं देते]।

यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला।
शकुनिर्वाप्यपक्षः स्यान्निर्मन्त्रो ब्राह्मणस्तथा ॥३॥

जैसे नपुंसक मनुष्य स्त्रियों से समागम करके निष्फल होता है, गाय गाय से ही संयुक्त होने पर कोई फल नहीं दे सकती और बिना पंख का पक्षी उड़ नहीं सकता, वैसे ही वेदमन्त्रों के ज्ञान से शून्य ब्राह्मण भी व्यर्थ होता है।

ग्रामो धान्यैर्यथा शून्यो यथा कूपश्च निर्जलः ।
यथा हुतमनग्नौ च तथैव स्यान्निराकृतौ ॥४॥

जैसे अन्न से रहित ग्राम, जलहीन कुंआ और राख में दी हुई आहुति व्यर्थ होती है, वैसे ही मूर्ख ब्राह्मण को दिया हुआ दान भी व्यर्थ होता है ।

भीष्म उवाच

यः स्याद् दान्तः सोमपश्चार्यशीलः
सानुक्रोशः सर्वसहो निराशीः ।
ऋजुर्मृदुरनृशंसः क्षमावान्
स वै विप्रो नेतरः पापकर्मा ॥५॥

भीष्मजी कहते हैं—जो मन और इन्द्रियों को संयम में रखनेवाला, सोमयाग करके सोमरस पीनेवाला, सदाचारी, दयालु, सब-कुछ सहन करनेवाला, निष्काम, सरल, मृदु, [कोमल], क्रूरतारहित और क्षमाशील हो, वही ब्राह्मण कहलाने योग्य है । इन गुणों से रहित जो पापाचारी है, उसे ब्राह्मण नहीं समझना चाहिए ।

यज्ञः श्रुतमपैशुन्यमहिंसातिथिपूजनम् ।
दमः सत्यं तपो दानमेतद् ब्राह्मणलक्षणम् ॥६॥

यज्ञ करना-कराना, वेदों का अध्ययन, किसी की चुगली न करना, मन, वचन तथा कर्म द्वारा किसी प्राणी को कष्ट न देना, अतिथियों का सत्कार करना, मन को वश में रखना, सत्य बोलना, तप करना तथा दान देना—यह सब ब्राह्मण का लक्षण है ।

नारद उवाच

शक्त्यान्नदानं सततं तितिक्षार्जवमार्दवम् ।
यथार्हप्रतिपूजा च शस्त्रमेतदनायसम् ॥७॥

नारदजी कहते हैं—अपनी शक्ति के अनुसार सदा अन्नदान करना, सहनशीलता, सरलता, कोमलता और सभी का यथायोग्य आदर-सत्कार करना—यह बिना लोहे का बना शस्त्र है [जो किसी पर भी विजय पाने में समर्थ है] ।

भीष्म उवाच

निग्रहेण च पापानां साधूनां संग्रहेण च ।
यज्ञैर्दानैश्च राजानो भवन्ति शुचयोऽमलाः ॥८॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! पापियों को दण्ड देने तथा सज्जनों को आदरपूर्वक अपनाने से और यज्ञों का अनुष्ठान एवं दान करने से राजा लोग सब प्रकार के दोषों से छूटकर निर्मल तथा शुद्ध हो जाते हैं ।

अधर्मः क्षत्रियस्यैष यच्छय्यामरणं भवेत् ।
विसृजञ्श्लेष्ममूत्राणि कृपणं परिदेवयन् ॥९॥
अविक्षतेन देहेन प्रलयं योऽधिगच्छति ।
क्षत्रियो नास्य तत्कर्म प्रशंसन्ति पुराविदः ॥१०॥

खाट पर सोकर मरना क्षत्रिय के लिए अधर्म है । जो क्षत्रिय कफ और मल-मूत्र त्यागता हुआ तथा दुःखी होकर विलाप करता हुआ बिना घायल हुए शरीर से मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, उसके इस कर्म की प्राचीन धर्म को जाननेवाले विद्वान् लोग प्रशंसा नहीं करते ।

इन्द्र उवाच

वृद्धबालौ न हन्तव्यौ न च स्त्री नैव पृष्ठतः ।
तृणपूर्णमुखश्चैव तवास्मीति च यो वदेत् ॥११॥

इन्द्रदेव कहते हैं—युद्ध में वृद्ध, बालक तथा स्त्री का वध नहीं करना चाहिए । किसी भागते हुए की पीठ पर भी वार नहीं करना चाहिए । जो मुँह में तिनका लेकर शरण में आ जाए और यह कहे कि 'मैं आपका ही हूँ'—उसका भी वध नहीं करना चाहिए ।

भीष्म उवाच

शूरबाहुषु लोकोऽयं लम्बते पुत्रवत्सदा ।
तस्मात्सर्वास्ववस्थासु शूरः सम्मानमर्हति ॥१२॥

भीष्मजी कहते हैं—जैसे पुत्र सदा पिता पर आश्रित होता है, वैसे ही सारा संसार शूरवीर की भुजाओं पर टिका हुआ है, अतः सभी अवस्थाओं में शूरवीर सम्मान पाने के योग्य है ।

न हि शौर्यात्परं किञ्चित् त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
शूरः सर्वं पालयति सर्वं शूरे प्रतिष्ठितम् ॥१३॥

तीनों लोकों में शूरवीरता से बढ़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है । शूरवीर सबका पालन करता है और सारा जगत् उसी के आधार पर टिका हुआ है ।

द्वेष्यो भवति भूतानामुग्रो राजा युधिष्ठिर ।
मृदुमप्यवमन्यन्ते तस्मादुभयमाचरेत् ॥१४॥

युधिष्ठिर ! राजा यदि उग्र स्वभाव का बन जाए तो वह समस्त प्राणियों के द्वेष का पात्र बन

जाता है और अत्यन्त कोमल हो जाए तो सभी उसकी अवहेलना करने लगते हैं, अतः उसे आवश्यकतानुसार उग्रता तथा कोमलता दोनों से काम लेना लेना चाहिए।

बृहस्पतिरुवाच

प्रियमेव वदेन्नित्यं नाप्रियं किञ्चिदाचरेत् ।
विरमेच्छुष्कवैरेभ्यः कण्ठायासांश्च वर्जयेत् ॥१५॥

बृहस्पतिजी कहते हैं—मनुष्य को चाहिए कि सदा मधुर वचन ही बोले, कभी कोई अप्रिय व्यवहार न करे। सूखे वैर से अलग रहे और कण्ठ को पीड़ा देनेवाले वाद-विवाद को त्याग दे।

मृदुमप्यवमन्यन्ते तीक्ष्णादुद्विजते जनाः ।
मा तीक्ष्णो मा मृदुर्भूस्त्वं तीक्ष्णो भव मृदुर्भव ॥१६॥

मनुष्य कोमल स्वभाववाले राजा का अपमान करते हैं, और अति कठोर स्वभाववाले से भी उद्विग्न हो जाते हैं, अतः तुम न कठोर बनो न कोमल। यथावसर कठोरता भी धारण करो और कोमल भी हो जाओ।

परोक्षमगुणानाह सद्गुणानभ्यसूयते ।
परैर्वा कीर्त्यमानेषु तूष्णीमास्ते पराङ्मुखः ॥१७॥

जो परोक्ष में किसी व्यक्ति के दोष-ही-दोष बताता है, उसके गुणों में भी दोषारोपण करता है और यदि अन्य लोग उसके गुणों का कीर्तन करें तो वह मुँह फेरकर चुपचाप बैठ जाता है—वह दुष्ट माना जाता है।

मुनिरुवाच

धनं वा पुरुषो राजन् पुरुषं वा पुनर्धनम् ।
अवश्यं प्रजहात्येव तद्विद्वान् कोऽनुसंज्वरेत् ॥१८॥

कालकवृक्षीय मुनि कहते हैं—राजन्! चाहे मनुष्य धन को छोड़ दे अथवा धन ही मनुष्य को छोड़ दे—एक दिन अवश्य ऐसा होता है। इस बात को जाननेवाला कौन मनुष्य धन की चिन्ता करेगा!

नियच्छ यच्छ संयच्छ इन्द्रियाणिमनोगिरम् ।
प्रतिषेद्धा न चाप्येषु दुर्बलेष्वहितेष्वपि ॥१९॥

इन्द्रियों को संयम में रखो, मन को वश में करो और वाणी का संयम करके मौन रहा करो। ये मन, वाणी और इन्द्रियाँ दुर्बल हों अथवा अहितकारक, इन्हें विषयों की ओर जाने से रोकनेवाला अपने आत्मा के अतिरिक्त और कोई नहीं है।

हित्वा दम्भं च कामं च क्रोधं हर्षं भयं तथा ।
अप्यमित्राणि सेवस्व प्रणिपत्य कृताञ्जलिः ॥२०॥

राजन्! तुम दम्भ, काम, क्रोध, हर्ष और भय को त्यागकर हाथ जोड़, मस्तक झुकाकर शत्रुओं की भी सेवा करो।

वर्तमानः स्वशास्त्रेण संयतात्मा जितेन्द्रियः ।
अभ्युद्धरति चात्मानं प्रसादयति च प्रजाः ॥२१॥

जो मनुष्य शास्त्र के अनुकूल आचरण करता हुआ अपने मन और इन्द्रियों को वश में रखता है, वह अपना तो उद्धार करता ही है, प्रजा को भी प्रसन्न कर लेता है।

भीष्म उवाच

शुचेरपि हि युक्तस्य दोष एव निपात्यते ।
मुनेरपि वनस्थस्य स्वानि कर्माणि कुर्वतः ।
उत्पद्यन्ते त्रयः पक्षा मित्रोदासीनशत्रवः ॥२२॥

भीष्मजी कहते हैं—कोई कितना ही शुद्ध और महात्मा क्यों न हो, लोग उसपर भी दोषारोपण कर ही देते हैं। अपने धार्मिक कर्मों में लगे हुए वनवासी मुनि के भी शत्रु, मित्र और उदासीन—ये तीन पक्ष पैदा हो जाते हैं।

लुब्धानां शुचयो द्वेष्याः कातराणां तरस्विनः ।
मूर्खाणां पण्डिता द्वेष्याः दरिद्राणां महाधनाः ।
अधार्मिकाणां धर्मिष्ठा विरूपाणां सुरूपिणः ॥२३॥

लोभी लोग निर्लोभी से, भीरु [कायर] बलवानों से, मूर्ख विद्वानों से, दरिद्र बड़े-बड़े धनिकों से, पापी धर्मात्माओं से और कुरूप सुन्दर रूपवालों से द्वेष करते हैं।

न दुष्करमिदं पुत्र यत्प्रभुर्घातयेत् परम् ।
श्लाघनीया यशस्या च लोके प्रभवतां क्षमा ॥२४॥

पुत्र! यदि शक्तिशाली राजा किसी का व करा दे तो यह उसके लिए कोई कठिन काम नहीं है परन्तु शक्तिशाली मनुष्यों में यदि क्षमा का भाव है तो संसार में उनकी प्रशंसा होती है और उसी से उनका यश बढ़ता है।

दुःखेन श्लिष्यते भिन्नं श्लिष्टं दुःखेन भिद्यते ।
भिन्ना श्लिष्टा तु या प्रीतिर्न सा स्नेहेन वर्तते ॥२५॥

प्रेम का बन्धन बड़ी कठिनाई से टूटता है, परन्तु एक बार टूट जाने पर वह अत्यन्त कठिनाई से जुड़ पाता है। जो प्रेम बारम्बार टूटता और जुड़ता रहता है, उसमें स्नेह नहीं होता।

नाविद्यो नानृजुः पार्श्वे नाप्राज्ञो नामहाधनः ।
संग्राह्यो वसुधापालैर्भृत्यो भृत्यवतां वर ॥२६॥

भृत्यवानों में श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! भूपालों को चाहिए कि अपने पास ऐसे किसी भृत्य का संग्रह न करें, जो विद्याहीन, कुटिल, मूर्ख और दरिद्र हो।

कोशश्च सततं रक्ष्यो यत्नमास्थाय राजभिः ।
कोशमूला हि राजानः कोशो वृद्धिकरो भवेत् ॥२७॥

राजाओं को पूर्ण प्रयत्न करके निरन्तर अपने कोष की रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि कोष ही उनका मूलाधार है और कोष ही उन्हें आगे बढ़ानेवाला होता है।

कोष्ठागारं च ते नित्यं स्फीतैर्धान्यैः सुसंवृतम् ।
सदास्तु सत्सु संन्यस्तं धनधान्यपरो भव ॥२८॥

युधिष्ठिर ! तुम्हारा अन्न-भण्डार सदा पुष्टिकारक अन्नों से भरा रहना चाहिए तथा उसकी रक्षा का भार श्रेष्ठ पुरुषों को सौंप देना चाहिए। तुम सदा धन-धान्य की वृद्धि करनेवाले बनो।

मृजावान्स्यात्स्वयूथ्येषु भौमानि चरणैः क्षिपेत् ।
जातपक्षः परिस्पन्देत्प्रेक्षेद् वैकल्यमात्मनः ॥२९॥

राजा अपने दल के लोगों के प्रति निष्कपट व्यवहार करे। शत्रु के राज्य में जो फसलें खड़ी हों, उन्हें अपने दल के घोड़ों तथा बैलों के पैरों से कुचलवा दे। अपना पक्ष बलवान् होने पर ही शत्रुओं पर आक्रमण करे और अपनी दुर्बलताओं का भलीभाँति निरीक्षण करता रहे।

नाशयेद् बलबर्हाणि संनिवासान् निवासयेत् ।
सदा बर्हिनिभः कामं प्रशस्तं कृतमाचरेत् ।
सर्वतश्चाददेत् प्रज्ञां पतङ्गः गहनेष्विव ॥३०॥

शत्रु-सेना के पंख काट डाले—उसे निर्बल कर दे। श्रेष्ठ पुरुषों को अपने निकट बसाये। मोर के समान स्वेच्छानुसार उत्तम कार्य करे [जैसे मोर अपने पंखों को फैलाता है, वैसे ही अपने पक्ष=सेना और सहायकों का विस्तार करे]। सबसे बुद्धि=सद्विचार ग्रहण करे तथा जैसे टिड्डी-दल जंगल में जहाँ गिरता है, वहाँ वृक्षों पर पत्ते तक नहीं छोड़ता, वैसे ही शत्रुओं पर आक्रमण करके उनका सर्वस्व नष्ट कर दे।

कुलप्रकृतिदेशानां धर्मज्ञान् मृदुभाषिणः ।
मध्ये वयसि निर्दोषान् हिते युक्तानविक्लवान् ॥३१॥
अलुब्धान् शिक्षतान्दान्तान्धर्मेषु परिनिष्ठितान् ।
स्थापयेत्सर्वकार्येषु राजा धर्मार्थरक्षिणः ॥३२॥

जो लोग कुल, स्वभाव तथा देश के धर्म को जानते हों, मधुरभाषी हों, यौवन में जिनका जीवन निष्कलङ्क रहा हो, जो हितसाधन में संलग्न तथा धैर्यशील [घबराहट से रहित] हों, जो निर्लोभ, शिक्षित, जितेन्द्रिय, धर्मनिष्ठ तथा धर्म और अर्थ की रक्षा करनेवाले हों, उन्हीं को राजा अपने समस्त कार्यों में नियुक्त करे।

माता पिता च भ्राता च भार्या चैव पुरोहितः ।
नादण्ड्यो विद्यते राज्ञो यः स्वधर्मे न तिष्ठति ॥३३॥

माता, पिता, भाई, स्त्री तथा पुरोहित—कोई भी क्यों न हो, जो अपने धर्म में स्थिर नहीं रहता, उसे राजा अवश्य दण्ड दे। राजा के लिए कोई भी अदण्डय नहीं है।

युधिष्ठिर उवाच

आशां महत्तरां मन्ये पर्वतादपि सद्रुमात् ।
आकाशादपि वा राजन्नप्रमेयैव वा पुनः ॥३४॥

युधिष्ठिरजी कहते हैं—राजन् ! मैं आशा को वृक्षों से भरे पर्वत से भी बहुत बड़ी मानता हूँ, अथवा वह आकाश से भी बढ़कर अप्रमेय है।

यम उवाच

तपःशौचवता नित्यं सत्यधर्मरतेन च ।
मातापित्रोरहरहः पूजनं कार्यमञ्जसा ॥३५॥

यमराज कहते हैं—मनुष्य तप करे, बाहर-भीतर से पवित्र रहे और सदा सत्यभाषणरूप धर्म के पालन में तत्पर रहे। यह सब करते हुए ही उसे प्रतिदिन माता-पिता की सेवा करनी चाहिए।

भीष्म उवाच

न वाच्यः परीवादोऽयं न श्रोतव्यः कथञ्चन ।
कर्णावथ पिधातव्यौ प्रस्थेयं चान्यतो भवेत् ॥३६॥

भीष्मजी कहते हैं—किसी की भी निन्दा नहीं करनी चाहिए और न किसी भी रूप में किसी की निन्दा सुननी ही चाहिए । यदि कोई दूसरे की निन्दा करता हो तो वहाँ या तो अपने कान बन्द कर लेने चाहिएँ अथवा वहाँ से उठकर अन्यत्र चले जाना चाहिए ।

असतां शीलमेतद् वै परिवादोऽथ पैशुनम् ।
गुणानामेव वक्तारः सन्तः सत्सु नराधिप ॥३७॥

राजन् ! दूसरों की निन्दा अथवा चुगली करना—यह दुष्टों का स्वभाव होता है । श्रेष्ठ मनुष्य तो सज्जनों के समीप दूसरों के गुणों का ही बखान करते हैं ।

अबलस्य कुतः कोशो ह्यकोशस्य कुतो बलम् ।
अबलस्य कुतो राज्यमराज्ञः श्रीर्भवेत् कुतः ॥३८॥

बलहीन राजा के पास कोष कैसे रह सकता है ? कोषहीन के पास सेना कैसे टिक सकती है ? सेना से रहित राजा का राज्य कैसे स्थिर रह सकता है और राज्यहीन के पास लक्ष्मी कैसे ठहर सकती है ?

उच्चैर्वृत्तेः श्रियो हानिर्यथैव मरणं तथा ।
तस्मात् कोशं बलं मित्रमथ राजा विवर्धयेत् ॥३९॥

जो धन के कारण उच्च तथा महत्त्वपूर्ण पद पर पहुँचा हुआ है, यदि उसके धन की हानि हो जाए तो उसे मृत्यु के समान कष्ट होता है, अतः राजा को कोष, सेना और मित्रों की संख्या बढ़ानी चाहिए ।

उद्यच्छेदेव न नमेदुद्यमो ह्येव पौरुषम् ।
अप्यपर्वणि भज्येत न नमेतेह कस्यचित् ॥४०॥

राजा को सदा उद्यम ही करना चाहिए, किसी के समक्ष झुकना नहीं चाहिए, उद्यम ही पुरुषत्व है । जैसे सूखी लकड़ी बिना गाँठ के ही टूट जाती है परन्तु झुकती नहीं है, वैसे ही राजा नष्ट भले ही हो जाए परन्तु उसे झुकना नहीं चाहिए ।

श्रियो बलममात्यांश्च बलवानिह विन्दति ।
यो ह्यनाढ्यः स पतितस्तदुच्छिष्टं यदल्पकम् ॥४१॥

बलवान् राजा इस संसार में सम्पत्ति, सेना और मन्त्री आदि सभी कुछ पा लेता है । जो दरिद्र है, वह पतित समझा जाता है तथा जिसके पास बहुत थोड़ा धन है वह उच्छिष्ट या जूठन समझा जाता है ।

अतिधर्माद् बलं मन्ये बलाद् धर्मः प्रवर्तते ।
बले प्रतिष्ठितो धर्मो धरण्यामिव जङ्गमम् ॥४२॥

मैं धर्म से बल को श्रेष्ठ मानता हूं, क्योंकि बल से ही धर्म की प्रवृत्ति होती है । जैसे चलने-फिरनेवाले सभी प्राणी पृथिवी पर स्थित हैं, वैसे ही धर्म बल पर टिका हुआ है ।

वशे बलवतां धर्मः सुखं भोगवतामिव ।
नास्त्यसाध्यं बलवतां सर्वं बलवतां शुचि ॥४३॥

जैसे भोग-सामग्री से सम्पन्न मनुष्यों के अधीन सुख-भोग होता है, वैसे ही धर्म बलवानों के वश में रहता है । बलवानों के लिए कुछ भी असाध्य नहीं है। बलवानों का सब-कुछ शुद्ध और निर्दोष होता है।

न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत् ।
विश्वासाद् भयमुत्पन्नमपि मूलानि कृन्तति ॥४४॥

जो विश्वासपात्र न हो उसपर कभी विश्वास न करे तथा जो विश्वास-भाजन हो उसपर भी अधिक विश्वास न करे, क्योंकि विश्वास से उत्पन्न हुआ भय मनुष्य का समूलोच्छेद कर डालता है।

आत्मनश्चपलो नास्ति कुतोऽन्येषां भविष्यति ।
तस्मात्सर्वाणि कार्याणि चपलो हन्त्यसंशयम् ॥४५॥

चपल मनुष्य जब अपना ही कल्याण नहीं कर सकता, तब वह दूसरे की भलाई क्या करेगा ? यह निश्चित है कि चञ्चल मनुष्य सब कार्यों को चौप कर डालता है ।

अर्थार्थी जीवलोकोऽयं न कश्चित्कस्यचित्प्रियः ।
सख्यं सोदर्ययोर्भ्रात्रोर्दम्पत्योर्वा परस्परम् ।
कस्यचिन्नाभिजानामि प्रीतिं निष्कारणामिह ॥४

यह जीव-जगत् स्वार्थ का ही साथी है । कोई कि का प्रिय नहीं है । दो सगे भाइयों और पति त पत्नी का पारस्परिक प्रेम भी स्वार्थवश ही होता है। इस संसार में मैं किसी के प्रेम को निष्का [स्वार्थरहित] नहीं देखता ।

शौनक उवाच

यज्ञो दानं दया वेदाः सत्यं च पृथिवीपते ।
पञ्चैतानि पवित्राणि षष्ठं सुचरितं तपः ॥४७

शौनकजी कहते हैं—भूपाल ! यज्ञ, दान, दया, वेद तथा सत्य—ये पाँचों पवित्र बताये गये हैं। इनके साथ अच्छी प्रकार आचरण में लाया हुआ तप भी छठा पवित्र कर्म माना गया है।

भीष्म उवाच

सर्वस्य दयिताः प्राणाः सर्वः स्नेहं च विन्दति ।
तिर्यग्योनिष्वपि सतां स्नेहं पश्यत यादृशम् ॥४८॥

भीष्मजी कहते हैं—सबको अपने प्राण प्यारे होते हैं तथा सभी दूसरों से स्नेह पाते हैं। पशु-पक्षी की योनि में जो प्राणी रहते हैं, उनका भी अपनी सन्तानों पर कैसा प्रेम होता है, इसे देखो।

न कर्मणा पितुः पुत्रः पिता वा पुत्रकर्मणा ।
मार्गेणान्येन गच्छन्ति बद्धाः सुकृतदुष्कृतैः ॥४९॥

पिता के कर्म से पुत्र का और पुत्र के कर्म से पिता का कोई सम्बन्ध नहीं है। अपने-अपने पुण्य और पाप के बन्धन में बंधे हुए जीव कर्मानुसार भिन्न-भिन्न मार्गों से जाते हैं।

अनिर्वेदः सदा कार्यो निर्वेदाद्धि कुतः सुखम् ।
प्रयत्नात्प्राप्यते ह्यर्थः शोकं दैन्यं परित्यज ॥५०॥

खेद और शिथिलता को कभी अपने मन में स्थान नहीं देना चाहिए। निराश होने पर सुख की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? प्रयत्न से ही अभीष्ट अर्थ [प्रयोजन] की सिद्धि हो सकती है, अतः शोक और दीनता को त्याग देना चाहिए।

अप्रियं परुषं चापि परद्रोहं परस्त्रियम् ।
अधर्ममनृतं चैव दूरात् प्राज्ञो विवर्जयेत् ॥५१॥

बुद्धिमान् मनुष्य को अप्रिय आचरण, कठोर वचन, दूसरों के साथ द्रोह, परायी स्त्री, अधर्म-आचरण तथा असत्य भाषण का दूर से ही परित्याग कर देना चाहिए।

धर्मं सत्यं श्रुतं न्याय्यं महतीं प्राणिनां दयाम् ।
अजिह्मत्वमशाठ्यं च यत्नतः परिमार्गत ॥५२॥

तुम लोग धर्म, सत्य, शास्त्रज्ञान, न्यायपूर्ण व्यवहार, सम्पूर्ण प्राणियों पर अत्यन्त दयालुता, कुटिलता का अभाव तथा शठता का त्याग—इन सद्गुणों का यत्नपूर्वक अनुसरण करो।

मातरं पितरं वापि बान्धवान् सुहृदस्तथा ।
जीवतो ये न पश्यन्ति तेषां धर्मविपर्ययः ॥५३॥

जो लोग जीवित माता-पिता, सुहृदों तथा भाई-बन्धुओं की देख-भाल नहीं करते हैं, उनके धर्म की हानि होती है।

सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम् ।
सुखदुःखावृते लोके नेहास्त्येकमनन्तरम् ॥५४॥

सुख के पश्चात् दुःख और दुःख के बाद सुख आता है। सुख तथा दुःख से घिरे हुए इस संसार में निरन्तर सुख या दुःख अकेला नहीं बना रहता है।

क्षत्रियो बाहुवीर्येण तरेदापदमात्मनः ।
धनैर्वैश्यश्च शूद्रश्च मन्त्रैर्होमैश्च वै द्विजः ॥५५॥

क्षत्रिय को अपने भुजबल से, वैश्य और शूद्र को धन के बल से तथा ब्राह्मण को मन्त्र एवं यज्ञ की शक्ति से अपनी विपत्ति से पार उतरना चाहिए।

पुण्यानि यानि कुर्वीत श्रद्दधानो जितेन्द्रियः ।
अनाप्तदक्षिणैर्यज्ञैर्न यजेत कथञ्चन ॥५६॥

मनुष्य जो भी पुण्यकर्म करे उसे श्रद्धापूर्वक तथा जितेन्द्रिय भाव से करे। पर्याप्त दक्षिणा दिये बिना किसी प्रकार यज्ञ न करे।

प्रजाः पशूंश्च स्वर्गं च हन्ति यज्ञो ह्यदक्षिणः ।
इन्द्रियाणि यशः कीर्तिमायुश्चाप्यवकृन्तति ॥५७॥

बिना दक्षिणा का यज्ञ प्रजा और पशु का नाश करता है तथा स्वर्ग=सुख की प्राप्ति में भी बाधा डाल देता है। इतना ही नहीं दक्षिणाहीन यज्ञ इन्द्रियों की शक्ति, यश, कीर्ति और आयु को भी क्षीण करता है।

श्रद्दधानः शुभां विद्यां हीनादपि समाप्नुयात् ।
सुवर्णमपि चामेध्याददीताविचारयन् ॥५८॥

नीच पुरुष के पास भी उत्तम विद्या हो तो उसे श्रद्धापूर्वक ग्रहण करना चाहिए जैसे सोना अपवित्र स्थान में भी पड़ा हो तो उसे बिना झिझक के उठा लेना चाहिए।

स्त्रीरत्नं दुष्कुलाच्चापि विषादप्यमृतं पिबेत् ।
अदूष्या हि स्त्रियो रत्नमाप इत्येव धर्मतः ॥५९॥

नीच कुल से भी उत्तम स्त्री को ग्रहण कर ले, विष के स्थान से भी अमृत मिले तो पी ले, क्योंकि

स्त्रियाँ, रत्न और जल—ये धर्मतः दूषितः नहीं होते।

विदुर उवाच

बाहुश्रुत्यं तपस्त्यागः श्रद्धा यज्ञक्रिया क्षमा।
भावशुद्धिर्दया सत्यं संयमश्चात्मसम्पदः ॥६०॥

विदुरजी बोले—राजन्! बहुत-से शास्त्रों का अनुशीलन, तपस्या, त्याग, श्रद्धा, यज्ञकर्म, क्षमा, भावशुद्धि, दया, सत्य तथा संयम—ये सब आत्मा की सम्पत्ति हैं।

धर्मेणैवर्षयस्तीर्णा धर्मे लोकाः प्रतिष्ठिताः।
धर्मेण देवा ववृधुर्धर्मे चार्थः समाहितः ॥६१॥

धर्म से ही ऋषियों ने संसार-समुद्र को पार किया है। धर्म पर ही सम्पूर्ण लोक टिके हुए हैं। धर्म से ही देवताओं=विद्वानों की उन्नति हुई है तथा धर्म से ही अर्थ की भी स्थिति है।

धर्मं समाचरेत् पूर्वं ततोऽर्थं धर्मसंयुतम्।
ततः कामं चरेत्पश्चात्सिद्धार्थः स हि तत्परम् ॥६२॥

मनुष्य सर्वप्रथम धर्म का आचरण करे, फिर धर्मपूर्वक धन का सञ्चय करे। तत्पश्चात् दोनों की अनुकूलता रखते हुए काम का सेवन करे। इस प्रकार त्रिवर्ग का संग्रह करनेवाला मनुष्य सफलमनोरथ हो जाता है।

युधिष्ठिर उवाच

स्नेहेन युक्तस्य न चास्ति मुक्ति-
रिति स्वयम्भूर्भगवानुवाच।
बुधाश्च निर्वाणपरा भवन्ति
तस्मान्न कुर्यात्प्रियमप्रियं च ॥६३॥

युधिष्ठिरजी कहते हैं—स्वयम्भू भगवान् ब्रह्माजी का कथन है जिसके मन में आसक्ति है, उसकी मुक्ति नहीं हो सकती। आसक्तिरहित ज्ञानी मनुष्य ही मोक्ष को प्राप्त होते हैं, इसलिए मुमुक्षु को चाहिए कि वह किसी का प्रिय अथवा अप्रिय न करे।

भीष्म उवाच

ब्रह्मघ्ने च सुरापे च चौरे भग्नव्रते तथा।
निष्कृतिर्विहिता राजन्कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ॥६४॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! ब्रह्महत्यारे, शराबी, चोर और व्रतभङ्ग करनेवालों के लिए शास्त्र में प्रायश्चित्त का विधान है, परन्तु कृतघ्न के उद्धार के लिए कोई उपाय नहीं बताया गया है।

नैवास्याग्निर्न चारिष्टो न मृत्युर्न च दस्यवः।
प्रभवन्ति धनत्यागाद् विमुक्तस्य निराशिषः ॥६५॥

जो मनुष्य धन का परित्याग कर उसकी आसक्ति से मुक्त हो गया है तथा मन में भी किसी प्रकार की कामनाएँ नहीं रखता, उसपर न अग्नि का वश चलता है, न अरिष्ट=मृत्युसूचक लक्षणों का, न मृत्यु उसका कुछ बिगाड़ सकती है, न डाकू और लुटेरे ही।

नात्यक्त्वा सुखमाप्नोति नात्यक्त्वा विन्दते परम्।
नात्यक्त्वा चाभयः शेते त्यक्त्वा सर्वं सुखी भव ॥६६॥

कोई भी मनुष्य त्याग किये बिना सुख नहीं पाता, त्याग किये बिना परमात्मा को भी नहीं पाता तथा त्याग किये बिना निर्भय होकर सो भी नहीं सकता, अतः तुम भी सब-कुछ त्यागकर सुखी बनो।

भृगुरुवाच

घनानामपि वृक्षाणामाकाशोऽस्ति न संशयः।
तेषां पुष्पफलव्यक्तिर्नित्यं समुपपद्यते ॥६७॥

भृगुजी कहते हैं—यद्यपि वृक्ष ठोस जान पड़ते हैं फिर भी उनमें आकाश है, इसमें सन्देह नहीं है। आकाश होने से ही उनमें नित्यप्रति फूल-फल आदि की उत्पत्ति सम्भव हो सकती है।

ऊष्मतो म्लायते पर्णं त्वक्फलं पुष्पमेव च।
म्लायते शीर्यते चापि स्पर्शस्तेनात्र विद्यते ॥६८॥

वृक्षों के भीतर जो ऊष्मा=गर्मी होती है उससे उनके पत्ते, छाल, फूल, फल कुम्हला जाते हैं, मुरझाकर झड़ जाते हैं, अतः उनमें स्पर्श का होना भी सिद्ध होता है।

वाय्वग्न्यशनिर्घोषैः फलं पुष्पं विशीर्यते।
श्रोत्रेण गृह्यते शब्दस्तस्माच्छृण्वन्ति पादपाः ॥६९॥

वायु, अग्नि और विद्युत् की कड़क आदि और शब्द होने पर वृक्षों के फूल-फल झड़ जाते हैं। शब्द का ग्रहण श्रवणेन्द्रिय=कान से ही होता है, अतः यह सिद्ध है कि वृक्ष सुनते भी हैं।

वल्ली वेष्टयते वृक्षं सर्वतश्चैव गच्छति।
न ह्यदृष्टेश्च मार्गोऽस्ति तस्मात्पश्यन्ति पादपाः ॥

लता वृक्ष को चारों ओर से लपेट लेती है

उसके ऊपरी भाग तक चढ़ जाती है। बिना देखे किसी को अपने जाने का मार्ग नहीं मिल सकता, इससे सिद्ध है कि वृक्ष देखते भी हैं।

पुण्यापुण्यैस्तथा गन्धैर्धूपैश्च विविधैरपि।
अरोगाः पुष्पिताः सन्ति तस्माज्जिघ्रन्ति पादपाः ॥७१॥

पवित्र तथा अपवित्र गन्ध से तथा नानाप्रकार की धूपों की सुगन्ध से वृक्ष नीरोग होकर फूलने-फलने लग जाते हैं, अतः वृक्षों में सूँघने की शक्ति भी सिद्ध है।

पादैः सलिलपानाच्च व्याधीनां चापि दर्शनात्।
व्याधिप्रतिक्रियत्वाच्च विद्यते रसनं द्रुमे ॥७२॥

वृक्ष अपनी जड़ से जल पीते हैं तथा कोई रोग हो जाने पर उनकी जड़ में ओषधि डालकर उनकी चिकित्सा भी की जाती है, इससे प्रमाणित होता है कि वृक्ष में रसनेन्द्रिय भी है।

सुखदुःखयोश्च ग्रहणाच्छिन्नस्य च विरोहणात्।
जीवं पश्यामि वृक्षाणामचैतन्यं न विद्यते ॥७३॥[1]

वृक्ष के कट जाने पर उनमें नया अंकुर फूट जाता है तथा वे सुख-दुःख को ग्रहण करते हैं। इससे मैं समझता हूँ कि वृक्षों में जीव है, वे अचेतन=जड़ नहीं हैं।

स्थितो मूर्धानमात्मा तु शरीरं परिपालयन्।
प्राणो मूर्धनि चाग्नौ च वर्तमानो विचेष्टते ॥७४॥

आत्मा मस्तक के रन्ध्र-स्थान में स्थित होकर सारे शरीर की रक्षा करता है तथा प्राण मस्तक और अग्नि दोनों में स्थित होकर शरीर को चेष्टाशील बनाता है।

न जीवनाशोऽस्ति हि देहभेदे
मिथ्यैतदाहुर्मृत इत्यबुद्धाः।
जीवस्तु देहान्तरितः प्रयाति
दशार्धतैवास्य शरीरभेदः ॥७५॥

देह का नाश होने पर भी जीव का नाश नहीं होता। जो आत्मा की मृत्यु मानते हैं वे अज्ञानी हैं और उनका वह कथन मिथ्या है। जीव तो इस मत देह को छोड़कर दूसरे शरीर में चला जाता है। शरीर के पाँच तत्त्वों का अलग-अलग हो जाना ही शरीर का नाश है।

तं पूर्वापररात्रेषु युञ्जानः सततं बुधः।
लघ्वाहारो विशुद्धात्मा पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥७६॥

जो विद्वान् परिमित आहार करके रात के पहले तथा पिछले प्रहर में सदा ध्यानयोग का अभ्यास करता है, वह अन्तःकरण शुद्ध होने पर अपने हृदय में ही उस आत्मा-परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है।

ब्राह्मण उवाच

सत्यमेकाक्षरं ब्रह्म सत्यमेकाक्षरं तपः।
सत्यमेकाक्षरो यज्ञः सत्यमेकाक्षरं श्रुतम् ॥७७॥

ब्राह्मण ने कहा—सत्य ही एकमात्र अविनाशी ब्रह्म है, सत्य ही एकमात्र अविनाशी तप है, सत्य ही अविनाशी यज्ञ है और सत्य ही एकमात्र नाश-रहित अविनाशी वेद है।

सत्यं वेदेषु जागर्ति फलं सत्ये परं स्मृतम्।
सत्याद् धर्मो दमश्चैव सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥७८॥

वेदों में सत्य ही जागता है—सत्य की ही महिमा गाई गई है। सत्य का फल ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है। धर्म तथा इन्द्रिय-संयम की सिद्धि भी सत्य से ही होती है और सत्य के आधार पर ही सब-कुछ टिका हुआ है।

सत्येन वायुरभ्येति सत्येन तपते रविः।
सत्येन चाग्निर्दहति स्वर्गः सत्ये प्रतिष्ठितः ॥७९॥

सत्य से ही वायु चलती है, सत्य से ही सूर्य तपता है, सत्य से अग्नि जलती है और सत्य पर ही स्वर्गलोक प्रतिष्ठित है।

मनुरुवाच

धर्मादुत्कृष्यते श्रेयस्तथाश्रेयोऽप्यधर्मतः।
रागवान्प्रकृतिं ह्येति विरक्तो ज्ञानवान् भवेत् ॥८०॥

मनुजी कहते हैं—धर्माचरण से श्रेय की वृद्धि होती है और अधर्म करने से मनुष्य का विनाश होता

---

[1] सर जगदीशचन्द्र वसु से सहस्रों वर्ष पूर्व महाभारत में प्रबल युक्तियों से यह सिद्ध कर दिया गया था कि वृक्षों में जीव है। पाठकगण ६७ से ७३ तक श्लोकों का मनन-पूर्वक पाठ करें।

है। विषयासक्त मनुष्य प्रकृति को प्राप्त होता है और विरक्त आत्मज्ञान प्राप्त करके मुक्त हो जाता है।

स्निग्धत्वात्तिलवत्सर्वं चक्रेऽस्मिन्पीड्यते जगत्।
तिलपीडैरिवाक्रम्य भोगैरज्ञानसम्भवैः ॥८१॥

जैसे तेली तेल से युक्त होने के कारण तिल को कोल्हू में पेरते हैं, वैसे ही यह समस्त संसार आसक्तिग्रस्त होने के कारण अज्ञानजनित भोगों के द्वारा दबा-दबाकर संसारचक्र में पेरा=पीसा जा रहा है।

भीष्म उवाच

सर्वेषामेव भूतानां पुरुषः श्रेष्ठ उच्यते।
पुरुषेभ्यो द्विजानाहुर्द्विजेभ्यो मन्त्रदर्शिनः ॥८२॥

भीष्मजी कहते हैं—समस्त प्राणियों में मनुष्य सर्वश्रेष्ठ कहलाता है। मनुष्यों में द्विजों को और द्विजों में भी मन्त्रद्रष्टा वेदज्ञ ब्राह्मणों को सर्वश्रेष्ठ बताते हैं।

वाग्देहमनसां शौचं क्षमा सत्यं धृतिः स्मृतिः।
सर्वधर्मेषु धर्मज्ञा ज्ञापयन्ति गुणाञ्छुभान् ॥८३॥

मन, वाणी और शरीर की पवित्रता, क्षमा, सत्य, धैर्य और स्मृति—इन गुणों को प्रायः सभी धर्मों के धर्मज्ञ पुरुष कल्याणकारी बताते हैं।

सुदुष्करं ब्रह्मचर्यमुपायं तत्र मे शृणु।
सम्प्रदीप्तमुदीर्णं च निगृह्णीयाद् द्विजो रजः ॥८४॥

ब्रह्मचर्य का पालन अत्यन्त कठिन है। उसके पालन का उपाय मुझसे सुनो। ब्राह्मण को चाहिए कि वह जैसे ही रजोगुण की वृत्ति प्रकट हो और बढ़ने लगे तभी उसे रोक दे।

योषितां न कथाः श्राव्या न निरीक्ष्या निराम्बराः।
कथञ्चिद् दर्शनादासां दुर्बलानां विशेद्रजः ॥८५

स्त्रियों की चर्चा न सुने। उन्हें नंगी अवस्था में न देखे, क्योंकि यदि किसी प्रकार नग्नावस्थाओं में उनपर दृष्टि चली जाती है तो दुर्बलहृदय मनुष्य के मन में रजोगुण—राग या काम का प्रवेश हो जाता है।

जन्ममृत्युजरादुःखैर्व्याधिभिर्मानसक्लमैः ।
दृष्ट्वैव सततं लोकं घटेन्मोक्षाय बुद्धिमान् ॥८६॥

यह संसार जन्म, मृत्यु तथा वृद्धावस्था के दुःखों, नानाप्रकार के रोगों तथा मानसिक चिन्ताओं से व्याप्त है, ऐसा समझकर बुद्धिमान् मनुष्य को मोक्षप्राप्ति के लिए ही प्रयत्न करना चाहिए।

यत्कृतं स्याच्छुभं कर्म पापं वा तदुपाश्नुते।
तस्माच्छुभानि कर्माणि कुर्याद् वाग्बुद्धिकर्मभिः ॥८७॥

मनुष्य अच्छा या बुरा जैसा भी कर्म करता है उसका फल उसे स्वयं ही भोगना पड़ता है, अतः वाणी, बुद्धि और कर्म द्वारा सदा शुभ कर्मों का ही अनुष्ठान करना चाहिए।

अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतेषु चार्जवम्।
क्षमा चैवाप्रमादश्च यस्यैते स सुखी भवेत् ॥८८॥

अहिंसा, सत्यभाषण, सम्पूर्ण प्राणियों के प्र सरलता का व्यवहार, क्षमाशीलता और प्रमाद-शून्यता—ये गुण जिस मनुष्य में विद्यमान होते हैं वही सुखी होता है।

अनसूया क्षमा शान्तिः सन्तोषः प्रियवादिता।
सत्यं दानमनायासो नैष मार्गो दुरात्मनाम् ॥८

किसी के दोष न देखना, क्षमाशीलता, शान्ति सन्तोष, मधुर वचन बोलना, सत्यभाषण, दानशील और अनायास=सरलता—ये सद्गुण हैं। दुष्ट लो इस मार्ग पर नहीं चल सकते।

प्रह्लाद उवाच

आर्जवेनाप्रमादेन प्रसादेनात्मवत्तया।
वृद्धशुश्रूषया शक्र पुरुषो लभते महत् ॥९०॥

प्रह्लादजी कहते हैं—इन्द्र! सरलता, सावधा बुद्धि की निर्मलता, चित्त की स्थिरता और वृद्ध की सेवा करने से मनुष्य को उच्च पद की प्र होती है।

बलिरुवाच

न हि दुःखेषु शोचन्ते न प्रहृष्यन्ति चर्द्धिषु।
कृतप्रज्ञा ज्ञानतृप्ताः क्षान्ताः सन्तो मनीषिणः ॥

बलिजी कहते हैं—शुद्ध बुद्धिसम्पन्न और से तृप्त, क्षमाशील मनीषी सत्पुरुष दुःख आने शोक नहीं करते और समृद्धि प्राप्त होने पर ह फूल नहीं उठते हैं।

बुद्धिलाभात्तु पुरुषः सर्वं नुदति किल्बिषम्।
विपाप्मा लभते सत्त्वं सत्त्वस्थः सम्प्रसीदति ॥

जिसे सद्बुद्धि प्राप्त होती है, वह मनुष्य उस श्रेष्ठ बुद्धि द्वारा सारे दोषों और दुर्गुणों को दूर कर देता है। पापहीन होने पर उसे सत्त्वगुण की प्राप्ति होती है तथा सत्त्वगुण में स्थित होकर वह सात्त्विक प्रसन्नता प्राप्त कर लेता है।

कालः सर्वं समादत्ते कालः सर्वं प्रयच्छति।
कालेन विहितं सर्वं मा कृथाः शक्र पौरुषम् ॥९३॥

इन्द्र! काल ही सबको ग्रहण करता है, काल ही सब-कुछ देता है और काल ने ही सब-कुछ किया है, इसलिए अपने पुरुषार्थ का गर्व मत करो।

नमुचिरुवाच

यमर्थसिद्धिः परमा न मोहयेत्
तथैव काले व्यसनं न मोहयेत्।
सुखं च दुःखं च तथैव मध्यमं
निषेवते यः स धुरन्धरो नरः ॥९४॥

नमुचि कहते हैं—जिसे उत्तम अर्थसिद्धि [विपुल धन की प्राप्ति] मोह में नहीं डालती, इसी प्रकार संकट आने पर जो धैर्य अथवा विवेक नहीं खो बैठता तथा सुख-दुःख और दोनों के बीच की अवस्था का समानभाव से सेवन करता है, वही मनुष्य धुरन्धर [महान् कार्यभार को सँभालनेवाला] माना जाता है।

भीष्म उवाच

पुत्रदारैः सुखैश्चैव वियुक्तस्य धनेन वा।
मग्नस्य व्यसने कृच्छ्रे धृतिः श्रेयस्करी नृप ॥९५॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! जिसके स्त्री-पुत्र मर गये हों, सुख छिन गया हो अथवा धन नष्ट हो गया हो तथा इन कारणों से जो भीषण संकटों में फँस गया हो, उसका तो धैर्य धारण करने में ही कल्याण है।

विशोकता सुखं धत्ते धत्ते चारोग्यमुत्तमम्।
आरोग्याच्च शरीरस्य स पुनर्विन्दते श्रियम् ॥९६॥

शोकहीनता सुख और उत्तम आरोग्य=स्वास्थ्य की जनक है। शरीर के नीरोग होने से मनुष्य पुनः धन-सम्पत्ति का उपार्जन कर लेता है।

बलिरुवाच

शोककाले शुचो मा त्वं हर्षकाले च मा हृषः।
अतीतानागतं हित्वा प्रत्युत्पन्नेन वर्तय ॥९७॥

बलिजी कहते हैं—इन्द्र! तुम शोक का अवसर आने पर शोक मत करो तथा हर्ष का समय आने पर हर्षित मत होओ। भूत और भविष्य की चिन्ता छोड़कर वर्तमान काल में जो वस्तु प्राप्त हो उसी से जीवन-यापन करो।

लाभालाभौ सुखं दुःखं कामक्रोधौ भवाभवौ।
वधबन्धप्रमोक्षं च सर्वं कालेन लभ्यते ॥९८॥

पुरुष को लाभ-हानि, सुख-दुःख, काम-क्रोध, जन्म-मृत्यु, वध, बन्धन तथा बन्धन से छुटकारा—ये सब काल=प्रारब्ध से ही प्राप्त होते हैं।

भीष्म उवाच

मोक्षधर्मेषु नियतो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः।
प्राप्नोति ब्रह्मणः स्थानं तत्परं प्रकृतेर्ध्रुवम् ॥९९॥

भीष्मजी कहते हैं—जो मनुष्य मितभोजी और जितेन्द्रिय होकर मोक्ष-प्राप्ति में सहायक धर्मों के पालन में संलग्न रहता है, वही प्रकृति से परे अविनाशी ब्रह्मपद को प्राप्त होता है।

अमृतस्येव संतृप्येदवमानस्य तत्त्ववित्।
विषस्येवोद्विजेन्नित्यं सम्मानस्य विचक्षणः ॥१००॥

तत्त्वज्ञमनुष्य को चाहिए कि वह अपमान को अमृत के समान समझकर उससे सन्तुष्ट हो और विद्वान् मनुष्य सम्मान को विष के तुल्य समझकर उससे सदा डरता रहे।

पञ्चभिः सततं यज्ञैः श्रद्दधानो यजेत च।
धृतिमानप्रमत्तश्च दान्तो धर्मविदात्मवान् ॥१०१॥

मनुष्य को चाहिए कि श्रद्धापूर्वक पाँच यज्ञों का अनुष्ठान करे। सदा धैर्य धारण करे, प्रमाद से बचे, इन्द्रियों को वश में रखे, धर्म के मर्म को जाने और मन को अपने अधीन रखे।

दानमध्ययनं यज्ञस्तपो ह्रीरार्जवं दमः।
एतैर्वर्धयते तेजः पाप्मानं चापकर्षति ॥१०२॥

दानशीलता, वेदाध्ययन, यज्ञ करना, तप-अनुष्ठान, लज्जा, सरलता तथा इन्द्रिय-संयम—इन सद्गुणों से ब्राह्मण अपने तेज की वृद्धि और पाप का नाश करता है।

क्रियावाञ्श्रद्दधानो हि दान्तः प्राज्ञोऽनसूयकः ।
धर्माधर्मविशेषज्ञः सर्वं तरति दुस्तरम् ॥१०३॥

जो अपने धर्म के अनुसार कार्य करनेवाला, श्रद्धालु, मन और इन्द्रियों को वश में रखनेवाला, विद्वान्, किसी के दोष न देखनेवाला और धर्म एवं अधर्म के मर्म को जाननेवाला है—वह सारे दुःखों से पार हो जाता है।

धृतिमानप्रमत्तश्च दान्तो धर्मविदात्मवान् ।
वीतहर्षमदक्रोधो ब्राह्मणो नावसीदति ॥१०४॥

जो धैर्यवान्, प्रमादरहित, जितेन्द्रिय, धर्मज्ञ, मनस्वी तथा हर्ष, मद और क्रोध से रहित है, वह ब्राह्मण कभी विषाद=दुःख को प्राप्त नहीं होता।

व्यास उवाच

नैवेच्छति न चानिच्छो यात्रामात्रव्यवस्थितः ।
अलोलुपोऽव्यथो दान्तो न कृती न निराकृतिः ॥१०५॥
नास्येन्द्रियमनेकाग्रं न विक्षिप्तमनोरथः ।
सर्वभूतसदृङ्मैत्रः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥१०६॥
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ।
अस्पृहः सर्वकामेभ्यो ब्रह्मचर्यदृढव्रतः ।
अहिंस्रः सर्वभूतानामीदृक् सांख्यो विमुच्यते ॥१०७॥

व्यासजी कहते हैं—जो किसी वस्तु की इच्छा अथवा अनिच्छा नहीं करता, जीवन-निर्वाह के लिए जो कुछ मिल जाता है उसी पर सन्तोष कर लेता है, जो लोभरहित, व्यथाशून्य और जितेन्द्रिय है, जिसे न तो कुछ करने से ही प्रयोजन है और न कुछ न करने से ही, जिसकी मनसहित इन्द्रियाँ कभी चञ्चल नहीं होतीं, जिसका मनोरथ पूर्ण हो गया है, जो सभी प्राणियों पर समदृष्टि तथा मैत्रीभाव रखता है, जो मिट्टी के ढेले, पत्थर तथा स्वर्ण को एक-जैसा समझता है, जिसकी दृष्टि में प्रिय और अप्रिय का भेद नहीं है, जो धीर है और अपनी निन्दा-स्तुति में सम रहता है, जिसे भोगों को भोगने की इच्छा नहीं है, जो दृढ़तापूर्वक ब्रह्मचर्यव्रत में स्थित है, जो सभी प्राणियों के प्रति वैर-भाव से रहित है—ऐसा सांख्ययोगी [ज्ञानी] संसार-बन्धन से मुक्त हो जाता है।

नान्यत्र विद्यातपसोर्नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहात् ।
नान्यत्र सर्वसंत्यागात्सिद्धिं विन्दति कश्चन ॥१०८॥

विद्या, तप, इन्द्रियों के निग्रह तथा सर्वस्व-त्याग के बिना कोई भी मनुष्य सिद्धि=जीवन में सफलता नहीं पा सकता।

विद्याभिजनसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१०९॥

पण्डितजन विद्या से सम्पन्न तथा उत्तम कुल में उत्पन्न ब्राह्मण में और गौ, हाथी, कुत्ते एवं चाण्डाल में भी समभाव से स्थित ब्रह्म [आत्मा-परमात्मा] का दर्शन करनेवाले होते हैं।

स हि सर्वेषु भूतेषु जङ्गमेषु ध्रुवेषु च ।
वसत्येको महानात्मा येन सर्वमिदं ततम् ॥११०॥

जिससे यह सम्पूर्ण संसार आच्छादित=व्याप्त है, वह एक परमात्मा ही समस्त चराचर प्राणियों के भीतर निवास करता है।

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
यदा पश्यति भूतात्मा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥१११

जब जीवात्मा समस्त प्राणियों में अपने को औ अपने में सम्पूर्ण प्राणियों को स्थित देखता है, त उसे परमेश्वर की प्राप्ति होती है।

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥११

उस परमेश्वर के सब ओर हाथ-पैर हैं, सब ओ नेत्र, सिर और मुख हैं एवं सब ओर कान हैं। संसार में सबमें प्रविष्ट होकर स्थित है।

तदेवाणोरणुतरं तन्महद्भ्यो महत्तरम् ।
तदन्तः सर्वभूतानां ध्रुवं तिष्ठन्न दृश्यते ॥११

वह अणु से भी अणु और महान् से भी अ महान् (महत्तर) है। वह निश्चय ही समस्त प्रा के भीतर स्थित है, फिर भी किसी को दिखाई देता।

योगदोषान्समुच्छिद्य पञ्च यान्कवयो विदुः ।
कामं क्रोधं च लोभं च भयं स्वप्नं च पञ्चमम् ॥११
क्रोधं शमेन जयति कामं संकल्पवर्जनात् ।
सत्त्वसंसेवनाद्धीरो निद्रामुच्छेत्तुमर्हति ॥११
अप्रमादाद् भयं जह्याद् दम्भं प्राज्ञोपसेवनात् ।
एवमेतान् योगदोषान् जयेन्नित्यमतन्द्रितः ॥११

साधक=योगाभ्यासी को चाहिए कि वह कि

द्वारा कथित काम, क्रोध, लोभ, भय और स्वप्न=निद्रा—इन पाँचों दोषों का समूलोच्छेद कर दे। इनमें से क्रोध को शम [मनोनिग्रह] के द्वारा जीते, काम को संकल्प के त्याग द्वारा पराजित करे और धीर पुरुष सत्त्वगुण के सेवन से निद्रा को जीत सकता है। सावधानी के द्वारा भय का और विद्वानों की सेवा से दम्भ का त्याग कर दे। इस प्रकार आलस्य छोड़कर इन योग-सम्बन्धी दोषों को जीतने का प्रयत्न करना चाहिए।

ध्यानमध्ययनं दानं सत्यं ह्रीरार्जवं क्षमा।
शौचमाचारसंशुद्धिरिन्द्रियाणां च निग्रहः।
एतैर्विवर्धते तेजः पाप्मानं चापकर्षति ॥११७॥

ध्यान, वेदाध्ययन, दान, सत्य, लज्जा, सरलता, क्षमा, शौच, आचारशुद्धि और इन्द्रियों का निग्रह—इनसे तेज की वृद्धि होती है और पापों का नाश होता है।

समः सर्वेषु भूतेषु लब्धालब्धेन वर्तयन्।
धूतपाप्मा तु तेजस्वी लघ्वाहारो जितेन्द्रियः।
कामक्रोधौ वशे कृत्वा निनीषेद् ब्रह्मणः पदम् ॥११८॥

योगी को चाहिए कि वह समस्त प्राणियों में समभाव रखे। जो कुछ भी मिले या न मिले, सन्तोषपूर्वक निर्वाह करे। पापों को धो डाले और तेजस्वी, मिताहारी तथा जितेन्द्रिय होकर काम एवं क्रोध को वश में करके ब्रह्मपद को पाने की अभिलाषा करे।

मनस्तु पूर्वमादद्यात् कुमीनमिव मत्स्यहा।
ततः श्रोत्रं ततश्चक्षुर्जिह्वां घ्राणं च योगवित् ॥११९॥

जैसे मछलीमार जाल काटनेवाली मछली को सबसे पहले पकड़ता है, वैसे ही योगवेत्ता साधक सर्वप्रथम अपने मन को वश में करे। तत्पश्चात् कान का, फिर नेत्र, जिह्वा और घ्राण=नासिका आदि का निग्रह करे।

अपि वर्णावकृष्टस्तु नारी वा धर्मकांक्षिणी। □
तावप्येतेन मार्गेण गच्छेतां परमां गतिम् ॥१२०॥

चाहे कोई नीच वर्ण का पुरुष और स्त्री ही क्यों न हो, यदि उसके मन में धर्म-सम्पादन की अभिलाषा है तो इस योगमार्ग का सेवन करने से उन्हें भी परमगति की प्राप्ति हो सकती है।

विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यं चामृतभोजनः।
अमृतं यज्ञशेषं स्याद् भोजनं हविषा समम् ॥१२१॥

गृहस्थ को सदा विघस [परिजनों को खिलाने के बाद शेष] और अमृत-अन्न का भोजन करना चाहिए। यज्ञ से बचा हुआ भोजन हविष्य के समान तथा अमृत माना गया है।

भृत्यशेषं तु योऽश्नाति तमाहुर्विघसाशिनम्।
विघसं भृत्यशेषं तु यज्ञशेषमथामृतम् ॥१२२॥

कुटुम्ब में भरण-पोषण के योग्य जितने लोग हैं, उनको भोजन कराने के पश्चात् बचे हुए अन्न का सेवन करनेवाला विघसाशी बताया गया है। पोष्यवर्ग से बचे हुए अन्न को विघस और पञ्चमहायज्ञों से बचे हुए अन्न को अमृत कहते हैं।

स्वदारनिरतो दान्तो ह्यनसूयुर्जितेन्द्रियः।
ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैर्मातुलातिथिसंश्रितैः ॥१२३॥
वृद्धबालातुरैर्वैद्यैर्ज्ञातिसम्बन्धिबान्धवैः।
मातापितृभ्यां जामिभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया।
दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत् ॥१२४॥

गृहस्थ मनुष्य सदा अपनी स्त्री से ही प्रेम करे। मन को वश में रखे। किसी के गुणों में दोष न ढूंढे। जितेन्द्रिय बने। वह ऋत्विज, पुरोहित, आचार्य, मामा, अतिथि, शरणागत, वृद्ध, बालक, रोगी, वैद्य, जाति-भाई, सम्बन्धी, बन्धु-बान्धव, माता-पिता, कुटुम्ब की स्त्री, भाई, पुत्र, पत्नी, पुत्री तथा सेवक-समूह के साथ कभी विवाद न करे।

येन केनचिदाच्छन्नो येन केनचिदाशितः।
यत्रक्वचनशायी च तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥१२५॥

जो जिस किसी भी [वस्त्र, वल्कल आदि] वस्तु से अपना शरीर ढक लेता है, समय पर जो भी रूखा-सूखा मिल जाए, उससे भूख मिटा लेता है तथा जहाँ कहीं भी सो रहता है, उसे विद्वान् ब्रह्मज्ञानी समझते हैं।

अहेरिव गणाद् भीतः सौहित्यान्नरकादिव।
कुणपादिव च स्त्रीभ्यस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥१२६॥

जो जनसमुदाय को सर्प-सा समझकर उसके समीप जाने से डरता है, स्वादिष्ट भोजनजनित तृप्ति

को नरक के समान मानकर उससे दूर रहता है तथा स्त्रियों को मुर्दों के समान जानकर उनकी ओर से विरक्त रहता है, उसे विद्वान् लोग ब्रह्मज्ञानी समझते हैं।

जीवितं यस्य धर्मार्थं धर्मो हर्यर्थमेव च।
अहोरात्राश्च पुण्यार्थं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥१२७॥

जिसका जीवन धर्म के लिए होता है और धर्म प्रभु-प्राप्ति के लिए होता है, जिसके दिन और रात धर्म-अनुष्ठान में ही व्यतीत होते हैं, उसे विद्वान् ब्रह्मज्ञानी मानते हैं।

प्रहर्षः प्रीतिरानन्दः साम्यं स्वस्थात्मचित्तता।
अकस्माद्यदि वा कस्माद्वर्तन्ते सात्त्विका गुणाः ॥१२८

जब अत्यन्त हर्ष, प्रेम, आनन्द, समता तथा स्वस्थचित्तता—ये शुभ गुण अकस्मात् अथवा किसी कारणवश विकसित हो जाएँ, तब समझना चाहिए कि ये सात्त्विक गुण हैं।

अभिमानो मृषावादो लोभो मोहस्तथाक्षमा।
लिङ्गानि रजसस्तानि वर्तन्ते हेत्वहेतुतः ॥१२९॥

अभिमान, असत्यभाषण, लोभ, मोह तथा असहनशीलता—ये दोष चाहे किसी कारण से प्रकट हुए हों अथवा अकारण, प्रत्येक स्थिति में रजोगुण के ही चिह्न माने गये हैं।

तथा मोहः प्रमादश्च निद्रा तन्द्राप्रबोधिता।
कथञ्चिदभिवर्तन्ते विज्ञेयास्तामसा गुणाः ॥१३०॥

इसी प्रकार मोह, प्रमाद, निद्रा, तन्द्रा और अज्ञान—ये चाहे जिस कारण से प्रकट हो जाएँ इन्हें तमोगुण का कारण जानना चाहिए।

भूमिष्ठानीव भूतानि पर्वतस्थो निशामय।
अक्रुध्यन्नप्रहृष्यंश्च न नृशंसमतिस्तथा ॥१३१॥

जैसे पर्वत-शिखर पर खड़ा हुआ मनुष्य भूमि पर रहनेवाले प्राणियों को सुस्पष्ट देखता है, वैसे ही तुम भी ज्ञानरूपी पर्वत पर आरूढ़ होकर प्राणियों की अवस्था पर दृष्टिपात करो और क्रोध, हर्ष तथा बुद्धि की क्रूरता से रहित हो जाओ।

यदा चायं न बिभेति यदा चास्मान्न बिभ्यति।
यदा नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥१३२॥

जब मनुष्य [साधक, योगी, संन्यासी] दूसरे प्राणियों से नहीं डरता तथा दूसरे प्राणी भी उससे भयभीत नहीं होते और जब वह इच्छा एवं द्वेष का सर्वथा परित्याग कर देता है, तब उसे ब्रह्म की प्राप्ति होती है।

यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेषु पापकम्।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥१३३॥

जब योगी मन, वाणी और कर्म द्वारा किसी भी प्राणी का अनिष्ट करने का विचार भी अपने मन में नहीं करता, तब वह ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है।

वेदस्योपनिषत् सत्यं सत्यस्योपनिषद् दमः।
दमस्योपनिषद् दानं दानस्योपनिषत् तपः ॥१३४॥

वेद का सार है सत्यवचन, सत्य का सार है इन्द्रियों का संयम, इन्द्रिय-संयम का सार है दान और दान का सार है तप-अनुष्ठान।

तपस्योपनिषत्त्यागस्त्यागस्योपनिषत्सुखम् ।
सुखस्योपनिषत् स्वर्गः स्वर्गस्योपनिषच्छमः ॥१३५॥

तप का सार है त्याग, त्याग का सार है सुख, सुख का सार है स्वर्ग और स्वर्ग का सार है शान्ति।

विशोको निर्ममः शान्तः प्रसन्नात्मा विमत्सरः।
षड्भिर्लक्षणवानेतैः समग्रः पुनरेष्यति ॥१३६॥

शोकशून्य, ममतारहित, शान्त, प्रसन्नचित्त, मात्सर्यहीन और सन्तोषी—इन छह लक्षणों से युक्त मनुष्य पूर्णरूपेण ज्ञान से तृप्त होकर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

हृदि कामद्रुमश्चित्रो मोहसञ्चयसम्भवः।
क्रोधमानमहास्कन्धो विधित्सापरिषेचनः ॥१३७॥
तस्य चाज्ञानमाधारः प्रमादः परिषेचनम्।
सोऽभ्यसूयापलाशो हि पुरादुष्कृतसारवान् ॥१३८॥
सम्मोहचिन्ताविटपः शोकशाखो भयाङ्कुरः।
मोहिनीभिः पिपासाभिर्लताभिरनुवेष्टितः ॥१३९॥

मनुष्य की हृदयरूपी भूमि में मोह-बीज से उत्पन्न हुआ एक विचित्र वृक्ष है, जिसका नाम है काम। क्रोध तथा अभिमान उसके महान् स्कन्ध हैं। कुछ करने की इच्छा उसमें जल सींचने का पात्र [फव्वारा] है। अज्ञान उसकी जड़ है। प्रमाद उसको सींचनेवाला जल है। दूसरों के दोष देखने की प्रवृत्तियाँ उस वृक्ष के पत्ते हैं और पूर्वजन्म में किये

हुए पाप उसका सार-भाग मूलस्तम्भ है। शोक उसकी शाखा, मोह और चिन्ताउपशाखाएँ [डालियाँ] तथा भय उसके अङ्कुर हैं। मोह में डालनेवाली तृष्णारूपी लताएँ उसमें लिपटी हुई हैं।

उपासते महावृक्षं सुलुब्धास्तत्फलेप्सवः ।
आयसैः संयुताः पाशैः फलदं परिवेष्ट्य तम् ॥१४०॥

लोभी मनुष्य लोहे की जंजीरों के समान वासना के बन्धन में बँधकर उस फलदायक महान् वृक्ष को चारों ओर से घेरकर उसके आस-पास बैठे हैं तथा उसके फल प्राप्त करना चाहते हैं।

यस्तान् पाशान्वशे कृत्वा तं वृक्षमपकर्षति ।
गतः स दुःखयोरन्तं जरामरणयोर्द्वयोः ॥१४१॥

जो उन वासना के बन्धनों को वश में करके वैराग्यरूपी शस्त्र द्वारा उस कामवृक्ष को काट डालता है, वह मनुष्य जरा=वृद्धावस्था और मृत्युजनित दोनों प्रकार के दुःखों से छूट जाता है।

भीष्म उवाच

देवता ब्राह्मणाः सन्तो यक्षा मानुषचारणाः ।
धार्मिकान् पूजयन्तीह न धनाढ्यान् न कामिनः ॥१४२

भीष्मजी कहते हैं—विद्वान् ब्राह्मण, साधु-सन्त, यक्ष, मनुष्य और चारण—ये सभी इस संसार में धर्मात्माओं का ही आदर-सत्कार करते हैं, धनियों और भोगियों का नहीं।

भवेत् सत्यव्रताचारः सत्यव्रतपरायणः ।
सत्यकामो समो दान्तः सत्येनैवान्तकं जयेत् ॥१४३॥

मनुष्य को चाहिए कि वह सत्यव्रत का आचरण करे और सत्यरूपी व्रत के पालन में तत्पर रहे। वह सत्य की कामना करे। सबके प्रति समान-भाव रखे। जितेन्द्रिय बने और सत्य के द्वारा ही मृत्यु पर विजय प्राप्त करे।

नैशोऽयं सततं देही नृपते पुण्यपापयोः ।
तत एव समुत्थेन तमसा रुध्यतेऽपि च ॥१४४॥

नरेश्वर! यह जीवात्मा पुण्य तथा पाप के फल सुख और दुःख भोगने में स्वतन्त्र नहीं है। उन पुण्य एवं पापों से उत्पन्न संस्काररूप अन्धकार से यह आच्छन्न हो [ढक] जाता है।

कामक्रोधौ भयं निद्रा पञ्चमः श्वास उच्यते ।
एते दोषाः शरीरेषु दृश्यन्ते सर्वदेहिनाम् ॥१४५॥

काम, क्रोध, भय, निद्रा और श्वास—ये पाँच दोष सभी देहधारियों के शरीरों में देखे जाते हैं।

अज्ञानसागरो घोरो ह्यव्यक्तोऽगाध उच्यते ।
अहन्यहनि मज्जन्ति यत्र भूतानि भारत ॥१४६॥

भरतनन्दन! अज्ञानरूपी समुद्र अव्यक्त, अगाध और भयंकर बताया जाता है। इसमें असंख्य प्राणी प्रतिदिन गोते खाते रहते हैं।

मनसोऽप्रतिकूलानि प्रेत्य चेह च वाञ्छसि ।
भूतानां प्रतिकूलेभ्यो निवर्तस्व यतेन्द्रियः ॥१४७॥

यदि तुम इस लोक और परलोक में अपने मनोअनुकूल वस्तुएँ पाना चाहते हो तो अपनी इन्द्रियों को संयम में रखकर समस्त प्राणियों के प्रतिकूल आचरणों से दूर हट जाओ।

नित्यं च बहु दातव्यं साधुभ्यश्चानसूयता ।
प्रार्थितं व्रतशौचाभ्यां सत्कृतं देशकालयोः ॥१४८॥

प्रतिदिन व्रत और शौच-आचार का पालन करते हुए उत्तम देश और काल में सज्जनों को प्रार्थना एवं सत्कारपूर्वक अधिक-से-अधिक दान देना चाहिए तथा उनमें दोषदृष्टि नहीं रखनी चाहिए।

शुभेन विधिना लब्धमर्हाय प्रतिपादयेत् ।
क्रोधमुत्सृज्य दद्याच्च नानुतप्येन्न कीर्तयेत् ॥१४९॥

ईमानदारी से कमाया हुआ धन सत्पात्र को दान देना चाहिए। दान क्रोध को त्यागकर देना चाहिए। दान देकर न तो उसके लिए पश्चात्ताप करना चाहिए और न उसे दूसरों को बताना ही चाहिए।

अनृशंसः शुचिर्दान्तः सत्यवागार्जवे स्थितः ।
योनिकर्मविशुद्धश्च पात्रं स्याद्वेदविद् द्विजः ॥१५०॥

दयालु, पवित्र, जितेन्द्रिय, सत्यवादी, सरल व निष्कपट व्यवहारी, जन्म और कर्म से शुद्ध वेदवेत्ता ब्राह्मण ही दान पाने का उत्तम पात्र है।

तपस्विनां धर्मवतां विदुषां चोपसेवनात् ।
प्राप्स्यसे विपुलां बुद्धिं तथा श्रेयोऽभिपत्स्यसे ॥१५१॥

तपस्वी, धर्मात्मा और विद्वानों की सेवा करने से तुम्हें विशाल बुद्धि प्राप्त होगी, जिससे तुम कल्याण के भागी बन जाओगे।

याज्ञवल्क्य उवाच

नास्ति सांख्यसमं ज्ञानं नास्ति योगसमं बलम् ।
तावुभावेकचर्यौ तावुभावनिधनौ स्मृतौ ॥१५२॥

याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—सांख्य के समान कोई ज्ञान नहीं है और योग के समान कोई बल नहीं है। इन दोनों का लक्ष्य एक है और ये दोनों ही मृत्यु का निवारण करनेवाले माने गये हैं।

यदेव योगाः पश्यन्ति तत्सांख्यैरपि दृश्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स तत्त्ववित् ॥१५३॥

योगी जिस तत्त्व का साक्षात्कार करते हैं, वही सांख्यों द्वारा भी देखा जाता है, अतः जो सांख्य और योग को एक समझता है, वही ज्ञानी है।

साङ्गोपाङ्गानपि यदि यश्च वेदानधीयते ।
वेदवेद्यं न जानीते वेदभारवहो हि सः ॥१५४॥

छह अङ्गोंसहित वेद पढ़कर भी जो वेदों के द्वारा जानने योग्य परमेश्वर को नहीं जानता, वह मूढ़ केवल वेदों का भार ढोनेवाला ही है।

भीष्म उवाच

जरामृत्यू हि भूतानां खादितारौ वृकाविव ।
बलिनां दुर्बलानां च लघूनां महतामपि ॥१५५॥

भीष्मजी कहते हैं—कोई बलवान् हो या दुर्बल, बड़ा हो या छोटा—सब प्राणियों को वृद्धावस्था और मृत्यु व्याघ्र की भाँति खा जाती है।

जनक उवाच

राज्ञां हि बलमैश्वर्यं ब्रह्म ब्रह्मविदां बलम् ।
रूपयौवनसौभाग्यं स्त्रीणां बलमनुत्तमम् ॥१५६॥

जनकजी कहते हैं—राजाओं का बल ऐश्वर्य है, वेदज्ञ ब्राह्मणों का बल वेद है और रूप, यौवन तथा सौभाग्य स्त्रियों का सर्वश्रेष्ठ बल है।

व्यास उवाच

धर्मं पुत्र निषेवस्व सुतीक्ष्णौ च हिमातपौ ।
क्षुत्पिपासे च वायुं च जय नित्यं जितेन्द्रियः ॥१५७॥

व्यासजी कहते हैं—पुत्र! तुम सदा धर्म का सेवन करते रहो तथा जितेन्द्रिय होकर कड़ी-से-कड़ी सर्दी, गर्मी, भूख-प्यास को सहन करते हुए प्राणवायु पर विजय प्राप्त करो।

सत्यमार्जवमक्रोधमनसूयां दमं तपः ।
अहिंसां चानृशंस्यं च विधिवत्परिपालय ॥१५८॥

तुम सत्य, सरलता, अक्रोध, दोष-दर्शन का अभाव, इन्द्रिय-संयम, तप, अहिंसा और दया आदि धर्मों का विधिपूर्वक पालन करो।

सत्ये तिष्ठ रतो धर्मे हित्वा सर्वमनार्जवम् ।
देवतातिथिशेषेण मात्रां प्राणस्य संलिह ॥१५९॥

सत्य पर डटे रहो और सब प्रकार का छल-कपट छोड़कर धर्म में अनुराग करो। विद्वानों तथा अतिथियों का सत्कार करके जो अन्न बचे, उसी का प्राणरक्षा के लिए आस्वादन करो।

फेनमात्रोपमे देहे जीवे शकुनिवत् स्थिते ।
अनित्ये प्रियसंवासे कथं स्वपिषि पुत्रक ॥१६०॥

बेटे! यह शरीर पानी के बुलबुले की भाँति नश्वर तथा क्षणभंगुर है। इसमें जीव पक्षी की भाँति बसा हुआ है। यहाँ प्रियजनों का सहवास भी सदा रहनेवाला नहीं है। फिर भी तुम सोये क्यों पड़े हो, असावधान क्यों हो?

अहःसु गण्यमानेषु क्षीयमाणे तथाऽऽयुषि ।
जीविते लिख्यमाने च किमुत्थाय न धावसि ॥१६१॥

तुम्हारी आयु के दिन गिने जा रहे हैं। आयु क्षीण होती जा रही है और जीवन मानो कहीं लिखा जा रहा है [समाप्त हो रहा है]। फिर भी तुम उठकर भागते क्यों नहीं [शीघ्रतापूर्वक अपने कर्तव्यपालन में क्यों नहीं लगते]?

कामं क्रोधं च मृत्युं च पञ्चेन्द्रियजलां नदीम् ।
नावं धृतिमयीं कृत्वा जन्मदुर्गाणि संतर ॥१६२॥

जिसमें काम, क्रोध, मृत्यु और पाँच इन्द्रियरूपी जल भरा हुआ है—ऐसी विषयासक्तिरूपी नदी को तुम धैर्यरूपी नौका का आश्रय लेकर पार कर लो और इस प्रकार जन्म-मृत्युरूपी भीषण संकट से पार हो जाओ।

मृत्युनाभ्याहते लोके जरया परिपीडिते ।
अमोघासु पतन्तीषु धर्मपोतेन सन्तर ॥१६३॥

सारा संसार मृत्यु के थपेड़े खाता हुआ वृद्धावस् से पीड़ित हो रहा है। ये रात्रियाँ प्राणियों की आयु का अपहरण करके अपने को सफल बनाती हुई बी रही हैं, अतः तुम सावधान होकर धर्मरूपी नौका प आरूढ़ हो भवसागर से पार हो जाओ।

ब्राह्मणस्य तु देहोऽयं न कामार्थाय जायते ।
इह क्लेशाय तपसे प्रेत्य त्वनुपमं सुखम् ।।१६४।।

ब्राह्मण का यह शरीर भोगों के भोगने के लिए नहीं मिलता है। यह तो यहाँ क्लेश उठाकर तपस्या करने और मृत्यु के पश्चात् अनुपम सुख भोगने के लिए प्राप्त होता है।

धनस्य राजतो यस्य भयं न चास्ति चोरतः ।
मृतं च यन्न मुञ्चति समर्जयस्व तद्धनम् ।।१६५।।

जिस धन को न तो राजा से भय है और न चोर से, तथा जो मर जाने पर भी जीव का साथ नहीं छोड़ता, उस धर्मरूपी धन का उपार्जन करो।

नास्तिकान्निरनुक्रोशान्नरान्पापमते स्थितान् ।
वामतः कुरु विस्रब्धं परं प्रेप्सुरतन्द्रितः ।।१६६।।

तुम परमात्मा की प्राप्ति के इच्छुक होकर आलस्य को त्याग नास्तिक, निर्दय और पापबुद्धि मनुष्यों को बिना किसी हिचक के बायें [परे] कर दो—कभी भूलकर भी उनका साथ मत दो।

सोपानभूतं स्वर्गस्य मानुष्यं प्राप्य दुर्लभम् ।
तथाऽऽत्मानं समादध्याद् भ्रश्येत न पुनर्यथा ।।१६७।।

यह दुर्लभ मानव-शरीर स्वर्गलोक में पहुँचने की सीढ़ी के समान है। इसे पाकर अपने-आपको इस प्रकार धर्म में स्थापित करो कि पुनः उस स्वर्ग से नीचे न गिरना पड़े।

धनेन किं यन्न ददाति नाश्नुते
बलेन किं येन रिपुं न बाधते ।
श्रुतेन किं येन न धर्ममाचरेत्
किमात्मना यो न जितेन्द्रियो वशी ।।१६८।।

उस धन से क्या लाभ, जिसे मनुष्य न तो किसी को दे सके और न अपने उपभोग में ही ला सके? उस बल से क्या लाभ, जिसके द्वारा मनुष्य धर्माचरण न कर सके? उस जीवात्मा से क्या लाभ जो न तो जितेन्द्रिय है और न मन को ही वश में रख सकता है?

उत्सवादुत्सवं यान्ति स्वर्गात्स्वर्गं सुखात्सुखम् ।
श्रद्दधानाश्च दान्ताश्च धनस्थाः शुभकारिणः ।।१६९।।

जो श्रद्धालु, जितेन्द्रिय, धर्म-धन-सम्पन्न और शुभ कर्म करनेवाले होते हैं, वे प्रसन्नता से अधिक प्रसन्नता को, स्वर्ग से अधिक स्वर्ग और सुख से अधिक सुख को पाते हैं।

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तैर्न च बन्धुभिः ।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ।।१७०।।

कोई अधिक वर्षों [की अवस्था हो जाने] से, बाल पक जाने से, अधिक धन होने से और बन्धु-बान्धवों की संख्या बढ़ जाने से बड़ा नहीं होता। ऋषियों ने यह नियम बनाया है कि हम लोगों में से जो वेद का प्रवचन कर सकेगा, वही महान् माना जाएगा।

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
सन्नियम्य तु तान्येव सिद्धिमाप्नोति मानवः ।।१७१।।

'मनुष्य इन्द्रियों की विषयासक्ति के कारण दोष को प्राप्त होता है और उन्हीं इन्द्रियों को वश में कर लेने पर वह सिद्धि प्राप्त कर लेता है'—इस तथ्य में तनिक भी सन्देह नहीं है।

व्यास उवाच

यथा हि कनकं शुद्धं तापच्छेदनिकर्षणैः ।
परीक्षेत तथा शिष्यानीक्षेत् कुलगुणादिभिः ।।१७२।।

व्यासजी कहते हैं—जैसे आग में तपाने, काटने और कसौटी पर कसने से शुद्ध सोने की परख की जाती है, उसी प्रकार कुल तथा गुण आदि के द्वारा शिष्यों की परीक्षा करनी चाहिए।

श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः ।
वेदस्याध्ययनं हीदं तच्च कार्यं महत्स्मृतम् ।।१७३।।

ब्राह्मण को आगे रखकर चारों वर्णों को उपदेश करना चाहिए। यह वेदाध्ययन महान् कार्य माना गया है। इसे अवश्य करना चाहिए।

नारद उवाच

अनाम्नायमला वेदा ब्राह्मणस्याव्रतं मलम् ।
मलं पृथिव्या वाहीकाः स्त्रीणां कौतूहलं मलम् ।।१७४।।

नारदजी कहते हैं—वेद पढ़कर उसपर आचरण न करना, वेदाध्ययन का दूषण है। व्रत का पालन न करना ब्राह्मण का दूषण है। वाहीक देश के लोग पृथिवी के दूषण हैं तथा नये-नये खेल-तमाशे देखने की अभिलाषा स्त्री के लिए दूषण है।

ब्रह्मोवाच

वेदा मे परमं चक्षुर्वेदा मे परमं बलम् ।
वेदा मे परमं धाम वेदा मे ब्रह्म चोत्तरम् ॥१७५॥

ब्रह्माजी कहते हैं—वेद ही मेरे उत्तम नेत्र हैं, वेद ही मेरे परम बल हैं। वेद ही मेरे परमाश्रय तथा वेद ही मेरे सर्वोत्तम उपास्य देव हैं।

भीष्म उवाच

अग्नेर्दुर्धर्षता ज्योतिस्तापः पाकः प्रकाशनम् ।
शोको रागो लघुस्तैक्ष्ण्यं सततं चोर्ध्वभासिता ॥१७६॥

भीष्मजी कहते हैं—दुर्धर्ष होना, जलना, ताप देना, पकाना, प्रकाश करना, शोक, राग, हल्कापन, तीक्ष्णता और अग्नि की ज्वालाओं का सदा ऊपर की ओर उठना तथा प्रकाशित होना—ये दस अग्नि के गुण हैं।

धैर्योपपत्तिर्व्यक्तिश्च विसर्गः कल्पना क्षमा ।
सदसच्चाशुता चैव मनसो नव वै गुणाः ॥१७७॥

धैर्य, तर्क-वितर्क में कुशलता, स्मरण, भ्रान्ति, कल्पना, क्षमा, शुभ तथा अशुभ संकल्प—ये नौ मन के गुण हैं।

इष्टानिष्टविपत्तिश्च व्यवसायः समाधिता ।
संशयः प्रतिपत्तिश्च बुद्धेः पञ्चगुणान् विदुः ॥१७८॥

इष्ट और अनिष्ट वृत्तियों का नाश, विचार, समाधान, सन्देह और निश्चय—ये पाँच बुद्धि के गुण माने गये हैं।

इति महाभारते शान्तिपर्वणि त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥६३॥

॥ इति शान्तिपर्व सम्पूर्णम् ॥

अनुशासनपर्व

प्रथमोऽध्यायः

युधिष्ठिर की सान्त्वनार्थ भीष्म द्वारा गौतमी ब्राह्मणी के उपाख्यान का वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

शमो बहुविधाकारः सूक्ष्म उक्तः पितामह।
न च मे हृदये शान्तिरस्ति श्रुत्वेदमीदृशम् ॥१॥

युधिष्ठिर बोले—हे पितामह ! आपने अनेक प्रकार से शोक से मुक्त होने के अनेक उपायों का वर्णन किया, परन्तु आपका ऐसा उपदेश सुनकर भी मेरे हृदय में शान्ति नहीं है।

रुधिरेणावसिक्ताङ्गं प्रस्रवन्तं यथाचलम् ।
त्वां दृष्ट्वा पुरुषव्याघ्र सीदे वर्षास्विवाम्बुजम् ॥२॥

हे पुरुषसिंह ! निरन्तर जल लेकर बहनेवाले निर्झरों के कारण जलहीन हुए पर्वत के समान निरन्तर बहती रक्तधाराओं से रक्तहीन देह लिये आपको देखकर मैं वर्षाकालीन कमल की भाँति—मन से विगलित [व्यथित] हो रहा हूँ।

सोऽहं तव ह्यन्तकरः सुहृद्वधकरस्तथा।
न शान्तिमधिगच्छामि पश्यंस्त्वां दुःखितं क्षितौ ॥३॥

मैं ही आपकी जीवन-लीला का अन्त करनेवाला हूँ और मैं ही अन्य बन्धु-बान्धवों का वध करनेवाला हूँ। आपको इस कष्टमयी अवस्था में भूमि पर पड़ा देख मुझे शान्ति नहीं मिलती है।

अन्यस्मिन्नपि लोके वै यथा मुच्येम किल्बिषात्।
तथा प्रशाधि मां राजन्मम चेदिच्छसि प्रियम् ॥४॥

हे राजन् ! यदि आप मेरा प्रिय करना चाहते हैं तो मुझे कोई ऐसा उपदेश दीजिए, जिससे परलोक में भी मुझे इस पाप से छुटकारा मिल सके।

भीष्म उवाच

परतन्त्रं कथं हेतुमात्मानमनुपश्यसि।
कर्मणां हि महाभाग सूक्ष्मं ह्येतदतीन्द्रियम् ॥५॥

भीष्मजी ने कहा—हे महाभाग ! तुम तो परतन्त्र हो, फिर अपने को शुभाशुभ कर्मों का कारण क्यों समझते हो ? वास्तव में कर्मों का कारण क्या है, यह विषय अत्यन्त सूक्ष्म और इन्द्रियों की पहुँच से परे है।

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
संवादं मृत्युगौतम्योः काललुब्धकपन्नगैः ॥६॥

इस विषय में विद्वान् लोग गौतमी ब्राह्मणी, व्याध=शिकारी, सर्प, मृत्यु और काल के संवादरूप इस प्राचीन इतिहास का उदाहरण दिया करते हैं।

गौतमी नाम कौन्तेय स्थविरा शमसंयुता।
सर्पेण दष्टं पुत्रं स्वमपश्यत् गतचेतनम् ॥७॥

कुन्तीकुमार ! प्राचीनकाल में गौतमी नामक एक वृद्धा ब्राह्मणी थी, जो शान्ति के साधनों में संलग्न रहती थी। एक दिन उसने देखा कि उसके पुत्र को सांप ने डस लिया और उसकी चेतना लुप्त हो गई।

अथ तं स्नायुपाशेन बद्ध्वा सर्पममर्षितः।
लुब्धकोऽर्जुनको नाम गौतम्याः समुपानयत् ॥८॥

इतने में ही अर्जुनक व्याध ने उस सर्प को तांत के फांस में बाँध लिया और क्रोध में भरा हुआ वह उसे गौतमी के पास ले आया।

तां चाब्रवीदयं ते स पुत्रहा पन्नगाधमः।
ब्रूहि क्षिप्रं महाभागे वध्यतां केन हेतुना ॥९॥

सर्प को लाकर वह गौतमी से बोला—"महाभागे ! यही वह नीच सर्प है जिसने तुम्हारे पुत्र को मार डाला है। जल्दी बोलो, मैं किस प्रकार इसका वध करूँ ?

अग्नौ प्रक्षिप्यतामेष च्छिद्यतां खण्डशोऽपि वा।
न ह्ययं बालहा पापश्चिरं जीवितुमर्हति ॥१०॥

मैं इसे आग में झोंक दूँ अथवा इसके टुकड़े-टुकड़े कर डालूँ। बालक की हत्या करनेवाला यह पापी सर्प अब अधिक समय तक जीवित रहने योग्य नहीं है।

गौतम्युवाच

विसृजैनमबुद्धिस्त्वमवध्योऽर्जुनक त्वया।
को ह्यात्मानं गुरुं कुर्यात्प्राप्तव्यमविचिन्तयन् ॥११॥

गौतमी बोली—अर्जुनक! इस सर्प को छोड़ दे। तू अभी नादान है। तुझे इस सर्प को नहीं मारना चाहिए। होनहार को कोई टाल नहीं सकता—इस तथ्य को जानते हुए भी, इसकी उपेक्षा करके कौन अपने ऊपर पाप का भारी बोझ लादेगा?

प्लवन्ते धर्मलघवो लोकेऽम्भसि यथा प्लवाः।
मज्जन्ति पापगुरवः शस्त्रं स्कन्नमिवोदके ॥१२॥

जो लोग धर्माचरण के द्वारा अपने-आपको हल्का रखते हैं, वे पानी पर चलनेवाली नौका के समान संसार-सागर से पार उतर जाते हैं, परन्तु जो पाप के भार से अपने को बोझिल बना लेते हैं, वे जल में फेंके हुए हथियार की भाँति भवसागर में डूब जाते हैं।

भीष्म उवाच

असकृत् प्रोच्यमानापि गौतमी भुजगं प्रति।
लुब्धकेन महाभागा पापे नैवाकरोन्मतिम् ॥१३॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! व्याध के बारबार कहने और उकसाने पर भी महाभागा गौतमी ने सर्प को मारने का विचार नहीं किया।

ईषदुच्छ्वसमानस्तु कृच्छ्रात् संस्तभ्य पन्नगः।
उत्ससर्ज गिरं मन्दां मानुषीं पाशपीडितः ॥१४॥

उस समय बन्धन से पीड़ित, धीरे-धीरे श्वास लेता हुआ वह सर्प अत्यन्त कठिनता से अपने को सँभालकर मन्द स्वर से मनुष्य की वाणी में बोला—

सर्प उवाच

को न्वर्जुनक दोषोऽत्र विद्यते मम बालिश।
अस्वतन्त्रं हि मां मृत्युर्विवशं यदचूचुदत् ॥१५॥

सर्प बोला—अरे मूर्ख अर्जुनक! इस बालक को डसने में मेरा क्या दोष है? मैं तो पराधीन हूँ। मृत्यु ने मुझे विवश करके इस कार्य के लिए प्रेरित किया था।

तस्यायं वचनाद् दष्टो न कोपेन न काम्यया।
तस्य तत्किल्बिषं लुब्ध विद्यते यदि किल्बिषम् ॥१६॥

उसके [मृत्यु के] कहने से ही मैंने बालक को डसा है, क्रोध और कामना से नहीं। हे व्याध! यदि इसमें कोई अपराध है तो वह मेरा नहीं, मृत्यु का है।

लुब्धक उवाच

यद्यन्यवशगेनेदं कृतं ते पन्नगाशुभम्।
कारणं वै त्वमप्यत्र तस्मात् त्वमपि किल्बिषी ॥१७॥

व्याध बोला—हे सर्प! यद्यपि तूने दूसरे के अधीन होकर यह पाप किया है, तथापि तू भी तो इसमें कारण है ही, अतः तू भी अपराधी है।

किल्बिषी चापि मे वध्यः किल्बिषी चासि पन्नग।
आत्मानं कारणं ह्यत्र त्वमाख्यासि भुजङ्गम ॥१८

हे सर्प! जो भी अपराधी हो, वही मेरे लिए वध्य है। पन्नग! तू भी तो अपराधी है ही, क्योंकि तू स्वयं अपने-आपको इसके वध में कारण बताता है।

सर्प उवाच

सर्वं एते ह्यस्ववशा दण्डचक्रादयो यथा।
तथाहमपि तस्मान्मे नैष दोषो मतस्तव ॥१९॥

सर्प ने कहा—हे व्याध! जैसे मिट्टी का बर्तन बनाने में दण्ड-चक्र आदि सभी कारण पराधीन होते हैं, उसी प्रकार मैं भी मृत्यु के अधीन हूँ, अतः तुम्हारा मुझपर दोषारोपण करना उचित नहीं।

भीष्म उवाच

तथा ब्रुवति तस्मिस्तु पन्नगे मृत्युनोदिते।
आजगाम ततो मृत्युः पन्नगं चाब्रवीदिदम् ॥२०॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! मृत्यु की प्रेरणा से बालक को डसनेवाला सर्प जब बारम्बार अपने को निर्दोष और मृत्यु को दोषी बताने लगा, तब मृत्यु भी वहाँ आ पहुँची और सर्प से इस प्रकार कहने लगी—

मृत्युरुवाच

प्रचोदितोऽहं कालेन पन्नग त्वामचूचुदम् ।
विनाशहेतुर्नास्य त्वमहं न प्राणिनः शिशोः ।।२१।।

मृत्यु ने कहा—हे सर्प ! काल से प्रेरित होकर ही मैंने तुझे इस बालक को डसने के लिए प्रेरणा दी थी, अतः इस शिशु बालक की मृत्यु में न तो तू कारण है और न मैं ही कारण हूँ ।

भीष्म उवाच

सर्पोऽथार्जुनकं प्राह श्रुतं ते मृत्युभाषितम् ।
नानागसं मां पाशेन संतापयितुमर्हसि ।।२२।।

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर सर्प ने अर्जुनक से कहा—"तुमने मृत्यु की बात तो सुन ली न ? अब मुझ निरपराध को बन्धन में बाँधकर कष्ट देना तुम्हारे लिए उचित नहीं है ।"

लुब्धक उवाच

मया श्रुतं वचः मृत्योः तव चैव भुजङ्गम ।
नैव तावददोषस्त्वं भवति त्वयि पन्नग ।।२३।।

व्याध बोला—हे सर्प ! मैंने मृत्यु की और तेरी—दोनों की बातें सुन लीं, किन्तु पन्नग ! इससे तेरी निर्दोषता सिद्ध नहीं होती ।

मृत्युस्त्वं चैव हेतुर्हि बालस्यास्य विनाशने ।
उभयं कारणं मन्ये न कारणमकारणम् ।।२४।।

इस बालक की मौत में तू और मृत्यु—दोनों ही कारण हो, अतः मैं तुम दोनों को ही कारण या अपराधी मानता हूँ, किसी एक को दोषी या अदोषी नहीं मानता ।

मृत्युरुवाच

विवशौ कालवशगावावां निर्दिष्टकारिणौ ।
नावां दोषेण गन्तव्यौ यदि सम्यक् प्रपश्यसि ।।२५।।

मृत्यु बोली—व्याध ! हम दोनों काल के अधीन होने के कारण विवश हैं । हम तो केवल उसके आदेशपालक हैं । यदि तुम अच्छी प्रकार विचार करोगे तो हमपर दोषारोपण नहीं कर सकोगे ।

भीष्म उवाच

अथोपगम्य कालस्तु तस्मिन्धर्मार्थसंशये ।
अब्रवीत् पन्नगं मृत्युं लुब्धं चार्जुनकं तथा ।।२६।।

भीष्मजी कहते हैं—हे युधिष्ठिर ! तदनन्तर धार्मिक विषय में सन्देह उपस्थित होने पर काल भी वहाँ आ पहुँचा और सर्प, मृत्यु तथा अर्जुनक व्याध से इस प्रकार बोला—

काल उवाच

न ह्यहं नाप्ययं मृत्युर्नायं लुब्धक पन्नगः ।
किल्बिषी जन्तुमरणे न वयं हि प्रयोजकाः ।।२७।।

काल ने कहा—हे व्याध ! इस जीव की मृत्यु में न तो मैं, न यह मृत्यु और न यह सर्प ही अपराधी है । हम लोग किसी की मृत्यु के प्रेरक या प्रयोजक भी नहीं हैं ।

अकरोद् यदयं कर्म तन्नोऽर्जुनक प्रेरकम् ।
विनाशहेतुर्नान्योऽस्य वध्यतेऽयं स्वकर्मणा ।।२८।।

अर्जुनक ! इस बालक ने जो कर्म किया है वही इसकी मृत्यु में प्रेरक हुआ है, दूसरा कोई इसके विनाश का कारण नहीं है । यह प्राणी अपने कर्म से ही मरता है ।

यदनेन कृतं कर्म तेनायं निधनं गतः ।
विनाशहेतुः कर्मास्य सर्वे कर्मवशा वयम् ।।२९।।

इस बालक ने जो कर्म किया है, उसी से यह मृत्यु को प्राप्त हुआ है । इसका कर्म ही इसकी मृत्यु का कारण है । हम सब लोग कर्म के ही अधीन हैं ।

यथा मृत्पिण्डतः कर्ता कुरुते यद् यदिच्छति ।
एवमात्मकृतं कर्म मानवः प्रतिपद्यते ।।३०।।

जैसे कुम्हार मिट्टी के लौंदे से जैसे बर्तन बनाना चाहता है, वैसे ही बना लेता है, उसी प्रकार मनुष्य अपने किये हुए कर्म के अनुसार ही सब-कुछ पाता है ।

यथा च्छायातपौ नित्यं सुसम्बद्धौ निरन्तरम् ।
तथा कर्म च कर्ता च सम्बद्धावात्मकर्मभिः ।।३१।।

जैसे धूप और छाया दोनों सदा एक-दूसरे से मिले रहते हैं, वैसे ही कर्म और कर्ता दोनों अपने कर्मानुसार एक-दूसरे से सम्बद्ध होते हैं ।

एवं नाहं न वै मृत्युर्न सर्पो न तथा भवान् ।
न चेयं ब्राह्मणी वृद्धा शिशुरेवात्र कारणम् ।।३२।।

इस प्रकार विचार करने से न तो मैं, न मृत्यु, न सर्प, न तुम [व्याध] और न यह वृद्धा ब्राह्मणी ही इस बालक की मृत्यु में कारण है । वस्तुतः यह

बालक स्वयं ही अपने कर्मानुसार अपनी मौत का कारण हुआ है।

तस्मिंस्तथा ब्रुवाणे तु ब्राह्मणी गौतमी नृप।
स्वकर्मप्रत्ययाँल्लोकान् मत्वार्जुनकमब्रवीत् ॥३३॥

राजन्! काल के ऐसा कहने पर गौतमी ब्राह्मणी को यह निश्चय हो गया कि मनुष्य को अपने कर्मों के अनुसार ही फल मिलता है। फिर वह अर्जुनक से बोली—

गौतम्युवाच

नैव कालो न भुजगो न मृत्युरिह कारणम्।
स्वकर्मभिरयं बालः कालेन निधनं गतः ॥३४॥

गौतमी बोली—हे व्याध! इस बालक की मृत्यु में काल, सर्प और मृत्यु कोई भी कारण नहीं है। यह बालक अपने कर्मों से ही प्रेरित होकर काल के द्वारा मृत्यु को प्राप्त हुआ है।

मया च तत्कृतं कर्म येनायं मे मृतः सुतः।
यातु कालस्तथा मृत्युर्मुञ्चार्जुनक पन्नगम् ॥३५॥

हे अर्जुनक! मैंने भी वैसा ही कर्म किया था, जिससे मेरा पुत्र मर गया है। अब काल और मृत्यु अपने-अपने स्थान को पधारें और तू भी इस सर्प को छोड़ दे।

भीष्म उवाच

ततो यथागतं जग्मुर्मृत्युः कालोऽथ पन्नगः।
अभूद् विशोकोऽर्जुनको विशोका चैव गौतमी ॥३६॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! तत्पश्चात् काल, मृत्यु और सर्प जैसे आये थे वैसे ही चले गये और अर्जुनक एवं गौतमी ब्राह्मणी का भी शोक दूर हो गया।

एतत् श्रुत्वा शमं गच्छ मा भूः शोकपरो नृप।
कालेनैतत् कृतं विद्धि निहता येन पार्थिवाः ॥३७॥

राजन्! इस उपाख्यान को सुनकर तुम शान्त हो जाओ, शोक मत करो। इस सबको काल की ही करतूत समझो, जिससे समस्त भूपाल मारे गये हैं।

वैशम्पायन उवाच

इत्येतद् वचनं श्रुत्वा बभूव विगतज्वरः।
युधिष्ठिरो महातेजाः पप्रच्छेदं च धर्मवित् ॥३८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भीष्म की यह बात सुनकर महातेजस्वी धर्मज्ञ राजा युधिष्ठिर की चिन्ता दूर हो गई, फिर उन्होंने इस प्रकार प्रश्न किया।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

द्वितीयोऽध्यायः

स्वामिभक्ति और दयालुता-प्रतिपादनार्थ इन्द्र और शुक-संवाद का उल्लेख

युधिष्ठिर उवाच

आनृशंस्यस्य धर्मज्ञ गुणान् भक्तजनस्य च।
श्रोतुमिच्छामि धर्मज्ञ तन्मे ब्रूहि पितामह ॥१॥

युधिष्ठिर बोले—धर्मज्ञ पितामह! अब मैं दयालु और भक्तपुरुषों के गुण सुनना चाहता हूँ, कृपा करके मुझे उनके गुण बताइए।

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
वासवस्य च संवादं शुकस्य च महात्मनः ॥२॥

भीष्मजी ने कहा—युधिष्ठिर! इस विषय में भी महामनस्वी तोते और इन्द्र का जो संवाद हुआ था, उस प्राचीन इतिहास का उदाहरण दिया जाता है।

विषये काशिराजस्य ग्रामान्निष्क्रम्य लुब्धकः।
सविषं काण्डमादाय मृगयामास वै मृगम् ॥३॥

काशिराज के राज्य की बात है, एक शिकारी विष में बुझा हुआ बाण लेकर गाँव से निकला और शिकार के लिए किसी मृग को खोजने लगा।

तत्र चामिषलुब्धेन लुब्धकेन महावने।
अविदूरे मृगान् दृष्ट्वा बाणः प्रतिसमाहितः ॥४॥

उस विशाल वन में थोड़ी ही दूर जाने पर मांस-लोभी व्याध ने कुछ मृगों को देखा और उनपर बाण चला दिया।

तेन दुर्वारितास्त्रेण निमित्तचपलेषुणा।
महान् वनतरुस्तत्र विद्धो मृगजिघांसया ॥५॥

निशाना चूक जाने के कारण मृग को मारने की इच्छा से छोड़े गये उस अमोघ बाण ने एक विशाल वृक्ष को वेध दिया ।

स तीक्ष्णविषदिग्धेन शरेणातिबलात् क्षतः ।
उत्सृज्य फलपत्राणि पादपः शोषमागतः ।।६।।

कालकूट-विष से बुझे हुए उस बाण से बड़े जोर का आघात लगने के कारण उस वृक्ष में विष फैल गया । उसके फल और पत्ते झड़ गये और धीरे-धीरे वह सूखने लगा ।

तस्मिन् वृक्षे तथाभूते कोटरेषु चिरोषितः ।
न जहाति शुको वासं तस्य भक्त्या वनस्पतेः ।।७।।

उस वृक्ष के सूख जाने पर भी [उस वृक्ष के] खोखलों में बहुत समय से निवास करनेवाला एक तोता उस वृक्ष के प्रति प्रेम होने के कारण, उसे नहीं छोड़ रहा था ।

निष्प्रचारो निराहारो ग्लानः शिथिलवागपि ।
कृतज्ञः सह वृक्षेण धर्मात्मा सोऽप्यशुष्यत ।।८।।

उस धर्मात्मा एवं कृतज्ञ तोते ने कहीं आना-जाना और दाना चुगना भी छोड़ दिया था । वह इतना शिथिल हो गया था कि उससे बोला भी न जाता था । उस वृक्ष के साथ वह स्वयं भी सूखता जा रहा था ।

तमुदारं महासत्त्वमतिमानुषचेष्टितम् ।
समदुःखसुखं दृष्ट्वा विस्मितः पाकशासनः ।।९।।

धैर्य के धनी, अलौकिक चेष्टावाले, दुःख और सुख में समानभाव रखनेवाले उस उदार तोते को देखकर इन्द्र को महान् आश्चर्य हुआ ।

ततो ब्राह्मणवेषेण मानुषं रूपमास्थितः ।
अवतीर्य महीं शक्रस्तं पक्षिणमुवाच ह ।।१०।।

तब इन्द्र ब्राह्मण के वेश में मनुष्य का रूप धारण करके पृथिवी पर उतरे और उस तोते के पास जाकर बोले—

इन्द्र उवाच

निष्पत्रमफलं शुष्कमशरण्यं पतत्रिणाम् ।
किमर्थं सेवसे वृक्षं यदा महदिदं वनम् ।।११।।

इन्द्र ने कहा—हे शुक ! इस वृक्ष के पत्ते झड़ गये, फल भी नहीं रहे । सूख जाने के कारण यह पक्षियों के बसेरा लेने योग्य भी नहीं रहा । जब यह विशाल वन पड़ा हुआ है, तब तुम इस ठूंठ का आश्रय क्यों ले रहे हो ?

अन्येऽपि बहवो वृक्षाः पत्रसंच्छन्नकोटराः ।
शुभाः पर्याप्तसंचारा विद्यन्तेऽस्मिन् महावने ।।१२।।

इस विशाल वन में और भी बहुत-से वृक्ष हैं, जिनके खोखल हरे-भरे पत्तों से आच्छादित हैं, जो सुन्दर हैं और जिनपर पक्षियों के सञ्चार के लिए पर्याप्त स्थान हैं ।

गतायुषमसामर्थ्यं क्षीणसारं हतश्रियम् ।
विमृश्य प्रज्ञया धीर जहीमं स्थविरं द्रुमम् ।।१३।।

धीर शुक ! इस वृक्ष की आयु समाप्त हो गई, शक्ति नष्ट हो गई । इसका सार [जीवन-रस] क्षीण हो गया और इसकी शोभा भी छिन गई, अतः अपनी बुद्धि द्वारा इन सब बातों पर विचार करके तुम इस बूढ़े वृक्ष को त्याग दो ।

भीष्म उवाच

तदुपश्रुत्य धर्मात्मा शुकः शक्रेण भाषितम् ।
सुदीर्घमतिनिःश्वस्य दीनो वाक्यमुवाच ह ।।१४।।

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! इन्द्र की यह बात सुनकर धर्मात्मा शुक ने दीर्घ निःश्वास छोड़कर दीन भाव से यह बात कही—

अनतिक्रमणीयानि दैवतानि शचीपते ।
यत्राभवत् तव प्रश्नस्तन्निबोध सुराधिप ।।१५।।

"हे शचीपते ! दैव का उल्लंघन नहीं किया जा सकता । देवराज ! जिसके विषय में आपने प्रश्न किया है, उसकी बात सुनिए !

अस्मिन्नहं द्रुमे जातः साधुभिश्च गुणैर्युतः ।
बालभावेन संगुप्तः शत्रुभिश्च न धर्षितः ।।१६।।

"मैंने इसी वृक्ष पर जन्म लिया तथा यहीं रहकर उत्तम-उत्तम गुण सीखे हैं । इस वृक्ष ने अपने बालक की भाँति मुझे सुरक्षित रखा और मुझपर शत्रुओं का आक्रमण नहीं होने दिया ।

किमनुक्रोश्य वैफल्यमुत्पादयसि मेऽनघ ।
आनृशंस्याभियुक्तस्य भक्तस्यानन्यगस्य च ।।१७।।

"निष्पाप देवेन्द्र ! इन्हीं सब कारणों से मेरी इस वृक्ष के प्रति भक्ति है । मैं दयारूपी धर्म के पालन में

लगा हूँ और यहाँ से अन्यत्र नहीं जाना चाहता। ऐसी अवस्था में आप मेरी सद्भावना को व्यर्थ बनाने की चेष्टा क्यों करते हैं?

अनुक्रोशो हि साधूनां महद्धर्मस्य लक्षणम्।
अनुक्रोशश्च साधूनां सदा प्रीतिं प्रयच्छति ॥१८॥

"श्रेष्ठ पुरुषों के लिए दूसरों पर दया करना ही महान् धर्म का सूचक है। दयाभाव श्रेष्ठ पुरुषों को सदा ही आनन्द प्रदान करता है।

नार्हसे मां सहस्राक्ष द्रुमं त्याजयितुं चिरात्।
समर्थमुपजीव्येमं त्यजेयं कथमद्य वै ॥१९॥

"हे सहस्राक्ष! आप मुझसे इस वृक्ष को छुड़वाने का प्रयत्न मत कीजिए। जब यह समर्थ था, तब मैंने दीर्घकाल से इसके आश्रय में रहकर जीवन धारण किया है और आज जब यह शक्तिहीन हो गया, तब इसे छोड़कर चल दूँ—यह कैसे हो सकता है?"

तस्य वाक्येन सौम्येन हर्षितः पाकशासनः।
शुकं प्रोवाच धर्मात्मा आनृशंस्येन तोषितः ॥२०॥

तोते की इस कोमल वाणी से इन्द्र को बड़ी प्रसन्नता हुई। धर्मात्मा इन्द्र ने शुक की दयालुता से सन्तुष्ट हो उससे कहा—

वरं वृणीष्वेति तदा स च वव्रे वरं शुकः।
आनृशंस्यपरो नित्यं तस्य वृक्षस्य सम्भवम् ॥२१॥

"शुक! तुम मुझसे कोई वर माँगो।" तब दया-परायण शुक ने यह वर माँगा कि—"यह वृक्ष पहले की भाँति हरा-भरा हो जाए।"

विदित्वा च दृढां भक्तिं तां शुके शीलसम्पदम्।
प्रीतः क्षिप्रमथो वृक्षममृतेनावसिक्तवान् ॥२२॥

तोते की इस दृढ़ भक्ति और शील-सम्पत्ति को जानकर इन्द्र को और भी प्रसन्नता हुई। उन्होंने तुरन्त उस वृक्ष को अमृत से सींच दिया।

ततः फलानि पत्राणि शाखाश्चापि मनोहराः।
शुकस्य दृढभक्तित्वाच्छ्रीमत्तां प्राप स द्रुमः ॥२३॥

फिर तो उस वृक्ष में नये-नये पत्ते, फल और मनोहर शाखाएँ निकल आईं। तोते की दृढ़भक्ति के कारण वह वृक्ष पूर्ववत् श्रीसम्पन्न हो गया।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

तृतीयोऽध्यायः

भाग्य की अपेक्षा पुरुषार्थ की श्रेष्ठता का वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद।
दैवे पुरुषकारे च किंस्विच्छ्रेष्ठतरं भवेत् ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—सम्पूर्णशास्त्रों के विशेषज्ञ! महाप्राज्ञ पितामह! दैव=भाग्य और पुरुषार्थ में कौन श्रेष्ठ है?

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
वसिष्ठस्य च संवादं ब्रह्मणश्च युधिष्ठिर ॥२॥

भीष्मजी बोले—हे युधिष्ठिर! इस विषय में वसिष्ठ और ब्रह्माजी के संवादरूप एक प्राचीन इतिहास का उदाहरण दिया जाता है।

दैवमानुषयोः किंस्वित् कर्मणोः श्रेष्ठमित्युत।
पुरा वसिष्ठो भगवान् पितामहमपृच्छत ॥३॥

प्राचीनकाल की बात है, भगवान् वसिष्ठ लोकपितामह ब्रह्माजी से पूछा—"प्रभो! दैव औ पुरुषार्थ में कौन श्रेष्ठ है?"

ब्रह्मोवाच

नाबीजं जायते किञ्चिन्न बीजेन विना फलम्।
बीजाद् बीजं प्रभवति बीजादेव फलं स्मृतम् ॥

ब्रह्माजी बोले—बीज के बिना कुछ भी पैदा होता, बीज के बिना फल भी नहीं लगता। बी बीज प्रकट होता है तथा बीज से ही फल की उत् मानी गई है।

यादृशं वपते बीजं क्षेत्रमासाद्य कर्षकः।
सुकृते दुष्कृते वापि तादृशं लभते फलम् ॥५॥

किसान खेत में पहुँचकर जैसा बीज बोता वैसा ही उसे फल मिलता है। इसी प्रकार पुण्य

पाप, जैसा कर्म किया जाता है, वैसा ही फल मिलता है।

यथा बीजं विना क्षेत्रमुप्तं भवति निष्फलम् ।
तथा पुरुषकारेण विना दैवं न सिध्यति ॥६॥

जैसे खेत में बोये बिना बीज फल नहीं दे सकता, उसी प्रकार भाग्य भी पुरुषार्थ के बिना सिद्ध नहीं होता।

क्षेत्रं पुरुषकारस्तु दैवं बीजमुदाहृतम् ।
क्षेत्रबीजसमायोगात् ततः सस्यं समृद्धयते ॥७॥

पुरुषार्थ खेत है और दैव को बीज कहा गया है। खेत और बीज दोनों के संयोग से ही अन्न उत्पन्न होता है।

कर्मणः फलनिर्वृत्तिं स्वयमश्नाति कारकः ।
प्रत्यक्षं दृश्यते लोके कृतस्यापकृतस्य च ॥८॥

'कर्म करनेवाला मनुष्य अपने शुभ अथवा अशुभ कर्म का फल स्वयं ही भोगता है'—यह बात संसार में प्रत्यक्ष दिखाई देती है।

शुभेन कर्मणा सौख्यं दुःखं पापेन कर्मणा ।
कृतं फलति सर्वत्र नाकृतं भुज्यते क्वचित् ॥९॥

शुभकर्म करने से सुख और पापकर्म करने से दुःख मिलता है। अपना किया हुआ कर्म सर्वत्र ही फल देता है। बिना किये हुए कर्म का फल कहीं नहीं भोगा जाता।

कृती सर्वत्र लभते प्रतिष्ठां भाग्यसंयुताम् ।
अकृती लभते भ्रष्टः क्षते क्षारावसेचनम् ॥१०॥

पुरुषार्थी मनुष्य सर्वत्र भाग्य के अनुसार प्रतिष्ठा पाता है, परन्तु जो अकर्मण्य है वह सम्मान से भ्रष्ट होकर घाव पर नमक छिड़कने के समान असह्य दुःख भोगता है।

तपसा रूपसौभाग्यं रत्नानि विविधानि च ।
प्राप्यते कर्मणा सर्वं न दैवादकृतात्मना ॥११॥

मनुष्य को तपस्या से सौन्दर्य, सौभाग्य और नानाप्रकार के रत्न प्राप्त होते हैं, इस प्रकार कर्म से सब-कुछ मिल सकता है, परन्तु भाग्य के भरोसे निकम्मे बैठे रहनेवाले को कुछ नहीं मिलता।

तथा स्वर्गश्च भोगश्च निष्ठा या च मनीषिता ।
सर्वं पुरुषकारेण कृतेनेहोपलभ्यते ॥१२॥

इस जगत् में पुरुषार्थ करने से स्वर्ग=सुख-विशेष, भोग, धर्म में निष्ठा और बुद्धिमत्ता—इन सबकी उपलब्धि होती है।

अर्थो वा मित्रवर्गो वा ऐश्वर्यं वा कुलान्वितम् ।
श्रीश्चापि दुर्लभा भोक्तुं तथैवाकृतकर्मभिः ॥१३॥

जो लोग पुरुषार्थ नहीं करते, वे धन, मित्रवर्ग, ऐश्वर्य, उत्तम कुल तथा दुर्लभ लक्ष्मी का भी उपभोग नहीं कर सकते।

शौचेन लभते विप्रः क्षत्रियो विक्रमेण तु ।
वैश्यः पुरुषकारेण शूद्रः शुश्रूषया श्रियम् ॥१४॥

ब्राह्मण शौचाचार से, क्षत्रिय पराक्रम से, वैश्य उद्योग से और शूद्र तीनों वर्णों की सेवा से सम्पत्ति पाता है।

नादातारं भजन्त्यर्था न क्लीबं नापि निष्क्रियम् ।
नाकर्मशीलं नाशूरं तथा नैवातपस्विनम् ॥१५॥

न तो दान न देनेवाले कंजूस को धन प्राप्त होता है, न नपुंसक को, न अकर्मण्य को, न काम से जी चुरानेवाले को, न शौर्यहीन को और न तपस्या न करनेवाले को ही धन मिलता है।

स्वं चेत्कर्मफलं न स्यात् सर्वमेवाफलं भवेत् ।
लोको दैवं समालक्ष्य उदासीनो भवेन्ननु ॥१६॥

यदि अपने किये हुए कर्मों का फल प्राप्त न हो तो सारा कर्म ही निष्फल हो जाए और सब लोग भाग्य को ही देखते हुए कर्म करने से उदासीन हो जाएं।

अकृत्वा मानुषं कर्म यो दैवमनुवर्तते ।
वथा श्राम्यति सम्प्राप्य पतिं क्लीबमिवाङ्गना ॥१७॥

मनुष्य द्वारा करने योग्य कर्म को न करके जो पुरुष केवल भाग्य का अनुसरण करता है, वह भाग्य का सहारा लेकर व्यर्थ ही कष्ट उठाता है, जैसे स्त्री नपुंसक पति को पाकर कष्ट ही भोगती है।

कृतः पुरुषकारस्तु दैवमेवानुवर्तते ।
न दैवमकृते किञ्चित्कस्यचिद् दातुमर्हति ॥१८॥

किया हुआ पुरुषार्थ ही दैव का अनुसरण करता है, परन्तु पुरुषार्थ न करने पर दैव=भाग्य किसी को कुछ भी नहीं दे सकता।

कृतं चाप्यकृतं किञ्चित् कृते कर्मणि सिद्धयति ।
सुकृतं दुष्कृतं कर्म न यथार्थं प्रपद्यते ॥१९॥

प्रबल पुरुषार्थ करने से पहले का किया हुआ कर्म भी बिना किया हुआ-सा हो जाता है और वह प्रबल कर्म ही सिद्ध होकर फल देता है। इस प्रकार पुण्य या पाप-कर्म अपने यथार्थ फल को नहीं दे पाते हैं।

यथाग्निः पवनोद्धूतः सुसूक्ष्मोऽपि महान् भवेत्।
तथा कर्मसमायुक्तं दैवं साधु विवर्धते ॥२०॥

जैसे थोड़ी-सी भी अग्नि वायु का सहारा पाकर बहुत बड़ी हो जाती है, उसी प्रकार पुरुषार्थ का सहारा पाकर दैव का बल विशेष बढ़ जाता है।

यथा तैलक्षयाद् दीपः प्रह्लासमुपगच्छति।
तथा कर्मक्षयाद् दैवं प्रह्लासमुपगच्छति ॥२१॥

जैसे तेल समाप्त हो जाने पर दीपक बुझ जाता है, उसी प्रकार कर्म के क्षीण हो जाने पर दैव भी नष्ट हो जाता है।

विपुलमपि धनौघं प्राप्य भोगान् स्त्रियो वा
पुरुष इह न शक्तः कर्महीनो हि भोक्तुम्।
सुनिहितमपि चार्थं दैवतैः रक्ष्यमाणं
पुरुष इह महात्मा प्राप्नुते नित्ययुक्तः ॥२२॥

उद्योगहीन मनुष्य धन का बहुत बड़ा भण्डार, नाना प्रकार के भोग और स्त्रियों को पाकर भी उनका उपभोग नहीं कर सकता, परन्तु उद्योगी महामनस्वी पुरुष देवताओं द्वारा सुरक्षित और गाड़कर रखे हुए धन को भी प्राप्त कर लेता है।

न च फलति विकर्मा जीवलोके न दैवं
व्यपनयति विमार्गं नास्ति दैवे प्रभुत्वम्।
गुरुमिव कृतमग्र्यं कर्म संयाति दैवं
नयति पुरुषकारः संचितस्तत्र तत्र ॥२३॥

इस संसार में उद्योगहीन मनुष्य कभी फूलता-फलता दिखाई नहीं देता। दैव में इतनी शक्ति नहीं है कि वह उसे कुमार्ग से हटाकर सन्मार्ग में लगा दे। जैसे शिष्य गुरु को आगे करके चलता है, उसी प्रकार दैव पुरुषार्थ को आगे करके स्वयं उसके पीछे चलता है। सञ्चित किया हुआ पुरुषार्थ ही दैव को जहां चाहता है, वहाँ-वहाँ ले जाता है।

एतत् ते सर्वमाख्यानं मया वै मुनिसत्तम।
फलं पुरुषकारस्य सदा सन्दृश्य तत्त्वतः ॥२४॥

मुनिश्रेष्ठ! मैंने सदा पुरुषार्थ के ही फल को प्रत्यक्ष देखकर यथार्थरूप से ये सारी बातें तुम्हें बताई हैं।

अभ्युत्थानेन दैवस्य समारब्धेन कर्मणा।
विधिना कर्मणा चैव स्वर्गमार्गमवाप्नुयात् ॥२५॥

मनुष्य दैव के उत्थान से आरम्भ किये हुए पुरुषार्थ से, उत्तम विधि और शास्त्रोक्त कर्म से ही स्वर्ग=सुखविशेष को प्राप्त कर सकता है।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

चतुर्थोऽध्याय।

विविध कर्मों के फल का वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

कर्मणां च समस्तानां शुभानां भरतर्षभ।
फलानि महतां श्रेष्ठ प्रब्रूहि परिपृच्छतः ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—महापुरुषों में प्रधान भरतश्रेष्ठ! मैं पूछता हूँ कि समस्त शुभ कर्मों के फल क्या हैं? यह मुझे बताइए।

भीष्म उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि यन्मां पृच्छसि भारत।
या गतिः प्राप्यते येन तच्छृणुष्व युधिष्ठिर ॥२॥

भीष्मजी बोले—हे भरतनन्दन युधिष्ठिर! तुम मुझसे जो कुछ पूछ रहे हो, मैं तुम्हें बतलाता हूं। मरने के पश्चात् जिसको जो गति मिलती है, उसका भी वर्णन करता हूँ, सुनो!

येन येन शरीरेण यद् यत् कर्म करोति यः।
तेन तेन शरीरेण तत् तत् फलमुपाश्नुते ॥३॥

मनुष्य जिस-जिस [स्थूल अथवा सूक्ष्म] शरीर से जो-जो कर्म करता है, उसी-उसी शरीर से उ उस कर्म का फल भोगता है।

यस्यां यस्यामवस्थायां यत् करोति शुभाशुभम्।
तस्यां तस्यामवस्थायां भुंक्ते जन्मनि जन्मनि ॥४॥

मनुष्य जिस-जिस अवस्था में जो-जो शुभ या अशुभ कर्म करता है, प्रत्येक जन्म की उसी-उसी अवस्था में वह उसका फल भोगता है।

न नश्यति कृतं कर्म सदा पञ्चेन्द्रियैरिह ।
ते ह्यस्य साक्षिणो नित्यं षष्ठ आत्मा तथैव च ॥५॥

पाँचों इन्द्रियों द्वारा किया हुआ कर्म कभी नष्ट नहीं होता। वे पाँचों इन्द्रियाँ और छठा मन—ये उसके कर्म के साक्षी होते हैं।

चक्षुर्दद्यान्मनो दद्याद् वाचं दद्याच्च सूनृताम् ।□
अनुव्रजेदुपासीत स यज्ञः पञ्चदक्षिणः ॥६॥

मनुष्य को उचित है कि यदि कोई अतिथि घर पर आ जाए तो उसको प्रसन्न दृष्टि से देखे। मन से उसकी सेवा करे। मधुरवाणी द्वारा उसे सन्तुष्ट करे। जब वह जाने लगे तो उसके पीछे-पीछे कुछ दूर तक जाए और जबतक वह रहे तबतक उसके स्वागत-सत्कार में लगा रहे—ये पाँच कर्म करना गृहस्थ के लिए पाँच प्रकार की दक्षिणाओं से युक्त यज्ञ कहलाता है।

यो दद्यादपरिक्लिष्टमन्नमध्वनि वर्तते ।
श्रान्तायादृष्टपूर्वाय तस्य पुण्यफलं महत् ॥७॥

जो थके-माँदे अपरिचित पथिक को प्रसन्नतापूर्वक अन्न प्रदान करता है, उसे महान् पुण्यफल की प्राप्ति होती है।

पाद्यमासनमेवाथ दीपमन्नं प्रतिश्रयम् ।
दद्यादतिथिपूजार्थं स यज्ञः पञ्चदक्षिणः ॥८॥

जो अतिथि को पैर धोने के लिए जल, बैठने के लिए आसन, प्रकाश के लिए दीपक, खाने के लिए अन्न और ठहरने के लिए स्थान देता है, इस प्रकार अतिथि-सत्कार के लिए इन पाँच वस्तुओं का दान 'पञ्चदक्षिण' यज्ञ कहलाता है।

धनं लभेत दानेन मौनेनाज्ञां विशाम्पते ।□
उपभोगांश्च तपसा ब्रह्मचर्येण जीवितम् ॥९॥

नरेश्वर! मनुष्य दान करने से धन पाता है, मौन-व्रत से दूसरों से आज्ञापालन कराने की शक्ति प्राप्त करता है, तपस्या से भोग और ब्रह्मचर्य-पालन से दीर्घायु की प्राप्ति होती है।

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम् ।
एवं पूर्वकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति ॥१०॥

जैसे बछड़ा सहस्रों गौओं के बीच में भी अपनी माता को ढूंढ लेता है, उसी प्रकार पहले का किया हुआ कर्म भी कर्ता को पहचानकर उसका अनुसरण करता है।

अचोद्यमानानि यथा पुष्पाणि च फलानि च ।
स्वकालं नातिवर्तन्ते तथा कर्म पुराकृतम् ॥११॥

जैसे फूल और फल किसी की प्रेरणा न होने पर भी अपने समय का उल्लंघन नहीं करते—ठीक समय पर फूलने-फलने लगते हैं, वैसे ही पहले किया हुआ कर्म भी समय पर फल देता ही है।

येन प्रीणाति पितरं तेन प्रीतः प्रजापतिः ।
प्रीणाति मातरं येन पृथिवी तेन पूजिता ।
येन प्रीणात्युपाध्यायं तेन स्याद् ब्रह्म पूजितम् ॥१२॥

मनुष्य जिस व्यवहार से पिता को प्रसन्न करता है, उससे प्रजापति परमात्मा प्रसन्न होते हैं; जिस बर्ताव से वह माता को सन्तुष्ट करता है, उससे पृथिवी देवी की पूजा हो जाती है; जिस सेवा से वह उपाध्याय को तृप्त करता है, उसके द्वारा परब्रह्म परमात्मा की पूजा सम्पन्न हो जाती है।

वैशम्पायन उवाच

भीष्मस्यैतद् वचः श्रुत्वा विस्मिताः कुरुपुङ्गवाः ।
आसन् प्रहृष्टमनसः प्रीतिमन्तोऽभवंस्तदा ॥१३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भीष्मजी की यह बात सुनकर समस्त श्रेष्ठ कुरुवंशी आश्चर्य-चकित हो उठे। सबके मन में हर्षजनित उल्लास भर गया। उस समय सभी अति प्रसन्न हुए।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

पञ्चमोऽध्यायः

लक्ष्मी के निवास करने योग्य स्त्री-पुरुष एवं स्थानों का वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

कीदृशे पुरुषे तात स्त्रीषु वा भरतर्षभ ।
श्रीः पद्मा वसते नित्यं तन्मे ब्रूहि पितामह ।।१।।

युधिष्ठिर ने पूछा—तात ! भरतश्रेष्ठ ! लक्ष्मी किन गुणों से युक्त स्त्री और पुरुषों में नित्य निवास करती है ? पितामह ! यह मुझे बताइए ।

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्णयिष्यामि यथावृत्तं यथाश्रुतम् ।
रुक्मिणी देवकीपुत्रसंन्निधौ पर्यपृच्छत ।।२।।

भीष्मजी बोले—राजन् ! इस विषय में एक यथार्थ वृत्तान्त को जैसा मैंने सुना है, वैसा ही तुम्हें बता रहा हूँ। देवकीनन्दन श्रीकृष्ण के समक्ष रुक्मिणी देवी ने लक्ष्मीजी से जो कुछ पूछा था, वह मुझसे सुनो ।

कानीह भूतान्युपसेवसे त्वं
संतिष्ठसे कानि च सेवसे त्वम् ।
एवं तदा श्रीरभिभाष्यमाणा
उवाच सा चन्द्रमुखी प्रसन्ना ।।३।।

[**रुक्मिणी ने पूछा**—] देवि ! तुम इस संसार में किन प्राणियों पर कृपा करके उनके यहाँ रहती हो ? कहाँ निवास करती हो और किन-किन का सेवन करती हो ? रुक्मिणी के इस प्रकार पूछने पर चन्द्रमुखी लक्ष्मीदेवी प्रसन्न होकर बोली—

श्रीरुवाच

वसामि नित्यं सुभगे प्रगल्भे
दक्षे नरे कर्मणि वर्तमाने ।
अक्रोधने देवपरे कृतज्ञे
जितेन्द्रिये नित्यमुदीर्णसत्त्वे ।।४।।

लक्ष्मी बोली—देवि ! मैं प्रतिदिन ऐसे पुरुष में निवास करती हूँ जो सौभाग्यशाली, निर्भीक, कार्यकुशल, कर्मपरायण, क्रोधरहित, देवाराधन-तत्पर, कृतज्ञ, जितेन्द्रिय तथा बढ़े हुए सत्त्वगुण से युक्त हो।

नाकर्मशीले पुरुषे वसामि
न नास्तिके साङ्करिके कृतघ्ने ।
न भिन्नवृत्ते न नृशंसवर्णे
न चापि चौरे न गुरुष्वसूये ।।५।।

जो मनुष्य अकर्मण्य, नास्तिक, वर्णसंकर, कृतघ्न, दुराचारी, क्रूर, चोर तथा गुरुद्वेषी होता है, उनके भीतर मैं निवास नहीं करती ।

ये चाल्पतेजोबलसत्त्वमानाः
क्लिश्यन्ति कुप्यन्ति च यत्र तत्र ।
न चैव तिष्ठामि तथाविधेषु
नरेषु संगुप्तमनोरथेषु ।।६।।

जिनमें तेज, बल, सत्त्व और गौरव की मात्रा बहुत थोड़ी है, जो जहाँ-तहाँ हर बात में खिन्न हो जाते हैं, जो मन में कुछ और भाव रखते हैं तथा ऊपर कुछ और ही दिखाते हैं, ऐसे मनुष्यों में मैं निवास नहीं करती ।

यश्चात्मनि प्रार्थयते न किञ्चिद्
यश्च स्वभावोपहतान्तरात्मा ।
तेष्वल्पसन्तोषपरेषु नित्यं
नरेषु नाहं निवसामि सम्यक् ।।७।।

जो अपने लिए कुछ नहीं चाहता, जिसका अन्तःकरण मूढ़ता से ग्रसित है, जो थोड़े में ही सन्तोष कर लेते हैं, ऐसे मनुष्यों में मैं कभी निवास नहीं करती।

स्वधर्मशीलेषु च धर्मवित्सु
वृद्धोपसेवानिरते च दान्ते ।
सत्यस्वभावार्जवसंयुतासु
वसामि देवद्विजपूजिकासु ।।८।।

जो स्वभावतः स्वधर्मपरायण, धर्मज्ञ, वृद्धों की सेवा में तत्पर और जितेन्द्रिय हैं—ऐसे पुरुषों और स्वभावतः सत्यवादिनी और सरलता से युक्त, विद्वानों और ब्राह्मणों का आदर-सत्कार करनेवाली स्त्रियों में भी मैं निवास करती हूँ ।

प्रकीर्णभाण्डामनवेक्ष्यकारिणीं
सदा च भर्तुः प्रतिकूलवादिनीम् ।
परस्य वेश्माभिरतामलज्जा-
मेवंविधां तां परिवर्जयामि ।।९।।

जिसके घर के बर्तन इधर-उधर बिखरे पड़े रहते हैं, जो सोच-समझकर कार्य नहीं करती, जो सदा अपने पति के प्रतिकूल ही बोलती हैं, जो दूसरों

घर में घूमने-फिरने में आसक्त रहती हैं और लज्जा को सर्वथा त्याग देती हैं, मैं भी उन स्त्रियों को छोड़ देती हूँ ।

पापामचोक्षामवलेहिनीं च
व्यपेतधैर्यां कलहप्रियां च ।
निद्राभिभूतां सततं शयाना-
मेवंविधां तां परिवर्जयामि ॥१०॥

जो स्त्री निर्दयतापूर्वक पापाचार में तत्पर रहनेवाली, अपवित्र, चटोरी, धैर्यहीन, कलहप्रिय, नींद में बेसुध होकर सदा खाट पर पड़ी रहनेवाली होती है, ऐसी नारी से मैं सदा दूर ही रहती हूँ ।

सत्यासु नित्यं प्रियदर्शनासु
सौभाग्ययुक्तासु गुणान्वितासु ।
वसामि नारीषु पतिव्रतासु
कल्याणशीलासु विभूषितासु ॥११॥

जो स्त्रियाँ सत्यवादिनी और अपनी सौम्य वेश-भूषा के कारण देखने में प्रिय होती हैं, जो सौभाग्यशालिनी, सद्‌गुणवती, पतिव्रता और कल्याणमय आचार-विचारवाली होती हैं तथा जो सदा वस्त्राभूषणों से विभूषित रहती हैं, मैं सदा ऐसी स्त्रियों में निवास करती हूँ ।

मत्ते गजे गोवृषभे नरेन्द्रे
सिंहासने सत्पुरुषेषु नित्यम् ।
यस्मिञ्जनो हव्यभुजं जुहोति
तस्मिन् गृहे नित्यमुपैसि वासम् ॥१२॥

मदमस्त हाथी, साँड, राजा, सिंहासन और सत्पुरुषों में मैं सदा रहती हूँ । जिस घर में लोग अग्निहोत्र करते हैं, उस घर में भी मैं नित्य निवास करती हूँ ।

स्वाध्यायनित्येषु सदा द्विजेषु
क्षत्रे च धर्माभिरते सदैव ।
वैश्ये च कृष्याभिरते वसामि
शूद्रे च शुश्रूषणनित्ययुक्ते ॥१३॥

सदा वेदों के स्वाध्याय में तत्पर रहनेवाले ब्राह्मणों, स्वधर्मपरायण क्षत्रियों, कृषिकर्म में लगे हुए वैश्यों और सदा सेवाकार्य में लगे रहनेवाले शूद्रों के यहाँ भी मैं नित्य निवास करती हूँ ।

नाहं शरीरेण वसामि देवि
नैवं मया शक्यमिहाभिधातुम् ।
भावेन यस्मिन निवसामि पंसि
स वर्धते धर्मयशोऽर्थकामैः ॥१४॥

हे देवि ! मैं शरीर से निवास नहीं करती हूँ । शरीर से सर्वत्र निवास करना मेरे लिए सम्भव भी नहीं है । जिस पुरुष में मैं भावना के द्वारा निवास करती हूँ, वह धर्म, यश, धन और कामना से सम्पन्न होकर सदा बढ़ता रहता है ।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

षष्ठोऽध्यायः

कृतघ्न की गति और त्रिविध पापों के त्याग का उपदेश

युधिष्ठिर उवाच

प्रायश्चित्तं कृतघ्नानां प्रतिब्रूहि पितामह ।
मातापितॄन् गुरूंश्चैव येऽवमन्यन्ति मोहिताः ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह ! जो लोग मोहवश माता-पिता तथा गुरुजनों का अपमान करते हैं, उन कृतघ्नों के लिए क्या प्रायश्चित्त है, यह बतलाइए ।

भीष्म उवाच

कृतघ्नानां गतिस्तात नरके शाश्वतीः समाः ।
मातापितृगुरूणां च ये न तिष्ठन्ति शासने ॥२॥
कृमिकीटपिपीलेषु जायन्ते स्थावरेषु च ।
दुर्लभो हि पुनस्तेषां मानुष्ये पुनरुद्भवः ॥३॥

भीष्मजी बोले—तात ! कृतघ्नों की एक ही गति है—सदा के लिए नरक=दुःखविशेष में पड़े रहना । जो माता-पिता और गुरुजनों की आज्ञा के अधीन नहीं रहते, वे कृमि, कीट, चींटी और वृक्षादि की योनियों में जन्म लेते हैं । उनके लिए पुनः मनुष्ययोनि में जन्म लेना दुर्लभ हो जाता है ।

युधिष्ठिर उवाच

किं कर्तव्यं मनुष्येण लोकयात्राहितार्थिना ।
कथं वै लोकयात्रां तु किंशीलश्च समाचरेत् ।।४।।

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! संसारयात्रा का भली प्रकार निर्वाह करने की इच्छा रखनेवाले मनुष्य को क्या करना चाहिए ? मनुष्य को कैसा स्वभाव बनाकर और किस प्रकार जीवन व्यतीत करना चाहिए ?

भीष्म उवाच

कायेन त्रिविधं कर्म वाचा चापि चतुर्विधम् ।
मनसा त्रिविधं चैव दशकर्मपथाँस्त्यजेत् ।।५।।

भीष्मजी ने कहा—राजन् ! मनुष्य को चाहिए कि वह शरीर से होनेवाले तीन, वाणी से चार प्रकार के और मन से तीन प्रकार के कर्म—इस प्रकार कुल दस प्रकार के कर्मों को त्याग दे।

प्राणातिपातः स्तैन्यं च परदारानथापि च ।
त्रीणि पापानि कायेन सर्वतः परिवर्जयेत् ।।६।।

प्राणियों को मारना=हिंसा, चोरी करना और पर-स्त्री से संसर्ग करना—ये तीन शरीर से होनेवाले पाप हैं । इन सबका परित्याग कर देना उचित है ।

असत्प्रलापं पारुष्यं पैशुन्यमनृतं तथा ।
चत्वारि वाचा राजेन्द्र न जल्पेन्नानुचिन्तयेत् ।।७।।

व्यर्थ बोलना, कठोर बोलना, चुगली करना और झूठ बोलना—ये चार वाणी से होनेवाले पाप हैं। राजेन्द्र ! इन्हें न तो कभी जिह्वा पर लाना चाहिए और न मन में ही सोचना चाहिए ।

अनभिध्या परस्वेषु सर्वसत्त्वेषु सौहृदम् ।
कर्मणां फलमस्तीति त्रिविधं मनसा चरेत् ।।८।।

दूसरों के धन को हड़पने की बात न सोचना, सब प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव रखना और 'कर्मों का फल अवश्य मिलता है', इस बात पर विश्वास रखना—ये तीन मन से करनेयोग्य कार्य हैं। इन्हें सदा करना चाहिए । [इनके विपरीत दूसरों के धन की प्राप्ति का लोभ, प्राणियों के प्रति वैर-भावना और कर्मफल पर अविश्वास—ये तीन मानसिक पाप हैं—इनसे सदा बचना चाहिए]।

तस्माद् वाक्कायमनसा नाचरेदशुभं नरः।
शुभाशुभान्याचरन् हि तस्य तस्याश्नुते फलम् ।।९।।

मनुष्य का कर्तव्य है कि मन, वाणी और शरीर से कभी अशुभ कर्म न करे, क्योंकि वह शुभ या अशुभ जैसा कर्म करता है, उसका वैसा ही फल उसे भोगना पड़ता है ।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि षष्ठोऽध्यायः ।।६।।

सप्तमोऽध्यायः

युधिष्ठिर के विविध प्रश्नों का उत्तर नरक और स्वर्गगामी पुरुषों के चिह्न

युधिष्ठिर उवाच

अनेकान्तं बहुद्वारं धर्ममाहुर्मनीषिणः ।
किं निमित्तं भवेदत्र तन्मे ब्रूहि पितामह ।।१।।

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! विद्वानों का कहना है कि धर्म के साधन और फल अनेक प्रकार के हैं । पात्र के कौन-कौन-से गुण उसकी दानपात्रता में कारण होते हैं—यह मुझे बताइए—

भीष्म उवाच

अहिंसा सत्यमक्रोध आनृशंस्यं दमस्तथा ।
आर्जवं चैव राजेन्द्र निश्चितं धर्मलक्षणम् ।।२।।

भीष्मजी बोले—हे राजेन्द्र ! अहिंसा, सत्य, अक्रोध, कोमलता, इन्द्रियसंयम और सरलता—ये धर्म के निश्चित लक्षण हैं ।

ये तु धर्मं प्रशंसन्तश्चरन्ति पृथिवीमिमाम् ।
अनाचरन्तस्तद् धर्मं संकरेऽभिरताः प्रभो ।।३।।

राजन् ! जो लोग इस पृथिवी पर धर्म की प्रशंसा करते हुए विचरते हैं, परन्तु स्वयं उस धर्म का आचरण नहीं करते, वे ढोंगी हैं और धर्मसंकरता फैलाने में लगे हैं ।

तेभ्यो हिरण्यं रत्नं वा गामश्वं वा ददाति यः ।
दश वर्षाणि विष्ठां स भुङ्क्ते निरयमास्थितः ।।४।।

ऐसे लोगों को जो सुवर्ण, रत्न, गौ अथवा घोड़े

आदि वस्तुओं का दान करता है, वह नरक में पड़कर दस वर्ष तक विष्ठा खाता है।

युधिष्ठिर उवाच

किं परं ब्रह्मचर्यस्य किं परं धर्मलक्षणम्।
किं च श्रेष्ठतरं शौचं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥५॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह! ब्रह्मचर्य से उत्तम क्या है? धर्म का सबसे श्रेष्ठ लक्षण क्या है? सर्वोत्तम पवित्रता किसे कहते हैं? यह सब मुझे बताइए।

भीष्म उवाच

ब्रह्मचर्यात् परं तात मधुमांसस्य वर्जनम्।
मर्यादायां स्थितो धर्मः शमश्चैवास्य लक्षणम् ॥६॥

भीष्मजी बोले—हे तात! मांस और मदिरा [अथवा शहद] का परित्याग ब्रह्मचर्य से भी श्रेष्ठ है—वही उत्तम ब्रह्मचर्य है। वेदोक्त मर्यादा में स्थिर रहना सबसे श्रेष्ठ धर्म है और मन तथा इन्द्रियों को वश में रखना ही सर्वोत्तम पवित्रता है।

युधिष्ठिर उवाच

कस्मिन् काले चरेद् धर्मं कस्मिन् कालेऽर्थमाचरेत्।
कस्मिन् काले सुखी च स्यात् तन्मे ब्रूहि पितामह ॥७॥

युधिष्ठिर ने पूछा—हे पितामह! मनुष्य किस समय धर्म का आचरण करे? कब धनोपार्जन में लगे और किस समय सुख-भोग में प्रवृत्त हो—यह मुझे बताइए।

भीष्म उवाच

काल्यमर्थं निषेवेत ततो धर्ममनन्तरम्।
पश्चात्कामं निषेवेत न च गच्छेत् प्रसङ्गिताम् ॥८॥

भीष्मजी ने कहा—राजन्! पूर्वाह्ण में धन का उपार्जन करना चाहिए, तत्पश्चात् धर्म का और उसके बाद काम का सेवन करे परन्तु काम में आसक्त न हो।

ब्राह्मणांश्चैव मन्येत गुरूंश्चाप्यभिपूजयेत्।
सर्वभूतानुलोमश्च मृदुशीलः प्रियंवदः ॥९॥

मनुष्य को चाहिए कि ब्राह्मणों का सम्मान करे, गुरुजनों की सेवा-सुश्रूषा में संलग्न रहे, सब प्राणियों के अनुकूल रहे, नम्रता का बर्ताव करे और सबसे मीठे वचन बोले।

अधिकारे यदनृतं यच्च राजसु पैशुनम्।
गुरोश्चालीककरणं तुल्यं तद् ब्रह्महत्यया ॥१०॥

न्याय का अधिकार पाकर झूठा निर्णय देना, राजाओं के पास किसी की चुगली करना और गुरु के साथ कपटपूर्ण बर्ताव करना—ये तीन ब्रह्महत्या के समान पाप हैं।

नाग्निं परित्यजेज्जातु न च वेदान् परित्यजेत्।
न च ब्राह्मणमाक्रोशेत् समं तद् ब्रह्महत्यया ॥११॥

यज्ञ=अग्निहोत्र का कभी त्याग न करे, वेदों का स्वाध्याय न छोड़े तथा ब्राह्मण की निन्दा न करे—क्योंकि ये तीनों दोष ब्रह्महत्या के समान हैं।

युधिष्ठिर उवाच

कीदृशाः साधवो विप्राः केभ्यो दत्तं महाफलम्।
कीदृशानां च भोक्तव्यं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥१२॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह! कैसे ब्राह्मणों को श्रेष्ठ समझना चाहिए? किनको दिया हुआ दान महान् फल देनेवाला होता है और कैसे ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए—यह मुझे बताइए।

भीष्म उवाच

अक्रोधना धर्मपराः सत्यनित्या दमे रताः।
तादृशाः साधवो विप्रास्तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥१३॥

भीष्मजी बोले—राजन्! जो क्रोधरहित, धर्मपरायण, सत्यवादी और इन्द्रियसंयम में तत्पर हैं, ऐसे ब्राह्मणों को श्रेष्ठ समझना चाहिए और उन्हीं को दान देने से महान् फल की प्राप्ति होती है [अतः उन्हीं को भोजन कराना चाहिए]।

अमानिनः सर्वसहा दृढार्था विजितेन्द्रियाः।
सर्वभूतहिता मैत्रास्तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥१४॥

जो अभिमानरहित हैं, जो सब-कुछ सह लेते हैं, जिनके विचार दृढ़ हैं, जो जितेन्द्रिय, सब प्राणियों के हित में तत्पर और सबके प्रति मैत्रीभाव रखनेवाले हैं, उनको दिया हुआ दान महान् फल देनेवाला होता है।

अलुब्धाः शुचयो वैद्या ह्रीमन्तः सत्यवादिनः।
स्वकर्मनिरता ये च तेभ्यो दत्तं महाफलम् ॥१५॥

जो निर्लोभ, पवित्र, विद्वान्, लज्जाशील, सत्य बोलनेवाले तथा अपने कर्तव्य का पालन करनेवाले

हैं, उनको दिया हुआ दान महान् फलदायक होता है।

साङ्गाँश्च चतुरो वेदानधीते यो द्विजर्षभः।
षड्भ्यः प्रवृत्तः कर्मभ्यस्तं पात्रमृषयो विदुः ॥१६॥

जो श्रेष्ठ ब्राह्मण अङ्गोंसहित चारों वेदों का अध्ययन करता और ब्राह्मणोचित छह कर्मों [अध्ययन-अध्यापन, यज्ञ करना-कराना और दान देना तथा लेना] में प्रवृत्त रहता है, उसे ऋषि लोग दान का उत्तम पात्र समझते हैं।

चारित्रनिरता राजन् ये कृशाः कृशवृत्तयः।
अर्थिनश्चोपगच्छन्ति तेषु दत्तं महाफलम् ॥१७॥

हे राजन्! जो सदाचारपरायण हों, जिनकी जीविका का साधन नष्ट हो गया हो, अतः भोजन न मिलने के कारण जो अत्यन्त दुर्बल हो गये हों—ऐसे लोग यदि याचक बनकर दाता के पास आएँ तो उन्हें दिया हुआ दान महान् फलदायक होता है।

तस्करेभ्यः परेभ्यो वा ये भयार्ता युधिष्ठिर।
अर्थिनो भोक्तुमिच्छन्ति तेषु दत्तं महाफलम् ॥१८॥

युधिष्ठिर! चोरों और शत्रुओं के भय से पीड़ित होकर आये हुए जो याचक केवल भोजन चाहते हैं, उन्हें दिया दान महान् फलदायक होता है।

महाफलविधिर्दाने श्रुतस्ते भरतर्षभ।
निरयं येन गच्छन्ति स्वर्गं चैव हि तच्छृणु ॥१९॥

भरतश्रेष्ठ! किनको दान देने से महान् फल की प्राप्ति होती है, यह विषय तुमने सुन लिया। अब जिन कर्मों से मनुष्य नरक या स्वर्ग में जाते हैं, उन्हें सुनो।

परदाराभिहर्तारः परदाराभिमर्शिनः।
परदारप्रयोक्तारस्ते वै निरयगामिनः ॥२०॥

दूसरों की स्त्री का अपहरण करनेवाले, पर-स्त्री का सतीत्व नष्ट करनेवाले तथा दूत बनकर पर-स्त्री को दूसरों से मिलानेवाले—निश्चय ही नरक में जाते हैं।

ये परस्वापहर्त्तारः परस्वानां च नाशकाः।
सूचकाश्च परेषां ये ते वै निरयगामिनः ॥२१॥

जो दूसरों के धन को हड़पनेवाले तथा नष्ट करनेवाले हैं और जो दूसरों की चुगली खानेवाले हैं, उन्हें निश्चय ही नरक में गिरना पड़ता है।

अनाथां प्रमदां बालां वृद्धां भीतां तपस्विनीम्।
वञ्चयन्ति नरा ये च ते वै निरयगामिनः ॥२२॥

जो लोग अनाथ, वृद्धा, तरुणी, बालिका, भयभीत और तपस्विनी स्त्रियों को धोखे में डालते हैं, वे निश्चय ही घोर नरक में गिरते हैं।

वृत्तिच्छेदं गृहच्छेदं दारच्छेदं च भारत।
मित्रच्छेदं तथाऽऽशायास्ते वै निरयगामिनः ॥२३॥

भरतनन्दन! दूसरों की जीविका नष्ट करनेवाले, घर उजाड़नेवाले, पति-पत्नी को पृथक् करनेवाले, मित्रों में विरोध उत्पन्न करनेवाले और किसी की आशा को भङ्ग करनेवाले मनुष्य निश्चय ही नरक में जाते हैं।

उपाध्यायाँश्च भृत्याँश्च भक्ताँश्च भरतर्षभ।
ये त्यजन्त्यविकाराँस्त्रींस्ते वै निरयगामिनः ॥२४॥

भरतभूषण! जो अध्यापक, सेवक और अपने भक्त—इन तीनों को बिना किसी अपराध के ही त्याग देते हैं, उन्हें भी नरक में ही गिरना पड़ता है।

बालानामथ वृद्धानां दासानां चैव ये नराः।
अदत्त्वा भक्षयन्त्यग्रे ते वै निरयगामिनः ॥२५॥

जो बालकों, वृद्धों और सेवकों को दिये बिना ही पहले स्वयं भोजन कर लेते हैं, वे भी निःसन्देह नरक में पड़ते हैं।

दानेन तपसा चैव सत्येन च युधिष्ठिर।
ये धर्ममनुवर्तन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः ॥२६॥

युधिष्ठिर! जो मनुष्य दान, तप और सत्य के द्वारा धर्म का अनुष्ठान करते हैं, वे मनुष्य स्वर्ग में जाते हैं।

भयात्पापात्तथा बाधाद् दारिद्र्याद् व्याधिधर्षणात्।
यत्कृते प्रतिमुच्यन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः ॥२

जिनके प्रयत्न से मनुष्य भय, पाप, बाधा, दरिद्रता और व्याधिजनित पीड़ा से छुटकारा पा जाते हैं, वे लोग स्वर्ग में जाते हैं।

क्षमावन्तश्च धीराश्च धर्मकार्येषु चोत्थिताः।
मङ्गलाचारसम्पन्नाः पुरुषाः स्वर्गगामिनः ॥२८॥

जो क्षमाशील, धैर्यशाली, धर्मकार्य के लिए तत्प

रहनेवाले और श्रेष्ठ आचार से सम्पन्न हैं, ऐसे मनुष्य स्वर्ग में प्रवेश करते हैं ।

निवृत्ता मधुमांसेभ्यः परदारेभ्य एव च ।
निवृत्ताश्चैव मद्येभ्यस्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥२९॥

जो मद्य, मांस, परस्त्री-संसर्ग और मादक द्रव्यों से दूर रहते हैं, वे स्वर्गगामी होते हैं ।

वस्त्राभरणदातारो भक्तपानान्नदास्तथा ।
कुटम्बानां च दातारः पुरुषा स्वर्गगामिनः ॥३०॥

जो वस्त्र, आभूषण, भोजन, पानी तथा अन्न दान करते हैं और अन्य परिवारों की वृद्धि में सहायक होते हैं, वे स्वर्ग में जाते हैं ।

सर्वहिंसानिवृत्ताश्च नराः सर्वसहाश्च ये ।
सर्वस्याश्रयभूताश्च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥३१॥

जो सब प्रकार की हिंसाओं से दूर रहते हैं, सबकुछ सहते हैं और सबको आश्रय प्रदान करते हैं, वे मनुष्य स्वर्ग में जाते हैं ।

मातरं पितरं चैव शुश्रूषन्ति जितेन्द्रियाः ।
भ्रातॄणां चैव सस्नेहास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥३२॥

जो जितेन्द्रिय होकर माता-पिता की सेवा करते हैं और भाइयों पर स्नेह रखते हैं, वे जन स्वर्ग में निवास करते हैं ।

आढ्याश्च बलवन्तश्च यौवनस्थाश्च भारत ।
ये वै जितेन्द्रिया धीरास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥३३॥

भरतनन्दन ! जो धनी, बलशाली और नवयौवन से युक्त होने पर भी अपनी इन्द्रियों को वश में रखते हैं, वे धीरपुरुष स्वर्ग में प्रवेश करते हैं ।

अपराधिषु सस्नेहा मृदवो मृदुवत्सलाः ।
आराधनसुखाश्चापि पुरुषाः स्वर्गगामिनः ॥३४॥

जो अपराधियों के प्रति दयालु, कोमल स्वभाव और मृदु स्वभाववाले व्यक्तियों पर प्रेम करते हैं और जिन्हें दूसरों की सेवा में सुख मिलता है, वे मनुष्य स्वर्ग में जाते हैं ।

सहस्रपरिवेष्टारस्तथैव च सहस्रदाः ।
त्रातारश्च सहस्राणां ते नराः स्वर्गगामिनः ॥३५॥

जो लोग सहस्रों मनुष्यों को भोजन परोसते, सहस्रों को दान देते और सहस्रों की रक्षा करते हैं, वे स्वर्गगामी होते हैं ।

विहारावसथोद्यानकूपारामसभाप्रपाः ।
वप्राणां चैव कर्तारस्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥३६॥

जो दूसरों के लिए आश्रम, गृह, उद्यान, कूप, बगीचा, धर्मशाला, प्याऊ तथा चहारदीवारी बनवाते हैं, वे लोग स्वर्ग में जाते हैं ।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अष्टमोऽध्यायः

ब्रह्महत्या के समान पापों का निरूपण

युधिष्ठिर उवाच

इदं मे तत्त्वतो राजन् वक्तुमर्हसि भारत ।
अहिंसयित्वापि कथं ब्रह्महत्या विधीयते ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—भरतवंशी नरेश ! ब्राह्मण की हिंसा न करने पर भी मनुष्य को ब्रह्महत्या का पाप कैसे लगता है, यह आप मुझे ठीक-ठीक बताने की कृपा करें ।

भीष्म उवाच

ब्राह्मणं स्वयमाहूय भिक्षार्थे कृशवृत्तिनम् ।
ब्रूयान्नास्तीति यः पश्चात्तं विद्याद् ब्रह्मघातिनम् ॥२॥

भीष्मजी ने कहा—राजन् ! जिसकी जीविकावृत्ति नष्ट हो गई हो, ऐसे ब्राह्मण को भिक्षा देने के लिए स्वयं बुलाकर जो बाद में भिक्षा नहीं देता, उसे ब्रह्महत्यारा जानना चाहिए ।

मध्यस्थस्येह विप्रस्य योऽनूचानस्य भारत ।
वृत्तिं हरति दुर्बुद्धिस्तं विद्याद् ब्रह्मघातिनम् ॥३॥

भरतनन्दन ! जो दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य तटस्थ रहनेवाले विद्वान् ब्राह्मण की आजीविका छीन लेता है, उसे ब्रह्महत्यारा जानो ।

गोकुलस्य तृषार्तस्य जलार्थे वसुधाधिप ।
उत्पादयति यो विघ्नं तं विद्याद् ब्रह्मघातिनम् ॥४॥

पृथिवीनाथ ! जो प्यास से पीड़ित हुई गौओं के

पानी पीने में विघ्न डालता है, उसे भी ब्रह्महत्यारा जानना चाहिए।

यः प्रवृत्तां श्रुतिं सम्यक् शास्त्रं वा मुनिभिः कृतम्।
दूषयत्यनभिज्ञाय तं विद्याद् ब्रह्मघातिनम् ॥५॥

जो मनुष्य श्रेष्ठ कर्मों का विधान करनेवाले वेदों और ऋषिप्रणीत शास्त्रों पर बिन समझे-बूझे वृथा दोषारोपण करता है, उसे ब्रह्महत्यारा समझना चाहिए।

आत्मजां रूपसम्पन्नां महतीं सदृशे वरे।
न प्रयच्छति यः कन्यां तं विद्याद् ब्रह्मघातिनम् ॥६॥

जो अपनी रूपवती कन्या की बड़ी अवस्था हो जाने पर भी उसके योग्य वर के साथ विवाह नहीं करता, उसे ब्रह्मघाती समझना चाहिए।

अधर्मनिरतो मूढो मिथ्या यो वै द्विजातिषु।
दद्यान्मर्मातिगं शोकं तं विद्याद् ब्रह्मघातिनम् ॥७॥

जो पापपरायण मूर्ख मनुष्य ब्राह्मणों को अकारण ही मर्मभेदी शोक प्रदान करता है, उसे ब्रह्महत्यारा जानो।

चक्षुषा विप्रहीनस्य पंगुलस्य जडस्य वा।
हरते यो वै सर्वस्वं तं विद्याद् ब्रह्मघातिनम् ॥८॥

जो अन्धे, लूले और गूंगे मनुष्यों का सर्वस्व हर लेता है, उसे ब्रह्महत्यारा जानना चाहिए।

आश्रमे वा वने वापि ग्रामे वा यदि वा पुरे।
अग्निं समुत्सृजेन्मोहात्तं विद्याद् ब्रह्मघातिनम् ॥९॥

जो मोहवश आश्रम, वन, गाँव अथवा नगर में आग लगा देता है, उसे ब्रह्महत्यारा समझना चाहिए।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि अष्टमोऽध्यायः ॥८॥

नवमोऽध्यायः

पूजनीय पुरुषों के लक्षण और उनके आदर-सत्कार का फल

युधिष्ठिर उवाच

के पूज्या वै त्रिलोकेऽस्मिन् मानवा भरतर्षभ।
विस्तरेण तदाचक्ष्व न हि तृप्यामि कथ्यतः ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—भरतश्रेष्ठ ! तीनों लोकों में कौन-कौन-से मनुष्य पूज्य होते हैं—यह विस्तार-पूर्वक बताइए। आपकी बातें सुनते-सुनते मुझे तृप्ति नहीं होती है।

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
नारदस्य च संवादं वासुदेवस्य चोभयोः ॥२॥

भीष्मजी बोले—युधिष्ठिर ! विज्ञ पुरुष इस विषय में देवर्षि नारद और श्रीकृष्ण के संवादरूप निम्न इतिहास का उदाहरण दिया करते हैं।

नारदं प्राञ्जलिं दृष्ट्वा पूजयानं द्विजर्षभान्।
केशवः परिपप्रच्छ भगवन् कान् नमस्यसि ॥३॥

पहले कभी देवर्षि नारद को उत्तम ब्राह्मणों की पूजा करते हुए देखकर श्रीकृष्ण ने पूछा—"भगवन् ! आप किनको नमस्कार कर रहे हैं ?"

नारद उवाच

शृणु गोविन्द यानेतान् पूजयाम्यरिमर्दन।
त्वत्तोऽन्यः कः पुमाँल्लोके श्रोतुमेतदिहार्हति ॥४॥

नारदजी बोले—शत्रुमर्दन गोविन्द ! मैं जिनका पूजन करता हूँ, उनका परिचय सुनने के लिए इस संसार में आपसे बढ़कर दूसरा कौन पुरुष अधिकारी है !

तपोधनान् वेदविदो नित्यं वेदपरायणान्।
महार्हान् वृष्णिशार्दूल सदा सम्पूजयाम्यहम् ॥५॥

वृष्णिसिंह ! तपस्या ही जिनका धन है, जो वेदों के ज्ञाता तथा वेदोक्त धर्म का ही आश्रय लेनेवाले हैं, उन परमपूजनीय पुरुषों की ही मैं सदा वन्दन करता हूँ।

अभुक्त्वा देवकार्याणि कुर्वते येऽविकत्थनाः।
सन्तुष्टाश्च क्षमायुक्तास्तान् नमस्याम्यहं विभो ॥६॥

प्रभो ! जो सन्ध्या-यज्ञ के पश्चात् भोजन करते हैं, अपनी झूठी बड़ाई नहीं करते, सन्तुष्ट रहते और क्षमाशील होते हैं, मैं उनको प्रणाम करता हूँ।

सम्यग्यजन्ति ये चेष्टीः क्षान्ता दान्ता जितेन्द्रियाः ।
सत्यं धर्मं क्षितिं गाश्च तान् नमस्यामि यादव ।।७।।

यदुनन्दन ! जो विधिपूर्वक यज्ञों का अनुष्ठान करते हैं, जो क्षमाशील, जितेन्द्रिय तथा मन को वश में करनेवाले हैं, जो सत्य, धर्म, पृथिवी तथा गौओं की पूजा करते हैं, मैं उनको प्रणाम करता हूँ।

ये वै तपसि वर्तन्ते वने मूलफलाशनाः ।
असंचयाः क्रियावन्तस्तान् नमस्यामि यादव ।।८।।

यादव ! जो लोग वन में फल-मूल खाकर तपस्या में लगे रहते हैं, किसी प्रकार का संग्रह नहीं रखते और क्रियानिष्ठ होते हैं, मैं उन्हीं की पूजा करता हूँ।

ये भृत्यभरणे शक्ताः सततं चातिथिव्रताः ।
भुञ्जते देवशेषाणि तान् नमस्यामि यादव ।।९।।

जो सेवकों के पालन-पोषण में समर्थ हैं, जिन्होंने सदा अतिथि-सेवा का व्रत लिया हुआ है और जो देवयज्ञ से बचे हुए अन्न का ही भोजन करते हैं, मैं उन्हीं को मस्तक झुकाता हूँ ।

ये वेदं प्राप्य दुर्धर्षा वाग्मिनो ब्रह्मचारिणः ।
याजनाध्यापने युक्ता नित्यं तान् पूजयाम्यहम् ।।१०।।

जो वेद का स्वाध्याय करके दुर्धर्ष और बोलने में कुशल हो गये हैं, जो ब्रह्मचर्य का पालन, यज्ञ कराने और वेद पढ़ाने में लगे रहते हैं, मैं सदा उन्हीं की वन्दना करता हूँ ।

भैक्ष्यचर्यासु निरताः कृशा गुरुकुलाश्रयाः ।
निःसुखा निर्धना ये तु तान् नमस्यामि यादव ।।११।।

यदुकुलश्रेष्ठ ! जो गुरुकुल में रहकर भिक्षा से जीवन-निवाह करते हैं, तप करने के कारण जिनका शरीर निर्बल हो गया है और जो कभी धन तथा सुख की परवाह नहीं करते, मैं उनको प्रणाम करता हूँ ।

अहिंसानिरता ये च ये च सत्यव्रता नराः ।
दान्ताः शमपराश्चैव तान् नमस्यामि केशव ।।१२।।

जो अहिंसा में तत्पर हैं, जिन्होंने सदा सत्यभाषण का व्रत ले रखा है, जो इन्द्रिय-संयम और मनोनिग्रह की साधना में संलग्न रहते हैं, मैं उनको नमस्कार करता हूँ ।

देवतातिथिपूजायां युक्ता ये गृहमेधिनः ।
कपोतवृत्तयो नित्यं तान् नमस्यामि यादव ।।१३।।

यादव ! जो गृहस्थाश्रमी ब्राह्मण सदा कपोत-[सञ्चयहीन]-वृत्ति से रहते हुए देवता और अतिथियों की पूजा में संलग्न रहते हैं, मैं उनका अभिवादन करता हूँ ।

ब्राह्मणाः श्रुतिसम्पन्ना ये त्रिवर्गमनुष्ठिताः ।
अलोलुपाः पुण्यशीलास्तान् नमस्यामि केशव ।।१४।।

केशव ! जो ब्राह्मण वेद-शास्त्रों के ज्ञान से सम्पन्न, धर्म, अर्थ और काम का सेवन करनेवाले, लोलुपता से रहित और स्वभावतः पुण्यात्मा हैं, मैं उन्हें प्रणाम करता हूँ ।

तस्मात्त्वमपि वार्ष्णेय द्विजान् पूजय नित्यदा ।
पूजिताः पूजनार्हा हि सुखं दास्यन्ति तेऽनघ ।।१५।।

वार्ष्णेय ! आप भी सदा ब्राह्मणों की पूजा करो । निष्पाप कृष्ण ! वे पूजनीय ब्राह्मण सत्कृत होने पर आपको अपने आशीर्वाद से सुख प्रदान करेंगे ।

ये सर्वातिथयो नित्यं गोषु च ब्राह्मणेषु च ।
नित्यं सत्ये चाभिरता दुर्गाण्यतितरन्ति ते ।।१६।।

जो सबका आतिथ्य करते तथा गौ, ब्राह्मण और सत्य पर प्रेम रखते हैं, वे बड़े-बड़े संकटों से पार हो जाते हैं ।

नित्यं शमपरा ये च तथा ये चानसूयकाः ।
नित्यस्वाध्यायिनो ये च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ।।१७।।

जो सदा मन को वश में रखते, किसी के दोष पर दृष्टि नहीं डालते और प्रतिदिन स्वाध्याय में लगे रहते हैं, वे भीषण संकटों से पार हो जाते हैं ।

सर्वान् देवान् नमस्यन्ति ये चैकं देवमाश्रिताः ।
श्रद्दधानाश्च दान्ताश्च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ।।१८।।

जो सब विद्वानों को प्रणाम करते हैं, एकमात्र प्रभु का आश्रय लेते हैं, जो श्रद्धायुक्त और मन व इन्द्रियों को वश में रखते हैं, वे भी दुस्तर संकटों से छूट जाते हैं ।

तपस्विनश्च ये नित्यं कौमारब्रह्मचारिणः ।
तपसा भावितात्मानो दुर्गाण्यतितरन्ति ते ।।१९।।

जो तपस्वी, बालब्रह्मचारी और तपस्या से शुद्ध अन्तःकरणवाले हैं, वे महान् संकटों से पार हो जाते हैं ।

देवतातिथिभृत्यानां पितॄणां चार्चने रताः ।
शिष्टान्नभोजिनो ये च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥२०॥

जो विद्वान्, अतिथि, नौकर-चाकर तथा माता-पिता आदि के पूजन में तत्पर रहते हैं और यज्ञ-शिष्ट अन्न का भोजन करते हैं, वे भी भीषण कष्टों से पार हो जाते हैं ।

अग्निमाधाय विधिवत् प्रयता धारयन्ति ये ।
प्राप्ताः सोमाहुतिं चैव दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥२१॥

जो विधिपूर्वक अग्नि की स्थापना करके प्रतिदिन यज्ञ करते हुए प्रयत्नपूर्वक उस अग्नि की रक्षा करते हैं और उसमें सोमरस की आहुति देते हैं, वे महान् दुःखों से पार हो जाते हैं ।

गुरुषु मातृपित्रोश्च सम्यग्वर्तन्ति ये सदा ।
यथा त्वं वृष्णिशार्दूलेत्युक्त्वैवं विरराम सः ॥२२॥

वृष्णिसिंह ! जो आपकी ही भाँति माता-पिता और गुरु के प्रति ठीक-ठीक बर्ताव करते हैं, वे भी संकटों से पार हो जाते हैं । ऐसा कहकर नारदजी चुप हो गये ।

भीष्म उवाच

तस्मात्त्वमपि कौन्तेय पितृदेवद्विजातिथीन् ।
सम्यक् पूजय येन त्वं गतिमिष्टामवाप्स्यसि ॥२३॥

भीष्मजी कहते हैं—कुन्तीनन्दन ! यदि तुम भी सदा माता-पिता, विद्वान्, ब्राह्मण और अतिथियों का आदर-सत्कार करोगे तो अभीष्ट गति को प्राप्त कर लोगे ।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि नवमोऽध्यायः ॥९॥

दशमोऽध्यायः

शरणागत की रक्षा का फल, वृषदर्भ द्वारा शरणागत कपोत की रक्षा

युधिष्ठिर उवाच

शरणागतं ये रक्षन्ति भूतग्रामं चतुर्विधम् ।
किं तस्य भरतश्रेष्ठ फलं भवति तत्त्वतः ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—भरतश्रेष्ठ ! जो लोग शरण में आये हुए उद्भिज, अण्डज, स्वेदज और जरायुज—इन चार प्रकार के प्राणियों की रक्षा करते हैं, उन्हें क्या फल मिलता है, मुझे यह बताने की कृपा कीजिए ।

भीष्म उवाच

इदं शृणु महाप्राज्ञ धर्मपुत्र महायशः ।
इतिहासं पुरावृत्तं शरणार्थं महाफलम् ॥२॥

भीष्मजी बोले—महाबुद्धिमन् ! महायशस्वी धर्मपुत्र युधिष्ठिर ! शरणागत की रक्षा करने से जो महान् फल प्राप्त होता है, इस विषय में तुम यह प्राचीन इतिहास सुनो ।

प्रपात्यमानः श्येनेन कपोतः प्रियदर्शनः ।
वृषदर्भं महाभागं नरेन्द्रं शरणं गतः ॥३॥

एक बार कोई सुन्दर कबूतर किसी बाज से पीड़ित होकर महाभाग राजा वृषदर्भ [उशीनर] की शरण में गया ।

स तं दृष्ट्वा विशुद्धात्मा त्रासादङ्कमुपागतम् ।
आश्वास्याश्वसिहीत्याह न तेऽस्ति भयमण्डज ॥४॥

भय के कारण अपनी गोद में आकर पड़े हुए उस कबूतर को देखकर शुद्ध अन्तःकरणवाले राजा उशीनर ने उस पक्षी को सान्त्वना प्रदान करते हुए कहा—'हे अण्डज ! शान्त रह । यहाँ तुझे कोई भय नहीं है ।

भयं ते सुमहत् कस्मात् कुत्र किं वा कृतं त्वया ।
येन त्वमिह सम्प्राप्तो विसंज्ञो भ्रान्तचेतनः ॥५॥

'बता, तुझे यह महान् भय कहाँ और किससे प्राप्त हुआ है ? तूने क्या अपराध किया है जिससे तेरी चेतना भ्रान्त-सी हो रही है और तू बेसुध-सा होकर यहाँ आया है ?

मत्सकाशमनुप्राप्तं न त्वां कश्चित् समुत्सहेत् ।
मनसा ग्रहणं कर्तुं रक्षाध्यक्षपुरस्कृतम् ॥६॥

'अब तू मेरे पास आ गया है, अतः रक्षाध्यक्ष के सामने है । यहाँ तुझे कोई मन से भी पकड़ने का साहस नहीं कर सकता ।

काशिराज्यं तदद्यैव त्वदर्थं जीवितं तथा।
त्यजेयं भव विश्रब्धः कपोत न भयं तव ।।७।।

'कबूतर ! आज ही मैं तेरी रक्षा के लिए यह काशी देश का राज्य और अपना जीवन भी न्योछावर कर दूंगा । तू इस बात पर विश्वास करके निश्चिन्त हो जा । अब तुझे कोई भय नहीं है ।'

श्येन उवाच

ममैतद् विहितं भक्ष्यं न राजंस्त्रातुमर्हसि ।
अतिक्रान्तं च प्राप्तं च प्रयत्नाच्चोपपादितम् ।।८।।

बाज बोला—राजन् ! विधाता ने इस कबूतर को मेरा भोजन नियत किया है । आप इसकी रक्षा न करें । इसका जीवन समाप्त ही है, क्योंकि अब यह मुझे मिल गया है । इसे मैंने बहुत प्रयत्न करके पाया है ।

मासं च रुधिरं चास्य मज्जा मेदश्च मे हितम् ।
परितोषकरो ह्येष मम मास्याग्रतो भव ।।९।।

राजन् ! इसका रक्त, मांस, मेद और मज्जा सभी मेरे लिए हितकर हैं । यह कबूतर मेरी क्षुधा मिटाकर मुझे पूर्णतः तृप्त कर देगा, अतः आप मेरे आहार के आगे आकर विघ्न मत डालिए ।

तृष्णा मे बाधतेऽत्युग्रा क्षुधा निर्दहतीव माम् ।
मुञ्चैनं न हि शक्ष्यामि राजन् मन्दयितुं क्षुधाम् ।।१०।।

मुझे बड़े जोर की प्यास लगी है और भूख की ज्वाला मुझे जला-सी रही है । राजन् ! इसे छोड़ दीजिए । मैं अपनी भूख की ज्वाला को नहीं दबा सकूंगा ।

यदि स्वविषये राजन् प्रभुस्त्वं रक्षणे नृणाम् ।
खेचरस्य तृषार्तस्य न त्वं प्रभुरथोत्तम ।।११।।

श्रेष्ठ नरेश्वर ! अपने देश में रहनेवाले मनुष्यों की रक्षा के लिए ही आपको राजा बनाया गया है, भूख-प्यास से पीड़ित पक्षी के आप स्वामी नहीं हैं ।

यदि वैरिषु भृत्येषु स्वजनव्यवहारयोः ।
विषयेष्विन्द्रियाणां च आकाशे मा पराक्रम ।।१२।।

यदि आपमें शक्ति है तो वैरियों, सेवकों, स्वजनों, वादी-प्रतिवादी के व्यवहारों तथा इन्द्रियों के विषयों पर पराक्रम प्रकट कीजिए । आकाश में रहनेवालों पर अपने बल का प्रयोग न कीजिए ।

प्रभुत्वं हि पराक्रम्य सम्यक् पक्षहरेषु ते ।
यदि त्वमिह धर्मार्थी मामपि द्रष्टुमर्हसि ।।१३।।

जो लोग आपकी आज्ञा भङ्ग करनेवाले शत्रु-कोटि के अन्तर्गत हैं, उनपर पराक्रम करके अपनी प्रभुता प्रकट करना आपके लिए उचित हो सकता है । यदि आप धर्मोपार्जन की दृष्टि से कबूतर की रक्षा करते हो तो मुझ भूखे पक्षी पर भी आपको दृष्टि डालनी चाहिए ।

राजोवाच

गोवृषो वा वराहो वा मृगो वा महिषोऽपि वा ।
त्वदर्थमद्य क्रियतां क्षुधाप्रशमनाय ते ।।१४।।

राजा ने कहा—बाज ! तुम चाहो तो तुम्हारी भूख मिटाने के लिए आज तुम्हारे भोजन के निमित्त बैल, भैंसा, सूअर अथवा मृग प्रस्तुत कर दिया जाए।

शरणागतं न त्यजेयमिति मे व्रतमाहितम् ।
न मुञ्चति ममाङ्गानि द्विजोऽयं पश्य वै द्विज ।।१५।।

हे पक्षिराज ! मैं शरणागत का त्याग नहीं कर सकता—यह मेरा व्रत है । देखो, यह पक्षी भय के मारे मेरे अङ्गों को नहीं छोड़ रहा है ।

श्येन उवाच

न वराहं न चोक्षाणं न चान्यान्विविधान्द्विजान् ।
भक्षयामि महाराज किमन्याद्येन तेन मे ।।१६।।

बाज बोला—राजन् ! मैं न तो सूअर, न बैल और न दूसरे ही नाना प्रकार के पक्षियों का मांस खाऊँगा । जो दूसरों का भोजन है, उसे लेकर मैं क्या करूंगा ?

यस्तु मे विहितो भक्ष्यः स्वयं देवैः सनातनः ।
श्येनाः कपोतान् खादन्ति स्थितिरेषा सनातनी ।।१७।।

साक्षात् देवताओं ने सनातनकाल से मेरे लिए जो भोजन निश्चित कर दिया है, वही मुझे मिलना चाहिए । प्राचीनकाल से लोग इस बात को जानते हैं कि कि बाज कबूतरों को खाते हैं ।

उशीनर कपोते तु यदि स्नेहस्तवानघ ।
ततस्त्वं मे प्रयच्छाद्य स्वमांसं तुलया धृतम् ।।१८।।

निष्पाप महाराज उशीनर ! यदि आपको इस कबूतर के साथ प्रेम है तो आप मुझे इसके बराबर अपना ही मांस तराजू पर तोलकर दे दीजिए ।

राजोवाच

महाननुग्रहो मेऽद्य यस्त्वमेवमिहात्थ माम् ।
बाढमेवं करिष्यामीत्युक्त्वासौ राजसत्तमः ॥१९॥
उत्कृत्योत्कृत्य मांसानि तुलया समतोलयत् ।
स राजा पार्श्वतश्चैव बाहुभ्यामूरुतश्च यत् ॥२०॥
तानि मांसानि संछिद्य तुलां पूरयतेऽशनैः ।
तथापि न समस्तेन कपोतेन बभूव ह ॥२१॥

राजा ने कहा—'बाज ! तुमने ऐसी बात कहकर मुझपर बड़ा अनुग्रह किया है । बहुत अच्छा, मैं ऐसा ही करूँगा ।' यह कहकर नृपश्रेष्ठ उशीनर ने अपना मांस काट-काटकर तराजू पर रखना आरम्भ किया । राजा अपनी पसलियों, भुजाओं और जाँघों से मांस काट-काटकर जल्दी-जल्दी तराजू भरने लगे परन्तु वह मांस-राशि उस कबूतर के बराबर नहीं हुई ।

अस्थिभूतो यदा राजा निर्मांसो रुधिरस्रवः ।
तुलां ततः समारूढः स्वं मांसक्षयमुत्सृजन् ॥२२॥

जब राजा के शरीर का मांस समाप्त हो गया और रक्त की धारा बहाता हुआ केवल हड्डियों का ढाँचा रह गया, तब वे मांस काटने का काम बन्द करके स्वयं ही तराजू पर चढ़ गये ।

भीष्म उवाच

स राजर्षिर्गतः स्वर्गं कर्मणा तेन शाश्वतम् ।
शरणागतेषु चैवं त्वं कुरु सर्वं युधिष्ठिर ॥२३॥
भक्तानामनुरक्तानामाश्रितानां च रक्षिता ।
दयावान् सर्वभूतेषु परत्र सुखमेधते ॥२४॥

भीष्मजी कहते हैं—राजर्षि उशीनर ने उस पुण्यकर्म के प्रभाव से सनातन स्वर्गलोक को प्राप्त किया । युधिष्ठिर ! तुम भी शरणागतों के लिए इसी प्रकार अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दो । जो मनुष्य अपने भक्त, प्रेमी और शरणागत पुरुषों की रक्षा करता है तथा सब प्राणियों पर दया करता है, वह परलोक में सुख पाता है ।

साधुवृत्तो हि यो राजा सद्वृत्तमनुतिष्ठति ।
किं न प्राप्तं भवेत् तेन स्वव्याजेनेह कर्मणा ॥२५॥

जो राजा सदाचारी होकर सबके साथ उत्तम व्यवहार करता है, वह अपने निश्छल कर्म से क्या-कुछ प्राप्त नहीं कर लेता, अर्थात् सबकुछ प्राप्त कर लेता है ।

स राजर्षिर्विशुद्धात्मा धीरः सत्यपराक्रमः ।
काशीनामीश्वरः ख्यातस्त्रिषु लोकेषु कर्मणा ॥२६॥

सत्यपराक्रमी, धीर, शुद्ध हृदयवाले काशीराज राजर्षि उशीनर अपने पुण्य कर्म से तीनों लोकों में प्रसिद्ध हो गये ।

योऽप्यन्यः कारयेदेवं शरणागतरक्षणम् ।
सोऽपि गच्छेत तामेव गतिं भरतसत्तम ॥२७॥

भरतश्रेष्ठ ! यदि अन्य कोई भी मनुष्य इस प्रकार शरणागत की रक्षा करेगा तो वह भी उसी गति को प्राप्त करेगा ।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि दशमोऽध्यायः ॥१०॥

एकादशोऽध्यायः

दानपात्र की परीक्षा

युधिष्ठिर उवाच

अपूर्वश्च भवेत् पात्रमथवापि चिरोषितः ।
दूरादभ्यागतं चापि किं पात्रं स्यात् पितामह ॥१॥

युधिष्ठिरजी ने पूछा—पितामह ! अपरिचित पुरुष अथवा बहुत समय तक अपने साथ रहा हुआ मनुष्य या किसी दूर देश से आया हुआ व्यक्ति—इनमें से दान का उत्तम पात्र किसे समझना चाहिए ?

भीष्म उवाच

क्रिया भवति केषांचिदुपांशुव्रतमुत्तमम् ।
यो यो याचेत यत् किञ्चित् सर्वं दद्याम इत्यपि ॥२॥

भीष्मजी बोले—युधिष्ठिर ! कितने ही याचकों का तो यज्ञ अथवा परिवार का पालन-पोषण आदि कार्य ही मनोरथ होता है और किन्हीं का मौनव्रती रहकर निर्वाह करना प्रयोजन होता है । इनमें से

जो-जो याचक जिस किसी वस्तु की याचना करे, उन सबके लिए यही कहना चाहिए—'हम देंगे' अर्थात् किसी को निराश न करे।

अपीडयन् भृत्यवर्गमित्येवमनुशुश्रुम ।
पीडयन् भृत्यवर्गं हि आत्मानमपकर्षति ॥३॥

हमने सुना है कि 'जिनके पालन-पोषण का अपने ऊपर भार है, उस समुदाय को कष्ट दिये बिना ही दाता को दान देना चाहिए।' जो पोष्य-वर्ग को कष्ट देकर या उन्हें भूखा रखकर दान करता है, वह अपने-आपको नीचे गिराता है।

अपूर्वं भावयेत् पात्रं यच्चापि स्याच्चिरोषितम् ।
दूरादभ्यागतं चापि तत्पात्रं च विदुर्बुधाः ॥४॥

इस दृष्टि से विचार करने पर जो पूर्व-परिचित नहीं है अथवा जो चिरकाल तक साथ रह चुका है या जो दूर देश से आया हुआ है—इन तीनों को ही विद्वान् लोग दानपात्र समझते हैं।

युधिष्ठिर उवाच

अपीडया च भूतानां धर्मस्याहिंसया तथा ।
पात्रं विद्यात्तु तत्त्वेन यस्मै दत्तं न संतपेत् ॥५॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह! किसी प्राणी को पीड़ा न पहुँचाई जाए और धर्म में भी बाधा न आने पाए, इस प्रकार दान देना उचित है, परन्तु सच्चे पात्र=अधिकारी की पहचान कैसे हो जिससे दिया हुआ दान पीछे सन्ताप का कारण न बने?

भीष्म उवाच

ऋत्विक्पुरोहिताचार्याः शिष्यसम्बन्धिबान्धवाः ।
सर्वे पूज्याश्च मान्याश्च श्रुतवन्तोऽनसूयकाः ॥६॥

भीष्मजी बोले—राजन्! ऋत्विक्, पुरोहित, आचार्य, शिष्य, सम्बन्धी, बान्धव, विद्वान् और दोष-दृष्टि से रहित मनुष्य—ये सभी पूजनीय और माननीय हैं।

अतोऽन्यथा वर्तमानाः सर्वे नार्हन्ति सत्क्रियाम् ।
तस्मान्नित्यं परीक्षेत पुरुषान् प्रणिधाय वै ॥७॥

इनसे भिन्न प्रकार के तथा भिन्न व्यवहारवाले जो मनुष्य हैं, वे सब सत्कार के पात्र नहीं हैं, अतः एकाग्रचित्त होकर प्रतिदिन सुपात्र पुरुष की परीक्षा करनी चाहिए।

अक्रोधः सत्यवचनमहिंसा दम आर्जवम् ।
अद्रोहोऽनभिमानश्च ह्रीस्तितिक्षा दमः शमः ॥८॥
यस्मिन्नेतानि दृश्यन्ते न चाकार्याणि भारत ।
स्वभावतो निविष्टानि तत्पात्रं मानमर्हति ॥९॥

भरतनन्दन! क्रोध का अभाव, सत्यभाषण, अहिंसा, इन्द्रिय-संयम, सरलता, निर्वैरता, अभिमान-शून्यता, लज्जा, सहनशीलता, दम और मनोनिग्रह—ये गुण जिसमें स्वभावतः दिखाई दें और धर्मविरुद्ध कार्य दृष्टिगोचर न हों—वे ही दान के उत्तमपात्र और सम्मान के अधिकारी हैं।

तथा चिरोषितं चापि सम्प्रत्यागतमेव च ।
अपूर्वं चैव पूर्वं च तत्पात्रं मानमर्हति ॥१०॥

जो व्यक्ति बहुत दिनों तक अपने साथ रहा हो और जो कहीं से तत्काल आया हो, वह पूर्वपरिचित हो या अपरिचित, वह दान का पात्र और सम्मान का अधिकारी है।

अप्रामाण्यं च वेदानां शास्त्राणां चाभिलंघनम् ।
अव्यवस्था च सर्वत्र एतन्नाशनमात्मनः ॥११॥

वेदों को अप्रामाणिक मानना, शास्त्र की आज्ञा का उल्लंघन करना तथा सर्वत्र अव्यवस्था फैलाना—ये सब अपना ही नाश करनेवाले हैं।

सर्वाभिशङ्की मूढश्च बालः कटुकवागपि ।
बोद्धव्यस्तादृशस्तात नरं श्वानं हि तं विदुः ॥१२॥

जो सबपर सन्देह करता है, जो बालकों और मूर्खों जैसा व्यवहार करता है तथा कड़वे वचन बोलता है, तात! विद्वान् लोगों ने ऐसे मनुष्यों को कुत्ता माना है।

यथा श्वा भषितुं चैव हन्तुं चैवावसज्जते ।
एवं सम्भाषणार्थाय सर्वशास्त्रवधाय च ॥१३॥

जैसे कुत्ता भौंकने और काटने के लिए निकट आ जाता है, उसी प्रकार वह बहस करने और सब शास्त्रों का खण्डन करने के लिए इधर-उधर दौड़ता-फिरता है [ऐसा व्यक्ति दान का अधिकारी नहीं है।]

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि एकादशोऽध्यायः ॥११॥

द्वादशोऽध्यायः

कन्या-विवाह के सम्बन्ध में पात्रविषयक-विचार और नारी-सम्मान का महत्त्व

युधिष्ठिर उवाच

यन्मूलं सर्वधर्माणां स्वजनस्य गृहस्य च ।
कीदृशस्य प्रदेया स्यात् कन्येति वसुधाधिप ।।१।।

युधिष्ठिर ने पूछा—पृथिवीनाथ ! जो समस्त धर्मों की, कुटुम्बीजनों की और घर की मूल है, उस कन्या को कैसे पात्र को देना चाहिए ?

भीष्म उवाच

शीलवृत्ते समाज्ञाय विद्यां योनिं च कर्म च ।
सद्भिरेवं प्रदातव्या कन्या गुणयुते वरे ।।२।।

भीष्मजी बोले—पुत्र ! सत्पुरुषों को चाहिए कि वे पहले वर के शील-स्वभाव, सदाचार, विद्या, कुल, मर्यादा और कार्यों की जाँच करें। यदि वह सभी दृष्टियों से गुणवान् प्रतीत हो तो उसे कन्या प्रदान करें।

ब्राह्मणानां सतामेष ब्राह्मो धर्मो युधिष्ठिर ।
आवाह्यमावहेदेवं यो दद्यादनुकूलतः ।।३।।
शिष्टानां क्षत्रियाणां च धर्म एष सनातनः ।
आत्माभिप्रेतमुत्सृज्य कन्याभिप्रेत एव यः ।।४।।
अभिप्रेता च या यस्य तस्मै देया युधिष्ठिर ।
गान्धर्वमिति तं धर्मं प्राहुर्वेदविदो जनाः ।।५।।

युधिष्ठिर ! विवाह करने योग्य वर को बुलाकर उसके साथ कन्या का विवाह करना उत्तम ब्राह्मणों का धर्म [ब्राह्मविवाह] है। जो धनादि के द्वारा वर-पक्ष को अपने अनुकूल करके कन्यादान किया जाता है, वह शिष्ट ब्राह्मण और क्षत्रियों का सनातनधर्म [प्राजापत्य विवाह] कहा जाता है। युधिष्ठिर ! जब कन्या के माता-पिता द्वारा पसन्द किये हुए वर को छोड़कर जिसे कन्या पसन्द करती हो तथा जो कन्या को चाहता हो, ऐसे वर के साथ कन्या के विवाह को वेदवेत्ता गान्धर्वधर्म [गान्धर्व विवाह] कहते हैं।

धनेन बहुधा क्रीत्वा सम्प्रलोभ्य च बान्धवान् ।
असुराणां नृपैतं वै धर्ममाहुर्मनीषिणः ।।६।।

राजन् ! कन्या के बन्धु-बान्धवों को लोभ में डालकर, उन्हें बहुत-सा धन देकर जो कन्या को खरीद लिया जाता है, इसे मनीषी लोग असुरों का धर्म [आसुर विवाह] कहते हैं।

हत्वा छित्त्वा च शीर्षाणि रुदतां रुदतीं गृहात् ।
प्रसह्य हरणं तात राक्षसो विधिरुच्यते ।।७।।

तात ! कन्या के रोते हुए अभिभावकों को मारकर, उनके मस्तक काटकर रोती हुई कन्या को उसके घर से बलपूर्वक अपहरण कर लेना राक्षसों का काम [राक्षस विवाह] कहलाता है।

पञ्चानां तु त्रयो धर्म्या द्वावधर्म्यौ युधिष्ठिर ।
पैशाचश्चासुरश्चैव न कर्तव्यौ कथञ्चन ।।८।।

युधिष्ठिर ! इन पाँच [ब्राह्म, प्राजापत्य, गान्धर्व, आसुर और राक्षस] विवाहों में से पूर्वकथित तीन विवाह धर्मानुकूल हैं और शेष दो धर्मविरुद्ध हैं। आसुर और राक्षस-विवाह किसी प्रकार भी नहीं करने चाहिए।

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः ।
इत्येतामनुगच्छेत तं धर्मं मनुरब्रवीत् ।।९।।

जो कन्या माता की सपिण्ड और पिता के गो की न हो, उसी कन्या से विवाह करे, इसे मनुजी धर्मानुकूल बताया है।

अनुकूलामनुवंशां भ्रात्रा दत्तामुपाग्निकाम् ।
परिक्रम्य यथान्यायं भार्यां विन्देद् द्विजोत्तमः ।।१०

जो अनुकूल हो, अपने वंश के अनुरूप हो, उ माता-पिता अथवा भाई के द्वारा दी गई हो प्रज्वलित अग्नि के समीप बैठी हो, ऐसी पत्नी द्विजश्रेष्ठ अग्नि की परिक्रमा करके शास्त्रविधि अनुसार ग्रहण करे।

पितृभिर्भ्रातृभिश्चापि श्वशुरैरथ देवरैः ।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ।।१

बहुविध कल्याण की कामना रखनेवाले पि भाई, श्वशुर और देवरों को उचित है कि वे ब का वस्त्राभूषणों द्वारा सत्कार करें।

यदि वै स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत् ।
अप्रमोदात् पुनः पुंसः प्रजनो न प्रवर्धते ॥१२॥

यदि स्त्री की रुचि पूर्ण न की जाए तो वह अपने पति को प्रसन्न नहीं कर सकती, और मनुष्य के अप्रसन्न रहने से उसकी सन्तानवृद्धि नहीं हो सकती ।

स्त्रियो यत्र च पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
अपूजितास्च यत्रैताः सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥१३॥

जहाँ स्त्रियों का आदर-सत्कार होता है, वहाँ देवता=विद्वान् लोग प्रसन्नतापूर्वक निवास करते हैं और जहाँ इनका अपमान होता है, वहाँ की सारी क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं ।

तदा चैतत् कुलं नास्ति यदा शोचन्ति जामयः ।
जामिशप्तानि गेहानि श्रिया हीनानि पार्थिव ॥१४॥

पृथिवीनाथ ! जब कुल की बहू-बेटियाँ दुःख मिलने के कारण शोकमग्न होती हैं, तब उस कुल का नाश हो जाता है । वे खिन्न होकर जिन घरों को शाप देती हैं, वे घर श्री से हीन हो जाते हैं ।

अबलाः स्वल्पकौपीनाः सुहृदः सत्यजिष्णवः ।
विदेहराजदुहिता चात्र श्लोकमगायत ॥१५॥
नास्ति यज्ञक्रिया काचिन्न श्राद्धं नोपवासकम् ।
धर्मः स्वभर्तृशुश्रूषा तया स्वर्गं जयन्त्युत ॥१६॥

स्त्रियाँ अबला, थोड़े वस्त्रों से काम चलानेवाली, अकारण हितसाधन करनेवाली और सत्यपरायणा होती हैं । विदेहराज जनक की पुत्री ने [स्त्रियों के कर्तव्य के विषय में] एक श्लोक का गान किया है, जिसका भाव है—स्त्री के लिए पृथक् से कोई यज्ञ आदि कर्म, श्राद्ध और उपवास करना आवश्यक नहीं है । उसका धर्म है अपने पति की सेवा । उसी से स्त्रियाँ स्वर्गलोक पर विजय पा लेती हैं ।

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने ।
पुत्राश्च स्थाविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥१७॥

कुमारावस्था में स्त्री की रक्षा उसका पिता करता है, यौवन में पति उसका रक्षक होता है और बुढ़ापे में पुत्र उसकी रक्षा करते हैं, अतः नारी को कभी स्वतन्त्र नहीं रहना चाहिए ।

श्रिय एताः स्त्रियो नाम सत्कार्या भूतिमिच्छता ।
पालिता निगृहीता च स्त्री श्रीर्भवति भारत ॥१८॥

भरतकुमार ! स्त्रियाँ ही घर की लक्ष्मी हैं । ऐश्वर्य और उन्नति चाहनेवाले मनुष्य को उनका भली-भाँति सत्कार करना चाहिए । अपने वश में रखकर उनका पालन करने से स्त्री श्री=लक्ष्मीरूप बन जाती है ।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

त्रयोदशोऽध्यायः

गो-महिमा के प्रसङ्ग में च्यवन मुनि का उपाख्यान

युधिष्ठिर उवाच

दर्शने कीदृशः स्नेहः संवासे च पितामह ।
महाभाग्यं गवां चैव तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! किसी का दर्शन करने और उसके साथ रहने पर कैसा स्नेह होता है तथा गौओं का माहात्म्य क्या है ? आप यह सब मुझे बताने की कृपा करें ।

भीष्म उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि पुरावृत्तं महाद्युते ।
नहुषस्य च संवादं महर्षेश्च्यवनस्य च ॥२॥

भीष्मजी बोले—महातेजस्वी राजन् ! इस विषय में मैं तुम्हें महर्षि च्यवन और राजा नहुष का संवाद-रूप प्राचीन इतिहास सुनाता हूँ ।

पुरा महर्षिश्च्यवनो भार्गवो भरतर्षभ ।
उदवासकृतारम्भो बभूव स महाव्रतः ॥३॥

भरतश्रेष्ठ ! प्राचीनकाल की बात है, भृगु के पुत्र महर्षि च्यवन ने महान् व्रत का आश्रय लेकर जल के भीतर रहना आरम्भ किया ।

तत्र तस्यासतः कालः समतीतोऽभवन्महान् ।
ततः कदाचित् समये कस्मिंश्चिन्मत्स्यजीविनः ॥४॥
तं देशं समुपाजग्मुर्जालहस्ता महाद्युते ।
निषादा बहवस्तत्र मत्स्योद्धरणनिश्चयाः ॥५॥

महातेजस्वी नरेश ! महर्षि च्यवन को पानी में रहते हुए बहुत समय व्यतीत हो गया। तदनन्तर एक दिन मछलियों से निर्वाह चलानेवाले बहुत-से मल्लाह मछली पकड़ने का निश्चय करके जाल हाथ में लिये हुए उस स्थान पर आये।

जालं ते योजयामासुर्निःशेषेण जमाधिप।
मत्स्योदकं समासाद्य तदा भरतसत्तम ॥६॥

भरतवंशशिरोमणि राजन् ! उस समय जहाँ मछलियाँ रहती थीं, उतने गहरे जल में उतरकर उन्होंने अपने जाल को पूर्णरूप से फैला दिया।

ततस्ते मत्स्यकांक्षिणो जालं चकृषिरे तदा।
बबन्धुस्तत्र मत्स्यांश्च तथान्यान् जलचारिणः ॥७॥

फिर मछली-प्राप्ति के इच्छुक उन निषादों ने जाल को खींचना आरम्भ किया। उस जाल में उन्होंने मछलियों के साथ ही दूसरे जल-जन्तुओं को भी बाँध लिया था।

तथा मत्स्यैः परिवृतं च्यवनं भृगुनन्दनम्।
आकर्षयन्महाराज जालेनाथ यदृच्छया ॥८॥

महाराज ! जाल खींचते समय केवटों ने दैवेच्छा से उस जाल के द्वारा मछलियों से घिरे हुए भृगु के पुत्र महर्षि च्यवन को भी खींच लिया।

तं जालेनोद्धृतं दृष्ट्वा ते तदा वेदपारगम्।
सर्वे प्राञ्जलयो दाशाः शिरोभिः प्रापतन् भुवि ॥९॥

वेदों के महान् विद्वान् महर्षि को जाल के साथ खिंचा देख सभी मल्लाह हाथ जोड़ मस्तक झुका पृथिवी पर लेट गये।

परिखेदपरित्रासाज्जालस्याकर्षणेन च।
मत्स्या बभूवुर्व्यापन्नाः स्थलसंस्पर्शनेन च ॥१०॥
स मुनिस्तत्तदा दृष्ट्वा मत्स्यानां कदनं कृतम्।
बभूव कृपयाविष्टो निःश्वसंश्च पुनः पुनः ॥११॥

उधर जाल के खींचे जाने के कष्ट, भय और भूमि का स्पर्श होने के कारण बहुत-सी मछलियाँ मारी गईं। मुनि ने जब मत्स्यों का यह विनाश देखा तब वे दयार्द्र हो गये और बारम्बार लम्बे-लम्बे श्वास छोड़ने लगे।

निषादा ऊचुः

अज्ञानाद् यत् कृतं पापं प्रसादं तत्र नः कुरु।
करवाम प्रियं किं ते तन्नो ब्रूहि महामुने ॥१२॥

निषाद बोले—महामुने ! हमसे अज्ञानवश जो पाप हो गया है, उसके लिए आप हमें क्षमा कर दें और हमपर प्रसन्न हों। साथ ही यह भी बताएं कि हम आपका कौन-सा प्रिय कार्य करें ?

भीष्म उवाच

इत्युक्तो मत्स्यमध्यस्थश्च्यवनो वाक्यमब्रवीत्।
यो मेऽद्य परमः कामस्तं शृणुध्वं समाहिताः ॥१३॥

भीष्मजी बोले—मल्लाहों के ऐसा कहने पर मछलियों के बीच में बैठे हुए महर्षि च्यवन ने कहा—"निषादो ! इस समय जो मेरी सबसे बड़ी इच्छा है, उसे ध्यानपूर्वक सुनो !

प्राणोत्सर्गं विसर्गं वा मत्स्यैर्यास्याम्यहं सह।
संवासान्नोत्सहे त्यक्तुं सलिलेऽध्युषितानहम् ॥१४॥

"मैं इन मछलियों के साथ ही अपने प्राणों का त्याग या रक्षण करूँगा। ये मेरे सहवासी रहे हैं। मैं बहुत समय तक इनके साथ जल में रहा हूं, अतः मैं इन्हें त्याग नहीं सकता।"

इत्युक्तास्ते निषादास्तु सुभृशं भयकम्पिताः।
सर्वे विवर्णवदना नहुषाय न्यवेदयन् ॥१५॥

मुनि की यह बात सुनकर मल्लाह अत्यन्त भयभीत होकर थर-थर काँपने लगे। उन सबके मुख का रंग फीका पड़ गया और उसी अवस्था में उन्होंने राजा नहुष के पास जाकर सारा वृत्तान्त कह सुनाया।

नहुषस्तु ततः श्रुत्वा च्यवनं तं तथागतम्।
त्वरितः प्रययौ तत्र सहामात्यपुरोहितः ॥१६॥

राजन् ! महर्षि च्यवन को ऐसी दशा में अपने नगर के निकट आया जान राजा नहुष अपने पुरोहित और मन्त्रियों को साथ लेकर शीघ्र वहाँ आ पहुँचे।

शौचं कृत्वा यथान्यायं प्राञ्जलिः प्रयतो नृपः।
आत्मानमाचचक्षे च च्यवनाय महात्मने ॥१७॥

उन्होंने पवित्रभाव से हाथ जोड़कर मन को एकाग्र रखते हुए न्यायोचित रीति से महर्षि च्यवन को अपना परिचय दिया। फिर—

नहुष उवाच

करवाणि प्रियं किं ते तन्मे ब्रूहि द्विजोत्तम।
सर्वं कर्तास्मि भगवन् यद्यपि स्यात्सुदुष्करम् ॥१८॥

राजा नहुष बोले—द्विजश्रेष्ठ ! बताइए, मैं आपका कौन-सा प्रिय कार्य करूँ ? भगवन् ! कितना ही कठिन कार्य क्यों न हो, आपकी आज्ञा से मैं उसे अवश्य पूरा करूँगा ।

च्यवन उवाच

**श्रमेण महता युक्ताः कैवर्ता मत्स्यजीविनः ।
मम मूल्यं प्रयच्छैभ्यो मत्स्यानां विक्रयैः सह ॥१९॥**

महर्षि च्यवन ने कहा—राजन् ! मछलियों से जीवन-निर्वाह करनेवाले इन मल्लाहों ने आज परिश्रम से मुझे अपने जाल में फँसाकर निकाला है, अतः आप इन्हें इन मछलियों के साथ-साथ मेरा भी मूल्य चुका दीजिए ।

नहुष उवाच

**सहस्रं दीयतां मूल्यं निषादेभ्यः पुरोहित ।
निष्क्रयार्थं भगवतो यथाऽऽह भृगुनन्दनः ॥२०॥**

नहुष बोले—पुरोहितजी ! भृगुनन्दन महर्षि च्यवन जैसी आज्ञा दे रहे हैं, उसके अनुसार इन पूजनीय महर्षि के मूल्य के रूप में मल्लाहों को एक सहस्र सुवर्ण मुद्राएँ [गिन्नियाँ] दे दीजिए ।

च्यवन उवाच

**सहस्रं नाहमर्हामि किं वा त्वं मन्यसे नृप ।
सदृशं दीयतां मूल्यं स्वबुद्धया निश्चयं कुरु ॥२१॥**

च्यवन ने कहा—राजन् ! मैं एक सहस्र मुद्राओं पर बेचने योग्य नहीं हूँ । क्या आप मेरा इतना ही मूल्य समझते हैं ? मेरे योग्य मूल्य दीजिए और वह मूल्य कितना होना चाहिए—यह अपनी बुद्धि से विचारकर निश्चित कीजिए ।

नहुष उवाच

**सहस्राणां शतं विप्र निषादेभ्यः प्रदीयताम् ।
स्यादिदं भगवन् मूल्यं किं वान्यन्मन्यते भवान् ॥२२॥**

नहुष बोले—विप्रवर ! इन निषादों को एक लाख मुद्रा दे दीजिए । भगवन् ! क्या यह आपका उचित मूल्य हो सकता है अथवा आप अपना क्या मूल्य समझते हैं ?

च्यवन उवाच

**नाहं शतसहस्रेण निमेयः पार्थिवर्षभ ।
दीयतां सदृशं मूल्यममात्यैः सह चिन्तय ॥२३॥**

च्यवन बोले—नृपश्रेष्ठ ! मुझे एक लाख मुद्राओं में मत बेचिए । मेरा उचित मूल्य चुकाइए । इस विषय में आप अपने मन्त्रियों के साथ विचार-विमर्श कीजिए ।

नहुष उवाच

**कोटिः प्रदीयतां मूल्यं निषादेभ्यः पुरोहित ।
यदेतदपि नो मूल्यमतो भूयः प्रदीयताम् ॥२४॥**

नहुष ने कहा—पुरोहितजी ! आप इन निषादों को एक करोड़ सुवर्ण मुद्राएँ मूल्य के रूप में दीजिए और यदि यह भी ठीक न हो तो और अधिक दीजिए ।

च्यवन उवाच

**राजन् नार्हाम्यहं कोटिं भूयो वापि महाद्युते ।
सदृशं दीयतां मूल्यं ब्राह्मणैः सह चिन्तय ॥२५॥**

च्यवन बोले—महातेजस्वी नृप ! मैं एक करोड़ अथवा उससे भी अधिक मुद्राओं में बेचने योग्य नहीं हूँ । मेरा उचित मूल्य चुकाइए और इस विषय में ब्राह्मणों के साथ परामर्श कीजिए ।

नहुष उवाच

**अर्धं राज्यं समग्रं वा निषादेभ्यः प्रदीयताम् ।
एतन्मूल्यमहं मन्ये किं वान्यन्मन्यसे द्विज ॥२६॥**

नहुष बोले—ब्रह्मन् ! यदि ऐसी बात है तो इन मल्लाहों को मेरा आधा या सारा राज्य प्रदान कर दिया जाए । इसे ही मैं आपका उचित मूल्य समझता हूँ । आप इसके अतिरिक्त और क्या चाहते हैं ?

च्यवन उवाच

**अर्धं राज्यं समग्रं च मूल्यं नार्हामि पार्थिव ।
सदृशं दीयतां मूल्यमृषिभिः सह चिन्त्यताम् ॥२७॥**

च्यवन ने कहा—राजन् ! आपका आधा या सारा राज्य भी मेरा उचित मूल्य नहीं है । आप उचित मूल्य दीजिए और इस विषय में ऋषियों के साथ परामर्श कीजिए ।

भीष्म उवाच

**महर्षेर्वचनं श्रुत्वा नहुषो दुःखकर्षितः ।
स चिन्तयामास तदा सहामात्यपुरोहितः ॥२८॥**

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! महर्षि का यह वचन सुन राजा नहुष दुःखी हो गये और मन्त्री तथा पुरोहित के साथ इस विषय में परामर्श करने लगे ।

तत्र त्वन्यो वनचरः कश्चिन्मूलफलाशनः ।
नहुषस्य समीपस्थः सोऽब्रवीद् द्विजसत्तमः ॥२९॥

इतने ही में फल-मूल भक्षण करनेवाले कोई वनवासी विप्रवर राजा नहुष के पास आये और उन्हें सम्बोधित करके कहने लगे—

तोषयिष्याम्यहं क्षिप्रं यथा तुष्टो भविष्यसि ।
भवतो यदहं ब्रूयां तत्कार्यमविशङ्कया ॥३०॥

"राजन् ! ये मुनि किस प्रकार सन्तुष्ट होंगे—इस रहस्य को मैं जानता हूँ । मैं इन्हें शीघ्र सन्तुष्ट कर दूँगा । मैं आपसे जो कहूँ आप निःसंकोच होकर वैसा ही कीजिए ।

अनर्घेया महाराज द्विजा वर्णेषु चोत्तमाः ।
गावश्च पुरुषव्याघ्र गौर्मूल्यं परिकल्प्यताम् ॥३१॥

"पुरुषसिंह ! ब्राह्मण सब वर्णों में उत्तम हैं और गौएँ भी । इन दोनों का कोई मूल्य नहीं लगाया जा सकता, अतः आप इन मुनि के मूल्य में एक गौ प्रदान कर दीजिए ।"

नहुषस्तु ततः श्रुत्वा महर्षेर्वचनं नृप ।
हर्षेण महता युक्तः सहामात्यपुरोहितः ॥३२॥

राजन् ! महर्षि का यह वचन सुनकर मन्त्री और पुरोहितसहित राजा नहुष को महती प्रसन्नता हुई ।

अभिगम्य भृगोः पुत्रं च्यवनं संशितव्रतम् ।
इदं प्रोवाच नृपते वाचा सन्तर्पयन्निव ॥३३॥

नरेश्वर ! राजा नहुष कठोर व्रत का पालन करनेवाले भृगुपुत्र महर्षि च्यवन के पास जाकर उन्हें अपनी वाणी द्वारा तृप्त करते हुए-से बोले—

नहुष उवाच

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ विप्रर्षे गवा क्रीतोऽसि भार्गव ।
एतन्मूल्यमहं मन्ये तव धर्मभृतां वर ॥३४॥

नहुष ने कहा—धर्मात्माओं में श्रेष्ठ ! भृगुनन्दन ! मैंने एक गौ देकर आपको खरीद लिया है, अतः उठिए, उठिए । मैं यही आपका उचित मूल्य समझता हूँ ।

च्यवन उवाच

उत्तिष्ठाम्येष राजेन्द्र सम्यक् क्रीतोऽस्मि तेऽनघ ।
गोभिस्तुल्यं न पश्यामि धनं किंचिदिहाच्युत ॥३५॥

च्यवन बोले—निष्पाप नरेश ! अब मैं उठता हूँ । आपने उचित मूल्य देकर मुझे खरीदा है । मर्याद से च्युत न होनेवाले राजन् ! मैं इस संसार में गौओं के समान दूसरा कोई धन नहीं देखता ।

कीर्तनं श्रवणं दानं दर्शनं चापि पार्थिव ।
गवां प्रशस्यते वीर सर्वदोषहरं शिवम् ॥३६॥

वीर भूपाल ! गौओं के गुणों का कीर्तन तथा श्रवण करना, गौओं का दान देना और उनका दर्शन करना—इनकी शास्त्रों में बड़ी प्रशंसा गाई गई है । गौ के दुग्ध आदि का सेवन सभी शारीरिक दोषों को दूर करके कल्याण करनेवाला है ।

गावो लक्ष्म्याः सदा मूलं गोषु पाप्मा न विद्यते ।
अन्नमेव सदा गावो देवानां परमं हविः ॥३७॥

गौएँ सदा ही ऐश्वर्य का मूल हैं । उनमें पाप क लेश भी नहीं है । गौएँ ही सदा मनुष्यों को अन्न और देवताओं को हविष्य देनेवाली हैं ।

स्वाहाकारवषट्कारौ गोषु नित्यं प्रतिष्ठितौ ।
गावो यज्ञस्य नेत्र्यो वै तथा यज्ञस्य ता मुखम् ॥३८

स्वाहा और वषट्कार सदा गौओं में ही प्रतिष्ठि होते हैं । गौएँ ही यज्ञ का सञ्चालन करनेवाली त उसका मुख हैं ।

अमृतं ह्यव्ययं दिव्यं क्षरन्ति च वहन्ति च ।
अमृतायतनं चैताः सर्वलोकनमस्कृताः ॥३९॥

गौएँ विकाररहित दिव्य अमृत धारण करती हैं और दुहने पर अमृत ही प्रदान करती हैं । वे अमृत क केन्द्र हैं । सारा संसार उनके आगे सिर झुकाता है

निविष्टं गोकुलं यत्र श्वासं मुञ्चति निर्भयम् ।
विराजयति तं देशं पापं चास्यापकर्षति ॥४०

गौओं का समुदाय जहाँ बैठकर निर्भयतापूर्व श्वास लेता है, उस स्थान की शोभा बढ़ा देता है औ वहाँ के सारे दोषों को खींच लेता है ।

गावः स्वर्गस्य सोपानं गावः स्वर्गेऽपि पूजिताः ।
गावः कामदुहो देव्यो नान्यत्किंचित्परं स्मृतम् ॥४१

गौएं स्वर्ग की सीढ़ी हैं । गौओं की स्वर्ग में पूजा होती है । गौएँ समस्त कामनाओं को करनेवाली देवियाँ हैं, उनसे बढ़कर दूसरा नहीं है ।

मातरः सर्वभूतानां गावः सर्वसुखप्रदाः ।
वृद्धिमाकांक्षता नित्यं गावः कार्याः प्रदक्षिणाः ।।४२।।

गौएँ सम्पूर्ण प्राणियों की माता कहलाती हैं । वे सबको सुख देनेवाली हैं । जिसे अपनी उन्नति और वृद्धि की इच्छा हो उसे गौओं का सम्मान करना चाहिए ।

सन्ताड्या न तु पादेन गवां मध्ये न च व्रजेत् ।
मङ्गलायतनं देव्यस्तस्मात् पूज्याः सदैव हि ।।४३।।

गौओं को लात न मारे । उनके बीच से होकर न निकले । वे मङ्गल की आधारभूत देवियाँ हैं, अतः उनकी सदा ही पूजा करनी चाहिए ।

कल्मषं गुरुशुश्रूषा हन्ति मानो महद् यशः ।
अपुत्रतां त्रयः पुत्रा अवृत्तिं दश धेनवः ।।४४।।

गुरुजनों की सेवा सारे पापों को नष्ट कर देती है । अभिमान महान् यश को नष्ट कर देता है । तीन पुत्र पुत्रहीनता के दोष को दूर कर देते हैं और दूध देनेवाली दस गौएँ जीविका के अभाव को दूर कर देती हैं ।

इत्येतद् गोषु मे प्रोक्तं माहात्म्यं भरतर्षभ ।
गुणैकदेशवचनं शक्यं पारायणं न तु ।।४५।।

भरतश्रेष्ठ ! यह मैंने गौओं का माहात्म्य बताया है । इसमें उनके गुणों का दिग्दर्शनमात्र कराया गया है । गौओं के सम्पूर्ण गुणों का वर्णन तो कोई कर ही नहीं सकता ।

निषादा ऊचुः

दर्शनं कथनं चैव सहास्माभिः कृतं मुने ।
सतां साप्तपदं मैत्रं प्रसादं नः कुरु प्रभो ।।४६।।

निषाद बोले—मुने ! सज्जनों के साथ सात पग चलनेमात्र से मित्रता हो जाती है । हमने तो आपका दर्शन किया तथा हमारे साथ आपका वार्तालाप भी हुआ, अतः प्रभो ! हम लोगों पर कृपा कीजिए ।

प्रसादयामहे विद्वन् भवन्तं प्रणता वयम् ।
अनुग्रहार्थमस्माकमियं गौः प्रतिगृह्यताम् ।।४७।।

विद्वन् ! हम आपके चरणों में सिर झुकाकर आपको प्रसन्न करना चाहते हैं । आप हम लोगों पर अनुग्रह करने के लिए हमारी दी हुई यह गौ स्वीकार कीजिए ।

च्यवन उवाच

प्रतिगृह्णामि वो धेनुं कैवर्ता मुक्तकिल्बिषाः ।
गृहं गच्छत वै क्षिप्रं मत्स्यैर्जालोद्धृतैः सह ।।४८।।

च्यवन बोले—हे मल्लाहो ! मैं तुम्हारी दी हुई गौ को स्वीकार करता हूँ । तुम दोष से मुक्त हो गये । अब जाल में पकड़ी हुई मछलियों के साथ शीघ्र घर जाओ ।

भीष्म उवाच

एतत्ते कथितं तात यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
दर्शने यादृशः स्नेहः संवासे वा युधिष्ठिर ।।४९।।

भीष्मजी ने कहा—हे तात युधिष्ठिर ! तुम्हारे प्रश्न के अनुसार मैंने यह सारा वृत्तान्त सुनाया है कि दर्शन और सहवास से कैसा स्नेह होता है ।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि त्रयोदशोऽध्यायः ।।१३।।

चतुर्दशोऽध्यायः

विविध प्रकार के तप और दानों का फल

युधिष्ठिर उवाच

मुह्यामीव निशम्याद्य चिन्तयानः पुनः पुनः ।
हीनां पार्थिवसंघातैः श्रीमद्भिः पृथिवीमिमाम् ।।१।।

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! इस पृथिवी को जब मैं सम्पत्तिशाली नरेशों से रहित देखता हूँ, तब मैं भारी चिन्ता में पड़कर बारम्बार मूर्च्छित-सा होने लगता हूँ ।

वयं हि तान् कुरून् हत्वा ज्ञातींश्च सुहृदोऽपि वा ।
अवाक्शीर्षा पतिष्यामो नरके नात्र संशयः ।।२।।

अपने ही पारिवारिक जन कौरवों तथा अन्य सुहृदों का वध करके हम नीचा मुँह किये हुए नरक में गिरेंगे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ।

शरीरं योक्तुमिच्छामि तपसोग्रेण भारत ।
उपविष्टमिहेच्छामि तत्त्वतोऽहं विशाम्पते ।।३।।

भारत ! प्रजानाथ ! मैं अपने शरीर को भीषण तप के द्वारा सुखा डालना चाहता हूँ और इस विषय में आपका यथार्थ उपदेश ग्रहण करना चाहता हूँ।

भीष्म उवाच

रहस्यमद्भुतं चैव शृणु वक्ष्यामि यत् त्वयि ।
या गतिः प्राप्यते येन प्रेत्यभावे विशाम्पते ॥४॥

भीष्मजी बोले—नरेश्वर ! मैं तुम्हें एक अद्भुत रहस्य की बात बताता हूँ। मनुष्य को मरने पर किस कर्म से कौन-सी गति प्राप्त होती है, यह सुनो !

तपसा प्राप्यते स्वर्गस्तपसा प्राप्यते यशः ।
आयुःप्रकर्षो भोगाश्च लभ्यन्ते तपसा विभो ॥५॥

प्रभो ! तप से स्वर्ग मिलता है, तप से सुयश की प्राप्ति होती है। तप से दीर्घायु, उच्चपद और उत्तमोत्तम भोग प्राप्त होते हैं।

ज्ञानं विज्ञानमारोग्यं रूपं सम्पत् तथैव च ।
सौभाग्यं चैव तपसा प्राप्यते भरतर्षभ ॥६॥

भरतश्रेष्ठ ! ज्ञान, विज्ञान, आरोग्य, रूप, सम्पत्ति तथा सौभाग्य भी तपस्या से प्राप्त होते हैं।

युधिष्ठिर उवाच

आरामाणां तडागानां यत् फलं कुरुपुङ्गव ।
तदहं श्रोतुमिच्छामि त्वत्तोऽद्य भरतर्षभ ॥७॥

युधिष्ठिर ने पूछा—कुरुकुलश्रेष्ठ ! भरतभूषण ! बगीचे लगाने और जलाशय निर्माण कराने का जो फल होता है, वह अब मैं आपके मुखारविन्द से सुनना चाहता हूँ।

भीष्म उवाच

तडागानां च वक्ष्यामि कृतानां चापि ये गुणाः ।
त्रिषु लोकेषु सर्वत्र पूजनीयस्तडागवान् ॥८॥

भीष्मजी बोले—हे राजन् ! तडाग=तालाब बनवाने से जो लाभ होते हैं, मैं उनका वर्णन करता हूँ। तालाब बनवानेवाला मनुष्य तीनों लोकों में सर्वत्र पूजनीय होता है।

स कुलं तारयेत्सर्वं यस्य खाते जलाशये ।
गावः पिबन्ति सलिलं साधवश्च नराः सदा ॥९॥

जिसके खुदवाये हुए जलाशय में सदा सज्जन पुरुष और गौएँ पानी पीती हैं, वह अपने समस्त कुल का उद्धार कर देता है।

तडागे यस्य गावस्तु पिबन्ति तृषिता जलम् ।
मृगपक्षिमनुष्याश्च सोऽश्वमेधफलं लभेत् ॥१०॥

जिसके तालाब में प्यासी गौएँ पानी पीती हैं तथा पशु, पक्षी और मनुष्यों को भी जल सुलभ होता है, वह अश्वमेध यज्ञ का फल पाता है।

तिलान् ददत पानीयं दीपान् ददत जाग्रत ।
ज्ञातिभिः सह मोदध्वमेतत् प्रेत्य सुदुर्लभम् ॥११॥

बन्धुओ ! तिल=अन्न-दान करो, जल-दान करो, दीप-दान करो, सदा धर्म करने के लिए जागते रहो। सदा धर्म पालन करते हुए बन्धु-बान्धवों के साथ आनन्द का अनुभव करो। मरने पर इन शुभ कर्मों से परलोक में अत्यन्त दुर्लभ फल की प्राप्ति होती है।

सर्वदानैर्गुरुतरं सर्वदानैर्विशिष्यते ।
पानीयं नरशार्दूल तस्माद् दातव्यमेव हि ॥१२॥

पुरुषसिंह ! जलदान सब दानों से महान् और बढ़कर है, अतः जलदान अवश्य करना चाहिए।

एवमेतत् तडागस्य कीर्तितं फलमुत्तमम् ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि वृक्षाणामवरोपणम् ॥१३॥

यह मैंने तालाब निर्माण कराने के उत्तम फल का वर्णन किया। अब मैं वृक्षारोपण करने का माहात्म्य बतलाता हूँ।

स्थावराणां च भूतानां जातयः षट् प्रकीर्तिताः ।
वृक्षगुल्मलतावल्ल्यस्त्वक्सारास्तृणजातयः ॥१४॥

स्थावर प्राणियों की छह जातियाँ बताई गई हैं—वृक्ष=बड़-पीपल आदि, गुल्म=कुश आदि, लता=वृक्ष पर चढ़नेवाली बेलें, वल्ली=पृथिवी पर फैलने-वाली बेलें, त्वक्सार=बाँस आदि और तृण=घास आदि।

एता जात्यस्तु वृक्षाणां तेषां रोपे गुणास्त्विमे ।
कीर्तिश्च मानुषे लोके प्रेत्य चैव फलं शुभम् ॥१५॥

ये वृक्षों की जातियाँ हैं। इनके लगाने का फल यह है कि वृक्षारोपण करनेवाले मनुष्य की इस लोक में कीर्ति होती है और मरने पर उसे शुभ फलों की प्राप्ति होती है।

पुष्पिताः फलवन्तश्च तर्पयन्तीह मानवान् ।
वृक्षदं पुत्रवद् वृक्षास्तारयन्ति परत्र तु ।।१६।।

फूले-फले वृक्ष इस संसार में मनुष्य को तृप्त करते हैं और जो वृक्ष का दान करता है, उसे वे वृक्ष पुत्र की भाँति परलोक में तार देते हैं ।

तस्मात्तडागे सद्वृक्षा रोप्याः श्रेयोऽर्थिना सदा ।
पुत्रवत् परिपाल्याश्च पुत्रास्ते धर्मतः स्मृताः ।।१७।।

अतः अपने कल्याण के इच्छुक मनुष्य को सदा ही उचित है कि वह अपने खुदवाये हुए तालाब के किनारे अच्छे-अच्छे वृक्ष लगाये और उनका पुत्र के समान पालन करे, क्योंकि वे वृक्ष धर्म की दृष्टि से पुत्र ही माने गये हैं ।

तडागकृद् वृक्षरोपी इष्टयज्ञश्च यो द्विजः ।
एते स्वर्गे महीयन्ते ये चान्ये सत्यवादिनः ।।१८।।

जो तालाब खुदवाता, वृक्ष लगाता, यज्ञों का अनुष्ठान करता और सत्य बोलता है, ये सभी द्विज स्वर्गलोक में सम्मानित होते हैं ।

तस्मात् तडागं कुर्वीत आरामांश्चैव रोपयेत् ।
यजेच्च विविधैर्यज्ञैः सत्यं च सततं वदेत् ।।१९।।

मनुष्य को चाहिए कि वह तालाब खुदवाये, बगीचे लगाये, भाँति-भाँति के यज्ञों का अनुष्ठान करे और सदा सत्य बोले ।

युधिष्ठिर उवाच

यानीमानि बहिर्वेद्यां दानानि परिचक्षते ।
तेभ्यो विशिष्टं किं दानं मतं ते कुरुपुङ्गव ।।२०।।

युधिष्ठिर ने पूछा—कुरुश्रेष्ठ ! यज्ञवेदी से भिन्न जो दान बताये गये हैं, उनमें आपके मत में सर्वश्रेष्ठ दान कौन-सा है ?

भीष्म उवाच

अभयं सर्वभूतेभ्यो व्यसने चाप्यनुग्रहः ।
यच्चाभिलषितं दद्यात् तद्दानं श्रेष्ठमुच्यते ।।२१।।

भीष्मजी बोले—युधिष्ठिर ! सभी प्राणियों को अभय प्रदान करना, संकट के समय उनपर अनुग्रह करना और याचक को उसकी अभीष्ट वस्तु प्रदान करना यह सर्वश्रेष्ठ दान है ।

हिरण्यदानं गोदानं पृथिवीदानमेव च ।
एतानि वै पवित्राणि तारयन्त्यपि दुष्कृतम् ।।२२।।

सुवर्णदान, गोदान और भूमिदान—ये तीन पवित्र दान हैं, ये पापी मनुष्य का भी उद्धार कर देते हैं ।

यद्यदिष्टतमं लोके यच्चास्य दयितं गृहे ।
तत्तद् गुणवते देयं तदेवाक्षयमिच्छता ।।२३।।

संसार में जो-जो पदार्थ अत्यन्त प्रिय माना जाता है और अपने घर में भी जो प्रिय वस्तु विद्यमान हो, वही-वही वस्तु गुणवान् मनुष्य को देनी चाहिए । जो अपने दान को अक्षय बनाना चाहता हो, उसके लिए ऐसा करना आवश्यक है ।

प्रियाणि लभते नित्यं प्रियदः प्रियकृत्तथा ।
प्रियो भवति भूतानामिह चैव परत्र च ।।२४।।

जो दूसरों को प्रिय वस्तु का दान देता है और उनका प्रिय कार्य ही करता है, वह सदा प्रिय वस्तुओं को ही पाता है और वह इहलोक तथा परलोक में भी समस्त प्राणियों का प्रिय होता है ।

अमित्रमपि चेद्दीनं शरणैषिणमागतम् ।
व्यसने योऽनुगृह्णाति स वै पुरुषसत्तमः ।।२५।।

शत्रु भी यदि दीन होकर शरण पाने के लिए घर पर आ जाए तो संकट के समय जो उसपर दया करता है, वही मनुष्यों में श्रेष्ठ है ।

कृशाय कृतविद्याय वृत्तिक्षीणाय सीदते ।
अपहन्यात् क्षुधां यस्तु न तेन पुरुषः समः ।।२६।।

विद्वान् होने पर भी जिसकी आजीविका क्षीण हो गई है, जो दीन, दुर्बल और दुःखी है, ऐसे मनुष्य की जो भूख मिटा देता है, उस मनुष्य के समान पुण्यात्मा कोई नहीं है ।

श्रेयो वै याचतः पार्थ दानमाहुरयाचते ।
अर्हत्तमो वै धृतिमान् कृपणादधृतात्मनः ।।२७।।

याचना करनेवाले की अपेक्षा याचना न करनेवाले को दिया हुआ दान ही श्रेष्ठ एवं कल्याणकारी बताया गया है और अधीर हृदयवाले कृपण मनुष्य की अपेक्षा धैर्य धारण करनेवाला ही विशेष सम्मान का पात्र है ।

क्षत्रियो रक्षणधृतिर्ब्राह्मणोऽनर्थनाधृतिः ।
ब्राह्मणो धृतिमान्विद्वान्देवान्प्रीणाति तुष्टिमान् ।।२८।।

रक्षा के कार्य में धैर्य धारण करनेवाला क्षत्रिय

एवं याचना न करने में दृढ़ता रखनेवाला ब्राह्मण श्रेष्ठ है। जो ब्राह्मण धैर्यवान्, विद्वान् और सन्तोषी होता है, वह देवताओं को भी अपने व्यवहार से सन्तुष्ट कर लेता है।

म्रियते याचमानो वै न जातु म्रियते ददत्।
ददत् संजीवयत्येनमात्मानं च युधिष्ठिर ॥२९॥

युधिष्ठिर! याचक मर जाता है परन्तु दाता कभी नहीं मरता। दाता याचक को और अपने-आपको—दोनों को जीवित रखता है।

आनृशंस्यं परो धर्मो याचते यत् प्रदीयते।
अयाचतः सीदमानान् सर्वोपायैर्निमन्त्रयेत् ॥३०॥

याचक को जो दान दिया जाता है, वह दयारूप परम धर्म है, परन्तु जो लोग कष्ट उठाकर भी याचना नहीं करते उन ब्राह्मणों को प्रत्येक उपाय से अपने पास बुलाकर दान देना चाहिए।

अहिंसा सर्वभूतेभ्यः संविभागश्च भागशः।
दमस्त्यागो धृतिः सत्यं भवत्यवभृथाय ते ॥३१॥

समस्त प्राणियों के प्रति वैर का त्याग, सबको यथायोग्य भाग अर्पण करना, इन्द्रिय-संयम, त्याग, धैर्य और सत्य—ये सब गुण तुम्हें यज्ञ के पश्चात् किये जानेवाले अवभृथ-स्नान का फल देंगे।

युधिष्ठिर उवाच

दानं यज्ञं क्रिया चेह किंस्वित्प्रेत्य महाफलम्।
कस्य ज्यायः फलं प्रोक्तं कीदृशेभ्यः कथं कदा ॥३२॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह! दान और यज्ञ-कर्म—इन दोनों में से कौन-सा मृत्यु के पश्चात् महान् फल देनेवाला है? किसका फल श्रेष्ठ बताया गया है? कैसे ब्राह्मण को कब दान देना चाहिए और किस प्रकार कब यज्ञ करना चाहिए?

भीष्म उवाच

रौद्रं कर्म क्षत्रियस्य सततं तात वर्तते।
तस्य वैतानिकं कर्म दानं चैवेह पावनम् ॥३३॥

भीष्मजी बोले—तात! क्षत्रिय को सदा कठोर कर्म करने पड़ते हैं, अतः संसार में यज्ञ और दान ही उसे पवित्र करनेवाले हैं।

न तु पापकृतां राज्ञां प्रतिगृह्णन्ति साधवः।
एतस्मात् कारणाद् यज्ञैर्यजेद्राजाऽऽप्तदक्षिणैः ॥३४॥

श्रेष्ठजन पापी राजा का दान नहीं लेते, अतः राजा को पर्याप्त दक्षिणा देकर यज्ञों का अनुष्ठान करना चाहिए।

अथ चेत् प्रतिगृह्णीयुर्दद्यादहरहर्नृपः।
श्रद्धामास्थाय परमां पावनं ह्येतदुत्तमम् ॥३५॥

श्रेष्ठ पुरुष यदि दान स्वीकार करें तो राजा को उन्हें प्रतिदिन बड़ी श्रद्धा के साथ दान देना चाहिए, क्योंकि श्रद्धापूर्वक दिया हुआ दान आत्मशुद्धि का सर्वोत्तम साधन है।

ब्राह्मणाँस्तर्पयन् द्रव्यैस्ततो यज्ञे यतव्रतः।
मैत्रान् साधून् वेदविदः शीलवृत्ततपोर्जितान् ॥३६॥

तुम नियमपूर्वक यज्ञ में सुशील, सदाचारी, तपस्वी, वेदवेत्ता, सबके साथ मित्रता रखनेवाले तथा साधु स्वभाववाले ब्राह्मणों को धन देकर सन्तुष्ट करो।

यदा परिनिषिच्येत निहितो वै यथाविधि।
तदा राजा महायज्ञैर्यजेत बहुदक्षिणैः ॥३७॥

जब राजा का विधिपूर्वक राज्याभिषेक हो जाए और वह राज्यसिंहासन पर बैठ जाए, तब राजा बहुत-सी दक्षिणाओं से युक्त महान् यज्ञ का अनुष्ठान करे।

वृद्धबालधनं रक्ष्यमन्धस्य कृपणस्य च।
न खातपूर्वं कुर्वीत न रुदन्तीधनं हरेत् ॥३८॥

राजा वृद्ध, बालक, दीन और अन्धे मनुष्य के धन की रक्षा करे। वर्षा न होने पर जब प्रजा कुआं खोदकर किसी प्रकार सिंचाई करके कुछ अ उत्पन्न करके जीविका चलाती हो तो राजा को उ धन नहीं लेना चाहिए और किसी कष्ट में पड़ रोती हुई स्त्री का धन भी न ले।

हृतं कृपणवित्तं हि राष्ट्रं हन्ति नृपश्रियम्।
दद्याच्च महतो भोगान् क्षुद्भयं प्रणुदेत् सताम् ॥३९

यदि किसी दीन-दरिद्र का धन छीन लिया तो वह राजा के राज्य का और लक्ष्मी का विन कर देता है, अतः राजा को चाहिए कि दीनों धन न छीनकर उन्हें महान् भोग अर्पित करे श्रेष्ठ पुरुषों को भूख का कष्ट न होने दे।

येषां स्वादूनि भोज्यानि समवेक्ष्यन्ति बालकाः ।
नाश्नन्ति विधिवत् तानि किं नु पापतरं ततः ॥४०॥

जिसके स्वादिष्ट भोजन की ओर छोटे-छोटे बच्चे तरसती आँखों से देखते हों और वह भोजन उन्हें न्यायतः खाने को न मिलता हो, उस पुरुष के द्वारा इससे बढ़कर पाप और क्या हो सकता है !

यदि ते तादृशो राष्ट्रे विद्वान्सीदेत्क्षुधा द्विजः ।
भ्रूणहत्यां च गच्छेथाः कृत्वा पापमिवोत्तमम् ॥४१॥

राजन् ! यदि तुम्हारे राज्य में कोई वैसा विद्वान् ब्राह्मण भूख से कष्ट पा रहा हो तो तुम्हें भ्रूण-हत्या का पाप लगेगा तथा कोई बहुत बड़ा पाप करने से मनुष्य की जो दुर्गति होती है, वही तुम्हारी भी होगी ।

धिक् तस्य जीवितं राज्ञो राष्ट्रे यस्यावसीदति ।
द्विजोऽन्यो वा मनुष्योऽपि शिबिराह वचो यथा ॥४२॥

राजा शिबि का कथन है कि "जिसके राज्य में ब्राह्मण या कोई और मनुष्य भूख से पीड़ित हो रहा हो, उस राजा के जीवन को धिक्कार है !"

यस्य स्म विषये राज्ञः स्नातकः सीदति क्षुधा ।
अवृद्धिमेति तद्राष्ट्रं विन्दते सह राजकम् ॥४३॥

जिस राजा के राज्य में स्नातक ब्राह्मण भूख से कष्ट पाता है, उसके राज्य की उन्नति रुक जाती है, साथ ही वह राज्य शत्रु राजाओं के अधीन हो जाता है ।

क्रोशन्त्यो यस्य वै राष्ट्राद् ह्रियन्ते तरसा स्त्रियः ।
क्रोशतां पतिपुत्रणां मृतोऽसौ न च जीवति ॥४४॥

जिसके राज्य से रोती-चिल्लाती स्त्रियों का बलपूर्वक हरण हो जाता हो और उनके पति-पुत्र रोते-पीटते रह जाते हों, वह राजा जीता नहीं, मुर्दा है—जीते-जी मुर्दे के समान है ।

अरक्षितारं हर्तारं विलोप्तारमनायकम् ।
तं वै राजकलिं हन्युः प्रजाः सन्नह्य निर्घृणम् ॥४५॥

जो प्रजा की रक्षा नहीं करता, केवल उसके धन को लूटता रहता है और जिसके पास कोई सेनापति अथवा नेतृत्व करनेवाला मन्त्री नहीं है, वह राजा नहीं, कलियुग है । समस्त प्रजा को चाहिए कि ऐसे निर्दयी राजा को बाँधकर मार डाले ।

अहं वो रक्षितेत्युक्त्वा यो न रक्षति भूमिपः ।
स संहत्य निहन्तव्यः श्वेव सोन्माद आतुरः ॥४६॥

जो राजा प्रजा से यह प्रतिज्ञा करके कि 'मैं तुम लोगों की रक्षा करूँगा', उनकी रक्षा नहीं करता, वह पागल और रोगी कुत्ते की भाँति सबके द्वारा मार डालने योग्य है ।

पापं कुर्वन्ति यत्किंचित् प्रजा राज्ञा ह्यरक्षिताः ।
चतुर्थं तस्य पापस्य राजा विन्दति भारत ॥४७॥

भरतनन्दन ! राजा से अरक्षित होकर प्रजा जो कुछ भी पाप करती है, उस पाप का चौथाई भाग राजा को भी प्राप्त होता है ।

शुभं वा यच्च कुर्वन्ति प्रजा राज्ञा सुरक्षिताः ।
चतुर्थं तस्य पुण्यस्य राजा चाप्नोति भारत ॥४८॥

भारत ! राजा से भली-भाँति सुरक्षित होकर प्रजा जो भी शुभ कर्म करती है, उसके पुण्य का चौथाई भाग राजा प्राप्त कर लेता है ।

युधिष्ठिर उवाच

इदं देयमिदं देयमितीयं श्रुतिरादरात् ।
बहुदेयाश्च राजानः किंस्विद् दानमनुत्तमम् ॥४९॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह! यह देना चाहिए, वह देना चाहिए, ऐसा कहकर यह श्रुति बड़े आदर के साथ दान का विधान करती है और शास्त्रों में राजाओं के लिए बहुत-कुछ दान करने के लिए कहा गया है, परन्तु मैं यह जानना चाहता हूँ कि सब दानों में सर्वोत्तम दान कौन-सा है ?

भीष्म उवाच

अति दानानि सर्वाणि पृथिवीदानमुच्यते ।
अचला ह्यक्षया भूमिर्दोग्ध्री कामानिहोत्तमान् ॥५०॥

भीष्मजी बोले—युधिष्ठिर ! भूमिदान सब दानों से बढ़कर बताया गया है । पृथिवी अचल और अक्षय है । वह इस लोक में सम्पूर्ण उत्तम भोगों को देनेवाली है ।

दोग्ध्री वासांसि रत्नानि पशून् व्रीहियवांस्तथा ।
भूमिदः सर्वभूतेषु शाश्वतीरेधते समाः ॥५१॥

वस्त्र, रत्न, पशु, धान, जौ आदि नाना प्रकार के अन्न—इन सबको देनेवाली भूमि ही है, अतः

भूमिदान करनेवाला मनुष्य सदा सब प्राणियों में सबसे अधिक उन्नत होता है।

यावद्भूमेरायुरिह तावद् भूमिद एधते।
न भूमिदानादस्तीहि परं किञ्चिद् युधिष्ठिर ॥५२॥

युधिष्ठिर! इह जगत् में जबतक भूमि की आयु है, तबतक भूमिदान करनेवाला मनुष्य समृद्धिशाली रहकर सुख भोगता है, अतः संसार में भूमिदान से बढ़कर कोई दान नहीं है।

सुवर्णं रजतं वस्त्रं मणिमुक्तावसूनि च।
सर्वमेतन्महाप्राज्ञो ददाति वसुधां ददत् ॥५३॥

जो महाबुद्धिमान् मनुष्य भूमि का दान करता है, वह सोना, चाँदी, वस्त्र, मणि, मोती तथा रत्न—इन सबका दान कर देता है अर्थात् इन सभी दानों का फल प्राप्त कर लेता है।

तपो यज्ञः श्रुतं शीलमलोभः सत्यसंधता।
गुरुदैवतपूजा च एता वर्तन्ति भूमिदम् ॥५४॥

पृथिवी का दान करनेवाले मनुष्य को तप, यज्ञ, विद्या, सुशीलता, लोभ का अभाव, सत्यवादिता, गुरु-सेवा और प्रभुभक्ति—इन सबका फल मिल जाता है।

यथा जनित्री स्वं पुत्रं क्षीरेण भरते सदा।
अनुगृह्णाति दातारं तथा सर्वरसैर्मही ॥५५॥

जैसे माता सदा अपने बच्चे को दूध पिलाकर पालती-पोसती है, उसी प्रकार पृथिवी सब प्रकार के रस देकर भूमिदाता पर अनुग्रह करती है।

यथा चन्द्रमसो वृद्धिरहन्यहनि जायते।
तथा भूमिकृतं दानं सस्ये सस्ये विवर्धते ॥५६॥

जैसे चन्द्रमा की कलाएँ प्रतिदिन बढ़ती जाती हैं, उसी प्रकार दान दी हुई भूमि में जितनी बार फसल उत्पन्न होती है, उतना ही उसके भूमिदान का फल बढ़ता जाता है।

स कुलीनः स पुरुषः स बन्धुः स च पुण्यकृत्।
स दाता स च विक्रान्तो यो ददाति वसुन्धराम् ॥५७॥

वही कुलीन, वही पुरुष, वही बन्धु, वही पुण्यात्मा, वही दाता और वही पराक्रमी है, जो भूमिदान करता है।

न भूमिदानाद् राजेन्द्र परं किञ्चिदिति प्रभो।
विशिष्टमिति मन्यामि यथा प्राहुर्मनीषिणः ॥५८॥

हे प्रभो! मनीषी लोग भूमिदान से बढ़कर और किसी दान को नहीं मानते। राजेन्द्र! मैं भी बिल्कुल ऐसा ही मानता हूँ।

नास्ति भूमिसमं दानं नास्ति मातृसमो गुरुः।
नास्ति सत्यसमो धर्मो नास्ति दानसमो निधिः ॥५९॥

भूमि के समान कोई दान नहीं है, माता के समान कोई गुरु नहीं है, सत्य के समान कोई धर्म नहीं है और दान के समान कोई निधि नहीं है।

युधिष्ठिर उवाच

कानि दानानि लोकेऽस्मिन् दातुकामो महीपतिः।
गुणाधिकेभ्यो विप्रेभ्यो दद्याद् भरतसत्तम ॥६०॥

युधिष्ठिर ने पूछा—भरतश्रेष्ठ! जिस राजा को दान करने की इच्छा हो, वह इस संसार में गुणी ब्राह्मणों को किन-किन वस्तुओं का दान करे।

भीष्म उवाच

इममर्थं पुरा पृष्टो नारदो देवदर्शनः।
यदुक्तवानसौ वाक्यं तन्मे निगदतः शृणु ॥६१॥

भीष्मजी बोले—राजन्! यही बात मैंने पहले एक बार देवर्षि नारद से पूछी थी। उस समय उन्होंने मुझे जो कुछ कहा था, वही तुम्हें बताता हूँ, सुनो!

नारद उवाच

अन्नमेव प्रशंसन्ति देवा ऋषिगणास्तथा।
लोकतन्त्रं हि संज्ञाश्च सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम् ॥६२॥

नारदजी ने कहा—देवता और ऋषि अन्न की ही प्रशंसा करते हैं, अन्न से ही संसार-यात्रा का निर्वाह होता है। उसी से बुद्धि को स्फूर्ति मिलती है और अन्न में ही सब-कुछ प्रतिष्ठित है।

अन्नं वै प्रथमं द्रव्यमन्नं श्रीश्च परा मता।
अन्नात् प्राणाः प्रभवन्ति तेजो वीर्यं बलं तथा ॥६३

अन्न प्रथम द्रव्य है। वह उत्तम लक्ष्मी का स्वरूप माना गया है। अन्न से ही प्राण, तेज, वी और बल की पुष्टि होती है।

अन्नेन सदृशं दानं न भूतं न भविष्यति।
तस्मादन्नं विशेषेण दातुमिच्छन्ति मानवाः ॥६४

अन्न के समान उपयोगी न कोई दान था और न होगा, अतः मनुष्य विशेषरूप से अन्न का ही दा करना चाहते हैं।

अन्नमूर्जस्करं लोके प्राणाश्चान्ने प्रतिष्ठिताः ।
अन्नेन धार्यते सर्वं विश्वं जगदिदं प्रभो ॥६५॥

प्रभो ! संसार में अन्न ही शरीर के बल को बढ़ानेवाला है । अन्न के ही आधार पर प्राण टिके हुए हैं और सारे संसार को अन्न ने ही धारण किया हुआ है ।

अन्नाद् गृहस्था लोकेऽस्मिन्भिक्षवस्तापसास्तथा ।
अन्नाद् भवन्ति वै प्राणाः प्रत्यक्षं नात्र संशयः ॥६६॥

संसार में गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षा माँगनेवाले भी अन्न से ही जीते हैं । अन्न से ही सबके प्राणों की रक्षा होती है, इस बात का प्रत्येक को प्रत्यक्ष अनुभव है, इस विषय में कोई सन्देह नहीं है ।

कुटुम्बिने सीदते च ब्राह्मणाय महात्मने ।
दातव्यं भिक्षवे चान्नमात्मनो भूतिमिच्छता ॥६७॥

अपने कल्याण के इच्छुक मनुष्य को चाहिए कि वह अन्न के लिए दुःखी, बालबच्चोंवाले, महामनस्वी ब्राह्मण और भिक्षा माँगनेवाले को अन्नदान करे ।

ब्राह्मणायाभिरूपाय यो दद्यादन्नमर्थिने ।
विदधाति निधिं श्रेष्ठं पारिलौकिकमात्मनः ॥६८॥

जो याचना करनेवाले सुपात्र ब्राह्मण को अन्नदान देता है, वह परलोक में अपने लिए एक उत्तम कोश [खजाना] बना लेता है ।

श्रान्तमध्वनि वर्तन्तं वृद्धमर्हमुपस्थितम् ।
अर्चयेद् भूतिमन्विच्छन् गृहस्थो गृहमागतम् ॥६९॥

मार्ग का थका-माँदा कोई वृद्ध पथिक [राहगीर] यदि घर पर आ जाए तो अपना कल्याण चाहनेवाले गृहस्थ को उस आदरणीय अतिथि का सत्कार करना चाहिए ।

नावमन्येदभिगतं न प्रणुद्यात् कदाचन ।
अपि श्वपाके शुनि वा न दानं विप्रणश्यति ॥७०॥

अपने घर पर कोई भी आ जाए, उसका न तो अपमान करना चाहिए और न ही उसे ताड़ना देनी चाहिए, क्योंकि चाण्डाल अथवा कुत्ते को दिया हुआ अन्नदान भी कभी व्यर्थ नहीं जाता ।

यो दद्यादपरिक्लिष्टमन्नमध्वनि वर्तते ।
आर्तायादृष्टपूर्वाय स महद्धर्ममाप्नुयात् ॥७१॥

जो मनुष्य संकट में पड़े हुए अपरिचित पथिक को प्रसन्नतापूर्वक अन्न देता है, उसे महान् धर्म की प्राप्ति होती है ।

अन्नं प्राणा नराणां हि सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम् ।
अन्नदः पशुमान् पुत्री धनवान् भोगवानपि ॥७२॥
प्राणवाँश्चापि भवति रूपवाँश्च तथा नृप ।
अन्नदः प्राणदो लोके सर्वदः प्रोच्यते तु सः ॥७३॥

राजन् ! अन्न ही मनुष्यों का प्राण है, अन्न में ही सब-कुछ प्रतिष्ठित है, अतः अन्नदाता पशु, पुत्र, धन, भोग, बल और रूप—सभी-कुछ प्राप्त कर लेता है । अन्नदानी संसार में प्राणदाता और सर्वस्व देनेवाला कहलाता है ।

प्रत्यक्षं प्रीतिजननं भोक्तुर्दातुर्भवत्युत ।
सर्वाण्यन्यानि दानानि परोक्षफलवन्त्युत ॥७४॥

अन्न का दान ही ऐसा दान है जो दाता और भोक्ता दोनों को प्रत्यक्षरूप से सन्तुष्ट करनेवाला होता है । इसके अतिरिक्त अन्य जितने दान हैं, उन सबका फल परोक्ष है ।

आवाहाश्च विवाहाश्च यज्ञाश्चान्नमृते तथा ।
निवर्तन्ते नरश्रेष्ठ ब्रह्म चात्र प्रलीयते ॥७५॥

निमन्त्रण, विवाह और यज्ञ—ये सब अन्न के बिना बन्द हो जाते हैं । नरश्रेष्ठ ! अन्न न हो तो वेदों का ज्ञान भी भूल जाता है ।

अन्नदस्य मनुष्यस्य बलमोजो यशाँसि च ।
कीर्तिश्च वर्धते शश्वत् त्रिषु लोकेषु पार्थिव ॥७६॥

प्रजेश्वर ! अन्नदान करनेवाले मनुष्य के बल, ओज, यश और कीर्ति का तीनों लोकों में सदा ही विस्तार होता रहता है ।

प्राणान् ददाति भूतानां तेजश्च भरतर्षभ ।
गृहमभ्यागतायाथ यो दद्यादन्नमर्थिने ॥७७॥

भरतश्रेष्ठ ! जो घर पर आये हुए याचक को अन्न देता है, वह सब प्राणियों को प्राण और तेज का दान करता है ।

भीष्म उवाच

नारदेनैवमुक्तोऽहमदामन्नं सदा नृप ।
अनसूयुस्त्वमप्यन्नं तस्माद् देहि गतज्वरः ॥७८॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! जब नारदजी ने मुझे इस प्रकार अन्नदान का माहात्म्य बतलाया,

तव से मैं नित्य अन्न का दान किया करता था, अतः तुम भी ईर्ष्या और द्वेष छोड़कर सदा अन्न का दान करते रहना।

युधिष्ठिर उवाच

श्रुतं दानफलं तात यत् त्वया परिकीर्तितम्।
अन्नदानं विशेषेण प्रशस्तमिह भारत ॥७९॥

युधिष्ठिर ने कहा—तात! भरतभूषण! आपने जो दानों का फल वताया है, वह मैंने सुन लिया। इन दानों में अन्नदान की विशेषरूप से प्रशंसा की गई है।

पानीयदानमेवैतत् कथं चेह महाफलम्।
इत्येतच्छ्रोतुमिच्छामि विस्तरेण पितामह ॥८०॥

पितामह! अब जलदान करने से कैसे महान् फल की प्राप्ति होती है, इस विषय को मैं विस्तार-पूर्वक सुनना चाहता हूँ।

भीष्म उवाच

हन्त ते वर्तयिष्यामि यथावद् भरतर्षभ।
गदतस्तन्ममाद्येह शृणु सत्यपराक्रम ॥८१॥

भीष्मजी बोले—सत्यपराक्रमी भरतभूषण! मैं तुम्हें सब-कुछ यथार्थरूप से बताऊँगा। तुम अब मेरी बातों को ध्यानपूर्वक सुनो!

पानीयदानात्प्रभृति सर्वं वक्ष्यामि तेऽनघ।
यदन्नं यच्च पानीयं सम्प्रदायाश्नुते नरः ॥८२॥

निष्पाप नरेश! मैं जलदान से लेकर सब प्रकार के दानों का फल तुम्हें बताऊँगा। मनुष्य अन्न और जल का दान करके जिस फल को प्राप्त करता है, उसे सुनो!

अन्नात् प्राणभृतस्तात प्रवर्तन्ते हि सर्वशः।
तस्मादन्नं परं लोके सर्वलोकेषु कथ्यते ॥८३॥
अन्नाद् बलं च तेजश्च प्राणिनां वर्धते सदा।
अन्नदानमतस्तस्माच्छ्रेष्ठमाह प्रजापतिः ॥८४॥

अन्न से ही सब प्राणी उत्पन्न होते और जीवन धारण करते हैं, अतः संसार में और सम्पूर्ण मनुष्यों में अन्न को ही सबसे उत्तम कहा गया है। अन्न से ही सदा प्राणियों के तेज और बल की वृद्धि होती है, इसलिए प्रजापति ने अन्न के दान को ही सर्वश्रेष्ठ बताया है।

अन्नमेव मनुष्याणां प्राणानाहुर्मनीषिणः।
तच्च सर्वं नरव्याघ्र पानीयात् सम्प्रवर्तते ॥८५॥
तस्मात् पानीयदानाद् वै न परं विद्यते क्वचित्।
तच्च दद्यान्नरो नित्यं यदीच्छेद् भूतिमात्मनः ॥८६॥

मनीषी जनों ने अन्न को ही मनुष्यों का प्राण बतलाया है। पुरुषसिंह! सब प्रकार का अन्न [खाद्यपदार्थ] जल से ही उत्पन्न होता है, अतः जल-दान से श्रेष्ठ और कोई दान नहीं है। जो मनुष्य अपना कल्याण चाहता है, उसे प्रतिदिन जलदान करना चाहिए।

धन्यं यशस्यमायुष्यं जलदानमिहोच्यते।
शत्रूँश्चाप्यधि कौन्तेय सदा तिष्ठति तोयदः ॥८७॥

जलदान इस संसार में धन, यश और आयु की वृद्धि करनेवाला बताया जाता है। कुन्तीपुत्र! जलदान करनेवाला मनुष्य अपने शत्रुओं को भी वश में [अधिकार] में रखता है।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

पञ्चदशोऽध्यायः

व्रत, नियम, सत्य, ब्रह्मचर्य, माता-पिता आदि की सेवा का महत्त्व

युधिष्ठिर उवाच

विस्रम्भितोऽहं भवता धर्मान् प्रवदता विभो।
प्रवक्ष्यामि तु सन्देहं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥१॥

युधिष्ठिर ने कहा—प्रभो! आपने धर्मोपदेश करके उसमें मेरा दृढ़विश्वास उत्पन्न कर दिया है। पितामह! अब मैं आपसे एक और सन्देह पूछ रहा हूँ; उसके विषय में मुझे बताइए।

व्रतानां किं फलं प्रोक्तं कीदृशं वा महाद्युते।
नियमानां फलं किं च स्वधीतस्य च किं फलम् ॥२

महातेजस्वी! व्रतों का क्या और कैसा फल बताया गया है? नियमों के पालन और स्वाध्याय का क्या फल है?

दत्तस्येह फलं किं च वेदानां धारणे च किम्।
अध्यापने फलं किं च सर्वमिच्छामि वेदितुम् ॥३

दान देने, वेदों को धारण=कण्ठस्थ करने और उन्हें पढ़ाने का क्या फल होता है? यह सब मैं जानना चाहता हूँ।

अप्रतिग्राहके किं च फलं लोके पितामह।
तस्य किं च फलं दृष्टं श्रुतं यस्तु प्रयच्छति ॥४॥

पितामह! संसार में जो दान नहीं लेता, उसे क्या फल मिलता है? जो वेदों का ज्ञान प्रदान करता है, उसे कौन-से फल की प्राप्ति होती है?

स्वकर्मनिरतानां च शूराणां चापि किं फलम्।
शौचं च किंफलं प्रोक्तं ब्रह्मचर्ये च किं फलम् ॥५॥

अपने कर्तव्य-पालन में तत्पर रहनेवाले शूरवीरों को किस फल की प्राप्ति होती है? पवित्रता और ब्रह्मचर्यपालन का क्या फल बताया गया है?

पितृशुश्रूषणे किं च मातृशुश्रूषणे तथा।
आचार्यगुरुशुश्रूषास्वनुक्रोशानुकम्पने ॥६॥

माता-पिता की सेवा से कौन-से फल की प्राप्ति होती है? आचार्य और गुरु की सेवा से तथा प्राणियों पर अनुग्रह और दयाभाव बनाये रखने से किस फल की प्राप्ति होती है?

एतत् सर्वमशेषेण पितामह यथातथम्।
वेत्तुमिच्छामि धर्मज्ञ परं कौतूहलं हि मे ॥७॥

धर्मज्ञ पितामह! ये सभी बातें मैं यथार्थरूप से जानना चाहता हूँ। इसके लिए मेरे मन में बड़ी उत्कण्ठा है।

भीष्म उवाच

यो व्रतं वै यथोद्दिष्टं तथा सम्प्रतिपद्यते।
अखण्डं सम्यगारभ्य तस्य लोकाः सनातनाः ॥८॥

भीष्मजी बोले—युधिष्ठिर! जो मनुष्य शास्त्रोक्त विधि से किसी व्रत को आरम्भ करके पूर्ण रीति से समाप्त करते हैं, उन्हें सनातन लोकों की प्राप्ति होती है।

नियमानां फलं राजन् प्रत्यक्षमिह दृश्यते।
नियमानां क्रतूनां च त्वयावाप्तमिदं फलम् ॥९॥

राजन्! इस लोक में नियमों के पालन का फल तो प्रत्यक्ष ही है। तुमने यह नियमों और यज्ञों का फल ही प्राप्त किया है।

स्वधीतस्यापि च फलं दृश्यतेऽमुत्र चेह च।
इहलोकेऽथवा नित्यं ब्रह्मलोके च मोदते ॥१०॥

वेदों के स्वाध्याय का फल इहलोक और परलोक दोनों में देखा जाता है। स्वाध्यायशील द्विज इहलोक और ब्रह्मलोक=मोक्ष में सदा आनन्द भोगता है।

दमस्य तु फलं राजञ्छृणु त्वं विस्तरेण मे।
दान्ताः सर्वत्र सुखिनो दान्ताः सर्वत्र निर्वृताः ॥११॥

राजन्! अब तुम मेरे द्वारा विस्तारपूर्वक कथित दम [इन्द्रिय-संयम] का फल सुनो! जितेन्द्रिय पुरुष सर्वत्र सुखी और सन्तुष्ट रहते हैं।

यत्रेच्छागामिनो दान्ताः सर्वशत्रुनिषूदनाः।
प्रार्थयन्ति च यद् दान्ता लभन्ते तन्न संशयः ॥१२॥

इन्द्रिय-संयमी जहाँ चाहते हैं, वहीं चले जाते हैं और जिस वस्तु की इच्छा करते हैं, वही उन्हें प्राप्त हो जाती है। वे सम्पूर्ण शत्रुओं को नष्ट कर देते हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

दानाद् दमो विशिष्टो हि ददत्किञ्चिद् द्विजातये।
दाता कुप्यति नो दान्तस्तस्माद् दानात् परो दमः ॥१३

दान से दम का स्थान ऊंचा है। दानी मनुष्य ब्राह्मणों को कुछ दान करते समय कभी क्रोध भी कर सकता है परन्तु जितेन्द्रिय कभी क्रोध नहीं करता, अतः दम दान से श्रेष्ठ है।

अध्यापकः परिक्लेशादक्षयं फलमश्नुते।
विधिवत् पावकं हुत्वा ब्रह्मलोके नराधिप ॥१४॥

नरेश्वर! शिष्यों को वेद पढ़ानेवाला अध्यापक कष्ट सहन करने के कारण अक्षय फल का भागी होता है। अग्नि में विधिपूर्वक हवन करके ब्राह्मण ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठित होता है।

अधीत्यापि हि यो वेदान् न्यायविद्भ्यः प्रयच्छति।
गुरुकर्मप्रशंसी च सोऽपि स्वर्गे महीयते ॥१५

जो वेदों का अध्ययन करके न्यायपरायण शिष्यों को विद्यादान करता है और गुरु के कार्यों की प्रशंसा करनेवाला है, वह स्वर्गलोक में प्रतिष्ठित होता है।

क्षत्रियोऽध्ययने युक्तो यजने दानकर्मणि।
युद्धे यश्च परित्राता सोऽपि स्वर्गे महीयते ॥१६॥

वेदाध्ययन, यज्ञ तथा दान देने में तत्पर रहनेवाला और युद्ध में दूसरों की रक्षा करनेवाला क्षत्रिय भी स्वर्गलोक में पूजित होता है।

वैश्यः स्वकर्मनिरतः प्रदानाल्लभते महत् ।
शूद्रः स्वकर्मनिरतः स्वर्गं शुश्रूषयाच्र्छति ॥१७॥

अपने कर्तव्यपालन में लगा हुआ वैश्य दान देने से उच्चपद को प्राप्त होता है। अपने कर्म में तत्पर रहनेवाला शूद्र सेवा के द्वारा स्वर्ग में जाता है।

शूरा बहुविधाः प्रोक्तास्तेषामर्थांस्तु मे शृणु ।
शूरान्वयानां निर्दिष्टं फलं शूरस्य चैव हि ॥१८॥

शूरवीरों के अनेक भेद बताये गये हैं। उन सबके तात्पर्य मुझसे सुनो ! उन शूरों के वंशजों तथा शूरों के लिए जो फल बताया गया है, उसे बताता हूँ।

यज्ञशूरा दमे शूराः सत्यशूरास्तथापरे ।
युद्धशूरास्तथैवोक्ता दानशूराश्च मानवाः ॥१९॥

कुछ लोग यज्ञशूर होते हैं, कोई इन्द्रियसंयमी होने के कारण दमशूर कहलाते हैं। इसी प्रकार कितने ही मनुष्य सत्यशूर, युद्धशूर तथा दानशूर कहे गये हैं।

बुद्धिशूरास्तथैवान्ये क्षमाशूरास्तथापरे ।
आर्जवे च तथा शूराः शमे वर्तन्ति मानवाः ॥२०॥
तैस्तैश्च नियमैः शूरा बहवः सन्ति चापरे ।
वेदाध्ययनशूराश्च शूराश्चाध्यापने रताः ॥२१॥
गुरुशुश्रूषया शूराः पितृशुश्रूषयापरे ।
मातृशुश्रूषया शूरा भैक्ष्यशूरास्तथापरे ॥२२॥

कोई बुद्धिशूर है तो कोई क्षमाशूर है। कितने ही मनुष्य सरलता दिखाने में शूर हैं, तो बहुत-से शम [मनोनिग्रह] में शूरता प्रकट करते हैं। विभिन्न नियमों द्वारा अपना शौर्य प्रकट करनेवाले और भी बहुत-से शूरवीर हैं। कितने ही वेदाध्ययन-शूर, अध्यापन-शूर, गुरुसेवा-शूर, पितृसेवा-शूर, मातृसेवा-शूर और कितने ही भिक्षा माँगने में शूर हैं।

अरण्ये गृहवासे च शूराश्चातिथिपूजने ।
सर्वे यान्ति पराँल्लोकान् स्वकर्मफलनिर्जितान् ॥२३॥

कुछ लोग वनवासशूर, कुछ गृहवास में शूर और कुछ लोग अतिथियों के सेवा-सत्कार में शूरवीर होते हैं। ये सब-के-सब अपने कर्मफलों द्वारा उपार्जित उत्तम लोकों=योनियों में जाते हैं।

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम् ।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ॥२४॥

यदि तराजू के एक पलड़े पर एक सहस्र अश्वमेध यज्ञों का पुण्य और दूसरे पलड़े पर केवल सत्य रखा जाए तो एक सहस्र अश्वमेध यज्ञों की अपेक्षा सत्य का ही पलड़ा भारी रहेगा।

सत्येन सूर्यस्तपति सत्येनाग्निः प्रदीप्यते ।
सत्येन मरुतो वान्ति सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥२५॥

सत्य के प्रभाव से सूर्य तपता है, सत्य से अग्नि प्रज्वलित होती है, सत्य से ही वायु का सर्वत्र संचार होता है और सब-कुछ सत्य पर ही टिका हुआ है।

सत्येन देवाः प्रीयन्ते पितरो ब्राह्मणास्तथा ।
सत्यमाहुः परो धर्मस्तस्मात्सत्यं न लंघयेत् ॥२६॥

देवता, पितर और ब्राह्मण सत्य से ही प्रसन्न होते हैं। सत्य को ही परम धर्म बताया गया है, अतः सत्य का कभी उल्लंघन नहीं करना चाहिए।

मुनयः सत्यनिरता मुनयः सत्यविक्रमाः ।
मुनयः सत्यशपथास्तस्मात् सत्यं विशिष्यते ॥२७॥

ऋषि-मुनि सत्यपरायण, सत्यपराक्रमी और सत्यप्रतिज्ञ होते हैं, अतः सत्य सबसे श्रेष्ठ है।

सत्यवन्तः स्वर्गलोके मोदन्ते भरतर्षभ ।
दमः सत्यफलावाप्तिरुक्ता सर्वात्मना मया ॥२८॥

भरतश्रेष्ठ ! सत्यवादी स्वर्गलोक में आनन्द भोगते हैं परन्तु दम [इन्द्रिय-संयम] उस सत्य के फल की प्राप्ति में कारण है। यह बात मैंने हृदय से कही है।

असंशयं विनीतात्मा स वै स्वर्गे महीयते ।
ब्रह्मचर्यस्य च गुणाञ्छृणु त्वं वसुधाधिप ॥२९॥

जिसने अपने मन को वश में करके विनयशी बना दिया है, वह निश्चय ही स्वर्गलोक में सम्मानि होता है। पृथिवीनाथ ! अब तुम ब्रह्मचर्य के गु सुनो।

आजन्ममरणाद् यस्तु ब्रह्मचारी भवेदिह ।
न तस्य किंचिदप्राप्यमिति विद्धि नराधिप ॥३०॥

प्रजेश्वर ! जो इस संसार में जन्म से ले मृत्युपर्यन्त ब्रह्मचारी रहता है, उसके लिए कुछ दुर्लभ नहीं है, इस बात को जान लो।

शुश्रूषते यः पितरं न चासूयेत् कदाचन ।
मातरं भ्रातरं वापि गुरुमाचार्यमेव च ॥३

तस्य राजन् फलं विद्धि स्वर्लोके स्थानमर्चितम् ।
न स पश्येत नरकं गुरुशुश्रूषयाऽऽत्मवान् ॥३२॥

राजन् ! जो मनुष्य माता-पिता, बड़े भाई, गुरु और आचार्य की सेवा करता है और उनके गुणों में कभी दोषदृष्टि नहीं करता, उसको मिलनेवाले फल को जान लो—उसे स्वर्गलोक में सबके द्वारा सम्मानित स्थान प्राप्त होता है। मन को वश में रखनेवाला वह मनुष्य गुरुसेवा के प्रभाव से कभी नरक का दर्शन नहीं करता।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

षोडशोऽध्यायः

गृहस्थ-धर्मों का रहस्य

युधिष्ठिर उवाच

यदिदं तप इत्याहुरुपवासं पृथग्जनाः ।
तपः स्यादेतदेवेह तपोऽन्यद् वापि किं भवेत् ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! साधारण लोग जो उपवास को ही तप कहा करते हैं, उसके सम्बन्ध में आपकी क्या धारणा है ? मैं यह जानना चाहता हूँ कि क्या वास्तव में उपवास ही तप है या उसका और कोई स्वरूप है ?

भीष्म उवाच

मासार्धमासोपवासाद् यत् तपो मन्यते जनः ।
आत्मतन्त्रोपघाती यो न तपस्वी न धर्मवित् ॥२॥

भीष्मजी बोले—राजन् ! जो लोग पन्द्रह दिन अथवा एक मास तक उपवास करके उसे तपस्या मानते हैं, वे व्यर्थ ही अपने शरीर को कष्ट देते हैं। वास्तव में केवल उपवास करनेवाले न तपस्वी हैं, न धर्मज्ञ।

त्यागस्य चापि सम्पत्तिः शिष्यते तप उत्तमम् ।
सदोपवासी च भवेद् ब्रह्मचारी तथैव च ॥३॥

त्याग का सम्पादन ही सबसे श्रेष्ठ तप है। व्रतचारी मनुष्य को सदा उपवासी [व्रतपरायण] और ब्रह्मचारी होना चाहिए।

मुनिश्च स्यात्सदा विप्रो वेदाँश्चैव सदा जपेत् ।
कुटुम्बिको धर्मकामः सदास्वप्नश्च मानवः ॥४॥

ब्राह्मण को सदा वेदों का स्वाध्यायी और मुनि होना चाहिए। धर्मपालन की इच्छा से ही उसे स्त्री आदि कुटुम्ब का संग्रह करना चाहिए [विषयभोग के लिए नहीं] और सदा जागरूक रहना चाहिए।

अमांसाशी सदा च स्यात् पवित्रं च सदा पठेत् ।
ऋतवादी सदा च स्यान्नियतश्च सदा भवेत् ॥५॥
विघसाशी सदा च स्यात् सदा चैवातिथिप्रियः ।
अमृताशी सदा च स्यात् पवित्री च सदा भवेत् ॥६॥

व्रतचारी मनुष्य को उचित है कि वह मांस कभी न खाये, पवित्रभाव से सदा वेद का स्वाध्याय करे, सदा सत्यभाषण करे और इन्द्रियों को संयम में रखे। उसे सदा विघसाशी, अमृताशी, अतिथिप्रिय और सदा पवित्र रहना चाहिए।

युधिष्ठिर उवाच

कथं सदोपवासी स्याद् ब्रह्मचारी च पार्थिव ।
विघसाशी कथं च स्यात् कथं चैवातिथिप्रियः ॥७॥

युधिष्ठिर ने पूछा—महाराज ! ब्राह्मण कैसे सदा उपवासी और ब्रह्मचारी हो और किस प्रकार वह विघसाशी और अतिथिप्रिय हो सकता है ?

भीष्म उवाच

अन्तरा सायमाशं च प्रातराशं च यो नरः ।
सदोपवासी भवति यो न भुङ्क्तेऽन्तरा पुनः ॥८॥

भीष्मजी बोले—युधिष्ठिर ! जो मनुष्य केवल प्रातःकाल और सायंकाल ही भोजन करता है, बीच में कुछ नहीं खाता, उसे सदा उपवासी समझना चाहिए।

भार्यां गच्छन् ब्रह्मचारी ऋतौ भवति चैव ह ।
ऋतवादी सदा च स्यात् दानशीलश्च मानवः ॥९॥

जो केवल ऋतुकाल में अपनी धर्मपत्नी के साथ सहवास करता है, वह ब्रह्मचारी ही माना जाता है।

सदा दान देनेवाला मनुष्य सत्यवादी ही समझने योग्य है।

अभक्षयन् वृथा मांसममांसाशी भवत्युत।
दानं ददत् पवित्री स्यादस्वप्नश्च दिवास्वपन् ॥१०॥

जो मांस नहीं खाता, वह अमांसाशी होता है और जो सदा दान देनेवाला है, वह पवित्र माना जाता है। जो दिन में नहीं सोता, वह सदा जागनेवाला माना जाता है।

भृत्यातिथिषु यो भुङ्क्ते भुक्तवत्सु नरः सदा।
अमृतं केवलं भुंक्ते इति विद्धि युधिष्ठिर ॥११॥

युधिष्ठिर! जो सदा नौकर-चाकरों और अतिथियों के भोजन कर लेने के पश्चात् ही स्वयं भोजन करता है, उसे ही अमृतभोजन करनेवाला समझना चाहिए।

अभुक्तवत्सु नाश्नाति ब्राह्मणेषु तु यो नरः।
अभोजनेन तेनास्य जितः स्वर्गो भवत्युत ॥१२॥

जबतक ब्राह्मण भोजन न कर लें, तबतक जो अन्न ग्रहण नहीं करता, वह मनुष्य अपने उस व्रत के द्वारा स्वर्गलोक पर विजय पा लेता है।

देवेभ्यश्च पितृभ्यश्च संश्रितेभ्यस्तथैव च।
अवशिष्टानि यो भुंक्ते तमाहुर्विघसाशिनम् ॥१३॥

राजन्! जो विद्वानों, पितरों=वृद्धजनों और आश्रितों को भोजन कराने के पश्चात् बचे हुए अन्न का ही स्वयं भोजन करता है, उसे विघसाशी कहते हैं।

देवतातिथिभिः सार्धं पितृभ्यश्चोपभुञ्जते।
रमन्ते पुत्रपौत्रैश्च तेषां गतिरनुत्तमा ॥१४॥

जो विद्वानों, अतिथियोंसहित पितरों=माता-पिता, वृद्धजनों के लिए अन्न का भाग देकर स्वयं भोजन करते हैं, वे इस संसार में पुत्र-पौत्रों के साथ रहकर आनन्द भोगते हैं और मृत्यु के पश्चात् परम गति को पाते हैं।

युधिष्ठिर उवाच

ब्राह्मणेभ्यः प्रयच्छन्ति दानानि विविधानि च।
दातृप्रतिग्रहीत्रोर्वै को विशेषः पितामह ॥१५॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह! लोग ब्राह्मणों को नानाप्रकार की वस्तुएँ दान देते हैं। मैं यह जानना चाहता हूँ कि दान देने और दान लेनेवाले मनुष्यों में क्या विशेषता होती है?

भीष्म उवाच

साधोर्यः प्रतिगृह्णीयात् तथैवासाधुतो द्विजः।
गुणवत्यल्पदोषः स्यान्निर्गुणे तु निमज्जति ॥१६॥

भीष्मजी बोले—हे राजन्! जो ब्राह्मण सा [सदाचारी] और असाधु [दुराचारी] पुरुष से दा लेता है, उनमें सद्गुणी पुरुष से दान लेना अल्प दोष है किन्तु दुराचारी से दान लेनेवाला पाप में डूब जाता है।

युधिष्ठिर उवाच

गार्हस्थ्यं धर्ममखिलं प्रब्रूहि भरतर्षभ।
ऋद्धिमाप्नोति किं कृत्वा मनुष्य इह पार्थिव ॥१७॥

युधिष्ठिर बोले—भरतश्रेष्ठ! भूपाल! आ आप मुझे गृहस्थ-आश्रम के सम्पूर्ण धर्मों का उपदे कीजिए। मनुष्य कौन-सा कर्म करके इस संसार समृद्धि का भागी होता है?

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्यामि पुरावृत्तं जनाधिप।
वासुदेवस्य संवादं पृथिव्याश्चैव भारत ॥१८॥

भीष्म ने कहा—प्रजेश्वर! भरतभूषण! इ विषय में मैं तुम्हें श्रीकृष्ण और पृथिवी का संवादरू एक प्राचीन इतिहास सुनाता हूँ।

संस्तुत्य पृथिवीं देवीं वासुदेवः प्रतापवान्।
पप्रच्छ भरतश्रेष्ठ मां त्वं यत्पृच्छसेऽद्य वै ॥१९

भरतश्रेष्ठ! प्रतापी श्रीकृष्ण ने पृथिवीदेवी स्तुति करके उनसे यही बात पूछी थी, जो बात आ तुम मुझसे पूछ रहे हो।

वासुदेव उवाच

गार्हस्थ्यं धर्ममाश्रित्य मया वा मद्विधेन वा।
किमवश्यं धरे कार्यं किं वा कृत्वा कृतं भवेत् ॥२

श्रीकृष्ण ने पूछा—वसुन्धरे! मुझे या मेरे किसी अन्य मनुष्य को गार्हस्थ्य-धर्म का आश्रय ले किस कर्म का अनुष्ठान अवश्य करना चाहिए? क करने से गृहस्थ को सफलता मिलती है?

पृथिव्युवाच

ऋषयः पितरो देवा मनुष्याश्चैव माधव।
इज्याश्चैवार्चनीयाश्च यथा चैव निबोध मे ॥२१

पृथिवी बोली—माधव ! गृहस्थ को सदा ही देवताओं, पितरों, ऋषियों और अतिथियों का पूजन एवं सत्कार करना चाहिए। उसकी विधि क्या है ? सो बताती हूँ, सुनो !

सदा यज्ञेन देवाश्च सदाऽऽतिथ्येन मानुषाः ।
छन्दतश्च यथा नित्यमर्हान् भुञ्जीत नित्यशः ॥२२॥

प्रतिदिन यज्ञ के द्वारा देवताओं का, अतिथि-सत्कार के द्वारा मनुष्यों का [श्रद्धापूर्वक सेवा द्वारा पितरों=माता-पिता आदि का] तथा वेदों का नित्य स्वाध्याय करके पूजनीय ऋषि-महर्षियों का यथाविधि पूजन और सत्कार करना चाहिए। इसके पश्चात् भोजन करना उचित है।

नित्यमग्निं परिचरेदभुक्त्वा बलिकर्म च ।
कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन च ॥२३॥

प्रतिदिन भोजन से पूर्व ही अग्निहोत्र और बलिवैश्वदेव यज्ञ करे। माता-पिता की प्रसन्नता और तृप्ति के लिए प्रतिदिन अन्न और जल आदि द्वारा उनकी सेवा करे।

सिद्धान्नाद् वैश्वदेवं वै कुर्यादग्नौ यथाविधि ।
गृहस्थः पुरुषः कृष्ण शिष्टाशी च सदा भवेत् ॥२४॥

भोजन तैयार होने पर उसमें से अन्न लेकर विधिपूर्वक बलिवैश्वदेव यज्ञ करना चाहिए। हे कृष्ण! गृहस्थ को सदा यज्ञशेष का ही भोजन करना चाहिए।

राजर्त्विजं स्नातकं च गुरुं श्वशुरमेव च ।
अर्चयेन्मधुपर्केण परिसंवत्सरोषितान् ॥२५॥

राजा, ऋत्विज, स्नातक, गुरु और श्वशुर—ये यदि एक वर्ष के पश्चात् घर आएँ तो मधुपर्क द्वारा इनका आदर-सत्कार करना चाहिए।

श्वभ्यश्च श्वपचेभ्यश्च वयोभ्यश्चावपेद् भुवि ।
वैश्वदेवं हि नामैतत् सायंप्रातर्विधीयते ॥२६॥

कुत्तों, चाण्डालों और पक्षियों के लिए भूमि पर अन्न रख देना चाहिए। यह बलिवैश्वदेव नामक यज्ञ है। इसका प्रातः और सायंकाल अनुष्ठान किया जाता है।

भीष्म उवाच

इति भूमेर्वचः श्रुत्वा वासुदेवः प्रतापवान् ।
तथा चकार सततं त्वमप्येवं समाचर ॥२७॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! भूमि माता के ये वचन सुनकर प्रतापी श्रीकृष्ण ने उन्हीं के अनुसार गृहस्थ-धर्मों का विधिवत् पालन किया। तुम भी सदा इन धर्मों का अनुष्ठान करते रहो।

एतद् गृहस्थधर्मं त्वं चेष्टमानो जनाधिप ।
इहलोके यशः प्राप्य प्रेत्य स्वर्गमवाप्स्यसि ॥२८॥

नरेश्वर ! इस गृहस्थ-धर्म का पालन करते रहने पर तुम इस लोक में सुयश और मरने पर स्वर्ग=सुखविशेष को प्राप्त कर लोगे।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

सप्तदशोऽध्यायः

शुभाशुभ कर्मों और सदाचार का निरूपण

युधिष्ठिर उवाच

शतायुरुक्तः पुरुषः शतवीर्यश्च जायते ।
कस्मान्म्रियन्ते पुरुषा बाला अपि पितामह ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! शास्त्रों में कहा गया है कि 'मनुष्य की आयु सौ वर्ष है।' वह सैकड़ों प्रकार की शक्ति लेकर उत्पन्न होता है। परन्तु कितने ही मनुष्य बाल्यकाल में ही मर जाते हैं। ऐसा क्यों होता है ?

आयुष्मान् केन भवति अल्पायुर्वापि मानवः ।
केन वा लभते कीर्तिं केन वा लभते श्रियम् ॥२॥

मनुष्य दीर्घायु किस उपाय से होता है और किस कारण से शीघ्र मर जाता है ? वह किस कर्म से कीर्ति पाता है और किस अनुष्ठान से उसे सम्पत्ति प्राप्त होती है ?

तपसा ब्रह्मचर्येण जपहोमैस्तथौषधैः ।
कर्मणा मनसा वाचा तन्मे ब्रूहि पितामह ॥३॥

पितामह ! मनुष्य मन, वाणी अथवा शरीर के द्वारा तप, ब्रह्मचर्य, जप, होम तथा औषध आदि में से किसका आश्रय ले जिससे वह कल्याण-मार्ग का पथिक बने, यह मुझे बताइए।

भीष्म उवाच

अत्र तेऽहं प्रवक्ष्यामि यन्मां त्वमनुपृच्छसि ।
अल्पायुर्येन भवति दीर्घायुर्वापि मानवः ॥४॥
येन वा लभते कीर्ति येन वा लभते श्रियम् ।
यथा वर्तयन् पुरुषः श्रेयसा सम्प्रयुज्यते ॥५॥

भीष्मजी बोले—युधिष्ठिर ! तुमने जो कुछ मुझसे पूछा है, उसका उत्तर देता हूँ। मनुष्य जिस कारण से अल्पायु होता है, जिस उपाय से दीर्घायु होता है, जिससे वह कीर्ति और सम्पत्ति का भागी होता है और जिस व्यवहार से वह कल्याण-मार्ग का पथिक बनता है, वह सब बताता हूँ, सुनो !

आचाराल्लभते ह्यायुराचाराल्लभते श्रियम् ।
आचारात् कीर्तिमाप्नोति पुरुषः प्रेत्य चेह च ॥६॥

सदाचार से मनुष्य दीर्घायु होता है, सदाचार से ही वह सम्पत्ति पाता है और सदाचार से ही उसे इहलोक और परलोक में कीर्ति की प्राप्ति होती है।

दुराचारो हि पुरुषो नेहायुर्विन्दते महत् ।
त्रसन्ति यस्माद् भूतानि तथा परिभवन्ति च ॥७॥

दुराचारी पुरुष, जिससे समस्त प्राणी डरते और तिरस्कृत होते हैं, इस संसार में दीर्घायु नहीं पाता।

आचारलक्षणो धर्मः सन्तश्चारित्रलक्षणाः ।
साधूनां च यथावृत्तमेतदाचारलक्षणम् ॥८॥

सदाचार ही धर्म का लक्षण है। सच्चरित्रता ही श्रेष्ठ पुरुषों की पहचान है। श्रेष्ठ पुरुष जैसा बर्ताव करते हैं, वही सदाचार का लक्षण है।

ये नास्तिका निष्क्रियाश्च गुरुशास्त्राभिलंघिनः ।
अधर्मज्ञा दुराचारास्ते भवन्ति गतायुषः ॥९॥

जो नास्तिक, शुभकर्मों से हीन, गुरु और शास्त्र की आज्ञा का उल्लंघन करनेवाले, धर्म को न जाननेवाले और दुराचारी हैं, उन मनुष्यों की आयु क्षीण हो जाती है।

विशीला भिन्नमर्यादा नित्यं संकीर्णमैथुनाः ।
अल्पायुषो भवन्तीह नरा निरयगामिनः ॥१०॥

जो मनुष्य शीलरहित, सदा धर्म की मर्यादा का भङ्ग करनेवाले और अन्य वर्ण की स्त्रियों के साथ सम्पर्क रखनेवाले होते हैं, वे इस लोक में अल्पायु होते हैं, और मरने के पश्चात् नरक में पड़ते हैं।

सर्वलक्षणहीनोऽपि समुदाचारवान् नरः ।
श्रद्दधानोऽनसूयुश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥११॥

सब प्रकार के शुभ लक्षणों से हीन होने पर भी जो मनुष्य सदाचारी, श्रद्धालु और दोषदृष्टिरहित होता है, वह सौ वर्षों तक जीवित रहता है।

अक्रोधनः सत्यवादी भूतानामविहिंसकः ।
अनसूयुरजिह्मश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥१२॥

जो क्रोधरहित, सत्यवादी, किसी भी प्राणी की हिंसा न करनेवाला, किसी के गुणों में दोष न देखनेवाला और छल-कपटरहित है, वह सौ वर्षों तक जीता है।

लोष्ठमर्दी तृणच्छेदी नखखादी च यो नरः ।
नित्योच्छिष्टः संकुसुको नेहायुर्विन्दते महत् ॥१३॥

व्यर्थ में ढेले फोड़नेवाला, तृण तोड़नेवाला, नखों को चबानेवाला, सदा जूठा खानेवाला अथवा अशुद्ध रहनेवाला और जो चञ्चल होता है, ऐसे कुलक्षण को दीर्घायु प्राप्त नहीं होती।

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत् ।
उत्थायाचम्य तिष्ठेत पूर्वां सन्ध्यां कृताञ्जलिः ॥१

प्रतिदिन ब्राह्ममुहूर्त में [सूर्योदय से एक घ पूर्व] जागे तथा धर्म और अर्थ के विषय में विचा करे। फिर शय्या से उठकर शौच-स्नान के पश्चा आचमन करके हाथ जोड़े हुए प्रातःकाल की सन्ध्या करे।

एवमेवापरां सन्ध्यां समुपासीत वाग्यतः ।
ऋषयो नित्यसन्ध्यत्वाद् दीर्घमायुरवाप्नुवन् ।
तस्मात् तिष्ठेत् सदा पूर्वां पश्चिमां चैव वाग्यतः ॥१

इसी प्रकार सायंकाल भी मौन होकर सन्ध्या उपासना करे। ऋषियों ने प्रतिदिन सन्ध्योपास करने से ही दीर्घायु प्राप्त की थी, अतः सदा मौ रहकर द्विजमात्र को प्रातःकाल और सायंकाल सन्ध्या अवश्य करनी चाहिए।

ये न पूर्वामुपासन्ते द्विजाः सन्ध्यां न पश्चिमाम् ।
सर्वांस्तान् धार्मिको राजा शूद्रकर्माणि कारयेत् ॥१६॥

जो द्विज न तो प्रातःकाल की सन्ध्या करते हैं और न सायंकाल सन्ध्यानुष्ठान करते हैं, उन सबसे धार्मिक राजा शूद्रोचित कर्म कराए ।

परदारा न गन्तव्या सर्ववर्णेषु कर्हिचित् ।
न हीदृशमनायुष्यं लोके किञ्चन विद्यते ।
यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम् ॥१७॥

किसी भी वर्ण के मनुष्य को कभी भी पर-स्त्री से संसर्ग नहीं करना चाहिए। पर-स्त्री-संसर्ग से मनुष्य की आयु शीघ्र समाप्त हो जाती है। संसार में पर-स्त्री के साथ मैथुन के समान मनुष्य की आयु को नष्ट करनेवाला दूसरा कोई कार्य नहीं है।

पुरीषमूत्रे नोदीक्षेन्नाधितिष्ठेत् कदाचन ।
नाज्ञातैः सह गच्छेत नैको न वृषलैः सह ॥१८॥

मल-मूत्र की ओर न देखे, उसपर कभी पैर न रखे। अपरिचित पुरुषों के साथ यात्रा न करे, पतितों के साथ भी यात्रा न करे और न अकेला ही।

पन्था देयो ब्राह्मणाय गोभ्यो राजभ्य एव च ।
वृद्धाय भारतप्ताय गर्भिण्यै दुर्बलाय च ॥१९॥

ब्राह्मण, गौ, राजा, बूढ़े मनुष्य, भार से पीड़ित, गर्भिणी स्त्री और दुर्बल मनुष्य यदि सामने से आते हों तो स्वयं एक ओर हटकर उन्हें जाने के लिए मार्ग दे देना चाहिए।

उपानहौ च वस्त्रं च धृतमन्यैर्न धारयेत् ।
ब्रह्मचारी च नित्यं स्यात् पादं पादेन नाक्रमेत् ॥२०॥

दूसरों के पहने हुए वस्त्र और जूते न पहने। सदा ब्रह्मचर्य का पालन करे; [ऋतुकालगामी हो] पैर से पैर को न रगड़े।

नारुन्तुदः स्यान्न नृशंसवादी
न हीनतः परमभ्याददीत ।
ययास्य वाचा पर उद्विजेत
न तां वदेत् रुशतीं पापलोक्याम् ॥२१॥

दूसरों के मर्म पर आघात न करे। कटुवाणी न बोले, दूसरों को नीचा न दिखाये। जिसके कहने से दूसरों को कष्ट होता हो, वह रुखाई से भरी हुई बात पापियों के लोक में ले-जानेवाली होती है, अतः वैसी बात कभी न बोले।

वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति
यैराहतः शोचति रात्र्यहानि ।
परस्य वा मर्मसु ये पतन्ति
तान् पण्डितो नावसृजेत् परेषु ॥२२॥

वचनरूपी बाण मुख से निकलते हैं, जिनसे आहत होकर मनुष्य रात-दिन शोक में पड़ा रहता है। विद्वान् मनुष्य को चाहिए कि दूसरों के मर्मस्थलों पर चोट करनेवाले वचन कभी न बोले।

रोहते सायकैर्विद्धं वनं परशुना हतम् ।
वाचा दुरुक्तं बीभत्सं न संरोहति वाक्क्षतम् ॥२३॥

बाणों से बिंधा और फरसे से कटा हुआ वन फिर से फूट आता है परन्तु दुर्वचनरूप शस्त्र से किया हुआ भयंकर घाव कभी नहीं भरता।

कर्णिनालीकनाराचान् निर्हरन्ति शरीरतः ।
वाक्शल्यस्तु न निर्हर्तुं शक्यो हृदिशयो हि सः ॥२४॥

कर्णि, नालीक और नाराच—ये यदि शरीर में गड़ जाएँ तो चिकित्सक उन्हें शरीर से निकाल देते हैं, किन्तु वचनरूपी बाण को निकालना असम्भव होता है, क्योंकि वह हृदय में धँसा होता है।

हीनाङ्गानतिरिक्ताङ्गान्विद्याहीनान्विगर्हितान् ।
रूपद्रविणहीनांश्च सत्त्वहीनांश्च नाक्षिपेत् ॥२५॥

हीनाङ्ग [अन्धे-काने आदि], अधिकाङ्ग [छह अंगुलीवाले], विद्याहीन, निन्दित, कुरूप, निर्धन और निर्बल मनुष्यों पर आक्षेप करना उचित नहीं है।

नास्तिक्यं वेदनिन्दां च देवतानां च कुत्सनम् ।
द्वेषस्तम्भोऽभिमानं च तैक्ष्ण्यं च परिवर्जयेत् ॥२६॥

नास्तिकता, वेदों की निन्दा, विद्वानों को अपशब्द कहना, द्वेष, उद्दण्डता, अभिमान और कठोरता—इन दुर्गुणों को त्याग देना चाहिए।

परस्य दण्डं नोद्यच्छेत् क्रुद्धो नैनं निपातयेत् ।
अन्यत्र पुत्राच्छिष्याच्च शिक्षार्थं ताडनं स्मृतम् ॥२७॥

क्रोध में भरकर पुत्र अथवा शिष्य के सिवा न तो किसी को दण्डा मारे और न पृथिवी पर गिराये। हाँ, शिक्षा के लिए पुत्र या शिष्य को ताड़ना देना उचित माना गया है।

कृत्वा मूत्रपुरीषे तु रथ्यामाक्रम्य वा पुनः ।
पादप्रक्षालनं कुर्यात् स्वाध्याये भोजने तथा ॥२८॥

मल-मूत्र त्यागने और मार्ग चलने के पश्चात् तथा स्वाध्याय और भोजन करने से पूर्व हाथ-पैर धो लेने चाहिएं ।

नित्यमग्निं परिचरेद् भिक्षां दद्याच्च नित्यदा ।
वाग्यतो दन्तकाष्ठं च नित्यमेव समाचरेत् ॥२९॥

प्रतिदिन अग्निहोत्र करे, नित्यप्रति भिक्षुक को भिक्षा दे और मौन होकर प्रतिदिन दन्तधावन किया करे ।

मातापितरमुत्थाय पूर्वमेवाभिवादयेत् ।
आचार्यमथवाप्यन्यं तथायुर्विन्दते महत् ॥३०॥

प्रतिदिन प्रातःकाल सोकर उठने के पश्चात् माता-पिता को चरणस्पर्शपूर्वक प्रणाम करे । फिर आचार्य तथा अन्य गुरुजनों का अभिवादन करे । ऐसा करने से दीर्घायु की प्राप्ति होती है ।

उदक्शिरा न स्वपेत तथा प्रत्यक्शिरा न च ।
प्राक्शिरास्तु स्वपेद् विद्वानथवा दक्षिणाशिराः ॥३१॥

उत्तर तथा पश्चिम की ओर सिर करके न सोये । विद्वान् मनुष्य को पूर्व अथवा दक्षिण की ओर सिर करके ही सोना चाहिए ।

न भग्ने नावशीर्णे च शयने प्रस्वपीत च ।
नान्तर्धाने न संयुक्ते न च तिर्यक् कदाचन ॥३२॥

टूटी और ढीली शय्या पर नहीं सोना चाहिए । अन्धेरे में पड़ी हुई शय्या पर भी सहसा सोना उचित नहीं है [प्रकाश करके देख लेना चाहिए] । किसी दूसरे के साथ एक खाट पर न सोये । इसी प्रकार शय्या पर सदा सीधे ही सोना चाहिए, तिरछा होकर नहीं ।

न चापि गच्छेत् कार्येण समयाद् वापि नास्तिकैः ।
आसनं तु पदाऽऽकृष्य न प्रसज्जेत् तथा नरः ॥३३॥

काम पड़ने पर भी नास्तिकों के साथ न जाए । उनके शपथ खाने पर भी उनके साथ यात्रा न करे । आसन को पैर से खींचकर मनुष्य उसपर न बैठे ।

न नग्नः कर्हिचित् स्नायान्न निशायां कदाचन ।
स्नात्वा च नावमृज्येत गात्राणि सुविचक्षणः ॥३४॥

विद्वान् पुरुष कभी नग्न होकर स्नान न करे । रात्रि में भी नग्न स्नान न करे । स्नान के पश्चात् अपने अङ्गों में तेल आदि की मालिश न कराये ।

न चानुलिम्पेदस्नात्वा स्नात्वा वासो न निर्धुनेत् ।
न चैवार्द्राणि वासांसि नित्यं सेवेत मानवः ॥३५॥

स्नान किये बिना अपने अङ्गों में चन्दन अथवा अङ्गराग न लगाये । स्नान करने के पश्चात् वस्त्र न धोये और गीले वस्त्र कभी न पहने ।

स्रजश्च नावकृष्येत न बहिर्धारयीत च ।
उदक्यया च सम्भाषां न कुर्वीत कदाचन ॥३६॥

गले में पड़ी हुई माला को कभी न खींचे । कपड़े के ऊपर माला धारण न करे । रजस्वला स्त्री के साथ कभी समागम न करें ।

नोत्सृजेत पुरीषं च क्षेत्रे ग्रामस्य चान्तिके ।
उभे मूत्रपुरीषे तु नाप्सु कुर्यात् कदाचन ॥३७॥

बोये हुए खेत में, ग्राम के आस-पास तथा पानी [नदी आदि] में कभी मलमूत्र का त्याग न करे ।

अन्नं बुभुक्षमाणस्तु त्रिर्मुखेन स्पृशेदपः ।
भुक्त्वा चान्नं तथैव त्रिर्द्विः पुनः परिमार्जयेत् ॥३८॥

भोजन की इच्छा करनेवाला मनुष्य भोजन से पूर्व तीन आचमन करे । भोजन के पश्चात् भी तीन आचमन करे, फिर अंगूठे के मूलभाग से दो बार मुख को पोंछे ।

नाधितिष्ठेत् तुषं जातु केशभस्मकपालिकाः ।
अन्यस्य चाप्यवस्नातं दूरतः परिवर्जयेत् ॥३९॥

भूसी, भस्म, बाल और मुर्दे की खोपड़ी आदि पर कभी न बैठे । दूसरे के द्वारा स्नान किये हुए को दूर से ही त्याग दे ।

शान्तिहोमांश्च कुर्वीत सावित्राणि च धारयेत् ।
निषण्णश्चापि खादेत न तु गच्छन् कदाचन ॥४०

शान्ति-होम करे । सावित्री नामक मन्त्रों जप और स्वाध्याय करे । बैठकर ही भोजन चलते-फिरते कदापि भोजन नहीं करना चाहिए ।

मूत्रं नोत्तिष्ठता कार्यं भस्मनि न च गोव्रजे ।
आर्द्रपादस्तु भुञ्जीत नार्द्रपादस्तु संविशेत् ॥४१

खड़ा होकर पेशाब न करे । भस्म [राख] और गो-शाला में भी मूत्र-त्याग न करे । भीगे पैर भोजन तो करे, परन्तु सोये नहीं ।

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति ।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते ॥४२॥

वृद्ध पुरुष के आने पर युवक मनुष्य के प्राण ऊपर की ओर उठने लगते हैं। ऐसी अवस्था में जब वह खड़ा होकर वृद्ध पुरुषों का स्वागत और उनको चरणस्पर्शपूर्वक प्रणाम करता है, तब वे प्राण पुनः पूर्वावस्था में आ जाते हैं।

अभिवादयीत वृद्धाँश्च दद्याच्चैवासनं स्वयम् ।
कृताञ्जलिरुपासीत गच्छन्तं पृष्ठतोऽन्वियात् ॥४३॥

जब कोई वृद्धपुरुष अपने पास आये, तब उसे नमस्कार करके बैठने के लिए आसन दे और स्वयं हाथ जोड़कर उसकी सेवा में उपस्थित रहे। जब वह जाने लगे, तब कुछ दूर तक उसके पीछे-पीछे जाए।

न चासीतासने भिन्ने भिन्नकाँस्य च वर्जयेत् ।
स्वप्तव्यं नैव नग्नेन न नग्नः स्नातुमर्हति ॥४४॥

कटे-फटे, टूटे आसन पर न बैठे। फूटी हुई कांसी की थाली को काम में न ले। नग्न होकर न सोये और नग्न होकर स्नान भी न करे।

न संहताभ्यां पाणिभ्यां कण्डूयेदात्मनः शिरः ।
न चाभीक्ष्णं शिरः स्नायात् तथास्यायुर्न रिष्यते ॥४५॥

दोनों हाथों को मिलाकर उनसे अपना सिर न खुजाये। सिर पर बारबार पानी न डाले। इन सब बातों से मनुष्य की आयु क्षीण नहीं होती।

नाध्यापयेत् तथोच्छिष्टो नाधीयीत कदाचन ।
वाते च पूतिगन्धे च मनसापि न चिन्तयेत् ॥४६॥

जूठे मुख कभी न पढ़ाये और उच्छिष्ट अवस्था में स्वयं भी कभी स्वाध्याय न करे। यदि दुर्गन्धयुक्त वायु चले, तब तो मन से भी स्वाध्याय का चिन्तन नहीं करना चाहिए।

प्रत्यादित्यं प्रत्यनलं प्रति गां च प्रति द्विजान् ।
ये मेहन्ति च पन्थानं ते भवन्ति गतायुषः ॥४७॥

जो सूर्य, अग्नि, गौ और ब्राह्मण की ओर मुख करके मूत्र त्यागते हैं और जो मार्ग में पेशाब करते हैं, वे सब गतायु हो जाते हैं।

त्रीन्कृशान्नावजानीयाद् दीर्घमायुर्जिजीविषुः ।
ब्राह्मणं क्षत्रियं सर्पं सर्वे ह्याशीविषास्त्रयः ॥४८॥

जिसे दीर्घ समय तक जीवित रहने की इच्छा हो, उसे चाहिए कि वह ब्राह्मण, क्षत्रिय और सर्प—इन तीनों के दुर्बल होने पर भी इन्हें न छेड़े, क्योंकि ये सभी अत्यन्त विषैले होते हैं।

गुरुणा चैव निर्बन्धो न कर्तव्यः कदाचन ।
अनुमान्यः प्रसाद्यश्च गुरुः क्रुद्धो युधिष्ठिर ॥४९॥

गुरु के साथ कभी हठ नहीं करना चाहिए। युधिष्ठिर ! गुरु कभी अप्रसन्न हों तो उन्हें हर प्रकार से मान देकर मनाने और प्रसन्न करने का प्रयत्न करना चाहिए।

दूरादावसथान्मूत्रं दूरात् पादावसेचनम् ।
उच्छिष्टोत्सर्जनं चैव दूरे कार्यं हितैषिणा ॥५०॥

अपना हित चाहनेवाले मनुष्य को घर से दूर जाकर मूत्र-त्याग करना चाहिए, दूर ही पैर धोवे और दूर पर ही जूठन फेंके।

रक्तमाल्यं न धार्यं स्याच्छुक्लं धार्यं तु पण्डितैः ।
काञ्चनीयापि माला या न सा दुष्यति कर्हिचित्॥५१

विद्वान् पुरुषों को [कमल को छोड़कर] लाल-पुष्पों की नहीं अपितु श्वेत पुष्पों की माला धारण करनी चाहिए। सोने की माला पहनने से कभी अशुद्ध नहीं होती।

विपर्ययं न कुर्वीत वाससो बुद्धिमान् नरः ।
तथा नान्यधृतं धार्यं न चापदशमेव च ॥५२॥
अन्यदेव भवेद् वासः शयनीये नरोत्तम ।
अन्यद् रथ्यासु देवानामर्चायामन्यदेव हि ॥५३॥

बुद्धिमान् मनुष्य को वस्त्रों में उलट-फेर नहीं करना चाहिए अर्थात् दुपट्टे या चादर को धोती के रूप में और धोती को दुपट्टे के रूप में नहीं पहनना चाहिए। नरश्रेष्ठ ! दूसरे के पहने हुए वस्त्र नहीं पहनने चाहिएँ। जिसके किनारे फट गये हों, उसे भी नहीं पहनना चाहिए। सोने के लिए अन्य वस्त्र होना चाहिए, सड़कों पर घूमने-फिरने के लिए दूसरा और देव पूजा=सन्ध्या एवं यज्ञ के लिए दूसरे ही वस्त्र होने चाहिएँ।

समानमेकपात्रे तु भुञ्जेन्नान्नं जनेश्वर ।
नालीढया परिहृतं प्रेक्ष्यते नाप्रदाय च ॥५४॥

राजन् ! किसी के साथ भी एक थाली में भोजन नहीं करना चाहिए। रजस्वला के स्पर्श से दूषित

अन्न का भोजन न करे। जो तरसती हुई दृष्टि से अन्न की ओर देख रहा हो, उसे दिये बिना भी भोजन न करे।

न पाणौ लवणं विद्वान् प्राश्नीयान्न च रात्रिषु।
दधिसक्तून् न भुञ्जीत वृथा मांसं च वर्जयेत् ।।५५।।

विद्वान् पुरुष को चाहिए कि हाथ में नमक लेकर न चाटे। रात्रि में दही और सत्तू न खाए। मांस अखाद्य वस्तु है, उसे सर्वथा छोड़ दे।

सायंप्रातश्च भुञ्जीत नान्तराले समाहितः।
भूमौ सदैव नाश्नीयान्नासीनो न च शब्दवत् ।।५६।।

प्रतिदिन प्रातः और सायंकाल—दो ही समय एकाग्रचित्त होकर भोजन करे। भोजन के पदार्थ को भूमि पर रखकर कदापि न खाये। खड़े होकर तथा 'चप-चप' शब्द करते हुए भोजन नहीं करना चाहिए।

समानमेकपंक्त्यां तु भोज्यमन्नं नरेश्वर।
विषं हालाहलं भुंक्ते योऽप्रदाय सुहृज्जने ।।५७।।

प्रजेश्वर! एक पंक्ति में बैठकर सबको एक-समान भोजन करना चाहिए। जो अपने सुहृद्जनों को न देकर अकेला ही भोजन करता है, वह हलाहल विष ही खाता है।

परापवादं न ब्रूयान्नाप्रियं च कदाचन।
न मन्युः कश्चिदुत्पाद्यः पुरुषेण भवार्थिना ।।५८।।

अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्य को दूसरों की निन्दा तथा अप्रियवचन मुँह से नहीं निकालने चाहिएँ और किसी को क्रोध भी नहीं दिलाना चाहिए।

न दिवा मैथुनं गच्छेन्न कन्यां न च बन्धकीम्।
न चास्नातां स्त्रियं गच्छेत् तथायुर्विन्दते महत् ।।५९।।

दिन में कभी मैथुन न करे। कुमारी कन्या और कुलटा के साथ कभी समागम न करे। अपनी पत्नी भी जबतक ऋतुस्नाता न हो तबतक उसके साथ भी समागम न करे। ऐसा करने से मनुष्य को दीर्घायु प्राप्त होती है।

वृद्धो ज्ञातिस्तथा मित्रं दरिद्रो यो भवेदपि।
गृहे वासयितव्यास्ते धन्यमायुष्यमेव च ।।६०।।

वृद्ध कुटुम्बी, और दरिद्र मित्र को अपने घर पर ठहराना चाहिए, इससे धन और आयु की वृद्धि होती है।

सन्ध्यायां न स्वपेद् राजन्विद्यां न च समाचरेत्।
न भुञ्जीत च मेधावी तथायुर्विन्दते महत् ।।६१।।

हे नरेश्वर! बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि सन्ध्याकाल में [सूर्यास्त के समय] न तो सोये, न विद्या पढ़े और न भोजन ही करे—ऐसा करने से वह दीर्घायु प्राप्त करता है।

सौहित्यं न च कर्तव्यं रात्रौ न च समाचरेत्।
द्विजच्छेदं न कुर्वीत भुक्त्वा न च समाचरेत् ।।६२।।

रात्रि में स्वयं डटकर भोजन न करे और न दूसरे को ही डटकर भोजन कराये। भोजन करके दौड़े नहीं। पक्षियों का वध कभी न करे।

महाकुले प्रसूतां च प्रशस्तां लक्षणैस्तथा।
वयःस्थां च महाप्राज्ञः कन्यामावोढुमर्हति ।।६३।।

जो श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न हुई हो, उत्तम लक्षणों से युक्त हो और विवाह के योग्य अवस्था को प्राप्त हो गई हो—ऐसी शुभ लक्षणवाली कन्या के साथ महाबुद्धिमान् मनुष्य को विवाह करना चाहिए।

वर्जयेद् व्यङ्गिनीं नारीं तथा कन्यां नरोत्तम।
समार्षां व्यङ्गितां चैव मातुः स्वकुलजां तथा ।।६४।।

नरश्रेष्ठ! जो कन्या किसी अङ्ग से हीन हो, जो अधिक अङ्गवाली हो, जिसके गोत्र और प्रवर अपने ही समान हों तथा जो माता के कुल [नाना के वंश] में उत्पन्न हुई हो, उसके साथ विवाह नहीं करना चाहिए।

वृद्धां प्रव्रजितां चैव तथैव च पतिव्रताम्।
तथा निकृष्टवर्णां च वर्णोत्कृष्टां च वर्जयेत् ।।६५।।

जो बूढ़ी, संन्यासिनी, पतिव्रता, नीच वर्ण की तथा ऊँचे वर्ण की स्त्री हो, उसके सम्पर्क से दूर रहना चाहिए।

अयोनिञ्च वियोनिञ्च कुष्ठिनीं चैव पिङ्गलाम्।
अपस्मारिकुले जातां वर्जयेन्मनुजेश्वर ।।६६।।

राजन्! जिसकी योनि अर्थात् कुल का पता न हो, जो नीच कुल में उत्पन्न हुई हो, जिसके शरीर का रङ्ग पीला हो, जो कुष्ठ रोगवाली हो, जो मृगी रोग-दूषित कुल में पैदा हुई हो—विवाह-सम्बन्ध के लिए इन्हें छोड़ देना चाहिए।

महाकुले निवेष्टव्यं सदृशे वा युधिष्ठिर ।
अवरा पतिता चैव न ग्राह्या भूतिमिच्छता ॥६७॥

युधिष्ठिर ! अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्य को अपनी अपेक्षा महान् अथवा अपने समान कुल में विवाह करना चाहिए । नीच जातिवाली तथा पतिता कन्या से विवाह कभी न करना चाहिए ।

न चेर्ष्या स्त्रीषु कर्तव्या रक्ष्या दाराश्च सर्वशः ।
अनायुष्या भवेदीर्ष्या तस्मादीर्ष्यां विवर्जयेत् ॥६८॥

सभी उपायों से अपनी स्त्री की रक्षा करनी चाहिए । स्त्रियों से ईर्ष्या रखना उचित नहीं है । ईर्ष्या से आयु क्षीण होती है, अतः उसे त्याग देना चाहिए ।

अनायुष्यं दिवास्वप्नं तथाभ्युदितशायिता ।
प्रगे निशामाशु तथा नैवोच्छिष्टाः स्वपन्ति वै ॥६९॥

दिन में एवं सूर्योदय के पश्चात् सोना आयु को क्षीण करनेवाला है । प्रातःकाल और रात्रि के आरम्भ में नहीं सोना चाहिए । श्रेष्ठ पुरुष रात्रि में अपवित्र अवस्था में नहीं सोते ।

पारदार्यमनायुष्यं नापितोच्छिष्टता तथा ।
यत्नतो वै न कर्तव्यमभ्यासश्चैव भारत ॥७०॥

पर-स्त्री से व्यभिचार करना और हजामत बनवाकर बिना स्नान किये रह जाना भी आयु का नाश करनेवाला है । भरतभूषण ! अपवित्र अवस्था में वेदों का अध्ययन यत्नपूर्वक त्याग देना चाहिए ।

सन्ध्यायां न च भुञ्जीत न स्नायेन्न तथा पठेत् ।
प्रयतश्च भवेत् तस्यां न च किञ्चित् समाचरेत् ॥७१॥

सन्ध्याकाल में स्नान, भोजन और स्वाध्याय कुछ-भी न करे । उस समय शुद्धचित्त होकर ध्यान एवं उपासना करनी चाहिए, दूसरा कोई कार्य नहीं करना चाहिए ।

अनिमन्त्रितो न गच्छेत यज्ञं गच्छेत दर्शकः ।
अनर्चिते ह्यनायुष्यं गमनं तत्र भारत ॥७२॥

हे भारत ! बिना बुलाये कहीं न जाए । हाँ, यज्ञ देखने के लिए बिना बुलाये भी जा सकता है । जहाँ अपना आदर न होता हो, वहाँ जाने से आयु का नाश होता है ।

न चैकेन परिव्राज्यं न गन्तव्यं तथा निशि ।
अनागतायां सन्ध्यायां पश्चिमायां गृहे वसेत् ॥७३॥

अकेले परदेश नहीं जाना चाहिए और न रात्रि में यात्रा करनी चाहिए । यदि किसी कार्य के लिए बाहर जाए तो सन्ध्या से पूर्व ही घर लौट आना चाहिए ।

मातुः पितुर्गुरूणां च कार्यमेवानुशासनम् ।
हितं चाप्यहितं चापि न विचार्यं नरर्षभ ॥७४॥

नरश्रेष्ठ ! माता, पिता और गुरुजनों की आज्ञा का तुरन्त पालन करना चाहिए । इनकी आज्ञा हितकर है या अहितकर, इसका विचार नहीं करना चाहिए ।

आचारो भूतिजनन आचारः कीर्तिवर्धनः ।
आचाराद् वर्धते ह्यायुराचारो हन्त्यलक्षणम् ॥७५॥

सदाचार ही कल्याण का जनक और सदाचार ही कीर्ति बढ़ानेवाला है । सदाचार से आयु की वृद्धि होती है और सदाचार ही बुरे लक्षणों का नाश करता है ।

आगमानां हि सर्वेषामाचारः श्रेष्ठ उच्यते ।
आचारप्रभवो धर्मो धर्मादायुर्विवर्धते ॥७६॥

सम्पूर्ण आगमों=वेद-शास्त्रों में सदाचार ही श्रेष्ठ बताया गया है । सदाचार से धर्म की उत्पत्ति होती है और धर्म से आयु बढ़ती है ।

एतद् यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं स्वस्त्ययनं महत् ।
अनुकम्प्य सर्ववर्णान् ब्रह्मणा समुदाहृतम् ॥७७॥

प्राचीनकाल में सब वर्णों के मनुष्यों पर दया करके ब्रह्माजी ने इस सदाचार-धर्म का उपदेश दिया था । यह यश, दीर्घायु और स्वर्ग=सुखविशेष की प्राप्ति करानेवाला तथा कल्याण का परम आधार है ।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

अष्टादशोऽध्यायः

पारिवारिक व्यवहार-वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

यथा ज्येष्ठः कनिष्ठेषु वर्तेत भरतर्षभ।
कनिष्ठाश्च यथा ज्येष्ठे वर्तेरंस्तद् ब्रवीहि मे ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—भरतभूषण! बड़ा भाई अपने छोटे भाइयों के साथ और छोटे भाई अपने बड़े भाई के साथ कैसा व्यवहार करें, यहं मुझे बताइए।

भीष्म उवाच

ज्येष्ठवत् तात वर्तस्व ज्येष्ठोऽसि सततं भवान्।
गुरोर्गरीयसी वृत्तिर्या च शिष्यस्य भारत ॥२॥

भीष्मजी बोले—तात! भारत! तुम अपने भाइयों में सबसे बड़े हो, अतः सदा बड़े के अनुरूप ही बर्ताव करो। गुरु का अपने शिष्य के प्रति जैसा गौरवयुक्त व्यवहार होता है, वैसा ही तुम्हें भी अपने भाइयों के साथ करना चाहिए।

अन्धः स्यादन्धवेलायां जडः स्यादपि वा बुधः।
परिहारेण तद्ब्रूयाद् यस्तेषां स्याद् व्यतिक्रमः ॥३॥

बड़े भाई को चाहिए कि वह समय के अनुसार अन्धा, जड़=मूर्ख और विद्वान् बने अर्थात् छोटे भाइयों से कोई अपराध हो जाए तो उसे देखते हुए भी न देखे, जानकर भी अनजान बना रहे और उनसे ऐसी बात करे जिससे उनकी अपराध करने की प्रवृत्ति दूर हो जाए।

ज्येष्ठः कुलं वर्धयति विनाशयति वा पुनः।
हन्ति सर्वमपि ज्येष्ठः कुलं यत्रावजायते ॥४॥

बड़ा भाई अपनी सुनीति से कुल की वृद्धि करता है और कुनीति का आश्रय लेकर उसे नष्ट कर देता है। खोटे विचार से बड़ा भाई जिस कुल में उत्पन्न हुआ है, उसे ही चौपट कर देता है।

अथ यो विनिकुर्वीत ज्येष्ठो भ्राता यवीयसः।
अज्येष्ठः स्यादभागश्च नियम्यो राजभिश्च सः ॥५॥

जो बड़ा भाई होकर छोटे के साथ छल-कपटपूर्ण बर्ताव करता है, वह न तो ज्येष्ठ कहलाने के योग्य है और न ज्येष्ठांश पाने का अधिकारी है। ऐसे भाई को तो राजाओं द्वारा दण्ड दिया जाना चाहिए।

न ज्येष्ठो वावमन्येत दुष्कृतः सुकृतोऽपि वा।
यदि स्त्री यद्यवरजः श्रेयश्चेत् तत् तदाचरेत् ॥६॥

बड़ा भी अच्छा काम करनेवाला हो या बुरा, छोटे भाई को उसका अपमान नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार यदि स्त्री वा छोटे भाई कुमार्ग पर चल रहे हों तो श्रेष्ठ पुरुष को वही उपाय करना चाहिए जिससे उनकी भलाई हो।

ज्येष्ठो भ्राता पितृसमो मृते पितरि भारत।
स ह्येषां वृत्तिदाता स्याद् स चैतान् प्रतिपालयेत् ॥७॥
कनिष्ठास्तं नमस्येरन् सर्वे छन्दानुवर्तिनः।
तमेव चोपजीवेरन् यथैव पितरं तथा ॥८॥

हे भारत! पिता की मृत्यु हो जाने पर बड़े भाई को ही पिता के समान समझना चाहिए। बड़े भाई को उचित है कि वह अपने छोटे भाइयों को जीविका प्रदान करे और उनका पालन-पोषण करे। छोटे भाइयों का कर्तव्य है कि वे सब बड़े भाई के सामने नतमस्तक हों तथा उसकी इच्छा के अनुसार चलें और बड़े भाई को ही पिता मानकर उसके आश्रय में जीवन व्यतीत करें।

शरीरमेतौ सृजतः पिता माता च भारत।
आचार्यशास्ता या जातिः सा सत्या साजरामरा ॥९॥

भरतनन्दन! माता और पिता केवल शरीर की सृष्टि करते हैं किन्तु आचार्य के उपदेश से जो ज्ञान-रूप नया जीवन प्राप्त होता है, वह सत्य, अजर और अमर होता है।

ज्येष्ठा मातृसमा चापि भगिनी भरतर्षभ।
भ्रातुर्भार्या च तद्वत्स्याद्यस्या बाल्ये स्तनं पिबेत् ॥१०॥

भरतभूषण! बड़ी बहन भी माता के समान है। इसी प्रकार बड़े भाई की पत्नी और बचपन में जिसका दुग्धपान किया वह धाय भी माता के समान है।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि अष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

एकोनविंशोऽध्याय।

सच्चा तीर्थ

युधिष्ठिर उवाच

यद् वरं सर्वतीर्थानां तन्मे ब्रूहि पितामह ।
यत्र चैव परं शौचं तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! जो सब तीर्थों में श्रेष्ठ हो और जहाँ जाने से परम शुद्धि हो जाती हो, मुझे उस तीर्थ के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक बताइए ।

भीष्म उवाच

सर्वाणि खलु तीर्थानि गुणवन्ति मनीषिणः ।
यत्तु तीर्थं च शौचं च तन्मे शृणु समाहितः ॥२॥

भीष्मजी बोले—युधिष्ठिर ! इस पृथिवी पर जितने तीर्थ हैं, वे सब मनीषी लोगों के लिए गुणकारी होते हैं, किन्तु उन सबमें जो परम पवित्र और प्रधान तीर्थ है, उसका वर्णन करता हूँ, ध्यानपूर्वक सुनो !

अगाधे विमले शुद्धे सत्यतोये धृतिह्रदे ।
स्नातव्यं मानसे तीर्थे सत्त्वमालम्ब्य शाश्वतम् ॥३॥

जिस धैर्यरूपी कुण्ड में सत्यरूप जल भरा हुआ है तथा जो अगाध, निर्मल और अत्यन्त शुद्ध है, उस मानस तीर्थ में परमात्मा का आश्रय लेकर स्नान करना चाहिए ।

तीर्थशौचमनर्थित्वमार्जवं सत्यमार्दवम् ।
अहिंसा सर्वभूतानामानृशंस्यं दमः शमः ॥४॥

कामना और याचना का अभाव, सरलता, सत्य, मृदुता, अहिंसा, समस्त प्राणियों के प्रति वैर-त्याग, इन्द्रिय-संयम और मनोनिग्रह—ये ही मानस तीर्थ के सेवन से प्राप्त होनेवाली पवित्रता के लक्षण हैं ।

निर्ममा निरहंकारा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः ।
शुचयस्तीर्थभूतास्ते ये भैक्ष्यमुपभुञ्जते ॥५॥

जो ममता, अहंकार, राग-द्वेषादि द्वन्द्व और परिग्रह से रहित तथा भिक्षा द्वारा जीवन-निर्वाह करते हैं, वे विशुद्ध अन्तःकरणवाले सज्जन तीर्थ-स्वरूप हैं ।

नोदकक्लिन्नगात्रस्तु स्नात इत्यभिधीयते ।
स स्नातो यो दमस्नातः स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः ॥६॥

शरीर को पानी से भिगो लेना स्नान नहीं कहलाता । वस्तुतः सच्चा स्नान तो उसने किया है जिसने मन-इन्द्रियों के संयमरूपी जल में गोता लगाया है, वही बाहर और भीतर से भी पवित्र माना गया है ।

वृत्तशौचं मनःशौचं तीर्थशौचमतः परम् ।
ज्ञानोत्पन्नं च यच्छौचं तच्छौचं परमं स्मृतम् ॥७॥

आचारशुद्धि, मनःशुद्धि, तीर्थशुद्धि और ज्ञान-शुद्धि—यह चार प्रकार की शुद्धि मानी गई है । इनमें भी ज्ञान से प्राप्त होनेवाली शुद्धि सर्वश्रेष्ठ मानी गई है ।

मनसा च प्रदीप्तेन ब्रह्मज्ञानजलेन च ।
स्नाति यो मानसे तीर्थे तत्स्नानं तत्त्वदर्शिनः ॥८॥

जो मनुष्य प्रसन्न और शुद्ध मन से ब्रह्मज्ञानरूपी जल के द्वारा मानस तीर्थ में स्नान करता है, उसका वह स्नान ही तत्त्वदर्शी ज्ञानी का स्नान माना गया है ।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि एकविंशोऽध्यायः ॥१९॥

विंशोऽध्यायः

धर्म का महत्त्व

युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद ।
श्रोतुमिच्छामि मर्त्यानां संसारविधिमुत्तमम् ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—सर्वशास्त्रों के ज्ञान में निष्णात महाप्राज्ञ पितामह ! अब मैं मनुष्यों की संसारयात्रा को पूर्ण करने की श्रेष्ठ विधि सुनना चाहता हूँ ।

केन वृत्तेन राजेन्द्र वर्तमाना नरा भुवि ।
प्राप्नुवन्त्युत्तमं स्वर्गं कथं च नरकं नृप ॥२॥

हे राजेन्द्र ! नरेश्वर ! संसार में रहनेवाले मनुष्य

किस आचरण [व्यवहार] से उत्तम स्वर्गलोक को प्राप्त करते हैं और किस व्यवहार से नरक में गिरते हैं।

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं जनाः।
प्रयान्त्यमुं लोकमितः को वैताननुगच्छति ॥३॥

जब लोग अपने मृतक शरीर को काठ और मिट्टी के ढेले के समान छोड़कर परलोक में जाते हैं, उस समय कौन उनके साथ जाता है?

भीष्म उवाच

अयमायाति भगवान् बृहस्पतिरुदारधीः।
पृच्छैनं सुमहाभागमेतद् गुह्यं सनातनम् ॥४॥

भीष्मजी बोले—तात! ये उदारबुद्धि भगवान् बृहस्पतिजी यहाँ पधार रहे हैं। तुम इन्हीं महाभाग से इस सनातन गूढ विषय के सम्बन्ध में पूछो।

वैशम्पायन उवाच

ततो धर्मसुतो राजा भगवन्तं बृहस्पतिम्।
उपगम्य यथान्यायं प्रश्नं पप्रच्छ तत्त्वतः ॥५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भीष्मजी के ऐसा कहने पर और बृहस्पति के पधारने पर धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर ने भगवान् बृहस्पति के पास जाकर यथोचित रीति से यह तात्त्विक प्रश्न उपस्थित किया—

युधिष्ठिर उवाच

भगवन् सर्वधर्मज्ञ सर्वशास्त्रविशारद।
मर्त्यस्य कः सहायो वै पिता माता सुतो गुरुः ॥६॥
मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं जनाः।
गच्छन्त्यमुत्रलोकं वै क एनमनुगच्छति ॥७॥

युधिष्ठिर ने पूछा—भगवन्! आप सब धर्मों के ज्ञाता और सब शास्त्रों के विद्वान् हैं, अतः बताइए, माता, पिता, पुत्र, गुरु आदि में से मनुष्य का सच्चा सहायक कौन है? जब सब लोग अपने मृतक शरीर को काठ और मिट्टी के ढेले के समान छोड़कर चल देते हैं, तब इस जीव के साथ परलोक में कौन जाता है?

बृहस्पतिरुवाच

एकः प्रसूयते राजन्नेक एव विनश्यति।
एकस्तरति दुर्गाणि गच्छत्येकस्तु दुर्गतिम् ॥८॥

बृहस्पतिजी बोले—राजन्! प्राणी अकेला ही जन्म लेता, अकेला ही मरता, अकेला ही दुःखसागर से पार होता और अकेला ही दुःख भोगता है।

असहायः पिता माता तथा भ्राता सुतो गुरुः।
ज्ञातिसम्बन्धिवर्गश्च मित्रवर्गस्तथैव च ॥९॥

पिता, माता, भाई, पुत्र, गुरु, ज्ञाति, सम्बन्धी और मित्रवर्ग—इनमें से कोई भी मृतक का सहायक नहीं हो सकता।

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं जनाः।
मुहूर्तमिव रोदित्वा ततो यान्ति पराङ्मुखाः ॥१०॥

लोग उसके मृतक शरीक को काठ और मिट्टी के ढेले की भाँति परे फेंककर दो घड़ी रोते हैं और फिर उसकी ओर से मुँह मोड़कर चल देते हैं।

तैस्तच्छरीरमुत्सृष्टं धर्म एकोऽनुगच्छति।
तस्माद् धर्मः सहायश्च सेवितव्यः सदा नृभिः ॥११॥

वे पारिवारिक जन तो उसके शरीर को छोड़कर चले जाते हैं, तब एकमात्र धर्म ही उस जीवात्मा का अनुसरण करता है, अतः धर्म ही सच्चा सहायक है। इसलिए मनुष्यों को सदा धर्म का ही सेवन करना चाहिए।

प्राणी धर्मसमायुक्तो गच्छेत् स्वर्गगतिं पराम्।
तथैवाधर्मसंयुक्तो नरकं चोपपद्यते ॥१२॥

धर्मयुक्त प्राणी को स्वर्ग में श्रेष्ठ गति प्राप्त होती है और अधर्मपरायण जीव नरक में पड़ता है।

तस्मान्न्यायागतैरर्थैर्धर्मं सेवेत पण्डितः।
धर्म एको मनुष्याणां सहायः पारलौकिकः ॥१३॥

अतः विद्वान् मनुष्य को चाहिए कि न्याय से प्राप्त [ईमानदारी और परिश्रम से प्राप्त] धन के द्वारा धर्म का अनुष्ठान करे। एकमात्र धर्म ही परलोक में मनुष्यों का सहायक है।

लोभान्मोहादनुक्रोशाद् भयाद् वाप्यबहुश्रुतः।
नरः करोत्यकार्याणि परार्थे लोभमोहितः ॥१४॥

जो बहुश्रुत नहीं है, ऐसा मनुष्य लोभ और मोह के वशीभूत होकर दूसरे के लिए लोभ, मोह, दया अथवा भय से न करने योग्य पापकर्म कर बैठता है।

धर्मश्चार्थश्च कामश्च त्रितयं जीविते फलम्।
एतत् त्रयमवाप्तव्यमधर्मपरिवर्जितम् ॥१५॥

धर्म, अर्थ और काम—ये तीन जीवन के फल हैं,

अतः मनुष्य को अधर्म को त्यागकर इन तीनों को प्राप्त करना चाहिए ।

वर्जयन्ति च पापानि जन्मप्रभृति ये नराः ।
अरोगा रूपवन्तस्ते धनिनश्च भवन्त्युत ॥१६॥

जो मनुष्य जन्म से ही पाप का परित्याग कर देते हैं, वे नीरोग, रूपवान् और धनी होते हैं ।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि विंशोऽध्यायः ॥२०॥

एकविंशोऽध्यायः

हिंसा और मांसभक्षण की घोर निन्दा

वैशम्पायन उवाच

ततो युधिष्ठिरो राजा शरतल्पे पितामहम् ।
पुनरेव महातेजाः पप्रच्छ वदतां वरः ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तत्पश्चात् महातेजस्वी और वक्ताओं में श्रेष्ठ नृप युधिष्ठिर ने शरशय्या पर लेटे हुए पितामह भीष्म से पुनः पूछा—

युधिष्ठिर उवाच

ऋषयो ब्राह्मणा देवाः प्रशंसन्ति महामते ।
अहिंसालक्षणं धर्मं वेदप्रामाण्यदर्शनात् ॥२॥
कर्मणा मनुजः कुर्वन् हिंसां पार्थिवसत्तम ।
वाचा च मनसा चैव कथं दुःखात् प्रमुच्यते ॥३॥

युधिष्ठिर ने पूछा—महामते ! ऋषि, देवता और ब्राह्मण वैदिक प्रमाण के अनुसार सदा अहिंसा-धर्म की प्रशंसा करते हैं, अतः नृपश्रेष्ठ ! मैं जानना चाहता हूँ कि मन, वचन अथवा कर्म से हिंसा का आचरण करनेवाला मनुष्य उसके दुःख से छुटकारा कैसे पा सकता है ?

भीष्म उवाच

चतुर्विधेयं निर्दिष्टा ह्यहिंसा ब्रह्मवादिभिः ।
एकैकतोऽपि विभ्रष्टा न भवत्यरिसूदन ॥४॥

भीष्मजी बोले—शत्रुसूदन ! ब्रह्मवादी लोग [मन, वचन और कर्म से हिंसा न करना तथा मांस न खाना—इन] चार उपायों से अहिंसाधर्म का पालन बतलाते हैं । इनमें से किसी एक अंश की भी कमी रह जाए तो अहिंसाधर्म का पूर्णरूप से पालन नहीं होता ।

यथा सर्वश्चतुष्पाद् वै त्रिभिः पादैर्न तिष्ठति ।
तथैवेयं महीपाल कारणैः प्रोच्यते त्रिभिः ॥५॥

राजन् ! जैसे चार पैरोंवाला पशु तीन पैरों से खड़ा नहीं रह सकता, वैसे ही केवल तीन ही कारणों से पालित हुई अहिंसा पूर्णतः अहिंसा नहीं कही जा सकती ।

कर्मणा लिप्यते जन्तुर्वाचा च मनसाऽपि च ।
पूर्वं तु मनसा त्यक्त्वा तथा वाचाथ कर्मणा ।
न भक्षयति यो मांसं त्रिविधं स विमुच्यते ॥६॥

मनुष्य मन, वाणी और कर्म द्वारा हिंसा के दोष से लिप्त होता है परन्तु जो पहले मन से, फिर वाणी से और अन्त में कर्म से हिंसा का त्याग करके कभी मांस नहीं खाता, वह पूर्वोक्त तीनों प्रकार की हिंसा के दोष से मुक्त हो जाता है ।

त्रिकारणं तु निर्दिष्टं श्रूयते ब्रह्मवादिभिः ।
मनो वाचि तथाऽऽस्वादे दोषा ह्येषु प्रतिष्ठिताः ॥७॥

ब्रह्मवादी महात्माओं ने हिंसा-दोष के प्रधान तीन कारण बताये हैं—मन [मांस खाने की इच्छा], वाणी [मांस खाने का उपदेश] और आस्वाद [प्रत्यक्ष रूप में मांस का स्वाद लेना]—ये तीनों ही हिंसा-दोष के आधार हैं ।

मांसस्याभक्षणाद् राजन् यो धर्मः कुरुनन्दन ।
तन्मे शृणु यथातत्त्वं यथास्य विधिरुत्तमः ॥८॥

राजन् ! कुरुनन्दन ! मांस न खाने से जो धर्म होता है, उसका मुझसे यथार्थ वर्णन सुनो तथा उस धर्म की जो श्रेष्ठ विधि है, उसे भी जान लो ।

रूपमव्यङ्गतामायुर्बुद्धिं सत्त्वं बलं स्मृतिम् ।
प्राप्तुकामैर्नरैर्हिंसा वर्जिता वै महात्मभिः ॥९॥

जो सुन्दर रूप, पूर्णाङ्गता, पूर्ण-आयु, उत्तम बुद्धि, सत्त्व, बल और स्मरण-शक्ति प्राप्त करना चाहते थे, उन महात्माओं ने हिंसा का सर्वथा त्याग कर दिया था ।

ऋषीणामत्र संवादो बहुशः कुरुनन्दन ।
बभूव तेषां तु मतं यत्तच्छृणु युधिष्ठिर ॥१०॥

कुरुनन्दन युधिष्ठिर ! इस विषय [मांस-भक्षण] को लेकर ऋषियों में अनेक बार प्रश्नोत्तर हो चुका है। अन्त में उन सबकी सम्मति से जो सिद्धान्त निश्चित हुआ है, उसे बताता हूँ, सुनो !

यो यजेताश्वमेधेन मासि मासि यतव्रतः ।
वर्जयेन्मधु मांसं च सममेतद् युधिष्ठिर ॥११॥

युधिष्ठिर ! जो मनुष्य नियमपूर्वक व्रत का पालन करता हुआ प्रतिमास अश्वमेध यज्ञ करता है, और जो केवल मद्य और मांस को त्याग देता है, उन दोनों को एक-सा ही फल मिलता है ।

न भक्षयति यो मांसं न च हन्यान्न घातयेत् ।
तन्मित्रं सर्वभूतानां मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥१२॥

स्वायम्भुव मनु का कथन है—"जो मनुष्य न मांस खाता है, न पशु-हिंसा करता और न दूसरे से ही हिंसा कराता है, वह सभी प्राणियों का मित्र होता है ।"

अधृष्यः सर्वभूतानां विश्वास्यः सर्वजन्तुषु ।
साधूनां सम्मतो नित्यं भवेन्मांसं विवर्जयन् ॥१३॥

जो मनुष्य मांस का परित्याग कर देता है, वह सब प्राणियों में आदरणीय, सब जीवों का विश्वसनीय और सदा साधुओं से सम्मानित होता है ।

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति ।
नास्ति क्षुद्रतरस्तस्मात्स नृशंसतरो नरः ॥१४॥

जो दूसरे के मांस से अपना मांस बढ़ाना चाहता है, उससे बढ़कर नीच और निर्दयी मनुष्य दूसरा कोई नहीं है ।

ददाति यजते चापि तपस्वी च भवत्यपि ।
मधुमांसनिवृत्त्येति प्राह चैवं बृहस्पतिः ॥१५॥

बृहस्पतिजी का कथन है—"जो मद्य और मांस त्याग देता है, वह दान देता, यज्ञ और तप करता है अर्थात् उसे इन तीनों का फल मिलता है ।"

सर्वभूतेषु यो विद्वान् ददात्यभयदक्षिणाम् ।
दाता भवति लोके स प्राणानां नात्र संशयः ॥१६॥

जो विद्वान् सब जीवों को अभयदान देता है, वह इस संसार में निश्चय ही प्राणदाता माना जाता है ।

एवं वै परमं धर्मं प्रशंसन्ति मनीषिणः ।
प्राणा यथाऽऽत्मनोऽभीष्टा भूतानामपि वै तथा ॥१७॥

इस प्रकार मनीषी पुरुष अहिंसारूप परमधर्म की प्रशंसा करते हैं । जैसे मनुष्य को अपने प्राण प्रिय होते हैं, वैसे ही सभी प्राणियों को अपने-अपने प्राण प्रिय जान पड़ते हैं ।

तस्माद् विद्धि महाराज मांसस्य परिवर्जनम् ।
धर्मस्यायतनं श्रेष्ठं स्वर्गस्य च सुखस्य च ॥१८॥

अतः महाराज ! आपको यह ज्ञात होना चाहिए कि मांस का परित्याग ही धर्म, स्वर्ग और सुख का सर्वोत्तम आधार है ।

अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परं तपः ।
अहिंसा परमं सत्यं यतो धर्मः प्रवर्तते ॥१९॥

अहिंसा परम धर्म है, अहिंसा परम तप है और अहिंसा परम सत्य है, क्योंकि उसी से धर्म की प्रवृत्ति होती है ।

न हि मांसं तृणात् काष्ठादुपलाद् वापि जायते ।
हत्वा जन्तुं ततो मांसं तस्माद् दोषस्तु भक्षणे ॥२०॥

मांस तृण से, काष्ठ [लकड़ी] से अथवा पत्थर से पैदा नहीं होता, वह प्राणी की हत्या करने पर ही उपलब्ध होता है, अतः उसके खाने में महान् दोष है।

स्वाहास्वधामृतभुजो देवाः सत्यार्जवप्रियाः ।
क्रव्यादान् राक्षसान् विद्धि जिह्मानृतपरायणान् ॥२१॥

जो लोग स्वाहा [देवयज्ञ] और स्वधा [पितृयज्ञ] का अनुष्ठान करके यज्ञशेष अमृत का भोजन करनेवाले और सत्य एवं सरलता-प्रिय होते हैं, वे देव हैं, परन्तु जो कुटिलता और असत्य-भाषण में प्रवृत्त होकर सदा मांसभक्षण करते हैं, उन्हें राक्षस समझना चाहिए ।

कान्तारेष्वथ घोरेषु दुर्गेषु गहनेषु च ।
अमांसभक्षणे राजन् भयमन्यैर्न गच्छति ॥२२॥

हे राजन् ! जो मनुष्य मांस नहीं खाता वह संकटपूर्ण स्थानों, भयंकर दुर्गों और गहन वनों में भी दूसरों से नहीं डरता ।

शरण्यः सर्वभूतानां विश्वास्यः सर्वजन्तुषु ।
अनुद्वेगकरो लोके न चाप्युद्विजते सदा ॥२३॥

वह समस्त प्राणियों को शरण देनेवाला और उन

सबका विश्वासपात्र होता है। संसार में वह न तो दूसरों को उद्वेग में डालता है और न स्वयं ही कभी किसी से उद्विग्न होता है।

यदि चेत् खादको न स्यान्न तदा घातको भवेत्।
घातकः खादकार्थाय तद् घातयति वै नरः ॥२४॥

यदि कोई मांसभक्षक न रहे तो पशुहिंसक भी कोई न रहे, क्योंकि हत्यारा मनुष्य मांस खानेवालों के लिए ही पशुओं की हिंसा करता है।

अभक्ष्यमेतदिति वै इति हिंसा निवर्तते।
खादकार्थमतो हिंसा मृगादीनां प्रवर्तते ॥२५॥

यदि मांस को अभक्ष्य समझकर लोग उसका परित्याग कर दें, तो पशुहिंसा स्वतः ही बन्द हो जाए, क्योंकि मांस खानेवालों के लिए ही मृग आदि पशुओं की हिंसा की जाती है।

यस्माद् ग्रसति चैवायुर्हिंसकानां महाद्युते।
तस्माद् विवर्जयेन्मांसं य इच्छेद् भूतिमात्मनः ॥२६॥

महातेजस्वी राजन्! हिंसकों की आयु को उनका पाप ग्रस लेता है, अतः अपने कल्याण के इच्छुक को मांसभक्षण सर्वथा छोड़ देना चाहिए।

धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं स्वस्त्ययनं महत्।
मांसस्याभक्षणं प्राहुर्नियताः परमर्षयः ॥२७॥

नियमपरायण महर्षियों ने मांसभक्षण के त्याग को ही धन, यश, दीर्घायु और स्वर्ग=सुख-प्राप्ति का प्रधान उपाय तथा परमकल्याण का साधन बताया है।

इदं तु खलु कौन्तेय श्रुतमासीत् पुरा मया।
मार्कण्डेयस्य वदतो ये दोषा मांसभक्षणे ॥२८॥

कुन्तीकुमार! मांसभक्षण में जो दोष हैं, उन्हें बतलाते हुए मार्कण्डेयजी के मुख से मैंने पूर्वकाल में ऐसा सुना था—

यो हि खादति मांसानि प्राणिनां जीवितैषिणाम्। ✓
हतानां वा मृतानां वा यथा हन्ता तथैव सः ॥२९॥

"जो जीवित रहने की इच्छावाले प्राणियों को मारकर अथवा उनके स्वयं मर जाने पर उनका मांस खाता है, वह न मारने पर भी उन प्राणियों का हत्यारा ही समझा जाता है।

धनेन क्रयिको हन्ति खादकश्चोपभोगतः।
घातको वधबन्धाभ्यामित्येष त्रिविधो वधः ॥३०॥

"खरीदनेवाला धन के द्वारा, खानेवाला उपभोग के द्वारा और हिंसक वध तथा बन्धन के द्वारा पशुओं की हिंसा करता है। इस प्रकार यह तीन प्रकार से प्राणियों का वध होता है।

अखादन्ननुमोदंश्च भावदोषेण मानवः।
योऽनुमोदति हन्यन्तं सोऽपि दोषेण लिप्यते ॥३१॥

"जो स्वयं तो मांस नहीं खाता परन्तु खानेवाले का अनुमोदन करता है, वह भी भाव-दोष के कारण मांसभक्षण के पाप का भागी होता है। इसी प्रकार जो मारनेवाले का अनुमोदन करता है, वह भी हिंसा के दोष से लिप्त होता है।

अधृष्यः सर्वभूतानामायुष्मान् नीरुजः सदा।
भवत्यभक्षयन्मांसं दयावान् प्राणिनामिह ॥३२॥

"जो मनुष्य मांस नहीं खाता और संसार में सब प्राणियों पर दया करता है, वह सब प्राणियों में आदरणीय, सदा दीर्घायु और नीरोग होता है।

हिरण्यदानैर्गोदानैर्भूमिदानैश्च सर्वशः।
मांसस्याभक्षणे धर्मो विशिष्टः स्यादिति श्रुतिः ॥३३॥

"सुवर्णदान, गोदान और भूमिदान करने से जो धर्म प्राप्त होता है, मांसभक्षण न करने से उसकी अपेक्षा भी विशिष्ट धर्म की प्राप्ति होती है, ऐसा सुना जाता है। हि के

इज्यायज्ञश्रुतिकृतैर्यो मार्गैरबुधोऽधमः।
हन्याज्जन्तून् मांसगृध्नुः स वै नरकभाङ् नरः ॥३४॥

"जो मांसलोभी मूर्ख एवं अधम मनुष्य यज्ञ-याग आदि वैदिक मार्गों के नाम पर प्राणियों की हिंसा करता है, वह नरकगामी होता है।

भक्षयित्वापि यो मांसं पश्चादपि निवर्तते।
तस्यापि सुमहान् धर्मो यः पापाद्विनिवर्तते ॥३५॥

"जो पहले मांस खाने के पश्चात् उसे छोड़ देता है, उसे भी बड़े भारी धर्म की प्राप्ति होती है, क्योंकि वह पाप से निवृत्त हो गया है।

आहर्ता चानुमन्ता च विशस्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चोपभोक्ता च खादकाः सर्व एव ते ॥३६॥

"जो मनुष्य वध करने के लिए पशु लाता है, जो उसे मारने की अनुमति देता है, जो उसका वध करता

है तथा जो उसे खरीदता, बेचता, पकाता, और खाता है—ये सब-के-सब खानेवाले ही माने जाते हैं, अर्थात् ये सब खानेवाले के समान ही पाप के भागी होते हैं।"

मधुमांसं च ये नित्यं वर्जयन्तीह धार्मिकाः।
जन्मप्रभृति मद्यं च सर्वे ते मुनयः स्मृताः ॥३७॥

जो धर्मात्मा पुरुष इस संसार में जन्म से ही शहद, मद्य और मांस का सदा के लिए परित्याग कर देते हैं, वे सब-के-सब मुनि माने गये हैं।

न हि प्राणात् प्रियतरं लोके किंचन विद्यते।
तस्माद् दयां नरः कुर्याद् यथाऽऽत्मनि तथा परे ॥३८॥

संसार में अपने प्राणों से बढ़कर प्रिय दूसरी कोई वस्तु नहीं है, अतः मनुष्य जैसे अपने ऊपर दया चाहता है, वैसे ही दूसरों पर भी दया करे।

शुक्राच्च तात सम्भूतिर्मांसस्येह न संशयः।
भक्षणे तु महान् दोषो निवृत्त्या पुण्यमुच्यते ॥३९॥

तात ! मांस की उत्पत्ति वीर्य से होती है, इसमें सन्देह नहीं है, अतः मांसभक्षण में महान् दोष है और मांस न खाना पुण्य बताया गया है।

न ह्यतः सदृशं किंचिदिह लोके परत्र च।
यत् सर्वेष्विह भूतेषु दया कौरवनन्दन ॥४०॥

कौरवनन्दन ! इहलोक और परलोक में समस्त प्राणियों पर दया करने के समान दूसरा कोई पुण्य-कार्य नहीं है।

न भयं विद्यते जातु नरस्येह दयावतः।
दयावतामिमे लोकाः परे चापि तपस्विनाम् ॥४१॥

इस संसार में दयालु मनुष्य को कभी भय का सामना नहीं करना पड़ता। दयालु और तपस्वी पुरुषों के लिए यह लोक और परलोक दोनों ही सुख प्रदान करते हैं।

अहिंसालक्षणो धर्म इति धर्मविदो विदुः।
यदहिंसात्मकं कर्म तत्कुर्यादात्मवान् नरः ॥४२॥

धर्मज्ञ लोग यह जानते हैं कि अहिंसा ही धर्म का लक्षण है, अतः मनस्वी मनुष्य वही कर्म करे जो अहिंसात्मक हो।

अभयं सर्वभूतेभ्यो यो ददाति दयापरः।
अभयं तस्य भूतानि ददतीत्यनुशुश्रुमः ॥४३॥

जो दयालु मनुष्य सभी प्राणियों को अभयदान देता है, उसे भी सब प्राणी अभयदान देते हैं, ऐसा हमने सुना है।

प्राणदानात्परं दानं न भूतं न भविष्यति।
न ह्यात्मनः प्रियतरं किञ्चिदस्तीह निश्चितम् ॥४४॥

प्राणदान से बढ़कर दूसरा कोई दान न हुआ है और न होगा। अपने आत्मा से बढ़कर प्रियतर वस्तु दूसरी कोई नहीं है, यह निश्चित बात है।

अनिष्टं सर्वभूतानां मरणं नाम भारत।
मृत्युकाले हि भूतानां सद्यो जायते वेपथुः ॥४५॥

भरतकुमार ! किसी भी प्राणी को मृत्यु अभीष्ट नहीं है, क्योंकि मृत्यु के समय सभी प्राणियों का शरीर तुरन्त काँप उठता है।

जातिजन्मजरादुःखैर्नित्यं संसारसागरे।
जन्तवः परिवर्तन्ते मरणादुद्विजन्ति च ॥४६॥

इस संसार-सागर में समस्त प्राणी सदा गर्भवास, जन्म और बुढ़ापा आदि के दुःखों से दुःखी होकर चारों ओर भटकते रहते हैं, साथ ही मृत्यु-भय से उद्विग्न रहते हैं।

नात्मनोऽस्ति प्रियतरः पृथिवीमनुसृत्य ह।
तस्मात्प्राणिषु सर्वेषु दयावानात्मवान् भवेत् ॥४७॥

इस भूमण्डल पर अपने आत्मा से बढ़कर कोई प्रिय पदार्थ नहीं है, अतः मनुष्य को चाहिए कि सब प्राणियों पर दया करे और सबको अपना ही आत्मा समझे।

न तत्परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः।
एष संक्षेपतो धर्मः कामादन्यः प्रवर्तते ॥४८॥

जो बात अपने को अच्छी न लगे, वह दूसरों के प्रति भी नहीं करनी चाहिए। यह संक्षेप में धर्म का लक्षण है, इससे भिन्न व्यवहार कामनामूलक है।

सर्वमांसानि यो राजन् यावज्जीवं न भक्षयेत्।
स्वर्गे स विपुलं स्थानं प्राप्नुयान्नात्र संशयः ॥४९॥

राजन् ! जो जीवनभर किसी भी प्राणी का मांस नहीं खाता, वह स्वर्ग में श्रेष्ठ एवं विशाल स्थान पाता है, इसमें संशय नहीं है।

ये भक्षयन्ति मांसानि भूतानां जीवितैषिणाम्।
भक्ष्यन्ते तेऽपि भूतैस्तैरिति मे नास्ति संशयः ॥५०॥

जो जीवित रहने की इच्छावाले प्राणियों का मांस खाते हैं, वे दूसरे जन्म में उन्हीं प्राणियों द्वारा भक्षण किये जाते हैं, इस विषय में मुझे तनिक भी संशय नहीं है।

मां स भक्षयते यस्माद् भक्षयिष्ये तमप्यहम्।
एतन्मांसस्य मांसत्वमनुबुद्ध्यस्व भारत ॥५१॥

हे भारत! [वध्य प्राणी कहता है—] 'आज मुझे वह खाता है, तो कभी मैं भी उसे खाऊँगा'—यही मांस का मांसत्व है—यही मांस शब्द का तात्पर्य है।

घातको वध्यते नित्यं तथा वध्यति भक्षिता।
आक्रोष्टा क्रुध्यते राजंस्तथा द्वेष्यत्वमाप्नुते ॥५२॥

राजन्! इस जन्म में जिस जीव की हिंसा होती है, वह दूसरे जन्म में सदा ही अपने घातक का वध करता है, फिर भक्षण करनेवाले को भी मार डालता है। जो दूसरों की निन्दा करता है, वह स्वयं भी दूसरों के क्रोध और द्वेष का पात्र होता है।

येन येन शरीरेण यद् यत्कर्म करोति यः।
तेन तेन शरीरेण तत्तत् फलमुपाश्नुते ॥५३॥

जो जिस-जिस शरीर से जो-जो कर्म करता है, वह दूसरे जन्म में उस-उस शरीर से ही उस-उस कर्म का फल भोगता है।

अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परो दमः।
अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः ॥५४॥

अहिंसा परम धर्म है, अहिंसा परम संयम है, अहिंसा परम दान है और अहिंसा परम तप है।

अहिंसा परमो यज्ञस्तथाहिंसा परं फलम्।
अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं सुखम् ॥५५॥

अहिंसा परम यज्ञ है, अहिंसा परम फल है, अहिंसा परम मित्र है तथा अहिंसा परम सुख है।

सर्वयज्ञेषु वा दानं सर्वतीर्थेषु वाऽऽप्लुतम्।
सर्वदानफलं वापि नैतत्तुल्यमहिंसया ॥५६॥

सम्पूर्ण यज्ञों में दिया हुआ दान, समस्त तीर्थों में किया हुआ स्नान और समस्त दानों का जो फल है—यह सब मिलकर भी अहिंसा के बराबर नहीं हो सकता।

अहिंस्रस्य तपोऽक्षय्यमहिंस्रो यजते सदा।
अहिंस्रः सर्वभूतानां यथा माता यथा पिता ॥५७॥

जो हिंसा नहीं करता, उसका तप अक्षय होता है, वह सदा यज्ञ करनेवाले का फल पाता है। हिंसा न करनेवाला मनुष्य सम्पूर्ण प्राणियों के माता-पिता के समान होता है।

एतत् फलमहिंसाया भूयश्च कुरुपुङ्गव।
न हि शक्या गुणा वक्तुमपि वर्षशतैरपि ॥५८॥

कुरुश्रेष्ठ! यह अहिंसा का फल है। यही क्या, अहिंसा का तो इससे भी अधिक फल है। अहिंसा से होनेवाले लाभों का वर्णन तो सौ वर्षों में भी नहीं किया जा सकता।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि एकविंशोऽध्यायः ॥२१॥

द्वाविंशोऽध्यायः

दान-प्रशंसा

युधिष्ठिर उवाच

विद्या तपश्च दानं च किमेतेषां विशिष्यते।
पृच्छामि त्वां सतां श्रेष्ठ तन्मे ब्रूहि पितामह ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—सज्जनों में श्रेष्ठ पितामह! विद्या, तप और दान—इनमें से कौन-सा श्रेष्ठ है? यह मैं आपसे पूछता हूँ, मुझे बताइए।

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
मैत्रेयस्य च संवादं कृष्णद्वैपायनस्य च ॥२॥

भीष्मजी बोले—राजन्! इस विषय में श्रीकृष्ण द्वैपायन व्यास और मैत्रेय के संवादरूप इस प्राचीन इतिहास का उदाहरण दिया जाता है।

कृष्णद्वैपायनो राजन्नज्ञातचरितं चरन्।
वाराणस्यामुपातिष्ठन्मैत्रेयं स्वैरिणीकुले ॥३॥

हे नरेश्वर! एक बार व्यासजी गुप्तरूप से विचरते हुए वाराणसी में पहुँचे। वहाँ वे मुनियों की मण्डली में बैठे हुए मैत्रेयमुनि के यहाँ उपस्थित हुए।

तमुपस्थितमासीनं ज्ञात्वा स मुनिसत्तमम्।
अर्चित्वा भोजयामास मैत्रेयोऽशनमुत्तमम् ॥४॥

पास आकर बैठे हुए मुनिवर व्यासजी को

पहचानकर मैत्रेयजी ने उनका आदर-सत्कार किया और उन्हें उत्तम भोजन कराया।

तदन्नमुत्तमं भुक्त्वा गुणवत् सार्वकामिकम्।
प्रतिष्ठमानोऽस्मयत प्रीतः कृष्णो महामनाः ॥५॥

उस उत्तम, सुगन्धित और सबकी रुचि के अनुकूल भोजन का सेवन करके महामना व्यासजी अति सन्तुष्ट हुए और वहाँ से प्रस्थान करते समय मुस्कराए।

तमुत्स्मयन्तं सम्प्रेक्ष्य मैत्रेयः कृष्णमब्रवीत्।
कारणं ब्रूहि धर्मात्मन् व्यस्मयिष्ठाः कुतश्च ते ॥६॥

उन्हें मुस्कराते देख मैत्रेयजी ने व्यासजी से पूछा—"धर्मात्मन्! आप अभी-अभी जो मुस्कराये हैं, उसका कारण क्या है? आपको हँसी कैसे आई?"

व्यास उवाच

अतिच्छन्दातिवादाभ्यां स्मयोऽयं समुपागतः।
असत्यं वेदवचनं कस्माद् वेदोऽनृतं वदेत् ॥७॥

व्यासजी बोले—मुझे यहाँ अतिच्छन्द[1] और अतिवाद[2] दोनों प्राप्त हुए हैं, अतः मेरा यह विस्मय एवं हर्षोल्लास प्रकट हुआ है। [दान और आतिथ्य का महत्त्व वेदों द्वारा प्रतिपादित हुआ है]। वेदों का वचन कभी मिथ्या नहीं हो सकता। भला, वेद मिथ्या क्यों कहेगा?

त्रीण्येव तु पदान्याहुः पुरुषस्योत्तमं व्रतम्।☐
न द्रुह्येच्चैव दद्याच्च सत्यं चैव परं वदेत् ॥८॥

वेद मनुष्यों के लिए तीन बातों को उत्तम व्रत बताते हैं—किसी के प्रति द्रोह—वैरभाव न रखे, दान दे और दूसरों से सदा सत्य-वचन बोले।

अल्पोऽपि तादृशो दायो भवत्युत महाफलः।
तृषिताय च ते दत्तं हृदयेनानसूयता ॥९॥

शास्त्रविधि के अनुसार दिया हुआ थोड़ा-सा भी दान महान् फल देनेवाला होता है। तुमने ईर्ष्या-रहित हृदय से भूखे-प्यासे अतिथि को अन्न-जल का दान किया है।

ततो दानपवित्रेण प्रीतोऽस्मि तपसैव च।
पुण्यस्यैव हि ते सत्त्वं पुण्यस्यैव च दर्शनम् ॥१०॥

इस दान के द्वारा पवित्र हुई तुम्हारी तपस्या से मैं बहुत सन्तुष्ट हुआ हूँ। तुम्हारा बल पुण्य का बल है और तुम्हारा दर्शन भी पुण्य का ही दर्शन है।

पुण्यस्यैवाभिगन्धस्ते मन्ये कर्मविधानजम्।
अधिकं मार्जनात् तात तथा चैवानुलेपनात् ॥११॥

तुम्हारे शरीर से जो सदा पुण्य की सुगन्ध फैलती रहती है, इसे मैं तुम्हारे दानरूप पुण्यकर्म के अनुष्ठान का ही फल मानता हूँ। तात! दान करना तीर्थ-स्नान तथा वैदिक-व्रत की पूर्ति से भी बढ़कर है।

शुभं सर्वपवित्रेभ्यो दानमेव परं द्विज।
न चेत् सर्वपवित्रेभ्यो दानमेव परं भवेत् ॥१२॥

ब्रह्मन्! जितने पवित्र कर्म हैं, उन सबमें दान ही सबसे बढ़कर पवित्र और कल्याणकारी है। यदि दान ही समस्त पवित्र वस्तुओं में श्रेष्ठ न होता तो वेद-शास्त्रों में उसकी इतनी प्रशंसा न गाई जाती।

दानकृद्भिः कृतः पन्था येन यान्ति मनीषिणः।
ते हि प्राणस्य दातारस्तेषु धर्मः प्रतिष्ठितः ॥१३॥

दाताओं ने जो मार्ग बना दिया है, मनीषी लोग उसीसे चलते हैं। दानदाता प्राणदाता समझे जाते हैं। उन्हीं में धर्म प्रतिष्ठित है।

यथा वेदाः स्वधीताश्च यथा चेन्द्रियसंयमः।
सर्वत्यागो यथा चेह तथा दानमनुत्तमम् ॥१४॥

जैसे वेदों का स्वाध्याय, इन्द्रियों का संयम और सर्वस्व-त्याग उत्तम है, वैसे ही इस संसार में दान भी उत्तम माना गया है।

त्वं हि तात महाबुद्धे सुखमेष्यसि शोभनम्।
सुखात् सुखतरप्राप्तिमाप्नुते मतिमान्नरः ॥१५॥

तात! महाबुद्धे! तुम्हें इस दान के कारण उत्तम सुख की प्राप्ति होगी। बुद्धिमान् मनुष्य दान करके उत्तरोत्तर सुख प्राप्त करता है।

तन्नः प्रत्यक्षमेवेदमुपलभ्यमसंशयम्।
श्रीमन्तः प्राप्नुवन्त्यर्थान् दानं यज्ञं तथा सुखम् ॥१६॥

यह बात हम लोगों के सामने प्रत्यक्ष और सन्देह-

---

[1] अतिथि को अत्यन्त गौरव प्रदान करते हुए उसकी इच्छा के अनुसार सत्कार करना 'अतिच्छन्द' कहलाता है।

[2] वाणी द्वारा अतिथि के गौरव का प्रकाशन करना 'अतिवाद' कहलाता है।

रहित है कि आप-जैसे श्रीसम्पन्न मनुष्य जब धन पाते हैं, तब उससे दान, यज्ञ और सुख-भोग करते हैं।

त्रिविधानीहि वृत्तानि नरस्याहुर्मनीषिणः ।
पुण्यमन्यत् पापमन्यन्न पुण्यं न च पापकम् ॥१७॥

इस संसार में मनीषियों ने मनुष्य के तीन प्रकार के आचरण बताये हैं—पुण्यमय, पापमय और पुण्य-पाप दोनों से रहित ।

यज्ञदानतपःशीला नरा वै पुण्यकर्मिणः ।
येऽभिद्रुह्यन्ति भूतानि ते वै पापकृतो जनाः ॥१८॥

जो यज्ञ, दान और तपस्या में संलग्न रहते हैं, वे मनुष्य पुण्य-कर्म करनेवाले हैं और जो प्राणियों से द्रोह करते हैं, वे पापी समझे जाते हैं ।

द्रव्याण्यादवते चैव दुःखं यान्ति पतन्ति च ।
ततोऽन्यत् कर्म यत्किञ्चिन्न पुण्यं न च पातकम् ॥१९॥

जो दूसरों का धन चुराते हैं, वे दुःख पाते और नरक में पड़ते हैं । इन उपर्युक्त शुभाशुभ कर्मों से भिन्न जो साधारण चेष्टा है, वह न तो पुण्य है और न पाप ही है ।

रमस्वैधस्व मोदस्व देहि चैव यजस्व च ।□
न त्वामभिभविष्यन्ति वैद्या न च तपस्विनः ॥२०॥

महर्षे ! तुम आनन्दपूर्वक स्वधर्मपालन में रत रहो, तुम्हारी निरन्तर उन्नति हो, तुम प्रसन्न रहो, दान दो और यज्ञ करो। विद्वान् और तपस्वी तुम्हारा पराभव नहीं कर सकेंगे ।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि द्वाविंशोऽध्यायः ॥२२॥

त्रयोविंशोऽध्यायः

पतिव्रता स्त्रियों के कर्तव्य

युधिष्ठिर उवाच

सत्स्त्रीणां समुदाचारं सर्वधर्मविदां वर ।
श्रोतुमिच्छाम्यहं त्वत्तस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—समस्त धर्मज्ञों में श्रेष्ठ पितामह ! साध्वी स्त्रियों के सदाचार का क्या स्वरूप है ? यह मैं आपके मुखारविन्द से सुनना चाहता हूँ, कृपया मुझे बताइए ।

भीष्म उवाच

सर्वज्ञां सर्वतत्त्वज्ञां देवलोके मनस्विनीम् ।
कैकेयी सुमना नाम शाण्डिलीं पर्यपृच्छत ॥२॥

भीष्मजी बोले—राजन् ! देवलोक में सम्पूर्ण तत्त्वों को जाननेवाली सर्वज्ञा तथा मनस्विनी शाण्डिलीदेवी से केकेयराज की पुत्री सुमना ने पूछा—

केन वृत्तेन कल्याणि समाचारेण केन वा ।
विधूय सर्वपापानि देवलोकं त्वमागता ॥३॥

"कल्याणि ! तुमने किस व्यवहार अथवा सदाचार के प्रभाव से समस्त पापों का नाश करके देवलोक में पदार्पण किया है ?"

इति पृष्टा सुमनया मधुरं चारुहासिनी ।
शाण्डिली निभृतं वाक्यं सुमनामिदमब्रवीत् ॥४॥

मधुरवाणी में सुमना के इस प्रकार पूछने पर मनोहर मुस्कानवाली शाण्डिली ने उससे नम्रतापूर्ण शब्दों में इस प्रकार कहा—

नाहं काषायवसना नापि वल्कलधारिणी ।
न च मुण्डा च जटिला भूत्वा देवत्वमागता ॥५॥

"देवि ! मैंने गेरुआवस्त्र धारण नहीं किया, वल्कलवस्त्र नहीं पहना, मूँड नहीं मुँड़ाया और बड़ी-बड़ी जटाएँ भी नहीं रखीं। वह सब करके मैं देवलोक में नहीं आई हूँ ।

अहितानि च वाक्यानि सर्वाणि परुषाणि च ।
अप्रमत्ता च भर्तारं कदाचिन्नाहमब्रुवम् ॥६॥

"मैंने सदा सावधान रहकर अपने पति के प्रति मुख से कभी अहितकर एवं कठोर वचन नहीं निकाले हैं ।

देवतानां पितॄणां च ब्राह्मणानां च पूजने ।
अप्रमत्ता सदा युक्ता श्वश्रूश्वशुरवर्तिनी ॥७॥

"मैं सदा सास-ससुर की आज्ञा में रहती और विद्वान्, ज्ञानी तथा ब्राह्मणों की पूजा में सावधान होकर तत्पर रहती थी ।

पैशुन्ये न प्रवर्तामि न ममैतन्मनोगतम् ।
अद्वारि न च तिष्ठामि चिरं न कथयामि च ॥८॥

"न मैं किसी की चुगली करती थी और न चुगली करना मुझे पसन्द था । मैं घर का दरवाजा छोड़कर अन्यत्र कहीं खड़ी नहीं होती थी और न देर तक किसी से बात करती थी ।

असद् वा हसितं किंचिदहितं वापि कर्मणा ।
रहस्यमरहस्यं वा न प्रवर्तामि सर्वथा ॥९॥

"मैंने कभी एकान्त में अथवा सबके सामने किसी के साथ अश्लील परिहास नहीं किया और मेरे किसी कर्म द्वारा किसी को हानि भी नहीं पहुँची । मैं दूसरों के लिए हानिप्रद कार्यों में कभी प्रवृत्त नहीं होती थी ।

कार्यार्थे निर्गतं चापि भर्तारं गृहमागतम् ।
आसनेनोपसंयोज्य पूजयामि समाहिता ॥१०॥

"यदि मेरे पतिदेव किसी कार्य से बाहर जाकर फिर घर को लौटते तो मैं उठकर उन्हें बैठने के लिए आसन देती और एकाग्रचित्त हो उनकी पूजा करती थी ।

यदन्नं नाभिजानाति यद् भोज्यं नाभिनन्दति ।
भक्ष्यं वा यदि वा लेह्यं तत्सर्वं वर्जयाम्यहम् ॥११॥

"मेरे पतिदेव जिस अन्न को ग्रहण करने के अयोग्य समझते थे और जिस भक्ष्य, भोज्य अथवा लेह्य आदि को वे पसन्द नहीं करते थे, उन सबको मैं भी त्याग देती थी ।

कुटुम्बार्थे समानीतं यत्किंचित् कार्यमेव तु ।
प्रातरुत्थाय तत्सर्वं कारयामि करोमि च ॥१२॥

"सारे परिवार के लिए जो कुछ कार्य आ पड़ता, वह सब मैं प्रातः उठकर ही कर-करा लेती थी ।

प्रवासं यदि मे याति भर्ता कार्येण केनचित् ।
मङ्गलैर्बहुभिर्युक्ता भवामि नियता तदा ॥१३॥

"यदि मेरे पतिदेव किसी आवश्यक कार्यवश कभी परदेश जाते तो मैं नियम से रहकर उनके कल्याण के लिए नाना प्रकार के माङ्गलिक कार्य किया करती थी ।

अञ्जनं रोचनां चैव स्नानं माल्यानुलेपनम् ।
प्रसाधनं च निष्क्रान्ते नाभिनन्दामि भर्तरि ॥१४॥

"पति के बाहर चले जाने पर मैं आँखों में अञ्जन, ललाट में गोरोचन का तिलक, तेलमर्दनपूर्वक स्नान, पुष्पमाला का धारण, अङ्गों में अङ्गराग लगाना और शृङ्गार करना पसन्द नहीं करती थी ।

नोत्थापयामि भर्तारं सुखसुप्तमहं सदा ।
आन्तरेष्वपि कार्येषु तेन तुष्यति मे मनः ॥१५॥

"मैं सुखपूर्वक सोये हुए स्वामी को आवश्यक कार्य आ जाने पर भी कभी जगाती नहीं थी । इससे मेरे मन को विशेष सन्तोष प्राप्त होता था ।

नायासयामि भर्तारं कुटुम्बार्थेऽपि सर्वदा ।
गुप्तगुह्या सदा चास्मि सुसम्मृष्टनिवेशना ॥१६॥

"परिवार के पालन-पोषण के कार्य के लिए भी मैं उन्हें कभी तंग नहीं करती थी । घर की गुप्त बातों को सदा छिपाये रखती और घर को सदा झाड़-बुहारकर स्वच्छ रखती थी ।

इमं धर्मपथं नारी पालयन्ती समाहिता ।
अरुन्धतीव नारीणां स्वर्गलोके महीयते ॥१७॥

"जो स्त्री सदा सावधान रहकर इस धर्ममार्ग पर आचरण करती है, वह नारियों में अरुन्धती के समान आदरणीय होकर स्वर्गलोक में विशेष प्रतिष्ठा पाती है ।"

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि त्रयोविंशोऽध्यायः ॥२३॥

चतुर्विंशोऽध्यायः

पाँच प्रकार के दानों का वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

दानं कतिविधं देयं किं तस्य च फलं लभेत् ।
कथं केभ्यश्च धर्म्यं च श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! दान के कितने भेद हैं ? जो दान दिया जाता है, उसका क्या फल मिलता है ? कैसे और किन लोगों को दान देना धर्म के अनुकूल है ? यह सब मैं यथार्थरूप से सुनना चाहता हूँ ।

भीष्म उवाच

शृणु तत्त्वेन कौन्तेय दानं प्रति ममानघ ।
यथा दानं प्रदातव्यं सर्ववर्णेषु भारत ॥२॥

भीष्मजी बोले—निष्पाप कुन्तीकुमार ! भरत-भूषण ! दान के सम्बन्ध में मैं यथार्थरूप से जो कुछ कहता हूँ, सुनो ! सभी वर्ण के लोगों को दान कैसे देना चाहिए—यह बताता हूँ ।

धर्मादर्थाद् भयात्कामात्कारुण्यादिति भारत ।
दानं पञ्चविधं ज्ञेयं कारणैर्यैर्निबोध तत् ॥३॥

भारत ! धर्म, अर्थ, भय, कामना और दया—इन पाँच हेतुओं से दान को पाँच प्रकार का समझना चाहिए । अब जिन कारणों से दान देना उचित है उन्हें सुनो !

इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्य चानुत्तमं सुखम् ।
इति दानं प्रदातव्यं ब्राह्मणेभ्योऽनसूयता ॥४॥

दानी मनुष्य इस संसार में कीर्ति और परलोक में सर्वोत्तम सुख पाता है, अतः मनुष्य ईर्ष्यारहित होकर ब्राह्मणों को अवश्य दान करे । [यह धर्ममूलक दान है ।]

ददाति वा दास्यति वा मह्यं दत्तमनेन वा ।
इत्यर्थिभ्यो निशम्यैव सर्वं दातव्यमर्थिने ॥५॥

'ये दान देते हैं', 'ये दान देंगे' अथवा 'इन्होंने मुझे दान दिया है'—याचकों के मुख से ऐसी बातें सुनकर अपने यश की इच्छा से प्रत्येक याचक को उसकी इच्छा के अनुसार सब-कुछ देना चाहिए । [यह अर्थमूलक दान है ।]

नास्याहं न मदीयोऽयं पापं कुर्याद् विमानितः ।
इति दद्याद् भयादेव दृढं मूढाय पण्डितः ॥६॥

'न मैं इसका हूँ, न यह मेरा है, तो भी यदि इसको कुछ न दूँ तो अपमानित होकर यह मेरा अनिष्ट कर डालेगा'—इस भय से ही विद्वान् पुरुष जब किसी मूर्ख को दान दे तो यह भयमूलक दान है ।

प्रियो मेऽयं प्रियोऽस्याहमिति सम्प्रेक्ष्य बुद्धिमान् ।
वयस्यायैवमक्लिष्टं दानं दद्यादतन्द्रितः ॥७॥

'यह मेरा प्रिय है और मैं इसका प्रिय हूँ'—ऐसा विचारकर जो बुद्धिमान् मनुष्य आलस्य छोड़कर अपने मित्र को प्रसन्नतापूर्वक दान देता है [यह कामनामूलक दान है ।]

दीनश्च याचते चायमल्पेनापि हि तुष्यति ।
इति दद्याद् दरिद्राय कारुण्यादिति सर्वथा ॥८॥

'यह बेचारा बड़ा गरीब है और मुझसे याचना कर रहा है, साथ ही थोड़ा देने से भी सन्तुष्ट हो जाएगा'—ऐसा सोचकर दरिद्र मनुष्य के लिए सर्वथा दयावश दान देना चाहिए ।

इति पञ्चविधं दानं पुण्यकीर्तिविवर्धनम् ।
यथाशक्त्या प्रदातव्यमेवमाह प्रजापतिः ॥९॥

यह पाँच प्रकार का दान पुण्य और कीर्ति को बढ़ानेवाला है । 'यथाशक्ति सभी को दान देना चाहिए'—ऐसा प्रजापति का कथन है ।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि चतुर्विंशोऽध्यायः ॥२४॥

पञ्चविंशोऽध्यायः

वर्णाश्रमधर्म का निरूपण

युधिष्ठिर उवाच

धर्मः किंलक्षणः प्रोक्तः कथं वाचरितुं नरैः ।
शक्यो धर्ममविन्दद्भिर्धर्मज्ञ वद मे प्रभो ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—प्रभो ! धर्मज्ञ ! धर्म का क्या लक्षण बताया गया है ? जो धर्म को नहीं जानते, ऐसे मनुष्य धर्म का आचरण कैसे कर सकते हैं ? यह मुझे बताइए ।

भीष्म उवाच

अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतानुकम्पनम् ।
शमो दानं यथाशक्ति गार्हस्थ्यो धर्म उत्तमः ॥२॥

भीष्मजी बोले—राजन् ! किसी भी जीव की हिंसा न करना, सत्य बोलना, सब प्राणियों पर दया करना, मन और इन्द्रियों को वश में रखना और

अपनी शक्ति के अनुसार दान देना—गृहस्थाश्रम का उत्तम धर्म है ।

परदारेष्वसंसर्गो न्यासस्त्रीपरिरक्षणम् ।
अदत्तादानविरमो मधुमांसस्य वर्जनम् ।।३।।
एष पञ्चविधो धर्मो बहुशाखः सुखोदयः ।
देहिभिर्धर्मपरमैश्चर्तव्यो धर्मसम्भवः ।।४।।

[उपर्युक्त गृहस्थ-धर्मों का पालन करना,] पर-स्त्री के संसर्ग से दूर रहना, धरोहर और स्त्री की रक्षा करना, बिना दिये किसी की वस्तु न लेना और मद्य तथा मांस का परित्याग—ये पाँच धर्म के भेद हैं, जो सुख की प्राप्ति करानेवाले हैं । इनमें से एक-एक धर्म की अनेक शाखाएँ हैं । धर्म को श्रेष्ठ माननेवाले मनुष्य को चाहिए कि वे पुण्यप्रद धर्म का पालन अवश्य करें ।

युधिष्ठिर उवाच

भगवन् संशयो मेऽस्ति तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ।
चातुर्वर्ण्यस्य धर्मं वै नैपुण्येन प्रकीर्तय ।।५।।

युधिष्ठिर ने कहा—भगवन् ! मेरे मन में अभी संशय रह गया है, अतः उसकी व्याख्या करके मुझे समझाइए । आप चारों वर्णों के धर्मों का पूर्णरूप से प्रतिपादन कीजिए ।

भीष्म उवाच

रहस्यश्रवणं धर्मो वेदव्रतनिषेवणम् ।
अग्निकार्यं तथा धर्मो गुरुकार्यप्रसाधनम् ।।६।।

भीष्मजी बोले—धर्म का रहस्य सुनना, वेदोक्त-व्रत का पालन करना, यज्ञ और गुरुसेवा करना—यह ब्रह्मचर्याश्रम का धर्म है ।

भैक्षचर्या परो धर्मो नित्यं यज्ञोपवीतिता ।
नित्यं स्वाध्यायिता धर्मो ब्रह्मचर्याश्रमस्तथा ।।७।।

ब्रह्मचारी के लिए भिक्षा माँगना परमधर्म है । सदा यज्ञोपवीत धारण किये रहना, प्रतिदिन वेद का स्वाध्याय करना तथा ब्रह्मचर्याश्रम के नियमों के पालन में लगे रहना—ब्रह्मचारी का प्रधान धर्म है ।

गुरुणा चाभ्यनुज्ञातः समावर्तेत वै द्विजः ।
विन्देतानन्तरं भार्यामनुरूपां यथाविधि ।।८।।

ब्रह्मचर्य की अवधि समाप्त होने पर द्विज अपने गुरु की आज्ञा से समावर्तन करे और घर आकर अपने अनुरूप स्त्री से विधिपूर्वक विवाह करे ।

आहिताग्निरधीयानो जुह्वानः संयतेन्द्रियः ।
विघसाशी यताहारो गृहस्थः सत्यवाक् शुचिः ।।९।।

गृहस्थ को अग्नि-स्थापनपूर्वक नित्य यज्ञ करनेवाला, स्वाध्यायशील, होमपरायण, जितेन्द्रिय, विघसाशी [पारिवारिक जनों को भोजन कराने के पश्चात् ही बचे अन्न का भोजन करना], मिताहारी, सत्यवादी और पवित्र होना चाहिए ।

स्वाध्यायो यजनं दानं तस्य धर्म इति स्थितिः ।
कर्माण्यध्यापनं चैव याजनं च प्रतिग्रहः ।।१०।।

वेदों का स्वाध्याय, यज्ञ और दान—यह ब्राह्मण का धर्म है, ऐसा शास्त्रों का निर्णय है । वेदों को पढ़ाना, यज्ञ कराना और दान लेना—ये उसकी आजीविका के साधनभूत कर्म हैं ।

क्षत्रियस्य स्मृतो धर्मः प्रजापालनमादितः ।
निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते ।।११।।

क्षत्रिय का सर्वप्रथम धर्म है प्रजा का पालन करना । प्रजा की आय के छठे भाग का उपभोग करनेवाला राजा धर्म का फल पाता है ।

प्रजाः पालयते यो हि धर्मेण मनुजाधिपः ।
तत्र धर्मार्जिता लोकाः प्रजापालनसंचिताः ।।१२।।

जो राजा धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करता है, उसके प्रजापालनरूपी धर्म के प्रभाव से उसे उत्तम लोक [पर-जन्म में श्रेष्ठ योनियाँ] प्राप्त होते हैं ।

तत्र राज्ञः परो धर्मो दमः स्वाध्याय एव च ।
अग्निहोत्रपरिस्पन्दो दानाध्ययनमेव च ।।१३।।
यज्ञोपवीतधरणं यज्ञो धर्मक्रियास्तथा ।
भृत्यानां भरणं धर्मः कृते कर्मण्यमोघता ।।१४।।
सम्यग्दण्डे स्थितिर्धर्मो धर्मो वेदक्रतुक्रियाः ।
व्यवहारस्थितिर्धर्मः सत्यवाक्यरतिस्तथा ।।१५।।

राजा का परम धर्म है—इन्द्रिय-संयम, स्वाध्याय, यज्ञ करना, दान देना, अध्ययन करना, यज्ञोपवीत-धारण, यज्ञानुष्ठान, धार्मिक कार्य का सम्पादन, सेवकवर्ग का पालन-पोषण, आरम्भ किये हुए कार्य को सफल बनाना, अपराध के अनुसार उचित दण्ड देना, वैदिक कर्मकाण्ड का अनुष्ठान करना, व्यवहार

में न्याय की रक्षा करना तथा सत्यभाषण में अनुरक्त होना । ये सभी कर्म राजा के लिए धर्म हैं ।

वैश्यस्य सततं धर्मः पाशुपाल्यं कृषिस्तथा ।
अग्निहोत्रपरिस्पन्दो दानाध्ययनमेव च ॥१६॥
वाणिज्यं सत्पथस्थानमातिथ्यं प्रशमो दमः ।
विप्राणां स्वागतं त्यागो वैश्यधर्मः सनातनः ॥१७॥

पशुओं का पालन, खेती, व्यापार, यज्ञ करना, दान देना, अध्ययन करना, सन्मार्ग का आश्रय लेकर सदाचार का पालन, अतिथि-सत्कार, शम, दम, ब्राह्मणों का स्वागत और त्याग—ये सब वैश्यों के सनातन धर्म हैं ।

शूद्रधर्मः परो नित्यं शुश्रूषा च द्विजातिषु ।
तपः संचिनुते महत् सत्यवादी जितेन्द्रियः ॥१८॥

शूद्र का परमधर्म है तीनों वर्णों की सेवा । जो शूद्र सत्यवादी और जितेन्द्रिय है, वह महान् तप का संचय कर लेता है ।

युधिष्ठिर उवाच

उक्तस्त्वया पृथग्धर्मश्चातुर्वर्ण्यहितः शुभः ।
सर्वव्यापी तु यो धर्मो भगवंस्तद् ब्रवीहि मे ॥१९॥

युधिष्ठिर ने कहा—भगवन् ! आपने चारों वर्णों के लिए हितकारी और शुभ धर्म का पृथक्-पृथक् वर्णन किया । अब मुझे वह धर्म बताइए जो सब वर्णों के लिए समानरूप से उपयोगी हो ।

भीष्म उवाच

पञ्चयज्ञविशुद्धात्मा सत्यवागनसूयकः ।
दाता ब्राह्मणसत्कर्ता सुसंसृष्टनिवेशनः ॥२०॥
अमानी च सदाजिह्मः स्निग्धवाणीप्रदस्तथा ।
अतिथ्यभ्यागतरतिः शेषान्नकृतभोजनः ॥२१॥
पाद्यमर्घ्यं यथान्यायमासनं शयनं तथा ।
दीपं प्रतिश्रयं चैव यो ददाति स धार्मिकः ॥२२॥

भीष्मजी बोले—गृहस्थ पुरुष को पञ्चमहायज्ञों का अनुष्ठान करके अपने मन को शुद्ध बनाना चाहिए। जो गृहस्थ सदा सत्य बोलता, किसी के दोष नहीं देखता, दान देता, ब्राह्मणों का सत्कार करता, अपने घर को झाड़-बुहारकर स्वच्छ रखता, अभिमान नहीं करता, कुटिलता नहीं करता, स्नेहयुक्त वचन बोलता, अतिथि और अभ्यागतों की सेवा में मन लगाता, यज्ञशिष्ट अन्न का भोजन करता और अतिथि को शास्त्राज्ञा के अनुसार पाद्य, अर्घ्य, आसन, शय्या, दीपक और ठहरने के लिए गृह प्रदान करता है, उसे धार्मिक समझना चाहिए ।

प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो गृहस्थेषु विधीयते ।
तमहं वर्तयिष्यामि सर्वभूतहितं शुभम् ॥२३॥

गृहस्थों के लिए प्रवृत्तिरूप धर्म का विधान किया गया है । वह सब प्राणियों के लिए हितकारी और शुभ है । अब मैं उसी का वर्णन करता हूँ ।

दातव्यमसकृच्छक्त्या यष्टव्यमसकृत् तथा । □
पुष्टिकर्मविधानं च कर्तव्यं भूतिमिच्छता ॥२४॥

अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्य को सदा अपनी शक्ति के अनुसार दान देना चाहिए, सदा यज्ञ करना चाहिए और निर्माणात्मक कर्म करते रहना चाहिए।

धर्मेणार्थः समाहार्यो धर्मलब्धं त्रिधा धनम् ।
कर्तव्यं धर्मपरमं मानवेन प्रयत्नतः ॥२५॥

मनुष्य को धर्म के द्वारा धन का उपार्जन करना चाहिए । उस धर्म से उपार्जित धन के तीन भाग करने चाहिएँ तथा प्रयत्नपूर्वक धर्मप्रधान कर्म का अनुष्ठान करना चाहिए ।

एकेनांशेन धर्मार्थौ कर्तव्यौ भूतिमिच्छता ।
एकेनांशेन कामार्थ एकमंशं विवर्धयेत् ॥२६॥

अपनी उन्नति चाहनेवाले मनुष्य को धन के उपर्युक्त तीन भागों में से एक भाग के द्वारा धर्म और अर्थ की सिद्धि करनी चाहिए । दूसरे भाग को उपभोग में लगाना चाहिए और तीसरे अंश को बढ़ाना चाहिए। [यह प्रवृत्तिरूप धर्म का वर्णन किया गया]

निवृत्तिलक्षणस्त्वन्यो धर्मो मोक्षाय तिष्ठति ।
तस्य वृत्तिं प्रवक्ष्यामि शृणु मे तात तत्त्वतः ॥२७॥

इससे भिन्न निवृत्तिरूप धर्म है । वह मोक्ष का साधन है । तात ! मैं यथार्थरूप से उसका स्वरूप बताता हूँ, उसे सुनो !

सर्वभूतदया धर्मो न चैकग्रामवासिता ।
आशापाशविमोक्षश्च शस्यते मोक्षकांक्षिणाम् ॥२८॥

मुमुक्षुओं को सभी प्राणियों पर दया करनी चाहिए—यही उनका धर्म है । उन्हें सदा एक ही

गाँव में नहीं रहना चाहिए और अपने आशारूपी बन्धन को तोड़ने का प्रयत्न करना चाहिए। यही मोक्षाभिलाषी के लिए प्रशंसा की बात है।

न कुट्यां नोदके सङ्गो न वाससि न चासने।
न त्रिदण्डे न शयने नाग्नौ न शरणालये ॥२९॥

मुमुक्षु को न तो कुटी में आसक्ति रखनी चाहिए, न जल में, न वस्त्र में, न आसन में, न त्रिदण्ड में, न शय्या में, न यज्ञ में और न किसी निवास-स्थान में ही आसक्त होना चाहिए।

अध्यात्मगतिचित्तो यस्तन्मनास्तत्परायणः।
युक्तो योगं प्रति सदा प्रतिसंख्यानमेव च ॥३०॥

मोक्ष के इच्छुक को अध्यात्मज्ञान का ही चिन्तन, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए। उसे उसी में सदा स्थित रहना चाहिए। निरन्तर योगाभ्यास प्रवृत्त होकर तत्त्व का विचार करते रहना चाहिए।

वृक्षमूलपरो नित्यं शून्यागारनिवेशनः।
नदीपुलिनशायी च नदीतीररतिश्च यः ॥३१॥
विमुक्तः सर्वसङ्गेषु स्नेहबन्धेषु च द्विजः।
आत्मन्येवात्मनो भावं समासज्जेत वै द्विजः ॥३२॥

संन्यासी द्विज को उचित है कि वह सब प्रकार की आसक्तियों और स्नेहबन्धनों से मुक्त होकर सदा वृक्ष के नीचे, सूने घर में अथवा नदी के किनारे रहता हुआ अपने अन्तःकरण में ही परमेश्वर का ध्यान करे।

न चैकत्र समासक्तो न चैकग्रामगोचरः।
मुक्तो ह्यटति निर्मुक्तो न चैकपुलिनेशयः ॥३३॥

संन्यासी किसी एक स्थान में आसक्ति न रखे, एक ही ग्राम में न बसे और किसी एक ही नदी-तीर पर सर्वदा शयन न करे। उसे सब प्रकार की आसक्तियों से मुक्त होकर स्वच्छन्द विचरना चाहिए।

एष मोक्षविदां धर्मो वेदोक्तः सत्पथः सताम्।
यो मार्गमनुयातीमं पदं तस्य च विद्यते ॥३४॥

यह मोक्षधर्म के ज्ञाता पुरुषों का वेदप्रतिपादित धर्म एवं सन्मार्ग है। जो इस मार्ग पर चलता है, उसे ब्रह्मपद=मोक्ष की प्राप्ति होती है।

चतुर्विधा भिक्षवस्ते कुटीचकबहूदकौ।
हंसः परमहंसश्च यो यः पश्चात्स उत्तमः ॥३५॥

संन्यासी चार प्रकार के होते हैं—कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस। इनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि पञ्चविंशोऽध्यायः ॥२५॥

षड्विंशोऽध्यायः

स्वर्ग में ले-जानेवाले शुभ कर्मों का वर्णन

युधिष्ठिर उवाच

केन शीलेन वृत्तेन कर्मणा कीदृशेन वा।
समाचारैर्गुणैः कैर्वा स्वर्गं यान्तीह मानवाः ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—प्रभो! किस शील-स्वभाव से, किस आचरण से, कैसे कर्म से तथा किन सदाचारों अथवा गुणों द्वारा मनुष्य बन्धन-मुक्त होते एवं स्वर्ग में जाते हैं?

भीष्म उवाच

सर्वभूतदयावन्तो विश्वास्याः सर्वजन्तुषु।
त्यक्तहिंसासमाचारास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥२॥

भीष्मजी बोले—जो सब प्राणियों पर दया करनेवाले, सब जीवों के विश्वासपात्र एवं हिंसामय आचरणों को त्याग देनेवाले हैं, वे मनुष्य स्वर्ग में जाते हैं।

परस्वे निर्ममा नित्यं परदारविवर्जकाः।
धर्मलब्धान्नभोक्तारस्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥३॥

जो दूसरे के धन पर ममता नहीं रखते, पर-स्त्री से सदा दूर रहते और धर्म से प्राप्त अन्न का ही भोजन करते हैं, वे मनुष्य स्वर्ग में जाते हैं।

मातृवत् स्वसृवच्चैव नित्यं दुहितृवच्च ये।
परदारेषु वर्तन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः ॥४॥

जो मनुष्य पर-स्त्रियों को माता, बहन और पुत्री के समान समझकर तदनुरूप व्यवहार करते हैं, वे स्वर्गलोक में जाते हैं, सुखविशेष को प्राप्त होते हैं।

स्तैन्यान्निवृत्ताः सततं सन्तुष्टाः स्वधनेन च ।
स्वभाग्यान्युपजीवन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः ।।५।।

जो सदा अपने ही धन से सन्तुष्ट रहकर चोरी आदि से पृथक् रहते हैं और जो अपने ही भाग्य पर भरोसा रखकर जीवन-निर्वाह करते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ।

स्वदारनिरता ये च ऋतुकालाभिगामिनः ।
अग्राम्यसुखभोगाश्च ते नराः स्वर्गगामिनः ।।६।।

जो अपनी ही स्त्री में अनुरक्त रहकर ऋतुकाल में ही उसके साथ समागम करते हैं और ग्राम्य सुख-भोगों में आसक्त नहीं होते—ऐसे मनुष्य स्वर्ग में जाते हैं ।

परदारेषु ये नित्यं चारित्रावृतलोचनाः ।
जितेन्द्रियाः शीलपरास्ते नराः स्वर्गगामिनः ।।७।।

जो अपने सदाचार के द्वारा सदा ही पर-स्त्रियों की ओर से अपनी आँख बन्द किये रहते हैं, वे जितेन्द्रिय और शीलपरायण मनुष्य स्वर्गलोक में जाते हैं ।

आत्महेतोः परार्थे वा नर्महास्याश्रयात् तथा ।
ये मृषा न वदन्तीह ते नराः स्वर्गगामिनः ।।८।।

जो हँसी-मजाक का सहारा लेकर भी अपने या दूसरे के लिए कभी झूठ नहीं बोलते, वे मनुष्य स्वर्ग में जाते हैं ।

वृत्त्यर्थं धर्महेतोर्वा कामकारात् तथैव च ।
अनृतं ये न भाषन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः ।।९।।

जो आजीविका अथवा धर्म के लिए और स्वेच्छाचार से भी कभी असत्यभाषण नहीं करते, वे लोग स्वर्गलोक को जाते हैं ।

श्लक्ष्णां वाणीं निराबाधां मधुरां पापवर्जिताम् ।
स्वागतेनाभिभाषन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः ।।१०।।

जो स्निग्ध, मधुर, बाधारहित, पापशून्य और स्वागत-सत्कार के भाव से युक्त वाणी बोलते हैं, वे लोग स्वर्ग में जाते हैं ।

परुषं ये न भाषन्ते कटुकं निष्ठुरं तथा ।
अपैशुन्यरताः सन्तस्ते नराः स्वर्गगामिनः ।।११।।

जो किसी की चुगली नहीं करते और कभी मुख से किसी के प्रति रूखी, कड़वी और निष्ठुरतापूर्ण बात नहीं निकालते, वे सज्जन पुरुष स्वर्ग में जाते हैं ।

पिशुनां न प्रभाषन्ते मित्रभेदकरीं गिरम् ।
ऋतं मैत्रं तु भाषन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः ।।१२।।

जो दो मित्रों में फूट डालनेवाली चुगली की बातें नहीं करते, सत्य और मैत्रीभाव से युक्त वचन बोलते हैं, वे मनुष्य स्वर्गलोक में जाते हैं ।

ये वर्जयन्ति परुषं परद्रोहं च मानवाः ।
सर्वभूतसमा दान्तास्ते नराः स्वर्गगामिनः ।।१३।।

जो मनुष्य दूसरों से तीखी बातें बोलना और वैर करना छोड़ देते हैं, सब प्राणियों के प्रति समान भाव रखते और जितेन्द्रिय होते हैं, वे स्वर्गगामी होते हैं ।

शठप्रलापाद् विरता विरुद्धपरिवर्जकाः ।
सौम्यप्रलापिनो नित्यं ते नराः स्वर्गगामिनः ।।१४।।

जिनके मुख से कभी शठतापूर्ण बात नहीं निकलती, जो विरोधयुक्त वाणी का परित्याग कर देते हैं और सदा सौम्य वाणी बोलते हैं, वे लोग स्वर्ग में जाते हैं ।

न कोपाद् व्याहरन्ति ये वाचं हृदयदारणीम् ।
सान्त्वं वदन्ति क्रुद्धाऽपि ते नराः स्वर्गगामिनः ।।१५।।

जो क्रोध में आकर भी हृदय दुखानेवाली बात मुँह से नहीं निकालते, अपितु क्रुद्ध होने पर भी सान्त्वनापूर्ण वचन ही बोलते हैं, वे लोग स्वर्ग में जाते हैं ।

अरण्ये विजने न्यस्तं परस्वं दृश्यते यदा ।
मनसापि न हिंसन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः ।।१६।।

जब दूसरे का धन निर्जन वन में पड़ा हुआ दिखाई दे, उस समय भी जो मनुष्य उसे उठाने के लिए मन से भी कामना नहीं करते, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं ।

ग्रामे गृहे वा ये द्रव्यं पारक्यं विजने स्थितम् ।
नाभिनन्दन्ति वै नित्यं ते नराः स्वर्गगामिनः ।।१७।।

गाँव अथवा घर के एकान्त स्थान में पड़े हुए पराये धन का जो कभी अभिनन्दन नहीं करते, वे मनुष्य स्वर्ग में जाते हैं ।

तथैव परदारान् ये कामवृत्तान् रहोगतान् ।
मनसापि न हिंसन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः ।।१८।।

इसी प्रकार जो मनुष्य एकान्त में प्राप्त हुई कामासक्त पर-स्त्रियों के साथ मन से भी अन्याय करने का विचार नहीं करते, वे लोग स्वर्गलोक में जाते हैं।

शत्रुं मित्रं च ये नित्यं तुल्येन मनसा नराः।
भजन्ति मैत्राः संगम्य ते नराः स्वर्गगामिनः ॥१९॥

जो सबके प्रति मैत्री भाव रखकर सबसे मिलते और शत्रु एवं मित्र दोनों को सदा समान हृदय से अपनाते हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं।

श्रुतवन्तो दयावन्तः शुचयः सत्यसंगराः।
स्वैरर्थैः परिसन्तुष्टास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥२०॥

जो शास्त्रज्ञ, दयालु, पवित्र, सत्यप्रतिज्ञ और अपने ही धन से सन्तुष्ट रहते हैं, वे लोग स्वर्गगामी होते हैं।

अवैरा ये त्वनायासा मैत्रीचित्तरताः सदा।
सर्वभूतदयावन्तस्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥२१॥

जिनके मन में किसी के प्रति वैर नहीं है, जो किसी कार्य को करके आसक्तियुक्त नहीं होते, जो मैत्रीभाव से पूर्ण हृदयवाले तथा सम्पूर्ण प्राणियों के प्रति सदा ही दया का भाव रखनेवाले हैं, वे लोग स्वर्ग में जाते हैं।

श्रद्धावन्तो दयावन्तश्चोक्षाश्चोक्षजनप्रियाः।
धर्माधर्मविदो नित्यं ते नराः स्वर्गगामिनः ॥२२॥

जो श्रद्धालु, दयालु, शुद्ध, शुद्धजनों के प्रेमी तथा धर्म और अधर्म के ज्ञाता हैं, वे मनुष्य स्वर्गगामी होते हैं।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि षड्विंशोऽध्यायः ॥२६॥

सप्तविंशोऽध्यायः

गायत्री-जप का फल

युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद।
किं जप्यं जपतो नित्यं भवेद् धर्मफलं महत् ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—हे महाज्ञानी, सर्वशास्त्र-विशेषज्ञ पितामह! प्रतिदिन किस मन्त्र का जप करने से धर्म के महान् फल की प्राप्ति होती है?

शान्तिकं पौष्टिकं रक्षा शत्रुघ्नं भयनाशनम्।
जप्यं यद् ब्रह्मसमितं तद्भवान् वक्तुमर्हति ॥२॥

शान्ति, पुष्टि, रक्षा, शत्रु का नाश और भय-निवारण करनेवाला कौन-सा ऐसा जपनीय मन्त्र है, जो वेदों के समान माननीय है? आप उसे बताने की कृपा करें।

भीष्म उवाच

रात्रावहनि धर्मज्ञ जपन् पापैर्न लिप्यते।
तत्तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि शृणुष्वैकमना नृप ॥३॥

भीष्मजी बोले—धर्मज्ञ नरेश! दिन-रात जिस मन्त्र का जप करने से मनुष्य पापों से लिप्त नहीं होता, वही मन्त्र मैं तुम्हें बता रहा हूँ, ध्यानपूर्वक सुनो:

गायत्र्या न परं जप्यं गायत्र्या न परं तपः।
गायत्र्या न परं ध्यानं गायत्र्या न परं हुतम् ॥४॥

गायत्री मन्त्र से बढ़कर कोई जप नहीं है, गायत्री से श्रेष्ठ कोई तप नहीं है। गायत्री से बढ़कर न कोई ध्यान है और न कोई यज्ञानुष्ठान है।

आयुष्मान् भवते चैव यं श्रुत्वा पार्थिवात्मज।
पुरुषस्तु सुसिद्धार्थः प्रेत्य चेह च मोदते ॥५॥

राजकुमार! जो इस मन्त्र को सुनता है, वह दीर्घजीवी एवं सफल मनोरथ होता है। वह इहलोक और परलोक में आनन्द भोगता है।

सेवितं सततं राजन् पुरा राजर्षिसत्तमैः।
क्षत्रधर्मपरैर्नित्यं सत्यव्रतपरायणैः ॥६॥

राजन्! पूर्वकाल में क्षात्र धर्म का पालन करनेवाले और सदा सत्यव्रत के आचरण में संलग्न रहनेवाले राजर्षि-शिरोमणि इस मन्त्र का ही जप किया करते थे।

इवमाह्निकमव्यग्रं कुर्वद्भिर्नियतैः सदा।
नृपैर्भरतशार्दूल प्राप्यते श्रीरनुत्तमा ॥७॥

भरतसिंह! जो राजा मन और इन्द्रियों को

वश में करके शान्तिपूर्वक प्रतिदिन इस मन्त्र का जप करते हैं, उन्हें सर्वोत्तम सम्पत्ति प्राप्त होती है ।

यानपात्रे च याने च प्रवासे राजवेश्मनि ।
परां सिद्धिमवाप्नोति सावित्रीं ह्युत्तमां पठन् ॥८॥

जो मनुष्य जलयान अथवा किसी सवारी में बैठने पर, विदेश में अथवा राजदरबार में जाने पर मन-ही-मन श्रेष्ठ गायत्री-मन्त्र का जप करता है, वह परमसिद्धि को प्राप्त होता है ।

न च राजभयं तेषां न पिशाचान्न राक्षसात् ।
नाग्न्यम्बुपवनव्यालाद् भयं तस्योपजायते ॥९॥

गायत्री का जप करने से मनुष्य को राजा, पिशाच, राक्षस, अग्नि, जल, वायु और सर्प आदि का भय नहीं होता ।

चतुर्णामपि वर्णानामाश्रमस्य विशेषतः ।
करोति सततं शान्तिं सावित्रीमुत्तमां पठन् ॥१०॥

जो उत्तम गायत्री-मन्त्र का जप करता है, वह मनुष्य चारों वर्णों और विशेषतः चारों आश्रमों में सदा शान्ति स्थापित करता है ।

नाग्निर्दहति काष्ठानि सावित्री यत्र पठ्यते ।
न बालो म्रियते तत्र न च तिष्ठन्ति पन्नगाः ॥११॥

जहाँ गायत्री का जाप किया जाता है, उस घर के काष्ठों में आग नहीं लगती । वहाँ बाल-मृत्यु नहीं होती और उस घर में साँप नहीं टिकते ।

न तेषां विद्यते दुःखं गच्छन्ति परमां गतिम् ।
ये शृण्वन्ति महद् ब्रह्म सावित्रीगुणकीर्तनम् ॥१२॥

जिस घर के निवासी परब्रह्मस्वरूप गायत्री-मन्त्र के गुणों का कीर्तन सुनते हैं, उन्हें कभी दुःख नहीं होता और वे परमगति=मोक्ष को प्राप्त होते हैं ।

गवां मध्ये तु पठतो गावोऽस्य बहुवत्सलाः ।
प्रस्थाने प्रवासे वा सर्वावस्थां गतः पठेत् ॥१३॥

गौओं के बीच गायत्री का जप करनेवाले पुरुष पर गौओं का वात्सल्य=प्रेम बहुत बढ़ जाता है । प्रस्थानकाल में अथवा प्रदेश में—सभी अवस्थाओं में मनुष्य को इस [गायत्री] का जप करना चाहिए ।

जपतां जुह्वतां चैव नित्यं च प्रयतात्मनाम् ।
ऋषीणां परमं जप्यं गुह्यमेतन्नराधिप ॥१४॥

भूपाल ! सदा शुद्धचित्त होकर जप करे । होम करनेवाले ऋषियों के लिए यह परम गोपनीय मन्त्र है ।

सोमादित्यान्वयाः सर्वे राघवाः कुरवस्तथा ।
पठन्ति शुचयो नित्यं सावित्रीं प्राणिनां गतिम् ॥१५॥

चन्द्र, सूर्य, रघु और कुरुवंश में उत्पन्न हुए सभी राजा पवित्रभाव से प्रतिदिन गायत्री-मन्त्र का जप करते आये हैं । गायत्री संसार के प्राणियों की परमगति है ।

एषा ते कथिता राजन् सावित्री ब्रह्म शाश्वती ।
विवक्षुरसि यच्चान्यत् तत्ते वक्ष्यामि भारत ॥१६॥

राजन् ! यह मैंने सनातन ब्रह्मरूपा गायत्री का माहात्म्य तुमसे कहा है । भारत ! अब और जो कुछ भी तुम पूछना चाहते हो, वह भी तुम्हें बताऊँगा ।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि सप्तविंशोऽध्यायः ॥२७॥

अष्टाविंशोऽध्यायः

शिष्टाचार, धर्माधर्म के फल और साधु-असाधु के लक्षण

युधिष्ठिर उवाच

प्रत्यक्षं लोकतः सिद्धिर्लोकश्चागमपूर्वकः ।
शिष्टाचारो बहुविधस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! प्रत्यक्ष प्रमाण जो लोक में प्रसिद्ध है, अनुमान, आगम और भाँति-भाँति के शिष्टाचार—ये बहुत से प्रमाण उपलब्ध होते हैं । इनमें कौन-सा प्रबल है, यह बताने की कृपा कीजिए ।

भीष्म उवाच

धर्मस्य ह्रियमाणम्य बलवद्भिर्दुरात्मभिः ।
संस्था यत्नैरपि कृता कालेन प्रतिभिद्यते ॥२॥

भीष्मजी बोले—पुत्र ! जब बलवान् पुरुष दुरा-

चारी होकर धर्म को हानि पहुँचाते हैं, तब साधारण मनुष्यों द्वारा प्रयत्नपूर्वक की गई रक्षा की व्यवस्था भी कुछ समय में भङ्ग हो जाती है।

अधर्मो धर्मरूपेण तृणैः कूप इवावृतः।
ततस्तैर्भिद्यते वृत्तं शृणु चैव युधिष्ठिर ॥३॥

जब घास-फूंस से ढके हुए कुएं की भाँति अधर्म ही धर्म का चोला पहनकर सामने आता है, हे युधिष्ठिर! उस अवस्था में वे दुराचारी लोग शिष्टाचार की मर्यादा तोड़ डालते हैं। तुम इस विषय को ध्यानपूर्वक सुनो!

अवृत्ता ये तु भिन्दन्ति श्रुतित्यागपरायणाः।
धर्मविद्वेषिणो मन्दा इत्युक्तस्तेषु संशयः ॥४॥

जो आचारहीन हैं, वेद-शास्त्रों का त्याग करनेवाले हैं, वे धर्मद्रोही मन्दबुद्धि मानव सज्जनों द्वारा स्थापित धर्म और आचार की मर्यादा को भङ्ग कर देते हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमान और शिष्टाचार—इन तीनों में सन्देह बताया गया है।

अतृप्यन्तस्तु साधूनां य एवागमबुद्धयः।
परमित्येव सन्तुष्टास्तानुपास्स्व च पृच्छ च ॥५॥
कामार्थौ पृष्ठतः कृत्वा लोभमोहानुसारिणौ।
धर्म इत्येव सम्बुद्धास्तानुपास्स्व च पृच्छ च ॥६॥

ऐसी अवस्था में जो साधुसङ्ग के लिए सदा उत्कण्ठित रहते हैं, उससे कभी तृप्त नहीं होते, जिनकी बुद्धि आगम-प्रमाण को ही श्रेष्ठ मानती हो, जो सदा सन्तुष्ट रहते और लोभ तथा मोह का अनुसरण करनेवाले अर्थ और काम की उपेक्षा करके धर्म को ही उत्तम समझते हों—ऐसे महापुरुषों की सेवा में रहो और उनसे अपना सन्देह पूछो।

न तेषां भिद्यते वृत्तं यज्ञाः स्वाध्यायकर्म च।
आचारः कारणं चैव धर्मश्चैकस्त्रयं पुनः ॥७॥

उन सज्जनों के सदाचार, यज्ञ और स्वाध्याय आदि शुभ कर्मों के अनुष्ठान में कभी बाधा नहीं पड़ती। उनमें आचार, उसको बतानेवाले वेद-शास्त्र और धर्म—इन तीनों की एकरूपता होती है।

युधिष्ठिर उवाच

पुनरेव हि मे बुद्धिः संशये परिमुह्यति।
अपारे मार्गमाणस्य परं तीरमपश्यतः ॥८॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह! मेरी बुद्धि संशय के अपार सागर में डूब रही है। मैं इसके पार जाना चाहता हूँ, परन्तु ढूँढने पर भी मुझे इसका कोई किनारा दिखाई नहीं देता।

वेदाः प्रत्यक्षमाचारः प्रमाणं तत्त्रयं यदि।
पृथक्त्वं लभ्यते चैषां धर्मश्चैकस्त्रयं कथम् ॥९॥

यदि प्रत्यक्ष, आगम=वेद और शिष्टाचार—ये तीनों ही प्रमाण हैं तो इनकी तो पृथक्-पृथक् उपलब्धि हो रही है और धर्म एक है, फिर ये तीनों धर्म कैसे हो सकते हैं?

भीष्म उवाच

धर्मस्य ह्रियमाणस्य बलवद्भिर्दुरात्मभिः।
यद्येवं मन्यसे राजंस्त्रिधा धर्मविचारणा ॥१०॥

भीष्मजी बोले—राजन्! बलवान् दुराचारियों द्वारा जिसे हानि पहुँचाई जाती है, उस धर्म का स्वरूप यदि तुम प्रमाण-भेद से तीन प्रकार का मानते हो तो तुम्हारा यह विचार ठीक नहीं है। वास्तव में धर्म एक ही है, जिसपर तीन प्रकार से विचार किया जाता है—तीनों प्रमाणों द्वारा उसकी समीक्षा की जाती है।

एक एवेति जानीहि त्रिधा धर्मस्य दर्शनम्।
पृथक्त्वे न च मे बुद्धिस्त्रयाणामपि वै तथा ॥११॥

यह निश्चय समझो कि धर्म एक ही है। तीनों प्रमाणों द्वारा एक ही धर्म का दर्शन होता है। मैं यह नहीं मानता कि ये तीनों प्रमाण भिन्न-भिन्न धर्म का प्रतिपादन करते हैं।

उक्तो मार्गस्त्रयाणां च तत्तथैव समाचार।
जिज्ञासा न तु कर्तव्या धर्मस्य परितर्कनात् ॥१२॥

उक्त तीनों प्रमाणों द्वारा जो धर्ममय मार्ग बताया गया है, उसी पर चलते रहो। तर्क का सहारा लेकर धर्म की जिज्ञासा करना कदापि उचित नहीं है।

सदैव भरतश्रेष्ठ मा तेऽभूदत्र संशयः।
अन्धो जड इवाशंकी यद् ब्रवीमि तदाचर ॥१३॥

भरतभूषण! मेरी इस बात में तुम्हें कभी सन्देह नहीं होना चाहिए। मैं जो कुछ कहता हूँ उसे अन्धों

और गूँगों की भाँति बिना ननु-नच के मानकर उसके अनुसार आचरण करो।

अहिंसा सत्यमक्रोधो दानमेतच्चतुष्टयम् ।
अजातशत्रो सेवस्व धर्म एष सनातनः ।।१४।।

अजातशत्रो ! अहिंसा, सत्य, अक्रोध और दान—इन चारों का सदा सेवन करो। यह सनातन धर्म है।

ब्राह्मणेषु च वृत्तिर्या पितृपैतामहोचिता ।
तामन्वेहि महाबाहो धर्मस्यैते हि देशिकाः ।।१५।।

महाबाहो ! तुम्हारे पिता-पितामह आदि ने ब्राह्मणों के साथ जैसे व्यवहार किया है, तुम भी उसी का अनुसरण करो, क्योंकि ब्राह्मण धर्म के उपदेशक हैं।

प्रमाणमप्रमाणं वै यः कुर्यादबुधो जनः ।
न स प्रमाणतामर्हो विवादजननो हि सः ।।१६।।

जो मूर्ख मनुष्य प्रमाण को भी अप्रमाण बनाता है, उसकी बात को प्रामाणिक नहीं मानना चाहिए, क्योंकि वह केवल विवाद करनेवाला है।

ब्राह्मणानेव सेवस्व सत्कृत्य बहुमन्य च ।
एतेष्वेव त्विमे लोकाः कृत्स्ना इति निबोध तान् ।।१७।।

तुम ब्राह्मणों का विशेष आदर-सत्कार करके उनकी सेवा में लगे रहो और यह जान लो कि ये सम्पूर्ण लोक ब्राह्मणों के ही आधार पर टिके हुए हैं।

युधिष्ठिर उवाच

ये च धर्ममसूयन्ते ये चैनं पर्युपासते ।
ब्रवीतु मे भवानेतत् क्व ते गच्छन्ति तादृशाः ।।१८।।

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! जो मनुष्य धर्म की निन्दा करते हैं और जो धर्म का आचरण करते हैं, वे किन लोकों में जाते हैं ? आप इस विषय का उपदेश कीजिए।

भीष्म उवाच

रजसा तमसा चैव समवस्तीर्णचेतसः ।
नरकं प्रतिपद्यन्ते धर्मविद्वेषिणो जनाः ।।१९।।

भीष्मजी बोले—युधिष्ठिर ! जो मनुष्य रजोगुण और तमोगुण से मलिनचित्त होने के कारण धर्म से द्रोह करते हैं, वे नरक में पड़ते हैं, दुःख भोगते हैं।

ये तु धर्मं महाराज सततं पर्युपासते ।
सत्यार्जवपराः सन्तस्ते वै स्वर्गभुजो नराः ।।२०।।

महाराज ! जो सत्य और सरलता में तत्पर होकर सदा धर्म का पालन करते हैं, वे लोग स्वर्ग-लोक को प्राप्त होते हैं, सुख पाते हैं।

धर्म एव गतिस्तेषामाचार्योपासनाद् भवेत् ।
देवलोकं प्रपद्यन्ते ये धर्मं पर्युपासते ।।२१।।

आचार्य की सेवा करने से मनुष्य को केवल धर्म का ही सहारा रहता है और जो धर्म की उपासना करते हैं, वे देवलोक में जाते हैं।

मनुष्या यदि वा देवाः शरीरमुपताप्य वै ।
धर्मिणः सुखमेधन्ते लोभद्वेषविवर्जिताः ।।२२।।

मनुष्य हों या देव=विद्वान्, जो शरीर को कष्ट देकर भी धर्माचरण में लगे रहते हैं तथा लोभ एवं द्वेष को त्याग देते हैं, वे सुखी होते हैं।

युधिष्ठिर उवाच

असतां कीदृशं रूपं साधवः किं च कुर्वते ।
ब्रवीतु मे भवानेतत् सन्तोऽसन्तश्च कीदृशाः ।।२३।।

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह ! असाधु पुरुषों का रूप कैसा होता है ? साधु पुरुष कौन-सा कर्म करते हैं ? साधु और असाधु कैसे होते हैं ? मुझे इस तत्त्व का उपदेश कीजिए।

भीष्म उवाच

दुराचाराश्च दुर्धर्षा दुर्मुखाश्चाप्यसाधवः ।
साधवः शीलसम्पन्नाः शिष्टाचारस्य लक्षणम् ।।२४।।

भीष्मजी बोले—युधिष्ठिर ! असाधु अथवा दुष्ट मनुष्य दुराचारी, उद्दण्ड और कटु वचन बोलनेवाले होते हैं और साधु=सज्जन पुरुष सुशील होते हैं। अब शिष्टाचार का लक्षण बताया जाता है।

अतिथीनां च सर्वेषां प्रेष्याणां स्वजनस्य च ।
तथा शरणकामानां गोप्ता स्यात्स्वागतप्रदः ।।२५।।

सत्पुरुष को चाहिए कि वह सभी अतिथियों, सेवकों, स्वजनों तथा शरणार्थियों का रक्षक तथा स्वागत-सत्कार करनेवाला बने।

वृद्धान् नाभिभवेज्जातु न चैतान् प्रेषयेदिति ।
नासीनः स्यात् स्थितेष्वेवमायुरस्य न रिष्यते ।।२६

वृद्ध पुरुषों का कभी तिरस्कार न करे। उन्हें किसी कार्य के लिए न भेजे और यदि वे खड़े हों तो

स्वयं बैठा न रहे। ऐसा करने से उस मनुष्य की आयु क्षीण नहीं होती।

सायं प्रातश्च वृद्धानां शृणुयात् पुष्कला गिरः।
श्रुतमाप्नोति हि नरः सततं वृद्धसेवया ॥२७॥

सायं और प्रातः वृद्ध पुरुषों की कही हुई बातें खूब सुननी चाहिएँ। सदा वृद्ध पुरुषों की सेवा से मनुष्य को शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त होता है।

न जातु त्वमिति ब्रूयादापन्नोऽपि महत्तरम्।
त्वंकारो वा वधो वेति विद्वत्सु न विशिष्यते ॥२७॥

भीषण संकट आ पड़ने पर भी किसी श्रेष्ठ पुरुष को 'तू' नहीं कहना चाहिए। किसी को तू कहकर पुकारना अथवा उसका वध कर डालना—इन दोनों में विद्वान् पुरुष कोई भेद नहीं समझते।

अवराणां समानानां शिष्याणां च समाचरेत्।
पापमाचक्षते नित्यं हृदयं पापकर्मिणः ॥२९॥

जो अपने बराबर के हों, अपने से छोटे हों अथवा शिष्य हों उनको तू कहने में कोई हर्ज नहीं है। पापकर्मी मनुष्य का हृदय ही उसके पाप को प्रकट कर देता है।

ज्ञानपूर्वं कृतं कर्म च्छादयन्ते ह्यसाधवः।
ज्ञानपूर्वं विनश्यन्ति गूहमाना महाजने ॥३०॥

दुष्ट मनुष्य जान-बूझकर किये हुए पापकर्मों को भी दूसरे से छिपाने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु महापुरुषों के समक्ष अपने किये हुए पापों को गुप्त रखने के कारण वे नष्ट हो जाते हैं।

तस्मात् पापं न गूहेत गूहमानं विवर्धते।
कृत्वा तत् साधुष्वाख्येयं ते तत् प्रशमयन्त्युत ॥३१॥

अतः अपने पाप को छिपाना नहीं चाहिए। छिपाया हुआ पाप बढ़ता है। यदि कभी कोई पाप हो गया हो तो उसे श्रेष्ठ पुरुषों के सामने कह देना चाहिए। वे उसकी शान्ति कर देते हैं।

मानसं सर्वभूतानां धर्ममाहुर्मनीषिणः।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि धर्ममेव समासते ॥३२॥

मनीषी लोग धर्म को समस्त प्राणियों का हृदय कहते हैं, अतः सभी प्राणियों को धर्म का ही आश्रय लेना चाहिए।

एक एव चरेद् धर्मं न धर्मध्वजिको भवेत्।
धर्मवाणिजका ह्येते ये धर्ममुपभुञ्जते ॥३३॥

मनुष्य को चाहिए कि वह अकेला ही धर्म का आचरण करे। धर्मध्वजी [धर्म का दिखावा करनेवाला] न बने। जो धर्म को जीविका का साधन बनाते हैं, वे धर्म के व्यवसायी हैं।

अर्चेद् देवानदम्भेन सेवेतामायया गुरून्।
निधिं निदध्यात् पारत्र्यं यात्रार्थं दानशब्दितम् ॥३४॥

दम्भ का परित्याग करके विद्वानों का सत्कार करे। छल-कपट छोड़कर गुरुजनों की सेवा करे और परलोक की यात्रा के लिए दान नामक निधि का संग्रह करे अर्थात् पारलौकिक कल्याण के लिए मुक्तहस्त होकर दान करे।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि अष्टाविंशोऽध्यायः ॥२८॥

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

भीष्मजी द्वारा भाग्य की प्रधानता का खण्डन

युधिष्ठिर उवाच

नाभागधेयं प्राप्नोति धनं सुबलवानपि।
भागधेयान्वितस्त्वर्थान् कृशो बालश्च विन्दति ॥१॥

युधिष्ठिर ने पूछा—पितामह! भाग्यहीन मनुष्य बलवान् हो, तो भी उसे धन नहीं मिलता और जो भाग्यवान् है, वह बालक और दुर्बल होने पर भी बहुत-सा धन प्राप्त कर लेता है।

नालाभकाले लभते प्रयत्नेऽपि कृते सति।
लाभकालेऽप्रयत्नेन लभते विपुलं धनम् ॥२॥

जबतक धन-प्राप्ति का समय नहीं आ जाता तबतक पुरुषार्थ करने पर भी कुछ हाथ नहीं लगता, परन्तु लाभ का समय आने पर मनुष्य बिना यत्न के भी बहुत बड़ी सम्पत्ति पा लेता है।

कृतयत्नाफलाश्चैव दृश्यन्ते शतशो नराः।
अयत्नेनैधमानाश्च दृश्यन्ते बहवो जनाः ॥३॥

ऐसे सैकड़ों मनुष्य देखे जाते हैं, जिन्हें धन की

प्राप्ति के लिए यत्न करने पर भी सफलता नहीं मिलती और बहुत-से ऐसे मनुष्य भी दृष्टिगोचर होते हैं, जिनका धन अनायास ही दिनों-दिन बढ़ रहा है।

यदि यत्नो भवेन्मर्त्यः स सर्वं फलमाप्नुयात्।
नालभ्यं चोपलभ्येत नृणां भरतसत्तम ॥४॥

भरतश्रेष्ठ! यदि प्रयत्न करने पर सफलता मिलनी अनिवार्य होती तो मनुष्य सम्पूर्ण फल प्राप्त कर लेता, परन्तु जो वस्तु प्रारब्धवश मनुष्य के लिए अलभ्य है, वह उद्योग करने पर भी नहीं मिल सकती।

प्रयत्नं कृतवन्तोऽपि दृश्यन्ते ह्यफला नराः।
मार्गन्नयशतैरर्थानमार्गैश्चापरः सुखी ॥५॥

प्रयत्न करनेवाले मनुष्य भी असफल होते हुए दिखाई देते हैं। कोई सैकड़ों नीति-वचनों के सहारे धन की खोज करता है और कोई कुमार्ग पर चलकर भी धन की दृष्टि से सुखी देखा जाता है।

अकार्यमसकृत् कृत्वा दृश्यन्ते ह्यधना नराः।
धनयुक्ताः स्वकर्मस्था दृश्यन्ते चापरेऽधनाः ॥६॥

कितने ही मनुष्य अनेक बार कुकर्म करके भी निर्धन ही देखे जाते हैं। कितने ही अपने धर्मानुकूल कर्तव्य का पालन करके धनवान् हो जाते हैं और कितने ही निर्धन रह जाते हैं।

अधीत्य नीतिशास्त्राणि नीतियुक्तो न दृश्यते।
अनभिज्ञश्च साचिव्यं गमितः केन हेतुना ॥७॥

कुछ लोग नीतिशास्त्र का अध्ययन करके भी नीतिमान् दिखाई नहीं देते और कोई नीति से अनभिज्ञ होने पर भी मन्त्री के पद पर पहुँच जाता है। इसका क्या कारण है?

विद्यायुक्तो ह्यविद्यश्च धनवान् दुर्मतिस्तथा।
यदि विद्यामुपाश्रित्य नरः सुखमाप्नुयात्।
न विद्वान् विद्ययाहीनं वृत्त्यर्थमुपसंश्रयेत् ॥८॥

कभी-कभी विद्वान् और मूर्ख दोनों एक-जैसे धनी दिखाई देते हैं। कभी-कभी खोटी बुद्धिवाले मनुष्य धनवान् हो जाते हैं [और उत्तम बुद्धिवाले को थोड़ा-सा भी धन नहीं मिलता]। यदि विद्या पढ़कर मनुष्य अवश्य ही सुख पा लेता तो विद्वान् को जीविका के लिए किसी मूर्ख धनी का आश्रय न लेना पड़ता।

यथा पिपासां जयति पुरुषः प्राप्य वै जलम्।
इष्टार्थो विद्यया ह्येव न विद्यां प्रजहेन्नरः ॥९॥

जैसे पानी पीने से मनुष्य की प्यास अवश्य बुझ जाती है, वैसे ही यदि विद्या से अभीष्ट वस्तु की सिद्धि होती तो कोई भी मनुष्य विद्या की उपेक्षा न करता।

नाप्राप्तकालो म्रियते विद्धः शरशतैरपि।
तृणाग्रेणापि संस्पृष्टः प्राप्तकालो न जीवति ॥१०॥

जिसकी मृत्यु का समय न आया हो वह सैकड़ों बाणों से बिंधकर भी नहीं मरता, परन्तु जिसका काल आ पहुँचा हो वह तिनके के अग्रभाग से छू जाने पर भी प्राणों का परित्याग कर देता है।

भीष्म उवाच

ईहमानः समारम्भान् यदि नासादयेद् धनम्।
उग्रं तपः समारोहेन्न ह्यनुप्तं प्ररोहति ॥११॥

भीष्मजी ने कहा—तात! यदि नाना प्रकार की चेष्टा और अनेक उद्योग करने पर भी मनुष्य धन न पा सके तो उसे उग्र तपस्या करनी चाहिए, क्योंकि बीज बोये बिना अंकुर पैदा नहीं होता।

दानेन भोगी भवति मेधावी वृद्धसेवया। ☐
अहिंसया च दीर्घायुरिति प्राहुर्मनीषिणः ॥१२॥

मनुष्य दान देने से उपभोग की वस्तुएँ पाता है, वृद्धों की सेवा से उत्तम बुद्धि की प्राप्ति होती है और अहिंसाधर्म के पालन से दीर्घायु प्राप्त होती है—ऐसा मनीषी लोग कहते हैं।

तस्माद् दद्यान्न याचेत् पूजयेद् धार्मिकानपि।
सुभाषी प्रियकृच्छान्तः सर्वसत्त्वाविहिंसकः ॥१३॥

अतः स्वयं दान दे, दूसरों से याचना न करे। धर्मात्माओं का आदर करे, उत्तम वचन बोले, सबका भला करे, शान्तभाव से रहे और किसी भी प्राणी की हिंसा न करे।

यदा प्रमाणं प्रसवः स्वभावश्च सुखासुखे।
दंशकीटपिपीलानां स्थिरो भव युधिष्ठिर ॥१४॥

युधिष्ठिर! डाँस, कीड़े और चींटी आदि जीवों को उन-उन योनियों में उत्पन्न करके उन्हें सुख-दुःख की प्राप्ति कराने में उनका अपने किये हुए कर्मानुसार बना हुआ स्वभाव ही कारण है। यह सोचकर स्थिर हो जाओ।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥२९॥

त्रिंशोऽध्यायः

धर्मानुष्ठान की आवश्यकता

भीष्म उवाच

कार्यंते यच्च क्रियते सच्चासच्च कृताकृतम् ।
तत्राश्वसीत सत्कृत्वा असत्कृत्वा न विश्वसेत् ॥१॥

भीष्मजी ने कहा—हे तात ! मनुष्य शुभ और अशुभ कर्म करता या करवाता है, उन दोनों प्रकार के कर्मों में से शुभकर्म का अनुष्ठान करके उसे यह विश्वास करना चाहिए कि इस कर्म का उत्तम फल ही मुझे मिलेगा, परन्तु अशुभ कर्म करके उसे शुभ-फलप्राप्ति की आशा नहीं करनी चाहिए ।

काल एव सर्वकाले निग्रहानुग्रहौ ददत् ।
बुद्धिमाविश्य भूतानां धर्माधर्मौ प्रवर्तते ॥२॥

काल ही सदा निग्रह और अनुग्रह करता हुआ प्राणियों की बुद्धि में प्रविष्ट हो धर्म और अधर्म का फल देता रहता है ।

यदा त्वस्य भवेद् बुद्धिर्धर्मार्थस्य प्रदर्शनात् ।
तदाश्वसीत धर्मात्मा दृढबुद्धिर्न विश्वसेत् ॥३॥

जब धर्म का फल देखकर मनष्यं की बुद्धि में धर्म की श्रेष्ठता का निश्चय हो जाता है, तभी उसका धर्म के प्रति विश्वास बढ़ता है और तभी उसका मन धर्म में लगता है । जबतक मनुष्य की बुद्धि धर्म में दृढ़ नहीं होती तबतक कोई उसपर विश्वास नहीं करता ।

एतावन्मात्रमेतद्धि भूतानां प्राज्ञलक्षणम् ।
कालयुक्तोऽप्युभयविच्छेषं युक्तं समाचरेत् ॥४॥

प्राणियों की बुद्धिमत्ता की यही पहचान है कि वे धर्म के फल में विश्वास करके उसके आचरण में लग जाएँ । जिसे कर्तव्य-अकर्तव्य का ज्ञान है उसे प्रारब्ध के प्रतिकूल होने पर भी यथायोग्य धर्म का ही आचरण करना चाहिए ।

यथा ह्युपस्थितैश्वर्याः प्रजायन्ते न राजसाः ।
एवमेवात्मनाऽऽत्मानं पूजयन्तीह धार्मिकाः ॥५॥

जो अतुल ऐश्वर्य के स्वामी हैं, वे यह सोचकर कि कहीं रजोगुणी होकर पुनः जन्म-मृत्यु के चक्कर में न पड़ जाएँ, धर्म का अनुष्ठान करते हैं और इस प्रकार अपने ही प्रयत्न से आत्मा को महत् पद की प्राप्ति कराते हैं ।

न ह्यधर्मतयाधर्मं दद्यात् कालः कथञ्चन ।
तस्माद् विशुद्धमात्मानं जानीयाद् धर्मचारिणम् ॥६॥

काल किसी प्रकार धर्म को अधर्म नहीं बना सकता अर्थात् धार्मिक को दुःख नहीं दे सकता, अतः धर्माचरण करनेवाले मनुष्य को विशुद्धात्मा ही समझना चाहिए ।

स्प्रष्टुमप्यसमर्थो हि ज्वलन्तमिव पावकम् ।
अधर्मः सन्ततो धर्मं कालेन परिरक्षितम् ॥७॥

धर्म का स्वरूप प्रज्वलित अग्नि के समान तेजस्वी है, काल उसकी सब ओर से रक्षा करता है, अतः अधर्म में इतनी शक्ति नहीं है कि वह फैलकर धर्म को छू भी सके ।

कार्यवितौ हि धर्मेण धर्मो हि विजयावहः ।
त्रयाणामपि लोकानामालोकः कारणं भवेत् ॥८॥

विशुद्धता और पाप के स्पर्श का अभाव—ये दोनों धर्म के कार्य हैं । धर्म विजय की प्राप्ति करानेवाला और तीनों लोकों में प्रकाश फैलानेवाला है । धर्म ही इस लोक की रक्षा का कारण है ।

न तु कश्चिन्नयेत् प्राज्ञो गृहीत्वैव करे नरम् ।
उच्यमानस्तु धर्मेण धर्मलोकभयच्छले ॥९॥

परन्तु कोई कितना ही बुद्धिमान् क्यों न हो, वह किसी मनुष्य का हाथ पकड़कर उसे बलपूर्वक धर्म में नहीं लगा सकता, किन्तु न्यायानुसार धर्मभय तथा लोकभय का बहाना लेकर किसी पुरुष को धर्माचरण के लिए प्रेरित कर सकता है ।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि त्रिंशोऽध्यायः ॥३०॥

एकत्रिंशोऽध्यायः

भीष्म की आज्ञा से युधिष्ठिर का सपरिवार हस्तिनापुर लौटना

जनमेजय उवाच

शरतल्पगते भीष्मे पाण्डवैः समुपस्थितैः ।
युधिष्ठिरो महाप्राज्ञो मम पूर्वपितामहः ।।१।।
धर्माणामागमं श्रुत्वा विदित्वा सर्वसंशयान् ।
यदन्यदकरोद् विप्र तन्मे शंसितुमर्हसि ।।२।।

जनमेजय ने पूछा—विप्रवर ! भीष्मजी के बाणशय्या पर लेट जाने पर और पाण्डवों के उनकी सेवा में उपस्थित रहने पर, मेरे पूर्वपितामह महाज्ञानी राजा युधिष्ठिर ने उनके मुख से धर्मों का उपदेश सुनकर तथा अपने समस्त संशयों का समाधान हो जाने पर, जो और कोई कार्य किया हो, उसे मुझे बताने की कृपा करें ।

वैशम्पायन उवाच

अभून्मुहूर्तं स्तिमितं सर्वं तद्राजमण्डलम् ।
तूष्णींभूते ततस्तस्मिन् पटे चित्रमिवार्पितम् ।।३।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! सब धर्मों का उपदेश करके जब भीष्मजी चुप हो गये, तब दो घड़ी तक सारा राजमण्डल पट पर अंकित किये हुए चित्र के समान स्तब्ध-सा हो गया ।

मुहूर्तमिव च ध्यात्वा व्यासः सत्यवतीसुतः ।
नृपं शयानं गाङ्गेयमिदमाह वचस्तदा ।।४।।

तब दो घड़ी तक ध्यान करने के पश्चात् सत्यवतीनन्दन व्यासजी ने वहाँ सोये हुए गङ्गानन्दन महाराज भीष्मजी से इस प्रकार कहा—

राजन् प्रकृतिमापन्नः कुरुराजो युधिष्ठिरः ।
सहितो भ्रातृभिः सर्वैः पार्थिवैश्चानुयायिभिः ।।५।।
उपास्ते त्वां नरव्याघ्र सह कृष्णेन धीमता ।
तमिमं पुरयानाय समनुज्ञातुमर्हसि ।।६।।

"राजन् ! नरश्रेष्ठ ! अब कुरुराज युधिष्ठिर प्रकृतिस्थ [शान्त और सन्देहरहित] हो चुके हैं और अपना अनुसरण करनेवाले सभी भाइयों, राजाओं तथा बुद्धिमान् श्रीकृष्ण के साथ आपकी सेवा में उपस्थित हैं । अब आप इन्हें हस्तिनापुर में जाने की आज्ञा दीजिए ।"

एवमुक्तो भगवता व्यासेन पृथिवीपतिः ।
युधिष्ठिरं सहामात्यमनुजज्ञे नदीसुतः ।।७।।

भगवान् व्यास के ऐसा कहने पर पृथिवीपालक गङ्गानन्दन भीष्मजी ने मन्त्रियोंसहित राजा युधिष्ठिर को जाने की आज्ञा प्रदान की ।

उवाच चैनं मधुरं नृपं शान्तनवो नृपः ।
प्रविशस्व पुरीं राजन् व्येतु ते मानसो ज्वरः ।।८।।

उस समय शान्तनुकुमार भीष्म ने मधुरवाणी में राजा युधिष्ठिर से कहा—"राजन् ! अब तुम पुरी में प्रवेश करो । अब तुम्हारे मन की सारी व्यथा दूर हो जानी चाहिए ।

यजस्व विविधैर्यज्ञैर्बह्वन्नैः स्वाप्तदक्षिणैः ।
ययातिरिव राजेन्द्र श्रद्धादमपुरःसरः ।।९।।

"हे राजेन्द्र ! तुम महाराज ययाति की भाँति श्रद्धा और इन्द्रिय-संयमपूर्वक बहुत-से अन्न और पर्याप्त दक्षिणाओं से युक्त भाँति-भाँति के यज्ञों का अनुष्ठान करो ।

रञ्जयस्व प्रजाः सर्वाः प्रकृतीः परिसान्त्वय ।
सुहृदः फलसत्कारैरर्चयस्व यथार्हतः ।।१०।।

"समस्त प्रजाओं को प्रसन्न रखो । मन्त्री आदि प्रकृतियों को सान्त्वना प्रदान करो । सुहृदों का फल और सत्कारों द्वारा यथायोग्य सम्मान करते रहो ।

अनु त्वां तात जीवन्तु मित्राणि सुहृदस्तथा ।
चैत्यस्थाने स्थितं वृक्षं फलवन्तमिव द्विजाः ।।११।।

"तात ! जैसे मन्दिर के आस-पास के फले हुए वृक्ष पर बहुत-से पक्षी आकर आश्रय लेते हैं, उसी प्रकार तुम्हारे मित्र और हितैषी तुम्हारे आश्रय में रहकर जीवन-निर्वाह करें ।

आगन्तव्यं च भवता समये मम पार्थिव ।
विनिवृत्ते दिनकरे प्रवृत्ते चोत्तरायणे ।।१२।।

"भूपाल ! जब सूर्य दक्षिणायन से निवृत्त होकर उत्तरायण पर आ जाए, उस समय तुम फिर मेरे पास आना ।"

तथेत्युक्त्वा च कौन्तेयः सोऽभिवाद्य पितामहम् ।
प्रययौ सपरीवारो नगरं नागसाह्वयम् ॥१३॥

तब 'बहुत-अच्छा' कहकर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर पितामह को चरणस्पर्शपूर्वक प्रणाम करके परिवार-सहित हस्तिनापुर की ओर चल दिये ।

धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य गान्धारीं च पतिव्रताम् ।
सह तैर्ऋषिभिः सर्वैर्भ्रातृभिः केशवेन च ॥१४॥
पौरजानपदैश्चैव मन्त्रिवृद्धैश्च पार्थिव ।
प्रविवेश कुरुश्रेष्ठः पुरं वारणसाह्वयम् ॥१५॥

राजन् ! कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिर ने राजा धृतराष्ट्र और पतिव्रता गान्धारी देवी को आगे करके समस्त ऋषियों, भाइयों, श्रीकृष्ण, नगर और जनपद के लोगों तथा बड़े-बूढ़े मन्त्रियों के साथ हस्तिनापुर में प्रवेश किया ।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि एकत्रिंशोऽध्यायः ॥३१॥

द्वात्रिंशोऽध्यायः

भीष्मजी का धृतराष्ट्र और युधिष्ठिर को कर्तव्य का उपदेश

वैशम्पायन उवाच

ततः कुन्तीसुतो राजा पौरजानपदं जनम् ।
पूजयित्वा यथान्यायमनुजज्ञे गृहान् प्रति ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! हस्तिनापुर में प्रविष्ट होने के पश्चात् कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने नगर और जनपद के लोगों का यथोचित सम्मान करके उन्हें अपने-अपने घर जाने की आज्ञा दी ।

सान्त्वयामास नारीश्च हतवीरा हतेश्वराः ।
विपुलैरर्थदानैः स तदा पाण्डुसुतो नृपः ॥२॥

तत्पश्चात् जिन स्त्रियों के पति और वीर पुत्र युद्ध में मारे गये थे, उन सबको बहुत-सा धन देकर पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर ने धैर्य बँधाया ।

सोऽभिषिक्तो महाप्राज्ञः प्राप्य राज्यं युधिष्ठिरः ।
अवस्थाप्य नरश्रेष्ठः सर्वाः स्वप्रकृतीस्तथा ॥३॥
द्विजेभ्यो गुणमुख्येभ्यो नैगमेभ्यश्च सर्वशः ।
प्रतिगृह्याशिषो मुख्यास्तदा धर्मभृतां वरः ॥४॥

महाज्ञानी और धर्मात्माओं में श्रेष्ठ युधिष्ठिर ने राज्याभिषेक हो जाने के पश्चात् अपना राज्य पाकर मन्त्री आदि समस्त प्रकृतियों को अपने-अपने पद पर स्थापित करके वेदवेत्ता एवं गुणवान् ब्राह्मणों से उत्तम आशीर्वाद ग्रहण किया ।

उषित्वा शर्वरीः श्रीमान् पञ्चाशन्नगरोत्तमे ।
समयं कौरवाग्र्यस्य सस्मार पुरुषर्षभः ॥५॥

पचास रात्रि तक उस उत्तम नगर में निवास करके श्रीमान् पुरुषश्रेष्ठ युधिष्ठिर को कुरुकुल-शिरोमणि भीष्मजी के बताये हुए समय का ध्यान हो आया ।

स निर्ययौ गजपुराद् याजकैः परिवारितः ।
दृष्ट्वा निवृत्तमादित्यं प्रवृत्तं चोत्तरायणम् ॥६॥

वे यह देखकर कि सूर्य दक्षिणायन से निवृत्त होकर उत्तरायण पर आ गया है, याजकों से घिरकर हस्तिनापुर से बाहर निकले ।

घृतं माल्यं च गन्धाँश्च क्षौमानि च युधिष्ठिरः ।
प्रस्थाप्य पूर्वं कौन्तेयो भीष्मसंस्करणाय वै ॥७॥

कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ने भीष्मजी का दाह-संस्कार करने के लिए पहले ही घृत, माल्य, गन्ध और रेशमी वस्त्र आदि भेज दिये थे ।

धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य गान्धारीं च यशस्विनीम् ।
मातरं च पृथां धीमान् भ्रातॄँश्च पुरुषर्षभान् ॥८॥
जनार्दनेनानुगतो विदुरेण च धीमता ।
युयुत्सुना च कौरव्यो युयुधानेन वा विभो ॥९॥

विभो ! कुरुकुलनन्दन बुद्धिमान् युधिष्ठिर राजा धृतराष्ट्र, यशस्विनी गान्धारी, माता कुन्ती तथा पुरुषश्रेष्ठ भाइयों को आगे करके और जनार्दन श्रीकृष्ण, बुद्धिमान् विदुर, युयुत्सु तथा सात्यकि को पीछे रखकर चल रहे थे ।

महता राजभोगेन पारिबर्हेण संवृतः ।
स्तूयमानो महातेजा भीष्मस्याग्नीननुव्रजन् ॥१०॥

वे महातेजस्वी नरेश विशाल राजोचित उपकरण और वैभव के भारी ठाठ-बाट से सम्पन्न थे । उनकी

स्तुति की जा रही थी और वे भीष्मजी के द्वारा स्थापित की हुई त्रिविध अग्नियों को आगे रखकर स्वयं पीछे-पीछे चल रहे थे ।

निश्चक्राम पुरात् तस्माद् यथा देवपतिस्तथा ।
आससाद कुरुक्षेत्रे ततः शान्तनवं नृपम् ॥११॥

वे देवराज इन्द्र की भाँति अपनी राजधानी से बाहर निकले और यथासमय कुरुक्षेत्र में शान्तनुनन्दन भीष्मजी के पास जा पहुँचे ।

उपास्यमानं व्यासेन पाराशर्येण धीमता ।
नारदेन च राजर्षे देवलेनासितेन च ॥१२॥

राजर्षे ! उस समय वहाँ पराशरकुमार बुद्धिमान् व्यास, देवर्षि नारद और असित देवल ऋषि उनके पास विराजमान थे ।

शयानं वीरशयने ददर्श नृपतिस्ततः ।
ततो रथादवतीर्य भ्रातृभिः सह धर्मराट् ॥१३॥

धर्मराज महाराज युधिष्ठिर दूर से ही शरशय्या पर लेटे हुए भीष्मजी को देखकर भाइयोंसहित रथ से उतर पड़े ।

अभिवाद्याथ कौन्तेयः पितामहमरिंदम ।
द्वैपायनादीन् विप्रांश्च तैश्च प्रत्यभिनन्दितः ॥१४॥

शत्रुदमन राजन् ! कुन्तीपुत्र ने सबसे पहले पितामह को चरणस्पर्शपूर्वक नमस्कार किया । तत्पश्चात् व्यास आदि ब्राह्मणों को प्रणाम किया । फिर उन सबने भी उनका अभिनन्दन किया ।

अब्रवीद् भरतश्रेष्ठं धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
भ्रातृभिः सह कौरव्यः शयानं निम्नगासुतम् ॥१५॥

युधिष्ठिर बाणशय्या पर लेटे हुए भरतभूषण गंगापुत्र भीष्मजी से भाइयोंसहित इस प्रकार बोले—

युधिष्ठिरोऽहं नृपते नमस्ते जाह्नवीसुत ।
शृणोषि चेन्महाबाहो ब्रूहि किं करवाणि ते ॥१६॥

"गङ्गानन्दन ! नरेश्वर ! महाबाहो ! मैं युधिष्ठिर आपकी सेवा में उपस्थित हूँ और आपको नमस्कार करता हूँ । यदि आपको मेरी बात सुनाई देती हो तो आज्ञा कीजिए, मैं आपकी क्या सेवा करूँ ?

प्राप्तोऽस्मि समये राजन्नग्नीनादाय ते विभो ।
आचार्यान् ब्राह्मणांश्चैव ऋत्विजो भ्रातरश्च मे ॥१७॥

"राजन ! प्रभो ! आपकी अग्नियों और आचार्यों, ब्राह्मणों तथा ऋत्विजों को साथ लेकर मैं अपने भाइयोंसहित ठीक समय पर आ गया हूँ ।

पुत्रश्च ते महातेजा धृतराष्ट्रो जनेश्वरः ।
उपस्थितः सहामात्यो वासुदेवश्च वीर्यवान् ॥१८॥

"आपके पुत्र महातेजस्वी राजा धृतराष्ट्र भी अपने मन्त्रियोंसहित उपस्थित हैं और महाबली श्रीकृष्ण भी यहाँ पधारे हुए हैं ।

हतशिष्टाश्च राजानः सर्वे च कुरुजांगलाः ।
तान् पश्य नरशार्दूल समुन्मीलय लोचने ॥१९॥

"पुरुषसिंह ! युद्ध में मरने से बचे हुए सभी राजा और कुरुजाङ्गल देश की प्रजा भी यहाँ उपस्थित है । आप आँखें खोलिए और इन सबको देखिए ।

यच्चेह किंचित् कर्तव्यं तत्सर्वं प्रापितं मया ।
यथोक्तं भवता काले सर्वमेव च तत् कृतम् ॥२०॥

"आपके आदेशानुसार इस समय के लिए जो कुछ एकत्र करना आवश्यक था, वह सब संग्रहीत कर मैंने यहाँ पहुँचा दिया है । सभी उपयोगी वस्तुओं का प्रबन्ध कर दिया गया है ।"

एवमुक्तस्तु गाङ्गेयः कुन्तीपुत्रेण धीमता ।
ददर्श भारतान् सर्वान् स्थितान् सम्परिवार्य ह ॥२१॥

जनमेजय ! महाबुद्धिमान् कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर के ऐसा कहने पर गङ्गानन्दन भीष्म ने आँखें खोलकर अपने को सब ओर से घेरकर खड़े हुए सम्पूर्ण भरतवंशियों को देखा ।

ततश्च तं बली भीष्मः प्रगृह्य विपुलं भुजम् ।
उद्यन्मेघस्वरो वाग्मी काले वचनमब्रवीत् ॥२२॥

तत्पश्चात् प्रवचनकुशल बलवान् भीष्मजी ने युधिष्ठिर की विशाल भुजा हाथ में लेकर मेघ के समान गम्भीर वाणी में यह समयोचित वचन कहा—

दिष्ट्या प्राप्तोऽसि कौन्तेय सहामात्यो युधिष्ठिर ।
परिवृत्तो हि भगवान् सहस्रांशुर्दिवाकरः ॥२३

"कुन्तीकुमार युधिष्ठिर ! सौभाग्य की बात है कि तुम मन्त्रियोंसहित यहाँ आ गये । सहस्रों रश्मियों से सुशोभित सूर्य अब दक्षिणायन से उत्तरायण की ओर लौट चुका है ।

अष्टपञ्चाशतं रात्र्यः शयानस्याद्य मे गताः ।
शरेषु निशिताग्रेषु यथा वर्षशतं तथा ॥२४॥

"इन तीखे अग्रभागवाले बाणों की शय्या पर शयन करते हुए आज मुझे अट्ठावन दिन हो गये, परन्तु ये दिन मेरे लिए सौ वर्षों के समान बीते हैं।

माघोऽयं समनुप्राप्तो मासः सौम्यो युधिष्ठिर।
त्रिभागशेषं पक्षोऽयं शुक्लो भवितुमर्हति ॥२५॥

"युधिष्ठिर! इस समय चन्द्रमास के अनुसार माघ का महीना प्राप्त हुआ है। इसका यह शुक्लपक्ष चल रहा है, जिसका एक भाग बीत चुका है और तीन भाग शेष हैं।"

एवमुक्त्वा तु गाङ्गेयो धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम्।
धृतराष्ट्रमथामन्त्र्य काले वचनमब्रवीत् ॥२६॥

धर्मपुत्र युधिष्ठिर से ऐसा कहकर गङ्गानन्दन भीष्म ने धृतराष्ट्र को पुकारकर उनसे यह समयोचित वचन कहा—

भीष्म उवाच

राजन् विदितधर्मोऽसि सुनिर्णीतार्थसंशयः।
बहुश्रुता हि ते विप्रा बहवः पर्युपासिताः ॥२७॥

भीष्मजी ने कहा—राजन्! तुम धर्म को भली-भाँति जानते हो। तुमने अर्थतत्त्व का भी ठीक प्रकार निर्णय कर लिया है। अब तुम्हारे मन में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है, क्योंकि तुमने अनेक शास्त्रों का ज्ञान रखनेवाले बहुत-से विद्वान् ब्राह्मणों की सेवा की है, उनके सत्सङ्ग से लाभ उठाया है।

वेदशास्त्राणि सर्वाणि निखिलेनानुबुद्ध्यसे।
न शोचितव्यं कौरव्य भवितव्यं हि तत् तथा ॥२८॥

कुरुनन्दन! तुम वेदशास्त्रों को पूर्णरूप से जानते और समझते हो। तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए। जो कुछ हुआ है, वह अवश्यम्भावी था।

यथा पाण्डोः सुता राजंस्तथैव तव धर्मतः।
तान् पालय स्थितो धर्मे गुरुशुश्रूषणे रतान् ॥२९॥

ये पाण्डव जैसे राजा पाण्डु के पुत्र हैं, वैसे ही धर्म की दृष्टि से तुम्हारे भी पुत्र हैं। ये सदा गुरुजनों की सेवा में संलग्न रहते हैं। तुम धर्म में स्थित रहकर अपने पुत्रों के समान ही इनका पालन करना।

धर्मराजो हि शुद्धात्मा निदेशे स्थास्यते तव।
आनृशंस्यपरं ह्येनं जानामि गुरुवत्सलम् ॥३०॥

धर्मराज युधिष्ठिर का हृदय अति शुद्ध है। ये सदा तुम्हारी आज्ञा के अधीन रहेंगे। मैं जानता हूँ, इनका स्वभाव अत्यन्त कोमल है और ये गुरुजनों के प्रति बड़ी भक्ति रखते हैं।

तव पुत्राः दुरात्मानः क्रोधलोभपरायणाः।
ईर्ष्याभिभूता दुर्वृत्तास्तान् न शोचितुमर्हसि ॥३१॥

तुम्हारे पुत्र बड़े दुरात्मा, क्रोधी, लोभी, ईर्ष्या के वशीभूत और दुराचारी थे, अतः उनके लिए तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए।

वैशम्पायन उवाच

एतावदुक्त्वा वचनं धृतराष्ट्रं मनीषिणम्।
वासुदेवं महाबाहुमभ्यभाषत कौरवः ॥३२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! मनीषी धृतराष्ट्र से ऐसा वचन कहकर कुरुवंशी भीष्म ने महाबाहु श्रीकृष्ण से इस प्रकार कहा—

भीष्म उवाच

अनुजानीहि मां कृष्ण वैकुण्ठ पुरुषोत्तम।
पाण्डवा रक्षणीयास्ते भवान् येषां परायणम् ॥३३॥

श्रीकृष्ण! वैकुण्ठ! पुरुषोत्तम! अब मुझे जाने की आज्ञा प्रदान कीजिए। आप ही जिनके परमाश्रय हैं, उन पाण्डवों की सदा रक्षा करना।

उक्तवानस्मि दुर्बुद्धि मन्दं दुर्योधनं सदा।
यतः कृष्णस्ततो धर्मो यतो धर्मस्ततो जयः ॥३४॥
वासुदेवेन तीर्थेन पुत्र संशाम्य पाण्डवैः।
सन्धानस्य परः कालस्तवेति च पुनः पुनः ॥३५॥
न च मे तद् वचो मूढः कृतवान् स सुमन्दधीः।
घातयित्वेह पृथिवीं ततः स निधनं गतः ॥३६॥

मैंने दुर्बुद्धि एवं मूर्ख दुर्योधन से कहा था—'जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहाँ धर्म है, और जहाँ धर्म है, उसी पक्ष की जय होगी, अतः बेटा दुर्योधन! श्रीकृष्ण की सहायता से पापडवों के साथ सन्धि कर लो। यह सन्धि के लिए उत्तम अवसर है।' इस प्रकार बार-बार कहने पर भी उस मन्दबुद्धि मूढ ने मेरी वह बात नहीं मानी, परिणामस्वरूप सारी पृथिवी के वीरों का नाश कराकर अन्त में वह स्वयं भी काल के गाल में चला गया।

वासुदेव उवाच

अनुजानामि भीष्म त्वां वसून् प्राप्नुहि पार्थिव।
न तेऽस्ति वृजिनं किञ्चिदिहलोके महाद्युते ॥३७॥

श्रीकृष्ण बोले—पृथिवीपालक महातेजस्वी भीष्म ! मैं आपको आज्ञा देता हूँ। आप वसुलोक को जाइए। इस लोक में आपके द्वारा अणुमात्र भी पाप नहीं हुआ है।

पितृभक्तोऽसि राजर्षे मार्कण्डेय इवापरः।
तेन तव वशे मृत्युः स्थितो भृत्य इवानतः ॥३८॥

राजर्षे ! आप दूसरे मार्कण्डेय के समान पितृभक्त हैं, अतः मृत्यु विनीत दासी के समान आपके वश में हो गई है।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु गाङ्गेयः पाण्डवानिदमब्रवीत्।
धृतराष्ट्रमुखांश्चापि सर्वांश्च सुहृदस्तथा ॥३९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! श्रीकृष्ण के ऐसा कहने पर गङ्गानन्दन भीष्म ने पाण्डवों तथा धृतराष्ट्र आदि सभी सुहृदों से कहा—

प्राणानुत्स्रष्टुमिच्छामि तत्रानुज्ञातुमर्हथ।
सत्येषु यतितव्यं वः सत्यं हि परमं बलम् ॥४०॥

"अब मैं प्राणों का परित्याग करना चाहता हूँ। तुम सब लोग इसके लिए मुझे आज्ञा दो। तुम्हें सदा सत्यधर्म के पालन का प्रयत्न करते रहना चाहिए, क्योंकि सत्य ही सबसे बड़ा बल है।

आनृशंस्यपरैर्भाव्यं सदैव नियतात्मभिः।
ब्राह्मणैर्धर्मशीलैश्च तपोनित्यैश्च भारताः ॥४१॥

"भरतवंशियो ! तुम लोगों को सबके साथ कोमलता का बर्ताव करना चाहिए। तुम्हें सदा अपने मन को और इन्द्रियों को अपने वश में रखना एवं ब्राह्मणभक्त, धर्मनिष्ठ तथा तपस्वी होना चाहिए।"

इत्युक्त्वा सुहृदः सर्वान् सम्परिष्वज्य चैव ह।
पुनरेवाब्रवीद् धीमान् युधिष्ठिरमिदं वचः ॥४२॥
ब्राह्मणाश्च हि ते नित्यं प्राज्ञाश्चैव विशेषतः।
आचार्या ऋत्विजश्चैव पूजनीया जनाधिप ॥४३॥

ऐसा कहकर बुद्धिमान् भीष्मजी ने अपने सब सुहृदों को गले लगाया और युधिष्ठिर से पुनः इस प्रकार कहा—"युधिष्ठिर ! तुम्हें सामान्यतः सभी ब्राह्मणों का, विशेषतः विद्वानों, आचार्यों और ऋत्विजों का सदा ही आदर-सत्कार करना चाहिए।"

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥३२॥

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

भीष्मजी का प्राणत्याग और उनकी अन्त्येष्टि

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा कुरून्सर्वान्भीष्मः शान्तनवस्तदा।
तूष्णीं बभूव कौरव्यः स मुहूर्तमरिंदम ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—शत्रुमर्दन जनमेजय ! समस्त कौरवों से ऐसा कहकर कुरुश्रेष्ठ शान्तनुनन्दन भीष्मजी दो घड़ी तक चुपचाप पड़े रहे।

धारयामास चात्मानं धारणासु यथाक्रमम्।
तस्योर्ध्वमगमन् प्राणाः संनिरुद्ध महात्मनः ॥२॥

तत्पश्चात् वे मनसहित प्राणवायु को क्रमशः भिन्न-भिन्न धारणाओं में स्थापित करने लगे। इस प्रकार यौगिक क्रिया के द्वारा रोके हुए महामना भीष्मजी के प्राण क्रमशः ऊपर चढ़ने लगे।

संनिरुद्धस्तु तेनात्मा सर्वेष्वायतनेषु च।
जगाम भित्वा मूर्धानं दिवमभ्युत्पपात ह ॥३॥

भीष्मजी ने अपने शरीर के सभी द्वारों को बन्द करके प्राणों को सब ओर से रोक लिया था, अतः वे उनके मस्तक [ब्रह्मरन्ध्र] को भेदकर आकाश में चले गये।

एवं स राजशार्दूल नृपः शान्तनवस्तदा।
समयुज्यत कालेन भरतानां कुलोद्वहः ॥४॥

नृपश्रेष्ठ ! इस प्रकार भरतवंश का भार-वहन करनेवाले शान्तनुनन्दन राजा भीष्म कालधर्म को प्राप्त हुए।

ततस्त्वादाय दारूणि गन्धांश्च विविधान् बहून्।
चितां चक्रुर्महात्मानः पाण्डवा विदुरस्तथा ॥५॥

कुरुनन्दन ! तत्पश्चात् बहुत-से काष्ठ और नाना प्रकार के सुगन्धित द्रव्य लेकर महात्मा पाण्डवों और विदुर ने चिता तैयार की।

युधिष्ठिरश्च गाङ्गेयं विदुरश्च महामतिः ।
छादयामासतुरुभौ क्षौमैर्माल्यैश्च कौरवम् ॥६॥

राजा युधिष्ठिर और बुद्धिमान् विदुर—इन दोनों ने रेशमी वस्त्रों और मालाओं से कुरुनन्दन गङ्गापुत्र भीष्म को आच्छादित किया और चिता पर सुलाया ।

धारयामास तस्याथ युयुत्सुश्छत्रमुत्तमम् ।
चामरव्यजने शुभ्रे भीमसेनार्जुनावुभौ ।
उष्णीषे पर्यगृह्णीतां माद्रीपुत्रावुभौ तथा ॥७॥

उस समय युयुत्सु ने उनपर उत्तम छत्र ताना और भीमसेन तथा अर्जुन श्वेत चँवर एवं व्यजन [पंखे] डुलाने लगे । माद्रीकुमार नकुल और सहदेव ने पगड़ी हाथों में लेकर भीष्मजी के मस्तक पर रखी ।

स्त्रियः कौरवनाथस्य भीष्मं कुरुकुलोद्वहम् ।
तालवृन्तान्युपादाय पर्यवीजन्त सर्वशः ॥८॥

कौरवराज के रनिवास की स्त्रियाँ ताड़ के पंखे हाथों में लेकर कुरुकुल-धुरन्धर भीष्मजी के शव को सब ओर से हवा करने लगीं ।

ततोऽस्य विधिवच्चक्रुः पितृमेधं महात्मनः ।
यजनं बहुशश्चाग्नौ जगुः समानि सामगाः ॥९॥

तत्पश्चात् पाण्डवों ने विधिपूर्वक महात्मा भीष्म का पितृमेध कर्म सम्पन्न किया । अग्नि में बहुत-सी आहुतियाँ दी गईं और साम-गान करनेवाले ब्राह्मणों ने साम-मन्त्रों का गान किया ।

संस्कृत्य च कुरुश्रेष्ठं गाङ्गेयं कुरुसत्तमाः ।
जग्मुर्भागीरथीं पुण्यामृषिजुष्टां कुरुद्वहाः ।
उदकं चक्रिरे चैव ये च पौराः समागताः ॥१०॥

इस प्रकार कुरुश्रेष्ठ भीष्मजी का दाहसंस्कार करके समस्त कौरव ऋषि-मुनियों से सेवित परम पवित्र भागीरथी [गङ्गा] के तट पर गये । वहाँ पहुँचकर पाण्डवों और समागत नगरनिवासियों ने स्नान किया ।

इति महाभारते अनुशासनपर्वणि त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥३३॥

॥ इति अनुशासनपर्व सम्पूर्णम् ॥

आश्वमेधिकपर्व

प्रथमोऽध्यायः

युधिष्ठिर का शोक, श्रीकृष्ण और व्यास का उन्हें समझाते हुए अश्वमेधयज्ञ के लिए प्रेरित करना, युधिष्ठिर का हस्तिनापुर-आगमन और उनके धर्मराज्य का वर्णन

वैशम्पायन उवाच

कृतोदकं तु राजानं धृतराष्ट्रं युधिष्ठिरः ।
पुरस्कृत्य महाबाहुरुत्ताराकुलेन्द्रियः ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब धृतराष्ट्र भीष्मजी की अन्त्येष्टि के पश्चात् स्नान कर चुके, तब महाबाहु युधिष्ठिर उन्हें आगे करके जल से बाहर निकले। उस समय उनकी सभी इन्द्रियाँ शोक से व्याकुल हो रही थीं।

उत्तीर्य तु महाबाहुर्बाष्पव्याकुललोचनः ।
पपात तीरे गङ्गाया व्याधविद्ध इव द्विपः ॥२॥

जल से बाहर निकलकर महाबाहु युधिष्ठिर व्याध के बाणों से बिंधे हुए गजराज के समान गङ्गा के तट पर गिर पड़े। उस समय उनके दोनों नेत्रों से आँसुओं की धारा बह रही थी।

तं दृष्ट्वा दीनमनसं गतसत्त्वं नरेश्वरम् ।
भूयः शोकसमाविष्टाः पाण्डवाः समुपाविशन् ॥३॥

राजा युधिष्ठिर को दीनचित्त और हतोत्साह देखकर पाण्डव फिर शोक में डूब गये और उन्हीं के पास बैठ गये।

राजा तु धृतराष्ट्रश्च पुत्रशोकाभिपीडितः ।
वाक्यमाह महाबुद्धिः प्रज्ञाचक्षुर्नरेश्वरम् ॥४॥

उस समय पुत्रशोक से पीड़ित हुए महाबुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्र ने महाराज युधिष्ठिर से कहा—

उत्तिष्ठ कुरुशार्दूल कुरु कार्यमनन्तरम् ।
क्षत्रधर्मेण कौन्तेय जितेयमवनी त्वया ॥५॥

"कुरुवंश के सिंह ! कुन्तीपुत्र ! उठो और आगे जो कार्य प्राप्त है, उसे पूर्ण करो। तुमने क्षत्रियधर्म के अनुसार इस पृथिवी को जीता है।

भुंक्ष्व भोगान्भ्रातृभिश्च सुहृद्भिश्च मनोनुगान् ।
शोचितव्यं नु पश्यामि त्वया धर्मभृतां वर ॥६॥

"धर्मात्माओं में श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! अब तुम अपने भाइयों और सुहृदों के साथ यथेच्छ भोग भोगो। तुम्हारे लिए शोक करने का कोई कारण मुझे दिखाई नहीं देता।

शोचितव्यं मया चैव गान्धार्या च महीपते ।
ययोः पुत्रशतं नष्टं स्वप्नलब्धं यथा धनम् ॥७॥

"भूपाल ! शोक तो मुझे और गान्धारी को करना चाहिए, जिनके सौ पुत्र स्वप्न में प्राप्त हुए धन की भाँति नष्ट हो गये हैं।"

एवमुक्तस्तु राज्ञा स धृतराष्ट्रेण धीमता ।
तूष्णीं बभूव मेधावी तमुवाचाथ केशवः ॥८॥

जनमेजय ! बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्र के ऐसा कहने पर भी मेधावी युधिष्ठिर चुप ही रहे। तब श्रीकृष्णजी बोले—

अतीव मनसा शोकः क्रियमाणो जनाधिप ।
संतापयति चैतस्य पूर्वप्रेतान् पितामहान् ॥९॥

"प्रजेश्वर ! यदि मनुष्य मरे हुए प्राणी के लिए अपने मन में अधिक शोक करता है तो उसका वह शोक उसके पहले मरे हुए पितामहों को भारी सन्ताप में डाल देता है।

यजस्व विविधैर्यज्ञैर्बहुभिः स्वाप्तदक्षिणैः ।
देवांस्तर्पय सोमेन स्वधया च पितॄनपि ॥१०॥

"आप बड़ी-बड़ी दक्षिणावाले नाना प्रकार के यज्ञों का अनुष्ठान कीजिए और सोमरस के द्वारा देवताओं तथा स्वधा द्वारा पितरों को तृप्त कीजिए।

अतिथीनन्नपानेन कामैरन्यैरकिंचनान्।
पितृपैतामहं वृत्तमास्थाय धुरमुद्वह ॥११॥

"अतिथियों को अन्न और जल देकर एवं सामान्य [निर्धन] मनुष्यों को उनकी मनचाही वस्तुएँ देकर सन्तुष्ट कीजिए। अपने पिता-पितामहों के बर्ताव का आश्रय लेकर राजकार्य का भार सँभालिए।

त्यज शोकं महाराज भवितव्यं हि तत्तथा।
न शक्यास्ते पुनर्द्रष्टुं त्वया येऽस्मिन् रणे हताः ॥१२॥

"महाराज! शोक त्याग दीजिए, क्योंकि जो कुछ हुआ है, वैसी ही होनहार थी। इस युद्ध में जो लोग मारे गये हैं, उन्हें आप पुनः नहीं देख सकते।"

एतावदुक्त्वा गोविन्दो धर्मराजं युधिष्ठिरम्।
विरराम महातेजास्तमुवाच युधिष्ठिरः ॥१३॥

धर्मराज युधिष्ठिर से ऐसा कहकर महातेजस्वी श्रीकृष्ण चुप हो गये। उस समय युधिष्ठिर ने उनसे कहा—

युधिष्ठिर उवाच

गोविन्द मयि या प्रीतिस्तव सा विदिता मम।
सौहृदेन तथा प्रेम्णा सदा मय्यनुकम्पसे ॥१४॥

युधिष्ठिर बोले—श्रीकृष्ण! आपका मुझपर जो प्रेम है, वह मुझे भली-भाँति ज्ञात है। आप स्नेह और सौहार्दवश सदा ही मुझपर कृपा करते रहते हैं।

प्रियं तु मे स्यात् सुमहत्कृतं चक्रगदाधर।
यदि मामनुजानीयाद् भवान् गन्तुं तपोवनम् ॥१५॥

चक्र और गदाधारी कृष्ण! यदि आप मुझे तपोवन में जाने की आज्ञा प्रदान कर दें तो मेरा महान् प्रिय कार्य सम्पन्न हो जाए।

न हि शान्ति प्रपश्यामि पातयित्वा पितामहम्।
कर्णं च पुरुषव्याघ्रं संग्रामेष्वपलायिनम् ॥१६॥

मैं पितामह भीष्म और युद्ध से कभी पीठ न दिखानेवाले नरश्रेष्ठ कर्ण को मरवाकर कभी शान्ति नहीं पा सकता।

वैशम्पायन उवाच

तमेवंवादिनं पार्थं व्यासः प्रोवाच धर्मवित्।
अकृता ते मतिस्तात पुनर्बाल्येन मुह्यसे ॥१७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर को ऐसी बातें कहते देख धर्म के मर्मज्ञ व्यासजी ने कहा, "तात! तुम्हारी बुद्धि अभी शुद्ध नहीं हुई। तुम पुनः बालोचित अविवेक के कारण मोह में पड़ गये।

आत्मानं मन्यसे चाथ पापकर्माणमन्ततः।
शृणु तत्र यथा पापमपकृष्येत भारत ॥१८॥

"भरतनन्दन! यदि तुम अन्ततोगत्वा अपने-आपको ही युद्धरूपी पापकर्म का प्रधान हेतु मानते हो तो वह पाप जिस प्रकार नष्ट हो सकता है, वह उपाय बताता हूँ, सुनो!

तपोभिः क्रतुभिश्चैव दानेन च युधिष्ठिर।
तरन्ति नित्यं पुरुषा ये स्म पापानि कुर्वते ॥१९॥

"युधिष्ठिर! जो लोग पापकर्म करते हैं, वे तप, यज्ञ और दान के द्वारा ही सदा अपना उद्धार करते हैं।

यज्ञेन तपसा चैव दानेन च नराधिप।□
पूयन्ते नरशार्दूल नरा दुष्कृतकारिणः ॥२०॥

"नरेश्वर! पुरुषसिंह! पापाचारी मनुष्य यज्ञ, दान और तपस्या से ही पवित्र होते हैं।

असुराश्च सुराश्चैव पुण्यहेतोर्मखक्रियाम्।
प्रयतन्ते महात्मानस्तस्माद् यज्ञाः परायणम् ॥२१॥

"देव और दानव पुण्य के लिए यज्ञ करने का ही प्रयत्न करते हैं, अतः यज्ञ परम आश्रय है।

यज्ञैरेव महात्मानो बभूवुरधिकाः सुराः।
ततो देवाः क्रियावन्तो दानवानभ्यधर्षयन् ॥२२॥

"यज्ञों के द्वारा ही महामनस्वी देवों का महत्त्व अधिक हुआ है और यज्ञों से ही कर्मशील देवों ने दानवों को परास्त किया है।

राजसूयाश्वमेधौ च सर्वमेधं च भारत।
नरमेधं च नृपते त्वमाहर युधिष्ठिर ॥२३॥

"भरतवंशी नरेश युधिष्ठिर! तुम राजसूय, अश्वमेध, सर्वमेध और नरमेध यज्ञ करो।

यजस्व वाजिमेधेन विधिवद् दक्षिणावता।
बहुकामान्नवित्तेन रामो दाशरथिर्यथा ॥२४॥

"विधिवत् दक्षिणा देकर बहुत-से मनोवाञ्छित पदार्थ, अन्न और धन से सम्पन्न अश्वमेध यज्ञ का तुम दशरथनन्दन श्रीराम की भाँति अनुष्ठान करो।"

युधिष्ठिर उवाच

असंशयं वाजिमेधः पावयेत् पृथिवीमपि ।
अभिप्रायस्तु मे कश्चित् तं त्वं श्रोतुमिहार्हसि ॥२५॥

युधिष्ठिर बोले—द्विजश्रेष्ठ ! इसमें सन्देह नहीं कि अश्वमेध यज्ञ सम्पूर्ण भूमण्डल को भी पवित्र कर सकता है, किन्तु इस विषय में मेरा एक निवेदन है, उसे आप सुन लें।

इमं ज्ञातिवधं कृत्वा सुमहान्तं द्विजोत्तम ।
दानमल्पं न शक्नोमि दातुं वित्तं च नास्ति मे ॥२६॥

विप्रवर ! अपने सगोत्री भाइयों का यह महान् संहार करके अब मुझमें थोड़ा-सा भी दान देने की शक्ति नहीं रह गई है, क्योंकि मेरे पास धन नहीं है।

न तु बालानिमान् दीनानुत्सहसे वसु याचितुम् ।
तथैवार्द्रव्रणान् कृच्छ्रे वर्तमानान् नृपात्मजान् ॥२७॥

यहाँ जो राजकुमार विद्यमान हैं, वे सभी बालक एवं दीन हैं, महान् संकट में पड़े हुए हैं और इनके शरीर के घाव भी अभी सूखने नहीं पाये हैं, अतः इन नृपों से मैं धन की याचना नहीं कर सकता।

स्वयं विनाश्य पृथिवीं यज्ञार्थं द्विजसत्तम ।
करमाहारयिष्यामि कथं शोकपरायणः ॥२८॥

विप्रवर ! स्वयं ही सारी पृथिवी का विनाश कराकर शोक-निमग्न मैं इनसे यज्ञ के लिए कर किस प्रकार प्राप्त कर सकूँगा !

दुर्योधनेन पृथिवी क्षयिता वित्तकारणात् ।
कोशश्चापि विशीर्णोऽसौ धार्तराष्ट्रस्य दुर्मतेः ॥२९॥

दुर्योधन ने धन के लोभ से सारे भूमण्डल का संहार करा डाला, परन्तु धन मिलना तो दूर रहा, उस दुर्बुद्धि का अपना कोश भी खाली हो गया।

पृथिवी दक्षिणा चात्र विधिः प्रथमकल्पितः ।
विद्वद्भिः परिदृष्टोऽयं शिष्टो विधिविपर्ययः ॥३०॥

अश्वमेध यज्ञ में सम्पूर्ण पृथिवी दक्षिणा में देनी चाहिए। यही विद्वानों ने मुख्य कल्प माना है। इसके अतिरिक्त जो कुछ किया जाता है, वह सब विधि के विपरीत है।

न च प्रतिनिधिं कर्तुं चिकीर्षामि तपोधन ।
अत्र मे भगवन् सम्यक् साचिव्यं कर्तुमर्हसि ॥३१॥

तपोधन ! मुख्य वस्तु के अभाव में जो अन्य कोई वस्तु दी जाती है, वह प्रतिनिधि दक्षिणा कहलाती है, परन्तु प्रतिनिधि दक्षिणा देने की मेरी इच्छा नहीं होती, अतः भगवन् ! इस विषय में आप मुझे उचित परामर्श देने की कृपा करें।

व्यास उवाच

कोशश्चापि विशीर्णोऽयं परिपूर्णो भविष्यति ।
विद्यते द्रविणं पार्थ गिरौ हिमवति स्थितम् ॥३२॥
उत्सृष्टं ब्राह्मणैर्यज्ञे मरुत्तस्य महात्मनः ।
तदानयस्व कौन्तेय पर्याप्तं तद् भविष्यति ॥३३॥

व्यासजी ने कहा—पार्थ ! यद्यपि तुम्हारा कोश इस समय खाली हो गया है तथापि वह बहुत शीघ्र भर जाएगा। हिमालय पर्वत पर महात्मा मरुत्त के यज्ञ में ब्राह्मणों ने जो धन छोड़ दिया था, वह वहीं पड़ा हुआ है। कुन्तीपुत्र ! उसे ले आओ, वह तुम्हारे लिए पर्याप्त होगा।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्ते नृपतौ तस्मिन् व्यासेनाद्भुतकर्मणा ।
वासुदेवो महातेजास्ततो वचनमाददे ॥३४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अद्भुतकर्मा वेदव्यासजी ने युधिष्ठिर से जब इस प्रकार कहा, तब महातेजस्वी श्रीकृष्ण कुछ कहने को उद्यत हुए।

वासुदेव उवाच

सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम् ।
एतावान् ज्ञानविषयः किं प्रलापः करिष्यति ॥३५॥

श्रीकृष्ण ने कहा—धर्मराज ! कुटिलता मृत्यु का कारण है और सरलता ब्रह्म-प्राप्ति का साधन है। इस बात को ठीक-ठीक समझ लेना ही ज्ञान का विषय है, इसके विपरीत जो कुछ कहा जाता है वह प्रलाप है, उससे किसी का क्या कल्याण होगा !

नैव तेऽनुष्ठितं कर्म नैव ते शत्रवो जिताः ।
कथं शत्रुं शरीरस्थमात्मनो नावबुध्यसे ॥३६॥

आपने अपने कर्तव्यकर्म को पूरा नहीं किया और न अभी तक अपने शत्रुओं पर विजय पाई है। आपका शत्रु तो आपके शरीर के भीतर बैठा है।

आप अपने उस शत्रु को पहचान क्यों नहीं रहे हैं ?

यच्च ते द्रोणभीष्माभ्यां युद्धमासीदरिंदम ।
मनसैकेन योद्धव्यं तत्ते युद्धमुपस्थितम् ॥३७॥

हे शत्रुदमन ! द्रोणाचार्य और भीष्म के साथ आपका जो युद्ध हुआ था, वही युद्ध आपके सामने पुनः उपस्थित है। इस समय आपको अकेले अपने मन के साथ युद्ध करना होगा।

तस्मादभ्युपगन्तव्यं युद्धाय भरतर्षभ ।
परमव्यक्तरूपस्य पारं युक्त्या स्वकर्मभिः ॥३८॥

भरतभूषण ! उस युद्ध के लिए आपको तैयार हो जाना चाहिए। अपने कर्तव्य का पालन करते हुए योग के द्वारा मन को वशीभूत करके आप माया से परे परब्रह्म को प्राप्त कीजिए।

न बाह्यं द्रव्यमुत्सृज्य सिद्धिर्भवति भारत ।
शारीरं द्रव्यमुत्सृज्य सिद्धिर्भवति वा न वा ॥३९॥

हे भारत ! केवल राज्यादि बाह्य पदार्थों का परित्याग करने से ही सिद्धि नहीं प्राप्त होती। शारीरिक द्रव्य [काम-क्रोधादि] का त्याग करके भी सिद्धि प्राप्त होती है अथवा नहीं, कहना कठिन है।

द्व्यक्षरस्तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम् ।
ममेति च भवेन्मृत्युर्न ममेति च शाश्वतम् ॥४०॥

'मम=मेरा' ये दो अक्षर ही मृत्युरूप हैं और 'न मम'=मेरा नहीं है—ये तीन अक्षर सनातन ब्रह्म की प्राप्ति का कारण हैं। ममता मृत्यु है और उसका त्याग सनातन अमृतत्व है।

ब्रह्ममृत्यू ततो राजन्नात्मन्येव व्यवस्थितौ ।
अदृश्यमानौ भूतानि योधयेतामसंशयम् ॥४१॥

राजन् ! मृत्यु और अमृत दोनों अपने भीतर ही स्थित हैं। ये दोनों अदृश्य रहकर प्राणियों को लड़ाते हैं अर्थात् 'किसी को अपना मानना और किसी को अपना न मानना' यह भाव ही युद्ध का कारण है, इसमें संशय नहीं है।

लब्ध्वापि पृथिवीं कृत्स्नां सहस्थावरजङ्गमाम् ।
ममत्वं यस्य नैव स्यात् किं तया स करिष्यति ॥४२॥

चराचर प्राणियोंसहित सम्पूर्ण भूमण्डल को पाकर भी जिसकी उसमें ममता नहीं होती, वह उसको लेकर क्या करेगा अर्थात् उस सम्पत्ति से उसका कोई अनर्थ नहीं हो सकता।

अथवा वसतः पार्थ वने वन्येन जीवतः ।
ममता यस्य द्रव्येषु मृत्योरास्ये स वर्तते ॥४३॥

परन्तु कुन्तीकुमार ! जो वन में रहकर जंगली फल-मूलों से ही जीवन-निर्वाह करता है, उसकी भी यदि द्रव्य में ममता है तो वह मृत्यु के मुख में ही विद्यमान है।

तस्मात्त्वमपि तं कामं यज्ञैर्विविधदक्षिणैः ।
धर्मे कुरु महाराज तत्र ते स भविष्यति ॥४४॥

अतः महाराज ! आप भी नाना प्रकार की दक्षिणावाले यज्ञों द्वारा अपनी उस कामना को धर्म में लगा दीजिए। वहाँ आपकी वह कामना सफल होगी।

यजस्व वाजिमेधेन विधिवद् दक्षिणावता ।
अन्यैश्च विविधैर्यज्ञैः समृद्धैराप्तदक्षिणैः ॥४५॥

विधिपूर्वक दक्षिणा देकर आप अश्वमेध का तथा पर्याप्त दक्षिणावाले अन्यान्य समृद्धिशाली यज्ञों का अनुष्ठान कीजिए।

वैशम्पायन उवाच

तेषां तु वचनं श्रुत्वा हतबन्धुर्युधिष्ठिरः ।
व्यजहाच्छोकजं दुःखं सन्तापं चैव मानसम् ॥४६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—उन [धृतराष्ट्र, व्यास और श्रीकृष्ण] के वचनों को सुनकर जिनके भाई-बन्धु मारे गये थे, उन राजर्षि युधिष्ठिर ने शोकजनित दुःख और मानसिक सन्ताप को त्याग दिया।

ततो दत्त्वा बहुधनं विप्रेभ्यः पाण्डवर्षभः ।
धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य विवेश गजसाह्वयम् ॥४७॥

तत्पश्चात् ब्राह्मणों को बहुत-सा धन देकर पाण्डवशिरोमणि युधिष्ठिर ने धृतराष्ट्र को आगे करके हस्तिनापुर में प्रवेश किया।

स समाश्वास्य पितरं प्रज्ञाचक्षुषमीश्वरम् ।
अन्वशासत् तु धर्मात्मा पृथिवीं भ्रातृभिः सह ॥४८॥

धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर प्रज्ञाचक्षु अपने ताऊ महाराज धृतराष्ट्र को सान्त्वना देकर भाइयों के साथ पृथिवी का शासन करने लगे।

नाधर्म्यमभवत् तत्र सर्वो धर्मरुचिर्जनः ।
बभूव नरशार्दूल यथा कृतयुगे तथा ॥४९॥

उनके राज्य में कहीं कोई अधर्मयुक्त कार्य नहीं होता था। सब लोग धर्म में रुचि रखते थे। पुरुषसिंह ! जैसे सत्ययुग में समस्त प्रजा धर्मपरायण रहती थी, उसी प्रकार उस समय द्वापर में भी हो गई थी।

ववर्ष भगवान् देवः काले देशे यथेप्सितम् ।
निरामयं जगदभूत् क्षुत्पिपासे न किञ्चन ।।५०।।

पर्जन्यदेव उनके राज्य के प्रत्येक प्रदेश में यथेष्ट वर्षा करते थे। सारा जगत् रोग-शोक से रहित हो गया था, किसी को भी भूख-प्यास का थोड़ा-सा भी कष्ट नहीं रह गया था।

नार्यः पतिव्रताः सर्वा रूपवत्यः स्वलंकृताः ।
यथोक्तवृत्ताः स्वगुणैर्बभूवुः प्रीतिहेतवः ।।५१।।

उसके राज्य की सभी स्त्रियाँ पतिव्रता, रूपवती, आभूषणों से विभूषित और शास्त्रोक्त सदाचार से सम्पन्न होती थीं। वे अपने उत्तम गुणों के द्वारा पति की प्रसन्नता को बढ़ाने में कारण होती थीं।

पुमांसः पुण्यशीलाढ्याः स्वं स्वं धर्ममनुव्रताः ।
सुखिनः सूक्ष्ममप्येनो कुर्वन्ति न कदाचन ।।५२।।

पुरुष पुण्यशील, अपने-अपने धर्म में अनुरक्त और सुखी थे। वे कभी छोटे-से छोटा पाप भी नहीं करते थे।

सर्वे नराश्च नार्यश्च सततं प्रियवादिनः ।
अजिह्ममनसः शुक्लाः बभूवुः श्रमवर्जिताः ।।५३।।

सभी स्त्री-पुरुष सदा मधुर बोलते थे, मन में कुटिलता नहीं आने देते थे, शुद्ध रहते थे और कभी थकावट का अनुभव नहीं करते थे।

इति महाभारते आश्वमेधिकपर्वणि प्रथमोऽध्यायः ।।१।।

द्वितीयोऽध्यायः

श्रीकृष्ण का अर्जुन से द्वारका जाने का प्रस्ताव करना, अर्जुन का श्रीकृष्ण से गीता का विषय पूछना और श्रीकृष्ण का अपनी असमर्थता प्रकट करना

जनमेजय उवाच

विजिते पाण्डवेयैस्तु प्रशान्ते च द्विजोत्तम ।
राष्ट्रे किं चक्रतुर्वीरौ वासुदेवधनञ्जयौ ।।१।।

जनमेजय ने पूछा—विप्रवर ! जब पाण्डवों ने अपने राष्ट्र पर विजय पा ली और राज्य में सब ओर शान्ति स्थापित हो गई, तब श्रीकृष्ण और अर्जुन इन दोनों वीरों ने क्या किया ?

वैशम्पायन उवाच

विजिते पाण्डवै राजन् प्रशान्ते च विशाम्पते ।
राष्ट्रे बभूवतुर्हृष्टौ वासुदेवधनञ्जयौ ।।२।।

वैशम्पायनजी बोले—भूपाल ! नरेश्वर ! जब पाण्डवों ने राष्ट्र पर विजय पा ली और सर्वत्र शान्ति स्थापित हो गयी, तब श्रीकृष्ण और अर्जुन को अत्यन्त प्रसन्नता हुई।

विजह्राते मुदा युक्तौ दिवि देवेश्वराविव ।
तौ वनेषु विचित्रेषु पर्वतेषु ससानुषु ।।३।।

स्वर्गलोक में विहार करनेवाले दो देवेश्वरों की भाँति वे दोनों मित्र आनन्दमग्न हो विचित्र-विचित्र वनों में और पर्वतों के सुरम्य शिखरों पर विचरते थे।

इन्द्रप्रस्थे महात्मानौ रेमतुः कृष्णपाण्डवौ ।
प्रविश्य तां सभां रम्यां विजह्राते च भारत ।।४।।

भरतभूषण ! इन्द्रप्रस्थ में रहते हुए महात्मा श्रीकृष्ण और अर्जुन मय-निर्मित रमणीय सभा में प्रविष्ट होकर आनन्दपूर्वक मनोविनोद करते थे।

मधुरास्तु कथाश्चित्राश्चित्रार्थपदनिश्चयाः ।
निश्चयज्ञः स पार्थाय कथयामास केशवः ।।५।।

श्रीकृष्ण सब प्रकार के सिद्धान्तों को जाननेवाले थे। उन्होंने अर्जुन को विचित्र पद, अर्थ एवं सिद्धान्तों से युक्त बड़ी विलक्षण और मधुर कथाएँ सुनायीं।

पुत्रशोकाभिसन्तप्तं ज्ञातीनां च सहस्रशः ।
कथाभिः शमयामास पार्थं शौरिर्जनार्दनः ।।६।।

कुन्तीकुमार अर्जुन पुत्रशोक से पीड़ित थे। सहस्रों भाई-बन्धुओं के मारे जाने का भी उनके मन

में बड़ा दुःख था। वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण ने अनेक प्रकार की कथाएँ सुनाकर उस समय पार्थ को शान्त किया।

स तमाश्वास्य विधिवद् विज्ञानज्ञो महातपाः।
अपहृत्यात्मनो भारं विशश्रामेव सात्वतः॥७॥

महातपस्वी मनोविज्ञानवेत्ता श्रीकृष्ण ने विधिपूर्वक अर्जुन को सान्त्वना देकर अपना भार उतार दिया और वे सुखपूर्वक विश्राम-सा करने लगे।

ततः कथान्ते गोविन्दो गुडाकेशमुवाच ह।
सान्त्वयञ्श्लक्ष्णया वाचा हेतुयुक्तमिदं वचः॥८॥

बातचीत के अन्त में श्रीकृष्ण ने निद्राविजयी अर्जुन को अपनी मधुर वाणी द्वारा सान्त्वना प्रदान करते हुए उनसे यह युक्तियुक्त बात कही।

वासुदेव उवाच

विजितेयं धरा कृत्स्ना सव्यसाचिन् परन्तप।
त्वद्बाहुबलमाश्रित्य राज्ञा धर्मसुतेन ह॥९॥

श्रीकृष्ण बोले—शत्रुओं को सन्ताप देनेवाले अर्जुन! धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने तुम्हारे बाहुबल का आश्रय लेकर सम्पूर्ण पृथिवी पर विजय प्राप्त कर ली।

असपत्नां महीं भुङ्क्ते धर्मराजो युधिष्ठिरः।
भीमसेनानुभावेन यमयोश्च नरोत्तम॥१०॥

नरश्रेष्ठ! भीमसेन और नकुल तथा सहदेव के प्रभाव से धर्मराज युधिष्ठिर इस पृथिवी का निष्कण्टक राज्य भोग रहे हैं।

रमे चाहं त्वया सार्धमरण्येष्वपि पाण्डव।
किमु यत्र जनोऽयं वै पृथा चामित्रकर्षण॥११॥

शत्रुसूदन पाण्डुपुत्र! तुम्हारे साथ रहने पर निर्जन वन में भी मुझे सुख और आनन्द मिल सकता है। फिर जहाँ इतने लोग और मेरी बुआ कुन्ती हों, वहाँ की तो बात ही क्या है!

यत्र धर्मसुतो राजा यत्र भीमो महाबलः।
यत्र माद्रवतीपुत्रौ रतिस्तत्र परा मम॥१२॥

जहाँ धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर हों, महाबली भीमसेन तथा माद्रीपुत्र नकुल-सहदेव हों, वहाँ मुझे परम आनन्द प्राप्त होता है।

रमणीयेषु पुण्येषु सहितस्य त्वयानघ।
कालो महाँस्त्वतीतो मे शूरसूनुमपश्यतः॥१३॥
सोऽहं गन्तुमभीप्सामि पुरीं द्वारवतीं प्रति।
रोचतां गमनं तुभ्यं ममापि पुरुषर्षभ॥१४॥

निष्पाप कुरुनन्दन! रमणीय और पुण्य स्थानों में तुम्हारे साथ विचरते हुए पर्याप्त समय व्यतीत हो गया। इतने दिनों तक मैं अपने पिता शूरसेनकुमार वसुदेवजी का दर्शन न कर सका, अतः अब मैं द्वारकापुरी को जाना चाहता हूँ। पुरुषश्रेष्ठ! तुम्हें भी मेरे इस यात्रा-सम्बन्धी प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लेना चाहिए।

अर्जुन उवाच

यत् तद् भगवता प्रोक्तं पुरा केशव सौहृदात्।
तत् सर्वं पुरुषव्याघ्र नष्टं मे भ्रष्टचेतसः॥१५॥

अर्जुन ने कहा—केशव! आपने सौहार्दवश पहले मुझे जो ज्ञान का उपदेश [गीता-ज्ञान] दिया था, मेरा वह सब ज्ञान विचलितचित्त होने के कारण नष्ट हो गया [भूल गया] है।

मम कौतूहलं त्वस्ति तेष्वर्थेषु पुनः पुनः।
भवाँस्तु द्वारकां गन्ता नचिरादिव माधव॥१६॥

माधव! उन विषयों को सुनने के लिए मेरे मन में बारम्बार लालसा उत्पन्न होती है। इधर आप शीघ्र ही द्वारका जानेवाले हैं, अतः पुनः वह सब विषय मुझे सुना दीजिए।

वासुदेव उवाच

श्रावितस्त्वं मया गुह्यं ज्ञापितश्च सनातनम्।
अबुद्ध्या नाग्रहीर्यस्त्वं तन्मे सुमहदप्रियम्॥१७॥

श्रीकृष्ण बोले—अर्जुन! उस समय मैंने तुम्हें अत्यन्त गोपनीय ज्ञान का श्रवण कराया था, परन्तु तुमने अपनी नासमझी के कारण उस उपदेश को स्मरण नहीं रखा, यह मुझे बहुत अप्रिय है।

नूनमश्रद्दधानोऽसि दुर्मेधा ह्यसि पाण्डव।
न च शक्यं पुनर्वक्तुमशेषेण धनञ्जय॥१८॥

पाण्डुकुमार! निश्चय ही तुम बड़े श्रद्धाहीन हो। तुम्हारी बुद्धि बहुत मन्द जान पड़ती है। धनञ्जय! अब मैं उस उपदेश को ज्यों-का-त्यों पुनः नहीं कह सकता।

परं हि ब्रह्म कथितं योगयुक्तेन तन्मया ।
न शक्यं तन्मया भूयस्तथा वक्तुमशेषतः ॥१९॥

उस समय योगयुक्त होकर मैंने परमात्मतत्त्व का वर्णन किया था। वह सारा-का-सारा उपदेश उसी रूप में फिर दोहरा देना अब मेरे वश की भी बात नहीं है।

तं मया सह गत्वाद्य राजानं कुरुवर्धनम् ।
आपृच्छ कुरुशार्दूल गमनं द्वारकां प्रति ॥२०॥

कुरुश्रेष्ठ ! अब तो तुम मेरे साथ चलकर राजा को बधाई दो और मेरे द्वारका जाने के विषय में उनसे पूछकर आज्ञा दिला दो।

वैशम्पायन उवाच

ततस्तौ रथमास्थाय प्रयातौ कृष्णपाण्डवौ ।
विकुर्वाणौ कथाश्चित्राः प्रीयमाणौ विशाम्पते ॥२१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—प्रजेश्वर ! तब श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों रथ में बैठकर आपस में भाँति-भाँति की विचित्र बातें करते हुए प्रसन्नतापूर्वक वहाँ से चल दिये।

समासाद्य तु राजानं वार्ष्णेयकुरुपुङ्गवौ ।
निषेदतुरनुज्ञातौ प्रीयमाणेन तेन तौ ॥२२॥

श्रीकृष्ण और अर्जुन जब राजा युधिष्ठिर के पास पहुँचे, तब उन्हें देख उनको बड़ी प्रसन्नता हुई। फिर उनके आज्ञा देने पर वे दोनों मित्र आसन पर बैठे।

ततः स राजा मेधावी विवक्षू प्रेक्ष्य तावुभौ ।
प्रोवाच वदतां श्रेष्ठो वचनं राजसत्तमः ॥२३॥

तत्पश्चात् वक्ताओं में श्रेष्ठ नृपश्रेष्ठ मेधावी युधिष्ठिर ने उन्हें कुछ कहने के लिए इच्छुक देख उनसे इस प्रकार कहा—

युधिष्ठिर उवाच

विवक्षू हि युवां मन्ये वीरौ यदुकुरूद्वहौ ।
ब्रूतं कर्तास्मि सर्वं वां न चिरान्मा विचार्यताम् ॥२४॥

युधिष्ठिर बोले—यदुकुल और कुरुकुल को अलंकृत करनेवाले वीरो ! प्रतीत होता है, तुम लोग मुझसे कुछ कहना चाहते हो। तुम जो भी कहना चाहो, कहो; मैं तुम्हारी सभी इच्छाओं को शीघ्र पूर्ण करूँगा। तुम मन में कुछ भी अन्यथा विचार मत करो।

अर्जुन उवाच

अयं चिरोषितो राजन् वासुदेवः प्रतापवान् ।
भवन्तं समनुज्ञाप्य पितरं द्रष्टुमिच्छति ॥२५॥

अर्जुन ने कहा—राजन् ! परम प्रतापी वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण को यहाँ रहते हुए पर्याप्त समय हो गया। अब ये आपकी आज्ञा लेकर अपने पिता का दर्शन करना चाहते हैं।

युधिष्ठिर उवाच

पुण्डरीकाक्ष भद्रं ते गच्छ त्वं मधुसूदन ।
पुरीं द्वारवतीमद्य द्रष्टुं शूरसुतं प्रभो ॥२६॥

युधिष्ठिर बोले—कमलनेत्र मधुसूदन ! आपका कल्याण हो। प्रभो ! आप शूरनन्दन वसुदेवजी का दर्शन करने के लिए आज ही द्वारका को प्रस्थान कीजिए।

रोचते मे महाबाहो गमनं तव केशव ।
मातुलश्चिरदृष्टो मे त्वया देवी च देवकी ॥२७॥

महाबाहु केशव ! मुझे आपका जाना इसलिए ठीक लगता है कि आपने मेरे मामाजी और मामी देवकी देवी को बहुत दिनों से नहीं देखा है।

समेत्य मातुलं गत्वा बलदेवं च मानद ।
पूजयेथा महाप्राज्ञ मद्वाक्येन यथार्हतः ॥२८॥

मानद महाप्राज्ञ ! आप मामाजी तथा भाई बलदेवजी के पास जाकर उनसे मिलिए और मेरी ओर से उनका यथायोग्य सत्कार कीजिए।

स्मरेथाश्चापि मां नित्यं भीमं च बलिनां वरम् ।
फाल्गुनं सहदेवं च नकुलं चैव मानद ॥२९॥

सेवकों को मान देनेवाले श्रीकृष्ण ! द्वारका में पहुँचकर आप मुझको, बलवानों में श्रेष्ठ भीमसेन को, अर्जन, नकुल और सहदेव को सदा स्मरण रखें।

आनर्तानवलोक्य त्वं पितरं च महाभुज ।
वृष्णींश्च पुनरागच्छेर्हयमेधे ममानघ ॥३०॥

महाबाहु निष्पाप श्रीकृष्ण ! आनर्त देश की प्रजा, अपने माता-पिता और वृष्णिवंशी बन्धु-बान्धवों से मिलकर आप पुनः मेरे अश्वमेध यज्ञ में पधारिएगा।

स गच्छ रत्नान्यादाय विविधानि वसूनि च ।
यच्चाप्यन्यन्मनोज्ञं ते तदप्यादत्स्व सात्वत ॥३१॥

इयं च वसुधा कृत्स्ना प्रसादात् तव केशव ।
अस्मानुपगता वीर निहताश्चापि शत्रवः ॥३२॥

यदुनन्दन केशव ! ये भाँति-भाँति के रत्न और धन प्रस्तुत हैं। इन्हें तथा अन्यान्य वस्तुएँ जो आपको पसन्द हों लेकर यात्रा कीजिए। वीर ! आपकी कृपा से ही इस सम्पूर्ण भूमण्डल का राज्य हमारे हाथ में आया है, और हमारे शत्रु भी मारे गये हैं।

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवति कौरव्ये धर्मराजे युधिष्ठिरे ।
वासुदेवो वरः पुंसामिदं वचनमब्रवीत् ॥३३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—कुरुनन्दन धर्मराज युधिष्ठिर जब इस प्रकार कह रहे थे, उस समय वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण ने उनसे यह बात कही—

तवैव रत्नानि धनं च केवलं
धरा च कृत्स्ना तु महाभुजाद्य वै ।
यदस्ति चान्यद् द्रविणं गृहे मम
त्वमेव तस्येश्वर नित्यमीश्वरः ॥३४॥

"महाबाहो ! ये रत्न, धन और सम्पूर्ण पृथिवी अब केवल आपकी ही है। इतना ही नहीं, मेरे घर में भी जो कुछ धन-वैभव है, उसको भी आप अपना ही समझिए। प्रजेश्वर ! आप ही सदा उसके भी स्वामी हैं।"

तथेत्यथोक्तः प्रतिपूजितस्तदा
गदाग्रजो धर्मसुतेन वीर्यवान् ।
पितृष्वसारं त्ववदद् यथाविधि
सम्पूजितश्चाप्यगमत् प्रदक्षिणम् ॥३५॥

उनके ऐसा कहने पर धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने 'जो आज्ञा' कहकर उनके वचनों का आदर किया। उनसे सम्मानित हो पराक्रमी श्रीकृष्ण ने अपनी बुआ कुन्ती के पास जाकर वातचीत की और उनसे यथोचित सत्कार पाकर उनकी प्रदक्षिणा की।

रथे सुभद्रामधिरोप्य भामिनीं
युधिष्ठिरस्यानुमते जनार्दनः ।
पितृष्वसुश्चापि तथा महाभुजो
विनिर्ययौ पौरजनाभिसंवृतः ॥३६॥

बुआ कुन्ती और राजा युधिष्ठिर की आज्ञा से भामिनी सुभद्रा को भी रथ पर बिठाकर महाबाहु जनार्दन पुरवासियों से घिरे हुए नगर से वाहर निकले।

तमन्वयाद् वानरवर्यकेतनः
ससात्यकिर्माद्रवतीसुतावपि ।
अगाधबुद्धिर्विदुरश्च माधवं
स्वयं च भीमो गजराजविक्रमः ॥३७॥

उस समय श्रीकृष्ण के पीछे कपिध्वज अर्जुन, सात्यकि, नकुल-सहदेव, अगाधबुद्धि विदुर और गजराज के समान पराक्रमी स्वयं भीमसेन भी कुछ दूर तक पहुँचाने के लिए गये।

निवर्तयित्वा कुरुराष्ट्रवर्धनां-
स्ततः स सर्वान् विदुरं च वीर्यवान् ।
जनार्दनो दारुकमाह सत्वरः
प्रणोदयाश्वानिति सात्यकिं तथा ॥३८॥

कुछ दूर जाने पर पराक्रमी कृष्ण ने कौरवराज्य की वृद्धि करनेवाले उन समस्त पाण्डवों तथा विदुरजी को लौटाकर दारुक तथा सात्यकि से कहा—'अब घोड़ों को तेजी से हाँको।'

तथा प्रयान्तं वार्ष्णेयं द्वारकां भरतर्षभाः ।
परिष्वज्य न्यवर्तन्त सानुयात्राः परन्तपाः ॥३९॥

जनमेजय ! इस प्रकार द्वारका जाते हुए श्रीकृष्ण को हृदय से लगाकर भरतवंश के श्रेष्ठ वीर शत्रु-सन्तापी पाण्डव अपने सेवकोंसहित पीछे लौटे।

पुनः पुनश्च वार्ष्णेयं पर्यष्वजत फाल्गुनः ।
आचक्षुर्विषयाच्चैनं स ददर्श पुनः पुनः ॥४०॥

अर्जुन ने वृष्णिवंशी प्यारे सखा श्रीकृष्ण को बारम्बार हृदय से लगाया और जबतक वे आँखों से ओझल नहीं हुए, तबतक वे बारम्बार उन्हीं की ओर देखते रहे।

कृच्छ्रेणैव तु तां पार्थो गोविन्दे विनिवेशिताम् ।
संजहार ततो दृष्टिं कृष्णश्चाप्यपराजितः ॥४१॥

जब रथ दूर चला गया, तब अर्जुन ने बड़े कष्ट से श्रीकृष्ण की ओर लगी हुई अपनी दृष्टि को पीछे लौटाया। किसी से परास्त न होनेवाले श्रीकृष्ण की भी ऐसी ही अवस्था थी।

सरांसि सरितश्चैव वनानि च गिरींस्तथा ।
अतिक्रम्याससादाथ रम्यां द्वारवतीं पुरीम् ॥४२॥

मार्ग में अनेकानेक सरोवरों, सरिताओं, वनों और पर्वतों को लाँघकर श्रीकृष्ण परम रमणीय द्वारका नगरी में जा पहुँचे।

उपयान्तं तु वार्ष्णेयं भोजवृष्ण्यन्धकास्तथा।
अभ्यगच्छन् महात्मानं देवा इव शतक्रतुम् ॥४३॥

भोज, वृष्णि और अन्धकवंश के यादवों ने अपने निकट आते हुए महात्मा श्रीकृष्ण का आगे बढ़कर उसी प्रकार स्वागत किया जैसे देवता देवराज इन्द्र की अगवानी करते हैं।

स तानभ्यर्च्य मेधावी पृष्ट्वा च कुशलं तदा।
अभ्यवादयत प्रीतः पितरं मातरं तथा ॥४४॥

मेधावी श्रीकृष्ण ने उन सबका आदर करके उनका कुशल-समाचार पूछा और प्रसन्नतापूर्वक अपने माता-पिता के चरणों में प्रणाम किया।

ताभ्यां स सम्परिष्वक्तः सान्त्वितश्च महाभुजः।
उपोपविष्टैः सर्वैस्तैर्वृष्णिभिः परिवारितः ॥४५॥

उन दोनों ने उन महाबाहु श्रीकृष्ण को अपनी छाती से लगा लिया और मीठे वचनों द्वारा उन्हें सान्त्वना दी। फिर सभी वृष्णिवंशी उन्हें घेरकर आसपास बैठ गये।

स विश्रान्तो महातेजाः कृतपादावसेचनः।
कथयामास तत्सर्वं पृष्टः पित्रा महाहवम् ॥४६॥

महातेजस्वी श्रीकृष्ण जब हाथ-पैर धोकर विश्राम कर चुके, तब पिता के पूछने पर उन्होंने उस महायुद्ध का सम्पूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया।

इति महाभारते आश्वमेधिकपर्वणि द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

तृतीयोऽध्यायः

युधिष्ठिर का हिमालय से धन लाना और श्रीकृष्ण का हस्तिनापुर में आगमन

जनमेजय उवाच

श्रुत्वा तु वचनं ब्रह्मन् व्यासेनोक्तं महात्मना।
अश्वमेधं प्रति तदा किं भूयः प्रचकार ह ॥१॥
रत्नं च यन्मरुत्तेन निहितं वसुधातले।
तदवाप कथं चेति तन्मे ब्रूहि द्विजोत्तम ॥२॥

जनमेजय ने पूछा—ब्रह्मन्! महात्मा व्यास का कहा हुआ वह वचन सुनकर राजा युधिष्ठिर ने अश्वमेध के सम्बन्ध में फिर क्या किया? राजा मरुत्त ने जो रत्न पृथिवीतल पर रख छोड़ा था, उसे उन्होंने किस प्रकार प्राप्त किया? द्विजश्रेष्ठ! यह सब मुझे बताइए।

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा द्वैपायनवचो धर्मराजो युधिष्ठिरः।
भ्रातॄन् सर्वान् समानाय्य काले वचनमब्रवीत् ॥३॥

वैशम्पायनजी बोले—राजन्! व्यासजी की बात सुनकर [स्मरण करके] धर्मराज युधिष्ठिर ने अपने सभी भाइयों को बुलाकर यह समयोचित वचन कहा—

इयं हि वसुधा सर्वा क्षीणरत्ना कुरूद्वहाः।
तच्चाचष्ट तदा व्यासो मरुत्तस्य धनं नृपाः ॥४॥

"कौरवो! इस समय इस समस्त भूमण्डल पर रत्नों एवं धन का नाश हो गया है, अतः हमारी आर्थिक कठिनाई दूर करने के लिए व्यासजी ने उस दिन हमें मरुत्त के धन का पता बताया था।

यद्येतद् वो बहुमतं मन्यध्वं वा क्षमं यदि।
तथा यथाऽऽह धर्मेण कथं वा भीम मन्यसे ॥५॥

"यदि तुम लोग उस धन को पर्याप्त समझो और उसे ले-आने की अपने में सामर्थ्य देखो तो व्यासजी ने जैसा कहा है उसी के अनुसार धर्मतः उसे प्राप्त करने का यत्न करो। अथवा भीमसेन! तुम्हारा इस सम्बन्ध में क्या विचार है?

भीमसेन उवाच

रोचते मे महाबाहो यदिदं भाषितं त्वया।
व्यासाख्यातस्य वित्तस्य समुपानयनं प्रति ॥६॥

भीमसेन बोले—महाबाहो! आपने जो कुछ कहा है, व्यासजी के बताये हुए धन को लाने के विषय में जो विचार व्यक्त किया है, वह मुझे बहुत पसन्द है।

यदि तत्प्राप्नुयामहे धनमाविक्षितं प्रभो ।
कृतमेव महाराज भवेदिति मतिर्मम ॥७॥

प्रभो ! महाराज ! यदि हमें मरुत्त का धन प्राप्त हो जाए तब तो हमारा सारा काम बन ही जाएगा । यही मेरा मत है ।

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वैवं वदतस्तस्य वाक्यं भीमस्य भारत ।
प्रीतो धर्मात्मजो राजा बभूवातीव हि प्रभो ॥८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—प्रभो ! भारत ! भीमसेन का यह कथन सुनकर धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर बहुत ही प्रसन्न हुए ।

कृत्वा तु पाण्डवाः सर्वे रत्नाहरणनिश्चयम् ।
सेनामाज्ञापयामासुर्नक्षत्रेऽहनि च ध्रुवे ॥९॥

सभी पाण्डवों ने रत्न लाने का निश्चय करके ध्रुवसंज्ञक नक्षत्र एवं दिन [उत्तरा नक्षत्र और रविवार के दिन] में सेना तैयार होने के लिए आज्ञा प्रदान की ।

ततः प्रदक्षिणीकृत्य शिरोभिः प्रणिपत्य च ।
ब्राह्मणानग्निसहितान् प्रययुः पाण्डुनन्दनाः ॥१०॥

निश्चित दिन आने पर पाण्डवों ने अग्निसहित ब्राह्मणों की परिक्रमा करके उनके चरणों में मस्तक झुकाकर वहाँ से प्रस्थान किया ।

सरांसि सरितश्चैव वनान्युपवनानि च ।
अत्यक्रामन्महाराजो गिरिं चाप्यन्वपद्यत ॥११॥

राजन् ! अनेकानेक सरोवरों, सरिताओं, वनों, उपवनों और पर्वतों को लांघकर महाराज युधिष्ठिर उस पर्वत पर जा पहुँचे [जहाँ राजा मरुत्त का धन संचित था] ।

चक्रे निवेशनं राजा पाण्डवः सह सैनिकैः ।
शिवे देशे समे चैव तदा भरतसत्तम ॥१२॥

कुरुवंशी भरतश्रेष्ठ ! वहाँ एक समतल एवं सुखद स्थान में पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर ने सैनिकों के साथ पड़ाव डाला ।

अर्चयित्वा द्विजाग्र्यान् स स्वस्ति वाच्य च वीर्यवान् ।
प्रीतिमान् स कुरुश्रेष्ठः खानयामास तद्धनम् ॥१३

एक दिन ब्राह्मणों का सत्कार कर और उनसे स्वस्तिवाचन कराकर शक्तिशाली कुरुश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर बड़ी प्रसन्नता के साथ उस धन को खुदवाने लगे ।

ततः पात्रीः सकरका बहुरूपा मनोरमाः ।
भृङ्गाराणि कटाहानि कलशान् वर्धमानकान् ॥१४॥
बहूनि च विचित्राणि भाजनानि सहस्रशः ।
उद्धारयामास तदा धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥१५॥

कुछ ही देर में अनेक प्रकार के विचित्र, मनोरम और बहुसंख्यक [सहस्रों] सुवर्णमय पात्र निकल आये । कठौते, सुराही, गडुआ, कड़ाह, कलश तथा कटोरे—सभी प्रकार के बर्तन उपलब्ध हुए । धर्मराज युधिष्ठिर ने उस समय उन सब बर्तनों को भूमि खोदकर निकलवाया ।

ययौ द्रव्यं तदादाय पुरं प्रति युधिष्ठिरः ।
द्वैपायनाभ्यनुज्ञातः पुरस्कृत्य पुरोहितम् ॥१६॥

व्यासजी की आज्ञा लेकर उस धन को लदवाकर पुरोहित धौम्यमुनि को आगे करके युधिष्ठिर ने हस्तिनापुर को प्रस्थान किया ।

एतस्मिन्नेव काले तु वासुदेवोऽपि वीर्यवान् ।
उपायाद् वृष्णिभिः सार्धं पुरं वारणसाह्वयम् ॥१७॥

जनमेजय ! इसी बीच में महापराक्रमी श्रीकृष्ण भी वृष्णिवंशियों को साथ लेकर हस्तिनापुर में आ गये ।

समयं वाजिमेधस्य विदित्वा पुरुषर्षभः ।
यथोक्तो धर्मपुत्रेण प्रव्रजन् स्वपुरीं प्रति ॥१८॥

उनके द्वारका जाते समय धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने जैसी बात कही थी, उसके अनुसार अश्वमेध यज्ञ का समय निकट जानकर पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण पहले ही उपस्थित हो गये ।

तानागतान् समीक्ष्यैव धृतराष्ट्रो महीपतिः ।
प्रत्यगृह्णद् यथान्यायं विदुरश्च महामनाः ॥१९॥

उनके आगमन का समाचार सुनते ही राजा धृतराष्ट्र और महामना विदुरजी खड़े हो गये और आगे बढ़कर उन्होंने सबका स्वागत किया ।

तत्रैव न्यवसत् कृष्णः स्वर्चितः पुरुषोत्तमः ।
विदुरेण महातेजास्तथैव च युयुत्सुना ॥२०॥

विदुर और युयुत्सु द्वारा भली-भाँति सत्कृत हो महातेजस्वी पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण वहीं रहने लगे ।

इति महाभारते आश्वमेधिकपर्वणि तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

चतुर्थोऽध्यायः

उत्तरा के मृतप्रायः बालक को जिलाने के लिए कुन्ती, सुभद्रा तथा उत्तरा की श्रीकृष्ण से प्रार्थना और कृष्ण का उसे जीवनदान देना

वैशम्पायन उवाच

वसत्सु वृष्णिवीरेषु तत्राथ जनमेजय ।
जज्ञे तव पिता राजन् परिक्षित् परवीरहा ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजन् ! उन वृष्णिवीरों के वहाँ निवास करते समय ही तुम्हारे पिता शत्रुवीरहन्ता परिक्षित् का जन्म हुआ था ।

स तु राजा महाराज ब्रह्मास्त्रेणावपीडितः ।
शवो बभूव निश्चेष्टो हर्षशोकविवर्धनः ॥२॥

हे महाराज ! वे राजा परिक्षित् ब्रह्मास्त्र से पीड़ित होने के कारण चेष्टाहीन मुर्दे के रूप में उत्पन्न हुए, अतः स्वजनों का हर्ष एवं शोक बढ़ानेवाले हो गये थे ।

हृष्टानां सिंहनादेन जनानां तत्र निःस्वनः ।
प्रविश्य प्रदिशः सर्वाः पुनरेव व्युपारमत् ॥३॥

पहले पुत्र-जन्म का समाचार सुनकर हर्ष में भरे हुए लोगों के सिंहनाद रूप में एक महान् कोलाहल सुनाई पड़ा, जो सम्पूर्ण दिशाओं में प्रविष्ट हो, पुनः शान्त हो गया ।

ततः सोऽतित्वरः कृष्णो विवेशान्तःपुरं तदा ।
युयुधानद्वितीयो वै व्यथितेन्द्रियमानसः ॥४॥

इससे श्रीकृष्ण के मन और इन्द्रियों में व्यथा-सी उत्पन्न हो गई, अतः वे सात्यकि को साथ ले बड़ी उतावली से अन्तःपुर में जा पहुँचे ।

ततस्त्वरितमायान्तीं ददर्श स्वां पितृष्वसाम् ।
क्रोशन्तीमभिधावेति वासुदेवं पुनः पुनः ॥५॥

वहाँ उन्होंने अपनी बुआ कुन्ती को बड़े वेग से आते हुए देखा, जो बारम्बार उन्हीं का नाम लेकर "वासुदेव ! दौड़ो, दौड़ो" की पुकार मचा रही थीं ।

पृष्ठतो द्रौपदी चैव सुभद्रां च यशस्विनीम् ।
सविक्रोशं सकरुणं बान्धवानां स्त्रियो नृप ॥६॥

राजन् ! उनके पीछे द्रौपदी, यशस्विनी सुभद्रा तथा अन्य बन्धु-बान्धवों की स्त्रियाँ भी थीं, जो बड़े करुणस्वर से विलख-बिलखकर रो रही थीं ।

ततः कृष्णं समासाद्य कुन्तिभोजसुता तदा ।
प्रोवाच राजशार्दूल बाष्पगद्गदया गिरा ॥७॥

नृपश्रेष्ठ ! उस समय श्रीकृष्ण के समीप पहुँचकर कुन्तिभोजकुमारी कुन्ती आँखों से आँसू बहाती हुई गद्गद वाणी में बोली—

वासुदेव महाबाहो सुप्रजा देवकी त्वया ।
त्वं नो गतिः प्रतिष्ठा च त्वदायत्तमिदं कुलम् ॥८॥

"महाबाहु वसुदेवकुमार ! तुम्हें पाकर ही तुम्हारी माता देवकी उत्तम पुत्रवाली मानी जाती हैं । तुम्हीं हमारे अवलम्ब और तुम्हीं हम लोगों के आधार हो । इस कुल की रक्षा तुम्हारे ही अधीन है ।

यदुप्रवीर योऽयं ते स्वस्रीयस्यात्मजः प्रभो ।
अश्वत्थाम्ना हतो जातस्तमुज्जीवय केशव ॥९॥

"यदुवीर ! प्रभो ! यह जो तुम्हारे भानजे अभिमन्यु का बालक है, अश्वत्थामा के अस्त्र से मृतक ही उत्पन्न हुआ है । केशव ! इसे जीवन-दान दो ।

त्वया ह्येतत् प्रतिज्ञातमैषीके यदुनन्दन ।
अहं संजीवयिष्यामि मृतं जातमिति प्रभो ॥१०॥

"यदुनन्दन ! प्रभो ! अश्वत्थामा ने जब सींक के बाण का प्रयोग किया था, उस समय तुमने यह प्रतिज्ञा की थी कि मैं उत्तरा के मरे हुए बालक को भी जीवित कर दूँगा ।

सोऽयं जातो मृतस्तात पश्यैनं पुरुषर्षभ ।
उत्तरां च सुभद्रां च द्रौपदीं मां च माधव ॥११॥

"तात ! यह बालक मरा हुआ ही पैदा हुआ है । पुरुषोत्तम ! इसपर अपनी कृपादृष्टि डालो । माधव ! इसे जीवन प्रदान करके उत्तरा, सुभद्रा और द्रौपदी-सहित मेरी रक्षा करो ।

धर्मपुत्रं च भीमं च फाल्गुनं नकुलं तथा ।
सहदेवं च दुर्धर्ष सर्वान् नस्त्रातुमर्हसि ॥१२॥

"दुर्धर्ष वीर ! धर्मपुत्र युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव की भी रक्षा करो । तुम हम सबका इस संकट से उद्धार करने में समर्थ हो ।"

एवमुक्त्वा तु वार्ष्णेयं पृथा पृथुललोचना ।
उच्छ्रित्य बाहू दुःखार्ता ताश्चान्याः प्रापतन् भुवि ॥१३

श्रीकृष्ण से ऐसा कहकर विशाल नेत्रोंवाली कुन्ती दोनों बाहें ऊपर उठाकर दुःख से आर्त हो पृथिवी पर गिर पड़ी। अन्य स्त्रियों की भी यही अवस्था हुई।

अब्रुवंश्च महाराज सर्वाः सास्राविलेक्षणाः ।
स्वस्रीयो वासुदेवस्य मृतो जात इति प्रभो ॥१४॥

समर्थ महाराज ! उन सबके नेत्रों से अश्रुधारा बह रही थी और वे सभी रो-रोकर कह रही थीं कि "हाय ! श्रीकृष्ण के भानजे का बालक मरा हुआ उत्पन्न हुआ है।"

एवमुक्ते ततः कुन्तीं पर्यगृह्णाज्जनार्दनः ।
भूमौ निपतितां चैनां सान्त्वयामास भारत ॥१५॥

भरतनन्दन ! उन सबके ऐसा कहने पर जनार्दन श्रीकृष्ण ने कुन्ती देवी को सहारा देकर बैठाया और पृथिवी पर पड़ी हुई अपनी बुआ को वे धैर्य बँधाने लगे।

उत्थितायां पृथायां तु सुभद्रा भ्रातरं तदा ।
दृष्ट्वा चुक्रोश दुःखार्ता वचनं चेदमब्रवीत् ॥१६॥

जनमेजय ! कुन्ती देवी को उठाकर बैठा देने के पश्चात् सुभद्रा अपने भाई श्रीकृष्ण की ओर देखकर फूट-फूटकर रोने लगी और दुःख से आर्त होकर यों बोली—

पुण्डरीकाक्ष पश्य त्वं पौत्रं पार्थस्य धीमतः ।
परिक्षीणेषु कुरुषु परिक्षीणं गतायुषम् ॥१७॥

"कमलनयन भैया ! तुम अपने मित्र बुद्धिमान् पार्थ के इस पौत्र की अवस्था तो देखो। कौरवों के नष्ट हो जाने पर इसका जन्म हुआ, परन्तु यह भी क्षीणायु होकर नष्ट हो गया।

यदा द्रोणसुतो गर्भान् पाण्डूनां हन्ति माधव।
तदा किल त्वया द्रौणिः क्रुद्धेनोक्तोऽरिमर्दन ॥१८॥

"शत्रुमर्दन माधव ! जब द्रोणपुत्र अश्वत्थामा पाण्डवों के गर्भों की भी हत्या करने का प्रयत्न कर रहा था, उस समय तुमने क्रुद्ध होकर उससे कहा था--

अकामं त्वां करिष्यामि ब्रह्मबन्धो नराधम ।
अहं संजीवयिष्यामि किरीटितनयात्मजम् ॥१९॥

'ब्रह्मबन्धो ! नराधम ! मैं तेरी इच्छा पूर्ण नहीं होने दूंगा। अर्जुन के पौत्र को मैं अपने प्रभाव से जीवित कर दूंगा।'

यद्येतत् त्वं प्रतिश्रुत्य न करोषि वचः शुभम् ।
सफलं वृष्णिशार्दूल मृतां मामवधारय ॥२०॥

"वृष्णिवंश के सिंह ! यदि तुम ऐसी प्रतिज्ञा करके अपने कल्याणमय वचन का पालन नहीं करोगे तो यह समझ लो सुभद्रा जीवित नहीं रहेगी—मैं अपने प्राण दे दूंगी।

अभिमन्योः सुतो वीर न संजीवति यद्ययम् ।
जीवति त्वयि दुर्धर्ष किं करिष्याम्यहं त्वया ॥२१॥

"दुर्धर्ष वीर ! यदि तुम्हारे जीते-जी अभिमन्यु के इस बालक को जीवनदान न मिला तो तुम मेरे किस काम आओगे ?

संजीवयैनं दुर्धर्ष मृतं त्वमभिमन्युजम् ।
सदृशाक्षसुतं वीर सस्यं वर्षन्निवाम्बुदः ॥२२॥

"अजेय वीर ! जैसे मेघ जल बरसाकर सूखी खेती को हरी-भरी कर देता है, उसी प्रकार तुम अपने ही समान नेत्रोंवाले अभिमन्यु के इस मरे हुए पुत्र को जीवित कर दो।

त्वं हि केशव धर्मात्मा सत्यवान् सत्यविक्रमः ।
स तां वाचमृतां कर्तुमर्हसि त्वमरिन्दम ॥२३॥

"शत्रुदमन केशव ! तुम धर्मात्मा, सत्यवादी और सत्यपराक्रमी हो, अतः तुम्हें अपनी कही हुई बात को सत्य कर दिखाना चाहिए।

प्रभावज्ञास्मि ते कृष्ण तस्मात् त्वां याचयाम्यहम् ।
कुरुष्व पाण्डुपुत्राणामिमं परमनुग्रहम् ॥२४

"श्रीकृष्ण ! मैं तुम्हारे प्रभाव को जानती हूं, अतः तुमसे याचना करती हूँ। इस बालक को जीवनदान देकर तुम पाण्डवों पर महान् अनुग्रह करो।

स्वसेति वा महाबाहो हतपुत्रेति वा पुनः ।
प्रपन्ना मामियं चेति दयां कर्तुमिहार्हसि ॥२५॥

"महाबाहो ! तुम यह समझकर कि यह मेरी बहिन है, अथवा जिसका पुत्र मर गया है, वह दुखिया है, अथवा शरण में आई हुई एक दयनीय अबला है, मुझपर दया करने योग्य हो।"

एवमुक्तस्तु राजेन्द्र केशिहा दुःखमूर्च्छितः ।
तथेति व्याजहारोच्चैर्ह्लादयन्निव तं जनम् ॥२६॥

हे राजेन्द्र ! सुभद्रा के ऐसा कहने पर केशिहन्ता केशव दुःख से व्याकुल हो उसे प्रसन्न करते हुए-से उच्चस्वर में बोले—"बहिन ! ऐसा ही होगा ।"

ततः स प्राविशत् तूर्णं जन्मवेश्म पितुस्तव ।
अर्चितं पुरुषव्याघ्र सितैर्माल्यैर्यथाविधि ॥२७॥

"पुरुषसिंह ! सुभद्रा से ऐसा कहकर श्रीकृष्ण तुरन्त ही तुम्हारे पिता के जन्मस्थान प्रसूतिकागृह में गये, जो श्वेत पुष्पमालाओं से यथाविधि सजाया गया था ।

अपां कुम्भैः सुपूर्णैश्च विन्यस्तैः सर्वतोदिशम् ।
घृतेन तिन्दुकालातैः सर्षपैश्च महाभुज ॥२८॥

महाबाहो ! उसके चारों ओर जल से भरे हुए कलश रखे गये थे । घी से तर किये हुए तेन्दुक नामक काष्ठ के कई टुकड़े जल रहे थे और यत्र-यत्र सरसों बिखेरी गई थी ।

ददर्श च स तेजस्वी रक्षोघ्नान्यपि सर्वशः ।
द्रव्याणि स्थापितानि स्म विधिवत् कुशलैर्जनैः ॥२९॥

तेजस्वी श्रीकृष्ण ने देखा कि व्यवस्था-कुशल मनुष्यों द्वारा वहाँ सब ओर राक्षसों=रोगकृमियों का निवारण करनेवाली नाना प्रकार की वस्तुएँ विधिपूर्वक रखी गई थीं ।

तथायुक्तं च तद् दृष्ट्वा जन्मवेश्म पितुस्तव ।
हृष्टोऽभवद्धृषीकेशः साधु साध्विति चाब्रवीत् ॥३०॥

तुम्हारे पिता के जन्मस्थान को इस प्रकार आवश्यक वस्तुओं से सुसज्जित देखकर श्रीकृष्ण अति प्रसन्न हुए और "बहुत सुन्दर" कहकर उस प्रबन्ध की प्रशंसा करने लगे ।

तथा ब्रुवति वार्ष्णेये वैराटी वाक्यमब्रवीत् ।
पुण्डरीकाक्ष पश्यावां बालेन हि विनाकृतौ ।
अभिमन्युं च मां चैव हतौ तुल्यं जनार्दन ॥३१॥

जब श्रीकृष्ण उस सुप्रबन्ध की प्रशंसा कर रहे थे, उस समय विराटपुत्री उत्तरा बोली—"कमल-नयन ! जनार्दन ! देखिए, आज मैं और मेरे पति दोनों ही सन्तानहीन हो गये । आर्यपुत्र तो युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुए हैं, परन्तु मैं पुत्रशोक से मारी गई । इस प्रकार हम दोनों समान रूप से ही मृत्यु के ग्रास बन गये हैं ।

वार्ष्णेय मधुहन् वीर शिरसा त्वां प्रसादये ।
द्रोणपुत्रास्त्रनिर्दग्धं जीवयैनं ममात्मजम् ॥३२॥

"हे वृष्णिनन्दन ! वीर मधुसूदन ! मैं आपके चरणों में मस्तक रखकर आपका कृपाप्रसाद प्राप्त करना चाहती हूँ । द्रोणपुत्र अश्वत्थामा के अस्त्र से दग्ध हुए मेरे इस पुत्र को जीवित कर दीजिए ।

सा त्वां प्रसाद्य शिरसा याचे शत्रुनिबर्हणम् ।
प्राणांस्त्यक्ष्यामि गोविन्द नायं संजीवते यदि ॥३३॥

"गोविन्द ! मैं शत्रुसंहारक आपके चरणों में मस्तक रखकर आपको प्रसन्न करके आपसे इस बालक के प्राणों की भीख माँगती हूँ । यदि यह जीवित नहीं हुआ तो मैं भी अपने प्राण दे दूंगी ।

आसीन्मम मतिः कृष्ण पुत्रोत्सङ्गा जनार्दन ।
अभिवादयिष्ये हृष्टेति तदिदं वितथीकृतम् ॥३४॥

"श्रीकृष्ण ! जनार्दन ! मेरी बड़ी अभिलाषा थी कि अपने इस बच्चे को गोद में लेकर मैं प्रसन्नतापूर्वक आपके चरणों में अभिवादन करूँगी, किन्तु अब वह व्यर्थ हो गई ।

कृतघ्नोऽयं नृशंसोऽयं यथास्य जनकस्तथा ।
यः पाण्डवीं श्रियं त्यक्त्वा गतोऽद्य यमसादनम् ॥३५॥

"यह बालक भी अपने पिता के ही समान कृतघ्न और नृशंस है, जो पाण्डवों की राज्यलक्ष्मी को त्यागकर आज अकेला ही यमलोक सिधार गया ।"

सैवं विलप्य करुणं सोन्मादेव तपस्विनी ।
उत्तरा न्यपतद् भूमौ कृपणा पुत्रगृद्धिनी ॥३६॥

जनमेजय ! पुत्र का जीवन चाहनेवाली तपस्विनी उत्तरा उन्मादिनी-सी होकर और दीनभाव से करुण विलाप करके भूमि पर गिर पड़ी ।

तां तु दृष्ट्वा निपतितां हतपुत्रपरिच्छदाम् ।
चुक्रोश कुन्ती दुःखार्ता सर्वाश्च भरतस्त्रियः ॥३७॥

जिसका पुत्ररूपी परिवार नष्ट हो गया था, उस उत्तरा को पृथिवी पर पड़ी हुई देख दुःख से व्याकुल कुन्ती एवं भरतवंश की सभी स्त्रियाँ फूट-फूटकर रोने लगीं ।

**प्रतिलभ्य तु सा संज्ञामुत्तरा भरतर्षभ ।
अङ्कमारोप्य तं पुत्रमिदं वचनमब्रवीत् ।।३८।।**

भरतभूषण ! थोड़ी देर पश्चात् जब उत्तरा होश में आई, तब उस मरे हुए पुत्र को गोद में लेकर यूं कहने लगी—

**धर्मज्ञस्य सुतः स त्वमधर्मं नावबुध्यसे ।
यस्त्वं वृष्णिप्रवीरस्य कुरुषे नाभिवादनम् ।।३९।।**

"बेटा ! तू तो धर्मज्ञ पिता का पुत्र है, फिर तेरे द्वारा जो अधर्म कार्य हो रहा है, उसे तू क्यों नहीं समझता ? वृष्णिवंश के श्रेष्ठ वीर श्रीकृष्ण तेरे सामने खड़े हैं, तो भी तू इनका अभिवादन क्यों नहीं करता ।

**उत्तिष्ठ पुत्र पश्येमां दुःखितां प्रपितामहीम् ।
आर्तामुपप्लुतां दीनां निमग्नां शोकसागरे ।।४०।।**

"पुत्र ! तू उठकर खड़ा हो जा । देख ! ये तेरी परदादी [कुन्ती] कितनी दुःखी हैं । ये तेरे लिए आर्त, व्यथित और दीन होकर शोकसागर में डूब गई हैं ।

**आर्यां च पश्य पाञ्चालीं सात्वतीं च तपस्विनीम् ।
मां च पश्य सुदुःखार्तां व्याधविद्धां मृगीमिव ।।४१**

"आर्या पाञ्चाली [द्रौपदी] की ओर निहार, अपनी दादी तपस्विनी सुभद्रा की ओर दृष्टिपात कर और व्याध के बाणों से बिंधी हुई हरिणी की भाँति दुःख से अत्यन्त पीड़ित हुई मुझ अपनी माँ को भी टुक देख ले ।"

**एवं विप्रलपन्तीं तु दृष्ट्वा निपतितां पुनः ।
उत्तरां तां स्त्रियः सर्वाः पुनरुत्थापयंस्ततः ।।४२।।**

इस प्रकार विलाप करती हुई उत्तरा को पुनः भूमि पर गिरी हुई देख सब स्त्रियों ने उसे फ़िर उठाकर बैठाया ।

**उत्थाय च पुनर्धैर्यात् तदा मत्स्यपतेः सुता ।
प्राञ्जलिः पुण्डरीकाक्षं भूमावेवाभ्यवादयत् ।।४३।।**

पुनः उठकर और धैर्य धारण करके मत्स्यराजकुमारी उत्तरा ने पृथिवी पर ही हाथ जोड़कर कमलनयन श्रीकृष्ण को प्रणाम किया ।

**श्रुत्वा स तस्या विपुलं विलापं पुरुषर्षभः ।
उपस्पृश्य ततः कृष्णो ब्रह्मास्त्रं प्रत्यसंहरत् ।।४४।।**

उसका महान् विलाप सुनकर पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ने आचमन करके अश्वत्थामा के चलाये हुए ब्रह्मास्त्र को शान्त कर दिया ।

**प्रतिजज्ञे च दाशार्हस्तस्य जीवितमच्युतः ।
अब्रवीच्च विशुद्धात्मा सर्वं विश्रावयञ्जगत् ।।४५।।**

तत्पश्चात् विशुद्ध हृदयवाले और अपनी महिमा से कभी विचलित न होनेवाले श्रीकृष्ण ने उस बालक को जीवित करने की प्रतिज्ञा की और सम्पूर्ण जगत् को सुनाते हुए इस प्रकार कहा—

**न ब्रवीम्युत्तरे मिथ्या सत्यमेतद् भविष्यति ।
एष संजीवयाम्येनं पश्यतां सर्वदेहिनाम् ।।४६।।**

"पुत्री उत्तरा ! मैं असत्य नहीं बोलता । मैंने जो प्रतिज्ञा की है, वह सत्य होकर ही रहेगी । देखो, मैं समस्त प्राणियों के देखते-देखते अभी इस बालक को जिलाये देता हूँ ।

**नोक्तपूर्वं मया मिथ्या स्वैरेष्वपि कदाचन ।
न च युद्धात्परावृत्तस्तथा संजीवतामयम् ।।४७।।**

"मैंने खेल-कूद में भी कभी मिथ्या भाषण नहीं किया है और न कभी युद्ध में पीठ दिखाई है । इस शक्ति के प्रभाव से अभिमन्यु का यह बालक जीवित हो जाए ।

**यथा मे दयितो धर्मो ब्राह्मणाश्च विशेषतः ।
अभिमन्योः सुतो जातो मृतो जीवत्वयं तथा ।।४८।।**

"यदि धर्म और ब्राह्मण मुझे विशेष प्रिय हों तो अभिमन्यु का यह पुत्र, जो उत्पन्न होते ही मर गया था, पुनः जीवित हो जाए ।

**यथाहं नाभिजानामि विजये तु कदाचन ।
विरोधं तेन सत्येन मृतो जीवत्वयं शिशुः ।।४९।।**

"मैंने कभी अर्जुन से विरोध किया हो, मुझे इसका स्मरण नहीं, इस सत्य के प्रभाव से यह मरा हुआ बालक तुरन्त जीवित हो जाए ।

**यथा सत्यं च धर्मश्च मयि नित्यं प्रतिष्ठितौ ।
तथा मृतः शिशुरयं जीवतादभिमन्युजः ।।५०।।**

"यदि मुझमें सत्य और धर्म की निरन्तर स्थिति बनी रहती हो तो अभिमन्यु का यह मरा हुआ बालक जी उठे ।

यथा कंसश्च केशी च धर्मेण निहतौ मया ।
तेन सत्येन बालोऽयं पुनः संजीवतामयम् ।।५१।।

"मैंने कंस और केशी का धर्म के अनुसार वध किया है, इस सत्य के प्रभाव से यह बालक पुनः जीवित हो जाए ।"

इत्युक्तो वासुदेवेन स बालो भरतर्षभ ।
शनैः शनैर्महाराज प्रास्पन्दत सचेतनः ।।५२।।

भरतभूषण ! महाराज ! श्रीकृष्ण के ऐसा कहने पर उस बालक में चेतना आ गई और वह धीरे-धीरे अङ्गसंचालन करने लगा ।

इति महाभारते आश्वमेधिकपर्वणि चतुर्थोऽध्यायः ।।४।।

पञ्चमोऽध्यायः

श्रीकृष्ण द्वारा राजा परिक्षित् का नामकरण, पाण्डवों का हस्तिनापुर के समीप आगमन और स्वागत, व्यास और श्रीकृष्ण का युधिष्ठिर को यज्ञ के लिए आज्ञा देना

वैशम्पायन उवाच

व्यचेष्टत च बालोऽसौ यथोत्साहं यथाबलम् ।
बभूवुर्मुदिता राजंस्ततस्ता भरतस्त्रियः ।।१।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! उत्तरा का वह बालक अपने उत्साह और बल के अनुसार हाथ-पैर हिलाने लगा, यह देख भरतवंश की उन सभी स्त्रियों को अति प्रसन्नता हुई ।

उत्थाय तु यथाकालमुत्तरा यदुनन्दनम् ।
अभ्यवादयत प्रीता सह पुत्रेण भारत ।।२।।

भरतनन्दन ! फिर प्रसन्न हुई उत्तरा यथासमय उठकर पुत्र को गोद में लिये हुए यदुनन्दन श्रीकृष्ण के समीप आई और उन्हें प्रणाम किया ।

बहुरत्नं ददौ कृष्णो नाम चास्याकरोत् प्रभुः ।
पितुस्तव महाराज सत्यसंधो जनार्दनः ।।३।।
परिक्षीणे कुले यस्माज्जातोऽयमभिमन्युजः ।
परिक्षिदिति नामास्य भवत्वित्यब्रवीत् तदा ।।४।।

श्रीकृष्ण ने बालक को बहुत-से रत्न उपहार में दिये । महाराज ! तत्पश्चात् सत्यप्रतिज्ञ श्रीकृष्ण ने तुम्हारे पिता का नामकरण किया—"कुरुकुल के परिक्षीण हो जाने पर यह अभिमन्यु का पुत्र उत्पन्न हुआ है, अतः इसका नाम परिक्षित् होना चाहिए" ऐसा उन्होंने कहा ।

सोऽवर्धत यथाकालं पिता तव जनाधिप ।
मनः प्रह्लादनश्चासीत् सर्वलोकस्य भारत ।।५।।

प्रजेश्वर ! इस प्रकार नामकरण हो जाने के पश्चात् तुम्हारे पिता परिक्षित् कालक्रम से बड़े होने लगे । हे भारत ! वे सब लोगों के मन को आनन्द-मग्न किये रहते थे ।

मासजातस्तु ते वीर पिता भवति भारत ।
अथाजग्मुः सुबहुलं रत्नमादाय पाण्डवाः ।।६।।

वीर भरतनन्दन ! जब तुम्हारे पिता की अवस्था एक मास की हो गई, उस समय पाण्डव लोग अतुल रत्न-राशि लेकर लौटे ।

तान् समीपागताञ्श्रुत्वा निर्ययुर्वृष्णिपुङ्गवाः ।
अलंचक्रुश्च माल्यौघैः पुरुषा नागसाह्वयम् ।।७।।

वृष्णिवंश के प्रमुख वीरों ने जब सुना कि पाण्डव लोग नगर के समीप आ गये हैं, तब वे उनके स्वागत के लिए बाहर निकले और पुरवासी पुरुषों ने हस्तिनापुर को पुष्पमालाओं से सजाया ।

वासुदेवः सहामात्यः प्रययौ ससुहृद्गणः ।
ते समेत्य यथान्यायं प्रत्युद्यता दिदृक्षया ।।८।।

श्रीकृष्ण अपने मित्रों और मन्त्रियों के साथ उनसे मिलने के लिए चले । उन सब लोगों ने पाण्डवों का आगे बढ़कर स्वागत किया और सब यथायोग्य एक-दूसरे से मिले ।

ते समेत्य यथान्यायं धृतराष्ट्रं जनाधिपम् ।
कीर्तयन्तः स्वनामानि तस्य पादौ ववन्दिरे ।।९।।

वे यथायोग्य सबसे मिलकर राजा धृतराष्ट्र के पास गये और अपना-अपना नाम बताते हुए धृतराष्ट्र के चरणों में प्रणाम करने लगे ।

धृतराष्ट्रादनु च ते गान्धारीं सुबलात्मजाम् ।
कुन्तीं च राजशार्दूल तदा भरतसत्तम ।।१०।।

नृपश्रेष्ठ ! भरतभूषण ! धृतराष्ट्र से मिलने के पश्चात् वे सुबलपुत्री गान्धारी और कुन्ती से मिले ।

ततस्तत् परमाश्चर्यं विचित्रं महदद्भुतम् ।
शुश्रुवुस्ते तदा वीराः पितुस्ते जन्म भारत ।।११।।

भारत ! सबसे मिलने के पश्चात् उन वीरों ने तुम्हारे पिता के जन्म का वह आश्चर्यपूर्ण, विचित्र, महान् एवं अद्भुत वृत्तान्त सुना ।

तदुपश्रुत्य तत्कर्म वासुदेवस्य धीमतः ।
पूजार्हं पूजयामासुः कृष्णं देवकिनन्दनम् ॥१२॥

परम बुद्धिमान् श्रीकृष्ण का वह अलौकिक कर्म सुनकर पाण्डवों ने उन पूजनीय देवकीनन्दन श्रीकृष्ण का विशेष आदर-सत्कार किया ।

ततः कतिपयाहस्य व्यासः सत्यवतीसुतः ।
आजगाम महातेजा नगरं नागसाह्वयम् ॥१३॥

कुछ दिनों के पश्चात् महातेजस्वी सत्यवती-कुमार व्यासजी हस्तिनापुर में पधारे ।

तस्य सर्वे यथान्यायं पूजां चक्रुः कुरूद्वहाः ।
सह वृष्ण्यन्धकव्याघ्रैरुपासांचक्रिरे तदा ॥१४॥

कुरुकुल-तिलक समस्त पाण्डवों ने उनका यथोचित स्वागत-सत्कार किया । फिर वृष्णि तथा अन्धक-वंशी वीरों के साथ वे उनकी सेवा में बैठ गये ।

तत्र नानाविधाकाराः कथाः समभिकीर्त्य वै ।
युधिष्ठिरो धर्मसुतो व्यासं वचनमब्रवीत् ॥१५॥

वहाँ नाना प्रकार की बातें करके धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने व्यासजी से इस प्रकार कहा—

भवत्प्रसादाद् भगवन् यदिदं रत्नमाहृतम् ।
उपयोक्तुं तदिच्छामि वाजिमेधे महाक्रतौ ॥१६॥

"भगवन् ! आपकी कृपा से जो रत्न-राशि लाई गई है, उसका अश्वमेध नामक महायज्ञ में मैं उपयोग करना चाहता हूँ ।

तदनुज्ञातुमिच्छामि भवता मुनिसत्तम ।
त्वदधीना वयं सर्वे कृष्णस्य च महात्मनः ॥१७॥

"मुनिश्रेष्ठ ! मैं चाहता हूँ कि इसके लिए आपकी आज्ञा प्राप्त हो जाए, क्योंकि हम सब लोग आप और महात्मा श्रीकृष्ण के अधीन हैं ।"

व्यास उवाच

अनुजानामि राजंस्त्वां क्रियतां तदनन्तरम् ।
यजस्व वाजिमेधेन विधिवद् दक्षिणावता ॥१८॥

व्यासजी ने कहा—राजन् ! मैं तुम्हें यज्ञ के लिए आज्ञा देता हूँ । अब जो भी आवश्यक कार्य हो उसे आरम्भ करो । विधिपूर्वक दक्षिणा देते हुए अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान करो ।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तः स तु धर्मात्मा कुरुराजो युधिष्ठिरः ।
अश्वमेधस्य कौरव्य चकाराहरणे मतिम् ॥१९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—कुरुनन्दन ! व्यासजी के ऐसा कहने पर धर्मात्मा कुरुराज युधिष्ठिर ने अश्वमेध यज्ञ आरम्भ करने का विचार किया ।

समनुज्ञाप्य तत् सर्वं कृष्णद्वैपायनं नृपः ।
वासुदेवमथाभ्येत्य वाग्मी वचनमब्रवीत् ॥२०॥

श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजी से सब बातों के लिए आज्ञा ले, बोलने में चतुर राजा युधिष्ठिर श्रीकृष्ण के पास जाकर इस प्रकार बोले—

त्वत्प्रभावार्जितान् भोगानश्नीम यदुनन्दन ।
दीक्षयस्व त्वमात्मानं त्वं हि नः परमो गुरुः ॥२१॥

"यदुनन्दन ! हम आपके ही प्रभाव से प्राप्त भोगों को भोग रहे हैं, अतः आप ही इस यज्ञ की दीक्षा ग्रहण करें, क्योंकि आप हमारे परम गुरु हैं ।"

वासुदेव उवाच

त्वमेवैतन्महाबाहो वक्तुमर्हस्यरिन्दम ।
गुणीभूताः स्म ते राजंस्त्वं नो राजा गुरुर्मतः ॥२२॥

श्रीकृष्ण बोले—महाबाहो ! ऐसा कथन आपकी महिमा प्रकट करता है । हम लोग तो आपके अनुयायी हैं और आपको अपना राजा एवं गुरु मानते हैं ।

यजस्व मदनुज्ञातः प्राप्य एष क्रतुस्त्वया ।
युनक्तु नो भवान् कार्ये यत्र वाञ्छसि भारत ॥२३॥

अतः हे भारत ! हमारी अनुमति से आप स्वयं ही इस यज्ञ का अनुष्ठान कीजिए तथा हम लोगों में से जिसको जिस काम पर लगाना चाहें, उसे उस काम की आज्ञा दीजिए ।

सत्यं ते प्रतिजानामि सर्वं कर्तास्मि तेऽनघ ।
भीमसेनार्जुनौ चैव तथा माद्रवतीसुतौ ।
इष्टवन्तो भविष्यन्ति त्वयीष्टवति पार्थिवे ॥२४॥

निष्पाप नरेश ! मैं आपके सामने सच्ची प्रतिज्ञा करता हूँ कि आप जो कुछ कहेंगे, मैं वह सब करूँगा । आप राजा हैं । आपके द्वारा यज्ञ होने पर भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव को भी यज्ञानुष्ठान का फल मिल जाएगा ।

इति महाभारते आश्वमेधिकपर्वणि पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

षष्ठोऽध्यायः

व्यासजी की आज्ञा से अश्व की रक्षा के लिए अर्जुन को, राज्यरक्षा के लिए भीम और नकुल तथा कुटुम्बपालन के लिए सहदेव की नियुक्ति

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कृष्णेन धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
व्यासमामन्त्र्य मेधावी ततो वचनमब्रवीत् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! श्रीकृष्ण के ऐसा कहने पर मेधावी धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने व्यासजी को सम्बोधित करके कहा—

यदा कालं भवान् वेत्ति हयमेधस्य तत्त्वतः ।
दीक्षयस्व तदा मां त्वं त्वय्यायत्तो हि मे क्रतुः ॥२॥

"भगवन् ! जब आपको अश्वमेध यज्ञ आरम्भ करने का ठीक समय जान पड़े, तभी आकर मुझे उसकी दीक्षा दें, क्योंकि मेरा यज्ञ आपके ही अधीन है।"

व्यास उवाच

अहं पैलोऽथ कौन्तेय याज्ञवल्क्यस्तथैव च ।
विधानं यद् यथाकालं तत् कर्तारो न संशयः ॥३॥

व्यासजी बोले—कुन्तीकुमार ! जब यज्ञ का समय आएगा, उस समय मैं, पैल और याज्ञवल्क्य—ये सब आकर तुम्हारे यज्ञ का सारा विधि-विधान सम्पन्न करेंगे, इसमें संशय नहीं है ।

चैत्र्यां हि पौर्णमास्यां तु तव दीक्षा भविष्यति ।
सम्भाराः सम्भ्रियन्तां च यज्ञार्थं पुरुषर्षभ ॥४॥

पुरुषश्रेष्ठ ! आगामी चैत्र की पूर्णिमा को तुम्हें यज्ञ की दीक्षा दी जाएगी, तबतक तुम उसके लिए सामग्री एकत्र करो ।

अश्वविद्याविदश्चैव सूता विप्राश्च तद्विदः ।
मेध्यमश्वं परीक्षन्तां तव यज्ञार्थसिद्धये ॥५॥

अश्वविद्या के ज्ञाता सूत और ब्राह्मण यज्ञ के प्रयोजन की सिद्धि के लिए पवित्र अश्व की परीक्षा करें ।

तमुत्सृज यथाशास्त्रं पृथिवीं सागराम्बराम् ।
स पर्येतु यशो दीप्तं तव पार्थिव दर्शयन् ॥६॥

भूपाल ! जो अश्व चुना जाए, उसे शास्त्रीय विधि के अनुसार छोड़ो और वह तुम्हारे दीप्तिमान् यश का विस्तार करता हुआ समुद्रपर्यन्त सम्पूर्ण पृथिवी पर विचरे ।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तः स तथेत्युक्त्वा पाण्डवः पृथिवीपतिः ।
चकार सर्वं राजेन्द्र यथोक्तं ब्रह्मवादिना ॥७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे राजेन्द्र ! यह सुनकर पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर ने "बहुत अच्छा" कहकर ब्रह्मवादी व्यासजी के कथनानुसार सारा कार्य सम्पन्न किया ।

ततोऽब्रवीन्महातेजा व्यासो धर्मात्मजं नृपम् ।
यथाकालं यथायोगं सज्जाः स्म तव दीक्षणे ॥८॥

सारी तैयारी हो जाने पर महातेजस्वी व्यास ने धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर से कहा—"राजन् ! हम लोग यथासमय उत्तम योग आने पर तुम्हें दीक्षा देने को तैयार हैं ।

स्फ्यश्च कूर्चश्च सौवर्णो यश्चान्यदपि कौरव ।
यत्र योग्यं भवेत्किञ्चद्रौक्मं तत्क्रियतामिति ॥९॥

"कुरुनन्दन ! इस बीच में तुम सोने के स्फ्य[१] और कूर्च[२] बनवा लो तथा यज्ञ के अन्य भी जो सुवर्णमय सामान आवश्यक हों, उन्हें तैयार करा डालो ।

अश्वोत्सृज्यतामद्य पृथ्व्यामथ यथाक्रमम् ।
सुगुप्तं चरतां चापि यथाशास्त्रं यथाविधि ॥१०॥

"आज शास्त्रीय विधि के अनुसार यज्ञ-सम्बन्धी अश्व को क्रमशः सारी पृथिवी पर विचरने के लिए छोड़ना चाहिए और ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए जिससे वह सुरक्षित रूप से सब ओर विचरण करे।

युधिष्ठिर उवाच

अयमश्वो यथा ब्रह्मन्नुत्सृष्टः पृथिवीमिमाम् ।
चरिष्यति यथाकामं तत्र वै संविधीयताम् ॥११॥

---

[१] यज्ञों में प्रयुक्त होनेवाला तलवार के आकार का एक उपकरण ।

[२] यज्ञ-स्थल की सफाई के लिए झाड़ू अथवा मुट्ठीभर कुशा ।

पृथिवीं पर्यटन्तं हि तुरगं कामचारिणम् ।
कः पालयेदिति मुने तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥१२॥

युधिष्ठिर बोले—ब्रह्मन् ! यह घोड़ा उपस्थित है । इसे किस प्रकार छोड़ा जाए जिससे यह सम्पूर्ण पृथिवी पर इच्छानुसार विचरण कर आये—इसकी व्यवस्था आप ही कीजिए । मुने ! साथ ही यह भी बताइए कि भूमण्डल में इच्छानुसार विचरनेवाले इस घोड़े की रक्षा कौन करे ?

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तः स तु राजेन्द्र कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत् ।
भीमसेनादवरजः श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम् ॥१३॥
जिष्णुः सहिष्णुर्धृष्णुश्च स एनं पालयिष्यति ।
शक्तः स हि महीं जेतुं निवातकवचान्तकः ॥१४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—हे राजेन्द्र ! युधिष्ठिर के इस प्रकार पूछने पर श्रीकृष्ण द्वैपायन व्यास ने कहा—"राजन् ! अर्जुन सब धनुर्धारियों में श्रेष्ठ हैं । वे विजय में उत्साह रखनेवाले, सहनशील और धैर्यवान् हैं, अतः वे ही इस अश्व की रक्षा करेंगे । निवातकवचों का विनाश करनेवाले अर्जुन सम्पूर्ण भूमण्डल को जीतने की शक्ति रखते हैं ।

भीमसेनोऽपि तेजस्वी कौन्तेयोऽमितविक्रमः ।
समर्थो रक्षितुं राष्ट्रं नकुलश्च विशाम्पते ॥१५॥

"नरेश्वर ! कुन्तीपुत्र भीमसेन भी अत्यन्त तेजस्वी और अमित पराक्रमी हैं । नकुल में भी वे ही गुण हैं । ये दोनों ही राज्य की रक्षा करने में पूर्ण समर्थ हैं [अतः ये राज्य-कार्य की देख-भाल करें] ।

सहदेवस्तु कौरव्य समाधास्यति बुद्धिमान् ।
कुटुम्बतन्त्रं विधिवत् सर्वमेव महायशाः ॥१६॥

"कुरुनन्दन ! महायशस्वी बुद्धिमान् सहदेव कुटुम्ब के पालन-पोषण सम्बन्धी समस्त कार्यों की देख-भाल करेंगे ।"

वैशम्पायन उवाच

तत्तु सर्वं यथान्यायमुक्तः कुरुकुलोद्वहः ।
चकार फाल्गुनं चापि संदिदेश हयं प्रति ॥१७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! व्यासजी के इस प्रकार बतलाने पर कुरुकुलतिलक युधिष्ठिर ने सारा कार्य उसी प्रकार यथोचित रीति से सम्पन्न किया और अर्जुन को बुलाकर घोड़े की रक्षा के लिए इस प्रकार आदेश दिया—

युधिष्ठिर उवाच

एह्यर्जुन त्वया वीर हयोऽयं परिपाल्यताम् ।
त्वमर्हो रक्षितुं ह्येनं नान्यः कश्चन मानवः ॥१८॥

युधिष्ठिर ने कहा—वीर अर्जुन ! यहाँ आओ । तुम इस घोड़े की रक्षा करो, क्योंकि तुम्हीं इसकी रक्षा करने में समर्थ हो । दूसरा कोई मनुष्य इसकी रक्षा करने के योग्य नहीं है ।

ये चापि त्वां महाबाहो प्रत्युद्यान्ति नराधिपाः ।
तैर्विग्रहो यथा न स्यात् तथा कार्यं त्वयानघ ॥१९॥

महाबाहो ! निष्पाप अर्जुन ! अश्व की रक्षा के समय जो राजा तुम्हारे समक्ष आएँ, उनके साथ युद्ध न करना पड़े, इसकी तुम्हें भरसक चेष्टा करनी चाहिए ।

आख्यातव्यश्च भवता यज्ञोऽयं मम सर्वशः ।
पार्थिवेभ्यो महाबाहो समये गम्यतामिति ॥२०॥

महाबाहो ! मेरे इस यज्ञ का समाचार तुम समस्त भूपालों को सुनाना और उनसे यह कहना कि आप लोग यथासमय यज्ञ में पधारें ।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा स धर्मात्मा भ्रातरं सव्यसाचिनम् ।
भीमं च नकुलं चैव पुरगुप्तौ समादधात् ॥२१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! अपने भाई सव्यसाची अर्जुन से ऐसा कहकर धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर ने भीमसेन और नकुल को नगर की रक्षा पर नियुक्त कर दिया ।

कुटुम्बतन्त्रे च तदा सहदेवं युधां पतिम् ।
अनुमान्य महीपालं धृतराष्ट्रं युधिष्ठिरः ॥२२॥

फिर महाराज धृतराष्ट्र की अनुमति लेकर युधिष्ठिर ने योद्धाओं के स्वामी सहदेव को कुटुम्ब-पालन-सम्बन्धी कार्य सौंप दिया ।

इति महाभारते आश्वमेधिकपर्वणि षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

सप्तमोऽध्यायः

सेनासहित अर्जुन द्वारा घोड़े का अनुसरण, त्रिगर्तों और प्राग्ज्योतिषपुर के राजा वज्रदत्त के साथ युद्ध और उनकी पराजय

वैशम्पायन उवाच

दीक्षाकाले तु सम्प्राप्ते ततस्ते सुमहर्त्विजः ।
विधिवद् दीक्षयामासुरश्वमेधाय पार्थिवम् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब दीक्षा का समय आया, तब उन व्यासजी आदि महान् ऋत्विजों ने राजा युधिष्ठिर को विधिपूर्वक अश्वमेध यज्ञ की दीक्षा दी ।

हयश्च हयमेधार्थं स्वयं स ब्रह्मवादिना ।
उत्सृष्टः शास्त्रविधिना व्यासेनामिततेजसा ॥२॥

अमित तेजस्वी ब्रह्मवादी व्यासजी ने अश्वमेध यज्ञ के लिए चुने गये अश्व को स्वयं ही शास्त्रीय विधि के अनुसार छोड़ा ।

श्वेताश्वः कृष्णसारं तं ससाराश्वं धनञ्जयः ।
विधिवत् पृथिवीपाल धर्मराजस्य शासनात् ॥३॥

भूपाल जनमेजय ! श्वेत घोड़ोंवाले अर्जुन ने धर्मराज युधिष्ठिर के आदेश से उस यज्ञीय घोड़े का विधिपूर्वक अनुसरण किया ।

स हयः पृथिवीं राजन् प्रदक्षिणमवर्तत ।
ससारोत्तरतः पूर्वं तन्निबोध महीपते ॥४॥
अवमृद्नन् स राष्ट्राणि पार्थिवानां हयोत्तमः ।
शनैस्तदा परिययौ श्वेताश्वश्च महारथः ॥५॥

भूपाल ! वह घोड़ा पृथिवी की प्रदक्षिणा करने लगा । सबसे पहले वह उत्तर दिशा की ओर गया । फिर राजाओं के अनेक राज्यों को रौंदता हुआ वह श्रेष्ठ घोड़ा पूर्व की ओर मुड़ गया । उस समय श्वेतवाहन महारथी अर्जुन धीरे-धीरे उस घोड़े के पीछे जा रहे थे ।

तत्र संगणना नास्ति राज्ञामयुतशस्तदा ।
येऽयुध्यन्त महाराज क्षत्रिया हतबान्धवाः ॥६॥

महाराज ! महाभारत-युद्ध में जिनके भाई-बन्धु मारे गये थे, ऐसे जिन-जिन क्षत्रियों ने उस समय अर्जुन के साथ युद्ध किया, उन सहस्रों नरेशों की कोई गिनती नहीं थी ।

किराता यवना राजन् बहवोऽसिधनुर्धराः ।
म्लेच्छाश्चान्ये बहुविधाः पूर्वं ये निकृता रणे ॥७॥

हे राजन् ! तलवार और धनुषधारी बहुत-से किरात, यवन और म्लेच्छ—जो पहले महाभारत-युद्ध में पाण्डवों द्वारा परास्त किये गये थे, अर्जुन का सामना करने के लिए आये ।

आर्याश्च पृथिवीपालाः प्रहृष्टनरवाहनाः ।
समीयुः पाण्डुपुत्रेण बहवो युद्धदुर्मदाः ॥८॥

हृष्ट-पुष्ट मनुष्यों और वाहनों से युक्त बहुत-से रण-दुर्मद आर्यनरेश भी पाण्डुपुत्र अर्जुन से भिड़े थे ।

एवं वृत्तानि युद्धानि तत्र तत्र महीपते ।
अर्जुनस्य महीपालैर्नानादेशसमागतैः ॥९॥

भूपाल ! इस प्रकार भिन्न-भिन्न स्थानों में नाना देशों से आये हुए राजाओं के साथ अर्जुन को अनेक बार युद्ध करने पड़े ।

यानि तूभयतो राजन् प्रतप्तानि महान्ति च ।
तानि युद्धानि वक्ष्यामि कौन्तेयस्य तवानघ ॥१०॥

निष्पाप नरेश ! जो युद्ध दोनों पक्ष के योद्धाओं के लिए अधिक कष्टदायक और महान् थे, अर्जुन के उन्हीं युद्धों का मैं यहाँ तुम्हारे लिए वर्णन करूँगा ।

त्रिगर्तैरभवद् युद्धं कृतवैरैः किरीटिनः ।
महारथसमाज्ञातैर्हतानां पुत्रनप्तृभिः ॥११॥

राजन् ! महाभारत-युद्ध में जो त्रिगर्त वीर मारे गये थे, उनके महारथी पुत्रों और पौत्रों ने किरीटधारी अर्जुन के साथ वैर बाँध लिया था । त्रिगर्त देश में जाने पर अर्जुन का उन त्रिगर्तों के साथ घोर युद्ध हुआ था ।

ते समाज्ञाय सम्प्राप्तं यज्ञियं तुरगोत्तमम् ।
विषयान्तं ततो वीरा दंशिताः पर्यवारयन् ॥१२॥
रथिनो बद्धतूणीराः सदश्वैः समलंकृतैः ।
परिवार्य हयं राजन् ग्रहीतुं सम्प्रचक्रमुः ॥१३॥

"पाण्डवों का यज्ञ-सम्बन्धी श्रेष्ठ घोड़ा हमारे राज्य की सीमा में आ पहुँचा है" यह जानकर त्रिगर्त-

वीर कवच आदि से सुसज्जित हो, पीठ पर तरकस बाँधे सजे-सजाये उत्तम घोड़ों से जुते हुए रथों पर बैठकर निकले और उस घोड़े को उन्होंने चारों ओर से घेर लिया। राजन्! घोड़े को घेरकर वे उसे पकड़ने का प्रयत्न करने लगे।

ततः किरीटी संचिन्त्य तेषां तत्र चिकीर्षितम्।
तान् निवर्तध्वमित्याह न न्यवर्तन्त चापि ते ॥१४॥

किरीटधारी अर्जुन यह जान गये कि वे क्या करना चाहते हैं। उनके मनोभाव को जानकर अर्जुन ने त्रिगर्तों को कहा—"लौट जाओ" परन्तु वे नहीं लौटे।

ततस्त्रिगर्तराजानं सूर्यवर्माणमाहवे।
विचित्य शरजालेन प्रजहास धनञ्जयः ॥१५॥

तब उस युद्धस्थल में त्रिगर्तराज सूर्यवर्मा के सारे अङ्गों में बाण धँसाकर अर्जुन हँसने लगे।

ततो योधान् जघानाशु तेषां स दश चाष्ट च।
महेन्द्रवज्रप्रतिमैरायसैर्बहुभिः शरैः ॥१६॥

तत्पश्चात् उन्होंने इन्द्र के वज्र की भाँति दुःसह लौहनिर्मित बहुसंख्यक बाणों द्वारा बात-की-बात में उन [त्रिगर्तों] के अठारह प्रमुख योद्धाओं को यमलोक पठा दिया।

तान्सम्प्रभग्नान्सम्प्रेक्ष्य त्वरमाणो धनञ्जयः।
शरैराशीविषाकारैर्जघान स्वनवद्धसन् ॥१७॥

फिर तो त्रिगर्तों में भगदड़ मच गई। उन्हें भागते देख अर्जुन ने जोर-जोर से हँसते हुए अत्यन्त उतावली के साथ सर्पाकार बाणों के द्वारा उन सबको मारना आरम्भ किया।

ते भग्नमनसः सर्वे त्रैगर्तमहारथाः।
दिशोऽभिदुद्रुवू राजन् धनञ्जयशरार्दिताः ॥१८॥

राजन्! अर्जुन के बाणों से पीड़ित हुए समस्त त्रिगर्तदेशीय महारथियों का युद्धविषयक उत्साह नष्ट हो गया; अतः वे चहुँ ओर भाग खड़े हुए।

त ऊचुः पुरुषव्याघ्रं संशप्तकनिषूदनम्।
तव स्म किंकराः सर्वे सर्वे वै वशगास्तव ॥१९॥

उनमें से कितने ही संशप्तकसूदन पुरुषसिंह अर्जुन से इस प्रकार कहने लगे—"कुन्तीकुमार! हम सब आपके आज्ञाकारी सेवक हैं और सभी सदा आपके अधीन रहेंगे।"

एतदाज्ञाय वचनं सर्वांस्तानब्रवीत् तदा।
जीवितं रक्षत नृपाः शासनं प्रतिगृह्यताम् ॥२०॥

उनकी ये बातें सुनकर अर्जुन ने उनसे कहा—"राजाओ! अपने प्राणों की रक्षा करो। इसका एक ही उपाय है, हमारा शासन स्वीकार कर लो।"

प्राग्ज्योतिषमथाभ्येत्य व्यचरत् स हयोत्तमः।
भगदत्तात्मजस्तत्र निर्ययौ रणकर्कशः ॥२१॥
स हयं पाण्डुपुत्रस्य विषयान्तमुपागतम्।
युयुधे भरतश्रेष्ठ वज्रदत्तो महीपतिः ॥२२॥

जनमेजय! त्रिगर्तों पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् वह घोड़ा प्राग्ज्योतिषपुर के पास पहुँचकर विचरने लगा। वहाँ भगदत्त का पुत्र वज्रदत्त राज्य करता था, जो युद्ध में अति कठोर था। भरतभूषण! जब उसे पता लगा कि पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर का घोड़ा मेरे राज्य की सीमा में आ गया है, तब वह युद्ध के लिए तैयार होकर नगर से बाहर निकला।

सोऽभिनिर्याय नगराद् भगदत्तसुतो नृपः।
अश्वमायन्तमुन्मथ्य नगराभिमुखो ययौ ॥२३॥

नगर से बाहर निकलकर भगदत्तपुत्र राजा वज्रदत्त ने अपनी ओर आते हुए घोड़े को बलपूर्वक पकड़ लिया और उसे साथ लेकर वह नगर की ओर चला।

तमालक्ष्य महाबाहुः कुरूणामृषभस्तदा।
गाण्डीवं विक्षिपंस्तूर्णं सहसा समुपाद्रवत् ॥२४॥

उसको ऐसा करते देख कुरुश्रेष्ठ महाबाहु अर्जुन ने गाण्डीव धनुष को टंकारते हुए सहसा, वेगपूर्वक उसपर आक्रमण किया।

स वारणं नगप्रख्यं प्रभिन्नकरटामुखम्।
प्रेषयामास संक्रुद्धः श्वेताश्वं प्रति पार्थिवः ॥२५॥

तब क्रोध में भरे हुए राजा वज्रदत्त ने भी श्वेतवाहन अर्जुन की ओर अपने पर्वताकार विशालकाय गजराज को, जिसके गण्डस्थल से मद की धार चू रही थी, बढ़ाया।

तस्मै बाणांस्ततो जिष्णुर्निर्मुक्ताशीविषोपमान्।
प्रेषयामास संक्रुद्धो ज्वलितज्वलनोपमान् ॥२६॥

यह देख अर्जुन अत्यन्त कुपित हुआ। उसने

उस हाथी पर केंचुली से निकले हुए सर्पों के समान भयङ्कर तथा प्रज्वलित अग्नि के तुल्य प्रज्वलित बाणों का प्रहार किया ।

एवं त्रिरात्रमभवत् तद् युद्धं भरतर्षभ ।
अर्जुनस्य नरेन्द्रेण वृत्रेणेव शतक्रतोः ॥२७॥

भरतश्रेष्ठ ! जैसे इन्द्र का वृत्रासुर के साथ युद्ध हुआ था, उसी प्रकार अर्जुन का राजा वज्रदत्त के साथ तीन दिन और तीन रात युद्ध होता रहा ।

ततश्चतुर्थे दिवसे वज्रदत्तो महाबलः ।
जहास सस्वनं हासं वाक्यं चेदमथाब्रवीत् ॥२८॥

तत्पश्चात् चौथे दिन महाबली वज्रदत्त ठहाका मारकर हँसने लगा और इस प्रकार बोला—

अर्जुनार्जुन तिष्ठस्व न मे जीवन् विमोक्ष्यसे ।
त्वां निहत्य करिष्यामि पितुस्तोयं यथाविधि ॥२९॥

"अर्जुन ! अर्जुन ! खड़ा रह । आज मैं तुम्हें जीवित नहीं छोड़ूँगा । तुम्हें मारकर मैं पिता का विधिवत् तर्पण करूँगा ।"

इत्येवमुक्त्वा संक्रुद्धो वज्रदत्तो नराधिपः ।
प्रेषयामास कौरव्य वारणं पाण्डवं प्रति ॥३०॥

कुरुनन्दन ! ऐसा कहकर क्रोध में भरे हुए राजा वज्रदत्त ने पुनः पाण्डुपुत्र अर्जुन की ओर अपने हाथी को हाँक दिया ।

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य बलवत् पाकशासनिः ।
नाराचमग्निसंकाशं प्राहिणोद् वारणं प्रति ॥३१॥

उसे बलपूर्वक आक्रमण करते देख इन्द्रकुमार अर्जुन ने उस हाथी पर एक अग्नि के समान तेजस्वी नाराच का प्रहार किया ।

स तेन वारणो राजन् मर्मस्वभिहतो भृशम् ।
पपात सहसा भूमौ वज्ररुग्ण इवाचलः ॥३२॥

राजन् ! उस नाराच ने हाथी के मर्मस्थानों में गहरी चोट पहुँचाई । उस चोट से वह हाथी वज्र के मारे हुए पर्वत की भाँति सहसा पृथिवी पर गिर पड़ा ।

तस्मिन् निपातिते नागे वज्रदत्तस्य पाण्डवः ।
तं न भेतव्यमित्याह ततो भूमिगतं नृपम् ॥३३॥

वज्रदत्त के उस हाथी के भूमि पर गिरते ही राजा वज्रदत्त स्वयं भी पृथिवी पर जा पड़ा । उस समय पाण्डुपुत्र अर्जुन ने उससे कहा—"राजन् ! डरो मत ।

अब्रवीद्धि महातेजाः प्रस्थितं मां युधिष्ठिरः ।
राजानस्ते न हन्तव्या धनञ्जय कथञ्चन ॥३४॥

"जब मैं घर से निकला था, उस समय महातेजस्वी राजा युधिष्ठिर ने मुझसे कहा था—'धनञ्जय ! तुम्हें किसी प्रकार भी राजाओं का वध नहीं करना चाहिए ।'

इति भ्रातृवचः श्रुत्वा न हन्मि त्वां नराधिप ।
उत्तिष्ठ न भयं तेऽस्ति स्वस्तिमान्गच्छ पार्थिव ॥३५॥

"नरेश्वर ! भाई के इस वचन को सुनकर और इसे शिरोधार्य करके मैं तुम्हारे प्राण नहीं ले रहा हूँ । भूपाल ! उठो, तुम्हें कोई भय नहीं है । तुम सकुशल अपने घर को लौट जाओ ।

आगच्छेथा महाराज परां चैत्रीमुपस्थिताम् ।
यदाश्वमेधो भविता धर्मराजस्य धीमतः ॥३६॥

"महाराज ! आगामी चैत्रमास की उत्तम पूर्णिमा तिथि उपस्थित होने पर तुम हस्तिनापुर में आना । उस समय बुद्धिमान् धर्मराज का वह उत्तम यज्ञ होगा ।"

एवमुक्तः स राजा तु भगदत्तात्मजस्तदा ।
तथेत्येवाब्रवीद् वाक्यं पाण्डवेनाभिनिर्जितः ॥३७॥

अर्जुन के ऐसा कहने पर उनसे परास्त हुए भगदत्तकुमार राजा वज्रदत्त ने कहा—"बहुत अच्छा, ऐसा ही होगा ।"

इति महाभारते आश्वमेधिकपर्वणि सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अष्टमोऽध्यायः

अर्जुन का सैन्धवों के साथ युद्ध और दुःशला के अनुरोध से उसकी समाप्ति

वैशम्पायन उवाच

सैन्धवैरभवद् युद्धं ततस्तस्य किरीटिनः ।
हतशेषैर्महाराज हतानां च सुतैरपि ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—ततः=वज्रदत्त को पराजित करने के पश्चात् जब अर्जुन का घोड़ा सिन्धु देश में गया, तब महाभारत-युद्ध में मरने से बचे हुए सिन्धुदेशीय योद्धाओं और मारे गये नरेशों के पुत्रों के साथ किरीटधारी अर्जुन का घोर संग्राम हुआ।

तेऽवतीर्णमुपश्रुत्य विषयं श्वेतवाहनम् ।
प्रत्युद्ययुरमृष्यन्तो राजानः पाण्डवर्षभम् ॥२॥

यज्ञ के घोड़े और श्वेतवाहन अर्जुन को अपने राज्य में आया हुआ सुनकर वे सिन्धुदेशीय क्षत्रिय अमर्ष में भरकर उन पाण्डवप्रवर अर्जुन का सामना करने के लिए आगे बढ़े।

ते किरन्तः शरव्रातान् वारणप्रतिवारणान् ।
रणे जयमभीप्सन्तः कौन्तेयं पर्यवारयन् ॥३॥

वे ऐसे बाणसमूहों की वर्षा करते थे, जो गजराजों को भी आगे बढ़ने से रोक देनेवाले थे। उन्होंने रणभूमि में विजय की अभिलाषा रखकर कुन्तीनन्दन को घेर लिया।

विचकर्ष धनुर्दिव्यं ततः कौरवनन्दनः ।
यन्त्रस्येवेह शब्दोऽभून्महाँस्तस्य पुनः पुनः ॥४॥

फिर तो कौरवनन्दन अर्जुन ने अपने दिव्य धनुष की प्रत्यञ्चा खींची। उस समय उससे बार-बार मशीन की भाँति बड़े जोर-जोर से टङ्कार-ध्वनि होने लगी।

ततः स शरवर्षाणि प्रत्यमित्रान् प्रति प्रभुः ।
ववर्ष धनुषा पार्थो वर्षाणीव पुरन्दरः ॥५॥

तत्पश्चात् जैसे इन्द्र जल की वृष्टि करते हैं, उसी प्रकार प्रभावशाली पार्थ ने अपने धनुष द्वारा शत्रुओं पर बाणों की झड़ी लगा दी।

ततस्ते फाल्गुनेनाजौ शरैः संनतपर्वभिः ।
कृता विसंज्ञा भूयिष्ठाः क्लान्तवाहनसैनिकाः ॥६॥

थोड़ी ही देर में अर्जुन ने युद्धस्थल में झुकी हुई गाँठवाले बाणों द्वारा अधिकांश सैन्धव वीरों को संज्ञाशून्य कर दिया। उनके वाहन और सैनिक भी थकावट से खिन्न हो रहे थे।

ताँस्तु सर्वान्परिग्लानान्विदित्वा धृतराष्ट्रजा ।
दुःशला बालमादाय नप्तारं प्रययौ तदा ॥७॥
सुरथस्य सुतं वीरं रथेनाथागमत् तदा ।
शान्त्यर्थं सर्वयोधानामभ्यगच्छत पाण्डवम् ॥८॥

समस्त सैन्धव वीरों को कष्ट पाते जान धृतराष्ट्र की पुत्री दुःशला अपने पुत्र सुरथ के वीर बालक को जो उसका पौत्र था, साथ ले रथ पर सवार हो युद्धक्षेत्र में पाण्डुपुत्र अर्जुन के पास आई। उसके आने का उद्देश्य था कि सब योद्धा युद्ध छोड़कर शान्त हो जाएँ।

सा धनञ्जयमासाद्य रुरोदार्तस्वरं तदा ।
धनञ्जयोऽपि तां दृष्ट्वा धनुर्विससृजे प्रभुः ॥९॥

वह अर्जुन के पास आकर आर्त स्वर से फूट-फूटकर रोने लगी। शक्तिशाली अर्जुन ने भी उसे सामने देख अपना धनुष नीचे डाल दिया।

समुत्सृज्य धनुः पार्थो विधिवद् भगिनीं तदा ।
प्राह किं करवाणीति सा च तं प्रत्युवाच ह ॥१०॥

धनुष त्यागकर कुन्तीनन्दन अर्जुन ने विधिपूर्वक बहिन का स्वागत-सत्कार किया और पूछा—"बहिन! बताओ, मैं तुम्हारा कौन-सा कार्य करूँ?" तब दुःशला ने उत्तर दिया—

एष ते भरतश्रेष्ठ स्वस्रीयस्यात्मजः शिशुः ।
अभिवादयते पार्थ तं पश्य पुरुषर्षभ ॥११॥

"भैया! भरतभूषण! यह तुम्हारे भानजे सुरथ का औरस पुत्र है। पुरुषश्रेष्ठ पार्थ! इसकी ओर देखो, यह तुम्हें प्रणाम करता है।"

स्वसारं समवेक्षस्व स्वस्रीयात्मजमेव च ।
कर्तुमर्हसि धर्मज्ञ दयां कुरुकुलोद्वह ॥१२॥

"भैया! तुम कुरुकुल में श्रेष्ठ और धर्म को जाननेवाले हो, अतः दया करो। अपनी इस दुखिया

बहिन की ओर देखो और भानजे के बेटे पर भी कृपादृष्टि करो।

एष प्रसाद्य शिरसा प्रशमार्थमरिंदम।
याचते त्वां महाबाहो शमं गच्छ धनञ्जय ॥१३॥

"शत्रुदमन महाबाहु धनञ्जय! यह बालक तुम्हारे चरणों में सिर रखकर तुम्हें प्रसन्न करके तुमसे शान्ति के लिए याचना करता है, अतः अब तुम शान्त हो जाओ।

बालस्य हतबन्धोश्च पार्थ किंचिदजानतः।
प्रसादं कुरु धर्मज्ञ मा मन्युवशमन्वगाः ॥१४॥

"यह अवोध बालक है, कुछ नहीं जानता है। इसके भाई-बन्धु नष्ट हो चुके हैं, अतः धर्मज्ञ अर्जुन! तुम इसपर कृपा करो, क्रोध के वशीभूत मत होओ।

तमनार्यं नृशंसं च विस्मृत्यास्य पितामहम्।
आगस्कारिणमत्यर्थं प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥१५॥

"इस बालक का पितामह [जयद्रथ] अनार्य, क्रूर और तुम्हारा अपराधी था। उसको भूल जाओ और इस बालक पर कृपा करो।"

एवं ब्रुवत्यां करुणं दुःशलायां धनञ्जयः।
संस्मृत्य देवीं गान्धारीं धृतराष्ट्रं च पार्थिवम् ॥१६॥
प्रोवाच दुःखशोकार्तः क्षत्रधर्मं व्यगर्हयत्।
यत्कृते बान्धवाः सर्वे मया नीता यमक्षयम् ॥१७॥

जब दुःशला इस प्रकार करुणायुक्त वचन कहने लगी, तब अर्जुन धृतराष्ट्र और गान्धारी देवी का स्मरण करके दुःख और शोक से पीड़ित हो क्षत्रिय-धर्म की निन्दा करने लगे। उन्होंने कहा—"उस क्षात्रधर्म को धिक्कार है, जिसके लिए मैंने अपने सारे वान्धवों को यमलोक पहुँचा दिया!"

इत्युक्त्वा बहु सान्त्वादि प्रसादमकरोज्जयः।
परिष्वज्य च तां प्रीतो विससर्ज गृहान् प्रति ॥१८॥

ऐसा कहकर अर्जुन ने दुःशला को बहुत सान्त्वना दी और उसके प्रति अपने कृपाप्रसाद का परिचय दिया। फिर प्रसन्नतापूर्वक उससे गले मिलकर उसे घर की ओर विदा किया।

दुःशला चापि तान्योधान्निवार्य महतो रणात्।
सम्पूज्य पार्थं प्रययौ गृहानेव शुभानना ॥१९॥

तत्पश्चात् सुमुखी दुःशला ने उस महान् संग्राम से अपने समस्त योद्धाओं को पीछे लौटाया और अर्जुन की प्रशंसा करती हुई वह अपने घर को लौट गई।

एवं निर्जित्य तान् वीरान्सैन्धवान्स धनञ्जयः।
अन्वधावत धावन्तं हयं कामविचारिणम् ॥२०॥

इस प्रकार सैन्धव वीरों को परास्त करके अर्जुन इच्छानुसार विचरने और दौड़नेवाले उस घोड़े के पीछे स्वयं भी दौड़ने लगे।

स च वाजी यथेष्टेन तांस्तान् देशान् यथाक्रमम्।
विचचार यथाकामं कर्म पार्थस्य वर्धयन् ॥२१॥

वह अश्व यथेष्टगति से क्रमशः सभी देशों में घूमता हुआ और अर्जुन के पराक्रम का विस्तार करता हुआ इच्छानुसार विचरने लगा।

क्रमेण स हयस्त्वेवं विचरन् पुरुषर्षभ।
मणिपूरपतेर्देशमुपायात् सहपाण्डवः ॥२२॥

पुरुषश्रेष्ठ जनमेजय! इस प्रकार क्रमशः विचरता हुआ वह घोड़ा अर्जुनसहित मणिपुर-नरेश के राज्य में जा पहुँचा।

इति महाभारते आश्वमेधिकपर्वणि अष्टमोऽध्यायः ॥८॥

नवमोऽध्यायः

अर्जुन और बभ्रुवाहन का युद्ध, अर्जुन की मृत्यु तथा उलूपी के प्रयत्न से संजीवनी मणि के द्वारा अर्जुन का पुनः जीवित होना

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा तु नृपतिः प्राप्तं पितरं बभ्रुवाहनः।
निर्ययौ विनयेनाथ ब्राह्मणार्थपुरःसरः ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! मणिपुर-नरेश बभ्रुवाहन ने जब सुना कि मेरे पिता आये हैं, तब वह ब्राह्मणों को आगे करके तथा बहुत-सा धन साथ में लेकर बड़ी विनय के साथ उनके दर्शन के लिए नगर से बाहर निकला।

मणिपूरेश्वरं त्वेवमुपयातं धनञ्जयः ।
नाभ्यनन्दत् स मेधावी क्षत्रधर्ममनुस्मरन् ॥२॥

मणिपुर-नरेश को इस प्रकार आया देख परम बुद्धिमान् धनञ्जय ने क्षत्रियधर्म का आश्रय लेकर उसका आदर नहीं किया।

उवाच स च धर्मात्मा समन्युः फाल्गुनस्तदा ।
प्रक्रियेयं न ते युक्ता बहिस्त्वं क्षत्रधर्मतः ॥३॥

उस समय धर्मात्मा अर्जुन कुछ कुपित होकर बोले—"पुत्र ! तेरा यह ढंग ठीक नहीं है। प्रतीत होता है, तू क्षत्रियधर्म से बहिष्कृत हो गया है।

धिक् त्वामस्तु सुदुर्बुद्धिं क्षत्रधर्मबहिष्कृतम् ।
यो मां युद्धाय सम्प्राप्तं साम्नैव प्रत्यगृह्णथाः ॥४॥

"तुझ दुर्बुद्धि को धिक्कार है ! तू निश्चय ही क्षत्रियधर्म से च्युत हो गया है, क्योंकि युद्ध के लिए आये हुए मेरा स्वागत-सत्कार तू सामनीति से कर रहा है।

यद्यहं न्यस्तशस्त्रस्त्वामागच्छेयं सुदुर्मते ।
प्रक्रियेयं भवेद् युक्ता तावत् तव नराधम ॥५॥

"दुर्बुद्धे ! नराधम ! यदि मैं हथियार रखकर खाली हाथ तेरे पास आता तो तेरा इस प्रकार मिलना ठीक हो सकता था।"

तमेवमुक्तं भर्त्रा तु विदित्वा पन्नगात्मजा ।
उलूपी प्राह वचनं धर्म्यं धर्मविशारदम् ॥६॥

पतिदेव अर्जुन जब अपने पुत्र बभ्रुवाहन से ऐसी बात कह रहे थे, उस समय नागकन्या उलूपी धर्मनिपुण बभ्रुवाहन से यह धर्मयुक्त वचन बोली—

युध्यस्वैनं कुरुश्रेष्ठं पितरं युद्धदुर्मदम् ।
एवमेष हि ते प्रीतो भविष्यति न संशयः ॥७॥

"तुम्हारे पिता कुरुकुल के श्रेष्ठ वीर और युद्ध के मद से उन्मत्त रहनेवाले हैं, अतः इनके साथ अवश्य युद्ध करो। ऐसा करने से ये तुमपर प्रसन्न होंगे, इसमें संशय नहीं है।"

एवं दुर्मर्षितो राजा स मात्रा बभ्रुवाहनः ।
मनश्चक्रे महातेजा युद्धाय भरतर्षभ ॥८॥

भरतभूषण ! माता के द्वारा इस प्रकार अमर्ष दिलाये जाने पर महातेजस्वी बभ्रुवाहन ने मन-ही-मन युद्ध करने का निश्चय किया।

संनह्य काञ्चनं वर्म शिरस्त्राणं च भानुमत् ।
तूणीरशतसम्बाधमारुरोह रथोत्तमम् ॥९॥

सुवर्णमय कवच पहनकर और तेजस्वी शिरस्त्राण [टोप] धारण करके वह सैकड़ों तरकसों से भरे हुए उत्तम रथ पर आरूढ़ हुआ।

ततोऽभ्येत्य हयं वीरो यज्ञियं पार्थरक्षितम् ।
ग्राहयामास पुरुषैर्हयशिक्षाविशारदैः ॥१०॥

तत्पश्चात् अर्जुन द्वारा सुरक्षित उस यज्ञसम्बन्धी घोड़े के पास पहुँचकर उस वीर ने अश्वविद्याविशारद पुरुषों द्वारा उसे पकड़वा लिया।

गृहीतं वाजिनं दृष्ट्वा प्रीतात्मा स धनञ्जयः ।
पुत्रं रथस्थं भूमिष्ठः संन्यवारयदाहवे ॥११॥

घोड़े को पकड़ा गया देख अर्जुन मन-ही-मन अत्यन्त प्रसन्न हुए। यद्यपि वे भूमि पर खड़े थे, तो भी वे रथ पर बैठे हुए अपने पुत्र को युद्धभूमि में आगे बढ़ने से रोकने लगे।

स तत्र राजा तं वीरं शरसंघैरनेकशः ।
अर्दयामास निशितैर्बाणैराशीविषोपमैः ॥१२॥

राजा बभ्रुवाहन ने वहाँ अपने वीर पिता को विषैले साँपों के समान विषैले और तीक्ष्ण किये हुए सैकड़ों वाणसमूहों द्वारा बींधकर अनेक बार पीड़ित किया।

सम्प्रीयमाणः पार्थानामृषभः पुत्रविक्रमात् ।
नात्यर्थं पीडयामास पुत्रं वज्रधरात्मजः ॥१३॥

कुन्तीपुत्रों में श्रेष्ठ इन्द्रकुमार अर्जुन अपने पुत्र के पराक्रम से प्रसन्न थे, अतः वे उसे अधिक पीड़ा नहीं देते थे।

स मन्यमानो विमुखं पितरं बभ्रुवाहनः ।
शरैराशीविषाकारैः पुनरेवार्दयद् बली ॥१४॥

महाबली बभ्रुवाहन पिता को युद्ध से विरत मानकर विषधर सर्पों के समान विषैले बाणों के द्वारा उन्हें पुनः पीड़ा देने लगा।

ततः स बाल्यात् पितरं विव्याध हृदि पत्रिणा ।
निशितेन सुपुङ्खेन बलवद् बभ्रुवाहनः ॥१५॥

फिर उसने बालोचित अविवेक के कारण परिणाम पर विचार किये बिना ही सुन्दर पाँखवाले एक तीखे बाण से पिता की छाती में एक गहरा आघात किया।

स तेनातिभृशं विद्धः पुत्रेण कुरुनन्दनः ।
महीं जगाम मोहार्तस्ततो राजन् धनञ्जयः ॥१६॥

राजन् ! पुत्र द्वारा चलाये हुए उस बाण से अत्यन्त घायल होकर कुरुनन्दन अर्जुन मूर्च्छित हो पृथिवी पर गिर पड़े ।

तस्मिन् निपतिते वीरे कौरवाणां धुरन्धरे ।
सोऽपि मोहं जगामाथ ततश्चित्राङ्गदासुतः ॥१७॥

कौरव-धुरंधर वीर अर्जुन के धराशायी होने पर चित्राङ्गदाकुमार बभ्रुवाहन भी मूर्च्छित हो गया ।

भर्तारं निहतं दृष्ट्वा पुत्रं च पतितं भुवि ।
चित्राङ्गदा परित्रस्ता प्रविवेश रणाजिरे ॥१८॥

पतिदेव मारे गये और पुत्र भी संज्ञाशून्य होकर पृथिवी पर पड़ा है। यह देख चित्राङ्गदा ने संतप्त हृदय से समराङ्गण में प्रवेश किया ।

ततो बहुतरं भीरुर्विलप्य कमलेक्षणा ।
उलूपीं पन्नगसुतां दृष्ट्वेदं वाक्यमब्रवीत् ॥१९॥

जनमेजय ! युद्धभूमि में प्रविष्ट होकर भीरु स्वभाववाली कमलनयनी चित्राङ्गदा ने बहुत विलाप किया, फिर नागकन्या उलूपी को सामने खड़ी देख उससे बोली—

उलूपी पश्य भर्तारं शयानं निहतं रणे ।
त्वत्कृते मम पुत्रेण बाणेन समितिंजयम् ॥२०॥

"उलूपी ! देखो, हम दोनों के स्वामी मारे जाकर युद्धभूमि में सो रहे हैं । तुम्हारी प्रेरणा से ही मेरे बेटे ने संग्रामविजयी अर्जुन का वध किया है ।

ननु त्वमार्यधर्मज्ञा ननु चासि पतिव्रता ।
यत्त्वत्कृतेऽयं पतितः पतिस्ते निहतो रणे ॥२१॥

"बहिन ! तुम तो आर्यधर्म को जाननेवाली और पतिव्रता हो, तथापि तुम्हारी ही करतूत से ये तुम्हारे पति इस समय युद्धभूमि में मरे पड़े हैं ।

किन्तु सर्वापराधोऽयं यदि तेऽद्य धनञ्जयः ।
क्षमस्व याच्यमाना वै जीवयस्व धनञ्जयम् ॥२२॥

"परन्तु यदि ये अर्जुन सर्वथा तुम्हारे अपराधी हों, तो भी आज क्षमा कर दो । मैं तुमसे इनके प्राणों की भीख माँगती हूँ । तुम धनञ्जय को जीवित कर दो ।

नाहं शोचामि तनयं हतं पन्नगनन्दिनि ।
पतिमेव तु शोचामि यस्यातिथ्यमिदं कृतम् ॥२३॥

"नागकुमारी ! मेरा पुत्र भी मरा पड़ा है, फिर भी मैं उसके लिए शोक नहीं करती । मुझे केवल पति के लिए शोक हो रहा है, जिनका मेरे यहाँ इस प्रकार आतिथ्य [अतिथिसत्कार] किया गया है ।

पुत्रेण घातयित्वैनं पतिं यदि न मेऽद्य वै ।
जीवन्तं दर्शयस्यद्य परित्यक्ष्यामि जीवितम् ॥२४॥

"तुम्हीं ने बेटे को लड़ाकर उसके द्वारा इन पतिदेव की हत्या करवायी है । यह सब करके यदि आज तुम पुनः इन्हें जीवित करके न दिखा दोगी तो मैं भी अपने प्राण त्याग दूंगी ।"

इत्युक्त्वा पन्नगसुतां सपत्नी चैत्रवाहनी ।
ततः प्रायमुपासीना तूष्णीमासीज्जनाधिप ॥२५॥

नरेश्वर ! नागकन्या से ऐसा कहकर उसकी सौत चित्रवाहनकुमारी चित्राङ्गदा आमरण उपवास का संकल्प लेकर चुपचाप बैठ गई ।

ततः संज्ञां पुनर्लब्ध्वा स राजा बभ्रुवाहनः ।
मातरं तामथालोक्य रणभूमावथाब्रवीत् ॥२६॥

उधर थोड़ी देर पश्चात् राजा बभ्रुवाहन को चेत हुआ । वह अपनी माता को युद्धभूमि में बैठी देख इस प्रकार विलाप करने लगा—

इतो दुःखतरं किं नु यन्मे माता सुखैधिता ।
भूमौ निपतितं वीरमनुशेते मृतं पतिम् ॥२७॥

"हाय ! जो अबतक सुखों में पली थी, वही मेरी माता चित्राङ्गदा आज मृत्यु के अधीन होकर पृथिवी पर पड़े हुए अपने वीर पति के साथ मरने का निश्चय करके बैठी हुई है । इससे बढ़कर दुःख की बात और क्या हो सकती है ?

हा हा धिक् कुरुवीरस्य संनाहं काञ्चनं भुवि ।
अपविद्धं हतस्येह मया पुत्रेण पश्यतः ॥२८॥

"हाय ! हाय ! मुझे धिक्कार है । लोगो ! देख लो, मुझ पुत्र के द्वारा मारे गये कुरुवीर अर्जुन का सुनहरा कवच यहाँ पृथिवी पर लुढ़क रहा है ।

भो भो पश्य मे वीरं पितरं ब्राह्मणा भुवि ।
शयानं वीरशयने मया पुत्रेण पातितम् ॥२९॥

"ब्राह्मणो ! देखो, मुझ पुत्र के द्वारा मार गिराये गये मेरे वीर पिता अर्जुन वीरशय्या पर सो रहे हैं ।

शृण्वन्तु सर्वभूतानि स्थावराणि चराणि च ।
त्वं च मातर्यथा सत्यं ब्रवीमि भुजगोत्तमे ।।३०।।

"संसार के समस्त चराचर प्राणियो ! आप मेरी बात सुनें । नागराजकुमारी माता उलूपी ! तुम भी सुन लो । मैं सत्य कहता हूँ—

यदि नोत्तिष्ठति जयः पिता मे नरसत्तमः ।
अस्मिन्नेव रणोद्देशे शोषयिष्ये कलेवरम् ।।३१।।

"यदि मेरे पिता नरश्रेष्ठ अर्जुन आज जीवित हो पुनः उठकर खड़े नहीं हो जाते तो मैं इस रणभूमि में ही उपवास करके अपने शरीर को सुखा डालूंगा ।

एष एको महातेजाः पाण्डुपुत्रो धनञ्जयः ।
पिता च मम धर्मात्मा तस्य मे निष्कृतिः कुतः ।।३२।।

"ये पाण्डुपुत्र धनञ्जय अद्वितीय वीर, महान् तेजस्वी, धर्मात्मा तथा मेरे पिता थे । इनका वध करके मैंने महान् पाप किया है । अब मेरा उद्धार कैसे हो सकता है ?"

इत्येवमुक्त्वा नृपते धनञ्जयसुतो नृपः ।
उपस्पृश्याभवत् तूष्णीं प्रायोपेतो महामतिः ।।३३।।

राजन् ! ऐसा कहकर धनञ्जयपुत्र महामति राजा बभ्रुवाहन पुनः आचमन करके आमरण अनशन का व्रत लेकर चुपचाप बैठ गया ।

वैशम्पायन उवाच

प्रायोपविष्टे नृपतौ मणिपूरेश्वरे यदा ।
उलूपी चिन्तयामास तदा संजीवनं मणिम् ।।३४।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! मणिपुरनरेश बभ्रुवाहन जब आमरण अनशन का व्रत लेकर बैठ गया, तब उसकी माता उलूपी ने संजीवन मणि का स्मरण किया ।

तं गृहीत्वा तु कौरव्य नागराजपतेः सुता ।
मनः प्रह्लादनीं वाचं सैनिकानामथाब्रवीत् ।।३५।।

कुरुनन्दन ! उस मणि को लेकर नागराजकुमारी उलूपी सैनिकों के मन को आनन्द प्रदान करनेवाले वचन बोली—

उत्तिष्ठ मा शुचः पुत्र नैव जिष्णुस्त्वया जितः ।
अजेयः पुरुषैरेष तथा देवैः सवासवैः ।।३६।।

"पुत्र बभ्रुवाहन ! उठो, शोक मत करो । ये अर्जुन तुम्हारे द्वारा परास्त नहीं हुए हैं । ये तो सभी मनुष्यों और इन्द्रसहित समस्त देवताओं के लिए भी अजेय हैं ।

मया तु मोहनी नाम मायैषा सम्प्रदर्शिता ।
प्रियार्थं पुरुषेन्द्रस्य पितुस्तेऽद्य यशस्विनः ।।३७।।

"यह तो मैंने आज तुम्हारे यशस्वी पिता पुरुषश्रेष्ठ धनञ्जय का प्रिय करने के लिए मोहिनी माया का प्रदर्शन किया था ।

जिज्ञासुर्ह्येष पुत्रस्य बलस्य तव कौरवः ।
संग्रामे युद्धयतो राजन्नागतः परवीरहा ।।३८।।
तस्मादसि मया पुत्र युद्धाय परिनोदितः ।
मा पापमात्मनः पुत्र शङ्केथा ह्यण्वपि प्रभो ।।३९।।

"राजन् ! तुम इनके पुत्र हो । शत्रुवीरों का संहार करनेवाले ये कुरुकुलभूषण अर्जुन युद्ध में जूझते हुए तुम-जैसे पुत्र का बल-पराक्रम जानना चाहते थे । वत्स ! इसीलिए मैंने तुम्हें युद्ध के लिए प्रेरित किया था । शक्तिशाली पुत्र ! तुम अपने मन में लेशमात्र भी पाप की आशंका मत करो ।

अयं तु मे मणिर्दिव्यः समानीतो विशाम्पते ।
एनमस्योरसि त्वं च स्थापयस्व पितुः प्रभो ।
संजीवितं तदा पार्थं स त्वं द्रष्टासि पाण्डवम् ।।४०।।

"प्रजेश्वर ! मैं यह दिव्यमणि ले आई हूँ । प्रभो ! तुम इसे लेकर अपने पिता के वक्षःस्थल [छाती] पर रख दो । फिर तुम पाण्डुपुत्र कुन्तीकुमार अर्जुन को जीवित हुआ देखोगे ।"

इत्युक्तः स्थापयामास तस्योरसि मणिं तदा ।
पार्थस्यामिततेजाः स पितुः स्नेहादपापकृत् ।।४१।।

उलूपी के ऐसा कहने पर निष्पाप कर्म करनेवाले अमिततेजस्वी बभ्रुवाहन ने वह मणि स्नेहपूर्वक अपने पिता पार्थ की छाती पर रख दी ।

तस्मिन्न्यस्ते मणौ वीरो जिष्णुरुज्जीवितः प्रभुः ।
चिरसुप्त इवोत्तस्थौ मृष्टलोहितलोचनः ।।४२।।

उस मणि के रखते ही सामर्थ्यशाली वीर अर्जुन देर तक सोकर उठे हुए मनुष्य की भाँति अपनी लाल आँखें मलते हुए जीवित हो उठे ।

तमुत्थितं महात्मानं लब्धसंज्ञं मनस्विनम् ।
समीक्ष्य पितरं स्वस्थं ववन्दे बभ्रुवाहनः ।।४३।।

अपने मनस्वी पिता महात्मा अर्जुन को सचेत

और स्वस्थ होकर उठा हुआ देख बभ्रुवाहन ने उनकी चरणवन्दना की ।

उत्थाय च महाबाहुः पर्याश्वस्तो धनञ्जयः ।
बभ्रुवाहनमालिङ्ग्य समाजिघ्रत मूर्धनि ।।४४।।

महाबाहु अर्जुन भली-भांति स्वस्थ होकर उठे तथा बभ्रुवाहन को हृदय से लगाकर उसका मस्तक सूंघने लगे ।

तमुवाच तदा पुत्रं मणिपूरपतिं जयः ।
युधिष्ठिरस्याश्वमेधः परिचैत्रीं भविष्यति ।
तत्रागच्छेः सहामात्यो मातृभ्यां सहितो नृप ।।४५।।

तत्पश्चात् वे अपने पुत्र मणिपुरनरेश बभ्रुवाहन से बोले—"नरेश्वर ! आगामी चैत्रमास की पूर्णिमा को महाराज युधिष्ठिर के अश्वमेध यज्ञ का आरम्भ होगा। उसमें तुम अपनी दोनों माताओं और मन्त्रियों के साथ अवश्य आना ।

इत्येवमुक्तः पार्थेन स राजा बभ्रुवाहनः ।
उवाच पितरं धीमानिदमस्राविलेक्षणः ।।४६।।

अर्जुन के ऐसा कहने पर बुद्धिमान् राजा बभ्रुवाहन ने नेत्रों में आंसू भरकर पिता से इस प्रकार कहा—

उपयास्यामि धर्मज्ञ भवतः शासनादहम् ।
अश्वमेधे महायज्ञे द्विजातिपरिवेषकः ।।४७।।

"धर्मज्ञ ! आपकी आज्ञा से मैं अश्वमेध महायज्ञ में अवश्य उपस्थित होऊँगा तथा ब्राह्मणों को भोजन परोसने का कार्य करूँगा ।

स तु वाजी समुद्रान्तां पर्येत्य वसुधामिमाम् ।
निवृत्तोऽभिमुखो राजन् येन वारणसाह्वयम् ।।४८।।

राजन् ! इसके पश्चात् वह घोड़ा समुद्रपर्यन्त सम्पूर्ण पृथिवी की प्रदक्षिणा करके उस दिशा की ओर मुंह करके लौटा, जिधर हस्तिनापुर था ।

इति महाभारते आश्वमेधिकपर्वणि नवमोऽध्यायः ।।९।।

दशमोऽध्यायः

यज्ञभूमि की तैयारी, भिन्न-भिन्न देशों के राजाओं का आगमन, अश्वमेधयज्ञ का आरम्भ, युधिष्ठिर का ब्राह्मणों को दक्षिणा देना और राजाओं को भेंट देकर विदा करना

वैशम्पायन उवाच

तं निवृत्तं तु शुश्राव चारेणैव युधिष्ठिरः ।
श्रुत्वार्जुनं कुशलिनं स च हृष्टमनाऽभवत् ।।१।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब राजा युधिष्ठिर को एक जासूस के द्वारा यह समाचार मिला कि घोड़ा हस्तिनापुर की ओर लौट रहा है तथा अर्जुन भी सकुशल आ रहे हैं तब यह सब सुनकर उनके मन में आनन्द की लहर दौड़ गई ।

एतस्मिन्नेव काले तु द्वादशीं माघमासिकीम् ।
समानीय महातेजाः सर्वान् भ्रातॄन् महीपतिः ।
प्रोवाचेदं वचः काले भीमं प्रहरतां वरम् ।।२।।

राजन् ! उस दिन माघ की शुक्लपक्ष की द्वादशी तिथि थी। उस समय महातेजस्वी युधिष्ठिर ने अपने समस्त भाइयों को बुलाया और प्रहार करनेवालों में श्रेष्ठ भीमसेन को सम्बोधित करके यह समयोचित बात कही—

आयाति भीमसेनासौ सहाश्वेन तवानुजः ।
यथा मे पुरुषाः प्राहुर्ये धनञ्जयसारिणः ।।३।।

"भीमसेन ! तुम्हारे छोटे भाई अर्जुन घोड़े के साथ आ रहे हैं, जैसा कि उनका समाचार लाने के लिए गये चरों [जासूसों] ने मुझे बताया है ।

उपस्थितश्च कालोऽयमभितो वर्तते हयः ।
माघी च पौर्णमासीयं मासः शेषो वृकोदर ।।४।।

"वृकोदर ! इधर यज्ञ आरम्भ होने का समय भी निकट आ गया है। घोड़ा भी समीप ही है। यह माघ मास की पूर्णिमा आ रही है, अब केवल फाल्गुन का एक मास शेष रह गया है ।

प्रस्थाप्यन्तां हि विद्वांसो ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
वाजिमेधार्थसिद्ध्यर्थं देशं पश्यन्तु यज्ञियम् ।।५।।

"अतः वेद के पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मणों को भेजना चाहिए जिससे वे अश्वमेधयज्ञ की सिद्धि के लिए उपयुक्त स्थान देखें [चुनें] ।"

इत्युक्तः स तु तच्चक्रे भीमो नृपतिशासनम् ।
हृष्टः श्रुत्वा गुडाकेशमायान्तं पुरुषर्षभम् ॥६॥

ऐसी आज्ञा पाकर भीमसेन ने उस राजाज्ञा का तुरन्त पालन किया। वे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन का आगमन सुनकर अत्यन्त प्रसन्न थे।

ततो ययौ भीमसेनः प्राज्ञैः स्थपतिभिः सह ।
ब्राह्मणानग्रतः कृत्वा कुशलान् यज्ञकर्मणि ॥७॥

तत्पश्चात् भीमसेन यज्ञकर्म में कुशल ब्राह्मणों को आगे करके शिल्पकर्म के विशेषज्ञ [जानकार] कारीगरों के साथ नगर से बाहर गये।

तं सशालचयं श्रीमत् सप्रतोलीसुघट्टितम् ।
मापयामास कौरव्यो यज्ञवाटं यथाविधि ॥८॥

उन्होंने शालवृक्षों से भरे हुए एक सुन्दर स्थान को पसन्द करके उसे चारों ओर से नपवाया। तदनन्तर कुरुनन्दन भीम ने वहाँ उत्तम मार्गों से सुशोभित यज्ञभूमि का विधिपूर्वक निर्माण कराया।

प्रासादशतसम्बाधं मणिप्रवरकुट्टिकम् ।
कारयामास विधिवद्धेमरत्नविभूषितम् ॥९॥

उस भूमि में सैकड़ों महल बनवाये गये, जिनके फर्शों में उत्तम कोटि के रत्न जड़े हुए थे। वह यज्ञशाला सोने और रत्नों से सजाई गई थी तथा उसका निर्माण शास्त्रीय विधि के अनुसार कराया गया था।

स्तम्भान् कनकचित्रांश्च तोरणानि बृहन्ति च ।
यज्ञायतनदेशेषु दत्त्वा शुद्धं च काञ्चनम् ॥१०॥
अन्तःपुराणां राज्ञां च नानादेशसमीयुषाम् ।
कारयामास धर्मात्मा तत्र तत्र यथाविधि ॥११॥
ब्राह्मणानां च वेश्मानि नानादेशसमीयुषाम् ।
कारयामास कौन्तेयो विधिवत्तान्यनेकशः ॥१२॥

वहाँ सुवर्णमय विचित्र खम्भे और बड़े-बड़े तोरण [फाटक] बने हुए थे। धर्मात्मा भीम ने यज्ञमण्डप के सभी स्थानों में शुद्ध सुवर्ण का उपयोग किया था। उन्होंने अन्तःपुर की स्त्रियों, विभिन्न देशों से आनेवाले राजाओं और भिन्न-भिन्न स्थानों से आनेवाले ब्राह्मणों के रहने के लिए भी अनेकानेक उत्तम भवनों का निर्माण कराया। उन सबका निर्माण कुन्तीनन्दन भीम ने शिल्पशास्त्र की विधि के अनुसार कराया था।

तथा सम्प्रेषयामास दूतान् नृपतिशासनात् ।
भीमसेनो महाबाहो राज्ञामक्लिष्टकर्मणाम् ॥१३॥

महाबाहो ! इन सब कार्यों के सम्पन्न हो जाने पर भीमसेन ने महाराज युधिष्ठिर की आज्ञा से अनायास ही महान् पराक्रम कर दिखानेवाले विभिन्न राजाओं को निमन्त्रण देने के लिए बहुत-से दूत भेजे।

ते प्रियार्थं कुरुपतेराययुर्नृपसत्तम ।
रत्नान्यनेकान्यादाय स्त्रियोऽश्वानायुधानि च ॥१४॥

नृपश्रेष्ठ ! निमन्त्रण प्राप्त करके वे सभी नरेश कुरुराज युधिष्ठिर का प्रिय करने के लिए अनेक प्रकार के रत्न, परिचारिकाएँ, घोड़े तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के अस्त्र-शस्त्र लेकर वहाँ उपस्थित हुए।

तेषामभ्यागतानां च स राजा कुरुवर्धनः ।
व्यादिदेशान्नपानानि शय्याश्चाप्यतिमानुषाः ॥१५॥

कुरुकुल की वृद्धि करनेवाले राजा युधिष्ठिर ने इन नवागत अतिथियों का सत्कार करने के लिए अन्न, पेय पदार्थ और अलौकिक शय्याओं का प्रबन्ध किया।

वाहनानां च विविधाः शालाः शालीक्षुगोरसैः ।
उपेता भरतश्रेष्ठ व्यादिदेश स धर्मराट् ॥१६॥

भरतभूषण ! धर्मराज युधिष्ठिर ने उन राजाओं के वाहनों [हाथी, घोड़े आदि] के लिए भी धान, ईख और गोरस से भरे-पूरे घर प्रदान किये।

तथा तस्मिन् महायज्ञे धर्मराजस्य धीमतः ।
समाजग्मुर्मुनिगणा बहवो ब्रह्मवादिनः ॥१७॥

बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिर के उस महायज्ञ में बहुत-से वेदवेत्ता मुनिगण भी पधारे थे।

ये च द्विजातिप्रवरास्तत्रासन् पृथिवीपते ।
समाजग्मुः सशिष्यास्तान् प्रतिजग्राह कौरवः ॥१८॥

पृथिवीनाथ ! ब्राह्मणों में जो श्रेष्ठ पुरुष थे, वे सब अपने शिष्यों से घिरे हुए वहाँ आये। कुरुराज युधिष्ठिर ने उन सबको स्वागतपूर्वक अपनाया।

समागतान् वेदविदो राज्ञश्च पृथिवीश्वरान् ।
दृष्ट्वा युधिष्ठिरो राजा भीमसेनमभाषत ॥१९॥

जनमेजय ! वहाँ पधारे हुए वेदवेत्ता विद्वा और पृथिवी का शासन करनेवाले राजाओं को देखक राजा युधिष्ठिर ने भीमसेन से कहा—

उपयाता नरव्याघ्रा य एते पृथिवीश्वराः ।
एतेषां क्रियतां पूजा पूजार्हा हि नराधिपाः ॥२०॥

"भाई ! ये जो भूमण्डल का शासन करनेवाले नृपगण यहाँ पधारे हुए हैं, सभी पुरुषों में श्रेष्ठ तथा पूजा [आदर-सत्कार] के योग्य हैं, अतः तुम इनका यथोचित आदर-सत्कार करो ।"

इत्युक्तः स तथा चक्रे नरेन्द्रेण यशस्विना ।
भीमसेनो महातेजा यमाभ्यां सह पाण्डवः ॥२१॥

यशस्वी महाराज युधिष्ठिर के इस प्रकार आज्ञा प्रदान करने पर महातेजस्वी पाण्डुपुत्र भीमसेन ने नकुल और सहदेव को साथ लेकर सब राजाओं का यथोचित सत्कार किया ।

अथाभ्यगच्छद् गोविन्दो वृष्णिभिः सह धर्मजम् ।
बलदेवं पुरस्कृत्य सर्वप्राणभृतां वरः ॥२२॥
युयुधानेन सहितः प्रद्युम्नेन गदेन च ।
निशठेनाथ साम्बेन तथैव कृतवर्मणा ॥२३॥

तत्पश्चात् सब मनुष्यों में श्रेष्ठ श्रीकृष्ण बलदेवजी को आगे करके सात्यकि, प्रद्युम्न, गद, निशठ, साम्ब तथा कृतवर्मा आदि वृष्णिवंशियों के साथ युधिष्ठिर के यहाँ पधारे ।

तेषामपि परां पूजां चक्रे भीमो महारथः ।
विविशुस्ते च वेश्मानि रत्नवन्ति च सर्वशः ॥२४॥

महारथी भीम ने उन लोगों का भी विधिवत् सत्कार किया । तदनन्तर वे सब रत्नों से भरे-पूरे घरों में प्रविष्ट होकर निवास करने लगे ।

युधिष्ठिरसमीपे तु कथान्ते मधुसूदनः ।
अर्जुनं कथयामास बहुसंग्रामकर्शितम् ॥२५॥

श्रीकृष्ण युधिष्ठिर के पास बैठकर थोड़ी देर तक वार्तालाप करते रहे । बातचीत में उन्होंने बताया कि—"अर्जुन बहुत-से युद्धों में शत्रुओं का सामना करने के कारण दुर्बल हो गये हैं ।"

तेषां कथयतामेव पुरुषोऽर्जुनसंकथाः ।
उपायाद् वचनाद् दूतो विजयस्य महात्मनः ॥२६॥

उन लोगों में अर्जुन के सम्बन्ध में इस प्रकार की बातें हो ही रही थीं कि महात्मा अर्जुन का भेजा हुआ दूत वहाँ आ पहुँचा ।

सोऽभिगम्य कुरुश्रेष्ठं नमस्कृत्य च बुद्धिमान् ।
उपायातं नरव्याघ्रं फाल्गुनं प्रत्यवेदयत् ॥२७॥

वह बुद्धिमान् दूत कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिर के पास जा उन्हें नमस्कार करके बोला—"पुरुषसिंह अर्जुन निकट आ गये हैं ।"

तत् श्रुत्वा नृपतिस्तस्य हर्षबाष्पाकुलेक्षणः ।
प्रियाख्याननिमित्तं वै ददौ बहुधनं तदा ॥२८॥

यह शुभ समाचार सुनकर राजा युधिष्ठिर की आँखों में आनन्द के अश्रु छलक आये तथा यह प्रिय वृत्तान्त निवेदन करने के कारण उन्होंने उस दूत को पुरस्काररूप में बहुत-सा धन प्रदान किया ।

ततो द्वितीये दिवसे महाञ्शब्दो व्यवर्धत ।
आगच्छति नरव्याघ्रे कौरवाणां धुरन्धरे ॥२९॥

तत्पश्चात् दूसरे दिन कौरव-धुरन्धर नरव्याघ्र अर्जुन के आते समय नगर में महान् कोलाहल बढ़ गया ।

तत्र हर्षकरी वाचो नराणां शुश्रुवेऽर्जुनः ।
दिष्ट्यासि पार्थ कुशली धन्यो राजा युधिष्ठिरः ॥३०॥

वहाँ अर्जुन ने लोगों के मुख से हर्ष बढ़ानेवाली बातें इस प्रकार सुनीं—"पार्थ ! यह सौभाग्य की बात है कि तुम सकुशल लौट आये । राजा युधिष्ठिर धन्य हैं !"

कोऽन्यो हि पृथिवीं कृत्स्नां जित्वा हि युधि पार्थिवान् ।
चारयित्वा हयश्रेष्ठमुपागच्छेद्वृतेऽर्जुनात् ॥३१॥

"अर्जुन को छोड़कर दूसरा कौन ऐसा वीर पुरुष है, जो सम्पूर्ण पृथिवी को जीतकर, युद्ध में राजाओं को परास्त करके तथा अपने श्रेष्ठ अश्व को सर्वत्र घुमाकर उसके साथ सकुशल लौट आये !

नैतदन्ये करिष्यन्ति भविष्या वसुधाधिपाः ।
यत्त्वं कुरुकुलश्रेष्ठ दुष्करं कृतवानसि ॥३२॥

"कुरुकुलश्रेष्ठ ! आपने जो दुष्कर पराक्रम कर दिखाया है, उसे भविष्य में होनेवाले दूसरे भूपाल नहीं कर सकेंगे ।"

इत्येवं वदतां तेषां पुंसां कर्णसुखा गिरः ।
शृण्वन् विवेश धर्मात्मा फाल्गुनो यज्ञसंस्तरम् ॥३३॥

इस प्रकार वार्तालाप करते हुए तथा लोगों की श्रवणसुखद बातें सुनते हुए धर्मात्मा अर्जुन ने यज्ञमण्डप में प्रवेश किया ।

ततो राजा सहामात्यः कृष्णश्च यदुनन्दनः ।
धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य ते तं प्रत्युद्ययुस्तदा ॥३४॥

उस समय मन्त्रियोंसहित राजा युधिष्ठिर और यदुनन्दन श्रीकृष्ण धृतराष्ट्र को आगे करके उनके स्वागत के लिए आगे बढ़ आये थे।

सोऽभिवाद्य पितुः पादौ धर्मराजस्य धीमतः ।
भीमादींश्चापि सम्पूज्य पर्यष्वजत केशवम् ॥३५॥

अर्जुन ने पिता धृतराष्ट्र और महामति धर्मराज युधिष्ठिर के चरणों में प्रणाम करके भीमसेन आदि का भी सम्मान किया और श्रीकृष्ण को हृदय से लगाया।

तैः समेत्यार्चितस्तांश्च प्रत्यर्च्याथ यथाविधि ।
विशश्राम महाबाहुस्तीरं लब्ध्वेव पारगः ॥३६॥

उन सबने मिलकर अर्जुन का प्रभूत स्वागत-सत्कार किया। महाबाहु अर्जुन ने भी उनका विधिपूर्वक सम्मान करके उसी प्रकार विश्राम किया, जैसे समुद्र के पार जाने की इच्छावाला मनुष्य किनारे पर पहुँचकर विश्राम करता है।

एतस्मिन्नेव काले तु स राजा बभ्रुवाहनः ।
मातृभ्यां सहितो धीमान् कुरूनेव जगाम ह ॥३७॥

इसी समय बुद्धिमान् राजा बभ्रुवाहन अपनी दोनों माताओं के साथ कुरुदेश में जा पहुँचा।

तत्र वृद्धान्यथा वत्स कुरूनन्यांश्च पार्थिवान् ।
अभिवाद्य महाबाहुस्तैश्चापि प्रतिनन्दितः ॥३८॥

वहाँ पहुँचकर वह महाबाहु नरेश कुरुकुल के वृद्ध पुरुषों तथा अन्य राजाओं को विधिवत् प्रणाम करके तथा स्वयं भी उनके द्वारा सत्कृत होकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ।

प्रविवेश पितामह्याः कुन्त्या भवनमुत्तमम् ।
पितामहीमभ्यवन्दत् साम्ना परमवल्गुना ॥३९॥

तत्पश्चात् वह अपनी पितामही कुन्ती के सुन्दर महल में गया। वहाँ पहुँचकर उसने अत्यन्त मधुर वचन बोलकर अपनी दादी कुन्ती के चरणों में प्रणाम किया।

ततस्तृतीये दिवसे सत्यवत्यात्मजो मुनिः ।
युधिष्ठिरं समभ्येत्य वाग्मी वचनमब्रवीत् ॥४०॥

बभ्रुवाहन के आगमन के तीसरे दिन सत्यवतीनन्दन, प्रवचनकुशल महर्षि व्यास युधिष्ठिर के पास आकर बोले—

अद्यप्रभृति कौन्तेय यजस्व समयो हि ते ।
मुहूर्तो यज्ञियः प्राप्तः प्रेरयन्तीह याजकाः ॥४१॥

"कुन्तीनन्दन ! तुम आज से यज्ञ आरम्भ कर दो। उसका समय आ गया है। यज्ञ का शुभ मुहूर्त उपस्थित है और याजकगण तुम्हें बुला रहे हैं।

अहीनो नाम राजेन्द्र क्रतुस्तेऽयं च कल्पताम् ।
बहुत्वात्काञ्चनाख्यस्य ख्यातो बहुसुवर्णकः ॥४२॥

"हे राजेन्द्र ! तुम्हारे इस यज्ञ में किसी बात की कमी नहीं रहेगी। किसी भी अङ्ग से हीन न होने के कारण यह यज्ञ अहीन [सर्वाङ्गपूर्ण] कहलाएगा। इसमें सुवर्ण नामक द्रव्य की अधिकता रहेगी, अतः यह यज्ञ बहुसुवर्णक नाम से प्रसिद्ध होगा।

एवमत्र महाराज दक्षिणां त्रिगुणां कुरु ।
त्रित्वं व्रजतु ते राजन् ब्राह्मणा ह्यत्र कारणम् ॥४३॥

"महाराज ! यज्ञ के प्रधान कारण ब्राह्मण ही हैं, अतः तुम उन्हें तिगुनी दक्षिणा देना। ऐसा करने से तुम्हारा यह एक ही यज्ञ तीन यज्ञों के समान हो जाएगा।

पवित्रं परमं चैतत् पावनं चैतदुत्तमम् ।
यदाश्वमेधावभृथं प्राप्स्यसे कुरुनन्दन ॥४४॥

"कुरुनन्दन ! तुम्हें जो अश्वमेध यज्ञ का अवभृथ स्नान प्राप्त होगा, वह परम पवित्र, पावन तथा उत्तम है।"

इत्युक्तः स तु तेजस्वी व्यासेनामितबुद्धिना ।
दीक्षां विवेश धर्मात्मा वाजिमेधाप्तये ततः ॥४५॥

परम बुद्धिमान् व्यासजी के ऐसा कहने पर धर्मात्मा तथा तेजस्वी राजा युधिष्ठिर ने अश्वमेध यज्ञ की सिद्धि के लिए उसी दिन दीक्षा ग्रहण कर ली।

ततो यज्ञं महाबाहुर्वाजिमेधं महाक्रतुम् ।
बह्वन्नदक्षिणं राजा सर्वकामगुणान्वितम् ॥४६॥

तत्पश्चात् महाबाहु राजा युधिष्ठिर ने बहुत-से अन्न की दक्षिणा से युक्त तथा सम्पूर्ण कामना और गुणों से सम्पन्न उस अश्वमेध नामक महायज्ञ का अनुष्ठान आरम्भ कर दिया।

तत्र वेदविदो राजंश्चक्रुः कर्माणि याजकाः ।
परिक्रमन्तः सर्वज्ञा विधिवत् साधुशिक्षितम् ।।४७।।

उस यज्ञ में वेदों के ज्ञाता और सर्वज्ञ [धर्म, अर्थ, काम को जाननेवाले] याजकों ने सम्पूर्ण कर्म किये-कराये। वे सब ओर घूम-घूमकर साधु पुरुषों द्वारा उपदिष्ट कर्म का सम्पादन करते-कराते थे।

न तेषां स्खलितं किञ्चिदासीच्चाप्यकृतं तथा ।
क्रमयुक्तं च युक्तं च चक्रुस्तत्र द्विजर्षभाः ।।४८।।

उन विद्वानों द्वारा उस यज्ञ में कहीं भी कोई भूल या त्रुटि नहीं होने पाई। कोई भी कर्म न तो छूटा और न अधूरा रहा। श्रेष्ठ ब्राह्मणों ने प्रत्येक कार्य को क्रम के अनुसार उचित रीति से पूरा किया।

कृत्वा प्रवर्ग्यं धर्माख्यं यथावद् द्विजसत्तमाः ।
चक्रुस्ते विधिवद् राजंस्तथैवाभिषवं द्विजाः ।।४९।।

राजन्! वहाँ ब्राह्मणशिरोमणियों ने प्रवर्ग्य नामक धर्मानुकूल कर्म को यथोचित रीति से सम्पन्न करके विधिपूर्वक सोमाभिषव [सोमलता का रस निकालने का कार्य] किया।

अभिषूय ततो राजन् सोमं सोमपसत्तमाः ।
सवनान्यानुपूर्व्येण चक्रुः शास्त्रानुसारिणः ।।५०।।

महाराज! सोमपान करनेवालों में श्रेष्ठ और शास्त्र की आज्ञानुसार आचरण करनेवाले विद्वानों ने सोमरस निकालकर उसके द्वारा क्रमशः तीनों समय के सवनों का सम्पादन किया।

न तत्र कृपणः कश्चिन्न दरिद्रो बभूव ह ।
क्षुधितो दुःखितो वापि प्राकृतो वापि मानवः ।।५१।।

उस यज्ञ में आया हुआ कोई भी मनुष्य, चाहे वह निम्न-से-निम्न श्रेणी का क्यों न था, दीन-दरिद्र, भूखा अथवा दुखिया नहीं रह गया था।

भोजनं भोजनार्थिभ्यो दापयामास शत्रुहा ।
भीमसेनो महातेजाः सततं राजशासनात् ।।५२।।

शत्रुनाशक महातेजस्वी भीमसेन महाराज युधिष्ठिर की आज्ञा से भोजन-इच्छुकों को भोजन दिलाने के काम पर सदा डटे रहते थे।

संस्तरे कुशलाश्चापि सर्वकार्याणि याजकाः ।
दिवसे दिवसे चक्रुर्यथाशास्त्रानुदर्शनात् ।।५३।।

यज्ञ की वेदी बनाने में निपुण याजकगण प्रतिदिन शास्त्रोक्त विधि के अनुसार सब कार्यों को सम्पन्न किया करते थे।

नाषडङ्गविदत्रासीत् सदस्यस्तस्य धीमतः ।
नाव्रतो नानुपाध्यायो न च वादाविचक्षणः ।।५४।।

बुद्धिमान् राजा युधिष्ठिर के यज्ञ का कोई भी सदस्य ऐसा नहीं था, जो छहों अङ्गों [वेदाङ्गों] का विद्वान्, ब्रह्मचर्यव्रत का पालक, अध्यापनकर्म में कुशल और वादविवाद=शास्त्रार्थ में प्रवीण न हो।

संस्थाप्यैवं तस्य राज्ञस्तं यज्ञं शक्रतेजसः ।
व्यासः सशिष्यो भगवान् वर्धयामास तं नृपम् ।।५५।।

इन्द्र के समान तेजस्वी राजा युधिष्ठिर के उस यज्ञ को विधि-विधानपूर्वक समाप्त कराके शिष्यों-सहित व्यासजी ने उन्हें अभ्युदयसूचक आशीर्वाद साधुवाद दिया [बधाई दी]।

ततो युधिष्ठिरः प्रादाद् ब्राह्मणेभ्यो यथाविधि ।
कोटीसहस्रं निष्काणां व्यासाय तु वसुन्धराम् ।।५६।।

यज्ञ की समाप्ति पर युधिष्ठिर ने सब ब्राह्मणों को विधिपूर्वक एक सहस्र करोड़ [एक खर्व] सुवर्ण मुद्राएँ दक्षिणा में देकर व्यासजी को सम्पूर्ण पृथिवी दान कर दी।

प्रतिगृह्य धरां राजन् व्यासः सत्यवतीसुतः ।
अब्रवीद् भरतश्रेष्ठं धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।।५७।।

राजन्! सत्यवतीनन्दन व्यास ने उस भूमिदान को ग्रहण करके भरतश्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिर से कहा—

वसुधा भवतस्त्वेषा संन्यस्ता राजसत्तम ।
निष्क्रयो दीयतां मह्यं ब्राह्मणा हि धनार्थिनः ।।५८।।

"नृपश्रेष्ठ! तुम्हारी दी हुई इस पृथिवी को मैं पुनः तुम्हारे ही अधिकार में छोड़ता हूँ। तुम मुझे इसका मूल्य दे दो, क्योंकि ब्राह्मण धन के इच्छुक होते हैं [राज्य के नहीं]।"

युधिष्ठिरस्तु तान् विप्रान्प्रत्युवाच महामनाः ।
भ्रातृभिः सहितो धीमान् मध्ये राज्ञां महात्मनाम् ।।५९।।

तब महामनस्वी नरेशों के बीच में भाइयोंसहित बुद्धिमान् महामना युधिष्ठिर ने उन ब्राह्मणों से कहा—

अश्वमेधे महायज्ञे पृथिवी दक्षिणा स्मृता ।
अर्जुनेन जिता चेयमृत्विग्भ्यः प्रापिता मया ॥६०॥
वनं प्रवेक्ष्ये विप्राग्र्या विभजध्वं महीमिमाम् ।
चतुर्धा पृथिवीं कृत्वा चातुर्होत्रप्रमाणतः ॥६१॥
नाहमादातुमिच्छामि ब्रह्मस्वं द्विजसत्तमाः ।
इदं नित्यं मनो विप्रा भ्रातॄणां चैव मे सदा ॥६२॥

"विप्रवरो ! अश्वमेध नामक महायज्ञ में पृथिवी की दक्षिणा देने का विधान है, अतः मैंने अर्जुन द्वारा विजित यह सम्पूर्ण पृथिवी ऋत्विजों को दे दी है । अब मैं वन में चला जाऊँगा । आप लोग चातुर्होत्र यज्ञ के प्रमाणानुसार पृथिवी के चार भाग करके इसे आपस में बाँट लें । हे द्विजश्रेष्ठो ! मैं ब्राह्मणों का धन नहीं लेना चाहता । ब्राह्मणो ! मेरे भाइयों का भी सदा ऐसा ही विचार रहा है ।"

इत्युक्तवति तस्मिंस्तु भ्रातरो द्रौपदी च सा ।
एवमेतदिति प्राहुस्तदभूल्लोमहर्षणम् ॥६३॥

उनके ऐसा कहने पर भीमसेन आदि भाइयों और महारानी द्रौपदी ने एकस्वर से कहा—"हाँ, महाराज का कथन सत्य है ।" इस महान् त्याग की बात सुनकर सबके रोंगटे खड़े हो गये ।

द्वैपायनस्तथा कृष्णः पुनरेव युधिष्ठिरम् ।
प्रोवाच मध्ये विप्राणामिदं सम्पूजयन् मुनिः ॥६४॥

तब मुनिवर द्वैपायन कृष्ण ने पुनः ब्राह्मणों के मध्य में युधिष्ठिर की प्रशंसा करते हुए कहा—

दत्तैषा भवता मह्यं तां ते प्रतिददाम्यहम् ।
हिरण्यं दीयतामेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो धरास्तु ते ॥६५॥

"राजन् ! तुमने तो यह पृथिवी मुझे प्रदान कर दी । अब मैं अपनी ओर से इसे तुम्हें वापस करता हूँ । तुम इन ब्राह्मणों को सुवर्ण दे दो और यह पृथिवी तुम्हारे ही अधिकार में रहे ।"

ततोऽब्रवीद् वासुदेवो धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
यथाऽऽह भगवान् व्यासस्तथा त्वं कर्तुमर्हसि ॥६६॥

तब श्रीकृष्ण ने धर्मराज युधिष्ठिर से कहा—"धर्मराज ! भगवान् व्यास जैसा कहते हैं, वैसा ही तुम्हें करना चाहिए ।"

इत्युक्तः स कुरुश्रेष्ठः प्रीतात्मा भ्रातृभिः सह ।
कोटिकोटिकृतां प्रादाद् दक्षिणां त्रिगुणां क्रतोः ॥६७॥

यह सुनकर भाइयोंसहित कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिर अति प्रसन्न हुए और उन्होंने यज्ञ के लिए प्रत्येक ब्राह्मण को तीन-तीन करोड़ सुवर्णमुद्राओं की दक्षिणा दी ।

न करिष्यति तल्लोके कश्चिदन्यो नराधिपः ।
यत्कृतं कुरुराजेन मरुत्तस्यानुकुर्वता ॥६८॥

महाराज मरुत्त के मार्ग का अनुसरण करनेवाले राजा युधिष्ठिर ने उस समय जैसा महान् त्याग किया था, वैसा इस संसार में दूसरा कोई नहीं कर सकेगा ।

प्रतिगृह्य तु तद्रत्नं कृष्णद्वैपायनो मुनिः ।
ऋत्विग्भ्यः प्रददौ विद्वाँश्चतुर्धा व्यभजंश्च ते ॥६९॥

विद्वान् महर्षि व्यास ने वह सुवर्णराशि लेकर ब्राह्मणों को दे दी और उन्होंने चार भाग करके उसे आपस में बाँट लिया ।

यज्ञवाटे च यत्किञ्चिद्धिरण्यं सविभूषणम् ।
तोरणानि च यूपाँश्च घटान् पात्रीस्तथेष्टकाः ।
युधिष्ठिराभ्यनुज्ञाताः सर्वं तद् व्यभजन् द्विजाः ॥७०॥

यज्ञशाला में जो भी कुछ सुवर्ण अथवा सोने के आभूषण, तोरण, यूप [खम्भे], घड़े, पात्र और ईंटें थीं, उन सबको भी युधिष्ठिर की आज्ञा लेकर ब्राह्मणों ने आपस में बाँट लिया ।

अनन्तरं द्विजातिभ्यः क्षत्रिया जह्रिरे वसु ।
तथा विट्शूद्रसंघाश्च तथान्ये म्लेच्छजातयः ॥७१॥

ब्राह्मणों के लेने के पश्चात् जो धन वहाँ पड़ा रह गया था, उसे क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और म्लेच्छ जाति के लोग उठाकर ले गये ।

ततस्ते ब्राह्मणाः सर्वे मुदिता जग्मुरालयान् ।
तर्पिता वसुना तेन धर्मराजेन धीमता ॥७२॥

तत्पश्चात् सभी ब्राह्मण प्रसन्नतापूर्वक अपने-अपने घरों को चले गये । बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिर ने उन सबको उस धन के द्वारा तृप्त कर दिया था ।

स्वमंशं भगवान् व्यासः कुन्त्यै प्रादाद्धि मानतः ।
प्रददौ तस्य महतो हिरण्यस्य महाद्युतिः ॥७३॥

उस महान् सुवर्णराशि में से महातेजस्वी भगवान् व्यास ने जो अपना भाग प्राप्त किया था, उसे उन्होंने प्रत्यक्ष आदरपूर्वक कुन्ती को भेंट कर दिया ।

श्वशुरात् प्रीतिदायं तं प्राप्य सा प्रीतमानसा ।
चकार पुण्यकं तेन सुमहत् संघशः पृथा ॥७४॥

श्वसुर की ओर से प्रेमपूर्वक मिले हुए उस धन को पाकर कुन्तीदेवी मन-ही-मन अति प्रसन्न हुईं और उसके द्वारा उन्होंने बड़े-बड़े सामूहिक पुण्य कार्य किये।

गत्वा त्ववभृथं राजा महीपालैश्च संवृतः ।
अशोभत महाराज महेन्द्रस्त्रिदशैरिव ॥७५॥

यज्ञ के अन्त में अवभृथ स्नान करके भूपालों से घिरे हुए महाराज युधिष्ठिर ऐसी शोभा पा रहे थे, जैसे देवताओं से पूजित देवराज इन्द्र सुशोभित होते हैं।

राजभ्योऽपि ततः प्रादाद् रत्नानि विविधानि च ।
गजानश्वानलङ्कारान्स्त्रियो वासांसि काञ्चनम् ॥७६

तत्पश्चात् महाराज युधिष्ठिर ने यज्ञ में पधारे हुए राजाओं को भी अनेक प्रकार के रत्न, हाथी, घोड़े, आभूषण, स्त्रियाँ [—दासियाँ], वस्त्र और सुवर्ण [सुवर्ण-मुद्राएँ] भेंट कीं।

आनीय च तथा वीरं राजानं बभ्रुवाहनम् ।
प्रदाय विपुलं वित्तं गृहान् प्रास्थापयत् तदा ॥७७॥

तदनन्तर वीर राजा बभ्रुवाहन को अपने पास बुलाकर महाराज युधिष्ठिर ने उसे बहुत-सा धन देकर विदा किया।

दुःशलायाश्च तं पौत्रं बालकं भरतर्षभः ।
स्वराज्येऽथ पितुर्धीमान् स्वसुः प्रीत्या न्यवेशयत् ॥७८

भरतश्रेष्ठ ! अपनी बहिन दुःशला की प्रसन्नता के लिए बुद्धिमान् युधिष्ठिर ने उसके बालक पौत्र को पिता के राज्य पर अभिषिक्त कर दिया।

नृपतींश्चैव तान्सर्वान्सुविभक्तान्सुपूजितान् ।
प्रस्थापयामास वशी कुरुराजो युधिष्ठिरः ॥७९॥

जितेन्द्रिय कुरुराज युधिष्ठिर ने सब राजाओं को विपुल धन देकर और उनका विशेष सत्कार करके उन्हें विदा कर दिया।

गोविन्दं च महात्मानं बलदेवं महाबलम् ।
तथान्यान्वृष्णिवीरांश्च प्रद्युम्नादीन् सहस्रशः ॥८०॥
पूजयित्वा महाराज यथाविधि महाद्युतिः ।
भ्रातृभिः सहितो राजा प्रास्थापयदरिन्दमः ॥८१॥

महाराज ! तत्पश्चात् महात्मा श्रीकृष्ण, महाबली बलदेव तथा प्रद्युम्न आदि अन्यान्य सहस्रों वीरों का विधिवत् आदर-सत्कार कर भाइयोंसहित शत्रुदमन महातेजस्वी राजा युधिष्ठिर ने उन सबको विदा किया।

एवं बभूव यज्ञः स धर्मराजस्य धीमतः ।
बह्वन्नधनरत्नौघः बभूवुश्चान्नपर्वताः ॥८२॥

इस प्रकार बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिर का वह यज्ञ पूर्ण हुआ। उसमें अन्न, धन और रत्नों के ढेर लगे हुए थे। अन्न के तो मानो पहाड़ ही खड़े थे।

मत्तप्रमत्तमुदितं सुप्रीतयुवतीजनम् ।
मृदङ्गशंखनादैश्च मनोरममभूत् तदा ॥८३॥

उस यज्ञ में पधारे हुए सभी लोग मत्त-प्रमत्त और आनन्दविभोर हो रहे थे। युवतियाँ अति प्रसन्नता के साथ वहाँ विचरण करती थीं। मृदङ्गों और शंखों की ध्वनियों से उस यज्ञशाला की मनोरमता और भी बढ़ गई थी।

दीयतां भुज्यतां चेष्टं दिवारात्रमवारितम् ।
तं महोत्सवसंकाशं हृष्टपुष्टजनाकुलम् ।
कथयन्ति स्म पुरुषा नानादेशनिवासिनः ॥८४॥

'जिसकी जैसी इच्छा हो, उसको वही. वस्तु प्रदान की जाए, सबको इच्छानुसार भोजन कराया जाए'—यह घोषणा दिन-रात निरन्तर होती रहती थी—कभी बन्द नहीं होती थी। हृष्ट-पुष्ट मनुष्यों से भरे हुए उस यज्ञ-महोत्सव की चर्चा नाना देशों के निवासी मनुष्य बहुत दिनों तक करते रहे।

वर्षित्वा धनधाराभिः कामै रत्नै रसैस्तथा ।
विपाप्मा भरतश्रेष्ठः कृतार्थः प्राविशत् पुरम् ॥८५॥

भरतभूषण राजा युधिष्ठिर ने उस यज्ञ में धन की मूसलाधार वर्षा की। उन्होंने सब प्रकार की कामनाओं, रत्नों और रसों की भी वर्षा की। इस प्रकार पवित्र और कृतार्थ होकर उन्होंने अपने नगर में प्रवेश किया।

इति महाभारते आश्वमेधिकपर्वणि दशमोऽध्यायः ॥१०॥

एकादशोऽध्यायः

युधिष्ठिर के यज्ञ में एक नेवले का उञ्छवृत्तिधारी ब्राह्मण के सत्तूदान को अश्वमेधयज्ञ से भी बढ़कर बतलाना

जनमेजय उवाच

पितामहस्य मे यज्ञे धर्मराजस्य धीमतः।
यदाश्चर्यमभूत्किञ्चित्तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥१॥

जनमेजय ने पूछा—ब्रह्मन्! मेरे पितामह बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिर के यज्ञ में यदि कोई आश्चर्यजनक घटना घटी हो तो आप उसे बताने की कृपा करें।

वैशम्पायन उवाच

श्रूयतां राजशार्दूल महदाश्चर्यमुत्तमम्।
अश्वमेधे महायज्ञे निवृत्ते यदभूत् प्रभो ॥२॥

वैशम्पायनजी ने कहा—नृपश्रेष्ठ! प्रभो! युधिष्ठिर का वह महान् अश्वमेध यज्ञ जब पूर्ण हो गया, उसी समय एक अत्युत्तम परन्तु महान् आश्चर्य में डालनेवाली घटना घटित हुई, उसे बताता हूँ, सुनो!

तर्पितेषु द्विजाग्र्येषु ज्ञातिसम्बन्धिबन्धुषु।
दीनान्धकृपणे वापि तदा भरतसत्तम ॥३॥
घुष्यमाणे महादाने दिक्षु सर्वासु भारत।
पतत्सु पुष्पवर्षेषु धर्मराजस्य मूर्धनि ॥४॥
नीलाक्षस्तत्र नकुलो रुक्मपार्श्वस्तदानघ।
वज्राशनिसमं नादममुञ्चद् वसुधाधिप ॥५॥

भरतकुलभूषण! उस यज्ञ में श्रेष्ठ ब्राह्मणों, जातिवालों, सम्बन्धियों, बन्धु-बान्धवों, अन्धों और दीन-दरिद्रों के तृप्त हो जाने पर जब युधिष्ठिर के महान् दान का डंका चारों ओर पिट गया तथा धर्मराज के मस्तक पर फूलों की वर्षा होने लगी, उसी समय एक नेवला वहाँ आया। हे अनघ! भारत! उसकी आँखें नीली थीं और उसके शरीर के एक ओर का भाग सोने का था। पृथिवीनाथ! उसने आते ही एक बार वज्र के समान भयंकर गर्जना की।

सकृदुत्सृज्य तन्नादं त्रासयानो मृगद्विजान्।
मानुषं वचनं प्राह धृष्टो बिलशयो महान् ॥६॥

बिल में निवास करनेवाले उस धृष्ट और महान् नेवले ने एक बार वैसी भीषण गर्जना करके समस्त मृगों और पक्षियों को भयभीत कर दिया और फिर मनुष्य की भाषा[1] में कहा—

सक्तुप्रस्थेन वो नायं यज्ञस्तुल्यो नराधिपाः।
उञ्छवृत्तर्वदान्यस्य कुरुक्षेत्रनिवासिनः ॥७॥

"राजाओ! तुम्हारा यह यज्ञ कुरुक्षेत्र-निवासी एक उञ्छव्रतधारी[2] उदार ब्राह्मण के सेरभर [लगभग ९४० ग्राम] सत्तू दान करने के बराबर भी नहीं हुआ है।"

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा नकुलस्य विशाम्पते।
विस्मयं परमं जग्मुः सर्वे ते ब्राह्मणर्षभाः ॥८॥

प्रजानाथ! नेवले का वह कथन सुनकर समस्त श्रेष्ठ ब्राह्मणों को अत्यन्त आश्चर्य हुआ।

ततः समेत्य नकुलं पर्यपृच्छन्त ते द्विजाः।
कुतस्त्वं समनुप्राप्तो यज्ञं साधुसमागमम् ॥९॥

तब उन ब्राह्मणों ने उस नेवले के पास जाकर उसे चारों ओर से घेर लिया और उससे पूछा—"नकुल! इस यज्ञ में तो श्रेष्ठ पुरुषों का ही समागम हुआ है, तुम कहाँ से आये हो?

किं बलं परमं तुभ्यं किं श्रुतं किं परायणम्।
कथं भवन्तं विद्याम यो नो यज्ञं विगर्हसे ॥१०॥

"तुममें क्या शक्ति है? तुम्हारा शास्त्रज्ञान

---

[1] पशु-पक्षी बोलते नहीं हैं। कवि अथवा लेखक अपनी बात उनके मुख से कहलाता है। सारा 'पञ्चतन्त्र' इसी शैली में लिखा गया है। पशु-पक्षियों के माध्यम से राजनीति का उत्तम उपदेश कर दिया गया है। यहाँ भी महर्षि व्यास नेवले के मिष [बहाने] से युधिष्ठिर को एक उत्तम शिक्षा देना चाहते हैं।

[2] खेत कटकर फसल उठ जाने के पश्चात् जो दाने पड़े रह जाते हैं, उन्हें बीनकर उससे जीवन-निर्वाह करने को 'उञ्छवृत्ति' कहते हैं।

कितना है ? तुम्हारा आश्रय क्या है ? हमें तुम्हारा परिचय किस प्रकार प्राप्त होगा ? तुम कौन हो जो हमारे इस यज्ञ की निन्दा कर रहे हो ?

अविलुप्यागमं कृत्स्नं विविधैर्यज्ञियैः कृतम् ।
यथागमं यथान्यायं कर्तव्यं च तथाकृतम् ॥११॥

"हमने नाना प्रकार की यज्ञसामग्री इकट्ठी करके शास्त्रीय विधि-विधान के अनुसार, शास्त्रीय विधि की अवहेलना न करते हुए इस यज्ञ को पूर्ण किया है। इसमें शास्त्रसंगत और न्याययुक्त प्रत्येक कर्तव्य-कर्म का यथोचित पालन और अनुष्ठान किया गया है।

पूजार्हाः पूजिताश्चात्र विधिवच्छास्त्रदर्शनात् ।
मन्त्राहुतिहुतश्चाग्निर्दत्तं देयममत्सरम् ॥१२॥

"इस यज्ञ में शास्त्रीय दृष्टि से पूजनीय पुरुषों की विधिवत् पूजा की गई है—मन्त्रोच्चारणपूर्वक अग्नि में आहुति दी गई है और देने योग्य वस्तुओं का ईर्ष्यारहित होकर दान दिया गया है।

यदत्र तथ्यं तद् ब्रूहि सत्यं सत्यं द्विजातिषु ।
यथाश्रुतं यथादृष्टं पृष्टो ब्राह्मणकाम्यया ॥१३॥
श्रद्धेयवाक्यः प्राज्ञस्त्वं दिव्यं रूपं बिभर्षि च ।
समागमश्च विप्रैस्त्वं तद् भवान् वक्तुमर्हति ॥१४॥

"यह सब होने पर भी तुमने क्या देखा अथवा सुना है, जिससे तुम इसपर आक्षेप कर रहे हो ? इन ब्राह्मणों के निकट इनकी इच्छानुसार पूछे जाने पर तुम सच-सच बताओ, क्योंकि तुम्हारी बातें विश्वास के योग्य जान पड़ती हैं। तुम स्वयं भी बुद्धिमान् प्रतीत होते हो और दिव्यरूप धारण किये हुए हो। इस समय तुम्हारा ब्राह्मणों के साथ समागम हुआ है, अतः तुम्हें हमारे प्रश्न का उत्तर अवश्य देना चाहिए।"

इति पृष्ठो द्विजैस्तैः स प्रहसन् नकुलोऽब्रवीत् ।
नैषा मृषा मया वाणी प्रोक्ता दर्पेण वा द्विजाः ॥१५॥

इन ब्राह्मणों के इस प्रकार पूछने पर नेवले ने हँसकर कहा—"हे ब्राह्मणो ! मैंने आप लोगों के समक्ष न तो मिथ्या बात कही है और न घमण्ड में आकर ही कोई बात कही है।

यन्मयोक्तमिदं वाक्यं युष्माभिश्चाप्युपश्रुतम् ।
सक्तुप्रस्थेन वो नायं यज्ञस्तुल्यो द्विजर्षभाः ॥१६॥

"मैंने जो कहा है कि 'द्विजवरो ! आप लोगों का यह यज्ञ उञ्छवृत्तिधारी ब्राह्मण द्वारा किये हुए सेर-भर सत्तूदान के बराबर भी नहीं है'—इसे आपने ठीक-ठीक सुना है।

इत्यवश्यं मयैतत्तु वक्तव्यं द्विजसत्तमाः ।
शृणुताव्यग्रमनसः शंसतो मे यथातथम् ॥१७॥

"हे श्रेष्ठ ब्राह्मणो ! मैंने जो कहा है, इसका कारण अवश्य आप लोगों को बताने योग्य है। अब मैं यथार्थरूप से जो कुछ कहने लगा हूँ, उसे आप सब लोग शान्तचित्त होकर सुनें !

अनुभूतं च दृष्टं च यन्मयाद्भुतमुत्तमम् ।
उञ्छवृत्तेर्वदान्यस्य कुरुक्षेत्रनिवासिनः ॥१८॥

"कुरुक्षेत्र-निवासी उञ्छवृत्तिवाले दानी ब्राह्मण के विषय में मैंने जो कुछ देखा और अनुभव किया है, वह अत्युत्तम और अद्भुत है।

स्वर्गं येन द्विजाः प्राप्तः सभार्यः ससुतस्नुषः ।
यथा चार्धं शरीरस्य ममेदं काञ्चनीकृतम् ॥१९॥

"ब्राह्मणो ! उस दान के प्रभाव से पत्नी, पुत्र और पुत्रवधूसहित उस द्विजश्रेष्ठ ने स्वर्गलोक पर अधिकार पा लिया तथा वहाँ जिस प्रकार उन्होंने मेरा यह आधा शरीर सुवर्णमय कर दिया, वह सब कथा सुनाता हूँ।"

नकुल उवाच

हन्त वो वर्तयिष्यामि दानस्य फलमुत्तमम् ।
न्यायलब्धस्य सूक्ष्मस्य विप्रदत्तस्य यद् द्विजाः ॥२०॥

नकुल बोला—ब्राह्मणो ! कुरुक्षेत्रनिवासी द्विज के द्वारा दिये गये न्यायोपार्जित थोड़े-से अन्न के दान से जो उत्तम फल देखने में आया है, उसे मैं आप लोगों को बताता हूँ।

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे धर्मज्ञैर्बहुभिर्वृते ।
उञ्छवृत्तिर्द्विजः कश्चित् कापोतिरभवत्तदा ॥२१॥

कुछ समय पहले की बात है, धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में, जहाँ बहुत-से धर्मशील महात्मा रहते हैं, कोई ब्राह्मण रहते थे। वे उञ्छवृत्ति से अपना जीवन-निर्वाह करते थे। कबूतर के समान अन्न के दाने चुनकर लाते और उसी से कुटुम्ब का पालन करते थे।

सभार्यः सह पुत्रेण सस्नुषस्तपसि स्थितः ।
बभूव शुक्लवृत्तः स धर्मात्मा नियतेन्द्रियः ॥२२॥

वे अपनी स्त्री, पुत्र और पुत्रवधू के साथ रहकर तपस्या में संलग्न रहते थे । वे ब्राह्मणदेवता शुद्ध आचार-विचार से रहनेवाले, धर्मात्मा और जितेन्द्रिय थे ।

षष्ठे काले सदा विप्रो भुङ्क्ते तैः सह सुव्रतः ।
षष्ठे काले कदाचित्तु तस्याहारो न विद्यते ॥२३॥
भुङ्क्तेऽन्यस्मिन्कदाचित्स षष्ठे काले द्विजोत्तमः ।

वे उत्तम व्रतधारी द्विज सदा छठे काल में अर्थात् तीन-तीन दिन पर ही स्त्री-पुत्र आदि के साथ भोजन किया करते थे । यदि कभी उस दिन उस समय भोजन न मिला तो दूसरा छठा काल आने पर ही वे द्विजश्रेष्ठ अन्न ग्रहण करते थे ।

कदाचिद् धर्मिणस्तस्य दुर्भिक्षे सति दारुणे ॥२४॥
नाविद्यत तदा विप्राः सञ्चयस्तन्निबोधत ।
क्षीणोषधिसमावेशे द्रव्यहीनोऽभवत्तदा ॥२५॥

ब्राह्मणो ! सुनो, एक समय उस प्रदेश में बड़ा भयंकर अकाल पड़ा । उस धर्मात्मा ब्राह्मण के पास अन्न का संग्रह तो था नहीं, दुर्भिक्ष के कारण खेतों का अन्न भी सूख गया था, अतः वे सर्वथा निर्धन हो गये थे ।

काले कालेऽस्य सम्प्राप्ते नैव विद्येत भोजनम् ।
क्षुधापरिगताः सर्वे प्रातिष्ठन्त तदा तु ते ।
उञ्छं तदा शुक्लपक्षे मध्यं तपति भास्करे ॥२६॥

बारम्बार छठा काल आता, परन्तु उन्हें भोजन नहीं मिलता था, अतः वे सब-के-सब भूखे ही रह जाते थे । एक दिन ज्येष्ठ मास के शुक्लपक्ष की दोपहरी में उस परिवार के सभी सदस्य उञ्छ लाने के लिए चले ।

उष्णार्तश्च क्षुधार्तश्च विप्रस्तपसि संस्थितः ।
उञ्छमसंप्राप्तवानेव ब्राह्मणः क्षुच्छ्रमान्वितः ॥२७॥
स तथैव क्षुधाविष्टः सार्धं परिजनेन ह ।
क्षपयामास तं कालं कृच्छ्रप्राणो द्विजोत्तमः ॥२८॥

तपस्या में लगे हुए वे ब्राह्मणदेवता गर्मी और भूख दोनों से कष्ट पा रहे थे । भूख और परिश्रम से पीड़ित होने पर भी वे उञ्छ न पा सके । उन्हें अन्न का एक दाना भी नहीं मिला, अतः परिवार के सभी सदस्यों के साथ उसी प्रकार भूख से पीड़ित रहकर ही उन्होंने वह समय काटा । वे श्रेष्ठ ब्राह्मण बड़े कष्ट से अपने प्राणों की रक्षा करते थे ।

अथ षष्ठे गते काले यवप्रस्थमुपार्जयत् ।
यवप्रस्थं तु तं सक्तूनकुर्वन्त तपस्विनः ॥२९॥
कृतजप्याह्निकास्ते तु हुत्वा चाग्निं यथाविधि ।
कुडवं कुडवं सर्वे व्यभजन्त तपस्विनः ॥३०॥

तत्पश्चात् एक दिन पुनः छठा काल आने तक उन्होंने सेरभर जौ का उपार्जन किया । उन तपस्वी ब्राह्मणों ने उस जौ का सत्तू तैयार किया और जप एवं नैत्यिक नियम पूर्ण करके अग्नि में विधिपूर्वक आहुति देने के पश्चात् वे सब लोग एक-एक पाव सत्तू बाँटकर खाने के लिए तैयार हुए ।

अथागच्छद् द्विजः कश्चिदतिथिर्भुञ्जतां तदा ।
ते तं दृष्ट्वातिथिं तत्र प्रहृष्टमनसोऽभवन् ॥३१॥
तेऽभिवाद्य सुखप्रश्नं पृष्ट्वा तमतिथिं तदा ।
कुटीं प्रवेशयामासुर्धर्मज्ञा द्विजसत्तमाः ॥३२॥

वे भोजन करने के लिए अभी बैठे ही थे कि कोई ब्राह्मण अतिथि उनके यहाँ आ पहुँचा । उस अतिथि को वहाँ आया देख वे मन-ही-मन अति प्रसन्न हुए । उस अतिथि को प्रणाम कर उन्होंने उसका कुशल-मङ्गल पूछा । हे विप्रवरो ! फिर वे धर्मज्ञ उसे कुटी में ले गये ।

इदमर्घ्यं च पाद्यं च बृसी चेयं तवानघ ।
शुचयः सक्तवश्चेमे नियमोपार्जिताः प्रभो ।
प्रतिगृह्णीष्व भद्रं ते मया दत्ता द्विजर्षभ ॥३३॥

तत्पश्चात् उञ्छवृत्तिवाले ब्राह्मण ने कहा— "भगवन् ! अनघ ! आपके लिए यह अर्घ्यं, पाद्य तथा आसन उपस्थित है और न्यायपूर्वक उपार्जित किये हुए ये परम पवित्र सत्तू आपकी सेवा में प्रस्तुत हैं । द्विजश्रेष्ठ ! मैंनें प्रसन्नतापूर्वक इन्हें आपको अर्पण किया है । आप स्वीकार करें ।"

इत्युक्तः प्रतिगृह्याथ सक्तूनां कुडवं द्विजः ।
भक्षयामास राजेन्द्र न च तुष्टिं जगाम सः ॥३४॥

हे राजेन्द्र ! ब्राह्मण के ऐसा कहने पर उस

अतिथि ने एक पाव [लगभग २४० ग्राम] सत्तू लेकर खा लिया, परन्तु इतने से वह तृप्त नहीं हुआ।

स उञ्छवृत्तिस्तं प्रेक्ष्य क्षुधापरिगतं द्विजम्।
आहारं चिन्तयामास कथं तुष्टो भवेदिति ॥३५॥

उन उञ्छवृत्तिशील द्विज ने देखा कि ब्राह्मण-अतिथि तो अभी भूखे ही रह गये हैं। तब वे उनके लिए आहार के सम्बन्ध में सोचने लगे कि यह ब्राह्मण कैसे सन्तुष्ट हो?

तस्य भार्याब्रवीद् वाक्यं मद्भागो दीयतामिति।
गच्छत्वेष यथाकामं परितुष्टो द्विजोत्तमः ॥३६॥

तब ब्राह्मण की पत्नी ने कहा—"नाथ! यह मेरा भाग इन्हें प्रदान कर दीजिए जिससे ये ब्राह्मण-देवता इच्छानुसार तृप्त होकर यहाँ से पधारें।"

इति ब्रुवन्तीं तां साध्वीं भार्यां स द्विजसत्तमः।
क्षुधापरिगतां ज्ञात्वा तान् सक्तून् नाभ्यनन्दत ॥३७॥

अपनी पतिव्रता पत्नी की यह बात सुनकर उस द्विजश्रेष्ठ ने उसे क्षुधातुर जानकर उसके दिये हुए सत्तू को लेने की इच्छा नहीं की।

आत्मानुमानतो विद्वान् स तु विप्रर्षभस्तदा।
जानन्वृद्धां क्षुधार्तां च श्रान्तां ग्लानां तपस्विनीम्।
त्वगस्थिभूतां वेपन्तीं ततो भार्यामुवाच ह ॥३८॥

उस विद्वान् विप्रवर ने अपने अनुमान से ही यह जान लिया कि यह मेरी वृद्धा पत्नी स्वयं भी क्षुधा से कष्ट पा रही है। यह थक गई है और अत्यन्त दुर्बल हो गई है। इस तपस्विनी के शरीर में चमड़े से ढकी हुई हड्डियों का ढाँचामात्र रह गया है। यह निर्बलता के कारण काँप रही है। उसकी अवस्था पर दृष्टिपात करके उन्होंने अपनी स्त्री से कहा—

अपि कीटपतङ्गानां मृगाणां चैव शोभने।
स्त्रियो रक्ष्याश्च पोष्याश्च न त्वेवं वक्तुमर्हसि ॥३९॥

"शोभने! अपनी पत्नी की रक्षा और पालन-पोषण करना तो कीट-पतङ्ग तथा पशुओं का भी कर्तव्य है, अतः तुम्हें ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए।

अनुकम्प्यो नरः पत्न्या पुष्टो रक्षित एव च।
प्रपतेद् यशसो दीप्तात्स च लोकान्न चाप्नुयात् ॥४०॥

"जो पुरुष होकर भी स्त्री के द्वारा अपना पालन-पोषण और संरक्षण करता है, ऐसा मनुष्य दया का पात्र है। वह उज्ज्वल कीर्ति से भ्रष्ट हो जाता है और उसे उत्तम लोकों की प्राप्ति नहीं होती।

न वेत्ति कर्मतो भार्यारक्षणे योऽक्षमः पुमान्।
अयशो महदाप्नोति नरकाँश्चैव गच्छति ॥४१॥

"जो पुरुष स्त्री की रक्षा करना अपना कर्तव्य नहीं मानता अथवा जो अपनी पत्नी की रक्षा करने में असमर्थ है, वह संसार में महान् अपयश का भागी होता है और परलोक [पुनर्जन्म] में जाने पर उसे नरक=दुःख में गिरना पड़ता है।"

इत्युक्ता सा ततः प्राह धर्मार्थौ नौ समौ द्विज।
सक्तुप्रस्थचतुर्भागं गृहाणेमं प्रसीद मे ॥४२॥

पति के ऐसा कहने पर ब्राह्मणी बोली—"ब्रह्मन्! हम दोनों के धर्म और अर्थ समान हैं, अतः आप मुझपर प्रसन्न हों और मेरे भाग का यह पाव-भर सत्तू लेकर अतिथि को दे दें।

सत्यं रतिश्च धर्मश्च स्वर्गश्च गुणनिर्जितः।
स्त्रीणां पतिसमाधीनं कांक्षितं च द्विजर्षभ ॥४३॥

"द्विजश्रेष्ठ! स्त्रियों का सत्य, धर्म, रति=प्रेम, अपने गुणों से मिला हुआ स्वर्ग और उनकी सारी अभिलाषा पति के ही अधीन है।

ऋतुर्मातुः पितुर्बीजं दैवतं परमं पतिः।
भर्तुः प्रसादान्नारीणां रतिपुत्रफलं तथा ॥४४॥

"माता का रज और पिता का वीर्य—इन दोनों के मिलने से ही वंश-परम्परा चलती है। स्त्री के लिए पति ही सबसे बड़ा देवता है। नारियों को जो रति और पुत्ररूप फल की प्राप्ति होती है, वह पति का ही प्रसाद है।

पालनाद्धि पतिस्त्वं मे भर्तासि भरणाच्च मे।
पुत्रप्रदानाद् वरदस्तस्माद् सक्तून् प्रयच्छ मे ॥४५॥

"आप पालन करने के कारण मेरे पति, भरण-पोषण करने से भर्ता और पुत्र प्रदान करने के कारण वरदाता हैं, अतः मेरे हिस्से का सत्तू अतिथि को दे दीजिए।

जरापरिगतो वृद्धः क्षुधार्तो दुर्बलो भृशम्।
नपवासपरिश्रान्तो यदा त्वमपि कर्शितः ॥४६॥

"आप भी तो जराजीर्ण [वृद्धावस्था के कारण

दुर्बल और क्षीण], वृद्ध, क्षुधातुर, अत्यन्त दुर्बल, उपवास से थके हुए और क्षीणकाय हो रहे हैं [अतः जिस प्रकार आप भूख का कष्ट सहन करते हैं, वैसे ही मैं भी सह लूंगी]।"

इत्युक्तः स तया सक्तून् प्रगृह्येदं वचोऽब्रवीत्।
द्विजः सक्तूनिमान् भूयः प्रतिगृह्णीष्व सत्तम ॥४७॥

पत्नी के ऐसा कहने पर ब्राह्मण ने उस सत्तू को लेकर अतिथि से कहा—"साधु पुरुषों में श्रेष्ठ ब्राह्मण ! आप यह सत्तू भी पुनः ग्रहण कीजिए।"

स तान् प्रगृह्य भुक्त्वा च न तुष्टिमगमद् द्विजः।
तमुञ्छवृत्तिरालक्ष्य ततश्चिन्तापरोऽभवत् ॥४८॥

अतिथि ब्राह्मण उस सत्तू को भी लेकर खा गया फिर भी उसकी तृप्ति नहीं हुई। यह देखकर उञ्छवृत्तिधारी ब्राह्मण बहुत चिन्तित हुआ।

पुत्र उवाच

सक्तूनिमान् प्रगृह्य त्वं देहि विप्राय सत्तम।
इत्येवं सुकृतं मन्ये तस्मादेतत्करोम्यहम् ॥४९॥

तब उसके पुत्र ने कहा—सत्पुरुषों में श्रेष्ठ पिताजी ! आप मेरे हिस्से [भाग] का यह सत्तू लेकर ब्राह्मण को दे दीजिए। मैं इसी में पुण्य समझता हूँ, इसलिए ऐसा कर रहा हूँ।

भवान् हि परिपाल्यो मे सर्वदैव प्रयत्नतः।
साधूनां कांक्षितं यस्मात्पितुर्वृद्धस्य पालनम् ॥५०॥

मुझे सदा प्रयत्नपूर्वक आपका पालन करना चाहिए, क्योंकि साधुपुरुष सदा ही इस बात की अभिलाषा रखते हैं कि वे अपने वृद्ध पिता का पालन-पोषण करें।

पुत्रार्थो विहितो ह्येष वार्धके परिपालनम्।
श्रुतिरेषा हि विप्रर्षे त्रिषु लोकेषु शाश्वती ॥५१॥

पुत्र होने का यही फल है कि वह वृद्धावस्था में पिता की रक्षा करे। ब्रह्मर्षे ! तीनों लोकों में यह सनातन श्रुति प्रसिद्ध है।

पितोवाच

अपि वर्षसहस्री त्वं बाल एव सुतो मम।
उत्पाद्य पुत्रं हि पिता कृतकृत्यो भवेत्सुतात् ॥५२॥

पिता ने कहा—पुत्र ! तुम सहस्र वर्ष के हो जाओ, तो भी हमारे लिए बालक ही हो। पिता पुत्र को जन्म देकर ही उससे अपने-आपको कृतार्थ समझता है।

बलवती क्षुद् बालानां जानाम्येतदहं प्रभो।
वृद्धोऽहं धारयिष्यामि त्वं बली भव पुत्रक ॥५३॥

शक्तिसम्पन्न बेटे ! 'बच्चों की भूख अत्यन्त प्रबल होती है'—मैं इस बात को भली-भाँति जानता हूं। मैं तो वृद्ध हूँ, भूखा रहकर भी प्राणधारण कर सकता हूँ। तुम यह सत्तू खाकर बलवान् होओ—अपने प्राणों की रक्षा करो।

जीर्णेन वयसा पुत्र न मां क्षुद् बाधतेऽपि च।
दीर्घकालं तपस्तप्तं न मे मरणतो भयम् ॥५४॥

पुत्र ! जीर्णावस्था हो जाने के कारण मुझे भूख अधिक कष्ट नहीं देती। इसके अतिरिक्त मैं दीर्घकाल तक तपस्या कर चुका हूँ, अतः अब मुझे मरने का भय नहीं है।

पुत्र उवाच

अपत्यमस्मि ते पुंसस्त्राणात्पुत्र इति स्मृतः।
आत्मा पुत्रः स्मृतस्तस्मात्त्राह्यात्मानमिहात्मना ॥५५॥

पुत्र बोला—तात ! मैं आपका पुत्र हूँ, पुरुष का त्राण करने के कारण ही सन्तान को पुत्र कहा गया है। इसके सिवा पुत्र पिता का अपना ही आत्मा माना गया है, अतः आप अपने आत्मभूत पुत्र के द्वारा अपनी रक्षा कीजिए।

पितोवाच

रूपेण सदृशस्त्वं मे शीलेन च दमेन च।
परीक्षितश्च बहुधा सक्तूनाददामि ते सुत ॥५६॥

पिता ने कहा—प्रिय पुत्र ! तुम रूप, शील [सदाचार एवं सद्भाव] और इन्द्रियसंयम के द्वारा मेरे ही समान हो। तुम्हारे इन गुणों की मैंने अनेक बार परीक्षा की है, अतः मैं तुम्हारा सत्तू ले लेता हूँ।

नकुल उवाच

इत्युक्त्वादाय तान्सक्तून्प्रीतात्मा द्विजसत्तमः।
प्रहसन्निव विप्राय स तस्मै प्रददौ तदा ॥५७॥

नेवले ने कहा—ऐसा कहकर उस श्रेष्ठ ब्राह्मण ने प्रसन्नतापूर्वक वह सत्तू ले लिया और हंसते हुए-से उस ब्राह्मण अतिथि को अर्पित कर दिया।

भुक्त्वा तानपि सक्तून् स नैव तुष्टो बभूव च ।
उञ्छवृत्तिस्तु धर्मात्मा व्रीडामनुजगाम ह ।।५८।।

वह सत्तू खाकर भी ब्राह्मणदेवता का पेट नहीं भरा। यह देखकर उञ्छव्रतधारी ब्राह्मण बड़े संकोच में पड़ गये।

तं वै वधूः स्थिता साध्वी ब्राह्मणप्रियकाम्यया ।
सक्तूनादाय संहृष्टा श्वशुरं वाक्यमब्रवीत् ।।५९।।

उनकी पुत्रवधू भी अति सुशीला थी। वह ब्राह्मण का प्रिय करने की इच्छा से उनके समीप जा बड़ी प्रसन्नता के साथ अपने उन श्वशुर से बोली—

सन्तानात्तव सन्तानं मम विप्र भविष्यति ।
सक्तूनिमानतिथये गृहीत्वा सम्प्रयच्छ मे ।।६०।।

"विप्रवर ! आपकी सन्तान से मुझे सन्तान प्राप्त होगी, अतः आप मेरे परम पूज्य हैं। आप मेरे हिस्से के इस सत्तू को लेकर इसे भी अतिथिदेव को प्रदान कर दीजिए।"

श्वशुर उवाच

वातातपविशीर्णाङ्गीं त्वां विवर्णां निरीक्ष्य वै ।
कर्शितां सुव्रताचारे क्षुधाविह्वलचेतसम् ।।६१।।
कथं सक्तून् ग्रहीष्यामि भूत्वा धर्मोपघातकः ।
कल्याणवृत्ते कल्याणि नैवं च वक्तुमर्हसि ।।६२।।

श्वशुर ने कहा—पुत्री ! लू और धूप के मारे तुम्हारा सारा शरीर सूख रहा है—शिथिल होता जा रहा है। तुम्हारी कान्ति फीकी पड़ गई है। उत्तम व्रत तथा आचार का पालन करनेवाली बेटी ! तुम बहुत दुर्बल हो गई हो। क्षुधा के कष्ट से तुम्हारा चित्त अत्यन्त व्याकुल है। तुम्हें ऐसी अवस्था में देखकर भी मैं तुम्हारा सत्तू कैसे ले सकता हूँ ? ऐसा करने से तो मैं धर्म की हानि करनेवाला हो जाऊँगा, अतः कल्याणमय आचरण करनेवाली कल्याणि ! तुम्हें ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए।

षष्ठे काले व्रतवतीं शौचशीलतपोन्विताम् ।
कृच्छ्रवृत्तिं निराहारां द्रक्ष्यामि त्वां कथं शुभे ।।६३।।

शुभे ! तुम प्रतिदिन शौच, सदाचार और तपस्या में संलग्न रहकर छठे काल में भोजन करने का व्रत लिये हुए हो। तुम्हारी भोजनचर्या अत्यन्त कठिनाई से चलती है। आज तुम्हारा सत्त लेकर मैं तुम्हें निराहार कैसे देख सकूँगा ?

बाला क्षुधार्ता नारी च रक्ष्या त्वं सततं मया ।
उपवास-परिश्रान्ता त्वं हि बान्धवनन्दिनी ।।६४।।

एक तो तुम अभी बालिका हो, दूसरे भूख से पीड़ित हो रही हो, तीसरे नारी हो और चौथे उपवास करते-करते अत्यन्त दुबली हो गई हो, अतः मुझे सदा तुम्हारी रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि तुम अपनी सेवाओं द्वारा बन्धु-बान्धवों को आनन्दित करनेवाली हो।

स्नुषोवाच

गुरोर्मम गुरुस्त्वं वै यतो दैवतदैवतम् ।
देवातिदेवस्तस्मात्त्वं सक्तूनादत्स्व मे प्रभो ।।६५।।

पुत्रवधू बोली—भगवन् ! आप मेरे गुरु के भी गुरु, देवताओं के भी देवता और सामान्य देवताओं की अपेक्षा भी अतिशय श्रेष्ठ देवता हैं, अतः मेरे दिये हुए इस सत्तू को स्वीकार कीजिए।

देहः प्राणश्च धर्मश्च शुश्रूषार्थमिदं गुरोः ।
तव विप्र प्रसादेन लोकान् प्राप्स्यामहे शुभान् ।।६६।।

मेरा यह शरीर, प्राण और धर्म—सब-कुछ बड़ों की सेवा के लिए ही है। विप्रवर ! आपके प्रसाद से मुझे उत्तम लोकों की प्राप्ति हो सकती है।

अवेक्ष्या इति कृत्वाहं दृढभक्तेति वा द्विज ।
चिन्त्या ममेयमिति वा सक्तूनादातुमर्हसि ।।६७।।

आप मुझे अपनी दृढ़ भक्त, रक्षणीय, पालनीय [देख-भाल करने योग्य] समझकर अतिथि को देने के लिए यह सत्तू स्वीकार कर लीजिए।

श्वशुर उवाच

अनेन नित्यं साध्वी त्वं शीलवृत्तेन शोभसे ।
या त्वं धर्मव्रतोपेता गुरुवृत्तिमवेक्षसे ।।६८।।
तस्मात्सक्तून् ग्रहीष्यामि वधु नार्हसि वञ्चनाम् ।
गणयित्वा महाभागे त्वां हि धर्मभृतां वरे ।।६९।।

श्वशुर ने कहा—पुत्री ! तुम सती-साध्वी नारी हो तथा सदा ऐसे ही शील और सदाचार का पालन करने से तुम्हारी शोभा है। तुम धर्म तथा व्रत के आचरण में संलग्न होकर सदा गुरुजनों की सेवा पर दृष्टि रखती हो, अतः बहू ! मैं तुम्हें पुण्य से वञ्चित नहीं होने दूँगा। धर्मात्माओं में श्रेष्ठ महाभागे !

पुण्यात्माओं में तुम्हारी गिनती करके मैं तुम्हारा दिया हुआ सत्तू अवश्य स्वीकार करूँगा।

नकुल उवाच

इत्युक्त्वा तानुपादाय सक्तून् प्रादाद् द्विजातये।
ततस्तुष्टोऽभवद् विप्रस्तस्य साधोर्महात्मनः ॥७०॥

नेवले ने कहा—ऐसा कहकर ब्राह्मण ने उसके हिस्से का भी सत्तू लेकर उस अतिथि को दे दिया। इससे वह अतिथि ब्राह्मण उस उञ्छव्रतधारी साधु महात्मा से बहुत सन्तुष्ट हुआ।

प्रीतात्मा स तु तं वाक्यमिदमाह द्विजर्षभम्।
वाग्मी तदा द्विजश्रेष्ठो धर्मः पुरुषविग्रहः ॥७१॥

वस्तुतः उस श्रेष्ठ द्विज के रूप में मानव-विग्रह-[शरीर]-धारी साक्षात् धर्म ही वहाँ उपस्थित थे। वे प्रवचनपटु धर्म सन्तुष्टचित्त होकर उन उञ्छव्रत-धारी श्रेष्ठ ब्राह्मण से इस प्रकार बोले—

शुद्धेन तव दानेन न्यायोपात्तेन धर्मतः।
यथाशक्ति विसृष्टेन प्रीतोऽस्मि द्विजसत्तम ॥७२॥

"द्विजश्रेष्ठ! तुमने अपनी शक्ति के अनुसार धर्मपूर्वक जो न्यायोपार्जित शुद्ध अन्न का दान दिया है, इससे मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ।

क्षुधा निर्णुदति प्रज्ञां धर्मबुद्धिं व्यपोहति।□
क्षुधापरिगतज्ञानो धृतिं त्यजति चैव ह।
बुभुक्षां जयते यस्तु स स्वर्गं जयते ध्रुवम् ॥७३॥

"भूख मनुष्य की बुद्धि को चौपट कर देती है, धार्मिक विचार को मिटा देती है। भूख से ज्ञान लुप्त हो जाने के कारण मनुष्य धीरज खो देता है। जो भूख को जीत लेता है, वह निश्चय ही स्वर्ग पर विजय पाता है।

यदा दानरुचिः स्याद् वै तदा धर्मो न सीदति।
अनवेक्ष्य सुतस्नेहं कलत्रस्नेहमेव च।
धर्ममेव गुरुं ज्ञात्वा तृष्णा न गणिता त्वया ॥७४॥

"जब मनुष्य में दानविषयक रुचि जाग्रत् होती है, उस समय उसके धर्म का ह्रास नहीं होता। तुमने पत्नी के प्रेम और पुत्र के स्नेह पर भी दृष्टिपात न करके धर्म को ही श्रेष्ठ माना है तथा उसके समक्ष भूख-प्यास को भी कुछ नहीं गिना है।

द्रव्यागमो नृणां सूक्ष्मः पात्रे दानं ततः परम्।
कालः परतरो दानाच्छ्रद्धा चैव ततः परा ॥७५॥

"मनुष्य के लिए सबसे प्रथम तो न्यायपूर्वक धन की प्राप्ति का उपाय जानना ही सूक्ष्म विषय है। उस न्यायोपार्जित धन को सत्पात्र की सेवा में अर्पण करना उससे भी श्रेष्ठ है। साधारण समय में दान देने की अपेक्षा उत्तम समय पर दान देना और भी श्रेष्ठ है, परन्तु श्रद्धा का महत्त्व काल से भी बढ़कर है।

स्वर्गद्वारं सुसूक्ष्मं हि नरैर्मोहान्न दृश्यते।□
स्वर्गार्गलं लोभबीजं रागगुप्तं दुरासदम् ॥७६॥
तं तु पश्यन्ति पुरुषा जितक्रोधा जितेन्द्रियाः।□
ब्राह्मणास्तपसा युक्ता यथाशक्तिप्रदायिनः ॥७७॥

"स्वर्ग का द्वार अत्यन्त सूक्ष्म है। मनुष्य मोह-वश उसे देख नहीं पाते। उस स्वर्गद्वार की अर्गला [आगल] लोभरूपी बीज से बनी हुई है। वह द्वार राग के द्वारा गुप्त है, अतः उसमें प्रविष्ट होना बहुत कठिन है। जो लोग क्रोध को जीत चुके हैं, इन्द्रियों को वश में कर चुके हैं, वे यथाशक्ति दान देनेवाले ब्राह्मण ही उस द्वार को देख पाते हैं।

सहस्रशक्तिश्च शतं शतशक्तिर्दशापि च।
दद्यादपश्च यः शक्त्या सर्वे तुल्यफलाः स्मृताः ॥७८॥

"श्रद्धापूर्वक दान देनेवाले मनुष्य में यदि एक सहस्र देने की सामर्थ्य हो तो वह सौ का दान करे, सौ देने की शक्तिवाला दस का दान करे और जिसके पास कुछ न हो, वह यदि अपनी शक्ति के अनुसार जल ही दान कर दे तो इन सबका फल बराबर माना गया है।

अन्यायोपगतं द्रव्यमभीक्ष्णं यो ह्यपण्डितः।
धर्माभिशङ्की यजते न स धर्मफलं लभेत् ॥७९॥

जो मूर्ख अन्याय-उपार्जित धन का बारम्बार संग्रह करके धर्म के विषय में संशय रखते हुए यजन करता है, उसे धर्म का फल नहीं मिलता।

न धर्मः प्रीयते तात दानैर्दत्तैर्महाफलैः।
न्यायलब्धैर्यथा सूक्ष्मैः श्रद्धापूतैः स तुष्यति ॥८०॥

"तात! अन्यायपूर्वक प्राप्त हुए द्रव्य [धन] के द्वारा महान् फल देनेवाले बड़े-बड़े दान करने से धर्म को उतनी प्रसन्नता नहीं होती, जितनी न्यायपूर्वक

कमाये हुए थोड़े-से अन्न का भी श्रद्धापूर्वक दान करने से होती है।

विभवो न नृणां पुण्यं स्वशक्त्या स्वर्जितं सताम्।
न यज्ञैर्विविधैर्विप्र यथान्यायेन सञ्चितैः ॥८१

"हे विप्र ! मनुष्य के लिए धन ही पुण्य का हेतु नहीं है। साधु पुरुष अपनी शक्ति=तप से ही स्वर्ग को जीत लेते हैं, पुण्य अर्जन कर लेते हैं। न्यायपूर्वक उपार्जित किये हुए अन्न के दान से जैसा उत्तम फल प्राप्त होता है, वैसा नाना प्रकार के यज्ञों का अनुष्ठान करने से भी प्राप्त नहीं होता।

एष धर्मो महायोगो दानं भूतदया तथा।□
ब्रह्मचर्यं तथा सत्यमनुक्रोशो धृतिः क्षमा।
सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतत् सनातनम् ॥८२॥

"दान देना, प्राणियों पर दया करना, ब्रह्मचर्यव्रत का पालन, सत्यभाषण, करुणा, धैर्य, क्षमाशीलता—यही धर्म है, यही महान् योग है। ये सनातन धर्म के सनातन मूल हैं।

क्रोधाद् दानफलं हन्ति लोभात् स्वर्गं न गच्छति।□
न्यायवृत्तिर्हि तपसा दानवित् स्वर्गमश्नुते ॥८३॥

"मनुष्य क्रोध से अपने दान के फल को नष्ट कर देता है, लोभ के कारण वह स्वर्ग में नहीं जाने पाता। न्यायोपार्जित धन से जीवन-निर्वाह करनेवाला तथा दान के महत्त्व को समझनेवाला पुरुष दान और तप के द्वारा स्वर्ग [सुखविशेष] को प्राप्त कर लेता है।

सक्तूप्रस्थेन विजितो ब्रह्मलोकस्त्वयाक्षयः।
विरजो ब्रह्मसदनं गच्छ विप्र यथासुखम् ॥८४॥

"विप्रवर ! तुमने सेरभर सत्तू का दान करके अक्षय ब्रह्मलोक को जीत लिया है। अब तुम सुखपूर्वक रजोगुणरहित ब्रह्मलोक=मोक्ष में जाओ।" [अक्षय का अर्थ है 'जितनी मोक्ष की अवधि है'; मोक्ष से भी लौटना तो पड़ता ही है।]

ततस्तु सक्तुगन्धेन तज्जलस्यावगाहनात्।
विप्रस्य तपसा तस्य शिरो मे काञ्चनीकृतम् ॥८५॥

उन दोनों के वार्तालाप के पश्चात् सत्तू की गन्ध सूंघने, अतिथि द्वारा कुल्ला करने से गिरे हुए जल में लोटने और उञ्छवृत्तिधारी ब्राह्मण की तपस्या के प्रभाव से मेरा मस्तक सोने का हो गया।

तस्य सत्याभिसन्धस्य सक्तुदानेन चैव ह।
शरीरार्धं च मे विप्राः शातकुम्भमयं कृतम् ॥८६॥

हे विप्रवरो ! उस सत्यप्रतिज्ञ ब्राह्मण के सत्तूदान से मेरा यह आधा शरीर भी सुवर्णमय हो गया।

पश्यतेदं सुविपुलं तपसा तस्य धीमतः।
कथमेवंविधं स्याद्वै पार्श्वमन्यदिति द्विजाः ॥८७॥

उस बुद्धिमान् ब्राह्मण की तपस्या से मुझे जो यह महान् फल प्राप्त हुआ है, इसे आप लोग अपनी आँखों से देख लीजिए। ब्राह्मणो ! जब मेरा आधा शरीर सोने का हो गया तब मैं इस चिन्ता में पड़ा कि मेरे शरीर का दूसरा पार्श्व भी ऐसा ही कैसे हो सकता है ?

तपोवनानि यज्ञांश्च हृष्टोऽभ्येमि पुनः पुनः।
यज्ञं त्वहमिमं श्रुत्वा कुरुराजस्य धीमतः।
आशया परया प्राप्तो न चाहं काञ्चनीकृतः ॥८८॥

मेरा शेष आधा शरीर भी सुवर्णमय हो जाए इसी उद्देश्य से मैं अत्यन्त हर्ष एवं उत्साह के साथ बारम्बार अनेक तपोवनों और यज्ञस्थलों में जायाआया करता हूँ। परम बुद्धिमान् कुरुराज युधिष्ठिर के इस यज्ञ का बड़ा भारी शोर सुनकर मैं बड़ी आशा लेकर यहाँ आया था, परन्तु मेरा शरीर सोने का न हो सका।

ततो मयोक्तं तद् वाक्यं प्रहस्य ब्राह्मणर्षभाः।
सक्तुप्रस्थेन यज्ञोऽयं सम्मितो नेति सर्वथा ॥८९॥

ब्राह्मणशिरोमणियो ! इसी से मैंने हँसकर कहा था कि यह यज्ञ ब्राह्मण के दिये हुए सेरभर सत्तू के बराबर भी नहीं है। बात सर्वथा ऐसी ही है।

सक्तुप्रस्थलवैस्तैर्हि तदहं काञ्चनीकृतः।
न हि यज्ञो महानेष सदृशस्तैर्मतो मम ॥९०॥

क्योंकि उस समय सेरभर सत्तुओं में से गिरे हुए कुछ कणों के प्रभाव से ही मेरा आधा शरीर सुवर्णमय हो गया था, परन्तु यह महान् यज्ञ भी मुझे वैसा नहीं बना सका, अतः मेरी सम्मति में यह यज्ञ उन सेरभर सत्तू के कणों के समान भी नहीं है।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा नकुलः सर्वान् यज्ञे द्विजवरांस्तदा।
जगामादर्शनं तेषां विप्रास्ते च ययुर्गृहान् ॥९१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यज्ञस्थल में उन समस्त श्रेष्ठ ब्राह्मणों से ऐसा कहकर वह नेवला वहाँ से अन्तर्धान हो गया और वे ब्राह्मण भी अपने-अपने घरों को चले गये ।

एतत् ते सर्वमाख्यातं मया परपुरञ्जय ।
यदाश्चर्यमभूत् तत्र वाजिमेधे महाक्रतौ ।।९२।।

शत्रुनगरी पर विजय पानेवाले जनमेजय ! उस अश्वमेध नामक महायज्ञ में जो आश्चर्यजनक घटना घटित हुई थी, वह सारा प्रसङ्ग मैंने आपको सुना दिया ।

न विस्मयस्ते नृपते यज्ञे कार्यः कदाचन ।
ऋषिकोटिसहस्राणि तपोभिर्ये दिवं गताः ।।९३।।

नरेश्वर ! उस यज्ञ के सम्बन्ध में ऐसी घटना सुनकर तुम्हें आश्चर्य नहीं होना चाहिए, क्योंकि सहस्रों कोटि ऐसे ऋषि हो गये हैं, जो यज्ञ न करके केवल तपोबल से ही दिव्यलोक को प्राप्त हो चुके हैं।

अद्रोहः सर्वभूतेषु सन्तोषः शीलमार्जवम् । ☐
तपो दमश्च सत्यं च प्रदानं चेति सम्मितम् ।।९४।।

किसी भी प्राणी के प्रति वैर की भावना न रखना, मन में सन्तोष रखना, शील और सदाचार का पालन करना, सबके प्रति सरलतापूर्ण व्यवहार रखना, तप [द्वन्द्व-सहन] करना, मन और इन्द्रियों को वश में रखना, सत्य बोलना और न्यायोपार्जित वस्तु का श्रद्धापूर्वक दान करना—इनमें से एक-एक गुण भी बड़े-बड़े यज्ञों के समान है ।

इति महाभारते आश्वमेधिकपर्वणि एकादशोऽध्यायः ।।११।।

।। इति आश्वमेधिकपर्व सम्पूर्णम् ।।

आश्रमवासिकपर्व

प्रथमोऽध्यायः

भाइयोंसहित युधिष्ठिर और कुन्ती आदि देवियों के द्वारा धृतराष्ट्र एवं गान्धारी की सेवा

जनमेजय उवाच

प्राप्य राज्यं महात्मानः पाण्डवा मे पितामहाः ।
कथमासन् महाराज्ञि धृतराष्ट्रे महात्मनि ॥१॥

जनमेजय ने पूछा—ब्रह्मन् ! मेरे प्रपितामह महात्मा पाण्डव अपने राज्य पर अधिकार प्राप्त कर लेने के पश्चात् महाराज धृतराष्ट्र के प्रति कैसा व्यवहार करते थे ?

स तु राजा हतामात्यो हतपुत्रो निराश्रयः ।
कथमासीद्धतैश्वर्यो गान्धारी च यशस्विनी ॥२॥

महाराज धृतराष्ट्र अपने मन्त्री तथा पुत्रों के मारे जाने से निराश्रय हो गये थे । उनका ऐश्वर्य नष्ट हो गया था । ऐसी दशा में वे और यशस्विनी गान्धारीदेवी किस प्रकार जीवनयापन करते थे ?

कियन्तं चैव कालं ते मम पूर्वपितामहाः ।
स्थिता राज्ये महात्मानस्तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥३॥

मेरे पूर्वपितामह महात्मा पाण्डव कितने समय तक अपने राज्य पर प्रतिष्ठित रहे ? ये सभी बातें मुझे विस्तारपूर्वक बताने की कृपा करें ।

वैशम्पायन उवाच

प्राप्य राज्यं महात्मानः पाण्डवा हतशत्रवः ।
धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य पृथिवीं पर्यपालयन् ॥४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! जिनके शत्रु मारे गये थे, वे महात्मा पाण्डव राज्य पाने के अनन्तर राजा धृतराष्ट्र को आगे रखकर [प्रमुख मानकर] पृथिवी का पालन करने लगे ।

धृतराष्ट्रमुपातिष्ठद् विदुरः सञ्जयस्तथा ।
वैश्यापुत्रश्च मेधावी युयुत्सुः कुरुसत्तम ॥५॥

कुरुकुलभूषण ! महात्मा विदुर, सञ्जय और वैश्यापुत्र बुद्धिमान् युयुत्सु—ये सब लोग सदा धृतराष्ट्र की सेवा में उपस्थित रहते थे ।

पाण्डवाः सर्वकार्याणि सम्पृच्छन्ति स्म तं नृपम् ।
चक्रुस्तेनाभ्यनुज्ञाता वर्षाणि दश पञ्च च ॥६॥

पाण्डव लोग सभी कार्यों में महाराज धृतराष्ट्र की सम्मति पूछा करते थे तथा उनकी आज्ञा लेकर ही प्रत्येक कार्य करते थे । इस प्रकार उन्होंने पन्द्रह वर्ष तक राज्य का शासन किया ।

सदा हि गत्वा ते वीराः पर्युपासन्त तं नरम् ।
पादाभिवादनं कृत्वा धर्मराजमते स्थिताः ॥७॥

वीर पाण्डव प्रतिदिन राजा धृतराष्ट्र के समीप जा उनके चरणों में प्रणाम करके कुछ समय तक उनकी सेवा में बैठे रहते थे तथा सदा धर्मराज युधिष्ठिर की आज्ञा के अधीन रहते थे ।

ते मूर्ध्नि समुपाघ्राताः सर्वकार्याणि चक्रिरे ।
कुन्तिभोजसुता चैव गान्धारीमन्ववर्तत ॥८॥

राजा धृतराष्ट्र भी स्नेहवश पाण्डवों का मस्तक सूँघकर जब उन्हें जाने की आज्ञा देते, तब वे लौटकर सब कार्य किया करते थे । कुन्तीदेवी भी सदा गान्धारी की सेवा में लगी रहती थीं ।

द्रौपदी च सुभद्रा च याश्चान्याः पाण्डवस्त्रियः ।
समां वृत्तिमवर्तन्त तयोः श्वश्र्वोर्यथाविधि ॥९॥

द्रौपदी, सुभद्रा तथा पाण्डवों की अन्य स्त्रियाँ भी कुन्ती तथा गान्धारी—दोनों सासुओं (सासों) की समान भाव से विधिपूर्वक सेवा करती थीं ।

शयनानि महार्हाणि वासांस्याभरणानि च ।
राजार्हाणि च सर्वाणि भक्ष्यभोज्यान्यनेकशः ॥१०॥
युधिष्ठिरो महाराज धृतराष्ट्रेऽभ्युपाहरत् ।
तथैव कुन्ती गान्धार्यां गुरुवृत्तिमवर्तत ॥११॥

महाराज ! राजा युधिष्ठिर बहुमूल्य शय्या, वस्त्र, आभूषण तथा राजा के उपभोग में आने योग्य सब प्रकार के उत्तम पदार्थ और नाना प्रकार के भक्ष्य, भोज्य पदार्थ धृतराष्ट्र को अर्पण किया करते थे । इसी प्रकार कुन्तीदेवी भी गान्धारी की गुरु [सास] की भाँति सेवा तथा आदर-सम्मान करती थीं ।

विहारयात्रासु पुनः कुरुराजो युधिष्ठिरः ।
सर्वान् कामान् महातेजाः प्रददावम्बिकासुते ॥१२॥

महातेजस्वी कुरुराज युधिष्ठिर विहार एवं यात्रा के अवसरों पर राजा धृतराष्ट्र को सभी मनोवाञ्छित वस्तुओं की सुविधा देते थे ।

आरालिकाः सूपकारा रागखाण्डविकास्तथा ।
उपातिष्ठन्त राजानं धृतराष्ट्रं यथा पुरा ॥१३॥

उक्त अवसरों पर राजा धृतराष्ट्र की सेवा में पहले की ही भाँति भोजन बनाने के कार्य में निपुण आरालिक[1], सूपकार[2] और रागखाण्डविक[3] उपस्थित रहते थे ।

वासांसि च महार्हाणि माल्यानि विविधानि च ।
उपाजह्रुर्यथान्यायं धृतराष्ट्रस्य पाण्डवाः ॥१४॥

वे पाण्डुपुत्र महाराज धृतराष्ट्र को यथोचित रूप से बहुमूल्य वस्त्र और अनेक प्रकार की मालाएँ भेंट करते थे ।

ये चापि पृथिवीपालाः समाजग्मुस्ततस्ततः ।
उपातिष्ठन्त ते सर्वे कौरवेन्द्रं यथा पुरा ॥१५॥

भिन्न-भिन्न देशों से जो राजा वहाँ पधारते थे, वे सब पहले की ही भाँति कौरवराज धृतराष्ट्र की सेवा में उपस्थित होते थे ।

यथा पुत्रवियुक्तोऽयं न किञ्चिद् दुःखमाप्नुयात् ।
इति तानन्वशाद् भ्रातॄन्नित्यमेव युधिष्ठिरः ॥१६॥

राजा युधिष्ठिर अपने भाइयों को सदा यह उपदेश देते थे कि—'बन्धुओ ! तुम ऐसा व्यवहार करो, जिससे अपने पुत्रों से बिछुड़े हुए इन राजा धृतराष्ट्र को किञ्चिन्मात्र भी दुःख प्राप्त न हो।'

एवं ते धर्मराजस्य श्रुत्वा वचनमर्थवत् ।
सविशेषमवर्तन्त भीममेकं तदा विना ॥१७॥

धर्मराज का यह सार्थक वचन सुनकर भीमसेन को छोड़ अन्य सभी भाई धृतराष्ट्र का विशेष मान-सम्मान करते थे ।

न हि तत् तस्य वीरस्य हृदयादपसर्पति ।
धृतराष्ट्रस्य दुर्बुद्ध्या यद् वृत्तं द्यूतकारितम् ॥१८॥

महावीर भीमसेन के हृदय से कभी भी यह बात दूर नहीं होती थी कि जुए के समय जो कुछ भी अनर्थ हुआ था, वह धृतराष्ट्र की ही खोटी बुद्धि का परिणाम था ।

इति महाभारते आश्रमवासिकपर्वणि प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

---

[1] 'अरा' नामक शस्त्र से काटकर बनाये जाने के कारण साग-भाजी को 'अरालु' कहते हैं। इनको सुन्दर रीति से तैयार करनेवाले रसोइए 'आरालिक' नाम से पुकारे जाते हैं ।

[2] दाल आदि बनानेवाले सभी रसोइए सामन्यतः 'सूपकार' कहलाते हैं ।

[3] पीपल, सोंठ और चीनी मिलाकर मूंग का रसा तैयार करनेवाले रसोइए 'रागखाण्डविक' कहे जाते हैं।

द्वितीयोऽध्यायः

राजा धृतराष्ट्र का गान्धारी के साथ वन में जाने के लिए युधिष्ठिर से अनुमति माँगना तथा महर्षि व्यास के समझाने पर युधिष्ठिर का उन्हें वनगमन के लिए अनुमति देना

वैशम्पायन उवाच

युधिष्ठिरस्य नृपतेर्दुर्योधनपितुस्तदा ।
नान्तरं ददृशू राज्ये पुरुषाः प्रणयं प्रति ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महाराज युधिष्ठिर और धृतराष्ट्र में जो पारस्परिक प्रेम था, उसमें राज्य के लोगों ने कभी कोई अन्तर नहीं देखा ।

यदा तु कौरवो राजा पुत्रं सस्मार दुर्मतिम् ।
तदा भीमं हृदा राजन्नपध्याति स पार्थिवः ॥२॥

परन्तु राजन् ! वे कुरुवंशी राजा धृतराष्ट्र जब अपने खोटी बुद्धिवाले पुत्र दुर्योधन का स्मरण करते थे, तब मन-ही-मन भीमसेन का अनिष्टचिन्तन किया करते थे ।

तथैव भीमसेनोऽपि धृतराष्ट्रं जनाधिपम् ।
नामर्षयत राजेन्द्र सदैव दुष्टवद्धृदा ॥३॥

हे राजेन्द्र ! उसी प्रकार भीमसेन भी सदा ही नरेश्वर धृतराष्ट्र के प्रति अपने मन में दुर्भावना रखते थे । वे कभी उन्हें क्षमा नहीं कर पाते थे ।

अप्रकाशान्यप्रियाणि चकारास्य वृकोदरः ।
आज्ञां प्रत्यहरच्चापि कृतज्ञैः पुरुषैः सदा ॥४॥

भीमसेन लुके-छुपे धृतराष्ट्र को अप्रिय लगनेवाले कार्य किया करते थे तथा अपने द्वारा नियुक्त किये हुए कृतज्ञ पुरुषों से उनकी आज्ञा भी भङ्ग करा दिया करते थे ।

स्मरन् दुर्मन्त्रितं तस्य वृत्तान्यप्यस्य कानिचित् ।
अथ भीमः सुहृन्मध्ये बाहुशब्दं तथाकरोत् ॥५॥
संश्रवे धृतराष्ट्रस्य गान्धार्याश्चाप्यमर्षणः ।
स्मृत्वा दुर्योधनं शत्रुं कर्णदुःशासनावपि ।
प्रोवाचाथ सुसंरब्धो भीमः स परुषं वचः ॥६॥

महाराज धृतराष्ट्र की जो दुष्टतापूर्ण मन्त्रणाएँ होती थीं और तदनुसार ही उनके जो अनेक दुर्व्यवहार हुए थे, उन्हें स्मरण करते हुए एक दिन अमर्ष में भरे हुए भीमसेन ने अपने मित्रों के बीच में अपनी भुजाओं पर बारम्बार ताल ठोकी और अपने शत्रु दुर्योधन, कर्ण तथा दुःशासन को याद करके धृतराष्ट्र तथा गान्धारी को सुनाते हुए रोषपूर्वक ये कठोर वचन कहने लगे—

अन्धस्य नृपतेः पुत्रा मया परिघबाहुना ।
नीता लोकममुं सर्वे नानाशस्त्रास्त्रयोधिनः ॥७॥

"मित्रो ! मेरी भुजाएँ परिघ [मुद्गर] के समान मोटी हैं । मैंने ही उस अन्धे राजा के समस्त पुत्रों को, जो अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों से युद्ध करते थे, यमलोक पठाया है ।

इमौ तौ परिघप्रख्यौ भुजौ मम दुरासदौ ।
ययोरन्तरमासाद्य धार्तराष्ट्राः क्षयं गताः ॥८॥

"देखो, ये हैं मेरी परिघ के समान सुदृढ़ और दुर्जय दोनों भुजाएँ । इनके बीच में पड़कर धृतराष्ट्र के सभी पुत्र काल के गाल में समा गये हैं ।

ताविमौ चन्दनेनाक्तौ चन्दनार्हौ च मे भुजौ ।
याभ्यां दुर्योधनो नीतः क्षयं ससुतबान्धवः ॥९॥

"ये मेरी दोनों भुजाएँ चन्दन से चर्चित और चन्दन लगाने के ही योग्य हैं, जिनके द्वारा पुत्रों तथा बन्धु-बान्धवोंसहित राजा दुर्योधन नष्ट कर दिया गया ।"

एताश्चान्याश्च विविधाः शल्यभूता नराधिपः ।
वृकोदरस्य ता वाचः श्रुत्वा निर्वेदमागमत् ॥१०॥

भीमसेन द्वारा कही हुई इन तथा और भी नाना प्रकार की कठोर बातों को, जो हृदय में काँटे की भाँति कसक पैदा करनेवाली थीं, राजा धृतराष्ट्र ने सुना; सुनकर उन्हें अत्यन्त दुःख हुआ ।

सा च बुद्धिमती देवी कालपर्यायवेदिनी ।
गान्धारी सर्वधर्मज्ञा तान्यलीकानि शुश्रुवे ॥११॥

समय के उलट-फेर को समझनेवाली और समस्त धर्मों [कर्तव्यों] को जाननेवाली बुद्धिमती गान्धारीदेवी ने भी इन कठोर वचनों को सुना था ।

ततः पञ्चदशे वर्षे समतीते नराधिपः ।
राजा निर्वेदमापेदे भीमवाग्बाणपीडितः ॥१२॥

उस समय तक उन्हें नरेश्वर युधिष्ठिर के ग्राश्रय में रहते हुए पन्द्रह वर्ष व्यतीत हो चुके थे । पन्द्रहवाँ वर्ष व्यतीत होने पर भीमसेन के वाग्बाणों से पीड़ित हुए राजा धृतराष्ट्र को खेद ग्रौर वैराग्य हुग्रा ।

नान्वबुध्यत तद् राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
श्वेताश्वो वाथ कुन्ती वा द्रौपदी वा यशस्विनी ॥१३॥

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर को इस बात [भीम के द्वारा धृतराष्ट्र के ग्रपमान] की जानकारी नहीं थी । ग्रर्जुन, कुन्ती ग्रौर यशस्विनी द्रौपदी को भी इसका पता नहीं था ।

ततः समानयामास धृतराष्ट्रः सुहृज्जनम् ।
बाष्पसन्दिग्धमत्यर्थमिदमाह च तान् भृशम् ॥१४॥

उन कठोर वचनों को सुनने के पश्चात् धृतराष्ट्र ने ग्रपने मित्रों को बुलवाया ग्रौर नेत्रों में ग्राँसू भरकर रुँधे हुए कण्ठ से इस प्रकार कहा—

धृतराष्ट्र उवाच

विदितं भवतामेतद् यथा वृत्तः कुरुक्षयः ।
ममापराधात् तत्सर्वमनुज्ञातं च कौरवैः ॥१५॥

धृतराष्ट्र बोले—मित्रो ! ग्राप लोगों को यह तो ज्ञात ही है कि कुरुवंश का नाश किस प्रकार हुग्रा है । सभी कौरव इस बात को जानते हैं कि मेरे ही ग्रपराध से सारा ग्रनर्थ हुग्रा है ।

योऽहं दुष्टमतिं मन्दो ज्ञातीनां भयवर्धनम् ।
दुर्योधनं कौरवाणामाधिपत्येऽभ्यषेचयम् ॥१६॥

दुर्योधन खोटी बुद्धि का था । वह ज्ञाति-भाइयों का भय बढ़ानेवाला था । यह जानते हुए भी मुझ मूर्ख ने उसे कौरवों के राज्यसिंहासन पर ग्रभिषिक्त कर दिया ।

यच्चाहं पाण्डुपुत्रेषु पितृपैतामहीमिमाम् ।
न दत्तवाञ्छ्रियं दीप्तां तदिदं तप्यते च माम् ॥१७॥

मैंने पाण्डुपुत्रों को उनके बाप-दादाग्रों की उज्ज्वल सम्पत्ति नहीं सौंपी, यह भूल मुझे सदा सन्ताप देती रहती है ।

विनाशं पश्यमानो हि सर्वराज्ञां गदाग्रजः ।
एतच्छ्रेयस्तु परमममन्यत जनार्दनः ॥१८॥

सम्पूर्ण राजाग्रों का विनाश देखते हुए गदाग्रज श्रीकृष्ण ने भी यही कल्याणकारी माना था कि मैं पाण्डवों का राज्य उन्हें लौटा दूं, परन्तु मैं वैसा नहीं कर सका ।

सोऽहमेतान्यलीकानि निवृत्तान्यात्मनस्तदा ।
हृदये शल्यभूतानि धारयामि सहस्रशः ॥१९॥

इस प्रकार ग्रपनी की हुई सहस्रों भूलों को मैं ग्रपने हृदय में धारण करता हूँ । वे इस समय मेरे हृदय में काँटे के समान कसक उत्पन्न कर रही हैं ।

विशेषतस्तु पश्यामि वर्षे पञ्चदशेऽद्य वै ।
ग्रस्य पापस्य शुद्धचर्थं नियतोऽस्मि सुदुर्मतिः ॥२०॥

विशेषतः पन्द्रहवें वर्ष में ग्राज मुझ दुर्बुद्धि की ग्राँखें खुली हैं तथा ग्रब मैं इस पाप के प्रायश्चित्त के लिए नियम [कठोर व्रतों] का पालन करने लगा हूँ ।

चतुर्थे नियते काले कदाचिदपि चाष्टमे ।
तृष्णाविनयनं भुञ्जे गान्धारी वेद तन्मम ।
करोत्याहारमिति मां सर्वः परिजनः सदा ॥२१॥

कभी चौथे समय [दो दिन पश्चात्] ग्रौर कभी ग्राठवें समय [चार दिन व्यतीत होने पर] केवल भूख की ग्राग बुझाने के लिए मैं थोड़ा-सा ग्राहार लेता हूँ । मेरे इस नियम को केवल गान्धारी देवी जानती हैं । ग्रन्य सब लोगों को तो यही ज्ञान है कि मैं प्रतिदिन पूरा भोजन करता हूँ ।

भूमौ शये जप्यपरो दर्भेष्वजिनसंवृतः ।
नियमव्यपदेशेन गान्धारी च यशस्विनी ॥२२॥

मैं ग्रौर यशस्विनी गान्धारी दोनों नियम-पालन के बहाने से मृगचर्म पहन, कुशासन पर बैठकर मन्त्र-जप करते हुए भूमि पर सोते हैं ।

इत्युक्त्वा धर्मराजानमभ्यभाषत कौरवः ।
भद्रं ते यादवीमातर्वचश्चेदं निबोध मे ॥२३॥

ग्रपने सुहृदों से ऐसा कहकर धृतराष्ट्र ने धर्मराज युधिष्ठिर से कहा—"कुन्तीनन्दन ! तुम्हारा कल्याण हो । तुम मेरे इन वचनों को सुनो—

सुखमस्म्युषितः पुत्र त्वया सुपरिपालितः ।
महादानानि दत्तानि पुण्यं चीर्णं यथाबलम् ॥२४॥

"पुत्र ! तुम्हारे द्वारा सुरक्षित होकर मैं यहाँ

अत्यन्त सुखपूर्वक रहा हूँ। मैंने बड़े-बड़े दान किये हैं और अपनी शक्ति के अनुसार पुण्य का अनुष्ठान किया है।

आत्मनस्तु हितं पुण्यं प्रतिकर्तव्यमद्य वै ।
गान्धार्याश्चैव राजेन्द्र तदनुज्ञातुमर्हसि ॥२५॥

"हे राजेन्द्र ! अब तो मुझे तथा गान्धारीदेवी को अपने हित के लिए पुण्यकर्म—तपोऽनुष्ठान करना है, अतः उसके लिए हमें [वन में जाने की] अनुमति प्रदान करो ।

राजा गुरुः प्राणभृतां तस्मादेतद् ब्रवीम्यहम् ।
अनुज्ञातस्त्वया वीर संश्रयेयं वनान्यहम् ॥२६॥

"राजा सम्पूर्ण प्राणियों के लिए गुरुजन की भाँति आदरणीय होता है, इसीलिए मैं तुमसे ऐसा अनुरोध कर रहा हूँ। वीर ! तुम्हारी अनुमति मिल जाने पर मैं वन में चला जाऊँगा ।

चीरवल्कलभृद् राजन् गान्धार्या सहितोऽनया ।
तवाशिषः प्रयुञ्जानो भविष्यामि वनेचरः ॥२७॥

"राजन् ! अब मैं चीर तथा वल्कल धारण करके इस गान्धारी के साथ वन में विचरूँगा और तुम्हें आशीर्वाद देता रहूँगा ।

उचितं नः कुले तात सर्वेषां भरतर्षभ ।
पुत्रेष्वैश्वर्यमाधाय वयसोऽन्ते वनं नृप ॥२८॥

"तात ! भरतकुलभूषण ! हमारे कुल के सभी राजाओं के लिए यही उचित है कि वे अन्तिम अवस्था में राज-पाट पुत्रों को सौंपकर स्वयं वन में पधारें ।

तत्राहं वायुभक्षो वा निराहारोऽपि वा वसन् ।
पत्न्या सहानया वीर चरिष्यामि तपः परम् ॥२९॥

"वीर ! वहाँ मैं वायु का भक्षण करके अथवा उपवास करके रहूँगा और अपनी इस धर्मपत्नी के साथ परम तप तपूँगा ।

त्वं चापि फलभाक् तात तपसः पार्थिवो ह्यसि ।
फलभाजो हि राजानः कल्याणस्येतरस्य वा ॥३०॥

"तात ! तुम भी उस तपस्या के उत्तम फल के भागी बनोगे; क्योंकि तुम राजा हो और राजा अपने राज्य में होनेवाले अच्छे और बुरे सभी कर्मों के फल-भागी होते हैं।"

युधिष्ठिर उवाच

न मां प्रीणयते राज्यं त्वय्येवं दुःखिते नृप ।
धिङ् मामस्तु सुदुर्बुद्धिं राज्यसक्तं प्रमादिनम् ॥३१॥

युधिष्ठिर बोले—महाराज ! आप यहाँ रहकर इस प्रकार दुःख उठा रहे थे और मुझे इसकी जानकारी नहीं हो सकी, अतः अब यह राज्य मुझे प्रसन्न नहीं रख सकता। हाय ! मेरी बुद्धि कितनी खोटी है। मुझ जैसे प्रमादी और राज्यासक्त पुरुष को धिक्कार है !

योऽहं भवन्तं दुःखार्तमुपवासकृशं भृशम् ।
जिताहारं क्षितिशयं न विन्दे भ्रातृभिः सह ॥३२॥

आप दुःख से आतुर तथा उपवास करने के कारण अत्यन्त दुर्बल हो गये हैं, पृथिवी पर शयन कर रहे हैं एवं भोजन पर भी संयम कर लिया है और भाइयोंसहित मैं आपकी इस अवस्था का पता नहीं पा सका ।

अहोऽस्मि वञ्चितो मूढो भवता गूढबुद्धिना ।
विश्वासयित्वा पूर्वं मां यदिदं दुःखमश्नुथाः ॥३३॥

अहो ! आपने अपने विचारों को छिपाकर मुझ मूर्ख को अबतक धोखे में ही डाल रखा था। पहले मुझे यह विश्वास दिलाकर कि मैं सुखी हूँ, आप आज तक यह दुःख भोगते रहे ।

किं मे राज्येन भोगैर्वा किं यज्ञैः किं सुखेन वा ।
यस्य मे त्वं महीपाल दुःखान्येतान्यवाप्तवान् ॥३४॥

महाराज ! इस राज्य से, इन भोगों से, इन यज्ञों से अथवा इस सुख-सामग्री से मुझे क्या लाभ हुआ, जबकि मेरे ही पास रहकर आपको इतने कष्ट सहने पड़े ?

पीडितं चापि जानामि राज्यमात्मानमेव च ।
अनेन वचसा तुभ्यं दुःखितस्य जनेश्वर ॥३५॥

नरेश्वर ! आप दुःखी होकर जो ऐसी बात कह रहे हो, इससे मैं सम्पूर्ण राज्य को और अपने-आपको भी दुःखित अनुभव कर रहा हूँ ।

भवान्पिता भवान्माता भवान्नः परमो गुरुः ।
भवता विप्रहीणा वै क्व नु तिष्ठामहे वयम् ॥३६॥

आप ही हमारे पिता, आप ही हमारी माता

और आप ही हमारे परम गुरु हैं। आपसे अलग होकर हम कहाँ रहेंगे ?

औरसो भवतः पुत्रो युयुत्सुर्नृपसत्तम।
अस्तु राजा महाराज यमन्यं मन्यते भवान् ॥३७॥
अहं वनं गमिष्यामि भवान् राज्यं प्रशास्तु।
न मामयशसा दग्धं भूयस्त्वं दग्धुमर्हसि ॥३८॥

नृपश्रेष्ठ ! महाराज ! युयुत्सु आपके औरस पुत्र हैं, आप इनको राज्यगद्दी पर बिठा दीजिए अथवा और किसी को जिसे आप उचित समझते हों राजा बना दीजिए अथवा आप स्वयं ही राज्य का सञ्चालन कीजिए। मैं ही वन को चला जाऊँगा। पिताजी ! मैं पहले ही अपयश की अग्नि में जल चुका हूँ, अब पुनः आप भी मुझे मत जलाइए।

नाहं राजा भवान् राजा भवतः परवानहम्।
कथं गुरुं त्वां धर्मज्ञमनुज्ञातुमिहोत्सहे ॥३९॥

मैं राजा नहीं, आप ही राजा हैं। मैं तो आपकी आज्ञा के अधीन रहनेवाला सेवक हूँ। आप धर्म के जाननेवाले गुरु हैं। मैं आपको आज्ञा कैसे दे सकता हूँ ?

न मन्युर्हृदि नः कश्चित् सुयोधनकृतेऽनघ।
भवितव्यं तथा तद्धि वयं चान्ये च मोहिताः ॥४०॥

निष्पाप नरेश ! दुर्योधन ने जो कुछ किया था, उसके लिए हमारे हृदय में तनिक भी क्रोध नहीं है। जो कुछ हुआ है, वैसी ही घटना घटनेवाली थी। हम और अन्य लोग उसी से मोहित थे।

वयं पुत्रा हि भवतो यथा दुर्योधनादयः।
गान्धारी चैव कुन्ती च निर्विशेषे मते मम ॥४१॥

जैसे दुर्योधन आदि आपके पुत्र थे, वैसे ही हम भी आपके पुत्र हैं। मेरे लिए गान्धारी और कुन्ती में कोई भी अन्तर नहीं है।

स मां त्वं यदि राजेन्द्र परित्यज्य गमिष्यसि।
पृष्ठतस्त्वनुयास्यामि सत्यमात्मानमालभे ॥४२॥

हे राजेन्द्र ! यदि आप मुझे छोड़कर वन में चले जाएँगे तो मैं अपनी सौगन्ध खाकर सत्य कहता हूँ कि मैं भी आपके पीछे-पीछे चल दूंगा।

इयं हि वसुसम्पूर्णा मही सागरमेखला।
भवता विप्रहीणस्य न मे प्रीतिकरी भवेत् ॥४३॥

आपके त्याग देने पर धन-धान्य से परिपूर्ण और समुद्र से घिरी हुई इस सम्पूर्ण पृथिवी का राज्य भी मुझे प्रसन्न नहीं रख सकता।

भवदीयमिदं सर्वं शिरसा त्वां प्रसादये।
त्वदधीनाः स्म राजेन्द्र व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥४४॥

हे राजेन्द्र ! यह सब-कुछ आपका है। मैं आपके चरणों में सिर झुकाकर प्रार्थना करता हूँ कि आप प्रसन्न हो जाइए। हम सब लोग आपके अधीन हैं। आपकी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिए।

धृतराष्ट्र उवाच

तापस्ये मे मनस्तात वर्तते कुरुनन्दन।
उचितं च कुलेऽस्माकमरण्यगमनं प्रभो ॥४५॥

धृतराष्ट्र बोले—तात ! कुरुनन्दन ! अब मेरा मन तपस्या में ही लग रहा है। प्रभो ! जीवन की अन्तिम अवस्था में वन में जाना हमारे कुल के लिए उचित भी है।

चिरमस्म्युषितः पुत्र चिरं शुश्रूषितस्त्वया।
वृद्धं मामप्यनुज्ञातुमर्हसि त्वं नराधिप ॥४६॥

पुत्र ! जनेश्वर ! मैं दीर्घकाल तक तुम्हारे पास रह चुका और तुमने भी बहुत समय तक मेरी सेवा-शुश्रूषा की। अब मेरा बुढ़ापा आ गया। अब तो मुझे वन में जाने की अनुमति देनी ही चाहिए।

वैशम्पायन उवाच

इति ब्रुवति राजेन्द्रे धृतराष्ट्रे युधिष्ठिरम्।
ऋषिः सत्यवतीपुत्रो व्यासोऽभ्येत्य वचोऽब्रवीत् ॥४७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज धृतराष्ट्र युधिष्ठिर से ये बातें कह ही रहे थे कि सत्यवती-नन्दन महर्षि व्यास वहाँ आ पहुँचे और इस प्रकार कहने लगे—

व्यास उवाच

युधिष्ठिर महाबाहो यथाह कुरुनन्दनः।
धृतराष्ट्रो महातेजास्तत् कुरुष्वाविचारयन् ॥४८॥

व्यासजी बोले—महाबाहु युधिष्ठिर ! कुरुकुल को आनन्दित करनेवाले महातेजस्वी धृतराष्ट्र जो कुछ कह रहे हैं, उसे बिना विचारे पूर्ण करो।

अयं हि वृद्धो नृपतिर्हतपुत्रो विशेषतः।
नेदं कृच्छ्रं चिरतरं सहेदिति मतिर्मम ॥४९॥

अब ये महाराज वृद्ध हो गये हैं, विशेषतः इनके सभी पुत्र नष्ट हो गये हैं। मेरा ऐसा निश्चित विश्वास है कि अब ये इस कष्ट को अधिक समय तक नहीं सह सकेंगे।

सोऽयं मयाभ्यनुज्ञातस्त्वया च पृथिवीपतिः।
करोतु स्वमभिप्रायं मास्य विघ्नकरो भव ॥५०॥

अतः अब ये भूपाल मेरी और तुम्हारी अनुमति लेकर तपस्या के द्वारा अपना मनोरथ सिद्ध करें। तुम इनके शुभ कार्य में विघ्न मत डालो।

एष एव परो धर्मो राजर्षीणां युधिष्ठिर।
समरे वा भवेन्मृत्युर्वने वा विधिपूर्वकम् ॥५१॥

युधिष्ठिर! राजर्षियों का यही परम धर्म है कि या तो वे युद्ध में लड़ते हुए वीरगति को प्राप्त हों अथवा वन में उनकी शास्त्रोक्त विधिपूर्वक [योगाभ्यास करते हुए] मृत्यु हो।

अनुजानीहि पितरं समयोऽस्य तपोविधौ।
न मन्युर्विद्यते चास्य सुसूक्ष्मोऽपि युधिष्ठिर ॥५२॥

तुम अपने ताऊजी को वन में जाने की अनुमति प्रदान कर दो, क्योंकि अब इनके तप करने का समय आ गया है। युधिष्ठिर! इनके मन में तुम्हारे प्रति तनिक भी रोष नहीं है।

वैशम्पायन उवाच

एतावदुक्त्वा वचनमनुमान्य च पार्थिवम्।
तथास्त्विति च तेनोक्तः कौन्तेयेन ययौ वनम् ॥५३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! ऐसा कहकर महर्षि व्यास ने राजा युधिष्ठिर को सहमत=राजी कर लिया और 'बहुत अच्छा' कहकर जब युधिष्ठिर ने उनकी आज्ञा स्वीकार कर ली, तब वे वन में अपने आश्रम पर चले गये।

इति महाभारते आश्रमवासिकपर्वणि द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

तृतीयोऽध्यायः

धृतराष्ट्र द्वारा युधिष्ठिर को राजनीति का उपदेश

वैशम्पायन उवाच

गते भगवति व्यासे सर्वे ते विदुरादयः।
पाण्डवाश्च कुरुश्रेष्ठमुपातिष्ठन्त तं नृपम् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भगवान् व्यास के चले जाने पर पाण्डव तथा विदुर आदि सब लोग धृतराष्ट्र की सेवा में उपस्थित हुए।

ततोऽब्रवीन्महाराज कुन्तीपुत्रमुपह्वरे।
निषण्णं पाणिना पृष्ठे संस्पृशन्नम्बिकासुतः ॥२॥

महाराज! उस समय कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर को एकान्त में अपने निकट बैठा जान धृतराष्ट्र ने उनकी पीठ पर हाथ फेरते हुए कहा—

धृतराष्ट्र उवाच

अप्रमादस्त्वया कार्यः सर्वथा कुरुनन्दन।
अष्टाङ्गे राजशार्दूल राज्ये धर्मपुरस्कृते ॥३॥

धृतराष्ट्र बोले—कुरुनन्दन! राजसिंह! आठ अङ्गोंवाले राज्य[1] में तुम सदा धर्म को ही आगे रखना तथा इसके संरक्षण और सञ्चालन में कभी किसी प्रकार भी प्रमाद मत करना।

तत्तु शक्यं महाराज रक्षितुं पाण्डुनन्दन।
राज्यं धर्मेण कौन्तेय विद्वानसि निबोध तत् ॥४॥

महाराज पाण्डुनन्दन! कुन्तीकुमार! राज्य की रक्षा धर्म से ही हो सकती है। इस बात को तुम स्वयं भी जानते हो, तथापि मुझसे भी सुनो!

विद्यावृद्धान् सदैव त्वमुपासीथा युधिष्ठिर।
शृणुयास्ते च यद् ब्रूयुः कुर्याश्चैवाविचारयन् ॥५॥

युधिष्ठिर! तुम विद्या में बढ़े-चढ़े विद्वान् पुरुषों का सदा ही सङ्ग किया करो। वे जो कुछ कहें उसे ध्यानपूर्वक सुनो तथा बिना विचारे उसका पालन करो।

---

[1] राज्य के आठ अङ्ग निम्न हैं—
१. स्वामी, २. अमात्य, ३. सुहृत्, ४. कोष, ५. राष्ट्र, ६. दुर्ग, ७. बल, और ८. नागरिकों की श्रेणियाँ।

प्रातरुत्थाय तान् राजन् पूजयित्वा यथाविधि ।
कृत्यकाले समुत्पन्ने पृच्छेथाः कार्यमात्मनः ।।६।।

राजन् ! प्रातःकाल उठकर उन विद्वानों का यथायोग्य आदर-सत्कार करके कोई कार्य उपस्थित होने पर उनसे अपना कर्तव्य पूछो ।

इन्द्रियाणि च सर्वाणि वाजिवत् परिपालय ।
हितायैव भविष्यन्ति रक्षितं द्रविणं यथा ।।७।।

जैसे सारथि घोड़ों को वश में रखता है, वैसे ही तुम अपनी समस्त इन्द्रियों को अपने वश में रखकर उनकी रक्षा करो । ऐसा करने से वे इन्द्रियाँ सुरक्षित धन की भाँति भविष्य में तुम्हारे लिए निश्चय ही हितकर होंगी ।

अमात्यानुपधातीतान् पितृपैतामहाञ्शुचीन् ।
दान्तान् कर्मसु पुण्यांश्च पुण्यान्सर्वेषु योजयेः ।।८।।

जो [निष्ठा, निर्लिप्तता, संयम और साहस] में सुपरीक्षित, निष्कपटभाव से काम करनेवाले, जो बाप-दादाओं के समय से काम देखते आ रहे हों, जो बाहर-भीतर से शुद्ध, संयमी और जन्म तथा कर्म से भी पवित्र हों, ऐसे मन्त्रियों को ही सब प्रकार के उत्तरदायित्वपूर्ण कार्यों में नियुक्त करना ।

चारयेथाश्च सततं चारैरविदितः परैः ।
परीक्षितैर्बहुविधैः स्वराष्ट्रप्रतिवासिभिः ।।९।।

जिनकी अनेक बार अनेक प्रकार से भली-भाँति परीक्षा कर ली गई हो और जो अपने ही राज्य में निवास करनेवाले हों, ऐसे अनेक गुप्तचरों [जासूसों] को भेजकर उनके द्वारा शत्रुओं के गुप्त भेद लेते रहना चाहिए और प्रयत्नपूर्वक ऐसी चेष्टा करनी चाहिए जिससे शत्रु तुम्हारा भेद न पा सके ।

पुरं च ते सुगुप्तं स्याद् दृढप्राकारतोरणम् ।
अट्टाट्टालकसम्बाधं षट्पदं सर्वतोदिशम् ।।१०।।

तुम्हारे नगर की रक्षा का पूर्ण प्रबन्ध रहना चाहिए । उसके चारों ओर की दीवारें और मुख्य द्वार अत्यन्त सुदृढ़ होने चाहिएँ । मध्य का सारा नगर ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओं और भव्य भवनों से सुशोभित होना चाहिए, सब दिशाओं में छह चहार-दीवारियाँ बनवानी चाहिएँ ।

तस्य द्वाराणि सर्वाणि पर्याप्तानि बृहन्ति च ।
सर्वतः सुविभक्तानि यन्त्रैरारक्षितानि च ।।११।।

नगर के सभी द्वार विशाल और विस्तृत होने चाहिएँ । वे द्वार विभागपूर्वक सुन्दर ढंग से निर्मित होने चाहिएँ तथा नगर की रक्षा के लिए उनके ऊपर यन्त्र लगे हुए होने चाहिएँ ।

स्त्रियश्च ते सुगुप्ताः स्युर्वृद्धैराप्तैरधिष्ठिताः ।
शीलवद्भिः कुलीनैश्च विद्वद्भिश्च युधिष्ठिर ।।१२।।

युधिष्ठिर ! अन्तःपुर की स्त्रियों को कुलीन, शीलयुक्त, विद्वान्, विश्वासपात्र और वृद्ध पुरुषों की अध्यक्षता में रखकर तुम्हें उनकी रक्षा का सुप्रबन्ध करना चाहिए ।

मन्त्रिणश्चैव कुर्वीथा द्विजान्विद्याविशारदान् ।
विनीतांश्च कुलीनांश्च धर्मार्थकुशलानृजून् ।
तैः सार्धं मन्त्रयेथास्त्वं नात्यर्थं बहुभिः सह ।।१३।।

राजन् ! तुम उन्हीं ब्राह्मणों को अपना मन्त्री बनाओ जो विद्या में प्रवीण, विनयशील, कुलीन, धर्म और अर्थ में कुशल एवं सरल स्वभाववाले हों। उन्हीं के साथ तुम गूढ़ विषयों पर मन्त्रणा करो, परन्तु अधिक लोगों को साथ लेकर बहुत देर तक मन्त्रणा=विचार-विमर्श नहीं करनी चाहिए।

वानराः पक्षिणश्चैव ये मनुष्यानुकारिणः ।
सर्वे मन्त्रगृहे वर्ज्या ये चापि जडपङ्गवः ।।१४।।

मनुष्यों का अनुकरण करनेवाले जो वानर और पक्षी आदि हैं, उन सबको तथा मूर्ख और पङ्गु=लूले-लँगड़े मनुष्यों को भी मन्त्रणा-गृह में नहीं आने देना चाहिए ।

मन्त्रभेदे हि ये दोषा भवन्ति पृथिवीक्षिताम् ।
न ते शक्याः समाधातुं कथञ्चिदिति मे मतिः ।।१५।।

गुप्त मन्त्रणा के दूसरों पर प्रकट हो जाने से नरेशों को जो संकट और आपत्तियाँ प्राप्त होती हैं, उनका किसी भी प्रकार समाधान नहीं किया जा सकता—ऐसा मेरा विश्वास है ।

पौरजानपदानां च शौचाशौचे युधिष्ठिर ।
यथा स्याद् विदितं राजंस्तथा कार्यं कुरूद्वह ।।१६।।

राजन् ! कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! नगर और जनपद के निवासियों का हृदय तुम्हारे प्रति शुद्ध है

या अशुद्ध, इस बात का तुम्हें जैसे भी ज्ञान प्राप्त हो सके, वैसा उपाय करना चाहिए।

व्यवहारश्च ते राजन् नित्यमाप्तैरधिष्ठितः।
योज्यस्तुष्टैर्हितैः शीलयुक्तैश्चारैरनुष्ठितः ॥१७॥

राजन्! न्याय करने के काम पर तुम सदा ऐसे ही पुरुषों को नियुक्त करना जो विश्वासपात्र, सन्तोषी, हितैषी और सदाचारी हों तथा गुप्तचरों के द्वारा सदा उनके कार्यों पर दृष्टि रखना।

आदानरुचयश्चैव परदाराभिमर्शिनः।
आक्रोष्टारश्च लुब्धाश्च हर्तारः साहसप्रियाः।
हिरण्यदण्ड्या वध्याश्च कर्तव्या देशकालतः ॥१८॥

जो दूसरों से घूस लेने में रुचि रखते हों, जो पर-स्त्रियों के साथ मैथुन करते हों, जो कटुभाषी, लोभी, दूसरों का धन हड़पनेवाले और दुस्साहसी हों, उन न्यायाधिकारियों को देश-काल का ध्यान रखते हुए सुवर्ण अथवा प्राणदण्ड के द्वारा दण्डित करना चाहिए।

प्रातरेव हि पश्येथा ये कुर्युर्व्ययकर्म ते।
अलङ्कारमथो भोज्यमत ऊर्ध्वं समाचरेः ॥१९॥

प्रातःकाल उठकर [नित्यकर्मों से निवृत्त होने के पश्चात्] सर्वप्रथम तुम्हें उन लोगों से मिलना चाहिए जो तुम्हारे आय-व्यय के कार्य पर नियुक्त हों। तत्पश्चात् अलंकार धारण करने और भोजन करने के काम पर ध्यान देना चाहिए।

पश्येथाश्च ततो योधान् सदा त्वं प्रतिहर्षयन्।
दूतानां च चराणां च प्रदोषस्ते सदा भवेत् ॥२०॥

तत्पश्चात् सैनिकों का हर्ष तथा उत्साह बढ़ाते हुए उनसे मिलना चाहिए। दूत और गुप्तचरों से भेंट करने का तुम्हारे लिए सर्वोत्तम समय सन्ध्याकाल ही है।

सदा चापररात्रान्ते भवेत् कार्यार्थनिर्णयः।
मध्यरात्रे विहारस्ते मध्याह्ने च सदा भवेत् ॥२१॥

प्रहर रात्रि शेष रहते ही उठकर अगले दिन के कार्यक्रम का निश्चय कर लेना चाहिए। आधी रात और दोपहर के समय तुम्हें स्वयं घूम-फिरकर प्रजा की अवस्था का निरीक्षण करना उचित है।

कोशस्य निचये यत्नं कुर्वीथा न्यायतः सदा।
विविधस्य महाराज विपरीतं विवर्जयेः ॥२२॥

महाराज! नाना प्रकार के कोष का संग्रह करने के लिए तुम्हें सदा न्यायानुकूल प्रयत्न करना चाहिए। इसके विपरीत अन्यायपूर्ण उपायों को त्याग देना चाहिए।

चारैर्विदित्वा शत्रूंश्च ये राज्ञामन्तरैषिणः।
तानाप्तैः पुरुषैर्दूराद् घातयेथा नराधिप ॥२३॥

हे नरेश्वर! राजाओं के छिद्र [दोष, दुर्बलता] देखनेवाले राजद्रोही शत्रुओं का गुप्तचरों द्वारा पता लगाकर विश्वसनीय पुरुषों द्वारा उन्हें दूर से ही मरवा डालना चाहिए।

सेनाप्रणेता च भवेत् तव तात दृढव्रतः।
शूरः क्लेशसहश्चैव हितो भक्तश्च पूरुषः ॥२४॥

तात! तुम्हारा सेनापति ऐसा होना चाहिए जो दृढ़प्रतिज्ञ, शूरवीर, भूख-प्यास आदि क्लेश सह सकनेवाला, हितैषी, पुरुषार्थी और स्वामिभक्त हो।

सर्वे जानपदाश्चैव तव कर्माणि पाण्डव।
गोवद्रासभवच्चैव कुर्युर्ये व्यवहारिणः ॥२५॥

पाण्डुकुमार! तुम्हारे राज्य में रहनेवाले जो कारीगर और शिल्पी तुम्हारा काम करें, तुम्हें उनके भरण-पोषण का प्रबन्ध उसी प्रकार करना चाहिए जैसे गधों और बैलों से काम लेनेवाले लोग उनको खिलाते-पिलाते हैं।

स्वरन्ध्रं पररन्ध्रं च स्वेषु चैव परेषु च।
उपलक्षितव्यं ते नित्यमेव युधिष्ठिर ॥२६॥

युधिष्ठिर! तुम्हें स्वजनों और शत्रुओं के छिद्रों [दोषों, त्रुटियों, कमियों] पर सदा ही दृष्टि रखनी चाहिए।

तथामात्या जनपदा दुर्गाणि विविधानि च।
बलानि च कुरुश्रेष्ठ भवत्येषां यथेच्छकम् ॥२७॥

कुरुश्रेष्ठ! अमात्य [मन्त्री], जनपद [देश], नाना प्रकार के दुर्ग और सेना—इनपर शत्रुओं का यथेष्ट लक्ष्य रहता है [अतः इनकी रक्षा के लिए सदा सावधान रहना चाहिए]।

यदा स्वपक्षो बलवान् परपक्षस्तथाबलः।
विगृह्य शत्रून् कौन्तेय जेयः क्षितिपतिस्तदा ॥२८॥

कुन्तीनन्दन! जब अपना पक्ष बलवान् और

शत्रु का पक्ष बलहीन प्रतीत हो, उस समय शत्रु के साथ युद्ध छेड़कर विपक्षी राजा पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

यदा परे च बलिनः स्वपक्षश्चैव दुर्बलः।
सार्धं विद्वाँस्तदा क्षीणः परैः सन्धि समाश्रयेत् ॥२९॥

जिस समय शत्रु-पक्ष प्रबल और अपना पक्ष निर्बल हो, उस समय क्षीणशक्ति विद्वान् पुरुष [राजा] शत्रुओं के साथ सन्धि कर ले।

यदा समर्थो यानाय नचिरेणैव भारत।
तदा सर्वं विधेयं स्यात्स्थानं न स विचारयेत् ॥३०॥

भारत! जब राजा शत्रु पर आक्रमण करने में समर्थ हो, तब तुरन्त ही उसपर आक्रमण करे, इस विषय में कुछ भी पौर्वापर्य का विचार न करे।

भूमिरल्पफला देया विपरीतस्य भारत।
हिरण्यं कुप्यभूयिष्ठं मित्रं क्षीणमथो बलम् ॥३१॥

भरतकुलभूषण! यदि अपनी विपरीत अवस्था हो तो शत्रु को कम उपजाऊ भूमि, थोड़ा-सा सोना तथा अधिक मात्रा में जस्ता-पीतल आदि धातु और दुर्बल मित्र एवं सेना देकर उसके साथ सन्धि कर ले।

विपरीतान्निगृह्णीयात्स्वं हि सन्धिविशारदः।
सन्ध्यर्थं राजपुत्रं वा लिप्सेथा भरतर्षभ ॥३२॥

भरतश्रेष्ठ! यदि शत्रु की विपरीत दशा हो और वह सन्धि के लिए प्रार्थना करे तो सन्धिविशारद राजा उससे उपजाऊ भूमि, सोना, चाँदी आदि धातु और बलवान् मित्र तथा सेना लेकर उसके साथ सन्धि करे अथवा प्रतिद्वन्द्वी राजा के राजकुमार को ही अपने यहाँ प्रतिभू=जमानत के रूप में रखने की चेष्टा करनी चाहिए।

यद्येनमभियायाच्च बलवान् दुर्बलं नृपः।
सामादिभिरुपायैस्तं क्रमेण विनिवर्तयेः ॥३३॥

यदि किसी दुर्बल राजा पर कोई बलवान् राजा आक्रमण कर दे तो क्रमशः साम आदि उपायों द्वारा उस बलवान् राजा को लौटाने का प्रयत्न करना चाहिए।

अशक्नुवंश्च युद्धाय निष्पतेत् सह मन्त्रिभिः।
कोशेन पौरैर्दण्डेन ये चास्य प्रियकारिणः ॥३४॥

यदि अपने में युद्ध करने की शक्ति न हो तो मन्त्रियों के साथ उस आक्रमणकारी राजा की शरण में जाए तथा कोष, पुरवासी मनुष्य, दण्डशक्ति तथा अन्य जो उसको प्रसन्न करनेवाले पदार्थ हों, उन सबको अर्पित करके उस प्रतिद्वन्द्वी को लौटाने की चेष्टा करे।

असम्भवे तु सर्वस्य यथामुख्येन निष्पतेत्।
क्रमेणानेन मुक्तिः स्याच्छरीरमिति केवलम् ॥३५॥

यदि किसी भी उपाय से सन्धि न हो सके तो मुख्य साधन को लेकर शत्रु पर युद्ध के लिए टूट पड़े। इस क्रम से शरीर चला जाए तो भी वीर पुरुष की मुक्ति ही होती है। केवल शरीर दे देना ही उसका मुख्य साधन है।

बलं प्रसादयेद् राजा निक्षिपेद् बलिनो नरान्।
ज्ञात्वा स्वविषयं तत्र सामादिभिरुपक्रमेत् ॥३६॥

राजा को चाहिए कि वह पारितोषिक आदि के द्वारा सेना को सन्तुष्ट रखे और उसमें शूरवीर पुरुषों की भर्ती करे। अपने बलाबल को भली-भाँति समझकर साम आदि उपायों द्वारा सन्धि अथवा विग्रह=युद्ध के लिए उद्योग करे।

एवं त्वया कुरुश्रेष्ठ वर्तितव्यं प्रजाहितम्।
उभयोर्लोकयोस्तात प्राप्तये नित्यमेव हि ॥३७॥

तात! कुरुश्रेष्ठ! इस प्रकार तुम्हें इस लोक और परलोक में सुख पाने के लिए सदा ही प्रजावर्ग के हितसाधन में संलग्न रहना चाहिए।

भीष्मेण सर्वमुक्तोऽसि कृष्णेन विदुरेण च।
मयाप्यवश्यं वक्तव्यं प्रीत्या ते नृपसत्तम ॥३८॥

नृपश्रेष्ठ! भीष्मजी, श्रीकृष्ण और विदुरजी ने तुम्हें सभी बातों का उपदेश कर दिया है। मेरा भी तुमपर स्नेह है, अतः मैंने भी तुम्हें कुछ बताना आवश्यक समझा है।

एतत् सर्वं यथान्यायं कुर्वीथा भूरिदक्षिण।
प्रियस्तथा प्रजानां त्वं स्वर्गे सुखमवाप्स्यसि ॥३९॥

यज्ञ में प्रचुर दक्षिणा देनेवाले महाराज! तुम इन सब बातों का यथोचित रूप से पालन करना। इससे जहाँ तुम प्रजा के प्रीतिपात्र बनोगे, वहाँ स्वर्ग में भी तुम्हें सुख मिलेगा।

अश्वमेधसहस्रेण यो यजेत् पृथिवीपतिः ।
पालयेद् वापि धर्मेण प्रजास्तुल्यं फलं भवेत् ।।४०।।

जो राजा एक सहस्र अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान करता है अथवा दूसरा जो नरेश धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करता है, उन दोनों को समान फल प्राप्त होता है।

इति महाभारते आश्रमवासिकपर्वणि तृतीयोऽध्यायः ।।३।।

चतुर्थोऽध्यायः

कुरुजाङ्गल देश की प्रजा से आज्ञा माँगकर गान्धारीसहित धृतराष्ट्र का वन के लिए प्रस्थान

युधिष्ठिर उवाच

एवमेतत् करिष्यामि यथाऽऽत्थ पृथिवीपते ।
भूयश्चैवानुशास्योऽहं भवता पार्थिवर्षभ ।।१।।

युधिष्ठिर ने कहा—पृथिवीनाथ ! नृपश्रेष्ठ ! आप जैसा कहते हैं, मैं उसी के अनुकूल आचरण करूँगा, परन्तु अभी आप मुझे कुछ और उपदेश कीजिए।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स राजर्षिर्धर्मराजेन धीमता ।
कौन्तेयं समनुज्ञातुमियेष भरतर्षभ ।।२।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ ! बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिर के ऐसा कहने पर राजर्षि धृतराष्ट्र ने कुन्तीपुत्र से जाने के लिए अनुमति लेने की इच्छा की और कहा—

पुत्र संशाम्यतां तावन्ममापि बलवाञ्छ्रमः ।
इत्युक्त्वा प्राविशद् राजा गान्धार्या भवनं तदा ।।३।।

'पुत्र ! अब शान्त रहो। मुझे बोलने में बहुत कष्ट हो रहा है [अब तो मैं वनगमन की ही अनुमति चाहता हूँ]।' ऐसा कहकर महाराज धृतराष्ट्र ने उस समय गान्धारी के भवन में प्रवेश किया।

तमासनगतं देवी गान्धारी धर्मचारिणी ।
उवाच काले कालज्ञा प्रजापतिसमं पतिम् ।।४।।

वहाँ पहुँचकर जब वे आसन पर विराजमान हुए, तब समय को पहचाननेवाली धर्मपरायणा गान्धारीदेवी ने उस समय प्रजापति के समान अपने पति से इस प्रकार पूछा—

अनुज्ञातः स्वयं तेन व्यासेन त्वं महर्षिणा ।
युधिष्ठिरस्यानुमते कदारण्यं गमिष्यसि ।।५।।

'महाराज ! स्वयं महर्षि व्यास ने आपको वन में जाने की आज्ञा प्रदान कर दी है, साथ ही युधिष्ठिर की भी अनुमति मिल गई है। अब आप वन में कब चलेंगे ?

धृतराष्ट्र उवाच

गान्धार्यहमनुज्ञातः स्वयं पित्रा महात्मना ।
युधिष्ठिरस्यानुमते गन्तास्मि नचिराद् वनम् ।।६।।

धृतराष्ट्र बोले—गान्धारि ! मेरे पिता महात्मा व्यास ने स्वयं तो आज्ञा दे ही दी है, युधिष्ठिर की भी अनुमति मिल गई है, अतः अब मैं शीघ्र ही वन को चलूँगा।

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रतीतमनसो ब्राह्मणाः कुरुजाङ्गलाः ।
क्षत्रियाश्चैव वैश्याश्च शूद्राश्चैव समाययुः ।।७।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—उधर राजा का सन्देश पाकर कुरुजाङ्गल देश के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वहाँ आये। उन सबके हृदय में बड़ी प्रसन्नता थी।

ततो निष्क्रम्य नृपतिस्तस्मादन्तःपुरात् तदा ।
ददृशे तं जनं सर्वं सर्वाश्च प्रकृतीस्तथा ।।८।।

उनके आने का समाचार सुनकर महाराज धृतराष्ट्र अन्तःपुर से बाहर निकले और नगर तथा जनपद की समस्त प्रजा को दर्शन दिया [अथवा प्रजा से मिले]।

समवेतांश्च तान्सर्वान्पौरान् जानपदाँस्तथा ।
तानागतानभिप्रेक्ष्य समस्तं च सुहृज्जनम् ।।९।।
ब्राह्मणाँश्च महीपाल नानादेशसमागतान् ।
उवाच मतिमान् राजा धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ।।१०।।

पृथिवीपालक जनमेजय ! राजा ने देखा [सुहृदों के द्वारा जाना] कि समस्त पुरवासी और जनपद के लोग वहाँ आ गये हैं। सुहृद्-वर्ग के सभी लोग भी

उपस्थित हैं और नाना देशों के ब्राह्मण भी पधारे हैं। तब बुद्धिमान् अम्बिकाकुमार राजा धृतराष्ट्र ने उन सभी को सम्बोधित करते हुए कहा—

भवन्तः कुरवश्चैव चिरकालं सहोषिताः।
परस्परस्य सुहृदः परस्परहिते रताः ॥११॥

"सज्जनो! आप और कौरव चिरकाल से एक-साथ रहते आये हैं। आप सब एक-दूसरे के सुहृद् हैं और सभी सदा एक-दूसरे के हित में तत्पर रहते आये हैं।

यदिदानीमहं ब्रूयामस्मिन् काल उपस्थिते।
तथा भवद्भिः कर्तव्यमविचार्य वचो मम ॥१२॥

"इस समय मैं आप लोगों से वर्तमान समय के अनुरूप जो कुछ कहूँ, मेरे उस कथन को आप बिना सोचे-विचारे स्वीकार करें, ऐसी मेरी प्रार्थना है।

अरण्यगमने बुद्धिर्गान्धारीसहितस्य मे।
व्यासस्यानुमते राज्ञस्तथा कुन्तीसुतस्य च ॥१३॥

"मैंने गान्धारी के साथ वन में जाने का निश्चय किया है, इसके लिए मुझे महर्षि व्यास और कुन्तीकुमार राजा युधिष्ठिर की अनुमति मिल गई है।

भवन्तोऽप्यनुजानन्तु मा च वोऽभूद्विचारणा।
अस्माकं भवतां चैव येयं प्रीतिर्हि शाश्वती।
न च सान्येषु देशेषु राज्ञामिति मतिर्मम ॥१४॥

"अब आप लोग भी मुझे वन में जाने की आज्ञा प्रदान करें। इस विषय में आपके मन में कोई अन्यथा विचार नहीं होना चाहिए। आप लोगों का हमारे साथ जो यह प्रेम-सम्बन्ध सदा से चला आ रहा है, ऐसा सम्बन्ध दूसरे देश के राजाओं के साथ वहाँ की प्रजा का नहीं होगा, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है।

शान्तोऽस्मि वयसानेन तथा पुत्रविनाकृतः।
उपवासकृशश्चास्मि गान्धारीसहितोऽनघाः ॥१५॥

"निष्पाप प्रजाजन! इस वृद्धावस्था ने गान्धारी-सहित मुझे बहुत थका दिया है। पुत्रों के मारे जाने का दुःख भी बना ही रहता है और निरन्तर उपवास करने के कारण भी हम दोनों बहुत दुर्बल हो गये हैं।

युधिष्ठिरगतेराज्ये प्राप्तश्चास्मि सुखं महत्।
मन्ये दुर्योधनैश्वर्याद् विशिष्टमिति सत्तमाः ॥१६॥

"सज्जनो! युधिष्ठिर के राज्य में मुझे अत्यन्त सुख मिला है। मैं समझता हूँ कि दुर्योधन के राज्य से भी बढ़कर सुख मुझे प्राप्त हुआ है।

मम चान्धस्य वृद्धस्य हतपुत्रस्य का गतिः।
ऋते वनं महाभागास्तन्मानुज्ञातुमर्हथ ॥१७॥

"एक तो मैं जन्म से अन्धा हूँ, दूसरा वृद्ध हो गया हूँ, तीसरे मेरे सभी पुत्र मारे गये हैं। महाभाग प्रजाजन! अब आप ही बताएँ, वन में जाने के अतिरिक्त मेरे लिए दूसरी कौन-सी गति है? अतः अब आप सब मुझे वन में जाने की अनुमति प्रदान करें।

वृद्धोऽयं हतपुत्रोऽयं दुःखितोऽयं नराधिपः।
पूर्वराज्ञां च पुत्रोऽयमिति कृत्वानुजानत ॥१८॥

"यह राजा धृतराष्ट्र बूढ़ा है, इसके सभी पुत्र मारे गये हैं, अतः यह दुःख में डूबा हुआ है तथा यह अपने प्राचीन राजाओं का वंशज है'—ऐसा समझकर आप लोग मेरे अपराधों को क्षमा करते हुए मुझे वन में जाने की आज्ञा दें।

इयं च कृपणा वृद्धा हतपुत्रा तपस्विनी।
गान्धारी पुत्रशोकार्ता युष्मान्याचति वै मया ॥१९॥

"यह बेचारी वृद्धा तपस्विनी गान्धारी, जिसके सभी पुत्र मारे गये हैं और जो पुत्रशोक से व्यथित रहती है, मेरे साथ आप लोगों से क्षमायाचना चाहती है।

हतपुत्राविमौ वृद्धौ विदित्वा दुःखितौ तथा।
अनुजानीत भद्रं वो व्रजावः शरणं च वः ॥२०॥

"हम दोनों बूढ़ों को पुत्रों के मारे जाने से दुःखी जानकर आप लोग हमें वन में जाने की अनुमति प्रदान करें। आपका कल्याण हो! हम दोनों आपकी शरण में आये हैं।

अयं च कौरवो राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
सर्वैर्भवद्भिर्द्रष्टव्यः समेषु विषमेषु च ॥२१॥

"यह कुरुकुलभूषण कुन्तीकुमार राजा युधिष्ठिर आप लोगों के पालक और रक्षक हैं। अच्छी और बुरी सभी स्थितियों में आप सब लोग इनपर कृपा-दृष्टि रखें।

चत्वारः सचिवा यस्य भ्रातरो विपुलौजसः।
युधिष्ठिरो महातेजा भवतः पालयिष्यति ॥२२॥

"भीम आदि महातेजस्वी चार भाई जिनके

सचिव [मन्त्री] हैं, वे महातेजस्वी युधिष्ठिर आप लोगों का पालन करेंगे ।

अवश्यमेव वक्तव्यमिति कृत्वा ब्रवीमि वः ।
एष न्यासो मया दत्तः सर्वेषां वो युधिष्ठिरः ।
भवन्तोऽस्य च वीरस्य न्यासभूताः कृता मया ।।२३।।

"मुझे ये बातें अवश्य कहनी चाहिए थीं, ऐसा सोचकर ही मैं आप लोगों से यह सब कहता हूँ । मैं इन राजा युधिष्ठिर को धरोहर के रूप में आप लोगों के हाथों में सौंप रहा हूँ और आप लोगों को भी इन वीर नरेश के हाथ में धरोहर की भाँति रख रहा हूँ ।

यदेव तैः कृतं किञ्चिद् व्यलीकं वः सुतैर्मम ।
यदन्येन मदीयेन तदनुज्ञातुमर्हथ ।।२४।।

"मेरे पुत्रों ने और मुझसे सम्बन्ध रखनेवाले अन्य किसी ने आप लोगों का जो कुछ भी अपराध किया हो, उसके लिए मुझे क्षमा करें और वन में जाने की अनुमति दें ।

भवद्भिर्न हि मे मन्युः कृतपूर्वः कथञ्चन ।
अत्यन्तगुरुभक्तानामेषोऽञ्जलिरिदं नमः ।।२५।।

"आप लोगों ने पहले मुझपर किसी प्रकार का कोई रोष प्रकट नहीं किया है । आप सभी अत्यन्त गुरुभक्त हैं, अतः आपके सामने मेरे ये दोनों हाथ जुड़े हुए हैं और मैं आप सबको यह प्रणाम करता हूँ ।"

तत् श्रुत्वा कुरुराजस्य वाक्यानि करुणानि ते ।
रुरुदुः सर्वशो राजन् समेताः कुरुजाङ्गलाः ।।२६।।
उत्तरीयैः करैश्चापि संच्छाद्य वदनानि ते ।
रुरुदुः शोकसन्तप्ता मुहूर्तं पितृमातृवत् ।।२७।।

राजन् ! कुरुराज धृतराष्ट्र की ये करुणाभरी बातें सुनकर वहाँ इकट्ठे हुए कुरुजाङ्गल देश के सब लोग दुपट्टों और हाथों से अपना-अपना मुँह ढककर रोने लगे । अपनी सन्तान को विदा करते समय दुःख से कातर हुए पिता-माता की भाँति वे दो घड़ी तक शोक से व्याकुल होकर रोते रहे ।

ततः सन्धाय ते सर्वे वाक्यान्यथ समासतः ।
एकस्मिन्ब्राह्मणे राजन्निवेश्योचुर्नराधिपम् ।।२८।।

राजन् ! तत्पश्चात् आपस में वार्तालाप कर और एकमत होकर उन सब लोगों ने थोड़े में अपनी सारी बातें कहने का भार एक ब्राह्मण पर रखा और उसके द्वारा ही उन्होंने राजा से अपनी बात कही ।

ततः स्वाचरणो विप्रः सम्मतोऽर्थविशारदः ।
साम्बाख्यो बह्वृचो राजन् वक्तुं समुपचक्रमे ।।२९।।

हे राजन् ! वे ब्राह्मण देवता सदाचारी, सबके माननीय, अर्थज्ञान में निपुण और वेदों के विद्वान् थे । उनका नाम था साम्ब । उन्होंने इस प्रकार कहना आरम्भ किया—

राजन् वाक्यं जनस्यास्य मयि सर्वं समर्पितम् ।
वक्ष्यामि तदहं वीर तज्जुषस्व नराधिप ।।३०।।

"राजन् ! वीर नरेश ! यहाँ उपस्थित हुए समस्त जनसमुदाय ने अपना मन्तव्य प्रकट करने का सारा भार मुझे सौंपा है, अतः मैं इन्हीं की बातें आपकी सेवा में निवेदन करूँगा । आप प्रीतिपूर्वक सुनने की कृपा करें ।

यथा वदसि राजेन्द्र सर्वमेतत्तथा विभो ।
नात्र मिथ्या वचः किञ्चित्सुहृत्त्वं नः परस्परम् ।।३१।।

"हे राजन् ! प्रभो ! आप जो कुछ कहते हैं, वह सब ठीक है । उसमें असत्य का लेश भी नहीं है । वास्तव में इस राजवंश में और हम लोगों में परस्पर दृढ़ सौहार्द स्थापित हो चुका है ।

न जात्वस्य च वंशस्य राज्ञां कश्चित्कदाचन ।
राजाऽऽसीद्यः प्रजापालः प्रजानामप्रियोऽभवत् ।।३२।।

"इस राजवंश में कभी कोई ऐसा राजा नहीं हुआ, जो प्रजापालन करते समय सम्पूर्ण प्रजाओं का प्रीतिपात्र न रहा हो ।

पितृवद् भ्रातृवच्चैव भवन्तः पालयन्ति नः ।
न च दुर्योधनः किञ्चिदयुक्तं कृतवान्नृपः ।।३३।।

"आप लोग पिता तथा बड़े भाई के समान हमारा पालन करते आये हैं । राजा दुर्योधन ने भी हमारे साथ कोई अनुचित व्यवहार नहीं किया था ।

उषिताः स्म सुखं नित्यं भवता परिपालिताः ।
सुसूक्ष्मं च व्यलीकं ते सपुत्रस्य न विद्यते ।।३४।।

"आपके द्वारा सुरक्षित होकर हम लोग सदा सुख से रहते आये हैं । पुत्रसहित आपका कोई सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अपराध भी हमारे देखने में नहीं आया ।

यथा ब्रवीति धर्मात्मा मुनिः सत्यवतीसुतः ।
तथा कुरु महाराज स हि नः परमो गुरुः ॥३५॥

"महाराज ! परम धर्मात्मा सत्यवतीनन्दन मुनिवर व्यासजी आपको जैसा परामर्श देते हैं, आप वैसा ही कीजिए, क्योंकि वे हम सब लोगों के परम गुरु हैं ।

प्राप्स्यते च भवान्पुण्यं धर्मे च परमां स्थितिम् ।
वेद धर्मं च कृत्स्नेन सम्यक् त्वं भव सुव्रतः ॥३६॥

"आप पुण्य और धर्म में ऊँची स्थिति प्राप्त करें । आप सम्पूर्ण धर्मों को ठीक-ठीक जानते हैं, अतः आप उत्तम व्रतों के अनुष्ठान में लग जाइए ।

दीर्घदर्शी मृदुर्दान्तः सदा वैश्रवणो यथा ।☐
अक्षुद्रसचिवश्चायं कुन्तीपुत्रो महामनाः ॥३७॥

"ये कुन्तीनन्दन सदा कुबेर के समान दीर्घदर्शी, कोमल स्वभाववाले तथा जितेन्द्रिय हैं । इनके मन्त्री भी उच्च विचार के हैं । इनका हृदय अत्यन्त विशाल है ।

अप्यमित्रे दयावांश्च शुचिश्च भरतर्षभः ।☐
ऋजुं पश्यति मेधावी पुत्रवत् पाति नः सदाः ॥३८॥

"ये भरतकुलभूषण युधिष्ठिर शत्रुओं पर भी दया करनेवाले तथा परम पवित्र हैं । बुद्धिमान् होने के साथ ही ये सबको सरलभाव से देखनेवाले हैं और हम लोगों का सदा पुत्र के समान पालन करते हैं ।

स राजन् मानसं दुःखमपनीय युधिष्ठिरात् ।
कुरु कार्यानि धर्म्याणि नमस्ते पुरुषर्षभ ॥३९॥

"पुरुषप्रवर महाराज ! आप युधिष्ठिर की ओर से अपने मानसिक दुःख को हटाकर धार्मिक कार्यों के अनुष्ठान में लग जाइए । आपको समस्त प्रजा का नमस्कार है !"

तस्य तद्वचनं धर्म्यमनुमान्य गुणोत्तरम् ।
साधु साध्विति सर्वः स जनः प्रतिगृहीतवान् ॥४०॥

जनमेजय ! साम्ब के धर्मानुकूल तथा उत्तम गुणयुक्त वचन सुनकर समस्त प्रजा उन्हें सादर साधुवाद देने लगी तथा सबने उनकी बात का अनुमोदन किया ।

धृतराष्ट्रश्च तद्वाक्यमभिपूज्य पुनः पुनः ।
विसर्जयामास तदा प्रकृतीस्तु शनैः शनैः ॥४१॥

महाराज धृतराष्ट्र ने भी साम्ब के वचनों की सराहना की और सारी प्रजा को धीरे-धीरे विदा किया ।

ततो विवेश भवनं गान्धार्या सहितो निजम् ।
व्युष्टायां चैव शर्वर्यां यच्चकार निबोध तत् ॥४२॥

तत्पश्चात् महाराज धृतराष्ट्र गान्धारी के साथ अपने महल में चले गये । जब रात्रि व्यतीत हुई और प्रभात हुआ, तब उन्होंने जो कुछ किया, वह वताता हूँ, सुनो !

ततः प्रभाते राजा स धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ।
आहूय पाण्डवान् वीरान् वनवासे कृतक्षणः ॥४३॥
अग्निहोत्रं पुरस्कृत्य वल्कलाजिनसंवृतः ।
वधूजनवृतो राजा निर्ययौ भवनात् ततः ॥४४॥

जनमेजय ! तदनन्तर प्रातःकाल अम्बिकानन्दन धृतराष्ट्र ने वनवास की तैयारी करके वीर पाण्डवों को बुलाया । उन्होंने वल्कल और मृगचर्म धारण किये तथा अग्निहोत्र को आगे करके पुत्र-वधुओं से घिरे हुए राजा धृतराष्ट्र राजभवन से बाहर निकले ।

ततः प्रासादहर्म्येषु वसुधायां च पार्थिव ।
नारीणां च नराणां च निःस्वनः सुमहानभूत् ॥४५॥

पृथिवीपाल ! उस समय महलों, अट्टालिकाओं और पृथिवी पर [राजधानी में] भी रोते हुए नर-नारियों का महान् कोलाहल छा गया ।

स राजा राजमार्गेण नृनारीसंकुलेन च ।
कथञ्चिन्निर्ययौ धीमान् वेपमानः कृताञ्जलिः ॥४६॥

पुरुषों और स्त्रियों की भीड़ से भरे हुए राजमार्ग पर चलते हुए बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्र बड़ी कठिनाई से आगे बढ़ पाते थे । उनके दोनों हाथ जुड़े हुए थे और शरीर काँप रहा था ।

स वर्धमानद्वारेण निर्ययौ गजसाह्वयात् ।
तं च विसर्जयामास जनौघं स मुहुर्मुहुः ॥४७॥

महाराज धृतराष्ट्र वर्धमान द्वार से होते हुए हस्तिनापुर से बाहर निकले । वहाँ पहुँचकर उन्होंने बारम्बार आग्रह करके अपने साथ आये हुए जनसमूह को विदा किया ।

विदुरो च वनं गन्तुं राज्ञा सह कृतक्षणः ।
सञ्जयश्च महामात्रः सूतो गावल्गणिस्तथा ॥४८॥

महात्मा विदुर तथा गवल्गणकुमार महामात्र सूत सञ्जय ने राजा के साथ ही वन में जाने का निश्चय कर लिया था।

कृपं निवर्तयास युयुत्सुं च महारथम्।
धृतराष्ट्रो महीपालः परिदाप्य युधिष्ठिरे ॥४९॥

महाराज धृतराष्ट्र ने कृपाचार्य तथा महारथी युयुत्सु को युधिष्ठिर के हाथों में सौंपकर लौटाया।

निवृत्ते पौरवर्गे च राजा सान्तःपुरस्तथा।
धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञातो निर्वर्तितुमियेष ह ॥५०॥

पुरवासियों के लौट जाने पर अन्तःपुर की रानियोंसहित राजा युधिष्ठिर ने धृतराष्ट्र की आज्ञा लेकर लौट जाने का विचार किया।

सोऽब्रवीन्मातरं कुन्तीं वनं तमनुजग्मुषीम्।
अहं राजानमन्विष्ये भवती विनिवर्तताम् ॥५१॥
वधूपरिवृता राज्ञि नगरं गन्तुमर्हसि।
राजा यात्वेष धर्मात्मा तापस्ये कृतनिश्चयः ॥५२॥

उस समय उन्होंने वन की ओर जाती हुई अपनी माता कुन्ती से कहा—"माताजी ! आप अपनी पुत्र-वधुओं के साथ लौटिए, नगर को चलिए। मैं राजा के पीछे-पीछे जाऊँगा, क्योंकि ये धर्मात्मा नरेश तपस्या के लिए निश्चय करके वन में जा रहे हैं, अतः इन्हें जाने दीजिए।"

इत्युक्ता धर्मराजेन बाष्पव्याकुललोचना।
जगामैव तदा कुन्ती गान्धारीं परिगृह्य ह ॥५३॥

धर्मराज युधिष्ठिर के ऐसा कहने पर कुन्तीदेवी की आँखों में आँसू भर आये, फिर भी वे गान्धारी का हाथ पकड़े चलती ही रहीं।

कुन्त्युवाच

श्वश्रूश्वशुरयोः पादान् शुश्रूषन्ती वने त्वहम्।
गान्धारीसहिता वत्स्ये तापसी मलपङ्किनी ॥५४॥

चलते-चलते कुन्ती ने कहा—वत्स ! अब मैं वन में गान्धारी के साथ शरीर पर मैल तथा कीचड़ धारण किये तपस्विनी बनकर रहूँगी और अपने इन सास-ससुर के चरणों की सेवा में लगी रहूँगी।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स धर्मात्मा भ्रातृभिः सहितो वशी।
विषादमगमद् धीमान् न च किञ्चिदुवाच ह ॥५५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! माता के ऐसा कहने पर अपने मन को वश में रखनेवाले धर्मात्मा और बुद्धिमान् युधिष्ठिर भाइयोंसहित अत्यन्त दुःखी हुए। उस समय वे कुछ भी बोल नहीं सके।

मुहूर्तमिव तु ध्यात्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः।
उवाच मातरं दीनश्चिन्ताशोकपरायणः ॥५६॥

दो घड़ी तक कुछ सोच-विचारकर चिन्ता और शोक में डूबे हुए धर्मराज युधिष्ठिर ने दीन होकर माताजी से कहा—

किमिदं ते व्यवसितं नैवं त्वं वक्तुमर्हसि।
न त्वामभ्यनुजानामि प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥५७॥

"माताजी ! आपने यह क्या निश्चय कर लिया ? आपको ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए। मैं आपको वन में जाने की अनुमति नहीं दे सकता। आप मुझपर कृपा करें।

पुरोद्यतान् पुरा ह्यस्मानुत्साह्य प्रियदर्शने।
विदुलाया वचोभिस्त्वं नास्मान् संत्यक्तुमर्हसि ॥५८॥

"प्रियदर्शने ! पहले जब हम लोग नगर से बाहर [वन में] जाने के लिए उद्यत थे, उस समय आपने विदुला के वचनों द्वारा हमें क्षत्रिय धर्म के पालन के लिए उत्साहित किया था, अतः आज हमें त्याग-कर आपका वन में जाना आपके लिए उचित नहीं है।

निहत्य पृथिवीपालान् राज्यं प्राप्तमिदं मया।
तव प्रज्ञामुपश्रुत्य वासुदेवान्नरर्षभात् ॥५९॥

"पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के मुख से आपका सन्देश सुनकर ही मैंने अनेक राजाओं का संहार करके इस राज्य को प्राप्त किया है।

क्व सा बुद्धिरियं चाद्य भवत्या यत् श्रुतं मया।
क्षत्रधर्मे स्थितिं चोक्त्वा तस्याश्च्यवितुमिच्छसि ॥६०

"कहाँ आपकी वह बुद्धि और कहाँ आपका यह विचार ! मैंने आपका जो विचार सुना है, उसके अनुसार हमें क्षत्रियधर्म में स्थित रहने का उपदेश देकर आप स्वयं उससे गिरना चाहती हैं !

अस्मानुत्सृज्य राज्यं च स्नुषा हीमा यशस्विनि।
कथं वत्स्यसि दुर्गेषु वनेष्वद्य प्रसीद मे ॥६१॥

"यशस्विनी माताजी ! भला आप हमें, अपनी

इन वधुओं तथा राज्य को छोड़कर अब उन दुर्गम वनों में कैसे रह सकेंगी ? अतः हम लोगों पर कृपा करके यहीं रहिए ।"

इति बाष्पकला वाचः कुन्ती पुत्रस्य शृण्वती ।
सा जगामाश्रुपूर्णाक्षी भीमस्तामिदमब्रवीत् ॥६२॥

अपने पुत्र के रुँधे हुए कण्ठ से निकले वचनों को सुनकर कुन्ती के नेत्रों में आँसू उमड़ आये, तो भी वे रुक न सकीं—आगे ही बढ़ती गईं । तब भीमसेन ने उनसे कहा—

यदा राज्यमिदं मातर्भोक्तव्यं पुत्रनिर्जितम् ।
प्राप्तव्या राजधर्माश्च तदेयं ते कुतो मतिः ॥६३॥

"माताजी ! जब पुत्रों के द्वारा जीते हुए इस राज्य के भोगने का अवसर आया तथा राजधर्म के पालन की सुविधा प्राप्त हुई, तब आपकी बुद्धि ऐसी कैसे हो गई ?

अस्माभिः कारितं किन्तत् भवत्या पृथिवीक्षयम् ।
कस्य हेतोः परित्यज्य वनं गन्तुमभीप्ससि ॥६४॥

"यदि ऐसा ही करना था तो आपने इस भूमण्डल का विनाश क्यों कराया ? आप हमारा परित्याग करके वन में क्यों जाना चाहती हैं ?

वनाच्चापि किमानीता भवत्या बालका वयम् ।
दुःखशोकसमाविष्टौ माद्रीपुत्राविमौ तथा ॥६५॥

"जब आपको वन में ही जाना था, तब आप हमें तथा दुःख और शोक में डूबे हुए इन माद्रीकुमारों को बाल्यावस्था में वन से नगर में क्यों लाई थीं ?

प्रसीद देवि मा गास्त्वं वनमद्य यशस्विनि ।
श्रियं यौधिष्ठिरीं मातर्भुङ्क्ष्व तावद्बलार्जितम् ॥६६॥

"मेरी यशस्विनी माँ ! आप प्रसन्न हों । आप हमें छोड़कर वन में न जाएँ । हे देवि ! पराक्रम द्वारा प्राप्त हुई राजा युधिष्ठिर की इस राज्यलक्ष्मी का उपभोग करें ।"

इति सा निश्चितैवाशु वनवासाय भाविनी ।
लालप्यतां बहुविधं पुत्राणां नाकरोद् वचः ॥६७॥

शुद्ध अन्तःकरणवाली कुन्तीदेवी वन में जाने का दृढ़ निश्चय कर चुकी थीं, अतः नाना प्रकार से विलाप करते हुए अपने पुत्रों का अनुरोध उन्होंने स्वीकार नहीं किया ।

द्रौपदी चान्वयाच्छ्वश्रूं विषण्णवदना तदा ।
वनवासाय गच्छन्तीं रुदती भद्रया सह ॥६८॥

सास को इस प्रकार वनवास के लिए जाती देख द्रौपदी के मुख पर भी विषाद छा गया । वह सुभद्रा के साथ रोती हुई स्वयं भी कुन्ती के पीछे-पीछे जाने लगी ।

सा पुत्रान् रुदतः सर्वान् मुहुर्मुहुरवेक्षती ।
जगामैव महाप्राज्ञा वनाय कृतनिश्चया ॥६९॥

महाबुद्धिमती कुन्ती वनवास का निश्चय कर चुकी थीं, अतः अपने रोते हुए समस्त पुत्रों की ओर बारम्बार देखती हुई वे आगे ही बढ़ती जाती थीं ।

अन्वयुः पाण्डवास्तां तु सभृत्यान्तःपुरस्तथा ।
ततः प्रमृज्य साश्रूणि पुत्रान् वचनमब्रवीत् ॥७०॥

पाण्डव भी अपने सेवकों तथा अन्तःपुर की स्त्रियों के साथ उनके पीछे-पीछे चलने लगे । तब कुन्ती ने आँसू पोंछकर अपने पुत्रों से इस प्रकार कहा—

कुन्त्युवाच

एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि पाण्डव ।
कृतमुद्धर्षणं पूर्वं मया वः सीदतां नृपाः ॥७१॥

कुन्ती ने कहा—महाबाहु पाण्डुनन्दन ! तुम जो कुछ कह रहे हो, वह सब ठीक है । राजाओ ! पूर्वकाल में हम नाना प्रकार के कष्ट उठाकर शिथिल हो गये थे, अतः मैंने तुम्हें युद्ध के लिए प्रेरित और उत्साहित किया था ।

द्यूतापहृतराज्यानां पतितानां सुखादपि ।
ज्ञातिभिः परिभूतानां कृतमुद्धर्षणं मया ॥७२॥

जुए में तुम्हारा राज्य छीन लिया गया था । तुम सुख से भ्रष्ट हो चुके थे तथा तुम्हारे बन्धु-बान्धव तुम्हारा तिरस्कार करते थे, अतः मैंने तुम्हें युद्ध के लिए उत्साह प्रदान किया था ।

कथं पाण्डोर्न नश्येत संततिः पुरुषर्षभाः ।
यशश्च वो न नश्येत इति चोद्धर्षणं कृतम् ॥७३॥

श्रेष्ठ पुरुषो ! मेरी अभिलाषा थी कि पाण्डु की सन्तान किसी प्रकार नष्ट न हो तथा तुम्हारे यश का भी नाश न होने पाये, इसीलिए मैंने तुम्हें युद्ध करने के लिए उत्साहित किया था ।

यूयमिन्द्रसमाः सर्वे देवतुल्यपराक्रमाः ।
मा परेषां मुखप्रेक्षा स्थेत्येवं तत्कृतं मया ।।७४।।

तुम सभी देवराज इन्द्र के समान शक्तिशाली तथा देवताओं के तुल्य पराक्रमशाली होकर जीविका के लिए दूसरों का मुँह न ताको, अतः मैंने वह सब किया था ।

कथं न राजवंशोऽयं नश्येत् प्राप्य सुतान्मम ।
पाण्डोरिति मया पुत्रास्तस्मादुद्धर्षणं कृतम् ।।७५।।

पुत्रो ! मेरे तथा पाण्डु के पुत्रों तक पहुँचकर यह राजवंश किसी प्रकार नष्ट न हो जाए, अतः मैंने तुम्हारे उत्साह का वर्धन किया था ।

भुक्तं राज्यफलं पुत्रा भर्तुर्मे विपुलं पुरा ।
महादानानि दत्तानि पीतः सोमो यथाविधि ।।७६।।

पुत्रो ! मैंने पूर्वकाल में अपने स्वामी महाराज पाण्डु के विशाल राज्य का सुख भोग लिया है, बड़े-बड़े दान दिये हैं तथा यज्ञ में विधिपूर्वक सोमपान भी किया है ।

नाहमात्मफलार्थं वै वासुदेवमचूचुदम् ।
विदुलायाः प्रलापैस्तैः पालनार्थं च तत्कृतम् ।।७७।।

मैंने अपने लाभ के लिए श्रीकृष्ण को प्रेरित नहीं किया था । मैंने विदुला का उपाख्यान और वचन सुनाकर उन-[श्रीकृष्ण]-के द्वारा तुम्हारे पास जो सन्देश भेजा था, वह सब तुम लोगों की रक्षा के उद्देश्य से ही किया था ।

निवर्तस्व कुरुश्रेष्ठ भीमसेनादिभिः सह ।
धर्मे ते धीयतां बुद्धिर्मनस्तु महदस्तु च ।।७८।।

कुरुश्रेष्ठ ! अब तुम भीमसेन आदि के साथ लौट जाओ । तुम्हारी बुद्धि सदा धर्म में लगी रहे और तुम्हारा हृदय अत्यन्त विशाल [उदार] हो ।

वैशम्पायन उवाच

कुन्त्यास्तु वचनं श्रुत्वा पाण्डवा राजसत्तम ।
व्रीडिताः संन्यवर्तन्त पाञ्चाल्या सहिताऽनघाः ।।७९।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—नृपश्रेष्ठ ! कुन्ती की बात सुनकर निष्पाप पाण्डव बहुत लज्जित एवं दुःखित हुए और द्रौपदी के साथ वहाँ से लौटने लगे ।

उपावृत्तेषु पार्थेषु सर्वास्वेव वधूषु च ।
ययौ राजा महाप्राज्ञो धृतराष्ट्रो वनं तदा ।।८०।।

जब कुन्तीदेवी के सभी पुत्र और सारी बहुएँ लौट गईं, तब महाबुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्र वन की ओर चले ।

पाण्डवाश्चातिदीनास्ते दुःखशोकपरायणाः ।
यानैः स्त्रीसहिताः सर्वे पुरं प्रविविशुस्तदा ।।८१।।

उस समय पाण्डव अत्यन्त दीन तथा दुःख और शोक में डूब रहे थे । उन्होंने वाहनों पर बैठकर स्त्रियोंसहित नगर में प्रवेश किया ।

तदहृष्टमनानन्दं गतोत्सवमिवाभवत् ।
नगरं हास्तिनपुरं सस्त्रीवृद्धकुमारकम् ।।८२।।

उस दिन बालक, वृद्ध और स्त्रियोंसहित सारा हस्तिनापुर नगर हर्ष और आनन्द से रहित तथा उत्सवशून्य-सा हो रहा था ।

सर्वे चासन् निरुत्साहाः पाण्डवा जातमन्यवः ।
कुन्त्या हीनाः सुदुःखार्ता वत्सा इव विनाकृताः ।।८३।।

सभी पाण्डवों का उत्साह नष्ट हो चुका था । वे दीन और दुःखी हो गये थे । माता कुन्ती से बिछुड़कर दुःख से अत्यन्त दुःखी हो वे बिना गाय के बछड़ों के समान व्याकुल हो गये थे ।

धृतराष्ट्रस्तु तेनाह्ना गत्वा सुमहदन्तरम् ।
ततो भागीरथीतीरे निवासमकरोत्प्रभुः ।।८४।।

उधर महाराजा धृतराष्ट्र ने उस दिन बहुत दूर तक यात्रा करके सन्ध्या के समय गङ्गा के तट पर निवास किया ।

प्रादुष्कृता यथान्यायमग्नयो वेदपारगैः ।
व्यराजन्त द्विजश्रेष्ठैस्तत्र तत्र तपोवने ।।८५।।

वहाँ के तपोवन में वेदों के पारंगत श्रेष्ठ ब्राह्मणों ने जहाँ-तहाँ विधिपूर्वक जो यज्ञाग्नियाँ प्रज्वलित की थीं, वे अत्यन्त शोभा पा रही थीं ।

प्रादुष्कृताग्निरभवत् स च वृद्धो नराधिपः ।
स राजाग्नीन् पर्युपास्य हुत्वा च विधिवत्तदा ।
सन्ध्यागतं सहस्रांशुमुपातिष्ठत भारत ।।८६।।

भरतनन्दन ! वृद्ध राजा धृतराष्ट्र ने भी [अपने साथ लाई हुई] अग्नि को प्रज्वलित किया, फिर त्रिविध [दक्षिण, गार्हपत्य और आहवनीय] अग्नियों की उपासना करके उनमें विधिपूर्वक आहुति प्रदान

कर राजा ने सायंकालिक सूर्य का उपस्थान किया, सन्ध्योपासना की ।

विदुरः सञ्जयश्चैव राज्ञः शय्यां कुशैस्ततः ।
चक्रतुः कुरुवीरस्य गान्धार्याश्चाविदूरतः ॥८७॥

तत्पश्चात् विदुर और सञ्जय ने कुरुप्रवीर राजा धृतराष्ट्र के लिए कुशों की शय्या बिछा दी । उनके समीप ही गान्धारी के लिए भी एक पृथक् शय्या लगा दी गई ।

गान्धार्याः सन्निकर्षे तु निषसाद कुशे सुखम् ।
युधिष्ठिरस्य जननी कुन्ती साधुव्रते स्थिता ॥८८॥

उत्तम व्रताचारण में स्थित महाराजा युधिष्ठिर की माता कुन्ती देवी ने भी गान्धारी के निकट ही कुशासन पर ही सुखपूर्वक शयन किया ।

तेषां संश्रवणे चापि निषेदुर्विदुरादयः ।
याजकाश्च यथोद्देशं द्विजा ये चानुयायिनः ॥८९॥

विदुर आदि अन्य सभी लोग राजा से उतनी दूर पर सोये, जहाँ से उनकी आवाज सुनाई दे सके। यज्ञ करानेवाले ब्राह्मण तथा राजा के साथ आये हुए अन्य द्विजगण भी यथायोग्य स्थानों पर सोये ।

ततो रात्र्यां व्यतीतायां कृतपूर्वाह्णिकक्रियाः ।
हुत्वाग्निं विधिवत्सर्वे प्रययुस्ते यथाक्रमम् ॥९०॥

सुखपूर्वक सोकर रात्रि व्यतीत होने पर पूर्वाह्णकालिक क्रिया [शौच, स्नान आदि] पूरी करके, विधिपूर्वक अग्निहोत्र [हवन] करने के पश्चात् वे सब लोग क्रमशः आगे बढ़ने लगे ।

इति महाभारते आश्रमवासिकपर्वणि चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

पञ्चमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र आदि का शतयूप के आश्रम पर निवास पाण्डवों और पुरवासियों की धृतराष्ट्र आदि के लिए चिन्ता

वैशम्पायन उवाच

ततो भागीरथीतीरे मध्ये पुण्यजनोचिते ।
निवासमकरोद् राजा विदुरस्य मते स्थितः ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तत्पश्चात् दूसरा दिन व्यतीत होने पर राजा धृतराष्ट्र ने विदुरजी की बात मानकर पवित्रात्मा पुरुषों के रहने योग्य भागीरथी [गङ्गा] के पावन तट पर निवास किया ।

तत्रैनं पर्युपातिष्ठन् ब्राह्मणा वनवासिनः ।
क्षत्रविट्शूद्रसंघाश्च बहवो भरतर्षभ ॥२॥

भरतकुलभूषण ! वहाँ वनवासी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र बहुत बड़ी संख्या में इकट्ठे होकर राजा से मिलने के लिए आये ।

सायाह्ने स महीपालस्ततो गङ्गामुपेत्य च ।
चकार विधिवच्छौचं गान्धारी च यशस्विनी ॥३॥

तत्पश्चात् सायंकाल के समय राजा धृतराष्ट्र और यशस्विनी गान्धारी देवी ने गङ्गा के जल में प्रविष्ट होकर स्नान-कार्य सम्पन्न किया।

राज्ञस्तु याजकैस्तत्र कृतो वेदीपरिस्तरः ।
जुहाव तत्र वह्निं स नृपतिः सत्यसङ्गरः ॥४॥

यज्ञ करानेवाले ब्राह्मणों ने राजा के लिए वहाँ एक वेदी तैयार की, जिसपर अग्नि स्थापित करके उस सत्यप्रतिज्ञ नरेश ने विधिपूर्वक यज्ञकार्य सम्पन्न किया ।

ततो भागीरथीतीरात्कुरुक्षेत्रं जगाम सः ।
सानुगो नृपतिर्वृद्धो नियतः संयतेन्द्रियः ॥५॥

इस प्रकार नित्यकर्म से निवृत्त हो वृद्ध महाराज धृतराष्ट्र इन्द्रियसंयमपूर्वक नियमपरायण हो सेवकों-सहित गङ्गातट से चलकर कुरुक्षेत्र में जा पहुँचे ।

तत्राश्रमपदं धीमानभिगम्य स पार्थिवः ।
आससादाथ राजर्षिः शतयूपं मनीषिणम् ॥६॥

वहाँ वे महामति भूपाल एक आश्रम पर जाकर वहाँ के मनीषी राजर्षि शतयूप से मिले ।

स हि राजा महानासीत् केकयेषु परन्तपः ।
स्वपुत्रं मनुजैश्वर्ये निवेश्य वनमाविशत् ॥७॥

वे परमतपस्वी राजा शतयूप कभी केकय देश के

महाराज थे। अपने पुत्र को राजगद्दी पर बिठाकर वे वन में चले आये थे।

तेनासौ सहितो राजा ययौ व्यासाश्रमं प्रति ।
तत्रैनं विधिवद् राजा प्रत्यगृह्णात् कुरूद्वहः ॥८॥

महाराज धृतराष्ट्र उन्हें साथ लेकर महर्षि व्यास के आश्रम पर गये। वहाँ कुरुकुलभूषण धृतराष्ट्र ने विधिपूर्वक व्यासजी की पूजा [आदर-सत्कार] की।

स दीक्षां तत्र सम्प्राप्य राजा कौरवनन्दनः ।
शतयूपाश्रमे तस्मिन् निवासमकरोत्तदा ॥९॥

तदनन्तर उन्हीं से वनवास की दीक्षा लेकर कौरवनन्दन महाराज धृतराष्ट्र पूर्वोक्त शतयूप के आश्रम में लौट आये तथा वहीं निवास करने लगे।

तस्मै सर्वं विधिं राज्ञे राजाऽऽचख्यौ महामतिः ।
आरण्यकं महाराज व्यासस्यानुमते तदा ॥१०॥

महाराज ! वहाँ परम बुद्धिमान् राजा शतयूप ने व्यासजी की आज्ञा से धृतराष्ट्र को वन में रहने की सम्पूर्ण विधि—जीवनचर्या बता दी।

एवं स तपसा राजन् धृतराष्ट्रो महामनाः ।
योजयामास चात्मानं तांश्चाप्यनुचरांस्तदा ॥११॥

राजन् ! इस प्रकार महामनस्वी राजा धृतराष्ट्र ने अपने-आपको तथा साथ आये हुए सभी सेवकों को भी तपस्या में लगा दिया।

तथैव देवी गान्धारी वल्कलाजिनधारिणी ।
कुन्त्या सह महाराज समानव्रतचारिणी ॥१२॥

महाराज ! इसी प्रकार वल्कल वस्त्र और मृगचर्म धारण करनेवाली गान्धारी देवी भी कुन्ती के साथ रहकर धृतराष्ट्र के समान ही व्रत का पालन करने लगीं।

कर्मणा मनसा वाचा चक्षुषा चैव ते नृप ।
संनियम्येन्द्रियग्राममास्थिते परमं तपः ॥१३॥

नरेश्वर ! वे दोनों देवियाँ इन्द्रियों को अपने वश में करके मन, वाणी, कर्म और नेत्रों के द्वारा भी उत्तम तपस्या में संलग्न हो गईं।

त्वगस्थिभूतः परिशुष्कमांसो
जटाजिनी वल्कलसंवृताङ्गः ।
स पार्थिवस्तत्र तपश्चचार
महर्षिवत्तीव्रमपेतमोहः ॥१४॥

तप एवं व्रत-पालन करते हुए राजा धृतराष्ट्र के शरीर का मांस सूख गया। वे हड्डी और चमड़े का ढाँचा मात्र रहकर मस्तक पर जटा और शरीर पर मृगछाला तथा वल्कल वस्त्र धारण किये महर्षियों की भाँति तीव्र तपस्या में प्रवृत्त हो गये। उनके चित्त का सम्पूर्ण मोह दूर हो गया था।

क्षत्ता च धर्मार्थविदग्र्यबुद्धिः
ससञ्जयस्तं नृपतिं सुसेव्यम् ।
उपाचरद् घोरतपो जितात्मा
तदा कृशो वल्कलचीरवासाः ॥१५॥

धर्म और अर्थ के ज्ञाता तथा श्रेष्ठ बुद्धिसम्पन्न विदुरजी भी सञ्जयसहित वल्कल और चीरवस्त्र धारण किये गान्धारी एवं धृतराष्ट्र की सेवा करने लगे। वे मन को वश में करके अपने दुर्बल शरीर से घोर तपोऽनुष्ठान में संलग्न रहते थे।

वनं गते कौरवेन्द्रे दुःखशोकसमन्विताः ।
बभूवुः पाण्डवा राजन् मातृशोकेन चार्दिताः ॥१६॥

महाराज जनमेजय ! इधर तो ये तप-अनुष्ठान में संलग्न थे, उधर कौरवराज धृतराष्ट्र के वन में चले जाने पर पाण्डव दुःख और शोक से सन्तप्त रहने लगे। माता के विछोह का शोक उनके हृदय को दग्ध किये देता था।

तथा पौरजनः सर्वः शोचन्नास्ते जनाधिपम् ।
कुर्वाणाश्च कथास्तत्र ब्राह्मणा नृपतिं प्रति ॥१७॥

इसी प्रकार समस्त पुरवासी मनुष्य भी राजा धृतराष्ट्र के लिए निरन्तर शोकमग्न रहते थे तथा ब्राह्मण लोग सदा उन वृद्ध नरेश के विषय में वहाँ इस प्रकार वार्तालाप किया करते थे—

कथं नु राजा वृद्धः स वने वसति निर्जने ।
गान्धारी च महाभागा सा च कुन्ती पृथा कथम् ॥१८॥

'हाय ! हमारे बूढ़े महाराज उस निर्जन वन में कैसे रहते होंगे ? महाभागा गान्धारी और कुन्तीदेवी भी किस प्रकार वहाँ अपने दिन बिताती होंगी ?

विदुरः किमवस्थश्च भ्रातुः शुश्रूषुरात्मवान् ।
स च गावल्गणिर्धीमान् भर्तृपिण्डानुपालकः ॥१९॥

'अपने भाई की सेवा में लगे रहनेवाले मनस्वी विदुरजी किस अवस्था में होंगे ? अपने स्वामी के

शरीर की रक्षा करनेवाले महामति सञ्जय भी कैसे होंगे ?'

आकुमारं च पौरास्ते चिन्ताशोकसमाहताः ।
तत्र तत्र कथाश्चक्रुः समासाद्य परस्परम् ॥२०॥

बच्चे से लेकर बूढ़े तक सभी पुरवासी चिन्ता और शोक से पीड़ित हो जहाँ-तहाँ एक-दूसरे से मिलकर उपर्युक्त बातें ही किया करते थे ।

पाण्डवाश्चैव ते सर्वे भृशं शोकपरायणाः ।
शोचन्तो मातरं वृद्धामूषुर्नातिचिरं पुरे ॥२१॥

समस्त पाण्डव तो निरन्तर अत्यन्त शोक में ही डूबे रहते थे । वे अपनी वृद्धा माता के लिए इतने चिन्तामग्न हो गये कि अधिक समय तक नगर में नहीं रह सके ।

तथैव वृद्धं पितरं हतपुत्रं जनेश्वरम् ।
गान्धारीं च महाभागां विदुरं च महामतिम् ॥२२॥
नैषां बभूव सम्प्रीतिस्तान् विचिन्तयतां तदा ।
न राज्ये न च नारीषु न वेदाध्ययनेषु च ॥२३॥

जिनके पुत्र मारे गये थे, उन वृद्ध पिता [ताऊ] महाराज धृतराष्ट्र की, सौभाग्यशालिनी गान्धारी की और महामति विदुर की अधिक चिन्ता करने के कारण उन्हें कभी चैन नहीं पड़ता था । उनका मन न तो राजकार्य में लगता था, न स्त्रियों के साथ आमोद-प्रमोद में । वेदों के स्वाध्याय में भी उनकी रुचि नहीं होती थी ।

परं निर्वेदमगमंश्चिन्तयन्तो नराधिपम् ।
तं च ज्ञातिवधं घोरं संस्मरन्तः पुनः पुनः ॥२४॥

महाराज धृतराष्ट्र को स्मरण करके वे अत्यन्त खिन्न और विरक्त हो उठते थे । बन्धु-बान्धवों के उस महाविनाश का उन्हें बारम्बार स्मरण हो आता था ।

वैराटयास्तनयं दृष्ट्वा पितरं ते परिक्षितम् ।
धारयन्ति स्म ते प्राणांस्तव पूर्वपितामहाः ॥२५॥

जनमेजय ! उन दिनों तुम्हारे पूर्वपितामह पाण्डव उत्तरा के पुत्र और तुम्हारे पिता परीक्षित् को देखकर ही अपने प्राणों को धारण करते थे ।

इति महाभारते आश्रमवासिकपर्वणि पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

षष्ठोऽध्यायः

माता के लिए पाण्डवों की चिन्ता और युधिष्ठिर का रनिवास तथा सेनासहित वन के लिए प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

अचिन्तयंश्च जननीं ततस्ते पाण्डुनन्दनाः ।
कथं नु वृद्धमिथुनं वहत्यतिकृशा पृथा ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! एक दिन पाण्डव अपनी माता के लिए इस प्रकार चिन्ता करने लगे—'हाय ! हमारी माता कुन्ती अत्यन्त दुर्बल हो गई होंगी । वे उन बूढ़े पति-पत्नी धृतराष्ट्र और गान्धारी की सेवा-शुश्रूषा कैसे करती होंगी ?

कथं स च महीपालो हतपुत्रो निराश्रयः ।
पत्न्या सह वसत्येको वने श्वापदसेविते ॥२॥

'हिंसक जन्तुओं से आक्रान्त [भरे हुए] उस वन में आश्रयहीन तथा पुत्ररहित राजा धृतराष्ट्र अपनी पत्नी के साथ अकेले कैसे रहते होंगे ?

सा च देवी महाभागा गान्धारी हतबान्धवा ।
पतिमन्धं कथं वृद्धमन्वेति विजने वने ॥३॥

'जिनके बन्धु-बान्धव मारे गये हैं, वह महाभागा गान्धारी देवी, उस निर्जन वन में अपने वृद्ध और अन्धे पति का अनुसरण कैसे करती होगी ?'

एवं तेषां कथयतामौत्सुक्यमभवत् तदा ।
गमने चाभवद् बुद्धिर्धृतराष्ट्रदिदृक्षया ॥४॥

इस प्रकार परस्पर सोचते-विचारते हुए उनके मन में बड़ी उत्कण्ठा हो गई और उन्होंने धृतराष्ट्र के दर्शन की इच्छा से वन में जाने का विचार कर लिया ।

सहदेवस्तु राजानं प्रणिपत्येदमब्रवीत् ।
मयाहो भवतो दृष्टं हृदयं गमनं प्रति ॥५॥

उस समय सहदेव ने राजा युधिष्ठिर को प्रणाम करके कहा—"भैया ! मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि आपका हृदय तपोवन में जाने के लिए उत्सुक है—यह अत्यन्त हर्ष का विषय है ।

न हि त्वां गौरवेणाहमशकं वक्तुमञ्जसा ।
गमनं प्रति राजेन्द्र तदिदं समुपस्थितम् ।।६।।

“हे राजेन्द्र ! मैं आपके गौरव का विचार करके संकोचवश वहाँ जाने की बात स्पष्टरूप से आपके समक्ष कह नहीं पाता था । आज सौभाग्यवश वह अवसर अपने-आप उपस्थित हो गया ।

प्रासादहर्म्यसंवृद्धामत्यन्तसुखभागिनीम् ।
कदा तु जननीं श्रान्तां द्रक्ष्यामि भृशदुःखिताम् ।।७।।

“जो राजप्रासादों और अट्टालिकाओं में पलकर बड़ी हुई हैं, जो अत्यन्त सुख की भागिनी रही हैं, वे ही माता कुन्ती अब थककर अत्यन्त दुःख और कष्ट उठाती होंगी ! मुझे कब उनके दर्शन होंगे ?”

सहदेववचः श्रुत्वा द्रौपदी योषितां वरा ।
उवाच देवी राजानमभिपूज्याभिनन्द्य च ।।८।।

सहदेव की बात सुनकर नारियों में श्रेष्ठ महारानी द्रौपदी राजा युधिष्ठिर का सम्मान करके उन्हें प्रसन्न करते हुए बोलीं—

कदा द्रक्ष्यामि तां देवीं यदि जीवति सा पृथा ।
जीवन्त्या ह्यद्य मे प्रीतिर्भविष्यति जनाधिप ।।९।।

“प्रजेश्वर ! मैं अपनी सास कुन्ती देवी का दर्शन कब करूँगी ? क्या वे अबतक जीवित होंगी ? यदि वे जीवित हों तो आज उनका दर्शन करके मुझे परम प्रसन्नता होगी ।

अग्रपादस्थितं चेमं विद्धि राजन् वधूजनम् ।
काङ्क्षन्तं दर्शनं कुन्त्या गान्धार्याः श्वशुरस्य च ।।१०।।

“राजन् ! आपको विदित होना चाहिए कि अन्तःपुर की समस्त बहुएँ वन में जाने के लिए तैयार खड़ी हैं । वे सब-की-सब कुन्ती, गान्धारी और ससुरजी के दर्शन करना चाहती हैं ।”

इत्युक्तः स नृपो देव्या द्रौपद्या भरतर्षभ ।
सेनाध्यक्षान् समानाय्य सर्वानिदमुवाच ह ।।११।।

भरतकुलभूषण ! द्रौपदी के ऐसा कहने पर राजा युधिष्ठिर ने समस्त सेनापतियों को बुलाकर कहा—

निर्यातयत मे सेनां प्रभूतरथकुञ्जराम् ।
द्रक्ष्यामि वनसंस्थं च धृतराष्ट्रं महीपतिम् ।।१२।।

“तुम लोग बहुत-से रथ और हाथी-घोड़ों से सुसज्जित मेरी सेना को कूच करने का आदेश दो । मैं वनवासी महाराज धृतराष्ट्र के दर्शन करने के लिए चलूँगा ।”

स्त्र्यध्यक्षाँश्चाब्रवीद् राजा यानानि विविधानि मे ।
सज्जीक्रियतां सर्वाणि शिबिकाश्च सहस्रशः ।।१३

तत्पश्चात् राजा ने रनिवास के अध्यक्षों को आज्ञा दी—“तुम सब लोग हमारे लिए भाँति-भाँति के वाहन तथा पालकियों को सहस्रों की संख्या में तैयार करो ।

यश्च पौरजनः कश्चिद् द्रष्टुमिच्छति पार्थिवम् ।
अनावृतः सुविहितः स च यातु सुरक्षितः ।।१४।।

“नगरवासियों में से जो कोई भी महाराज का दर्शन करना चाहता हो, उसे बिना रोकटोक, सुविधापूर्वक सुरक्षित रूप से चलने दिया जाए ।

प्रयाणं घुष्यतां चैव श्वोभूत इति मा चिरम् ।
क्रियतां पथि चाप्यद्य वेश्मानि विविधानि च ।।१५।।

“नगर में यह घोषणा करा दी जाए कि—‘कल प्रातःकाल यात्रा की जाएगी, अतः चलनेवालों को विलम्ब नहीं करना चाहिए ।’ मार्ग में हम लोगों के ठहरने के लिए आज ही अनेक प्रकार के डेरे तैयार कर दिये जाएँ ।”

एवमाज्ञाप्य राजा स भ्रातृभिः सह पाण्डवः ।
श्वोभूते निर्ययौ. राजन् सस्त्रीवृद्धपुरःसरः ।।१६।।

राजन् ! इस प्रकार आज्ञा देकर प्रातःकाल होते ही अपने भाई पाण्डवोंसहित राजा युधिष्ठिर ने स्त्री और बूढ़ों को आगे करके नगर से वन की ओर प्रस्थान किया ।

नदीतीरेषु रम्येषु सरःसु च विशाम्पते ।
वासान् कृत्वा क्रमेणाथ जग्मुस्ते कुरुपुङ्गवाः ।।१७।।

प्रजानाथ ! वे कुरुश्रेष्ठ वीर नदियों के रमणीय तटों तथा अनेक सरोवरों पर पड़ाव डालते हुए क्रमशः आगे बढ़ते गये ।

युयुत्सुश्च महातेजा धौम्यश्चैव पुरोहितः ।
युधिष्ठिरस्य वचनात् पुरगुप्तिं प्रचक्रतुः ।।१८।।

महातेजस्वी युयुत्सु तथा पुरोहित धौम्य मुनि महाराज युधिष्ठिर की आज्ञा से हस्तिनापुर में ही रहकर राजधानी की रक्षा कर रहे थे ।

ततो युधिष्ठिरो राजा कुरुक्षेत्रमवातरत्।
क्रमेणोत्तीर्य यमुनां नदीं परमपावनीम् ॥१९॥

उधर राजा युधिष्ठिर क्रमशः आगे बढ़ते हुए परम पवित्र यमुना नदी को पार करके कुरुक्षेत्र में जा पहुँचे।

स ददर्शाश्रमं दूराद् राजर्षेस्तस्त्र धीमतः।
शतयूपस्य कौरव्य धृतराष्ट्रस्य चैव ह ॥२०॥

कुरुनन्दन ! वहाँ पहुँचकर उन्होंने दूर से ही बुद्धिमान् राजर्षि शतयूप और धृतराष्ट्र के आश्रम को देखा।

ततस्ते पाण्डवा दूरादवतीर्य पदातयः।
अभिजग्मुर्नरपतेराश्रमं विनयानताः ॥२१॥

तब तो वे समस्त पाण्डव दूर से ही अपनी सवारियों से उतर पड़े और पैदल चलकर अत्यन्त विनय के साथ राजा के आश्रम पर आये।

स च योधजनः सर्वो ये च राष्ट्रनिवासिनः।
स्त्रियश्च कुरुमुख्यानां पद्भिरेवान्वयुस्तदा ॥२२॥

साथ आये हुए समस्त सैनिक, राज्य के निवासी मनुष्य और कुरुवंश के प्रधान पुरुषों की स्त्रियाँ भी पैदल ही आश्रम तक गईं।

आश्रमं ते ततो जग्मुर्धृतराष्ट्रस्य पाण्डवाः।
शून्यं मृगगणाकीर्णं कदलीवनशोभितम् ॥२३॥
ततस्तत्र समाजग्मुस्तापसा नियतव्रताः।
पाण्डवानागतान् द्रष्टुं कौतूहलसमन्विताः ॥२४॥

धृतराष्ट्र का वह पवित्र आश्रम मनुष्यों से सूना था। उसमें सब ओर मृगों के झुण्ड विचर रहे थे। साथ ही केलों का सुन्दर उद्यान उस आश्रम की शोभा में चार चाँद लगा रहा था। पाण्डव लोग ज्योंही उस आश्रम में पहुँचे, त्योंही नियमपूर्वक व्रतों का पालन करनेवाले बहुत-से तपस्वी वहाँ पधारे हुए पाण्डवों को देखने के लिए कौतूहलवश वहाँ आ गये।

तानपृच्छत्ततो राजा क्वासौ कौरववंशभृत्।
पिता ज्येष्ठो गतोऽस्माकमिति बाष्पपरिप्लुतः ॥२५॥

उस समय राजा युधिष्ठिर ने उन सबको प्रणाम करके, नेत्रों में आँसू भरकर उन सबसे पूछा—"मुनिवरो ! कुरुवंश का पालन करनेवाले हमारे ज्येष्ठ पिता इस समय कहाँ गये हैं ?"

ते तमूचुस्ततो वाक्यं यमुनामवगाहितुम्।
पुष्पाणामुदकुम्भस्य चार्थे गत इति प्रभो ॥२६॥

उन्होंने उत्तर दिया—"प्रभो ! वे यमुना में स्नान करने, फूल लाने और पानी का घड़ा भरने के लिए गये हुए हैं।"

तैराख्यातेन मार्गेण ततस्ते जग्मुरञ्जसा।
ददृशुश्चाविदूरे तान् सर्वानथ पदातयः ॥२७॥

यह सुनकर उन्हीं के बताये हुए मार्ग से वे सब-के-सब पैदल ही यमुना-तट की ओर चल दिये। कुछ ही दूर जाने पर उन्होंने उन सब लोगों को वहाँ से लौटते हुए देखा।

ततस्ते सत्वरा जग्मुः पितुर्दर्शनकांक्षिणः।
सहदेवस्तु वेगेन प्राधावद् यत्र सा पृथा।
सुस्वरं रुरुदे धीमान् मातुः पादावुपस्पृशन् ॥२८॥

फिर तो समस्त पाण्डव अपने ताऊ के दर्शन की इच्छा से अत्यन्त उतावली के साथ आगे बढ़े। महामति सहदेव तो बड़े वेग से दौड़े और जहाँ कुन्ती थी, वहाँ पहुँचकर माता के दोनों चरण पकड़कर फूट-फूटकर रोनें लगे।

सा च बाष्पाकुलमुखी ददर्श दयितं सुतम्।
बाहुभ्यां सम्परिष्वज्य समुन्नाम्य च पुत्रकम्।
गान्धार्याः कथयामास सहदेवमुपस्थितम् ॥२९॥

कुन्तीदेवी ने भी जब अपने प्रिय पुत्र सहदेव को देखा तो उनके मुख पर आनन्दाश्रुओं की धारा बह चली। उन्होंने दोनों हाथों से उठाकर पुत्र को छाती से लगा लिया और गान्धारी से कहा—"बहिन ! सहदेव आपकी सेवा में उपस्थित है।"

अनन्तरं च राजानं भीमसेनमथार्जुनम्।
नकुलं च पृथा दृष्ट्वा त्वरमाणोपचक्रमे ॥३०॥

तत्पश्चात् राजा युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन और नकुल को देखकर कुन्तीदेवी बड़ी उतावली के साथ उनकी ओर चलीं।

सा ह्यग्रे गच्छति तयोर्दम्पत्योर्हतपुत्रयोः।
कर्षन्ती तौ ततस्ते तां दृष्ट्वा संन्यपतन् भुवि ॥३१॥

वे आगे-आगे चल रही थीं तथा उन पुत्रहीन दम्पती को अपने साथ खींचे लाती थीं। उन्हें देखते ही पाण्डव उनके चरणों में भूमि पर गिर पड़े।

राजा तान् स्वरयोगेन स्पर्शेन च महामनाः ।
प्रत्यभिज्ञाय मेधावी समाश्वासयत प्रभुः ।।३२।।

महामना परम बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्र ने बोलने के स्वर से और स्पर्श से पाण्डवों को पहचानकर उन सबको आश्वासन दिया [ढारस बँधाया]।

ततस्ते बाष्पमुत्सृज्य गान्धारीसहितं नृपम् ।
उपतस्थुर्महात्मानो मातरं च यथाविधि ।।३३।।

तत्पश्चात् अपने नेत्रों से आँसू पोंछकर महात्मा पाण्डवों ने गान्धारीसहित राजा धृतराष्ट्र तथा माता कुन्ती को विधिपूर्वक [चरणस्पर्श करके] प्रणाम किया।

सर्वेषां तोयकलशाञ्जगृहुस्ते स्वयं तदा ।
पाण्डवा लब्धसंज्ञास्ते मात्रा चाश्वासिताः पुनः ।।३४।।

तत्पश्चात् माता से बार-बार सान्त्वना पाकर जब पाण्डव कुछ स्वस्थ एवं सचेत हुए, तब उन्होंने उन सबके हाथ से जल के भरे हुए कलश स्वयं ले लिये।

तथा नार्यो नृसिंहानां सावरोधजनस्तदा ।
पौरजानपदाश्चैव ददृशुस्तं जनाधिपम् ।।३५।।

तदनन्तर उन पुरुषसिंहों की स्त्रियों तथा अन्तःपुर की अन्य स्त्रियों ने और नगर एवं जनपद के लोगों ने भी क्रमशः राजा धृतराष्ट्र का दर्शन किया।

निवेदयामास तदा जनं तन्नामगोत्रतः ।
युधिष्ठिरो नरपतिः स चैनान्प्रत्यपूजयत् ।।३६।।

उस समय स्वयं राजा युधिष्ठिर ने एक-एक व्यक्ति का नाम और गोत्र [कुल] बताकर उनका परिचय दिया। उन सबका परिचय पाकर धृतराष्ट्र ने वाणी द्वारा उनका सत्कार किया।

स तैः परिवृतो मेने हर्षबाष्पाविलेक्षणः ।
राजाऽऽत्मानं गृहगतं पुरेव गजसाह्वये ।।३७।।

उन सबसे घिरे हुए राजा धृतराष्ट्र अपने नेत्रों से हर्ष के आँसू बहाने लगे। उस समय उन्हें ऐसा जान पड़ा मानो वे पहले की ही भाँति हस्तिनापुर के राजमहल में बैठे हैं।

ततश्चाश्रममागच्छत् सिद्धचारणसेवितम् ।
दिदृक्षुभिः समाकीर्णं नभस्तारागणैरिव ।।३८।।

तत्पश्चात् वे सबके साथ सिद्ध और चारणों से सेवित अपने आश्रम पर आये। उस समय उनका आश्रम तारों से व्याप्त हुए आकाश की भाँति दर्शकों से भरा था।

स तैः सह नरव्याघ्रैर्भ्रातृभिर्भरतर्षभ ।
राजा रुचिरपद्माक्षैरासांचक्रे तदाश्रमे ।।३९।।
तापसैश्च महाभागैर्नानादेशसमागतैः ।
द्रष्टुं कुरुपतेः पुत्रान्पाण्डवान्पृथुवक्षसः ।।४०।।

हे जनमेजय! जब महाराज धृतराष्ट्र सुन्दर कमल के समान नेत्रोंवाले पुरुषसिंह युधिष्ठिर आदि पाँचों भाइयों के साथ आश्रम में विराजमान हुए, उस समय वहाँ अनेक देशों से आये हुए महाभाग तपस्वीगण कुरुराज पाण्डु के पुत्रों—विशाल वक्षःस्थलवाले पाण्डवों को देखने के लिए पहले से उपस्थित थे।

तेऽब्रुवञ्ज्ञातुमिच्छामः कतमोऽत्र युधिष्ठिरः ।
भीमार्जुनौ यमौ चैव द्रौपदी च यशस्विनी ।।४१।।

उन्होंने पूछा—"हम लोग यह जानना चाहते हैं कि यहाँ आये हुए लोगों में महाराज युधिष्ठिर कौन-से हैं? भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव और यशस्विनी द्रौपदीदेवी कौन हैं?"

तानाचख्यौ तदा सूतः सर्वांस्तानभिनामतः ।
सञ्जयो द्रौपदीं चैव सर्वाश्चान्याः कुरुस्त्रियः ।।४२।।

उनके इस प्रकार पूछने पर सूत सञ्जय ने उन सबके नाम बताकर पाण्डवों, द्रौपदी और कुरुकुल की अन्य स्त्रियों का परिचय दिया।

इति महाभारते आश्रमवासिकपर्वणि षष्ठोऽध्यायः ।।६।।

सप्तमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र और युधिष्ठिर की बातचीत, युधिष्ठिर आदि का ऋषियों के आश्रम देखना, व्यासजी की आज्ञा से धृतराष्ट्र आदि का पाण्डवों को विदा करना और उनका दलबलसहित हस्तिनापुर लौटना

धृतराष्ट्र उवाच

युधिष्ठिर महाबाहो कच्चित्त्वं कुशली ह्यसि ।
सहितो भ्रातृभिः सर्वैः पौरजानपदैस्तथा ॥१॥

धृतराष्ट्र ने पूछा—महाबाहो युधिष्ठिर ! तुम नगर तथा जनपद की समस्त प्रजाओं और भाइयों-सहित कुशलपूर्वक तो हो न ?

ये च त्वामनुजीवन्ति कच्चित्तेऽपि निरामयाः ।
सचिवा भृत्यवर्गाश्च गुरवश्चैव ते नृप ॥२॥

प्रजेश्वर ! जो तुम्हारे आश्रित रहकर जीवन-निर्वाह करते हैं, वे मन्त्री, भृत्यवर्ग और गुरुजन भी सुखी और स्वस्थ तो हैं न ?

कच्चिन्न्यायाननुच्छिद्य कोशस्तेऽभिप्रपूर्यते ।
अरिमध्यस्थमित्रेषु वर्तसे चानुरूपतः ॥३॥

क्या तुम्हारा कोश न्यायमार्ग का उल्लंघन किये बिना ही भरा जाता है ? क्या तुम शत्रु, मित्र और उदासीन पुरुषों के प्रति यथायोग्य व्यवहार करते हो ?

कच्चित्स्त्रीबालवृद्धं ते न शोचति न याचते ।
जामयः पूजिताः कच्चित् तव गेहे नरर्षभ ॥४॥

नरश्रेष्ठ ! तुम्हारे राज्य में स्त्रियों, बालकों और वृद्धों को दुःख तो नहीं भोगना पड़ता ? वे जीविका के लिए भीख तो नहीं माँगते हैं ? तुम्हारे घर में सौभाग्यवती बहू-बेटियों का आदर-सत्कार तो होता है न ?

वैशम्पायन उवाच

इत्येवं वादिनं तं स न्यायवित् प्रत्यभाषत ।
कुशलप्रश्नसंयुक्तं कुशलो वाक्यकर्मणि ॥५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धृतराष्ट्र के इस प्रकार कुशल-समाचार पूछने पर बातचीत करने में कुशल न्यायवेत्ता राजा युधिष्ठिर ने इस प्रकार कहा—

युधिष्ठिर उवाच

कच्चित्ते वर्धते राजंस्तपो दमशमौ च ते ।
अपि मे जननी चेयं शुश्रूषुर्विगतक्लमा ।
अथास्याः सफलो राजन् वनवासो भविष्यति ॥६॥

युधिष्ठिर बोले—राजन् ! [मेरे यहाँ सब कुशल हैं] । आपके तप, इन्द्रियसंयम और मनो-निग्रह आदि गुणों की वृद्धि तो हो रही है न ? ये मेरी माता कुन्ती आपकी सेवा-शुश्रूषा करने में क्लेश का अनुभव तो नहीं करतीं ? क्या इनका वनवास सफल होगा ?

इयं च माता ज्येष्ठा मे शीतवाताध्वकर्शिता ।
घोरेण तपसा युक्ता हतान् कच्चिन्न शोचति ॥७॥

ये मेरी बड़ी माता गान्धारी देवी सर्दी, हवा और मार्ग चलने के परिश्रम से कष्ट पाकर अत्यन्त दुबली हो गई हैं तथा घोर तपस्या में लगी हुई हैं। ये युद्ध में मारे गये अपने पुत्रों के लिए शोक तो नहीं करतीं ?

क्व चासौ विदुरो राजन् नैनं पश्यामहे वयम् ।
सञ्जयः कुशली चायं कच्चिन्नु तपसि स्थिरः ॥८॥

राजन् ! ये सञ्जय तो कुशलपूर्वक स्थिरभाव से तपस्या में लगे हुए हैं न ? इस समय विदुरजी कहाँ हैं ? उन्हें हम लोग नहीं देख पा रहे हैं ?

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तः प्रत्युवाचेदं धृतराष्ट्रो जनाधिपम् ।
कुशली विदुरः पुत्र तपो घोरं समाश्रितः ॥९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजा युधिष्ठिर के इस प्रकार पूछने पर धृतराष्ट्र ने उनसे कहा—"पुत्र ! विदुरजी कुशलपूर्वक हैं । वे भीषण तपस्या में लगे हुए हैं ।

वायुभक्षो निराहारः कृशो धमनिसन्ततः ।
कदाचिद् दृश्यते विप्रैः शून्येऽस्मिन्कानने क्वचित् ॥१०

"वे निरन्तर उपवास करते और वायु पीकर रहते हैं, अतः अत्यन्त दुर्बल हो गये हैं । उनके सारे शरीर में व्याप्त हुई नस-नाड़ियाँ स्पष्ट दिखाई देती

हैं। इस निर्जन वन में ब्राह्मणों को कभी-कभी उनके दर्शन हो जाते हैं।

आपो मूलं फलं चैव ममेदं प्रतिगृह्यताम्।
यदर्थो हि नरो राजंस्तदर्थोऽस्यातिथिः स्मृतः ॥११॥

"राजन्! अब तुम मेरे दिये हुए इन फल-मूल और जल को ग्रहण करो। मनुष्य जिन वस्तुओं का स्वयं उपयोग करता है, उन्हीं वस्तुओं से वह अतिथि का भी सत्कार करे—ऐसी शास्त्र की मर्यादा है।"

इत्युक्तः स तथेत्येवं प्राह धर्मात्मजो नृपम्।
फलं मूलं च बुभुजे राज्ञा दत्तं सहानुजः ॥१२॥
ततस्ते वृक्षमूलेषु कृतवासपरिग्रहाः।
तां रात्रिमवसन् सर्वे फलमूलजलाशनाः ॥१३॥

उनके ऐसा कहने पर धर्मराज युधिष्ठिर ने 'बहुत अच्छा' कहकर उनकी आज्ञा स्वीकार की और उनके दिये हुए फल-मूल का भाइयोंसहित भोजन किया। तत्पश्चात् उन सब लोगों ने फल-मूल और जल का ही आहार करके वृक्षों के नीचे ही रहने का निश्चय कर वहीं वह रात्रि व्यतीत की।

व्यतीतायां तु शर्वर्यां कृतपौर्वाह्णिकक्रियाः।
भ्रातृभिः सहितो राजा ददर्शाश्रममण्डलम् ॥१४॥
सान्तःपुरपरीवारः सभृत्यः सपुरोहितः।
यथासुखं यथोद्देशं धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञया ॥१५॥

रात्रि व्यतीत होने पर पूर्वाह्णकालिक नित्यकर्मों [शौच, स्नान, सन्ध्या, यज्ञादि] से निवृत्त हो राजा युधिष्ठिर ने धृतराष्ट्र की आज्ञा ले भाइयों, अन्तःपुर की स्त्रियों, सेवकों और पुरोहितों के साथ सुखपूर्वक भिन्न-भिन्न स्थानों में घूम-फिरकर मुनियों के आश्रम देखे।

ददर्श तत्र वेदीश्च संप्रज्वलितपावकाः।
कृताभिषेकैर्मुनिभिर्हुताग्निभिरुपस्थिताः ॥१६॥

उन्होंने देखा—आश्रमों में यज्ञ की वेदियाँ बनी हैं, जिनमें अग्नि प्रज्वलित हो रही है। मुनिगण स्नान आदि से निवृत्त हो उन वेदियों के पास बैठे हैं और अग्नि में आहुतियाँ दे रहे हैं।

मृगयूथैरनुद्विग्नैस्तत्र तत्र समाश्रितैः।
अशङ्कितैः पक्षिगणैः प्रगीतैरिव च प्रभो ॥१७॥

प्रभो! उन आश्रमों में जहाँ-तहाँ मृगों के झुण्ड निर्भय तथा शान्तचित्त होकर सुखपूर्वक बैठे हुए थे। पक्षियों के समुदाय निःशङ्क होकर उच्च स्वर से कलरव करते थे।

ततः स राजा प्रददौ तापसार्थमुपाहृतान्।
कलशान् काञ्चनान् राजंस्तथैवौदुम्बरानपि ॥१८॥
अजिनानि प्रवेणीश्च स्रुक् स्रुवं च महीपतिः।
कमण्डलूंश्च स्थालीश्च पिठराणि च भारत ॥१९॥
भाजनानि च लौहानि पात्रीश्च विविधा नृप।
यद् यदिच्छति यावच्च यच्चान्यदपि भाजनम् ॥२०॥

राजन्! उस समय राजा युधिष्ठिर ने तपस्वियों को प्रदान करने के लिए लाये हुए सोने तथा तांबे के कलश, मृगछाला, कम्बल, स्रुक्, स्रुवा, कमण्डलु, बटलोई, कड़ाही, अन्य अनेक लोह-निर्मित बर्तन तथा और भी अनेक प्रकार के पात्र बाँटे। जो जितने और जो-जो पात्र चाहता था, उसे उतने ही और वे ही बर्तन दे दिये गये। अन्य आवश्यक पात्र भी दे दिये गये।

एवं स राजा धर्मात्मा परीत्याश्रममण्डलम्।
वसु विश्राण्य तत् सर्वं पुनरायन्महीपतिः ॥२१॥

इस प्रकार धर्मात्मा 'पृथिवीपति महाराज युधिष्ठिर आश्रमों में घूम-घूमकर वह सारा धन वितरित करने [बाँटने] के पश्चात् धृतराष्ट्र के आश्रम पर लौट आये।

कृताह्निकं च राजानं धृतराष्ट्रं महीपतिम्।
ददर्शासीनमव्यग्रं गान्धारीसहितं तदा ॥२२॥
मातरं चाविदूरस्थां शिष्यवत्प्रणतां स्थिताम्।
कुन्तीं ददर्श धर्मात्मा शिष्टाचारसमन्विताम् ॥२३॥

वहाँ आकर उन्होंने देखा कि पृथिवीपति महाराज धृतराष्ट्र नित्यकर्म से निवृत्त हो गान्धारी के साथ शान्तभाव से बैठे हुए हैं तथा उनसे थोड़ी ही दूर पर शिष्टाचार का पालन करनेवाली माता कुन्ती शिष्या की भाँति विनीत भाव से खड़ी हैं।

स तमभ्यर्च्य राजानं नाम संश्राव्य चात्मनः।
निषीदेत्यभ्यनुज्ञातो बृस्यामुपविवेश ह ॥२४॥

युधिष्ठिर ने अपना नाम सुनाकर राजा धृतराष्ट्र का प्रणामपूर्वक सम्मान किया और 'बैठो' यह आज्ञा मिलने पर वे कुश के आसन पर बैठ गये।

भीमसेनादयश्चैव पाण्डवा भरतर्षभ ।
अभिवाद्योपसंगृह्य निषेदुः पार्थिवाज्ञया ।।२५।।

भरतभूषण ! भीमसेन आदि पाण्डव भी महाराज के चरणस्पर्शपूर्वक प्रणाम करने के पश्चात् उनकी आज्ञा से बैठ गये ।

तथा तेषूपविष्टेषु समाजग्मुर्महर्षयः ।
शतयूपप्रभृतयः कुरुक्षेत्रनिवासिनः ।।२६।।

वे सब लोग इस प्रकार बैठे ही थे कि कुरुक्षेत्र-निवासी शतयूप आदि महर्षि भी वहाँ आ पहुँचे ।

व्यासश्च भगवान् विप्रो देवर्षिगणसेवितः ।
वृतः शिष्यैर्महातेजा दर्शयामास पार्थिवम् ।।२७।।

देवर्षियों से सेवित महातेजस्वी विप्रवर भगवान् व्यास ने भी शिष्योंसहित आकर महाराज को दर्शन दिया ।

ततः स राजा कौरव्यः कुन्तीपुत्रश्च वीर्यवान् ।
भीमसेनादयश्चैव प्रत्युत्थायाभिवादयन् ।।२८।।

उस समय कुरुवंशी राजा धृतराष्ट्र, पराक्रमशील कुन्तीकुमार युधिष्ठिर और भीमसेन आदि ने उठकर समस्त महर्षियों को चरणस्पर्शपूर्वक प्रणाम किया ।

समागतस्ततो व्यासः शतयूपादिभिर्वृतः ।
धृतराष्ट्रं महीपालमास्यतामित्यभाषत ।।२९।।

अभिवादन कर चुकने के पश्चात् शतयूप आदि महर्षियों से घिरे हुए नवागत महर्षि व्यास राजा धृतराष्ट्र से बोले—'बैठ जाओ ।'

वरं तु विष्टरं कौश्यं कृष्णाजिनकुशोत्तरम् ।
प्रतिपेदे तदा व्यासस्तदर्थमुपकल्पितम् ।।३०।।

तत्पश्चात् व्यासजी स्वयं एक सुन्दर आसन पर, जो काले मृगचर्म से आच्छादित था और उन्हीं के लिए बिछाया गया था, विराजमान हुए ।

ते च सर्वे द्विजश्रेष्ठा विष्टरेषु समन्ततः ।
द्वैपायनाभ्यनुज्ञाता निषेदुर्विपुलौजसः ।।३१।।

तदनन्तर व्यासजी की आज्ञा से अन्य सभी महातेजस्वी श्रेष्ठ द्विज भी चारों ओर बिछे हुए कुशासनों पर बैठ गये ।

तथा समुपविष्टेषु पाण्डवेषु महात्मसु ।
व्यासः सत्यवतीपुत्रो धृतराष्ट्रमभाषत ।।३२।।

द्विजगणों और तत्पश्चात् महात्मा पाण्डवों के बैठ जाने पर सत्यवतीनन्दन महर्षि व्यास ने धृतराष्ट्र से कहा—

युधिष्ठिरस्त्वयं धीमान् भवन्तमनुरुध्यते ।
सहितो भ्रातृभिः सर्वैः सदारः ससुहृज्जनः ।।३३।।

"ये बुद्धिमान् महाराज युधिष्ठिर अपने सभी भाइयों, घर की स्त्रियों तथा सुहृदों के साथ आपकी सेवा में लगे हुए हैं ।

विसर्जयैनं यात्वेष स्वराज्यमनुशासताम् ।
मासः समधिकस्तेषामतीतो वसतां वने ।।३४।।

"अब इन्हें विदा कर दो । ये जाएँ और अपने राज्य-कार्य की देख-भाल करें । इन लोगों को वन में रहते हुए एक मास से अधिक हो गया है ।

एतद्धि नित्यं यत्नेन पदं रक्ष्यं नराधिप ।
बहुप्रत्यर्थिकं ह्येतद् राज्यं नाम कुरूद्वह ।।३५।।

"कुरुश्रेष्ठ ! नरेश्वर ! राज्य के बहुत-से शत्रु होते हैं, अतः इसकी सदा ही प्रयत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए ।"

इत्युक्तः कौरवो राजा व्यासेनातुलतेजसा ।
युधिष्ठिरमथाहूय वाग्मी वचनमब्रवीत् ।।३६।।

अनुपम तेजस्वी व्यासजी के ऐसा कहने पर प्रवचनकुशल कुरुराज धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर को बुलाकर इस प्रकार कहा—

अजातशत्रो भद्रं ते शृणु मे भ्रातृभिः सह ।
त्वत्प्रसादान्महीपाल शोको नास्मान्प्रबाधते ।।३७।।

"अजातशत्रो ! तुम्हारा कल्याण हो । तुम अपने भाइयोंसहित मेरी बात सुनो ! भूपाल ! तुम्हारी कृपा से अब हम लोगों को किसी प्रकार का शोक कष्ट नहीं दे रहा ।

रमे चाहं त्वया पुत्र पुरेव गजसाह्वये ।
नाथेनानुगतो विद्वन् प्रियेषु परिवर्तिना ।।३८।।
प्राप्तं पुत्रफलं त्वत्तः प्रीतिर्मे परमा त्वयि ।
न मे मन्युर्महाबाहो गम्यतां पुत्र मा चिरम् ।।३९।।

"वत्स ! तुम्हारे साथ रहकर और तुम-जैसे रक्षकों से सुरक्षित होकर मैं उसी प्रकार आनन्द का अनुभव कर रहा हूँ, जैसे पहले हस्तिनापुर में करता था । विद्वन् ! प्रियजनों की सेवा में लगे रहनेवाले तुम-तुम्हारे द्वारा मुझे पुत्र का फल प्राप्त हो गया । तुम-

पर मेरा अत्यधिक स्नेह है। पुत्र! महाबाहो! तुम्हारे प्रति मेरे मन में किञ्चित् भी क्रोध नहीं है, अतः अब तुम राजधानी को लौट जाओ, विलम्ब मत करो।

भवन्तं चेह सम्प्रेक्ष्य तपो मे परिहीयते।
तपोयुक्तं शरीरं च त्वां दृष्ट्वा धारितं पुनः ॥४०॥

"तुम्हें यहाँ देखकर मेरे तप में बाधा पड़ रही है। मैंने अपने शरीर को तपस्या में लगा दिया था, परन्तु तुम्हें देखकर पुनः इसकी रक्षा में लग गया हूँ।

मातरौ ते तथैवेमे शीर्णपर्णकृताशने।
मम तुल्यव्रते पुत्र न चिरं वर्तयिष्यतः ॥४१॥

"पुत्र! मेरी ही भाँति तुम्हारी ये दोनों माताएँ भी व्रतधारणपूर्वक सूखे पत्ते चबाकर निर्वाह करती हैं। अब ये अधिक दिनों तक जीवन धारण नहीं कर सकतीं।

प्रयोजनं च निर्वृत्तं जीवितस्य ममानघ।
उग्रं तपः समास्थास्ये त्वमनुज्ञातुमर्हसि ॥४२॥

"निष्पाप नरेश! मेरे जीवन का प्रयोजन भी पूर्ण हो गया। अब मैं कठोर तपस्या में संलग्न होऊँगा। इसके लिए तुम मुझे अनुमति प्रदान करो।

राजनीतिः सुबहुशः श्रुता ते भरतर्षभ।
सन्देष्टव्यं न पश्यामि कृतं मे भवता विभो ॥४३॥

"भरतभूषण! प्रभो! तुमने राजनीति बहुत बार सुनी है, अतः तुम्हें सन्देश देने योग्य कोई बात मुझे दिखाई नहीं देती। तुमने मेरे लिए बहुत-कुछ किया है।"

इत्युक्तवचनं तं तु नृपो राजानमब्रवीत्।
न मामर्हसि धर्मज्ञ परित्यक्तुमनागसम् ॥४४॥

जब राजा धृतराष्ट्र ने यह बात कही, तब युधिष्ठिर ने उनसे इस प्रकार कहा—"धर्म के ज्ञाता महाराज! आप मेरा परित्याग न करें, क्योंकि मैं सर्वथा निरपराध हूँ।

कामं गच्छन्तु मे सर्वे भ्रातरोऽनुचरस्तथा।
भवन्तमहमन्विष्ये मातरौ च यतव्रतः ॥४५॥

"मेरे ये सभी भाई और सेवक—इनकी इच्छा हो तो चले जाएँ, परन्तु मैं नियम और व्रत का पालन करते हुए आपकी तथा इन दोनों माताओं की सेवा करूँगा।"

तमुवाचाथ गान्धारी त्वय्यधीनं कुरुकुलम्।
राजा यदाह तत्कार्यं त्वया पुत्र पितुर्वचः ॥४६॥

यह सुनकर गान्धारी ने कहा—"पुत्र! यह सारा कुरुकुल तुम्हारे ही अधीन है, अतः इस समय महाराज जो आज्ञा दे रहे हैं, वही करो [तुम वापस जाओ], क्योंकि पिता का वचन मानना तुम्हारा कर्त्तव्य है।"

इत्युक्तः स तु गान्धार्या कुन्तीमिदमभाषत।
स्नेहबाष्पाकुले नेत्रे प्रमृज्य रुदतीं वचः ॥४७॥

गान्धारी के इस प्रकार आदेश देने पर राजा युधिष्ठिर ने अपने आनन्द-अश्रुओं से भरे हुए नेत्रों को पोंछकर रोती हुई कुन्तीदेवी से कहा—

विसर्जयति मां राजा गान्धारी च यशस्विनी।
भवत्यां बद्धचित्तस्तु कथं यास्यामि दुःखितः ॥४८॥

"माताजी! महाराज धृतराष्ट्र और यशस्विनी गान्धारी मुझे घर लौटने की आज्ञा दे रहे हैं, परन्तु मेरा चित्त आपमें लगा हुआ है। जाने का नाम सुनकर मैं व्याकुल हो उठता हूँ। ऐसी अवस्था में मैं कैसे जा सकूँगा?

न चोत्सहे तपोविघ्नं कर्तुं ते धर्मचारिणि।
तपसो हि परं नास्ति तपसा विन्दते महत् ॥४९॥

"धर्मचारिणि! मैं आपकी तपस्या में विघ्न नहीं डालना चाहता। संसार में तप से बढ़कर कुछ नहीं है, क्योंकि तप से परब्रह्म परमात्मा की भी प्राप्ति हो जाती है।

ममापि न तथा राज्ञि राज्ये बुद्धिर्यथा पुरा।
तपस्येवानुरक्तं मे मनः सर्वात्मना तथा ॥५०॥

"महारानी माँ! अब मेरा मन भी पहले की भाँति राजकाज में नहीं लगता है। अब तो मेरा मन हर प्रकार से तपोऽनुष्ठान में ही लगना चाहता है।

तमुवाच ततः कुन्ती परिष्वज्य महाभुजम्।
गम्यतां पुत्र मैवं त्वं वोचः कुरु वचो मम।
आगमा वः शिवाः सन्तु स्वस्था भवत पुत्रकाः ॥५१॥

यह सुनकर कुन्तीदेवी ने महाबाहु युधिष्ठिर को हृदय से लगा लिया और कहा—"पुत्र! ऐसा न कहो। तुम मेरी बात मानो और वापस लौट

जाओ। पुत्रो ! तुम्हारे मार्ग कल्याणकारी हों और तुम सदा स्वस्थ रहो।"

ते मात्रा समनुज्ञाता राज्ञा च कुरुपुङ्गवाः।
अभिवाद्य कुरुश्रेष्ठमामन्त्रयितुमारभन् ॥५२॥

माता और धृतराष्ट्र की आज्ञा पाकर कुरुश्रेष्ठ पाण्डवों ने कुरुकुलभूषण धृतराष्ट्र को प्रणाम किया और उनसे विदा लेने के लिए इस प्रकार कहा—

युधिष्ठिर उवाच

राज्यं प्रतिगमिष्यामः शिवेन प्रतिनन्दिताः।
अनुज्ञातास्त्वया राजन् गमिष्यामो विकल्मषाः ॥५३॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे महाराज ! हम लोग आपके आशीर्वाद से आनन्दित होकर कुशलपूर्वक राजधानी को लौट जाएँगे। राजन् ! इसके लिए आप हमें आज्ञा दें। आपकी आज्ञा पाकर हम अपराधरहित होकर यहाँ से यात्रा करेंगे।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स राजर्षिर्धर्मराजमहात्मना।
अनुजज्ञे स कौरव्यमभिनन्द्य युधिष्ठिरम् ॥५४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महात्मा धर्मराज के ऐसा कहने पर राजर्षि धृतराष्ट्र ने कुरुनन्दन युधिष्ठिर का अभिनन्दन करके उन्हें जाने की आज्ञा प्रदान की।

भीमं च बलिनां श्रेष्ठं सान्त्वयामास पार्थिवः।
स चास्य सम्यङ्मेधावी प्रत्यपद्यत वीर्यवान् ॥५५॥

तत्पश्चात् राजा धृतराष्ट्र ने बलवानों में श्रेष्ठ भीमसेन को सान्त्वना प्रदान की। बुद्धिमान् तथा पराक्रमी भीमसेन ने भी उनकी बातों को यथार्थरूप से ग्रहण [हृदय से स्वीकार] किया।

अर्जुनं च समाश्लिष्य यमौ च पुरुषर्षभौ।
अनुजज्ञे स कौरव्यः परिष्वज्याभिनन्द्य च ॥५६॥

तदनन्तर धृतराष्ट्र नें अर्जुन और पुरुषश्रेष्ठ नकुल-सहदेव को हृदय से लगा उनका अभिनन्दन करके विदा किया।

गान्धार्या चाभ्यनुज्ञाताः कृतपादाभिवादनाः।
जनन्या समुपाघ्राताः परिष्वक्ताश्च ते नृपम् ॥५७॥
चक्रुः प्रदक्षिणं सर्वे वत्सा इव निवारणे।
पुनः पुनर्निरीक्षन्तः प्रचक्रुस्ते प्रदक्षिणम् ॥५८॥

फिर उन सभी पाण्डवों ने गान्धारी के चरणों में प्रणाम करके उनकी आज्ञा ली। तत्पश्चात् माता कुन्ती ने उन्हें हृदय से लगाकर उनका मस्तक सूंघा। जैसे बछड़े अपनी माता का दूध पीने से रोके जाने पर बार-बार उसकी ओर देखते हुए उसके चारों ओर चक्कर लगाते हैं, वैसे ही पाण्डवों ने राजा तथा माता की ओर बार-बार देखते हुए उनकी परिक्रमा की।

द्रौपदीप्रमुखाश्चैव सर्वाः कौरवयोषितः।
न्यायतः श्वशुरे वृत्तिं प्रयुज्य प्रययुस्ततः ॥५९॥
श्वश्रूभ्यां समनुज्ञाताः परिष्वज्याभिनन्दिताः।
सन्दिष्टाश्चेतिकर्तव्यं प्रययुर्भर्तृभिः सह ॥६०॥

द्रौपदी आदि सभी प्रमुख कौरवस्त्रियों ने अपने श्वसुर को न्यायपूर्वक [चरणस्पर्श करके] प्रणाम किया। फिर दोनों सासुओं ने उन्हें गले से लगाकर आशीर्वाद दे जाने की आज्ञा दी तथा उन्हें उनके कर्तव्य का उपदेश भी दिया। तदनन्तर वे अपने पतियों के साथ चली गईं।

ततः प्रजज्ञे निनदः सूतानां युज्यतामिति।
उष्ट्राणां क्रोशतां चापि हयानां हेषतामपि ॥६१॥
ततो युधिष्ठिरो राजा सदारः सहसैनिकः।
नगरं हास्तिनपुरं पुनरायात् स बान्धवः ॥६२॥

आज्ञा ले चुकने के पश्चात् सारथियों ने 'रथ जोतो, रथ जोतो' की पुकार मचाई। फिर ऊँटों के चिंघाड़ने और घोड़ों के हिनहिनाने की आवाजें आने लगीं। यानों के जुत जानें पर राजा युधिष्ठिर घर की स्त्रियों, भाइयों और सैनिकों के साथ हस्तिनापुर लौट आये।

इति महाभारते आश्रमवासिकपर्वणि सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

अष्टमोऽध्यायः

वैशम्पायन उवाच

द्विवर्षोपनिवृत्तेषु पाण्डवेषु यदृच्छया ।
देवर्षिर्नारदो राजन्नाजगाम युधिष्ठिरम् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पाण्डवों को वन से लौटे जब दो वर्ष व्यतीत हो गये, तब एक दिन देवर्षि नारद दैवेच्छा से घूमते-घामते राजा युधिष्ठिर के यहाँ आ पहुँचे ।

तमभ्यर्च्य महाबाहुः कुरुराजो युधिष्ठिरः ।
आसीनं परिविश्वस्तं प्रोवाच वदतां वरः ॥२॥

महाबाहु कुरुराज युधिष्ठिर ने उनका स्वागत-सत्कार करके उन्हें आसन पर बिठाया । जब वे आसन पर बैठकर थोड़ी देर विश्राम कर चुके, तब वक्ताओं में श्रेष्ठ युधिष्ठिर ने उनसे इस प्रकार पूछा—

चिरात्तु नानुपश्यामि भगवन्तमुपस्थितम् ।
कच्चित्ते कुशलं विप्र शुभं वा प्रत्युपस्थितम् ॥३॥

"भगवन् ! दीर्घकाल के पश्चात् मैंने आज आपके दर्शन किये हैं । ब्रह्मन् ! आप कुशल तो हैं न ? अथवा आपको शुभ की प्राप्ति तो होती है न ?

के देशाः परिदृष्टास्ते किं च कार्यं करोमि ते ।
तद् ब्रूहि द्विजमुख्य त्वं त्वं ह्यस्माकं परा गतिः ॥४॥

"विप्रवर ! इस बीच में आपने कौन-कौनसे देशों का भ्रमण किया है ? कहिए, इस समय मैं आपकी क्या सेवा करूँ, क्योंकि आप हम लोगों के परम आश्रय हैं ।"

नारद उवाच

चिरदृष्टो मयेत्येवमागतोऽहं तपोवनात् ।
परिदृष्टानि तीर्थानि गङ्गा चैव मया नृप ॥५॥

नारदजी बोले—नरेश्वर ! तुमसे भेंट हुए बहुत दिन हो गये थे, अतः तुमसे मिलने के लिए तपोवन से सीधे यहाँ चला आ रहा हूँ । मार्ग में मैंने बहुत-से तीर्थों और गङ्गा का भी दर्शन किया है ।

युधिष्ठिर उवाच

वदन्ति पुरुषा मेऽद्य गङ्गातीरनिवासिनः ।
धृतराष्ट्रं महात्मानमास्थितं परमं तपः ॥६॥

युधिष्ठिर ने पूछा—भगवन् ! गङ्गा के तट पर निवास करनेवाले मनुष्य मेरे पास आकर कहा करते हैं कि महामनस्वी महाराज धृतराष्ट्र इन दिनों बड़ी कठोर तपस्या में लगे हुए हैं ।

अपि दृष्टस्त्वया तत्र कुशली स कुरूद्वहः ।
गान्धारी च पृथा चैव सूतपुत्रश्च सञ्जयः ॥७॥

क्या आपने भी उन्हें देखा है ? वे कुरुश्रेष्ठ वहाँ कुशल से तो हैं न ? गान्धारी, कुन्ती तथा सूतपुत्र सञ्जय भी सकुशल हैं न ?

कथं च वर्तते चाद्य पिता मम स पार्थिवः ।
श्रोतुमिच्छामि भगवन् यदि दृष्टस्त्वया नृपः ॥८॥

आजकल मेरे बड़े पिता [ताऊ] राजा धृतराष्ट्र कैसे रहते हैं ? भगवन् ! यदि आपने उन्हें देखा हो तो मैं उनका समाचार सुनना चाहता हूँ ।

नारद उवाच

स्थिरीभूय महाराज शृणु वृत्तं यथातथम् ।
यथा श्रुतं च दृष्टं च मया तस्मिंस्तपोवने ॥९॥

नारदजी बोले—महाराज ! मैंने उस तपोवन में जो कुछ देखा और सुना है, वह सम्पूर्ण वृत्तान्त ठीक-ठीक बतला रहा हूँ । तुम मन लगाकर सुनो !

वनवासनिवृत्तेषु भवत्सु कुरुनन्दन ।
कुरुक्षेत्रात् पिता ते हि गङ्गाद्वारं ययौ नृप ॥१०॥
गान्धार्या सहितो धीमान्वध्वा कुन्त्या समन्वितः ।
सञ्जयेन च सूतेन साग्निहोत्रः सयाजकः ॥११॥

कुरुकुल को आनन्दित करनेवाले नरेश ! जब तुम लोग वन से वापस आ गये, तब तुम्हारे बुद्धिमान् ताऊ राजा धृतराष्ट्र गान्धारी, बहू कुन्ती, सूतपुत्र सञ्जय, अग्निहोत्र और पुरोहित के साथ कुरुक्षेत्र से गङ्गाद्वार [हरद्वार] को चले गये ।

आतस्थे स तपस्तीव्रं पिता तव तपोधनः ।
त्वगस्थिमात्रशेषः स षण्मासानभवन्नृपः ॥१२॥

वहाँ पहुँचकर तपस्या के धनी तुम्हारे ताऊ ने कठोर तप आरम्भ किया। उस तप के कारण उनके शरीर पर चमड़े से ढकी हुई हड्डियों का ढाँचामात्र रह गया था। उस अवस्था में उन्होंने छह मास व्यतीत किये।

ततः कदाचिद् गङ्गायाः कच्छे स नृपसत्तमः ।
गङ्गायामाप्लुतो धीमानाश्रमाभिमुखोऽभवत् ॥१३॥

तदनन्तर एक दिन की बात है, नृपश्रेष्ठ बुद्धिमान् धृतराष्ट्र ने गङ्गा के कछार में जाकर उसके जल में डुबकी लगाई और स्नान करके वे अपने आश्रम की ओर चल पड़े।

अथ वायुः समुद्भूतो दावाग्निरभवन्महान् ।
ददाह तद्वनं सर्वं परिगृह्य समन्ततः ॥१४॥

इतने में ही वहाँ बड़े जोर की हवा चली, जिससे उस वन में बड़ी भारी दावाग्नि प्रज्वलित हो उठी। उसने उस सारे वन को चारों ओर से जलाना आरम्भ कर दिया।

दहत्सु मृगयूथेषु द्विजिह्वेषु समन्ततः ।
वराहाणां च यूथेषु संश्रयत्सु जलाशयान् ॥१५॥

उस अग्नि की लपटों में सब ओर मृगों के झुण्ड और सर्प दग्ध होने लगे। वनैले सूअर भाग-भागकर जलाशयों की शरण लेने लगे। -

समाविद्धे वने तस्मिन् प्राप्ते व्यसन उत्तमे ।
निराहारतया राजन् मन्दप्राणविचेष्टितः ।
असमर्थोऽपसरणे सुकृशे मातरौ च ते ॥१६॥

राजन्! सम्पूर्ण वन आग से घिर गया और उन लोगों पर भारी संकट आ गया। उपवास करने से प्राणशक्ति क्षीण हो जाने के कारण राजा धृतराष्ट्र वहाँ से भागने में असमर्थ थे। तुम्हारी दोनों माताएँ भी अत्यन्त दुर्बल हो गई थीं, अतः वे भी भागने में असमर्थ थीं।

ततः स नृपतिर्दृष्ट्वा वह्निमायान्तमन्तिकात् ।
इदमाह ततः सूतं सञ्जयं जयतां वरम् ॥१७॥

तदनन्तर विजयी पुरुषों में श्रेष्ठ राजा धृतराष्ट्र ने उस अग्नि को निकट आती जान सूत सञ्जय से इस प्रकार कहा—

गच्छ सञ्जय यत्राग्निर्न त्वां दहति कर्हिचित् ।
वयमत्राग्निना युक्ता गमिष्यामः परां गतिम् ॥१८॥

"सञ्जय! तुम किसी ऐसे स्थान में भाग जाओ, जहाँ यह दावाग्नि तुम्हें किसी भी प्रकार जला न सके। हम लोग तो अब यहीं अपने-आपको अग्नि में होमकर परमगति प्राप्त करेंगे।"

इत्युक्त्वा सञ्जयं राजा समाधाय मनस्तथा ।
प्राङ्मुखः सह गान्धार्या कुन्त्या चोपाविशत्तदा ॥१९॥

सञ्जय से ऐसा कहकर राजा धृतराष्ट्र ने अपने मन को एकाग्र किया और गान्धारी तथा कुन्ती के साथ वे पूर्वाभिमुख होकर बैठ गये।

सञ्जयस्तं तथा दृष्ट्वा प्रदक्षिणमथाकरोत् ।
उवाच चैनं मेधावी युङ्क्ष्वात्मानमिति प्रभो ॥२०॥

उन्हें उस अवस्था में देख मेधावी सञ्जय ने उनकी परिक्रमा की और कहा—"महाराज! अब अपने को योगयुक्त कीजिए।"

ऋषिपुत्रो मनीषी स राजा चक्रेऽस्य तद्वचः ।
सन्निरुध्येन्द्रियग्राममासीत् काष्ठोपमस्तदा ॥२१॥

महर्षि व्यास के पुत्र मनीषी राजा धृतराष्ट्र ने सञ्जय की वह बात मान ली। वे अपनी सभी इन्द्रियों को रोककर काष्ठ की भाँति निश्चेष्ट हो गये।

गान्धारी च महाभागा जननी च पृथा तव ।
दावाग्निना समायुक्ते स च राजा पिता तव ॥२२॥

सञ्जयस्तु महामात्रस्तस्माद् दावादमुच्यत ।
गङ्गाकूले मया दृष्टस्तापसैः परिवारितः ॥२३॥

तदनन्तर महाभागा गान्धारी, तुम्हारी माता कुन्तीदेवी और तुम्हारे ताऊ महाराज धृतराष्ट्र—ये तीनों ही दावाग्नि में जलकर भस्म हो गये। महामात्य सञ्जय उस दावाग्नि से जीवित बच गये। मैंने उन्हें गङ्गातट पर तपस्वियों से घिरे हुए देखा है।

स तानामन्त्र्य तेजस्वी निवेद्यैतच्च सर्वशः ।
प्रययौ सञ्जयो धीमान् हिमवन्तं महीधरम् ॥२४॥

बुद्धिमान् और तेजस्वी सञ्जय तापसों को यह सब समाचार बताकर हिमालय पर चले गये।

एवं स निधनं प्राप्तः कुरुराजो महामनाः।
गान्धारी च पृथा चैव जनन्यौ ते विशाम्पते ॥२५॥

प्रजेश्वर! इस प्रकार महामनस्वी धृतराष्ट्र और तुम्हारी दोनों माताएँ गान्धारी और कुन्ती मृत्यु को प्राप्त हो गईं।

वैशम्पायन उवाच

एतत् श्रुत्वा च सर्वेषां पाण्डवानां महात्मनाम्।
निर्याणं धृतराष्ट्रस्य शोकः समभवन्महान् ॥२६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा धृतराष्ट्र के इस परलोकगमन का समाचार सुनकर उन सभी महामना पाण्डवों को अत्यन्त शोक हुआ।

अन्तःपुरेषु च तदा सुमहान् रुदितस्वनः।
प्रादुरासीन्महाराज पृथां श्रुत्वा तथागताम् ॥२७॥

महाराज! कुन्ती देवी की इस प्रकार की मृत्यु का समाचार सुनकर अन्तःपुर में भी रोने-बिलखने का महान् स्वर सुनाई देने लगा।

तस्मिन्नुपरते शब्दे मुहूर्तादिव भारत।
निगृह्य बाष्पं धैर्येण धर्मराजोऽब्रवीदिदम् ॥२८॥

भरतभूषण! दो घड़ी पश्चात् जब रोने-धोने की आवाज बन्द हुई, तब धर्मराज युधिष्ठिर अपने आँसू पोंछकर धैर्यपूर्वक इस प्रकार कहने लगे—

युधिष्ठिर उवाच

तथा महात्मनस्तस्य तपस्युग्रे च वर्ततः।
अनाथस्येव निधनं तिष्ठत्स्वस्मासु बन्धुषु ॥२९॥

युधिष्ठिर ने कहा—भगवन्! हम जैसे बन्धु-बान्धवों के रहते हुए भी कठोर तपस्या में लगे हुए महामना धृतराष्ट्र की अनाथ के समान मृत्यु हुई, यह कितने दुःख की बात है!

दुर्विज्ञेया गतिर्ब्रह्मन् पुरुषाणां मतिर्मम।
यत्र वैचित्रवीर्योऽसौ दग्ध एवं वनाग्निना ॥३०॥

ब्रह्मन्! मेरा तो ऐसा मत है कि मनुष्यों की दैवगति का ठीक-ठीक ज्ञान होना अत्यन्त कठिन है, जब कि विचित्रवीर्यकुमार धृतराष्ट्र को इस प्रकार दावानल से दग्ध होकर मरना पड़ा।

न च शोचामि गान्धारीं हतपुत्रां यशस्विनीम्।
पतिलोकमनुप्राप्तां तथा भर्तृव्रते स्थिताम् ॥३१॥

मुझे पुत्रहीना यशस्विनी गान्धारी के लिए इतना शोक नहीं है, क्योंकि वे पतिव्रतधर्म का पालन करती थीं, अतः वे पतिलोक में गई हैं।

पृथामेव च शोचामि या पुत्रैश्वर्यमृद्धिमत्।
उत्सृज्य सुमहद् दीप्तं वनवासमरोचयत् ॥३२॥

मैं उन माता कुन्ती के लिए ही अधिक शोकाकुल हूँ, जिन्होंने पुत्रों के समृद्धिशाली और परम समुज्ज्वल ऐश्वर्य को ठुकराकर वन में रहना पसन्द किया था।

धिग् राज्यमिदमस्माकं धिग्बलं धिक्पराक्रमम्।
क्षत्रधर्मं च धिग्यस्मान्मृता जीवामहे वयम् ॥३३॥

हमारे इस राज्य को धिक्कार है, बल और पराक्रम को धिक्कार है, और इस क्षत्रिय धर्म को भी धिक्कार है जिसके कारण आज हम लोग मृतक-तुल्य जीवन बिता रहे हैं।

नारद उवाच

मा शोचिथास्त्वं नृपतिं गतः स परमां गतिम्।
गुरुशुश्रूषया चैव जननी ते जनाधिप।
प्राप्ता सुमहतीं सिद्धिमिति मे नात्र संशयः ॥३४॥

नारदजी बोले—जनेश्वर! तुम महाराज धृतराष्ट्र के लिए शोक मत करो। वे परम उत्तम गति को प्राप्त हुए हैं। तुम्हारी माता कुन्तीदेवी भी गुरुजनों की सेवा के प्रभाव से बहुत बड़ी सिद्धि को प्राप्त हुई हैं, इस विषय में मुझे तनिक भी सन्देह नहीं है।

वैशम्पायन उवाच

समाश्वास्य तु राजानं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम्।
नारदोऽप्यगमद् राजन् परमर्षिर्यथेप्सितम् ॥३५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! देवर्षि नारदजी धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर को इस प्रकार आश्वासन प्रदान कर अपने अभीष्ट स्थान को चले गये।

एवं वर्षाण्यतीतानि धृतराष्ट्रस्य धीमतः।
वनवासे तथा त्रीणि नगरे दश पञ्च च ॥३६॥
हतपुत्रस्य संग्रामे दानानि ददतः सदा।
ज्ञातिसम्बन्धिमित्राणां भ्रातॄणां स्वजनस्य च ॥३७॥

इस प्रकार जिनके सभी पुत्र युद्धक्षेत्र में मारे गये थे, उन राजा धृतराष्ट्र ने अपने सगोत्र-भाई, सम्बन्धी, मित्र, बन्धु और स्वजनों के निमित्त सदा दान देते हुए [युद्धसमाप्ति के पश्चात्] पन्द्रह वर्ष हस्तिनापुर में और तीन वर्ष वन में तप करते हुए व्यतीत किये थे ।

युधिष्ठिरस्तु नृपतिर्नातिप्रीतिमनास्तदा ।
धारयामास तद् राज्यं निहतज्ञातिबान्धवः ॥३८॥

जिनके बन्धु-बान्धव नष्ट हो गये थे, वे महाराजा युधिष्ठिर भी मन में सदा खिन्न रहते हुए जिस किसी प्रकार राज्य का भार संभाल रहे थे ।

इति महाभारते आश्रमवासिकपर्वणि अष्टमोऽध्यायः ॥८॥

॥ इति आश्रमवासिकपर्व सम्पूर्णम् ॥

मौसलपर्व

प्रथमोऽध्यायः

युधिष्ठिर का यादवों के विनाश का समाचार सुनना, ऋषियों का यादवकुमारों को शाप, श्रीकृष्ण का यदुवंशियों को तीर्थयात्रा के लिए आदेश देना और यादवों का परस्पर संहार

वैशम्पायन उवाच

षट्त्रिंशे त्वथ सम्प्राप्ते वर्षे कौरवनन्दनः ।
ददर्श विपरीतानि निमित्तानि युधिष्ठिरः ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महाभारत-युद्ध के पश्चात् जब छत्तीसवाँ वर्ष प्रारम्भ हुआ तब कौरवनन्दन राजा युधिष्ठिर को कई प्रकार के अपशकुन दिखाई देने लगे ।

कस्यचित्त्वथ कालस्य कुरुराजो युधिष्ठिरः ।
शुश्राव वृष्णिचक्रस्य मौसलैः कदनं कृतम् ॥२॥
वियुक्तं वासुदेवं च श्रुत्वा रामं च पाण्डवः ।
समानीयाब्रवीद्भ्रातॄन् किं करिष्याम इत्युत ॥३॥

कुछ ही दिनों के पश्चात् कुरुराज युधिष्ठिर ने यह समाचार सुना कि समस्त वृष्णिवंशी मूसलों[1] के द्वारा आपस में लड़ मरे । श्रीकृष्ण और बलराम की भी मृत्यु का समाचार सुनकर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर ने अपने सभी भाइयों को बुलाया और पूछा—"अब हमें क्या करना चाहिए ?"

परस्परं समासाद्य ब्रह्मदण्डबलात् कृतान् ।
वृष्णीन्विनष्टांस्ते श्रुत्वा व्यथिताः पाण्डवाभवन् ॥४॥
निधनं वासुदेवस्य समुद्रस्येव शोषणम् ।
वीरा न श्रद्दधुस्तस्य विनाशं शार्ङ्गधन्वनः ॥५॥

'ब्राह्मणों के शाप के बल से विवश हो आपस में लड़-भिड़कर समस्त वृष्णिवंशी नष्ट हो गये'—यह बात सुनकर पाण्डवों को अत्यन्त वेदना हुई । श्रीकृष्ण का वध तो समुद्र को सोख लेने के समान असम्भव था, अतः उन वीरों ने श्रीकृष्ण की मृत्यु की बात पर विश्वास नहीं किया ।

मौसलं ते समाश्रित्य दुःखशोकसमन्विताः ।
विषण्णा हतसङ्कल्पाः पाण्डवाः समुपाविशन् ॥६॥

इस मौसलकाण्ड की बात को लेकर सारे पाण्डव दुःख और शोकसागर में डूब गये । उनके मन में विषाद छा गया और वे हताश हो मन मारकर बैठ गये ।

जनमेजय उवाच

कथं विनष्टा भगवन्नन्धका वृष्णिभिः सह ।
पश्यतो वासुदेवस्य भोजाश्चैव महारथाः ॥७॥

जनमेजय ने पूछा—भगवन् ! श्रीकृष्ण के देखते-देखते वृष्णिवंशियोंसहित अन्धक और महारथी भोजवंशी क्षत्रिय कैसे नष्ट हो गये ?

वैशम्पायन उवाच

विश्वामित्रं च कण्वं च नारदं च तपोधनम् ।
सारणप्रमुखा वीरा ददृशुर्द्वारकां गतान् ॥८॥
ते तान्साम्बं पुरस्कृत्य भूषयित्वा स्त्रियं यथा ।
अब्रुवन्नुपसंगम्य दैवदण्डनिपीडिताः ॥९॥

---

[1] मुद्गर की भाँति बना हुआ, मूसल के आकार का शस्त्र; गदाओं से लड़ा जानेवाला युद्ध । मूसल का अर्थ मुष्टि भी हो सकता है । भागवत [१।१५।२२] में इसी प्रसङ्ग में कहा है—निघ्नतां मुष्टिभिर्मिथः।—वृष्णिवंशी परस्पर घूँसों से लड़ मरे । मूसल का एक अर्थ अरा भी होता है ।

वैशम्पायनजी बोले—राजन् ! एक समय की बात है, महर्षि विश्वामित्र, कण्व और तपस्या के धनी नारदजी द्वारका में गये हुए थे। उस समय दैव के मारे हुए सारण आदि वीर साम्ब को स्त्री के वेश में सुभूषित करके उनके पास ले गये। उन सबने उन मुनियों का दर्शन किया और इस प्रकार पूछा—

इयं स्त्री पुत्रकामस्य बभ्रोरमिततेजसः ।
ऋषयः साधु जानीत किमयं जनयिष्यति ॥१०॥

"महर्षियो ! यह स्त्री अमित तेजस्वी बभ्रु की पत्नी है। बभ्रु के मन में पुत्र-प्राप्ति की तीव्र उत्कण्ठा है। आप लोग ऋषि हैं, अतः भली-भाँति सोच-विचारकर बताएँ कि इसके गर्भ से क्या उत्पन्न होगा ?"

इत्युक्तास्ते तदा राजन् विप्रलम्भप्रधर्षिताः ।
प्रत्यब्रुवंस्तान् मुनयो यत्तत् शृणु नराधिप ॥११॥

राजन् ! नरेश्वर ! ऐसी बात कहकर उन यादवों ने जब ऋषियों को धोखा दिया और इस प्रकार उनका तिरस्कार किया, तब उन्होंने उन बालकों को जो उत्तर दिया उसे सुनो !

वृष्ण्यन्धकविनाशाय मुसलं घोरमायसम् ।
वासुदेवस्य दायादः साम्बोऽयं जनिष्यति ॥१२॥
येन यूयं सुदुर्वृत्ता नृशंसा जातमन्यवः ।
उच्छेत्तारः कुलं कृत्स्नमृते रामजनार्दनौ ॥१३॥

"दुराचारी, क्रोधी और क्रूर यादवकुमारो ! श्रीकृष्ण का यह पुत्र साम्ब एक भयंकर लोहे का मूसल उत्पन्न करेगा[1], जो वृष्णि और अन्धकवंश के नाश का कारण बनेगा। उसी से तुम लोग बलराम और श्रीकृष्ण के सिवा अपने शेष समस्त कुल का संहार कर डालोगे।"

तथोक्त्वा मुनयस्ते तु ततः केशवमभ्ययुः ।
अथाब्रवीत् तदा वृष्णीन्भवितव्यं तथेति तान् ॥१४॥

उन यादवकुमारों से ऐसा कहकर वे मुनि श्रीकृष्ण के पास चले गये [वहाँ उन्होंने उन्हें सम्पूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया]। यह सुनकर श्रीकृष्ण ने वृष्णिवंशियों से कहा—"ऋषियों ने जैसा कहा है, वैसा ही होगा अर्थात् वृष्णि, अन्धक और भोजवंशियों का नाश अवश्यम्भावी है।"

अघोषयंश्च नगरे वचनादाहुकस्य ते ।
जनार्दनस्य रामस्य बभ्रोश्चैव महात्मनः ॥१५॥
अद्यप्रभृति सर्वेषु वृष्ण्यन्धककुलेष्विह ।
सुरासवो न कर्तव्यः सर्वैर्नगरवासिभिः ॥१६॥

सावधानी के नाते आहुक [महाराज उग्रसेन], श्रीकृष्ण, बलराम और महामना बभ्रु के आदेश से राजपुरुषों ने नगर में यह घोषणा करा दी कि आज से समस्त वृष्णि और अन्धकवंशी क्षत्रियों के यहाँ कोई भी नगर-निवासी सुरा और आसव तैयार न करे।

यश्च नोऽविदितं कुर्यात्पेयं कश्चिन्नरः क्वचित् ।
जीवन् स शूलमारोहेत् स्वयं कृत्वा सबान्धवः ॥१७॥

यदि कोई मनुष्य हम लोगों से छिपकर कहीं भी कोई मादक पेय तैयार करेगा तो वह अपराधी अपने बन्धु-बान्धवोंसहित जीवित अवस्था में शूली पर चढ़ा दिया जाएगा।

एवं प्रयतमानानां वृष्णीनामन्धकैः सह ।
कालो गृहाणि सर्वेषां परिचक्राम नित्यशः ॥१८॥

जनमेजय ! इस प्रकार वृष्णि और अन्धकवंशी अपने ऊपर आनेवाले संकट का निवारण करने के लिए अनेक प्रकार के प्रयत्न कर रहे थे और उधर काल सबके घरों में चक्कर लगाया करता था।

उत्पेदिरे महावाता दारुणाश्च दिने दिने ।
वृष्ण्यन्धकविनाशाय बहवो लोमहर्षणाः ॥१९॥

अब प्रतिदिन अनेक बार भयंकर आँधी उठने लगी, जो रोंगटे खड़े कर देनेवाली थी। उससे वृष्णियों और अन्धकों के विनाश की सूचना मिल रही थी।

विवृद्धमूषका रथ्या विभिन्नमणिकास्तथा ।
केशा नखाश्च सुप्तानामद्यन्ते मूषकैर्निशि ॥२०॥

---

[1] मनुष्य के पेट से लोहे का मूसल पैदा होना सर्वथा असम्भव है। इस कथानक में सार की बात इतनी ही है कि ऋषि-मुनियों, महापुरुषों और वृद्धों से हँसी-मजाक नहीं करना चाहिए, उसका परिणाम भयंकर हो सकता है।

चूहे इतने बढ़ गये थे कि वे राजमार्गों [सड़कों] पर छाये रहते थे। वे मिट्टी के बर्तनों में छेद कर डालते थे और रात्रि में सोये हुए मनुष्यों के केश और नख कुतरकर खा जाया करते थे।

एवं पश्यन् हृषीकेशः सम्प्राप्तं कालपर्ययम्।
त्रयोदश्याममावास्यां तान् दृष्ट्वा प्राब्रवीदिदम्॥२१॥

इस प्रकार काल का उलट-फेर प्राप्त हुआ देख और त्रयोदशी तिथि को अमावास्या का संयोग जान श्रीकृष्ण ने सब लोगों से कहा—

चतुर्दशी पञ्चदशी कृतेयं राहुणा पुनः।
प्राप्ते वै भारते युद्धे प्राप्ता चाद्य क्षयाय नः॥२२॥

"वीरो! इस समय राहु ने फिर चतुर्दशी को ही अमावास्या बना दिया है। महाभारत युद्ध के समय नक्षत्रों का जैसा योग था, वैसा ही आज भी है।[1] यह सब हम लोगों के विनाश का सूचक है।

पुत्रशोकाभिसन्तप्ता गान्धारी हतबान्धवा।
यदनुव्याजहारार्ता तदिदं समुपागमत्॥२३॥

"बन्धु-बान्धवों के मारे जाने पर पुत्रशोक से सन्तप्त हुई गान्धारी देवी ने अत्यन्त व्यथित होकर हमारे कुल के लिए जो शाप दिया था, उसके सफल होने का यह समय आ गया है।"

इत्युक्त्वा वासुदेवस्तु चिकीर्षुः सत्यमेव तत्।
आज्ञापयामास तदा तीर्थयात्रामरिन्दमः॥२४॥

ऐसा कहकर शत्रुमर्दन श्रीकृष्ण ने गान्धारी के उस कथन को सत्य सिद्ध करने की इच्छा से यदुवंशियों को उस समय तीर्थयात्रा के लिए आदेश दिया।

अघोषयन्त पुरुषास्तत्र केशवशासनात्।
तीर्थयात्रा समुद्रे वः कार्येति पुरुषर्षभाः॥२५॥

श्रीकृष्ण के आदेश से राजपुरुषों ने उस नगर में यह घोषणा कर दी कि—"पुरुषप्रवर यादवो! तुम्हें समुद्र पर ही तीर्थयात्रा के लिए चलना चाहिए, अर्थात् सबको प्रभासक्षेत्र में उपस्थित होना चाहिए।"

ततः सैनिकवर्गाश्च निर्ययुर्नगराद् बहिः।
यानैरश्वैर्गजैश्चैव श्रीमन्तस्तिग्मतेजसः॥२६॥

उस घोषणा के पश्चात् सैनिकों के समुदाय, जो शोभासम्पन्न और प्रचण्ड तेजस्वी थे, रथ, घोड़े और हाथियों पर आरूढ़ होकर नगर से बाहर निकले।

ततः प्रभासे न्यवसन् यथोद्दिष्टं यथागृहम्।
प्रभूतभक्ष्यपेयास्ते सदारा यादवास्तदा॥२७॥

उस समय स्त्रियोंसहित सभी यदुवंशी प्रभासक्षेत्र में पहुँचकर अपने-अपने अनुकूल घरों में ठहर गये। उनके पास खाने-पीने की विपुल सामग्री थी।

निविष्टांस्तान्निशम्याथ समुद्रान्ते स योगवित्।
जगामामन्त्र्य तान् वीरानुद्धवोऽर्थविशारदः॥२८॥

परमार्थ-ज्ञान में निपुण और योग के रहस्यों को जाननेवाले उद्धवजी ने जब यह देखा कि समस्त यदुवंशी वीर समुद्रतट पर डेरा डाले बैठे हैं तब वे उन सबसे पूछकर=विदा लेकर वहाँ से चल दिये।

ततस्तूर्यशताकीर्णं नटनर्तकसंकुलम्।
प्रावर्तत महापानं प्रभासे तिग्मतेजसाम्॥२९॥

उद्धवजी के प्रस्थान करने के पश्चात् वहाँ सैकड़ों प्रकार के बाजे बजने लगे। सब ओर नटों और नर्तकों का नृत्य होने लगा। इस प्रकार प्रभासक्षेत्र में प्रचण्ड तेजस्वी यादवों का महापान आरम्भ हुआ।

कृष्णास्य सन्निधौ रामः सहितः कृतवर्मणा।
अपिबद् युयुधानश्च गदो बभ्रुस्तथैव च॥३०॥

श्रीकृष्ण के समीप ही कृतवर्मासहित बलराम, सात्यकि, गद और बभ्रु—सभी सुरापान करने लगे।

ततः परिषदो मध्ये युयुधानो मदोत्कटः।
अब्रवीत् कृतवर्माणमवहास्यावमन्य च॥३१॥

पीते-पीते सात्यकि मद से मतवाले हो गये और यादवों की उस सभा में कृतवर्मा का उपहास एवं अपमान करते हुए इस प्रकार बोले—

कः क्षत्रियोऽहन्यमानः सुप्तान् हन्यान्मृतानिव।
तन्न मृष्यन्ति हार्दिक्य यादवा यत्त्वया कृतम्॥३२॥

"हार्दिक्य! तेरे सिवा दूसरा ऐसा कौन क्षत्रिय होगा, जो अपने ऊपर आघात न होते हुए भी रात्रि में मृतक के समान अचेत पड़े हुए मनुष्यों की हत्या

---

[1] इस वर्णन से यह सिद्ध है कि महाभारत इतिहास-ग्रन्थ है, यह काल्पनिक कथा (Myth) नहीं है। महाकाव्यों, उपन्यासों आदि में इतना सूक्ष्म ध्यान नहीं रखा जाता है।

करेगा ! तूने जो अन्याय किया है, उसे यदुवंशी कभी क्षमा नहीं करेंगे ।"

इत्युक्ते युयुधानेन पूजयामास तद्वचः ।
प्रद्युम्नो रथिनां श्रेष्ठो हार्दिक्यमवमन्य च ।।३३।।

सात्यकि के ऐसा कहने पर रथियों में श्रेष्ठ प्रद्युम्न ने कृतवर्मा का तिरस्कार करके सात्यकि के उपर्युक्त वचन की प्रशंसा की और उसका अनुमोदन किया ।

ततः परमसंक्रुद्धः कृतवर्मा तमब्रवीत् ।
निर्दिशन्निव सावज्ञं तदा सव्येन पाणिना ।।३४।।

यह सुनकर कृतवर्मा अत्यन्त क्रोधित हो उठा और बायें हाथ से अंगुली का संकेत करके सात्यकि का अपमान करता हुआ बोला—

भूरिश्रवाश्छिन्नबाहुर्युद्धे प्रायगतस्त्वया ।
वधेन सुनृशंसेन कथं वीरेण पातितः ।।३५।।

"अरे ! जब युद्ध में भूरिश्रवा की भुजा कट गई थी और वे मरणान्त उपवास का निश्चय करके भूमि पर बैठ गये थे, उस अवस्था में तूने वीर कहलाकर भी उनकी क्रूरतापूर्ण हत्या क्यों की थी ?"

इति तस्य वचः श्रुत्वा केशवस्य समीपतः ।
अभिद्रुत्य शिरः क्रुद्धश्चिच्छेद कृतवर्मणः ।।३६।।

कृतवर्मा की यह बात सुनकर सात्यकि ने श्रीकृष्ण के पास से दौड़कर तलवार के एक ही वार से कृतवर्मा का सिर काट डाला ।

तथान्यानपि निघ्नन्तं युयुधानं समन्ततः ।
अभ्यधावद्धृषीकेशो विनिवारयितुं तदा ।।३७।।

तत्पश्चात् वे सब ओर घूम-घूमकर दूसरे-दूसरे लोगों का भी वध करने लगे । यह देख श्रीकृष्ण उन्हें रोकने के लिए दौड़े ।

एकीभूतास्ततः सर्वे कालपर्यायनोदिताः ।
भोजान्धका महाराज शैनेयं पर्यवारयन् ।।३८।।

महाराज ! इतने में ही काल की प्रेरणा से भोज और अन्धकवंश के समस्त वीरों ने एक-मत होकर सात्यकि को चारों ओर से घेर लिया ।

ते तु पानमदाविष्टाश्चोदिताः कालधर्मणा ।
युयुधानमथाभ्यघ्नन्नुच्छिष्टैर्भाजनैस्तथा ।।३९।।

वे सब-के-सब मदिराजनित मद के आवेश से उन्मत्त हो उठे थे । दूसरी ओर कालधर्मा मृत्यु भी उन्हें प्रेरित कर रहा था, अतः वे जूठे बर्तनों से सात्यकि पर आघात करने लगे ।

हन्यमाने तु शैनेये क्रुद्धो रुक्मिणिनन्दनः ।
तदनन्तरमागच्छन्मोक्षयिष्यन् शिनेः सुतम् ।।४०।।

जब सात्यकि की इस प्रकार से धुनाई होने लगी, तब क्रोध में भरे हुए रुक्मिणिनन्दन प्रद्युम्न उन्हें संकट से बचाने के लिए स्वयं उनके और आक्रमणकारियों के बीच में कूद पड़े ।

स भोजैः सह संयुक्तः सात्यकिश्चान्धकैः सह ।
व्यायच्छमानौ तौ वीरौ बाहुद्रविणशालिनौ ।
बहुत्वान्निहतौ तत्र उभौ कृष्णस्य पश्यतः ।।४१।।

प्रद्युम्न भोजों से भिड़ गये और सात्यकि अन्धकों के साथ जूझने लगे । अपनी भुजाओं के बल से सुशोभित होनेवाले वे दोनों वीर बड़े परिश्रम के साथ विरोधियों का सामना करते रहे । परन्तु विपक्षियों की संख्या बहुत अधिक थी, अतः वे दोनों श्रीकृष्ण के देखते-देखते उनके हाथों मार डाले गये ।

ततोऽन्धकाश्च भोजाश्च शैनेया वृष्णयस्तथा ।
जघ्नुरन्योन्यमाक्रन्दे मुसलैः कालनोदिताः ।।४२।।

फिर तो काल से प्रेरित हुए अन्धक, भोज, शिनि तथा वृष्णिवंश के लोगों ने उस भीषण मारकाट में एक-दूसरे को घूंसों से मारना आरम्भ किया ।

अवधीत् पितरं पुत्रः पिता पुत्रं च भारत ।
मत्ताः परितपन्ति स्म योधयन्तः परस्परम् ।
पतङ्गा इव चाग्नौ ते निपेतुः कुकुरान्धकाः ।।४३।।

भरतभूषण ! मूसलों [मुष्टियों, घूंसों] के आघात-प्रत्याघात से पिता ने पुत्र को और पुत्र ने पिता को मार डाला । जैसे पतंगे आग में कूद पड़ते हैं, उसी प्रकार कुकुर तथा अन्धकवंश के लोग परस्पर जूझते हुए एक-दूसरे पर मतवाले होकर टूट रहे थे ।

तत्रापश्यन्महाबाहुर्जनान् कालस्य पर्ययम् ।
मुसलं समवष्टभ्य तस्थौ च मधुसूदनः ।।४४।।

वहाँ मारे जानेवाले किसी भी योद्धा के मन में वहाँ से भाग जाने का विचार नहीं आता था । कालचक्र के इस परिवर्तन को जानते हुए महाबाहु

मधुसूदन वहाँ चुपचाप सब-कुछ देखते रहे और मूसल [गदा] का सहारा लेकर खड़े रहे ।

साम्बं च निहतं दृष्ट्वा चारुदेष्णं च माधवः ।
प्रद्युम्नं चानिरुद्धं च ततश्चुक्रोध भारत ।।४५।।

भरतभूषण ! जब श्रीकृष्ण ने देखा कि उनके पुत्र साम्ब, चारुदेष्ण एवं प्रद्युम्न तथा पोता अनिरुद्ध भी मार डाला गया है, तब उनकी क्रोधाग्नि प्रज्वलित हो उठी ।

गदं वीक्ष्य शयानं च भृशं कोपसमन्वितः ।
स निःशेषं तदा चक्रे शार्ङ्गचक्रगदाधरः ।।४६।।

अपने छोटे भाई गद को रणभूमि में मारा गया देख वे क्रोध से आगबबूला हो उठे । फिर तो शार्ङ्ग धनुष, चक्र और गदा धारण करनेवाले श्रीकृष्ण ने उस समय शेष बचे हुए समस्त यादवों का संहार कर डाला ।

तन्निघ्नन्तं महातेजा बभ्रुः परपुरञ्जयः ।
दारुकश्चैव दाशार्हमूचतुर्यन्निबोध तत् ।।४७।।

शत्रुओं की नगरी पर विजय पानेवाले महातेजस्वी बभ्रु और दारुक ने उस समय यादवों को मौत के घाट उतारते हुए श्रीकृष्ण से जो कुछ कहा, उसे सुनो !

भगवन्निहताः सर्वे त्वया भूयिष्ठशो नराः ।
रामस्य पदमन्विच्छ तत्र गच्छाम यत्र सः ।।४८।।

"भगवन् ! अब सबका विनाश हो गया । इनमें से अधिकांश तो आपके हाथों ही मारे गये हैं । अब हम तीनों उधर ही चलें, जिधर बलरामजी गये हैं ।"

इति महाभारते मौसलपर्वणि प्रथमोऽध्यायः ।।१।।

द्वितीयोऽध्यायः

दारुक का अर्जुन को सूचना देने के लिए हस्तिनापुर के लिए प्रस्थान, बभ्रु, बलराम और श्रीकृष्ण का देहावसान

वैशम्पायन उवाच

ततो ययुर्दारुककेशवौ च
बभ्रुश्च रामस्य पदं पतन्तः ।
अथापश्यन् राममनन्तवीर्यं
वृक्षे स्थितं चिन्तयानं विविक्ते ।।१।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! यादवों का संहार हो जाने पर दारुक, बभ्रु और श्रीकृष्ण तीनों ही बलरामजी के पदचिह्नों को देखते हुए वहाँ से चल पड़े । थोड़ी ही देर पश्चात् उन्होंने अत्यन्त पराक्रमी बलरामजी को एक वृक्ष के नीचे विराजमान देखा । वे एकान्त में बैठे हुए ध्यानमग्न थे ।

ततः समासाद्य महानुभावं
कृष्णस्तदा दारुकमन्वशासत् ।
गत्वा कुरून् सर्वमिमं महान्तं
पार्थाय शंसस्व वधं यदूनाम् ।।२।।

उन महानुभाव बलरामजी के पास पहुँचकर श्रीकृष्ण ने तत्काल दारुक को आज्ञा दी कि— "तुम शीघ्र ही कुरुदेश की राजधानी हस्तिनापुर में जाकर अर्जुन को यादवों के इस भीषण संहार का सारा वृत्तान्त कह सुनाओ ।

ततोऽर्जुनः क्षिप्रमिहोपयातु
श्रुत्वा मृतान् यादवान्मुष्टिघातात् ।
इत्येवमुक्तः स ययौ रथेन
कुरूंस्तदा दारुको नष्टचेताः ।।३।।

"मुष्टियों [घूँसों] के आघात से यदुवंशियों की मृत्यु का समाचार पाकर अर्जुन शीघ्र ही द्वारका चले आएँ ।" श्रीकृष्ण के इस प्रकार आज्ञा देने पर दारुक रथ पर सवार हो तत्काल कुरुदेश को चला गया । वह इस महान् शोक से अचेत-सा हो रहा था ।

ततो गते दारुके केशवोऽथ
दृष्ट्वान्तिके बभ्रुमुवाच वाक्यम् ।
स्त्रियो भवान् रक्षितुं यातु शीघ्रं
नैता हिंस्युर्दस्यवो वित्तलोभात् ।।४।।

दारुक के चले जाने पर श्रीकृष्ण ने अपने निकट खड़े हुए बभ्रु से कहा—"तुम स्त्रियों की रक्षा के

लिए शीघ्र ही द्वारका चले जाओ। कहीं ऐसा न हो कि डाकू लोग धन के लालच में उनकी हत्या कर डालें।"

तं वै यान्तं केशवेनानुशिष्टो
दुरन्तमेकं सहसैव बभ्रुम्।
ब्रह्मानुशप्तमवधीन्महद् वै
कूटोन्मुक्तं मुसलं लुब्धकस्य ॥५॥

श्रीकृष्ण की आज्ञा पाकर वे जा ही रहे थे कि ऋषियों के शाप के कारण किसी व्याध द्वारा धोखे से चलाया गया बाण उसके ऊपर आकर गिरा और उसने तुरन्त ही उसके प्राण हर लिये।

ततो दृष्ट्वा निहतं बभ्रुमाह
कृष्णोऽग्रजं भ्रातरमुग्रतेजाः।
इहैव त्वं मां प्रतीक्षस्व राम
यावत्स्त्रियो ज्ञातिवशाः करोमि ॥६॥

बभ्रु को मारा गया देख उग्र तेजस्वी श्रीकृष्ण ने अपने भाई से कहा—"भैया बलराम! जबतक मैं कुलस्त्रियों को स्वजनों के संरक्षण में रखकर वापस न लौटूँ, तबतक आप यहीं रहकर मेरी प्रतीक्षा कीजिए।

ततः पुरीं द्वारवतीं प्रविश्य
जनार्दनः पितरं प्राह वाक्यम्।
स्त्रियो भवान् रक्षतु नः समग्रा
धनञ्जयस्यागमनं प्रतीक्षन् ॥७॥

बलरामजी से ऐसा कहकर श्रीकृष्ण द्वारकापुरी में गये और वहाँ अपने पिता वसुदेवजी से बोले—"पिताजी! आप अर्जुन के आगमन की प्रतीक्षा करते हुए हमारे कुल की समस्त स्त्रियों की रक्षा करें।

रामो वनान्ते प्रतिपालयन्मा-
मास्तेऽद्याहं तेन समागमिष्ये।
दृष्टं मयेदं निधनं यदूनां
राज्ञां च पूर्वं कुरुपुङ्गवानाम् ॥८॥

"इस समय बलरामजी मेरी प्रतीक्षा करते हुए वन में बैठे हैं। मैं आज ही वहाँ जाकर उनसे मिलूँगा। मैंने इस समय यह यदुवंशियों का विनाश देखा है और पूर्वकाल में कुरुकुल के श्रेष्ठ राजाओं का संहार भी देख चुका हूँ।

नाहं विना यदुभिर्यादवानां
पुरीमिमामशकं द्रष्टुमद्य।
तपश्चरिष्यामि निबोध तन्मे
रामेण सार्धं वनमभ्युपेत्य ॥९॥

"अब मैं उन यादव वीरों के बिना उनके इस नगर को देखने में भी सर्वथा असमर्थ हूँ। अब मैं क्या करूँगा, यह भी सुन लीजिए। मैं वन में जाकर बलरामजी के साथ तपस्या करूँगा।"

इतीदमुक्त्वा शिरसा च पादौ
संस्पृश्य कृष्णस्त्वरितो जगाम।
ततो महान् निनदः प्रादुरासीत्
सस्त्रीकुमारस्य पुरस्य तस्य ॥१०॥

ऐसा कहकर उन्होंने अपने पिता के चरणों में सिर रखकर उन्हें प्रणाम किया। फिर श्रीकृष्ण तुरन्त वहाँ से चल दिये। इतने में ही उस पुरी की स्त्रियों और बालकों के रोने का महान् आर्तनाद सुनाई पड़ा।

अथाब्रवीत् केशवः सन्निवर्त्य
शब्दं श्रुत्वा योषितां क्रोशतीनाम्।
पुरीमिमामेष्यति सव्यसाची
स वो दुःखान्मोचयिता नराग्र्यः ॥११॥

विलाप करती हुई उन स्त्रियों के करुणक्रन्दन को सुनकर श्रीकृष्ण पुनः लौट आये और उन्हें सान्त्वना प्रदान करते हुए बोले—"देखो! नरश्रेष्ठ अर्जुन शीघ्र ही इस नगर में आनेवाले हैं, वे ही तुम्हारा इस संकट से उद्धार करेंगे।"

ततो गत्वा केशवस्तं ददर्श
रामं वने स्थितमेकं विविक्ते।
अथापश्यद् योगयुक्तस्य तस्य
नागं मुखान्निश्चरन्तं महान्तम् ॥१२॥

पुर की नारियों से ऐसा कहकर श्रीकृष्ण वहाँ से चल दिये। वन में पहुँचकर उन्होंने वन के एकान्त प्रदेश में बैठे हुए बलरामजी का दर्शन किया। बलरामजी योग-युक्त हो समाधि लगाये बैठे थे। इसी समय उन्होंने देखा कि बलरामजी के मुख से

महानाग[1] निकल गया। [अन्तिम हिचकी आई और उनका प्राणान्त हो गया]।

ततो गते भ्रातरि वासुदेवो
दैवीगतिज्ञानसुदिव्यदृष्टिः।
शून्ये वने विचरंश्चिन्तयानो
विवेश भूमावथ दिव्यतेजाः ॥१३॥

भाई बलराम के परलोक सिधारने के पश्चात् सम्पूर्ण दैवगतियों को जाननेवाले, दिव्य दृष्टि से सम्पन्न श्रीकृष्ण कुछ सोचते-विचारते हुए उस निर्जन वन में विचरने लगे। फिर वे महातेजस्वी भूमि पर बैठ गये।

मेने ततः संक्रमणस्य कालं
ततश्चकारेन्द्रियसन्निरोधम्।
स सन्निरुध्येन्द्रियवाङ्मनांसि
शिश्ये महायोगमुपेत्य कृष्णः ॥१४॥

श्रीकृष्णजी ने अब अपनी मृत्यु का समय सन्निकट ही समझा, अतः उन्होंने अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियवृत्तियों का निरोध किया। अपने मन, वाणी और इन्द्रियों का निरोध करके महायोग [समाधि] का आश्रय ले वे पृथिवी पर लेट गये।

जराथ तं देशमुपाजगाम
लुब्धस्तदानीं मृगलिप्सुरुग्रः।
स केशवं योगयुतं शयानं
मृगाशङ्की लुब्धकः सायकेन ॥१५॥
जराविध्यत् पादतले त्वरावान्
यावज्जिघृक्षुस्तमभिजगाम।
अथापश्यत् पुरुषं योगयुक्तं
पीताम्बरं लुब्धकस्तेजराशिम् ॥१६॥

उसी समय जरा नामक एक भयंकर व्याध [शिकारी] मृगों को मारकर ले-जाने की इच्छा से उस स्थान पर आया। उस समय श्रीकृष्ण योगयुक्त होकर सो रहे थे। मृगों में आसक्त हुए उस व्याध ने श्रीकृष्ण को भी कोई मृग ही समझा और अत्यन्त उतावली के साथ बाण मारकर उनके पैर के तलवे में घाव कर दिया।[2] फिर उस मृग को पकड़ने के लिए जब वह निकट आया तब उसने योग में स्थित, पीताम्बरधारी और महातेजस्वी श्रीकृष्ण को देखा।

मत्वाऽऽत्मानं त्वपराद्धं स तस्य
पादौ जरा जगृहे शंकितात्मा।
आश्वासयंस्तं निभृतं महात्मा
अगच्छदूर्ध्वं दिवि व्याप्य लक्ष्म्या ॥१७॥

अब तो वह जरा नामक व्याध अपने-आपको अपराधी मानकर मन-ही-मन बहुत डर गया। उसने श्रीकृष्ण के दोनों पैर पकड़ लिये। तब महात्मा श्रीकृष्ण ने उसे आश्वासन दिया और अपनी कान्ति=यश से पृथिवी और आकाश को व्याप्त करके ऊर्ध्वलोक=मोक्षधाम को चले गये।

इति महाभारते मौसलपर्वणि द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

तृतीयोऽध्यायः

अर्जुन का द्वारका पहुँचना और वासुदेवजी से उनका वार्तालाप

वैशम्पायन उवाच

दारुकोऽपि कुरून्गत्वा दृष्ट्वा पार्थान्महारथान्।
आचष्ट मौसले वृष्णीनन्योऽन्येनोपसंहृतान् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! दारुक ने भी कुरुदेश में जाकर महारथी कुन्तीकुमारों का दर्शन किया और उन्हें यह सूचना दी कि समस्त वृष्णिवंशी मौसल युद्ध में एक-दूसरे के द्वारा मौत के घाट उतार दिये गये।

---

[1] हमारे शरीर में प्राण दस भागों में विभक्त होकर रहता है—प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान—ये पाँच प्राण हैं। पाँच उपप्राण हैं—देवदत्त, कृकल, कूर्म, नाग और धनञ्जय। इनमें से प्रत्येक का स्थान और कार्य भी नियत है। नाग का कार्य है उद्गार=डकार लाना। हिक्का [हिचकी लाना] भी इसी का कार्य है।

[2] श्रीकृष्ण की मृत्यु की यह घटना महाभारत के ऐतिहासिक ग्रन्थ होने का प्रबल प्रमाण है। यदि महाभारत काल्पनिक गाथा होती तो उसका लेखक अपने नायक को ऐसी बे-मौत न मरवाता; वह उसके लिए कोई आदर्श कल्पना करता। घटनाओं का याथातथ्य वर्णन होने से महाभारत इतिहास-ग्रन्थ ही सिद्ध होता है।

श्रुत्वा विनष्टान्वार्ष्णेयान्सभोजान्धककौकुरान् ।
पाण्डवाः शोकसन्तप्ता वित्रस्तमनसोऽभवन् ॥२॥

वृष्णि, भोज, अन्धक और कुकुरवंश के वीरों के विनाश का वृत्तान्त सुनकर समस्त पाण्डव शोक से सन्तप्त हो उठे। वे मन-ही-मन सन्त्रस्त हो गये।

ततोऽर्जुनस्तानामन्त्र्य केशवस्य प्रियः सखा ।
प्रययौ मातुलं द्रष्टुं नेदमस्तीति चाब्रवीत् ॥३॥

तदनन्तर श्रीकृष्ण के प्रिय सखा अर्जुन अपने भाइयों से आज्ञा लेकर अपने मामा वसुदेवजी से मिलने के लिए चल दिये और बोले—ऐसा नहीं हो सकता अर्थात् समस्त यदुवंशियों का एकसाथ विनाश असम्भव है।

स वृष्णिनिलयं गत्वा दारुकेण सह प्रभो ।
ददर्श द्वारकां वीरो मृतनाथामिव स्त्रियम् ॥४॥

प्रभो! दारुक के साथ वृष्णियों के निवासस्थान पर पहुँचकर वीर अर्जुन ने देखा कि द्वारकापुरी विधवा स्त्री की भाँति श्रीहीन हो गई है।

याः स्म ता लोकनाथेन नाथवत्यः पुराभवन् ।
तास्त्वनाथास्तदा नाथं पार्थं दृष्ट्वा विचुक्रुशुः ॥५॥

जो पहले लोकनाथ श्रीकृष्ण के द्वारा सुरक्षित होने के कारण सबसे अधिक सनाथा थीं, वे अनाथा स्त्रियाँ इस समय कृष्ण-सखा अर्जुन को रक्षक के रूप में आया देख उच्चस्वर से करुणक्रन्दन करने लगीं।

तास्तु दृष्ट्वैव कौरव्यो बाष्पेणापिहितेक्षणः ।
हीनाः कृष्णेन पुत्रैश्च नाशकत्सोऽभिवीक्षितुम् ॥६॥

उन सबपर दृष्टि पड़ते ही अर्जुन की आँखों में भी आँसू भर आये। पुत्रों और श्रीकृष्ण से हीन हुई उन अनाथ-अबला यादव स्त्रियों की ओर उनसे देखा भी नहीं गया।

तां दृष्ट्वा द्वारकां पार्थस्ताश्च यादवयोषितः ।
सस्वनं बाष्पमुत्सृज्य निपपात महीतले ॥७॥

श्रीहीन और आनन्दशून्य उस द्वारका को और उन यादव-स्त्रियों को देखकर अर्जुन आँसू बहाते हुए फूट-फूटकर रोने लगे और मूर्च्छित होकर पृथिवी पर गिर पड़े।

ततस्तं काञ्चने पीठे समुत्थाप्योपवेश्य च ।
अब्रुवन्त्यो महात्मानं परिवार्योपतस्थिरे ॥८॥

तब उन सबने अर्जुन को उठाकर सोने की चौकी पर बैठाया और उन महात्मा को घेरकर विना कुछ बोले उनके पास बैठ गईं।

ततः संस्तूय गोविन्दं कथयित्वा च पाण्डवः ।
आश्वास्य ताः स्त्रियश्चापि मातुलं द्रष्टुमभ्यगात् ॥९॥

उस समय अर्जुन ने श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए उनकी यशोगाथा का गान किया और उन स्त्रियों को आश्वासन देकर वे अपने मामा से मिलने के लिए गये।

तं शयानं महात्मानं वीरमानकदुन्दुभिम् ।
पुत्रशोकेन सन्तप्तं ददर्श कुरुपुङ्गवः ॥१०॥

कुरुश्रेष्ठ अर्जुन ने अपने मामा आनकदुन्दुभि—वसुदेव के महल में जाकर देखा कि वे वीर महात्मा पुत्रशोक से व्याकुल हो भूमि पर पड़े हुए हैं।

तस्याश्रुपरिपूर्णाक्षो व्यूढोरस्को महाभुजः ।
आर्तस्यार्ततरः पार्थः पादौ जग्राह भारत ॥११॥

भरतभूषण! चौड़ी छाती और विशाल भुजाओंवाले कुन्तीकुमार अर्जुन अपने शोक-सन्तप्त मामा की वह अवस्था देखकर अत्यन्त व्याकुल हो उठे। उनके नेत्रों में आँसू भर आये। फिर उन्होंने आर्तभाव से उनके दोनों चरण पकड़ लिये।

समालिङ्ग्यार्जुनं वृद्धः स भुजाभ्यां महाभुजः ।
रुदन्पुत्रान् स्मरन् सर्वान्विललाप सुविह्वलः ॥१२॥

महाबाहु वृद्ध वसुदेवजी ने अपनी दोनों भुजाओं से अर्जुन को खींचकर अपनी छाती से लगा लिया। फिर वे अपने समस्त पुत्रों का स्मरण कर रोने और अत्यन्त व्याकुल होकर विलाप करने लगे।

वसुदेव उवाच

यैर्जिता भूमिपालाश्च दैत्याश्च शतशोऽर्जुन ।
तान् दृष्ट्वा नेह पश्यामि जीवामि पार्थ दुर्मरः ॥१३॥

वसुदेव बोले—अर्जुन! जिन वीरों ने सैकड़ों दैत्यों और राजाओं पर विजय प्राप्त की थी, उन्हें आज मैं यहाँ नहीं देख पा रहा हूँ, तो भी मेरे प्राण नहीं निकलते। पार्थ! मैं समझता हूँ, मेरे लिए मृत्यु दुर्लभ है।

यौ तावर्जुनशिष्यौ ते प्रियौ बहुमतौ सदा ।
तयोरपनयात् पार्थ वृष्णयो निधनं गताः ॥१४॥

अर्जुन ! जो तुम्हारे प्रिय शिष्य थे और जिनका तुम बहुत सम्मान किया करते थे, उन्हीं दोनों [सात्यकि और प्रद्युम्न] के अन्याय से समस्त वृष्णिवंशी मारे गये हैं ।

ततः पुत्रांश्च पौत्रांश्च भ्रातॄनथ सखींस्तथा ।
शयानान् निहतान् दृष्ट्वा ततो मामब्रवीदिदम् ।।१५।।

जब मौसलयुद्ध में पुत्र, पौत्र, भाई और मित्र सभी एक-दूसरे के हाथ से मरकर धराशायी हो गये, तब उन्हें उस अवस्था में देखकर श्रीकृष्ण मेरे पास आये थे और मुझसे यह कहा था—

आगमिष्यति बीभत्सुरिमां द्वारवतीं पुरीम् ।
आख्येयं तस्य यद् वृत्तं वृष्णीनां वैशसं महत् ।।१६।।

"पिताजी ! अर्जुन द्वारकापुरी में आनेवाले हैं। आने पर उनसे वृष्णिवंशियों के इस महान् विनाश का समाचार सुनाइएगा ।

योऽहं तमर्जुनं विद्धि योऽर्जुनः सोऽहमेव तु ।
यद् ब्रूयात्तत्तथा कार्यमिति बुद्ध्यस्व माधव ।।१७।।

"जो मैं हूँ, उसे अर्जुन समझिए और जो अर्जुन है, वह मैं ही हूँ । माधव ! अर्जुन जो कुछ भी कहें, वैसा ही आप लोगों को करना चाहिए। इस बात को आप अच्छी प्रकार समझ लें ।

स स्त्रीषु प्राप्तकालासु पाण्डवो बालकेषु च ।
प्रतिपत्स्यति बीभत्सुर्भवतश्चौर्ध्वदेहिकम् ।।१८।।

"जिन स्त्रियों का प्रसवकाल समीप हो, उनपर और छोटे बालकों पर अर्जुन विशेषरूप से ध्यान देंगे और वे ही आपका और्ध्वदेहिक=अन्त्येष्टि-संस्कार भी करेंगे ।

अहं देशे तु कस्मिंश्चित्पुण्ये नियममास्थितः ।
कालं कांक्षे सद्य एव रामेण सह धीमता ।।१९।।

"मैं किसी पवित्र स्थान में रहकर शौच-सन्तोष आदि नियमों का पालन करते हुए बुद्धिमान् बलरामजी के साथ शीघ्र ही काल की प्रतीक्षा करूँगा ।"

एवमुक्त्वा हृषीकेशो मामचिन्त्यपराक्रमः ।
हित्वा मां बालकैः सार्धं दिशं कामप्यगात्प्रभुः ।।२०।।

मुझसे ऐसा कहकर अचिन्त्य पराक्रमी और प्रभावशाली श्रीकृष्ण बालकों के साथ मुझे यहीं छोड़कर किसी अज्ञात दिशा को चले गये हैं ।

सोऽहं तौ च महात्मानौ चिन्तयन्भ्रातरौ तव ।
घोरं ज्ञातिवधं चैव न भुञ्जे शोककर्शितः ।
न भोक्ष्ये न च जीविष्ये दिष्टचा प्राप्तोऽसि पाण्डव ।

तबसे मैं तुम्हारे दोनों भाई महात्मा बलराम और श्रीकृष्ण का तथा कुटुम्बीजनों के इस महाविनाश का चिन्तन करके शोक में घुला जा रहा हूँ। मुझसे भोजन नहीं किया जाता। अब मैं न तो भोजन करूँगा और न इस जीवन को ही रखूँगा। पाण्डुनन्दन ! यह सौभाग्य की बात है कि तुम यहाँ आ गये ।

यदुक्तं पार्थ कृष्णेन तत्सर्वमखिलं कुरु ।
एतत्ते पार्थ राज्यं च स्त्रियो रत्नानि चैव हि ।
इष्टान् प्राणानहं हीमाँस्त्यक्ष्यामि रिपुसूदन ।।२२।।

पार्थ ! श्रीकृष्ण ने जो कुछ कहा है, तुम वैसा ही करो। यह राज्य, ये स्त्रियाँ और ये रत्न—सब तुम्हारे अधीन हैं। शत्रुमर्दन ! अब मैं निश्चिन्त होकर अपने इन प्यारे प्राणों का परित्याग करूँगा।

इति महाभारते मौसलपर्वणि तृतीयोऽध्यायः ।।३।।

चतुर्थोऽध्यायः

वसुदेवजी और मौसल युद्ध में मरे हुए यादवों का अन्त्येष्टि-संस्कार करके अर्जुन का द्वारकावासी स्त्री-पुरुषों को अपने साथ ले जाना, मार्ग में अर्जुन पर डाकुओं का आक्रमण, अर्जुन की पराजय, शेष यादवों को अपनी राजधानी में बसा देना

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स बीभत्सुर्मातुलेन परन्तप ।
दुर्मना दीनवदनो वसुदेवमुवाच ह ।।१।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—परन्तप ! अपने मामा वसुदेवजी के ऐसा कहने पर अर्जुन मन-ही-मन बहुत दुःखी हुए। उनका मुख मलिन हो गया। फिर वे वसुदेवजी से इस प्रकार बोले—

नाहं वृष्णिप्रवीरेण बन्धुभिश्चैव मातुल ।
विहीनां पृथिवीं द्रष्टुं शक्ष्यामीह कथञ्चन ।।२।।

"मामाजी ! वृष्णिवंश के शिरोमणि वीर

श्रीकृष्ण और अपने भाइयों से रहित हुई यह पृथिवी अब मुझसे किसी भी प्रकार देखी नहीं जा सकेगी ।

राजा च भीमसेनश्च सहदेवश्च पाण्डवः ।
नकुलो याज्ञसेनी च षडेकमनसो वयम् ॥३॥

"महाराज युधिष्ठिर, भीमसेन, पाण्डव सहदेव, नकुल, द्रौपदी और मैं—ये छह व्यक्ति एक ही हृदय रखते हैं [उनमें से कोई भी अब यहाँ जीवित रहना नहीं चाहेगा] ।

राज्ञः संक्रमणे चापि कालोऽयं वर्तते ध्रुवम् ।
तमिमं विद्धि सम्प्राप्तं कालं कालविदां वर ॥४॥

"महाराज युधिष्ठिर के परलोक-गमन का समय भी निश्चय ही आ पहुँचा है । कालज्ञों में श्रेष्ठ मामाजी ! यह वही काल आ गया है—आप ऐसा ही समझें ।

सर्वथा वृष्णिदारास्तु बालं वृद्धं तथैव च ।
नयिष्ये परिगृह्याहमिन्द्रप्रस्थमरिन्दम ॥५॥

"शत्रुदमन ! अब मैं वृष्णिवंश की स्त्रियों, बालकों और वृद्धों को अपने साथ ले-जाकर इन्द्रप्रस्थ पहुँचा दूँगा ।"

इत्युक्त्वा दारुकमिदं वाक्यमाह धनञ्जयः ।
अमात्यान्वृष्णिवीराणां द्रष्टुमिच्छामि मा चिरम् ॥६

मामा से ऐसा कहकर अर्जुन ने दारुक से कहा—"अब मैं वृष्णिवंशी वीरों के मन्त्रियों से शीघ्र मिलना चाहता हूँ ।"

इत्येवमुक्त्वा वचनं सुधर्मां यादवीं सभाम् ।
प्रविवेशार्जुनः शूरः शोचमानो महारथान् ॥७॥

दारुक से ऐसा कहकर शूरवीर अर्जुन यादव-महारथियों के लिए शोक करते हुए यादवों की सुधर्मा नामक सभा में प्रविष्ट हुए ।

तमासनगतं तत्र सर्वाः प्रकृतयस्तथा ।
ब्राह्मणा नैगमास्तत्र परिवार्योपतस्थिरे ॥८॥

सभा में पहुँचकर अर्जुन एक सिंहासन पर बैठ गये । उस समय मन्त्री आदि समस्त प्रकृतिवर्ग के पुरुष तथा वेदवेत्ता ब्राह्मण उनके पास आये और उन्हें चारों ओर से घेरकर उनके समीप ही बैठ गये ।

तान् दीनमनसः सर्वान् विमूढान् गतचेतसः ।
उवाचेदं वचः काले पार्थो दीनतरस्तथा ॥९॥

उन सबके मन में दीनता छाई हुई थी । वे सभी किंकर्तव्यविमूढ़ और अचेत-से हो रहे थे । उनसे भी अधिक दीनभाव से युक्त अर्जुन उन सभासदों से उस समय यह समयोचित वचन बोले—

शक्रप्रस्थमहं नेष्ये वृष्ण्यन्धकजनं स्वयम् ।
सज्जीकुरुत यानानि रत्नानि विविधानि च ॥१०॥

"मन्त्रियो ! मैं वृष्णि और अन्धकवंश के लोगों को अपने साथ इन्द्रप्रस्थ ले जाऊँगा, अतः तुम लोग नाना प्रकार के वाहन और रत्न लेकर तैयार हो जाओ ।

सप्तमे दिवसे चैव रवौ विमल उद्गते ।
बहिर्वत्स्यामहे सर्वे सज्जीभवत मा चिरम् ॥११॥

"आज से सातवें दिन निर्मल सूर्योदय होते ही हम सब लोग नगर से बाहर हो जाएँगे, अतः सब लोग शीघ्र तैयार हो जाओ, विलम्ब मत करो ।"

इत्युक्तास्तेन ते सर्वे पार्थेनाक्लिष्टकर्मणा ।
सज्जमाशु ततश्चक्रुः स्वसिद्ध्यर्थं समुत्सुकाः ॥१२॥

अनायास ही महान् कर्म करनेवाले अर्जुन के इस प्रकार आज्ञा देने पर सभी मन्त्रियों ने अपनी अभीष्ट-सिद्धि और प्राणरक्षा के लिए अत्यन्त उत्सुक होकर शीघ्र ही तैयारी आरम्भ कर दी ।

तां रात्रिमवसत् पार्थः केशवस्य निवेशने ।
महता शोकमोहेन सहसाभिपरिप्लुतः ॥१३॥

अर्जुन ने भी सहसा महान् शोक और मोह से अभिभूत होकर उस रात्रि में श्रीकृष्ण के महल में निवास किया ।

श्वोभूतेऽथ ततः शौरिर्वसुदेवः प्रतापवान् ।
युक्त्वाऽऽत्मानं महातेजा जगाम गतिमुत्तमाम् ॥१४॥

प्रभात होते ही महातेजस्वी शूरनन्दन प्रतापी वसुदेवजी ने अपने चित्त को परमात्मा में लगाकर योगसमाधि द्वारा उत्तम गति को प्राप्त किया ।

ततः शब्दो महानासीद् वसुदेवनिवेशने ।
दारुणः क्रोशतीनां च रुदतीनां च योषिताम् ॥१५॥

फिर तो वसुदेवजी के प्रासाद में बड़ा भारी कुहराम मच गया । वहाँ रोती-चिल्लाती हुई स्त्रियों का आर्तनाद बड़ा हृदय-द्रावक था ।

प्रकीर्णमूर्धजाः सर्वा विमुक्ताभरणस्रजः ।
उरांसि पाणिभिर्घ्नन्त्यो व्यलपन्करुणं स्त्रियः ॥१६॥

उन सबके बाल खुले हुए थे। उन्होंने आभूषण और मालाएँ तोड़कर फेंक दी थीं और वे सभी स्त्रियाँ अपने हाथों से छाती पीटती हुई करुणाजनक विलाप कर रही थीं।

ततः शौरिं नृयुक्तेन बहुमूल्येन भारत ।
यानेन महता पार्थो बहिर्निष्क्रामयत्तदा ॥१७॥

भरतभूषण ! वसुदेवजी के कालधर्म को प्राप्त होने पर अर्जुन मनुष्यों द्वारा उठाये जानेवाले एक बहुमूल्य और बहुत बड़े विमान पर उनके शव को रखवाकर उसे नगर से बाहर ले गये।

तमन्वयुस्तत्र तत्र दुःखशोकसमन्विताः ।
द्वारकावासिनः सर्वे पौरजानपदा हिताः ॥१८॥

उस समय समस्त द्वारकावासी और आनर्त जनपद के लोग जो यादवों के हितैषी थे, वहाँ दुःख-शोक में मग्न होकर वसुदेवजी के शव के पीछे-पीछे गये।

यस्तु देशः प्रियस्तस्य जीवतोऽभून्महात्मनः ।
तत्रैनमुपसंकल्प्य पितृमेधं प्रचक्रिरे ॥१९॥

महात्मा वसुदेवजी को अपने जीवनकाल में जो स्थानविशेष प्रिय था, उसी स्थान पर ले-जाकर अर्जुन आदि ने उनका पितृमेधकर्म [अन्त्येष्टि-संस्कार] किया।

ततः प्रादुरभूच्छब्दः समिद्धस्य विभावसोः ।
सामगानां च निर्घोषो नराणां रुदतामपि ॥२०॥

उस समय प्रज्वलित चिता-अग्नि का चट-चट शब्द, सामगान करनेवाले ब्राह्मणों के वेदोच्चारण का गम्भीर घोष तथा रोते-बिलखते हुए मनुष्यों का आर्तनाद एकसाथ ही प्रकट हुआ।

अलुप्तधर्मस्तं धर्मं कारयित्वा स फाल्गुनः ।
जगाम वृष्णयो यत्र विनष्टा भरतर्षभ ॥२१॥

भरतभूषण ! अर्जुन ने कभी धर्म का लोप नहीं किया था। वह धर्मकृत्य [अन्त्येष्टि-संस्कार] कराकर अर्जुन उस स्थान पर गये जहाँ वृष्णियों का महान् संहार हुआ था।

स तान्निपतितान् दृष्ट्वा कदने भृशदुःखितः ।
बभूवातीव कौरव्यः प्राप्तकालं चकार ह ।
यथा प्रधानतश्चैव चक्रे सर्वास्तथा क्रियाः ॥२२॥

उस भीषण मार-काट में मरकर धराशायी हुए यादवों को देखकर कुरुकुलनन्दन अर्जुन को बड़ा भारी दुःख हुआ। फिर उन्होंने युद्ध में मारे गये यदुवंशी वीरों के बड़े-छोटे के क्रम से सारे समयोचित कार्य [अन्त्येष्टि-संस्कार] सम्पन्न किये।

ततः शरीरे रामस्य वासुदेवस्य चोभयोः ।
अन्विष्य दाहयामास पुरुषैराप्तकारिभिः ॥२३॥

उन सबके अन्त्येष्टि-संस्कार करके अर्जुन ने विश्वस्त पुरुषों द्वारा बलराम और वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण—इन दोनों के शरीरों की खोज कराके उनका भी दाह-संस्कार किया।

स तेषां विधिवत्कृत्वा प्रेतकार्याणि पाण्डवः ।
सप्तमे दिवसे प्रायाद् रथमारुह्य सत्वरः ॥२४॥

पाण्डुनन्दन अर्जुन उन सबके दाहकर्म विधिपूर्वक सम्पन्न करके सातवें दिन रथ पर आरूढ़ हो शीघ्रतापूर्वक द्वारका से चल दिये।

अश्वयुक्तै रथैश्चापि गोखरोष्ट्रयुतैरपि ।
स्त्रियस्ता वृष्णिवीराणां रुदत्यः शोककर्शिताः ।
अनुजग्मुर्महात्मानं पाण्डुपुत्रं धनञ्जयम् ॥२५॥

उनके साथ घोड़े, बैल, गधे और ऊँटों से जुते हुए रथों पर बैठकर शोक से दुर्बल हुई वृष्णिवंशी वीरों की पत्नियाँ रोती हुई चलीं। उन सबने पाण्डुपुत्र महात्मा अर्जुन का अनुगमन किया।

भृत्यास्त्वन्धकवृष्णीनां सादिनो रथिनश्च ये ।
वीरहीनं वृद्धबालं पौरजानपदास्तथा ।
ययुस्ते परिवार्याथ कलत्रं पार्थशासनात् ॥२६॥

अर्जुन की आज्ञा पाकर अन्धकों और वृष्णियों के सेवक [नौकर], घुड़सवार, रथी और नगर तथा प्रान्त के लोग वृद्ध और बालकों से युक्त विधवा स्त्रियों को चारों ओर से घेरकर चलने लगे।

काननेषु च रम्येषु पर्वतेषु नदीषु च ।
निवसन्नानयामास वृष्णिदारान् धनञ्जयः ॥२७॥

अर्जुन रमणीय काननों, पर्वतों और नदियों के तट पर निवास करते हुए वृष्णिवंश की स्त्रियों को ले-जा रहे थे।

स पञ्चनदमासाद्य धीमानतिसमृद्धिमत् ।
देशे गोपशुधान्याढ्ये निवासमकरोत्प्रभुः ।।२८।।

चलते-चलते बुद्धिमान् तथा सामर्थ्यशाली अर्जुन ने अत्यन्त समृद्धिशाली पञ्चनद देश में पहुँचकर, जो गौ, पशु तथा धन-धान्य से सम्पन्न था, पड़ाव डाला ।

ततो लोभः समभवद् दस्यूनां निहतेश्वराः ।
दृष्ट्वा स्त्रियो नीयमानाः पार्थेनैकेन भारत ।।२९।।

भरतकुलभूषण ! धनञ्जय को अकेले इतनी हतनाथा [जिनके पति मारे गये थे] स्त्रियों को ले-जाते हुए देखकर वहाँ रहनेवाले लुटेरों के मन में लोभ उत्पन्न हो गया ।

ततस्ते पापकर्माणो लोभोपहतचेतसः ।
आभीरा मन्त्रयामासुः समेत्याशुभदर्शनाः ।।३०।।

लोभ के कारण उनके चित्त की विवेकशक्ति नष्ट हो गई । उन अशुभदर्शी, पापकर्मकारी आभीरों ने परस्पर मिलकर परामर्श किया [सलाह की] ।

अयमेकोऽर्जुनो धन्वी वृद्धबालं हतेश्वरम् ।
नयत्यस्मानतिक्रम्य योधाश्चेमे हतौजसः ।।३१।।

"भाइयो ! देखो, यह अकेला धनुर्धर अर्जुन और ये हतोत्साह सैनिक हम लोगों का अतिक्रमण करके वृद्धों और बालकोंसहित इन हतनाथा स्त्रियों को लिये जा रहे हैं [अतः, इनपर आक्रमण करना चाहिए] ।"

ततो यष्टिप्रहरणा दस्यवस्ते सहस्रशः ।
अभ्यधावन्त वृष्णीनां तं जनं लोप्त्रहारिणः ।।३२।।

ऐसा निश्चय करके लूट का माल हड़प करनेवाले वे लट्ठधारी लुटेरे वृष्णिवंशियों के उस समुदाय पर सहस्रों की संख्या में टूट पड़े ।

ततो निवृत्तः कौन्तेयः सहसा सपदानुगः ।
उवाच तान् महाबाहुरर्जुनः प्रहसन्निव ।।३३।।

आक्रमणकारियों को पीछे की ओर से धावा करते देख कुन्तीकुमार महाबाहु अर्जुन सेवकोंसहित सहसा लौट पड़े और उन लुटेरों से हँसते हुए-से बोले—

निवर्तध्वमधर्मज्ञा यदि जीवितुमिच्छथ ।
इदानीं शरनिर्भिन्नाः शोचध्वं निहता मया ।।३४।।

"अरे अधर्मी जनो ! यदि जीवित रहना चाहते हो तो लौट जाओ, अन्यथा मेरे द्वारा मारे जाकर या मेरे बाणों से विदीर्ण होकर इस समय तुम अत्यन्त शोक में डूब जाओगे ।"

तथोक्तास्तेन वीरेण कदर्थीकृत्य तद्वचः ।
अभिपेतुर्जनं मूढा वार्यमाणाः पुनः पुनः ।।३५।।

वीरवर अर्जुन के ऐसा कहने पर भी उनके वचनों की अवहेलना और उपहास करते हुए वे मूढ़ भील उनके बारम्बार मना करने पर भी उस जनसमुदाय पर टूट पड़े ।

ततोऽर्जुनो धनुर्दिव्यं गाण्डीवमजरं महत् ।
आरोपयितुमारेभे यत्नादिव कथञ्चन ।।३६।।

तब अर्जुन ने अपने दिव्य और कभी जीर्ण न होनेवाले विशाल गाण्डीव धनुष को चढ़ाना आरम्भ किया और अत्यन्त प्रयत्न तथा कष्ट से किसी प्रकार उसे चढ़ा दिया ।

चकार सज्जं कृच्छ्रेण सम्भ्रमे तुमुले सति ।
चिन्तयामास शस्त्राणि न च सस्मार तान्यपि ।।३७।।

भयंकर मारकाट छिड़ने पर बड़ी कठिनाई से उन्होंने धनुष पर प्रत्यञ्चा तो चढ़ा दी, परन्तु जब वे अपने अस्त्र-शस्त्रों का चिन्तन करने लगे, तब उन्हें उनका स्मरण ही नहीं हुआ ।

वैकृतं तन्महद् दृष्ट्वा भुजवीर्ये तथा युधि ।
दिव्यानां च महास्त्राणां विनाशाद्व्रीडितोऽभवत् ।।३८

युद्ध के अवसर पर अपने बाहुबल में यह महान् विकार आया देख तथा महान् दिव्यास्त्रों का विस्मरण हुआ जान वे लज्जित हो गये ।

वृष्णियोधाश्च ते सर्वे गजाश्वरथयोधिनः ।
न शेकुरावर्तयितुं ह्रियमाणं च तं जनम् ।।३९।।

हाथी, घोड़े और रथ पर बैठकर युद्ध करनेवाले समस्त वृष्णिसैनिक भी उन डाकुओं द्वारा खदेड़कर ले-जाते हुए अपने मनुष्यों को लौटा न सके ।

कलत्रस्य बहुत्वाद्धि सम्पतत्सु ततस्ततः ।
प्रयत्नमकरोत् पार्थो जनस्य परिरक्षणे ।।४०।।

उस समुदाय में स्त्रियों की संख्या बहुत थी, अतः डाकू चारों ओर से उनपर आक्रमण करने लगे । धनञ्जय ने भी उनकी रक्षा के लिए बहुत प्रयत्न किया [परन्तु सब निष्फल ही रहा] ।

मिषतां सर्वयोधानां ततस्ताः प्रमदोत्तमाः ।
समन्ततोऽवकृष्यन्त कामाच्चान्याः प्रवव्रजुः ॥४१॥

समस्त योद्धाओं के देखते-देखते वे डाकू उन सुन्दरी स्त्रियों को चारों ओर से खींच-खींचकर ले-जाने लगे। अन्य बहुत-सी स्त्रियाँ स्वेच्छा से उनकी अनुगामिनी बन गईं [चुपचाप उनके साथ चली गईं]।

ततो गाण्डीवनिर्मुक्तैः शरैः पार्थो धनञ्जयः ।
जघान दस्यून् सोद्वेगो वृष्णिभृत्यैः सहस्रशः ॥४२॥

उन स्त्रियों का हरण होते देख कुन्तीकुमार अर्जुन उद्विग्न होकर सहस्रों वृष्णि सैनिकों को साथ ले गाण्डीव धनुष से छूटे हुए बाणों द्वारा उन लुटेरों को मारने लगे।

क्षणेन तस्य ते राजन् क्षयं जग्मुरजिह्मगाः ।
अक्षया हि पुरा भूत्वा क्षीणाः क्षतजभोजनाः ॥४३॥

हे राजेन्द्र! अर्जुन के सीधे जानेवाले बाण क्षणभर में ही समाप्त हो गये। जो रक्त पीनेवाले बाण पहले अक्षय थे, वे ही उस समय सर्वथा क्षय को प्राप्त हो गये।

स शरक्षयमासाद्य दुःखशोकसमाहितः ।
धनुष्कोट्या तदा दस्यूनवधीत्पाकशासनिः ॥४४॥

बाणों के समाप्त हो जाने पर दुःख और शोक से अभिभूत हुए इन्दुकुमार अर्जुन ने धनुष की नोक से ही उन डाकुओं को मारना आरम्भ किया।

प्रेक्षतस्त्वेव पार्थस्य वृष्ण्यन्धकवरस्त्रियः ।
जग्मुरादाय ते म्लेच्छाः समन्ताज्जनमेजय ॥४५॥

परन्तु जनमेजय! अर्जुन देखते ही रह गये और वे म्लेच्छ लुटेरे सब ओर से वृष्णि तथा अन्धकवंश की रूपवती नारियों को लूट ले गये।[1]

धनञ्जयस्तु दैवं तन्मनसाऽचिन्तयत्प्रभुः ।
दुःखशोकसमाविष्टो निःश्वासपरमोऽभवत् ॥४६॥

प्रभावशाली अर्जुन ने मन-ही-मन इसे दैव [भाग्य] का विधान समझा और दुःख तथा शोक-सागर में निमग्न हो वे लम्बी-लम्बी साँसें छोड़ने लगे।

अस्त्राणां च प्रणाशेन बाहुवीर्यस्य संक्षयात् ।
धनुषश्चाविधेयत्वाच्छराणां संक्षयेण च ॥४७॥
बभूव विमनाः पार्थो दैवमित्यनुचिन्तयन् ।
न्यवर्तत ततो राजन् नेदमस्तीति चाब्रवीत् ॥४८॥

अस्त्रशस्त्रों का ज्ञान लुप्त हो गया, बाहुबल मन्द पड़ गया, धनुष काबू से बाहर हो गया और अक्षय बाणों का भी क्षय हो गया—इन सब बातों से अर्जुन का मन खिन्न हो गया। वे इन सब घटनाओं को दैव का विधान मानने लगे। राजन्! तब अर्जुन युद्ध से निवृत्त हो गये और बोले—"यह अस्त्रज्ञान आदि कुछ भी नित्य नहीं है।"

ततः शेषं समादाय कलत्रस्य महामतिः ।
हृतभूयिष्ठरत्नस्य कुरुक्षेत्रमवातरत् ॥४९॥

तदनन्तर अपहरण से बची हुई स्त्रियों और जिनका अधिक भाग लूट लिया था, ऐसे बचे-खुचे रत्नों को साथ लेकर परम बुद्धिमान् अर्जुन कुरुक्षेत्र में उतरे।

एवं कलत्रमानीय वृष्णीनां हृतशेषितम् ।
न्यवेशयत कौरव्यस्तत्र तत्र धनञ्जयः ॥५०॥

इस प्रकार अपहरण से बची हुई वृष्णिवंश की स्त्रियों को लाकर कुरुनन्दन अर्जुन ने उन्हें जहाँ-तहाँ बसा दिया।

हार्दिक्यतनयं पार्थो नगरे मार्तिकावते ।
भोजराजकलत्रं च हृतशेषं नरोत्तमः ॥५१॥

कृतवर्मा के पुत्र और भोजराज के परिवार की अपहरण से बची हुई स्त्रियों को नरश्रेष्ठ अर्जुन ने मार्तिकावत नगर में बसा दिया।

ततो वृद्धांश्च बालांश्च स्त्रियश्चादाय पाण्डवः ।
वीरैर्विहीनान् सर्वांस्ताञ्शक्रप्रस्थे न्यवेशयत् ॥५२॥

तत्पश्चात् वीरों से रहित समस्त बालकों, वृद्धों और अन्य स्त्रियों को साथ लेकर ये पाण्डुकुमार

---

[1] आभीरों द्वारा अर्जुन की यह पराजय महाभारत को इतिहास सिद्ध कर रही है। महाभारत-युद्ध का महान् विजेता, बड़े-बड़े शूरवीरों का संहारक साधारण लट्ठधारी अहीरों से परास्त हो गया। यदि महाभारत काल्पनिक ग्रन्थ होता तो उसका लेखक अपने नायक को ऐसा अपमानित कभी न कराता।

अर्जुन इन्द्रप्रस्थ में आये और उन सबको वहाँ का वासी बना दिया।

यौयुधानिं सरस्वत्यां पुत्रं सात्यकिनः प्रियम्।
न्यवेशयत धर्मात्मा वृद्धबालपुरस्कृतम् ॥५३॥

धर्मात्मा अर्जुन ने सात्यकि के प्रिय पुत्र यौयुधानि को वृद्धों तथा बालकों के साथ सरस्वती के तटवर्ती देश का अधिकारी तथा निवासी बना दिया।

इन्द्रप्रस्थे ददौ राज्यं वज्राय परवीरहा।
वज्रेणाक्रूरदारास्तु वार्यमाणाः प्रवव्रजुः ॥५४॥

शत्रुवीरों का संहार करनेवाले अर्जुन ने वज्र को इन्द्रप्रस्थ का राज्य सौंप दिया। अक्रूरजी की स्त्रियाँ वज्र के बारम्बार मना करने पर भी वन में तपस्या करने के लिए चली गईं।

स तत्कृत्वा प्राप्तकालं बाष्पेणापिहितोऽर्जुनः।
कृष्णद्वैपायनं व्यासं ददर्शासीनमाश्रमे ॥५५॥

इस प्रकार समयोचित व्यवस्था करके अर्जुन नेत्रों से आँसू बहाते हुए महर्षि व्यास के आश्रम पर गये और वहाँ विराजमान महर्षि का उन्होंने दर्शन किया।

इति महाभारते मौसलपर्वणि चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

पञ्चमोऽध्यायः

अर्जुन और व्यासजी का वार्तालाप

वैशम्पायन उवाच

स तमासाद्य धर्मज्ञमुपतस्थे महाव्रतम्।
अर्जुनोऽस्मीति नामास्मै निवेद्याभ्यवदत् ततः ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महान् व्रतधारी और धर्मों के ज्ञाता व्यासजी के पास पहुँचकर 'मैं अर्जुन हूँ'—ऐसा कहते हुए धनञ्जय ने उनके चरणों में प्रणाम किया। तत्पश्चात् वे उनके समीप ही खड़े हो गये।

स्वागतं तेऽस्त्विति प्राह मुनिः सत्यवतीसुतः।
आस्यतामिति होवाच प्रसन्नात्मा महामुनिः ॥२॥

उस समय प्रसन्नचित्त महामुनि सत्यवतीनन्दन व्यासजी ने अर्जुन से कहा—"पुत्र! तुम्हारा स्वागत है, आओ, इधर बैठो।"

तमप्रतीतमनसं निःश्वसन्तं पुनः पुनः।
निर्विण्णमनसं दृष्ट्वा पार्थं व्यासोऽब्रवीदिदम् ॥३॥

अर्जुन को अशान्तमन, खिन्न और उदासचित्त तथा बारम्बार लम्बी साँस छोड़ते हुए देखकर महामुनि व्यासजी ने पूछा—

नखकेशदशाकुम्भवारिणा किं समुक्षितः।
अवीरजानुगमनं ब्राह्मणो वा हतस्त्वया।
युद्धे पराजितो वासि गतश्रीरिव लक्ष्यसे ॥४॥

पार्थ! क्या तुमने नख, बाल अथवा अधोवस्त्र [धोती] की कोर पड़ जाने से अशुद्ध हुए घड़े के जल से स्नान कर लिया है? क्या तुमने रजस्वला स्त्री से समागम किया है? अथवा तुमने किसी ब्राह्मण का वध तो नहीं किया है? कहीं तुम युद्ध में परास्त तो नहीं हुए हो, क्योंकि तुम श्रीहीन से दिखाई देते हो?

न त्वां प्रभिन्नं जानामि किमिदं भरतर्षभ।
श्रोतव्यं चेन्मया पार्थ क्षिप्रमाख्यातुमर्हसि ॥५॥

भरतश्रेष्ठ! तुम कभी पराजित हुए हो—यह मैं नहीं जानता; फिर तुम्हारी ऐसी शोचनीय अवस्था क्यों है? पार्थ! यदि मेरे सुनने योग्य हो तो मुझे अपनी इस मलिनता [श्रीहीनता] का कारण शीघ्र बताओ।

अर्जुन उवाच

यः स मेघवपुः श्रीमान् बृहत्पङ्कजलोचनः।
स कृष्णः सह रामेण त्यक्त्वा देहं दिवं गतः ॥६॥

अर्जुन ने कहा—भगवन्! जिनकी देहश्री [देह का सौन्दर्य] मेघ के समान श्याम था और जिनके नेत्र विशाल कमलदल के समान थे, वे श्रीकृष्ण बलरामजी के साथ शरीर त्यागकर दिवंगत हो गये।

मौसले वृष्णिवीराणां विनाशो कालधर्मणा।
बभूव वीरान्तकरः प्रभासे लोमहर्षणः ॥७॥

कालधर्मा मृत्यु की प्रेरणा से मौसल युद्ध में वृष्णि-वंशी वीरों का विनाश हो गया। बड़े-बड़े वीरों का अन्तकर देनेवाला वह रोमाञ्चकारी संग्राम प्रभास-क्षेत्र में घटित हुआ था।

ये ते शूरा महात्मानः सिंहदर्पा महाबलाः ।
भोजवृष्ण्यन्धका ब्रह्मन्नन्योऽन्यं तैर्हतं युधि ॥८॥

ब्रह्मन् ! भोज, वृष्णि और अन्धकवंश के जो महामनस्वी, शूरवीर, सिंह के समान दर्पशाली और महान् वलवान् थे, वे सभी गृहयुद्ध में एक-दूसरे के द्वारा मार डाले गये।

पुनः पुनर्न मृष्यामि विनाशममितौजसाम् ।
चिन्तयानो यदूनां च कृष्णस्य च यशस्विनः ॥९॥
शोषणं सागरस्येव पर्वतस्येव चालनम् ।
नभसः पतनं चैव शैत्यमग्नेस्तथैव च ॥१०॥
अश्रद्धेयमहं मन्ये विनाशं शार्ङ्गधन्वनः ।
न चेह स्थातुमिच्छामि लोके कृष्णविनाकृतः ॥११॥

उन अमित तेजस्वी वीरों के विनाश का दुःख मुझसे किसी भी प्रकार सहन नहीं होता है। मैं बारम्बार उस दुःख से व्यथित हो जाता हूँ। यशस्वी श्रीकृष्ण और यदुवंशियों के परलोकगमन की बात सोचकर तो मुझे ऐसा जान पड़ता है, मानो समुद्र सूख गया, पर्वत हिलने लगे, आकाश फट पड़ा और अग्नि के स्वभाव में शीतलता आ गई। शार्ङ्ग धनुष-धारी श्रीकृष्ण भी मृत्यु के अधीन हो गये हैं, यह बात विश्वास के योग्य नहीं है। मैं इसे विश्वास योग्य नहीं मानता। फिर भी श्रीकृष्ण मुझे छोड़कर चले गये। मैं इस संसार में उनके बिना रहना नहीं चाहता।

इतः कष्टतरं चान्यच्छृणु तद् वै तपोधनः ।
मनो मे दीर्यते येन चिन्तयानस्य वै मुहुः ॥१२॥
पश्यतो वृष्णिदाराश्च मम ब्रह्मन् सहस्रशः ।
आभीरैरनुसृत्याजौ हृताः पञ्चनदालयैः ॥१३॥

तपोधन ! इसके सिवा जो दूसरी घटना घटित हुई है, वह इससे भी अधिक कष्टदायक है। आप उसे भी सुनिए ! जब मैं उस घटना का विचार करता हूँ, तब बारम्बार मेरा हृदय फटने लगता है। ब्रह्मन् ! पञ्जाब के अहीरों ने मुझसे युद्ध करके मेरे देखते-देखते वृष्णिवंश की सहस्रों स्त्रियों का अपहरण कर लिया।

धनुरादाय तत्राहं नाशकं तस्य पूरणे ।
यथा पुरा च मे वीर्यं भुजयोर्न तथाभवत् ॥१४॥

मैंने धनुष लेकर उनका सामना करना चाहा, परन्तु मैं उसपर प्रत्यञ्चा न चढ़ा सका, मेरी भुजाओं में जैसा बल पहले था, वैसा अब नहीं रहा।

अस्त्राणि मे प्रणष्टानि विविधानि महामुने ।
शराश्च क्षयमापन्नाः क्षणेनैव समन्ततः ॥१५॥

महामुने ! मेरा नाना प्रकार के अस्त्रों का ज्ञान लुप्त हो गया। मेरे सभी बाण चहुं ओर जाकर क्षण-भर में नष्ट हो गये।

यश्च याति पुरस्तान्मे रथस्य सुमहाद्युतिः ।
प्रदहन् रिपुसैन्यानि न पश्याम्यहमच्युतम् ॥१६॥

जो महातेजस्वी श्रीकृष्ण शत्रुओं की सेनाओं को भस्म करते हुए मेरे रथ के आगे-आगे चलते थे, वे ही अच्युत [अपनी मर्यादा से न हटनेवाले] श्रीकृष्ण अब मुझे दिखाई नहीं देते।

परिनिर्विण्णचेताश्च शान्तिं नोपलभेऽपि च ।
विना जनार्दनं वीरं नाहं जीवितुमुत्सहे ॥१७॥

मेरे चित्त में निर्वेद [वैराग्य] छा गया है और मुझे कहीं भी शान्ति नहीं मिल रही है। वीर जनार्दन के बिना अब मैं जीवित नहीं रहना चाहता।

प्रणष्टज्ञातिवीर्यस्य शून्यस्य परिधावतः ।
उपदेष्टुं मम श्रेयो भगवानर्हति सत्तम ॥१८॥

मेरे सगोत्र भाइयों का विनाश तो पहले ही हो गया था, अब मेरा पराक्रम भी नष्ट हो गया, अतः मैं शून्यहृदय होकर इधर-उधर भटक रहा हूँ। सन्तों में श्रेष्ठ महर्षे ! आप कृपा करके मुझे यह उपदेश दें कि मेरा कल्याण कैसे होगा ?

व्यास उवाच

विनष्टाः कुरुशार्दूल वृष्ण्यन्धकमहारथाः ।
भवितव्यं तथा तच्च न ताञ्शोचितुमर्हसि ॥१९॥

व्यासजी बोले—कुरुश्रेष्ठ ! वृष्णि और अन्धक-वंश के महारथी महावीर [परस्पर लड़कर] नष्ट हो गये। उन वीरों की भवितव्यता ही ऐसी थी, अतः तुम उनके लिए शोक मत करो।

कृतकृत्याँश्च वो मन्ये संसिद्धान् कुरुपुङ्गव ।
गमनं प्राप्तकालं व इदं श्रेयस्करं विभो ॥२०॥

कुरुश्रेष्ठ ! मैं समझता हूँ कि तुम लोग पृथिवी पर जिस कार्य के लिए आये थे, तुम लोगों ने उसे पूर्ण कर लिया है। तुम्हें सब प्रकार से सफलता प्राप्त हो चुकी है। प्रभो ! अब तुम्हारे परलोकगमन का समय आ पहुँचा है और तुम्हारे लिए यहाँ से प्रस्थान करना ही कल्याणकारी है।

बलं बुद्धिश्च तेजश्च प्रतिपत्तिश्च भारत ।□
भवन्ति भवकालेषु विपद्यन्ते विपर्यये ॥२१॥

भरतभूषण ! जब मनुष्य के उत्थान का समय आता है तब मनुष्य के बल, बुद्धि और ज्ञान का विकास होता है और जब विपरीत समय आता है, तब इन सबका विनाश हो जाता है।

कालमूलमिदं सर्वं जगद्बीजं धनञ्जय ।□
काल एव समादत्ते पुनरेव यदृच्छया ॥२२॥

धनञ्जय ! काल ही इन सबकी जड़ है। संसार की उत्पत्ति का बीज भी काल ही है और काल ही अकस्मात् सबका संहार कर देता है।

स एव बलवान् भूत्वा पुनर्भवति दुर्बलः ।
स एवेशश्च भूत्वेह परैराज्ञाप्यते पुनः ॥२३॥

काल के कारण मनुष्य बलवान् होकर फिर दुर्बल हो जाता है और काल के ही कारण वह एक समय दूसरों का शासक होकर कालान्तर में स्वयं दूसरों का आज्ञापालक बन जाता है।

वैशम्पायन उवाच

एतद् वचनमाज्ञाय व्यासस्यामिततेजसः ।
अनुज्ञातो ययौ पार्थो नगरं नागसाह्वयम् ॥२४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अमिततेजस्वी व्यासजी के इस वचन का तत्त्व समझकर अर्जुन उनकी आज्ञा ले हस्तिनापुर को चले गये।

प्रविश्य च पुरीं वीरः समासाद्य युधिष्ठिरम् ।
आचष्ट तद् यथावृत्तं वृष्ण्यन्धककुलं प्रति ॥२५॥

नगर में प्रविष्ट होकर अर्जुन युधिष्ठिरजी से मिले और वृष्णि तथा अन्धकवंशियों के महाविनाश का याथातथ्य समाचार उन्हें कह सुनाया।

इति महाभारते मौसलपर्वणि पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

॥ इति मौसलपर्व सम्पूर्णम् ॥

महाप्रस्थानिकपर्व

प्रथमोऽध्यायः

द्रौपदीसहित पाण्डवों का महाप्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वैवं कौरवो राजा वृष्णीनां कदनं महत् ।
प्रस्थाने मतिमाधाय वाक्यमर्जुनमब्रवीत् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज जनमेजय ! कुरुराज युधिष्ठिर ने जब इस प्रकार वृष्णिवंशियों के महान् संहार का वृत्तान्त सुना, तब उन्होंने महाप्रस्थान का निश्चय कर अर्जुन से कहा—

कालः पचति भूतानि सर्वाण्येव महामते ।
कालपाशमहं मन्ये त्वमपि द्रष्टुमर्हसि ॥२॥

"महामते ! काल ही समस्त भूतों को पचा रहा है—विनाश की ओर ले-जा रहा है । अब मैं भी काल के बन्धन को स्वीकार करता हूँ । तुम भी इसपर दृष्टिपात करो ।"

इत्युक्तः स तु कौन्तेयः कालः काल इति ब्रुवन् ।
अन्वपद्यत तद् वाक्यं भ्रातुर्ज्येष्ठस्य धीमतः ॥३॥

भाई के ऐसा कहने पर कुन्तीकुमार अर्जुन ने 'काल तो काल ही है, इसे टाला नहीं जा सकता'—ऐसा कहकर अपने बड़े भाई बुद्धिमान् युधिष्ठिर का अनुमोदन किया ।

अर्जुनस्य मतं ज्ञात्वा भीमसेनो यमौ तथा ।
अन्वपद्यन्त तद् वाक्यं यदुक्तं सव्यसाचिना ॥४॥

अर्जुन के कालविषयक विचार को जानकर भीमसेन तथा नकुल और सहदेव ने भी उनकी कही हुई बात का अनुमोदन किया ।

ततो युयुत्सुमानाय्य प्रव्रजन् धर्मकाम्यया ।
राज्यं परिददौ सर्वं वैश्यापुत्रे युधिष्ठिरः ॥५॥

तदनन्तर धर्म की इच्छा से राज्य को छोड़कर जानेवाले युधिष्ठिर ने वैश्यापुत्र युयुत्सु को बुलाकर उन्हीं को सम्पूर्ण राज्य की देख-भाल का भार सौंप दिया ।

अभिषिच्य स्वराज्ये च राजानं च परिक्षितम् ।
दुःखार्तश्चाब्रवीद् राजा सुभद्रां पाण्डवाग्रजः ॥६॥

राज्य के निरीक्षण का कार्य युयुत्सु पर सौंपकर तथा अपने राज्य पर राजा परिक्षित् का अभिषेक करके पाण्डवों के बड़े भाई महाराज युधिष्ठिर ने दुःख से आर्त होकर सुभद्रा से कहा—

एष पुत्रस्य ते पुत्रः कुरुराजो भविष्यति ।
यदूनां परिशेषश्च वज्रो राजा कृतश्च ह ॥७॥

'पुत्री ! तुम्हारे पुत्र का पुत्र यह परिक्षित् कुरुदेश तथा कौरववंश का राजा होगा और यादवों में जो लोग बच गये हैं, उनका राजा श्रीकृष्ण-पौत्र वज्र को बनाया गया है ।

परिक्षिद्धास्तिनपुरे शक्रप्रस्थे च यादवः ।
वज्रो राजा त्वया रक्ष्यो मा चाधर्मे मनः कृथाः ॥८॥

"परिक्षित् हस्तिनापुर में राज्य करेंगे तथा यदुवंशी वज्र इन्द्रप्रस्थ में । तुम्हें राजा वज्र की भी रक्षा करनी चाहिए और अपने मन को कभी अधर्म की ओर नहीं जाने देना चाहिए ।"

कृपमभ्यर्च्य च गुरुमथ पौरपुरस्कृतम् ।
शिष्यं परिक्षितं तस्मै ददौ भरतसत्तमः ॥९॥

तदनन्तर गुरुवर कृपाचार्य का सम्मान करके उन्होंने पुरवासियोंसहित परिक्षित् को शिष्यभाव से उनकी सेवा में सौंप दिया ।

CC-0. Jammu. Kanya Maha Vidyalaya Collection.

ततस्तु प्रकृतीः सर्वाः समानाय्य युधिष्ठिरः ।
सर्वमाचष्ट राजर्षिश्चिकीर्षितमथात्मनः ॥१०॥

तत्पश्चात् समस्त प्रकृतियों [प्रजा—मन्त्री आदि] को बुलाकर राजर्षि युधिष्ठिर ने, वे जो कुछ करना चाहते थे अपना वह सारा विचार [महाप्रथान का निश्चय] उनसे कह सुनाया ।

ते श्रुत्वैव वचस्तस्य पौरजानपदा जनाः ।
भृशमुद्विग्नमनसो नाभ्यनन्दन्त तद्वचः ॥११॥
नैवं कर्तव्यमिति ते तदोचुस्तं जनाधिपम् ।
न च राजा तथाकार्षीत् कालपर्यायधर्मवित् ॥१२॥

उनका वह प्रस्ताव सुनते ही नगर तथा जनपद के निवासी मन-ही-मन अत्यन्त उद्विग्न हो उठे । उन्होंने उनके वचनों का स्वागत नहीं किया । वे सब राजा से एक-साथ बोले—'आपको ऐसा नहीं करना चाहिए अर्थात् आप हमें छोड़कर कहीं न जाएँ ।' परन्तु धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर काल के उलट-फेर के अनुसार जो कर्तव्य प्राप्त था, उसे जानते थे, अतः उन्होंने प्रजा के कथन को स्वीकार नहीं किया ।

ततोऽनुमान्य धर्मात्मा पौरजानपदं जनम् ।
गमनाय मतिं चक्रे भ्रातरश्चास्य ते तदा ॥१३॥

उन धर्मात्मा नरेश ने नगर तथा जनपद-निवासियों को समझा-बुझाकर उनकी अनुमति प्राप्त कर ली । तत्पश्चात् उन्होंने और उनके भाइयों ने सब-कुछ त्यागकर महाप्रस्थान करने का ही निश्चय किया ।

ततः स राजा कौरव्यो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
उत्सृज्याभरणान्यङ्गाज्जगृहे वल्कलान्युत ॥१४॥
भीमार्जुनौ यमौ चैव द्रौपदी च यशस्विनी ।
तथैव जगृहुः सर्वे वल्कलानि नराधिप ॥१५॥

तत्पश्चात् कुरुकुलभूषण धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अपने अङ्गों से आभूषण उतारकर वल्कल वस्त्र धारण कर लिये । नरेश्वर ! फिर भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव और यशस्विनी द्रौपदी—इन सबने भी उसी प्रकार वल्कल धारण कर लिये ।

विधिवत् कारयित्वेष्टिं नैष्ठिकीं भरतर्षभ ।
समुत्सृज्याप्सु सर्वेऽग्नीन् प्रतस्थुर्नरपुङ्गवाः ॥१६॥

भरतभूषण ! तदनन्तर ब्राह्मणों से विधिपूर्वक उत्सर्गकालिक इष्टि करवाकर उन सभी नरश्रेष्ठ पाण्डवों ने अग्नियों का जल में विसर्जन कर दिया तथा वे सभी महायात्रा के लिए चल पड़े ।

ततः प्ररुरुदुः सर्वाः स्त्रियो दृष्ट्वा नरोत्तमान् ।
प्रस्थितान् द्रौपदीषष्ठान् पुरा द्यूतजितान् यथा ।
हर्षोऽभवच्च सर्वेषां भ्रातॄणां गमनं प्रति ॥१७॥

पहले जुए में पराजित होकर पाण्डव लोग जिस प्रकार वन में गये थे, उसी प्रकार उस दिन उन नरश्रेष्ठ पाँचों पाण्डवों तथा छठी द्रौपदी को इस प्रकार जाते देख नगर की सभी स्त्रियाँ रोने लगीं, परन्तु उन भाइयों को इस यात्रा से अपार हर्ष हुआ ।

युधिष्ठिरमतं ज्ञात्वा वृष्णिक्षयमवेक्ष्य च ।
भ्रातरः पञ्च कृष्णा च षष्ठी श्वा चैव सप्तमः ॥१८॥
आत्मनः सप्तमो राजा निर्ययौ गजसाह्वयात् ।
पौरैरनुगतो दूरं सर्वैरन्तःपुरैस्तथा ॥१९॥

युधिष्ठिर का अभिप्राय जान तथा वृष्णिवंशियों के महासंहार का वृत्तान्त सुनकर पाँचों भाई पाण्डव, द्रौपदी और एक कुत्ता—ये सब साथ-साथ चले । उन छहों को साथ लेकर सातवें राजा युधिष्ठिर जब हस्तिनापुर से बाहर निकले, तब नगर-निवासी प्रजा और अन्तःपुर की स्त्रियाँ उन्हें बहुत दूर तक पहुँचाने गईं ।

न्यवर्तन्त ततः सर्वे नरा नगरवासिनः ।
कृपप्रभृतयश्चैव युयुत्सुं पर्यवारयन् ॥२०॥

उन्हें पर्याप्त दूर तक पहुँचाकर धीरे-धीरे समस्त पुरवासी तथा कृपाचार्य आदि युयुत्सु को घेरकर उनके साथ ही लौट आये ।

पाण्डवाश्च महात्मानो द्रौपदी च यशस्विनी ।
कृतोपवासाः कौरव्य प्रययुः प्राङ्मुखास्ततः ॥२१॥

कुरुनन्दन ! इधर ये लोग नगर में लौट आये, उधर महात्मा पाण्डव और यशस्विनी द्रौपदी—ये सब-के-सब उपवास का व्रत लेकर पूर्व दिशा की ओर मुख करके चल दिये ।

युधिष्ठिरो ययावग्रे भीमस्तु तदनन्तरम् ।
अर्जुनस्तस्य चान्वेव यमौ चापि यथाक्रमम् ॥२२॥

आगे-आगे युधिष्ठिर चलते थे । उनके पीछे

भीमसेन थे। भीमसेन के पश्चात् अर्जुन और उनके पीछे-पीछे क्रमशः नकुल तथा सहदेव चल रहे थे।

पृष्ठतस्तु वरारोहा श्यामा पद्मदलेक्षणा।
द्रौपदी योषितां श्रेष्ठा ययौ भरतसत्तम ।।२३।।

भरतभूषण ! इन सबके पीछे सुन्दर शरीरवाली, श्यामवर्णा, कमलपत्र के समान विशाल लोचनोंवाली, युवतियों में श्रेष्ठ द्रौपदी चल रही थी।

श्वा चैवानुययावेकः प्रस्थितान्पाडवान्वनम्।
क्रमेण ते ययुर्वीरा लौहित्यं सलिलार्णवम् ।।२४।।

जिस समय पाण्डवों ने वन के लिए प्रस्थान किया तभी से एक कुत्ता भी उनके पीछे चला आ रहा था। क्रमशः चलते हुए ये वीर पाण्डव लालसागर के तट पर जा पहुँचे।

ततस्ते तूत्तरेणैव तीरेण लवणाम्भसः।
जग्मुर्भरतशार्दूल दिशं दक्षिणपश्चिमाम् ।।२५।।

भरतकुलभूषण ! तत्पश्चात् वे लवण-समुद्र के उत्तर-तट पर होते हुए दक्षिण-पश्चिम दिशा की ओर आगे बढ़ने लगे।

ततः पुनः समावृत्ताः पश्चिमां दिशमेव ते।
ददृशुर्द्वारकां चापि सागरेण परिप्लुताम् ।।२६।।
उदीचीं पुनरावृत्य ययुर्भरतसत्तमाः।
प्रादक्षिण्यं चिकीर्षन्तः पृथिव्या योगधर्मिणः ।।२७।।

तत्पश्चात् वे केवल पश्चिम दिशा की ओर मुड़ गये। आगे जाकर उन्होंने समुद्र में डूबी हुई द्वारकापुरी को देखा। तदनन्तर योगमार्ग में स्थित हुए भरतश्रेष्ठ पाण्डवों ने वहाँ से लौटकर पृथिवी की परिक्रमा करने की इच्छा से उत्तर दिशा की ओर यात्रा आरम्भ की।

इति महाभारते महाप्रस्थानिकपर्वणि प्रथमोऽध्यायः ।।१।।

द्वितीयोऽध्यायः

मार्ग में द्रौपदी और चारों पाण्डवों का गिरना तथा युधिष्ठिर का प्रत्येक के गिरने का कारण बताना

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते नियतात्मान उदीचीं दिशमास्थिताः।
ददृशुर्योगयुक्ताश्च हिमवन्तं महागिरिम् ।।१।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! मन को वश में रखकर उत्तर दिशा का आश्रय लेनेवाले योगयुक्त पाण्डवों ने मार्ग में महापर्वत हिमालय का दर्शन किया।

तं चाप्यतिक्रमन्तस्ते ददृशुर्वालुकार्णवम्।
अवैक्षन्त महाशैलं मेरुं शिखरिणां वरम् ।।२।।

उसे भी लाँघकर जब वे आगे बढ़े, तब उन्हें वालू का समुद्र दिखाई दिया। साथ ही उन्होंने पर्वतश्रेष्ठ महागिरि मेरु का भी दर्शन किया।

तेषां तु गच्छतां शीघ्रं सर्वेषां योगधर्मिणाम्।
याज्ञसेनी भ्रष्टयोगा निपपात महीतले ।।३।।

सब पाण्डव योगधर्म में स्थित हो अत्यन्त शीघ्रता से चल रहे थे। चलते-चलते उनमें से द्रुपदकुमारी कृष्णा का मन योगमार्ग से विचलित हो गया, अतः वह लड़खड़ाकर पृथिवी पर गिर पड़ी।

तां तु पतितां दृष्ट्वा भीमसेनो महाबलः।
उवाच धर्मराजं तं याज्ञसेनीमवेक्ष्य ह ।।४।।

द्रुपदकुमारी द्रौपदी को नीचे गिरते देखकर महाबली भीमसेन ने धर्मराज युधिष्ठिर से पूछा—

नाधर्मश्चरितः कश्चिद् राजपुत्र्या परन्तप।
कारणं किं नु तद् ब्रूहि यत्कृष्णा पतिता भुवि ।।५।।

"परन्तप ! राजकुमारी द्रौपदी ने कभी कोई पाप नहीं किया था, फिर बताइए, कौनसा ऐसा कारण है, जिससे वह नीचे गिर गई ?"

युधिष्ठिर उवाच

पक्षपातो महानस्या विशेषेण धनञ्जये।
तस्यैतत् फलमद्यैषा भुंक्ते पुरुषसत्तम ।।६।।

युधिष्ठिर ने कहा—पुरुषप्रवर भीम ! उसके

मन में अर्जुन के प्रति विशेष पक्षपात था, आज यह उसी का फल भोग रही है।[1]

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वानवेक्ष्यैनां ययौ भरतसत्तमः।
समाधाय मनो धीमान् धर्मात्मा पुरुषर्षभः ॥७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर उसकी ओर देखे बिना ही भरतश्रेष्ठ नरोत्तम महामति धर्मात्मा युधिष्ठिर मन को एकाग्र करके आगे बढ़ गये।

सहदेवस्ततो विद्वान् निपपात महीतले।
तं चापि पतितं दृष्ट्वा भीमो राजानमब्रवीत् ॥८॥

थोड़ी देर के पश्चात् धीमान् सहदेव भी धरती पर गिर पड़े। उन्हें भी गिरते देखकर भीमसेन ने राजा युधिष्ठिर से पूछा—

योऽयमस्मासु सर्वेषु शुश्रूषुरनहंकृतः।
सोऽयं माद्रवतीपुत्रः कस्मान्निपतितो भुवि ॥९॥

"भैया ! जो सदा हम लोगों की सेवा किया करता था तथा जिसमें अहंकार का नाम भी नहीं था, यह माद्रीकुमार सहदेव किस दोष के कारण धराशायी हुआ है ?"

युधिष्ठिर उवाच

आत्मनः सदृशं प्राज्ञं नैषोऽमन्यत कञ्चन।
तेन दोषेण पतितस्तस्मादेष नृपात्मजः ॥१०॥

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—यह राजकुमार सहदेव किसी को भी अपने जैसा विद्वान् अथवा बुद्धिमान् नहीं समझता था, उसी दोष के कारण इसका पतन हुआ है।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा तं समुत्सृज्य सहदेवं ययौ तदा।
भ्रातृभिः सह कौन्तेयः शुना चैव युधिष्ठिरः ॥११॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर और सहदेव को भी छोड़कर शेष भाइयों और एक कुत्ते के साथ कुन्तीकुमार युधिष्ठिर आगे बढ़ गये।

कृष्णां निपतितां दृष्ट्वा सहदेवं च पाण्डवम्।
आर्तो बन्धुप्रियः शूरो नकुलो निपपात ह ॥१२॥

द्रौपदी और पाण्डव सहदेव को गिरे देख शोक से पीड़ित हो बन्धुप्रेमी शूरवीर नकुल भी धराशायी हो गये।

तस्मिन्निपतिते वीरे नकुले चारुदर्शने।
पुनरेव तदा भीमो राजानमिदमब्रवीत् ॥१३॥

उस वीरश्रेष्ठ, सुन्दर नकुल के पृथिवी पर गिर पड़ने पर भीमसेन ने पुनः राजा युधिष्ठिर से प्रश्न किया—

योऽयमक्षतधर्मात्मा भ्राता वचनकारकः।
रूपेणाप्रतिमो लोके नकुलः पतितो भुवि ॥१४॥

"भैया ! संसार में जिसके रूप की तुलना करनेवाला कोई नहीं था, तो भी जिसने अपने धर्म में कभी त्रुटि नहीं आने दी तथा जो सदा हम लोगों की आज्ञा का पालन करता था, वह हमारा प्रिय बन्धु नकुल पृथिवी पर कैसे गिर पड़ा ?"

इत्युक्तो भीमसेनेन प्रत्युवाच युधिष्ठिरः।
नकुलं प्रति धर्मात्मा सर्वबुद्धिमतां वरः ॥१५॥

भीमसेन के इस प्रकार पूछने पर समस्त बुद्धिमानों में श्रेष्ठ धर्मात्मा युधिष्ठिर ने नकुल के सम्बन्ध में इस प्रकार उत्तर दिया—

रूपेण मत्समो नास्ति कश्चिदित्यस्य दर्शनम्।
अधिकश्चाहमेवैक इत्यस्य मनसि स्थितम् ॥१६॥
नकुलः पतितस्तस्मादागच्छ त्वं वृकोदर।
यस्य यद्विहीतं वीर सोऽवश्यं तदुपाश्नुते ॥१७॥

"भीमसेन ! नकुल की दृष्टि सदा ऐसी रही है कि रूप में मेरे तुल्य दूसरा कोई नहीं है। इसके मन में यह धारणा बैठी रहती थी कि 'तीनों लोकों में एकमात्र मैं ही सबसे अधिक रूपवान् हूँ'—इसी मिथ्या अभिमान के कारण इसका पतन हुआ है। वीर ! तुम इसके पतन का शोक न करके बढ़े चलो,

---

[1] आदिपर्व में हमने यह सिद्ध किया था कि द्रौपदी पाँचों पाण्डवों की पत्नी नहीं थी, साथ ही यह भी उल्लेख किया था कि वह केवल धर्मराज युधिष्ठिर की पत्नी थी। इस प्रकरण से भी यह बात सिद्ध है कि द्रौपदी अर्जुन की पत्नी नहीं थी। यदि वह अर्जुन की पत्नी होती तो उसपर पक्षपात करने का दोष कैसे आता? स्वयंवर की शर्त अर्जुन ने पूर्ण की थी, अतः वह अर्जुन के साथ कुछ पक्षपात करती थी।

क्योंकि जिसकी जैसी करनी होती है, वह उसका फल अवश्य भोगता है।"

तांस्तु प्रपतितान् दृष्ट्वा पाण्डवः श्वेतवाहनः ।
पपात शोकसन्तप्तस्ततोऽनु परवीरहा ॥१८॥

द्रौपदी, नकुल तथा सहदेव—तीनों गिर गये, यह देखकर शत्रुवीरों का संहार करनेवाले श्वेतवाहन पाण्डुपुत्र अर्जुन भी शोक से सन्तप्त होकर भूमि पर गिर पड़े।

तस्मिंस्तु पुरुषव्याघ्रे पतिते शक्रतेजसि ।
म्रियमाणे दुराधर्षे भीमो राजानमब्रवीत् ॥१९॥

इन्द्र के समान तेजस्वी, दुर्धर्षवीर, पुरुषसिंह अर्जुन जब पृथिवी पर गिरकर प्राणत्याग करने लगे, तब भीससेन ने राजा युधिष्ठिर से पूछा—

अनृतं न स्मराम्यस्य स्वैरेष्वपि महात्मनः ।
अथ कस्य विकारोऽयं येनायं पतितो भुवि ॥२०॥

"भैया ! महात्मा अर्जुन ने कभी परिहास में भी असत्य भाषण किया हो—ऐसा मुझे स्मरण नहीं आता ! फिर यह किस कर्म का फल है कि यह पृथिवी पर गिर पड़े ?

युधिष्ठिर उवाच

एकाह्ना निर्दहेयं वै शत्रूनित्यर्जुनोऽब्रवीत् ।
न च तत्कृतवानेष शूरमानी ततोऽपतत् ॥२१॥

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—अर्जुन को अपनी शूरवीरता का अत्यधिक अभिमान था। इन्होंने कहा था कि 'मैं एक ही दिन में शत्रुओं को भस्म कर डालूँगा', किन्तु ऐसा किया नहीं; इस प्रतिज्ञा-भङ्ग के कारण ही इनका पतन हुआ है।

अवमेने धनुर्ग्राहानेष सर्वांश्च फाल्गुनः ।
यथा चोक्तं तथा चैव कर्तव्यं भूतिमिच्छता ॥२२॥

अर्जुन धनुर्धारियों में श्रेष्ठ थे, अतः इन्होंने सम्पूर्ण धनुर्धरों का अपमान भी किया था, यह उनके पतन का दूसरा कारण है। अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्य को जैसा वह कहे वैसा ही करना भी चाहिए।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा प्रस्थितो राजा भीमोऽथ निपपात ह ।
पतितश्चाब्रवीद् भीमो धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥२३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! ऐसा कहकर राजा युधिष्ठिर आगे चल पड़े। इतने में ही भीमसेन भी गिरे और गिरते-गिरते ही भीमसेन ने धर्मराज युधिष्ठिर को पुकारकर पूछा—

भो भो राजन्नवेक्षस्व पतितोऽहं प्रियस्तव ।
किं निमित्तं च पतनं ब्रूहि मे यदि वेत्थ ह ॥२४॥

"राजन् ! टुक मेरी ओर निहारिए, मैं आपका प्रिय भीमसेन यहाँ गिरा पड़ा हूँ। यदि आप जानते हों तो कृपया बताइए, मेरे इस पतन का क्या कारण है ?"

युधिष्ठिर उवाच

अतिभुक्तं च भवता प्राणेन च विकत्थसे ।
अनवेक्ष्य परं पार्थ तेनासि पतितः क्षितौ ॥२५॥

युधिष्ठिर बोले—भीमसेन ! तुम बहुत खाते थे और दूसरों को कुछ भी न समझकर अपने बल की डींग हाँका करते थे, इसलिए तुम्हें धराशायी होना पड़ा है।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा तं महाबाहुर्जगामानवलोकयन् ।
श्वाप्येकोऽनुययौ यस्ते बहुशः कीर्तितो मया ॥२६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—यह कहकर महाबाहु युधिष्ठिर उनकी ओर देखे बिना ही आगे बढ़ गये। एक कुत्ता भी, जिसकी चर्चा मैंने अनेक बार तुमसे की है, निरन्तर उनका अनुसरण कर रहा था।

इति महाभारते महाप्रस्थानिकपर्वणि द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

तृतीयोऽध्यायः

इन्द्र का युधिष्ठिर को स्वर्ग में आने के लिए आमन्त्रित करना परन्तु कुत्ते को त्यागकर उनका स्वर्ग में जाने से इनकार

वैशम्पायन उवाच

ततः सन्नादयञ्छक्रो दिवं भूमिं च सर्वशः ।
रथेनोपययौ पार्थमारोहेत्यब्रवीच्च तम् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! युधिष्ठिर के चलते-चलते आकाश और पृथिवी को सब ओर से गुंजाते हुए देवराज इन्द्र रथ के साथ युधिष्ठिर के पास आ पहुँचे तथा उनसे बोले—"कुन्तीनन्दन ! तुम इस रथ पर आरूढ़ हो जाओ।"

स्वभ्रातॄन् पतितान्दृष्ट्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
अब्रवीच्छोकसंतप्तः सहस्राक्षमिदं वचः ॥२॥

परन्तु धर्मराज युधिष्ठिर अपने भाइयों को धराशायी हुआ देख, शोक से सन्तप्त हो इन्द्र से इस प्रकार बोले—

भ्रातरः पतिता मेऽत्र गच्छेयुस्ते मया सह ।
न विना भ्रातृभिः स्वर्गमीहे गन्तुं सुरेश्वर ॥३॥

"देवेश्वर ! मेरे भाई मार्ग में गिर पड़े हैं, वे भी मेरे साथ चलें, इसकी व्यवस्था होनी चाहिए, क्योंकि मैं अपने भाइयों के बिना स्वर्ग में भी नहीं जाना चाहता।

सुकुमारी सुखार्हा च राजपुत्री पुरन्दर ।
सास्माभिः सह गच्छेत तद् भवाननुमन्यताम् ॥४॥

"सुरेश्वर ! राजकुमारी द्रौपदी सुकुमारी है। वह सुख पाने के योग्य है। वह भी हम लोगों के साथ चले, इसकी अनुमति प्रदान कीजिए।"

शक्र उवाच

भ्रातॄन् द्रक्ष्यसि स्वर्गे त्वमग्रतस्त्रिदिवं गतान् ।
कृष्णया सहितान् सर्वान् मा शुचो भरतर्षभ ॥५॥

इन्द्र बोले—भरतभूषण ! तुम्हारे सभी भाई तुमसे पूर्व ही स्वर्ग में पहुँच गये हैं। तुम स्वर्ग में चलकर ही द्रौपदीसहित सब भाइयों को देखोगे। तुम उनके लिए शोक मत करो।

निक्षिप्य मानुषं देहं गतास्ते भरतर्षभ ।
अनेन त्वं शरीरेण स्वर्गं गन्ता न संशयः ॥६॥

भरतश्रेष्ठ ! वे सब मनुष्य-शरीर को त्यागकर स्वर्ग में गये हैं [सुखविशेष, उत्तम योनि को प्राप्त हुए हैं] किन्तु तुम इसी शरीर से वहाँ [त्रिविष्टप, स्वर्ग] चलोगे, इसमें संशय नहीं है।

युधिष्ठिर उवाच

अयं श्वा भूतभव्येश भक्तो मां नित्यमेव ह ।
स गच्छेत मया सार्धमानृशंस्या हि मे मतिः ॥७॥

युधिष्ठिर बोले—भूत तथा वर्तमान के स्वामी देवराज ! इस कुत्ते की मेरे प्रति अत्यन्त भक्ति है। इसने सदा ही मेरा साथ दिया है, अतः यह भी मेरे साथ चले ऐसी आज्ञा दीजिए, क्योंकि मेरी बुद्धि में निर्दयता नहीं है।

शक्र उवाच

अमर्त्यत्वं मत्समत्वं च राजन्
श्रियं कृत्स्नां महतीं चैव सिद्धिम् ।
संप्राप्तोऽद्य स्वर्गसुखानि च त्वं
त्यज श्वानं नात्र नृशंसमस्ति ॥८॥

इन्द्र ने कहा—राजन् ! तुम्हें अमरता, मेरी समानता, समग्र लक्ष्मी तथा बहुत बड़ी सिद्धि प्राप्त हुई है, साथ ही तुम्हें स्वर्गिक सुख भी प्राप्त हुआ है। अतः इस कुत्ते को छोड़ो और मेरे साथ चलो। इस व्यवहार में कोई निर्दयता नहीं होगी।

युधिष्ठिर उवाच

अनार्यमार्गेण सहस्रनेत्र
शक्यं कर्तुं दुष्करमेतदार्यं ।
मा मे श्रिया सङ्गमनं तयास्तु
यस्याः कृते भक्तजनं त्यजेयम् ॥९॥

युधिष्ठिर बोले—सहस्रनेत्रधारी[1] इन्द्र ! अना

---

[1] इन्द्रस्य हि मन्त्रिपरिषदृषीणां सहस्रम् ॥६०॥
स तच्चक्षुः ॥६१॥
तस्मादियं द्व्यक्षं सहस्राक्षमाहुः ॥६२॥
—कौटि० अ० १।१५।६०-६२

इन्द्र की मन्त्रिपरिषद् में सहस्र सभासद् बताये जाते हैं। ये ही इन्द्र की आँखें मानी गई हैं। यही कारण है कि वे दो आँखें होने पर भी सहस्र कहलाता है।

जनों के मार्ग पर चलकर ही किसी आर्यजन से ऐसा दुष्कृत्य [सेवक-परित्याग] हो सकता है, जो मुझे अभीष्ट नहीं। जहाँ तक लक्ष्मी-प्राप्ति की बात है, मुझे ऐसी लक्ष्मी प्राप्त न हो, जिसके लिए भक्तजन का परित्याग करना पड़े।

इन्द्र उवाच

स्वर्गे लोके श्ववतां नास्ति धिष्ण्य-
मिष्टापूर्तं क्रोधवशा हरन्ति।
ततो विचार्य क्रियतां धर्मराज
त्यज श्वानं नात्र नृशंसमस्ति ॥१०॥

इन्द्र ने कहा—कुत्ता रखनेवाले अपवित्र लोगों के लिए स्वर्गलोक में स्थान नहीं है। उनके यज्ञ करने और कुँआ, बावड़ी आदि बनवाने का जो पुण्य होता है, उसे 'क्रोधवश' नामक राक्षस हर लेते हैं, अतः तुम सोच-विचारकर कार्य करो। इस कुत्ते को यहीं त्याग दो, ऐसा करने में कोई निष्ठुरता नहीं है।

युधिष्ठिर उवाच

भक्तत्यागं प्राहुरत्यन्तपापं
तुल्यं लोके ब्रह्मवध्याकृतेन।
तस्मान्नाहं जातु कथञ्चनाद्य
त्यक्ष्याम्येनं स्वसुखार्थी महेन्द्र ॥११॥

युधिष्ठिर बोले—महेन्द्र! भक्त का त्याग करने से जो पाप होता है, उसका अन्त कभी नहीं होता—ऐसा मुनिजन कहते हैं। संसार में भक्त का त्याग ब्रह्महत्या के समान माना गया है, अतः मैं अपने सुख के लिए किसी प्रकार भी आज इस कुत्ते का परित्याग नहीं करूँगा।

भीतं भक्तं नान्यदस्तीति चार्तं
प्राप्तं क्षीणं रक्षणे प्राणलिप्सुम्।
प्राणत्यागादप्यहं नैव मोक्तुं
यतेयं वै नित्यमेतद् व्रतं मे ॥१२॥

जो भयभीत हो, भक्त हो, 'मेरा अन्य कोई सहारा नहीं है'—ऐसा कहते हुए आर्तभाव से शरण में आया हो, अपनी रक्षा करने में असमर्थ—दुर्बल हो तथा अपने प्राण बचाना चाहता हो, ऐसे पुरुष को मैं प्राण जाने पर भी नहीं छोड़ सकता, यह मेरा सदा का व्रत है।

इन्द्र उवाच

शुना दृष्टं क्रोधवशा हरन्ति
यद्दत्तमिष्टं विवृतं हुतं च।
तस्माच्छुनस्त्यागमिमं कुरुष्व
शुनस्त्यागाद् प्राप्स्यसे देवलोकम् ॥१३॥

इन्द्र ने कहा—धर्मराज! मनुष्य जो कुछ दान, परोपकार, स्वाध्याय और हवन-यज्ञ आदि पुण्यकर्म करता है, उसपर यदि कुत्ते की दृष्टि पड़ जाए तो उसके फल को 'क्रोधवश' नामक राक्षस हर लेते हैं, अतः इस कुत्ते का परित्याग कर दो। कुत्ते को त्याग देने से ही तुम देवलोक में जा सकोगे।

त्यक्त्वा भ्रातॄन् दयितां चापि कृष्णां
प्राप्तो लोकः कर्मणा स्वेन वीर।
श्वानं चैनं न त्यजसे कथं नु
त्यागं कृत्स्नं चास्थितो मुह्यसेऽद्य ॥१४॥

वीरवर! तुमने अपने भाइयों और प्राणप्यारी पत्नी द्रौपदी का परित्याग करके अपने किये हुए पुण्यकर्मों के फलस्वरूप देवलोक प्राप्त किया है, फिर तुम इस कुत्ते को क्यों नहीं छोड़ देते? सब-कुछ त्यागकर अब कुत्ते के मोह में कैसे फँस गये?

युधिष्ठिर उवाच

न विद्यते सन्धिरथापि विग्रहो
मृतैर्मर्त्यैरिति लोकेषु निष्ठा।
न ते मया जीवयितुं हि शक्या-
स्ततस्त्यागस्तेषु कृतो न जीवताम् ॥१५॥

युधिष्ठिर ने कहा—हे सुरेश्वर! यह निश्चित बात है कि संसार में मरे हुए मनुष्य के साथ न तो किसी का मेल होता है और न विरोध ही। द्रौपदी तथा अपने भाइयों को जीवित करना मेरे वश की बात नहीं थी, अतः मर जाने पर ही मैंने उनका त्याग किया है, जीवित अवस्था में नहीं।

प्रतिप्रदानं शरणागतस्य
स्त्रिया वधो ब्राह्मणस्वापहारः।
मित्रद्रोहस्तानि चत्वारि शक्र
भक्तत्यागश्चैव समो मतो मे ॥१६॥

शरण में आये हुए को वापस दे देना, स्त्री का वध करना, ब्राह्मण का धन लूटना तथा मित्रों के

साथ द्रोह करना—ये चार अधर्म एक ओर तथा भक्त का त्याग दूसरी ओर हो तो मेरे विचार में यह अकेला पातक उन चारों के बराबर है।

वैशम्पायन उवाच

तद् धर्मराजस्य वचो निशम्य
धर्मस्वरूपी भगवानुवाच ।
युधिष्ठिरं प्रीतियुक्तो नरेन्द्रं
श्लक्ष्णैर्वाक्यैः संस्तवसम्प्रयुक्तैः ।।१७।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धर्मराज युधिष्ठिर का यह कथन सुनकर कुत्ते का रूप धारण करके साथ आये हुए धर्मरूपी भगवान् अत्यन्त प्रसन्न हुए और राजा युधिष्ठिर की प्रशंसा करते हुए मधुर वचनों द्वारा उनसे इस प्रकार बोले—

धर्म उवाच

अभिजातोऽसि राजेन्द्र पितुर्वृत्तेन मेधया ।
अनुक्रोशेन चानेन सर्वभूतेषु भारत ।।१८।।

धर्मराज ने कहा—हे राजेन्द्र ! भरतनन्दन ! तुम अपने सदाचार, बुद्धि तथा सम्पूर्ण प्राणियों के प्रति ऐसी दया का भाव प्रकट करके यह सिद्ध कर रहे हो कि तुम वास्तव में सुयोग्य पिता के उत्तम कुल में उत्पन्न हुए हो।

पुरा द्वैतवने चासि मया पुत्र परीक्षितः ।
पानीयार्थे पराक्रान्ता यत्र ते भ्रातरो हताः ।।१९।।

वत्स ! पूर्वकाल में द्वैतवन में रहते समय भी एक बार मैंने तुम्हारी परीक्षा ली थी, जबकि तुम्हारे सभी भाई पानी लाने के लिए उद्योग करते हुए मारे गये थे।

भीमार्जुनौ परित्यज्य यत्र त्वं भ्रातरावुभौ ।
मात्रोः साम्यमभीप्सन् वै नकुलं जीवमिच्छसि ।।२०।।

उस समय तुमने कुन्ती और माद्री दोनों माताओं में समानता की इच्छा रखकर अपने सहोदर [सगे] भाई भीम और अर्जुन को छोड़ केवल नकुल को जीवित करना चाहा था।

अयं श्वा भक्त इत्येवं त्यक्तो देवरथस्त्वया ।
तस्मात्स्वर्गे न ते तुल्यः कश्चिदस्ति नराधिपः ।।२१।।

इस समय भी 'यह कुत्ता मेरा भक्त है'—ऐसा सोचकर तुमनें देवराज इन्द्र के रथ का भी परित्याग कर दिया है, अतः स्वर्गलोक में तुम्हारे समान दूसरा कोई राजा नहीं है।

वैशम्पायन उवाच

ततो धर्मश्च शक्रश्च मरुतश्चाश्विनावपि ।
प्रययुः स्वैर्विमानैस्ते रथमारोप्य पाण्डवम् ।।२२।।

वैशम्पायनजी कहते हैं—ऐसा कहकर धर्म, इन्द्र, मरुद्गण और अश्विनीकुमारों ने युधिष्ठिर को रथ में बैठाकर अपने-अपने विमानों द्वारा स्वर्गलोक को प्रस्थान किया।

ततो देवनिकायस्थो नारदः सर्वलोकवित् ।
उवाचोच्चैस्तदा वाक्यं बृहद्वादी बृहत्तपाः ।।२३।।

स्वर्ग [त्रिविष्टप] में पहुँचने पर सुरलोक में विद्यमान सम्पूर्ण लोकों का वृत्तान्त जाननेवाले, बोलने में कुशल और महान् तपस्वी देवर्षि नारद ने उच्चस्वर से कहा—

येऽपि राजर्षयः सर्वे ते चापि समुपस्थिताः ।
कीर्ति प्रच्छाद्य तेषां वै कुरुराजोऽधितिष्ठति ।।२४।।

"जितने राजर्षि स्वर्ग में आये हैं, वे सभी यहाँ उपस्थित हैं, परन्तु कुरुराज युधिष्ठिर अपने सुयश से उन सबकी कीर्ति को आच्छादित करके [ढककर] विराजमान हो रहे हैं।

तेजांसि यानि दृष्टानि भूमिष्ठेन त्वया विभो ।
वेश्मानि भुवि देवानां पश्यामूनि सहस्रशः ।।२५।।

"प्रभो ! युधिष्ठिर ! पृथिवी पर रहते हुए तुमने आकाश में नक्षत्र और ताराओं के रूप में जितने तेज [तेजोबिम्ब] देखे हैं, वे सब इन देवताओं के लोक हैं,—तुम इन्हें देखो।"

युधिष्ठिर उवाच

शुभं वा यदि वा पापं भ्रातॄणां स्थानमद्य मे ।
तदेव प्राप्तुमिच्छामि लोकानन्यान्न कामये ।।२६।।

युधिष्ठिर बोले—देवर्षे ! मेरे भाइयों को शुभ या अशुभ जो भी स्थान प्राप्त हुआ हो, मैं भी वहीं जाना चाहता हूँ। उसके सिवा दूसरे लोकों में जाने की मेरी इच्छा नहीं है।

देवराज उवाच

स्थानेऽस्मिन् वस राजेन्द्र कर्मभिर्निर्जिते शुभैः ।
किं त्वां मानुष्यकं स्नेहमद्यापि परिकर्षति ।।२७।।

देवराज इन्द्र ने कहा—महाराज ! तुम अपने शुभ कर्मों द्वारा प्राप्त हुए इस स्वर्गलोक में निवास करो। मनुष्यलोक के स्नेहपाश में अभी तक क्यों बँधे हो ?

सिद्धिं प्राप्तोऽसि परमां यथा नान्यः पुमान् क्वचित् ।
नैव ते भ्रातरः स्थानं सम्प्राप्ताः कुरुनन्दन ॥२८॥

कुरुनन्दन ! तुम्हें वह उत्तम सिद्धि प्राप्त हुई है जिसे दूसरा कोई मनुष्य कभी और कहीं न पा सका। तुम्हारे भाई भी ऐसा स्थान नहीं पा सके हैं।

अद्यापि मानुषो भावः स्पृशते त्वां नराधिप ।
स्वर्गोऽयं पश्य देवर्षीन् सिद्धाँश्च त्रिदिवालयान् ॥२९॥

नरेश्वर ! क्या अब भी मानवभाव तुम्हारा स्पर्श कर रहा है ? यह स्वर्गलोक है। यहाँ इन स्वर्गस्थित देवर्षियों तथा सिद्धों का दर्शन करो।

युधिष्ठिर उवाच

तैर्विना नोत्सहे वस्तुमिह दैत्यनिबर्हण ।
गन्तुमिच्छामि तत्राहं यत्र मे भ्रातरो गताः ॥३०॥
यत्र सा बृहती श्यामा बुद्धिसत्त्वगुणान्विता ।
द्रौपदी योषितां श्रेष्ठा यत्र चैव प्रिया मम ॥३१॥

युधिष्ठिर बोले—दैत्यसूदन ! अपने भाइयों के बिना मुझे यहाँ रहने की इच्छा नहीं होती, अतः मैं वहीं जाना चाहता हूँ जहाँ मेरे भाई गये हैं और जहाँ ऊँचे कदवाली, श्यामवर्णवाली, बुद्धिमती, सत्त्वगुणसम्पन्न और वरवर्णिनी स्त्रियों में श्रेष्ठ मेरी प्राणप्रिया द्रौपदी गई है।

इति महाभारते महाप्रस्थानिकपर्वणि तृतीयोऽध्यायः ॥

॥ इति महाप्रस्थानिकपर्व सम्पूर्णम् ॥

स्वर्गारोहणपर्व

प्रथमोऽध्यायः

स्वर्ग में नारद और युधिष्ठिर का वार्तालाप

जनमेजय उवाच

स्वर्गं त्रिविष्टपं प्राप्य मम पूर्वपितामहाः।
पाण्डवा धार्तराष्ट्राश्च कानि स्थानानि भेजिरे ॥१॥

जनमेजय ने पूछा—मुने! मेरे पूर्वपितामह पाण्डव तथा धृतराष्ट्र के पुत्र स्वर्गलोक में पहुँचकर किन-किन स्थानों को प्राप्त हुए?

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं सर्वविच्चासि मे मतः।
महर्षिणाभ्यनुज्ञातो व्यासेनाद्भुतकर्मणा ॥२॥

मैं यह सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनना चाहता हूँ। आप अद्भुतकर्मा महर्षि व्यास की आज्ञा पाकर सर्वज्ञ [धर्म, अर्थ और काम के ज्ञाता] हो गये हैं, ऐसा मेरा विश्वास है।

वैशम्पायन उवाच

स्वर्गं त्रिविष्टपं प्राप्य तव पूर्वपितामहाः।
युधिष्ठिरप्रभृतयो यदकुर्वत तच्छृणु ॥३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तुम्हारे पूर्वपितामह युधिष्ठिर आदि ने त्रिविष्टप [स्वर्ग] में पहुँचकर जो कुछ किया, वह बताता हूँ, आप उसे ध्यानपूर्वक सुनें।

स्वर्गं त्रिविष्टपं प्राप्य धर्मराजो युधिष्ठिरः।
दुर्योधनं श्रिया जुष्टं ददर्शासीनमासने ॥४॥

धर्मराज युधिष्ठिर ने त्रिविष्टप [स्वर्गलोक] में पहुँचकर देखा कि दुर्योधन स्वर्गिक शोभा से सम्पन्न दिव्यासन पर बैठा हुआ है।

ततो युधिष्ठिरो दृष्ट्वा दुर्योधनममर्षितः।
सहसा संनिवृत्तोऽभूच्छ्रियं दृष्ट्वा सुयोधने ॥५॥

दुर्योधन को ऐसी उत्तम अवस्था में देख तथा उसे मिली हुई शोभा एवं सम्पत्ति का अवलोकन कर राजा युधिष्ठिर अमर्ष [क्रोध] से भर गये और सहसा दूसरी ओर लौट पड़े।

ब्रुवन्नुच्चैर्वचस्तांश्च नाहं दुर्योधनेन वै।
सहितः कामये लोकाँल्लुब्धेनादीर्घदर्शिना ॥६॥

तत्पश्चात् वे उच्चस्वर से उन सब लोगों से [जो वहाँ उपस्थित थे] बोले—"देवताओ! मैं लोभी और अदूरदर्शी दुर्योधन के साथ रहकर इन पुण्यलोकों को पाने की इच्छा नहीं करता।

अस्ति देवा न मे कामः सुयोधनमुदीक्षितुम्।
तत्राहं गन्तुमिच्छामि यत्र ते भ्रातरो मम ॥७॥

"देवगण! दुर्योधन को तो मैं देखना भी नहीं चाहता। मैं तो वहीं जाना चाहता हूँ, जहाँ मेरे भाई हैं।"

नैवमित्यब्रवीत्तं तु नारदः प्रहसन्निव।
स्वर्गे निवासे राजेन्द्र विरुद्धं चापि नश्यति ॥८॥

यह सुनकर नारदजी उनसे हँसते हुए-से बोले—"राजेन्द्र! ऐसा मत कहो। स्वर्ग में निवास करने पर पहले का वैर-विरोध शान्त हो जाता है।

वीरलोकगतिं प्राप्तो युद्धे हुत्वाऽऽत्मनस्तनुम्।
यूयं सर्वे सुरसमा येन युद्धे समासिताः ॥९॥
स एष क्षत्रधर्मेण स्थानमेतदवाप्तवान्।
भये महति योऽभीतो बभूव पृथिवीपतिः ॥१०॥

"इन्होंने युद्ध में अपने शरीर की आहुति देकर वीरों की गति पाई है। जिन्होंने युद्ध में देवों के समान तेजस्वी तुम सभी भाइयों का डटकर सामना किया है, जो भूपाल दुर्योधन महान् भय उपस्थित होने पर

भी निर्भय बने रहे, उन्होंने क्षत्रियधर्म के अनुसार यह स्थान प्राप्त किया है।

समागच्छ यथान्यायं राज्ञा दुर्योधनेन वै ।
स्वर्गोऽयं नेह वैराणि भवन्ति मनुजाधिप ।।११।।

"अब तुम राजा दुर्योधन के साथ न्यायपूर्वक मिलो। प्रजेश्वर ! यह स्वर्गलोक है, यहाँ पहले के वैरभाव नहीं रहते हैं।"

नारदेनैवमुक्तस्तु कुरुराजो युधिष्ठिरः ।
भ्रातॄन् पप्रच्छ मेधावी वाक्यमेतदुवाच ह ।।१२।।

नारदजी के ऐसा कहने पर बुद्धिमान् कुरुराज युधिष्ठिर ने पुनः अपने भाइयों के विषय में पूछा कि वे कहाँ हैं और यह बात कही—

यदि दुर्योधनस्यैते वीरलोकाः सनातनाः ।
अधर्मज्ञस्य पापस्य पृथिवीसुहृदां द्रुहः ।।१३।।
यत्कृते पृथिवी नष्टा सहया सनरद्विपा ।
ये ते वीरा महात्मानो भ्रातरो मे महाव्रताः ।।१४।।
सत्यप्रतिज्ञा लोकस्य शूरा वै सत्यवादिनः ।
तेषामिदानीं के लोका द्रष्टुमिच्छामि तानहम् ।।१५।।

"देवर्षे ! जिसके कारण हाथी, घोड़े तथा मनुष्यों-सहित सारी पृथिवी नष्ट हो गई, जो धर्मशून्य था, जिसने जीवनभर भूमण्डल के समस्त सुहृदों [मित्रों] के साथ द्रोह किया, उस पापी दुर्योधन को यदि ये सनातन वीरलोक प्राप्त हुए हैं तो जो वे वीर, महात्मा, महान् व्रतधारी, सत्यप्रतिज्ञ, विश्वविख्यात शूरवीर और सत्यवादी मेरे भाई हैं, उन्हें इस समय कौन-से लोक प्राप्त हुए हैं ?

धृष्टद्युम्नं सात्यकिं च धृष्टद्युम्नस्य चात्मजान् ।
ये च शस्त्रैर्वधं प्राप्ताः क्षत्रधर्मेण पार्थिवाः ।।१६।।
क्व नु ते पार्थिवा ब्रह्मन्नैतान्पश्यामि नारद ।
विराटद्रुपदौ चैव धृष्टकेतुमुखांश्च तान् ।।१७।।
शिखण्डिनं च पाञ्चाल्यं द्रौपदेयांश्च सर्वशः ।
अभिमन्युं च दुर्धर्षं द्रष्टुमिच्छामि साम्प्रतम् ।।१८।।

"मैं धृष्टद्युम्न, सात्यकि और धृष्टद्युम्न के पुत्रों को भी देखना चाहता हूँ। ब्रह्मन् ! नारदजी ! जो भूपाल क्षत्रियधर्म के अनुसार शस्त्रों द्वारा वीरगति को प्राप्त हुए हैं, वे सब कहाँ हैं ? मैं उन राजाओं को यहाँ नहीं देख रहा हूँ। मैं उन समस्त भूपालों से मिलना चाहता हूँ। विराट, द्रुपद, धृष्टकेतु आदि पाञ्चालराजकुमार शिखण्डी, द्रौपदी के सभी पुत्रों और दुर्धर्षवीर अभिमन्यु को भी मैं इस समय देखना चाहता हूँ।"

इति महाभारते स्वर्गारोहणपर्वणि प्रथमोऽध्यायः ।।१।।

द्वितीयोऽध्यायः

देवदूत का युधिष्ठिर को नरक का दर्शन कराना तथा भाइयों का करुणक्रन्दन सुनकर उनका वहीं रहने का दृढ़ निश्चय

युधिष्ठिर उवाच

राजानो राजपुत्राश्च ये मदर्थे हता रणे ।
क्व ते महारथाः सर्वे शार्दूलसमविक्रमाः ।।१।।

युधिष्ठिर ने पूछा—हे देवताओ ! जो राजा और राजकुमार युद्धभूमि में मेरे लिए मारे गये, वे सिंह के समान पराक्रमी समस्त महारथी वीर कहाँ हैं ?

यदि लोकानिमान् प्राप्तास्ते च सर्वे महारथाः ।
स्थितं वित्त हि मां देवाः सहितं तैर्महात्मभिः ।।२।।

देवगण ! यदि वे सभी महारथी इन लोकों में आये हैं, तो आप समझ लें कि मैं भी उन महात्माओं के साथ इसी स्थान पर रहूँगा।

कच्चिन्न तैरवाप्तोऽयं नृपैर्लोकोऽक्षयः शुभः ।
न तैरहं विना रंस्ये भ्रातृभिर्ज्ञातिभिस्तथा ।।३।।

यदि उन राजाओं को इस शुभ और अक्षयलोक में स्थान नहीं मिला है तो मैं उन बन्धु-बान्धवों के बिना यहाँ नहीं रह सकूँगा।

भीमं च भीमविक्रान्तं प्राणेभ्योऽपि प्रियं मम ।
अर्जुनं चेन्द्रसंकाशं यमौ चैव यमोपमौ ।।४।।
द्रष्टुमिच्छामि तां चाहं पाञ्चालीं धर्मचारिणीम् ।
न चेह स्थातुमिच्छामि सत्यमेवं ब्रवीमि वः ।।५।।

मैं अपने प्राणों से भी प्रियतम भयंकर पराक्रमी भाई भीमसेन को, इन्द्र के समान तेजस्वी अर्जुन को, यमराज के समान अजेय नकुल और सहदेव को तथा धर्मपरायणा देवी द्रौपदी को भी देखना चाहता हूँ। यहाँ रहने की मेरी तनिक भी इच्छा नहीं है। हे देवो ! आप लोगों से मैं यह सच्ची बात कहता हूँ।

किं मे भ्रातृविहीनस्य स्वर्गेण सुरसत्तमाः।
यत्र ते मम स स्वर्गो नायं स्वर्गो मतो मम ॥६॥

हे सुरश्रेष्ठगण ! अपने भाइयों से अलग रहकर मुझे इस स्वर्ग से भी क्या प्रयोजन है ? जहाँ मेरे भाई हैं, वहीं मेरा स्वर्ग है, उनके बिना मैं इस लोक को स्वर्ग नहीं मानता।

देवा ऊचुः

यदि वै तत्र ते श्रद्धा गम्यतां पुत्र मा चिरम्।
प्रिये हि तव वर्तामो देवराजस्य शासनात् ॥७॥

देवता बोले—वत्स ! यदि उन लोगों में तुम्हारी श्रद्धा है, तो तुम वहीं चले जाओ, विलम्ब मत करो। देवराज की आज्ञा से हम लोग हर प्रकार से तुम्हारा प्रिय करना चाहते हैं।

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा तं ततो देवा देवदूतमुपादिशन्।
युधिष्ठिरस्य सुहृदो दर्शयेति परन्तप ॥८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—शत्रुसन्तापक जनमेजय! युधिष्ठिर से ऐसा कहकर देवताओं ने देवदूत को आज्ञा दी—"तुम युधिष्ठिर को इनके सुहृदों के दर्शन कराओ।"

ततः कुन्तीसुतो राजा देवदूतश्च जग्मतुः।
सहितौ राजशार्दूल यत्र ते पुरुषर्षभाः ॥९॥

नृपश्रेष्ठ ! देवों द्वारा वैसी व्यवस्था कर देने पर कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर और देवदूत दोनों साथ-साथ उस स्थान की ओर चले, जहाँ वे पुरुषप्रवर भीमसेन आदि थे।

अग्रतो देवदूतश्च ययौ राजा च पृष्ठतः।
पन्थानमशुभं दुर्गं सेवितं पापकर्मभिः ॥१०॥

आगे-आगे देवदूत जा रहा था और उसके पीछे-पीछे युधिष्ठिर चल रहे थे। चलते-चलते वे दोनों ऐसे दुर्गम मार्ग पर जा पहुँचे, जो अत्यन्त अशुभ था। पापाचारी मनुष्य ही दुःख भोगने के लिए उसपर आते-जाते थे।

स तत्कुणपदुर्गन्धमशिवं लोमहर्षणम्।
जगाम राजा धर्मात्मा मध्ये बहु विचिन्तयन् ॥११॥

धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर मन-ही-मन बहुत चिन्ता करते हुए उसी मार्ग के मध्य से निकले, जहाँ सड़े मुर्दों की बदबू फैल रही थी तथा अमङ्गलकारी बीभत्स दृश्य दिखाई देता था। वह भयंकर मार्ग रोंगटे खड़े कर देनेवाला था।

स तं दुर्गन्धमालक्ष्य देवदूतमुवाच ह।
कियदध्वानमस्माभिर्गन्तव्यमिममीदृशम् ॥१२॥
क्व च ते भ्रातरो मह्यं तन्ममाख्यातुमर्हसि।
देशोऽयं कश्च देवानामेतदिच्छामि वेदितुम् ॥१३॥

वहाँ की दुर्गन्धि का अनुभव करके उन्होंने देवदूत से पूछा—"भैया ! ऐसे मार्ग पर अभी हम लोगों को कितनी दूर और चलना है ? तथा मेरे वे भाई कहाँ हैं ? यह सब तुम मुझे बताओ। देवों का यह कौन-सा देश है, यह भी मैं जानना चाहता हूँ।"

स सन्निववृते श्रुत्वा धर्मराजस्य भाषितम्।
देवदूतोऽब्रवीच्चैनमेतावद् गमनं तव ॥१४॥

धर्मराज का यह कथन सुनकर देवदूत लौट पड़ा और बोला—"बस, यहीं तक आपको आना था।

निर्वर्तितव्यो हि मया तथास्म्युक्तो दिवौकसैः।
यदि श्रान्तोऽसि राजेन्द्र त्वमथागन्तुमर्हसि ॥१५॥

"हे राजेन्द्र ! देवताओं ने मुझे कहा था कि जब युधिष्ठिर थक जाएँ, तब इन्हें वापस लौटा लाना, अतः अब मुझे आपको वापस ले चलना है। यदि आप थक गये हों तो मेरे साथ लौट चलिए।"

युधिष्ठिरस्तु निर्विण्णस्तेन गन्धेन मूर्च्छितः।
निवर्तने धृतमनाः पर्यावर्तत भारत ॥१६॥

भरतभूषण ! युधिष्ठिर वहाँ की दुर्गन्ध से घबरा गये थे। उन्हें मूर्च्छा-सी आने लगी थी, अतः उन्होंने मन-ही-मन लौट चलने का निश्चय किया और उस निश्चय के अनुसार वे वापस चल पड़े।

स संनिवृत्तो धर्मात्मा दुःखशोकसमाहतः।
शुश्राव तत्र वदतां दीना वाचः समन्ततः ॥१७॥

दुःख तथा शोक से पीड़ित हुए धर्मात्मा

युधिष्ठिर ज्यों ही वहाँ से लौटने लगे, त्यों ही उन्हें चारों ओर से पुकारनेवाले दीन-दुःखी मनुष्यों की दीन वाणी सुनाई पड़ी—

भो भो धर्मज राजर्षे पुण्याभिजन पाण्डव ।
अनुग्रहार्थमस्माकं तिष्ठ तावन्मुहूर्तकम् ॥१८॥

"हे धर्मनन्दन ! हे राजर्षे ! हे पवित्रकुल में उत्पन्न पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर ! आप हम लोगों पर कृपा करने के लिए दो घड़ी तक यहीं ठहरिए ।

सन्तिष्ठस्व महाबाहो मुहूर्तमपि भारत ।
त्वयि तिष्ठति कौरव्य यातनास्मान् न बाधते ॥१९॥

"महाबाहु भरतनन्दन ! हो सके तो दो घड़ीभर यहीं ठहर जाइए । कुरुनन्दन ! आपके यहाँ ठहरने से यहाँ की यातना हमें कष्ट नहीं दे रही है ।"

एवं बहुविधा वाचः कृपणा वेदनावताम् ।
तस्मिन् देशे स शुश्राव समन्ताद् वदतां नृप ॥२०॥

नरेश्वर ! इस प्रकार उस प्रदेश में कष्ट पानेवाले दुःखी प्राणियों के अनेक प्रकार के दीन वचन उन्हें चारों ओर से सुनाई देने लगे ।

तेषां तु वचनं श्रुत्वा दयावान् दीनभाषिणाम् ।
अहो कृच्छ्रमिति प्राह तस्थौ स च युधिष्ठिरः ॥२१॥

दीन वचन बोलनेवाले उन प्राणियों की बातें सुनकर दयालु राजा युधिष्ठिर वहीं खड़े हो गये । उनके मुख से सहसा निकल पड़ा, "अहो ! इन बेचारों को बड़ा कष्ट है ।"

स ता गिरः पुरस्ताद् वै श्रुतपूर्वाः पुनः पुनः ।
ग्लानानां दुःखितानां च नाभ्यजानत पाण्डवः ॥२२॥

अत्यन्त कष्ट और दुःख में पड़े हुए उन प्राणियों की वे ही पूर्व-सुनी हुई करुणाजनक बातें सामने की ओर से बारम्बार उनके कानों में पड़ने लगीं, तो भी वे पाण्डुकुमार उन्हें पहचान न सके ।

अबुध्यमानस्ता वाचो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
उवाच के भवन्तो वै किमर्थमिह तिष्ठथ ॥२३॥

उनकी उन बातों को पूर्णरूप से न समझकर धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने पूछा—"आप लोग कौन हैं और यहाँ किसलिए रहते हैं ?"

इत्युक्तास्ते ततः सर्वे समन्तादवभाषिरे ।
कर्णोऽहं भीमसेनोऽहमर्जुनोऽहमिति प्रभो ॥२४॥
नकुलः सहदेवोऽहं धृष्टद्युम्नोऽहमित्युत ।
द्रौपदी द्रौपदेयाश्च इत्येवं ते विचुक्रुशुः ॥२५॥

युधिष्ठिर के इस प्रकार पूछने पर वे सब चारों ओर से कहने लगे—प्रभो ! मैं कर्ण हूँ । मैं भीमसेन हूँ । मैं अर्जुन हूँ । मैं नकुल हूँ । मैं सहदेव हूँ । मैं धृष्टद्युम्न हूँ । मैं द्रौपदी हूँ और हम लोग द्रौपदी के पुत्र हैं ।" इस प्रकार वे सब लोग चिल्ला-चिल्लाकर अपना नाम बताने लगे ।

ता वाचः स तदा श्रुत्वा तद्देशसदृशीर्नृप ।
ततो विममृशे राजा किं त्विदं दैवकारितम् ॥२६॥

नरेश्वर ! उस समय उस देश के अनुरूप उन लोगों के उन वचनों को सुनकर राजा युधिष्ठिर मन-ही-मन विचार करने लगे—'दैव का यह कैसा विधान है ?'

किन्नु तत्कलुषं कर्म कृतमेभिर्महात्मभिः ।
कर्णेन द्रौपदेयैर्वा पाञ्चाल्या वा सुमध्यया ॥२७॥
य इमे पापगन्धेऽस्मिन् देशे सन्ति सुदारुणे ।
नाहं जानामि सर्वेषां दुष्कृतं पुण्यकर्मणाम् ॥२८॥

'मेरे इन महामना भाइयों ने, कर्ण ने, द्रौपदी के पाँचों पुत्रों ने अथवा स्वयं सुमध्यमा [सुन्दरी] द्रौपदी ने कौन-सा ऐसा पाप किया था, जिससे ये सब लोग इस दुर्गन्धपूर्ण भयंकर स्थान में निवास करते हैं ? इन सभी पुण्यकर्माओं ने कभी कोई पाप किया था, इसे मैं नहीं जानता ।

किं कृत्वा धृतराष्ट्रस्य पुत्रो राजा सुयोधनः ।
तथा श्रिया युतः पापैः सह सर्वैः पदानुगैः ॥२९॥

'धृतराष्ट्र का पुत्र राजा सुयोधन कौन-सा पुण्य-कर्म करके अपने सभी पापी सेवकोंसहित वैसी अद्भुत शोभा तथा ऐश्वर्य से संयुक्त हुआ है ?

महेन्द्र इव लक्ष्मीवानास्ते परमपूजितः ।
कस्येदानीं विकारोऽयं य इमे नरकं गताः ॥३०॥

'वह तो यहाँ अत्यन्त सम्मानित होकर महेन्द्र के समान राजैश्वर्य से सम्पन्न हुआ है । इधर यह किस कर्म का फल है कि ये मेरे सहोदर भाई नरक =दुःख में पड़े हुए हैं ?

सर्वधर्मविदः शूराः सत्यागमपरायणाः ।
क्षात्रधर्मरताः सन्तो यज्वानो भूरिदक्षिणाः ॥३१॥

'मेरे भाई सम्पूर्ण धर्म के जाननेवाले, शूरवीर, सत्यवादी और शास्त्र के अनुकूल चलनेवाले थे। इन्होंने क्षत्रिय धर्म में स्थिर रहकर बड़े-बड़े यज्ञ किये और प्रचुर दक्षिणाएँ दी हैं [फिर इनकी ऐसी दुर्गति क्यों हुई ?]

किन्नु सुप्तोऽस्मि जागर्मि चेतयामि न चेतये।
अहो चित्तविकारोऽयं स्याद्वा मे चित्तविभ्रमः ॥३२॥

'क्या मैं सो रहा हूँ या जाग रहा हूँ ? मुझे चेत है अथवा नहीं ? अहो ! यह मेरे चित्त का विकार तो नहीं है ? अथवा हो सकता है यह मेरे मन का ही भ्रम हो !'

एवं बहुविधं राजा विममर्श युधिष्ठिरः।
दुःखशोकसमाविष्टश्चिन्ताव्याकुलितेन्द्रियः ॥३३॥

दुःख तथा शोक के आवेश से युक्त हो राजा युधिष्ठिर इस प्रकार अनेकविध विचार करने लगे। उस समय उनकी सारी इन्द्रियाँ चिन्ता से व्याकुल हो गई थीं।

क्रोधमाहारयच्चैव तीव्रं धर्मसुतो नृपः।
देवांश्च गर्हयामास धर्मं चैव युधिष्ठिरः ॥३४॥

धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर के मन में तीव्र रोष जाग उठा। वे देवताओं और धर्म को कोसने लगे।

स तीव्रगन्धसन्तप्तो देवदूतमुवाच ह।
गम्यतां तत्र येषां त्वं दूतस्तेषामुपान्तिकम् ॥३५॥
न ह्यहं तत्र यास्यामि स्थितोऽस्मीति निवेद्यताम्।
मत्संश्रयादिमे दूत सुखिनो भ्रातरो हि मे ॥३६॥

फिर उन्होंने वहाँ की दुःसह दुर्गन्ध से सन्तप्त होकर देवदूत से कहा—"दूत ! तुम जिनके दूत हो उनके पास लौट जाओ। मैं वहाँ नहीं चलूँगा। मैं यहीं ठहर गया हूँ, अपने स्वामियों को इसकी सूचना दे दो। मेरे यहाँ ठहरने का कारण यह है कि मेरे यहाँ रहने से मेरे इन दुःखी भाई-बन्धुओं को सुख मिलता है।"

इत्युक्तः स तदा दूतः पाण्डुपुत्रेण धीमता।
जगाम तत्र यत्रास्ते देवराजः शतक्रतुः ॥३७॥

बुद्धिमान् पाण्डुपुत्र के ऐसा कहने पर देवदूत उस समय उस स्थान को चला गया, जहाँ सौ यज्ञों का अनुष्ठान करनेवाले देवराज इन्द्र विराजमान थे।

तच्च निवेदयामास धर्मराजचिकीर्षितम्।
यथोक्तं धर्मपुत्रेण सर्वमेव जनाधिप ॥३८॥

प्रजेश्वर ! दूत ने वहाँ पहुँचकर युधिष्ठिर की कही हुई सारी बातें कह सुनाईं और यह भी निवेदन कर दिया कि वे क्या करना चाहते हैं।

इति महाभारते स्वर्गारोहणपर्वणि द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

तृतीयोऽध्यायः

इन्द्र तथा धर्म का युधिष्ठिर को सान्त्वना प्रदान करना

वैशम्पायन उवाच

स्थिते मुहूर्तं पार्थे तु धर्मराजे युधिष्ठिरे।
आजग्मुस्तत्र कौरव्य देवाः शक्रपुरोगमाः ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुन्तीकुमार धर्मराज युधिष्ठिर को उस स्थान पर ठहरे हुए अभी दो ही घड़ी व्यतीत हुई थी कि इन्द्र आदि समस्त देवता वहाँ आ गये।

ततः सुरपतिः शक्रः श्रिया परमया युतः।
युधिष्ठिरमुवाचेदं सान्त्वपूर्वमिदं वचः ॥२॥

वहाँ आकर उत्तम शोभा से सम्पन्न देवराज इन्द्र ने युधिष्ठिर को सान्त्वना प्रदान करते हुए इस प्रकार कहा—

एह्येहि पुरुषव्याघ्र कृतमेतावता विभो।
सिद्धिः प्राप्ता महाबाहो लोकाश्चाप्यक्षयास्तव ॥३॥

"पुरुषसिंह ! प्रभो ! अबतक जो हुआ सो हुआ। अब अधिक कष्ट उठाने की आवश्यकता नहीं है। आओ, हमारे साथ चलो। तुम्हें बहुत बड़ी सिद्धि और अक्षयलोकों की प्राप्ति हुई है।

न च मन्युस्त्वया कार्यः शृणु चेदं वचो मम।
अवश्यं नरकस्तात द्रष्टव्यः सर्वराजभिः ॥४॥

"तात ! मेरी बात सुनो ! तुम्हें जो नरक देखना

पड़ा है, उसके लिए क्रोध मत करो। सभी राजाओं को निश्चय ही नरक देखना पड़ता है।

शुभानामशुभानां च द्वौ राशी पुरुषर्षभ ।□
यः पूर्वं सुकृतं भुंक्ते पश्चान्निरयमेव सः ॥५॥

"पुरुषश्रेष्ठ ! मनुष्य के जीवन में शुभ और अशुभ [पुण्य और पाप] कर्मों की दो राशियाँ सञ्चित होती हैं। जो पहले शुभकर्मों का फल भोग लेता है, उसे पीछे नरक में ही जाना पड़ता है।

पूर्वं नरकभाग्यस्तु पश्चात्स्वर्गमुपैति सः ।
भूयिष्ठं पापकर्मा यः स पूर्वं स्वर्गमश्नुते ॥६॥□

"परन्तु जो पहले नरक भोग लेता है, वह पीछे स्वर्ग में जाता है। जिसका पापकर्मों का संग्रह अधिक होता है, वह पहले स्वर्ग भोगता है।

तेन त्वमेवं गमितो मया श्रेयोऽर्थिना नृप ।
व्याजेन हि त्वया द्रोण उपचीर्णः सुतं प्रति ।
व्याजेनैव ततो राजन् दर्शितो नरकस्तव ॥७॥

"राजन् ! मैंने तुम्हारे कल्याण की इच्छा से तुम्हें नरक का दर्शन कराने के लिए यहाँ भेज दिया था। नरेश्वर ! तुमने गुरुपुत्र अश्वत्थामा के विषय में छल का आश्रय लेकर द्रोणाचार्य को उनके पुत्र की मृत्यु का विश्वास दिलाया था, अतः तुम्हें भी छल से ही नरक दिखाया गया है।

यथैव त्वं तथा भीमस्तथा पार्थो यमौ तथा ।
द्रौपदी च तथा कृष्णा व्याजेन नरकं गताः ॥८॥

"जिस प्रकार तुम यहाँ लाये गये थे, उसी प्रकार भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव तथा द्रुपदकुमारी कृष्णा—ये सभी छल से नरक के निकट लाये गये थे।

आगच्छ नरशार्दूल मुक्तास्ते चैव कल्मषात् ।
स्वपक्ष्याश्चैव ये तुभ्यं पार्थिवा निहता रणे ।
सर्वे स्वर्गमनुप्राप्तास्तान् पश्य भरतर्षभ ॥९॥

"पुरुषसिंह ! आओ, [दण्ड भोग लेने के कारण] ये सभी पाप से मुक्त हो गये हैं। भरतभूषण ! तुम्हारे पक्ष के जो-जो राजा युद्ध में मारे गये थे, वे सभी स्वर्गलोक में आ पहुँचे हैं। चलो, उनका दर्शन करो।

कृच्छ्रं चानुभूय पूर्वमितः प्रभृति कौरव ।
विहरस्व मया सार्धं गतशोको निरामयः ॥१०॥

"कुरुनन्दन ! पहले कष्ट का अनुभव करके अब से तुम मेरे साथ रहकर रोग और शोक से रहित हो स्वच्छन्द विहार करो।"

एवं ब्रुवति देवेन्द्रे कौरवेन्द्रं युधिष्ठिरम् ।
धर्मो विग्रहवान् साक्षादुवाच सुतमात्मनः ॥११॥

देवराज इन्द्र जब इस प्रकार कह रहे थे, उसी समय शरीर धारण करके[1] आये हुए साक्षात् धर्म ने अपने पुत्र कौरवराज युधिष्ठिर से कहा—

धर्म उवाच

भो भो राजन् महाप्राज्ञ प्रीतोऽस्मि तव पुत्रक ।
मद्भक्त्या सत्यवाक्यैश्च क्षमया च दमेन च ॥१२॥

धर्म ने कहा—महाप्राज्ञ नरेश ! मेरे पुत्र ! तुम्हारे धर्मविषयक अनुराग, सत्यभाषण, क्षमा और इन्द्रिय-संयम आदि गुणों से मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ।

एषा तृतीया जिज्ञासा तव राजन् कृता मया ।
न शक्यसे चालयितुं स्वभावात् पार्थ हेतुतः ॥१३॥

राजन् ! यह मैंने तीसरी बार तुम्हारी परीक्षा ली थी। पार्थ ! किसी भी युक्ति से कोई भी तुम्हें अपने स्वभाव से विचलित नहीं कर सकता।

पूर्वं परीक्षितो हि त्वं प्रश्नाद् द्वैतवने मया ।
अरणीसहितस्यार्थे तच्च निस्तीर्णवानसि ॥१४॥

द्वैतवन में अरणिकाष्ठ का हरण करने के पश्चात् जब यक्ष के रूप में मैंने तुमसे अनेक प्रश्न किये थे, वह मेरे द्वारा तुम्हारी पहली परीक्षा थी। उसमें तुम भली-भाँति उत्तीर्ण हो गये।

सोदर्येषु विनष्टेषु द्रौपद्या तत्र भारत ।
श्वरूपधारिणा तत्र पुनस्त्वं मे परीक्षितः ॥१५॥

भरतभूषण ! फिर द्रौपदीसहित तुम्हारे सभी भाइयों की मृत्यु हो जाने पर कुत्ते का रूप धारण करके मैंने दूसरी बार तुम्हारी परीक्षा ली थी। उसमें भी तुम सफल हुए।

---

[1] धर्म कोई मनुष्य नहीं है जो कभी कुत्ते का रूप धारण कर लेता है, कभी यक्ष का और कभी मनुष्य का। यह तो बात को समझाने के लिए काव्यमयी शैली है।

इदं तृतीयं भ्रातॄणामर्थे यत्स्थातुमिच्छसि ।
विशुद्धोऽसि महाभाग सुखी विगतकल्मषः ॥१६॥

अब यह तुम्हारी परीक्षा का तीसरा अवसर था, परन्तु इस बार भी तुम अपने सुख की परवाह न करके अपने भाइयों के कल्याण के लिए नरक में रहना चाहते थे, अतः महाभाग ! तुम इस परीक्षा में भी विशुद्ध प्रमाणित हुए । तुममें पाप का लेश भी नहीं है । तुम सदा सुखी होओ ।

न च ते भ्रातरः पार्थ नरकार्हा विशाम्पते ।
मायैषा देवराजेन महेन्द्रेण प्रयोजिता ॥१७॥[1]

प्रजेश्वर ! पार्थ ! तुम्हारे भाई नरक में रहने के योग्य नहीं हैं । तुमने जो इन्हें नरक भोगते देखा है, वह तो देवराज इन्द्र द्वारा प्रकट की हुई माया थी ।

एह्येहि भरतश्रेष्ठ धर्मराजयुधिष्ठिर ।
यत्र ते पुरुषव्याघ्राः शूरा विगतकल्मषः ।
तिष्ठन्ति भ्रातरः सर्वे पुण्यात्मानः परन्तपाः ॥१८॥

भरतभूषण ! धर्मराज युधिष्ठिर ! आओ, अब हम वहाँ चलें जहाँ पापरहित, तपस्वी पुरुषसिंह, शूरवीर तुम्हारे सभी भाई निवास कर रहे हैं ।

वैशम्पायन उवाच

ततो युधिष्ठिरो राजा देवैः सर्षिमरुद्गणैः ।
स्तूयमानो ययौ तत्र यत्र ते कुरुपुङ्गवाः ॥१९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तत्पश्चात् देवों, ऋषियों और मरुद्गणों से प्रशंसित होते हुए राजा युधिष्ठिर उस स्थान पर जा पहुँचे जहाँ कुरुश्रेष्ठ भीम और अर्जुन आदि विराजमान थे ।

एतत्ते सर्वमाख्यातं विस्तरेण महाद्युते ।
कुरूणां चरितं कृत्स्नं पाण्डवानां च भारत ॥२०॥

महातेजस्वी भरतनन्दन ! यह सारा प्रसङ्ग—कौरवों और पाण्डवों का सम्पूर्ण चरित्र—सारा इतिहास तुम्हें विस्तारपूर्वक सुनाया गया है ।

इति महाभारते स्वर्गारोहणपर्वणि तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

चतुर्थोऽध्यायः

महाभारत का महत्त्व और उपसंहार

सौतिरुवाच

पुण्योऽयमितिहासाख्यः पवित्रं चेदमुत्तमम् ।
कृष्णेन मुनिना विप्र निर्मितं सत्यवादिना ॥१॥

सौति कहते हैं—ब्रह्मन् ! सत्यवादी मुनिवर व्यासजी द्वारा लिखित यह पुण्यमय इतिहास परम पवित्र और अत्युत्तम है ।

भरतानां महज्जन्म तस्माद् भारतमुच्यते ।
महत्त्वाद् भारवत्त्वाच्च महाभारतमुच्यते ॥२॥

इस ग्रन्थ में भरतवंशियों के महान् जन्म-कर्म का वर्णन है, अतः इसे महाभारत कहते हैं । महान् एवं भारी होने के कारण भी इसे महाभारत कहा है ।

त्रिभिर्वर्षैरिदं पूर्णं कृष्णद्वैपायनः प्रभुः ।
अखिलं भारतं चेदं चकार भगवान् मुनिः ॥३॥

मुनिवर भगवान् कृष्णद्वैपायन व्यासजी ने तीन वर्षों में इस सम्पूर्ण महाभारत का लेखन-कार्य पूर्ण किया था ।

आकर्ण्य भक्त्या सततं जयाख्यं भारतं महत् ।
श्रीश्च कीर्तिस्तथा विद्या भवन्ति सहिताः सदा ॥४॥

जो मनुष्य जय नामक इस महाभारत इतिहास को सदा भक्तिपूर्वक सुनता है, उसके यहाँ श्री, कीर्ति तथा विद्या—ये तीनों साथ-साथ रहती हैं ।

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न कुत्रचित् ॥५॥

भरतभूषण ! धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के विषय में जो कुछ महाभारत में कहा गया है, वही अन्यत्र है । जो इसमें नहीं है, वह कहीं नहीं है ।

जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो मोक्षमिच्छता ।
ब्राह्मणेन च राज्ञा च गर्भिण्या चैव योषिता ॥६॥

मोक्ष की इच्छा रखनेवाले ब्राह्मण को, राज्य चाहनेवाले क्षत्रिय को और वीर तथा श्रेष्ठ पुत्र की इच्छा रखनेवाली गर्भिणी स्त्री को इस 'जय' नामक इतिहास का श्रवण करना चाहिए ।

स्वर्गकामो लभेत्स्वर्गं जयकामो लभेज्जयम् ।
गर्भिणी लभते पुत्रं कन्यां वा बहुभागिनीम् ॥७॥

---

[1] इस श्लोक से यह स्पष्ट है कि लोक में स्वर्ग और नरक की जो कल्पना है वह सब सर्वथा मिथ्या है ।

महाभारत का श्रवण अथवा पाठ करनेवाला मनुष्य यदि स्वर्ग=सुखविशेष की इच्छा करे तो उसे स्वर्ग मिलता है और युद्ध में विजय पाना चाहे तो विजयश्री उसके चरण चूमती हैं। इसी प्रकार गर्भिणी स्त्री को महाभारत के श्रवण से सुयोग्य पुत्र अथवा सौभाग्यशालिनी कन्या की प्राप्ति होती है।

महर्षिर्भगवान् व्यासः कृत्वेमां संहितां पुरा।
श्लोकैश्चतुर्भिर्द्वैपायन् पुत्रमध्यापयच्छुकम् ॥८॥

महर्षि भगवान् कृष्णद्वैपायन व्यासजी ने पहले इस संहिता [महाभारत] की रचना करके इसे अपने पुत्र शुकदेव को चार श्लोकों में पढ़ाया था। [वे चार श्लोक हैं—]

मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च।□
संसारेष्वनुभूतानि यान्ति यास्यन्ति चापरे ॥९॥

"मनुष्य इस संसार में सहस्रों माता-पिताओं और सैकड़ों स्त्री-पुत्रों के संयोग-वियोग का अनुभव कर चुके हैं, करते हैं और करते रहेंगे।

हर्षस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च।□
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥१०॥

"मूर्ख मनुष्य को प्रतिदिन हर्ष के सहस्रों और भय के सैकड़ों अवसर प्राप्त होते रहते हैं, परन्तु विद्वान् पुरुष के मन पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।□
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते ॥११॥

"मैं दोनों भुजाएँ ऊपर उठाकर पुकार-पुकारकर कह रहा हूँ परन्तु मेरी बात कोई नहीं सुनता। धर्म से मोक्ष तो सिद्ध होता ही है, अर्थ और काम भी सिद्ध होते हैं, फिर भी लोग उसका सेवन क्यों नहीं करते?

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।□
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ॥१२॥

"कामना से, भय से, लोभ से अथवा प्राणों की रक्षा के लिए भी धर्म का त्याग न करे। धर्म नित्य है और सुख-दुःख अनित्य। इसी प्रकार जीव नित्य है और उसके बन्धन-हेतु शरीर आदि अनित्य हैं।"

इमां भारतसावित्रीं प्रातरुत्थाय यः पठेत्।
स भारतफलं प्राप्य परं ब्रह्माधिगच्छति ॥१३॥

यह [उपर्युत चार श्लोक] महाभारत का सारभूत उपदेश 'भारत-सावित्री' के नाम से प्रसिद्ध है। जो प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर इसका पाठ करता है, वह सम्पूर्ण महाभारत के अध्ययन का फल पाकर परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

यथा समुद्रो भगवान् यथा हि हिमवान् गिरिः।
उभौ रत्ननिधीख्यातौ तथा भारतमुच्यते ॥१४॥

जैसे ऐश्वर्यशाली समुद्र और हिमालय पर्वत, दोनों ही रत्नों की निधि कहे गये हैं, वैसे ही महाभारत भी नाना प्रकार के उपदेशमय रत्नों का अपार भण्डार कहलाता है।

इदं भारतमाख्यानं यः पठेत् सुसमाहितः।
स गच्छेत्परमां सिद्धिमिति मे नास्ति संशयः ॥१५॥

जो भली-भाँति एकाग्रचित्त होकर इस भारत-आख्यान का पाठ करता है, वह मोक्षरूप परमसिद्धि को प्राप्त कर लेता है, इस विषय में मुझे कोई संशय नहीं है।

द्वैपायनोष्ठपुटनिःसृतमप्रमेयं
पुण्यं पवित्रमथ पापहरं शिवं च।
यो भारतं समधिगच्छति वाच्यमानं
किं तस्य पुष्करजलैरभिषेचनेन ॥१६॥

जो मनुष्य वेदव्यासजी के मुख से निकले हुए इस अप्रमेय [अतुलनीय], पुण्यकारक, पवित्र, पापों का हरण करनेवाले [इसकी दिव्य शिक्षाओं से भविष्य में पाप करने से मनुष्य बच जाएगा] और कल्याणमय महाभारत को दूसरों के मुख से सुनता है, उसे पुष्करतीर्थ के जल में गोता लगाने की क्या आवश्यकता है?

इति महाभारते स्वर्गारोहणपर्वणि चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

॥ इति स्वर्गारोहणपर्व सम्पूर्णम् ॥

॥ इति महाभारतं समाप्तम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां परमविदुषां श्रीवेदानन्द-[दयानन्द]-तीर्थस्वामिनां शिष्येण परमहंस-जगदीश्वरानन्दसरस्वतीस्वामिनानूदितो भगवतीभाष्येण समलंकृतः समाप्तश्चायं ग्रन्थः ॥

महाभारत अध्याय : श्लोकसंख्या सूची

क्रमसंख्या	पर्वनाम	अध्याय	श्लोक संख्या
१.	आदिपर्व	३६	१६६२
२.	सभापर्व	१९	९४३
३.	वनपर्व	२५	१०२८
४.	विराटपर्व	१६	७९०
५.	उद्योगपर्व	३७	१४५९
६.	भीष्मपर्व	३०	१३३०
७.	द्रोणपर्व	४४	१५५४
८.	कर्णपर्व	२७	८८९
९.	शल्यपर्व	२४	८४१
१०.	सौप्तिकपर्व	८	३१६
११.	स्त्रीपर्व	६	२७२
१२.	शान्तिपर्व	६३	२०९०
१३.	अनुशासनपर्व	३३	८२०
१४.	आश्वमेधिकपर्व	११	५०३
१५.	आश्रमवासिकपर्व	८	३६८
१६.	मौसलपर्व	५	१६७
१७.	महाप्रस्थानिकपर्व	३	८४
१८.	स्वर्गारोहणपर्व	४	९२
		३९९	१५,२०८

कुल अध्याय संख्या = ३९९

कुल श्लोक संख्या = १५,२०८

महाभारतश्लोकानुक्रमणिका

श्लोकानुक्रमणिका में पहला अंक पर्व का है, दूसरा अध्याय का और तीसरा श्लोक का। उदाहरणार्थ १३-१-२५ से तात्पर्य है अनुशासनपर्व, पहला अध्याय और पच्चीसवां श्लोक। पर्वों की संख्या बाएँ पृष्ठ पर अंकित है।

अ

अकरोद् यदयं कर्म १३-१-२५
अकरोन्मयि यत् पापं ५-३०-२६
अकर्मणां वै भूतानां ३-४-५३
अकर्मशीलं च महाशरं च ५-११-४६
अकल्पयन्त च मातङ्गः ९-४-३
अकस्माच्चैव पार्थानां ५-२३-१३
अकस्मादेव कुप्यन्ति ५-११-१०
अकस्माद् द्वेष्टि वै ५-२३-१२
अकस्मान्मां प्रशसन्ति ४-७-४७
अकामयानेन मया विविशिखैः ७-२२-१५
अकामं त्वां करिष्यामि १४-४-१९
अकामानां च सर्वेषां २-१७-२०
अकामान् कामयति यः ५-८-२४
अकायश्चाल्पसारश्च १२-३३-२५
अकार्पण्यमसंरम्भः ५-१६-५, १२-३६-२३
अकार्यमसकृत् कृत्वा १३-२९-६
अकार्यमिति चैवेमं १२-४७-१७
अकार्यं ते कृतं राजन् ४-१५-४७
अकार्याणां क्रियाणां च ८-१५-२४
अकालमृत्युर्विश्वासः १२-२४-१०
अकाले कृत्यमारब्ध १२-३५-८७
अकाले विप्रमुक्तान्मे १२-३५-८८
अकिञ्चनाश्च दृश्यन्ते ११-१०-२१
अकीर्ति विनयो हन्ति २-१२-२८
अकृतं द्रोणभीष्माभ्यां ८-७-७
अकृतेनैव कार्येण ५-३२-२
अकृत्वा कर्म यो लोके १०-१-४३
अकृत्वा मानुषं कर्म १३-३-१७
अकृत्वा वचनं तात ५-२५-३
अकृत्वा संविदं कश्चित् १२-३५-११२
अकोशस्यासहायस्य ५-२८-५०
अक्रोधनः क्रुध्यतां १२-६१-१४
अक्रोधनः सत्यवादी १३-१७-१२
अक्रोधना धर्मपराः १३-७-१२
अक्रोधनो अव्यसनी १२-१५-२२
अक्रोधः सत्यवचनं १२-१७-६, १३-११-८
अक्रोधेन जयेत् ५-१२-४७
अक्षतान् कुरुपाञ्चालान् ५-७-१०
अक्षद्यूते तु भगवन् ३-९-१७
अक्षद्यूते समाह्वानं २-१७-३०
अक्षमायाः क्षमायाश्च १२-४०-१२
अक्षमा ह्री परित्यागः १२-३९-५
अक्षयो नरकः केन ३-२४-६८
अक्षानाहर सैरन्ध्रि ४-१५-१८
अक्षैर्हि शिक्षितोऽभ्येति २-१२-२९
अक्षोभ्यत्वेऽर्ण १-३-६
अक्षोभ्योऽयमभेद्यश्च ६-२-४४
अक्षौहिणीनां सर्वासां ९-१-२०
अक्षौहिणीर्महाबाहुः ११-५-२५
अक्षौहिण्यः समेतास्तु ९-१२-१०
अक्षौहिण्यो दर्शका च ६-२-४०, ७-९-११
अक्षौहिण्यो हि मे राजन् ५-१५-१०
अखादन्ननुमोदंश्च १३-२१-३१
अगच्छत् पर्वतं पुण्यं ३-६-१२
अगदस्याप्यघुनषो ५-१४-२२
अगदं वोऽस्तु भद्रं २-१८-१५
अगमच्च वनो १-२४-२
अगम्यागमनं चैव १२-१८-४५
अगर्वितात्मा युक्तश्च १-२०-३८
अगाधाश्चाप्रतिष्ठाश्च १२-५७-६
अगाधे विमले शुद्धे १३-१६-३
अगाधे सलिले मग्नां ६-२-१०
अग्निमध्ये प्रविष्टं ११-३८-६४
अग्निमाधाय विधिवत् १३-९-२१
अग्निरात्मा च माता च १२-६०-३७
अग्निहोत्रफला वेदा २-२-६६
अग्निहोत्रं पुरस्कृत्य १५-४-४४
अग्नीन् प्रदीक्षिणीकृत्य ४-२-२४
अग्नेर्दुर्धर्षता १२-६३-७६
अग्नौ प्रक्षिप्यतामेष १३-१-१०
अग्नौ प्रस्तं तु पुरुषं ५-१२-६४
अग्न्याधानेन यज्ञेन १-२०-१७
अग्रजामथ तां कन्यां १-९-३
अग्रतः सूतपुत्रस्तु ४-१३-२३
अग्रतो देवदूतश्च १८-२-१०
अग्रपादस्थितं चेयं १५-६-१०
अघोषयंश्च नगरे १६-१-१५
[illegible] १२-५१-४
अङ्कयामास वत्सांश्च ३-१७-३
अङ्को कुरुष्व राजानं ५-१६-२३
अङ्गमेतन्महद् राज्ये १२-२७-४०
अङ्गराज्यं च १-१७-४२

अङ्गादङ्गात् सम्भवसि १-३-८७
अङ्गारपर्णं गन्धर्वं १-२९-२९
अङ्गारपर्णस्तत् श्रुत्वा १-२९-३४
अचिन्तयन्महाबाहुः ७-१८-५
अचिन्तयंश्च जननी १५-६-१
अचिन्तय शरवर्षं तु ३-१७-३९
अचीर्णब्रह्मचर्यो यद् १०-८-८
अचोद्यमानानि यथा १३-४-११
अच्युताच्युत मा मैवं २-४-३७
अजातशत्रुमासीनं ३-२३-८
अजातशत्रुश्च कुरुप्रवीरः १-३१-४०
अजातशत्रुस्तत् श्रुत्वा ३-१८-५४
अजातशत्रुस्तु विहाय पापं ५-७-३०
अजातशत्रो धर्मेण १२-८-२
अजातशत्रो भद्रं ते २-१६-२१, ३२;
१५-७-३७
अजातशत्रोर्वचनं ३-१८-१५
अजातशत्रौ तु जिते ३-१६-११
अजानतस्ते आधेय ३-१९-१२
अजावय इवागोपा ७-१-९
अजिनानि प्रवेणीश्च १५-७-१९
अजिनानि विधुन्वन्तः १-३१-१०
अजिनै संवृतान् २-१७-४८
अजिह्ममशठं ५-१६-६
अजेयश्चाप्यसौ वीरो ९-३-३७
अजेयान् पाण्डवान् मन्ये ७-२४-१२
अजेयाश्च रणे पार्था ७-२६-३६
अजेयो ह्यर्जुनः १-३३-२३
अजेयौ समरे वृद्धौ ५-३६-१२
अज्ञातवासवासार्थं ३-२५-१५
अज्ञातवासं घोरं च ५-४-१९
अज्ञातवासो वस्तव्यो [illegible]-८-३९
अज्ञानतिमिरा १-१-६
अज्ञानप्रभवो मोहः १२-४१-८
अज्ञानप्रभवो लोभो १२-४१-१३
अज्ञानसागरो घोरो १२-६३-१६
अज्ञानाद् यत् कृतं १३-१३-१२
अज्ञानान्निरयं १२-३९-१०
अज्ञानेनाकृतो ३-२३-४९
अज्ञानेनावृतो लोको १२-६१-३१
अञ्जनं रोचनां चैव १३-२३-१४
अञ्जलिं शपथं १२-३७-१४
अञ्जलिः शपथः १-२०-३६
अण्डेभ्यस्त्वथ पुष्टेभ्यः १२-५०-२२
अतत्त्वज्ञस्य शास्त्राणां १२-५८-१
अतत्त्वज्ञोऽसि बालश्च १२-४५-२३
अतन्द्रितश्च प्रायेण २-४-५
अतर्पयत् ततः पार्थः ६-२६-१६
अतस्तेषां गुणानेव १-३३-१८
अतस्त्वां क्लीबवद् ६-४-२२
अतः कष्टतरं किं १-२४-१३
अतः परं महाबाहो १२-६०-१
अतः पापमधर्मश्च १२-३९-३
अतः प्रियं चेदनुकांक्षसे २-१३-२९
अतः सृष्टमिदं ब्रह्मन् १०-८-१५
अतिक्रान्ते हि कौन्तेय ७-१२-४
अतिक्रामति कालेऽस्मिन् १२-४४-१
अतिक्रामेन्मज्जमानो १२-६०-४६
अतिक्लेशान् सहे चात्र १२-४५-२६
अतिच्छन्दातिवादाभ्यां १३-२२-७
अतिथिर्यस्य भग्नाशो १२-४९-७
अतिथिः सर्वभूतानामग्निः ३-२४-३३
अतिथीनन्नपानेन १४-१-११
अतिथीनागतान्साधून् १-३२-५८
अतिथीनां १२-४९-१५, १३-२८-२५
अति दानानि सर्वाणि १३-१४-५०
अतिधर्माद् बलं मन्ये १२-६३-४२
अतिभारं च पश्यामि ६-२०-३७
अतिभारोऽयमायुष्मन् ७-६-२८
अतिभीरुमतिक्लीब ३-१९-६०
अतिभुक्तं च भवता १७-२-२५
अतिमानोऽतिवादश्च ५-११-३५
अतिवादाद् वदाम्येष ३-४-४५
अतिवादांस्तितिक्षेत १२-५६-६
अतिवेलं महाराज १२-१०-११
अतिवेलं हि योऽर्थार्थी ३-५-१२
अतिहर्षमिमं प्राप्तं ७-३४-८
अतिहर्षोऽयमस्थाने ७-३४-५
अतीतदिवसे वृत्तं १२-२८-५
अतीतास्वथ वर्षासु १२-५०-१८
अतीत्य वा महाबाहुः ११-३-१८
अतीत्य सर्वान् पुत्रांस्ते ५-९-५०
अतीव पाण्डवो भीष्मं ४-१४-१९
अतीव मनसा शोकः १४-१९
अतृणे पतितो वह्निः ५-८-३९
अतृप्यन्तस्तु साधूनां १३-२८-५
अतृप्यमानो निर्वेदं १२-५४-१७
अतो दुःखतरं किं नु ११-५-९
अतोऽन्यथा क्रियते १-३३-४५, ५८
अतोऽन्यथा रथिना ५-६-४५
अतोन्यथा वर्तमानाः १३-२१-७
अतो भयं व्यतीते मे ४-१२-५२
अतोऽहमपि वक्ष्यामि ४-२-३
अत्यद्भुतमिदं पार्थ ८-१२-२९
अत्यन्तवनवासाय ६-१६-१४.
अत्यन्तसुखसंवृद्धं ७-६-८९
अत्यन्तं वा निगूढास्ते ४-६-१७
अत्यार्यमतिदातारम् ५-१२-४१
अत्र क्रोधविषं पार्थं ७-१५-५
अत्र ते वर्णयिष्यामि ३-९-२६, १३-५-२
अत्र ते वर्तयिष्यामि ११-२-१८,
१२-३७-२, १२-५३-४, १२-५९-२,
१२-६०-३, १३-१६-१८
अत्र ते वर्तयिष्ये १२-६१-२
अत्र तेऽहं प्रवक्ष्यामि १३-१७-४
अत्र ते हृदयं १-३-६७
अत्र या मामिका बुद्धिः ४-१३-१७
अत्र शूरा महेष्वासा ६-३-४
अत्राप्युदाहरन्तीमं ५-२८-८, १२-८-६,
१२-११-७, १२-१८-१८,
१२-३३-२२, १२-३५-३९,
१२-३७-३, १२-४३-३, १२-४४-२,
१२-४५-४, १२-४६-१, १२-४७-३,
१२-५०-१४, १२-५१-१, १२-५२-२,
१२-५५-३, १२-५७-२, १३-१-६,
१३-२-२, १३-३-२, १३-९-२,
१३-२२-२

अत्रेमा द्वादश समा ३-३-६
अत्रैतदाहुचार्याः १२-३४-१३
अत्रैवोदाहरन्तीमं १२-४६-३
अथ कदाचित् वराह ३-६-२८
अथ कर्णास्त्रमस्त्रेण ८-४-२०
अथ कर्णो महाराज ८-११-२५
अथ काकस्य चित्राणि ८-८-५०
अथ काकाः प्रजहसुर्ये ८-८-४८
अथ काशिपतेर्भीष्मः १-६-१२
अथ कृष्णोऽप्यसम्भ्रान्तः ७-११-१४
अथ कृष्णो महाबाहु ७-२०-३२
अथकोशाद् विनिष्कृष्य ७-२०-३५
अथ कोसलराजस्तु विरथः ७-६-९९
अथ गावल्गणिर्विद्वान् ६-२-१
अथ चेत् ते प्रवर्तन्ते ५-१७-३०
अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं ६-३-५३
अथ चेत् प्रतिगृह्णीयुः १३-१४-३५
अथ जिष्णुरुपाकृत्य ४-१४-१६
अथ तत्रापि चान्योऽस्य ११-२-२८
अथ तत्रोपाविष्टेषु २-२-१
अथ तस्मादवरजं १-१३-१४
अथ तं भग्नसर्वाङ्ग ४-७.६५
अथ तं रथमायान्तं ८-९-८
अथ तं स्नायुपाशेन १३-१-८
अथ तान्व्यथितान्दृष्ट्वा १-२३-५७
अथ तान् समभिप्रेक्ष्य ६-४-६४
अथ तावापि सन्त्रस्तो १२-३५-१०५
अथ ते धर्ममुत्सृज्य ५-५-२८
अथ तौ नित्यसंहृष्टौ १-१६-२३
अथ त्वरन् कर्णवधाय ८-२६-२५
अथ त्वाज्ञापयामास १-३३-५
अथ दर्पान्वितो मोहात् ५-२-९
अथ दीर्घेण कालेन १-३५-१
अथ दुर्योधनस्तत्र १-१७-१३
अथ दुर्योधनं दृष्ट्वा ६-१३-१७
अथ दुर्योधनं राजा ५-२७-१८
अथ दुर्योधनः कर्णं ७-६-५०
अथ दुर्योधनः कर्णः २-१७-५
अथ दुर्योधनो राजा ३-१७-१, ४-१३-१, ७-३२-१९, ७-३८-६,
अथ देवाः समागम्य १२-१८-६०
अथ द्रोणः कुमारांस्तान् १-१४-३४
अथ द्रोणोऽब्रवीत् तत्र ५-२५-५
अथ धर्मार्थविद् १-२९-१९
अथ नः सैनिकाः ३-१९-१६
अथ पाण्डुसुतानेकः ६-११-२३
अथ पाण्डून् कुरूंश्चैव ६-२८-२
अथ पारशवीं कन्यां १-९-३०
अथ प्रवाते तुमुले १-२३-३५
अथ बन्धपरिक्लिष्टो १२-३५-८१
अथ भीमस्तु तत् श्रुत्वा ७-१९-१०
अथ भीष्मो महास्त्राणि ६-५-४४
अथ मत्स्योऽब्रवीद् ४-१०-१५
अथ मानयितुर्दाम्नः १२-२८-४०
अथ मासे चतुर्थे तु ४-४-४
अथ मुक्ता भयात् ४-८-३०
अथ यः क्षत्रियो राजा १२-२८-४३
अथ युधिष्ठिरो राजा ४-१-४
अथ येषां पुनः १२-४७-१२
अथ ये संहिता वृक्षाः ५-११-२५
अथ यो विनिकुर्वीत १३-१८-५
अथ राजा त्रिगर्तानां ४-१०-१
अथ रात्र्यां १-२३-६०
अथ राष्ट्रमुपायेन १२-२१-१५
अथ रुक्मरथो नाम ७-६-७४
अथ वक्ष्यसि मा मौर्ख्याद् ७-४२-२०
अथ वा कृपणैरेतां २-७-३९
अथ वा गोसहस्राणि ४-१०-७
अथ वा तिष्ठ बीभत्सो ७-४१-२०
अथ वा ते भयं जातं ३-१९-७३
अथवा दर्शनीयाभिः १-३३-२५
अथवा नैव हन्तव्या ४-८-६
अथवा परितोषस्ते वाचोक्त्वा ८-९-१४
अथवा फाल्गुनेनाद्य ९-१५-३५
अथवा भरतश्रेष्ठ ७-२-८
अथ वाभ्यर्चनीयोऽयं २-७-३४
अथ वा मन्यसे कृष्णं २-७-२८
अथ वायुः समुद्भूतो १५-८-१४
अथ वा वसतः पार्थं १४-१-४३
अथवा वसतो राजन् १३-४-२०
अथवा सर्व एवैते तिष्ठन्तु ५-३३-१६
अथ वा सैनिकाः ३-१६-४४
अथ वृक्षस्य शाखायां १२-३८-१९
अथवैकोऽहमेकाहं १२-३-५
अथ वै धार्तराष्ट्रेण ४-९-१
अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा ६-३-१२
अथ व्यूढेष्वनीकेषु प्रेक्ष्य ८-९-१९
अथ शल्यो गदापाणिः ६-६-३५
अथ शान्तनवो ६-५-७
अथ शारद्वतो राजन् ७-२२-९, ७-४०-९
अथ शीतपरीताङ्गो १२-३३-११
अथ शुश्राव तेजस्वी ६-१५-४९
अथ षष्ठे गते काले १४-११-२९
अथ सर्वे रणं मुक्त्वा ३-१९-२२
अथ स स्मारणं कृत्वा ३-१७-४
अथ संत्यजतो धर्ममधर्मं ५-९-१४
अथ संशप्तकाः पार्थं ८-९-२०
अथ सा पूजनी राजन् १२-३६-१०
अथ सुव्याहृतं श्रुत्वा १२-३५-६०
अथ सैन्यस्य मध्ये तु ६-४-६३
अथ स्म कर्मणा केन १२-२८-५९
अथ हंसः स तत् श्रुत्वा ८-८-५४
अथ हंसाः समुद्रान्ते ८-८-३६
अथ हंसोऽप्यतिक्रम्य ८-८-५६
अथागच्छद् द्विजः १४-११-३१
अथागम्य तमुद्देशं ३-१९-२०
अथात्यर्थं विसृष्टेन ७-११-४०
अथाददानः कल्याणं १२-२८-१७
अथान्तरिक्षे वागासीत् १२-५०-२५
अथान्यद् धनुरादाय ८-३-११, ८-४-७, ९-७-१
अथान्यैर्विशिखैः ७-१९-२१
अथान्वशासन्नकुलं ४-३-८
अथापयातं राजानं ८-१०-३२
अथापरं महेष्वासं १-६-३
अथापराह्णे तस्याह्नः ९-१-८

अथापरेण भल्लेन ६-१९-२४
अथापरोऽदृश्यत ४-३-५५, ४-३-६४
अथापरो भीमबल: ४-३-२०
अथापश्यद् वनं घोरं ११-२-२३
अथापश्यं सात्यिकं ९-९-१२
अथाप्तवन्तो वेदोक्तान् १-१३-१
अथाब्रवीत् केशव: १६-२-११
अथाब्रवीत् क्रोधसुरक्तनेत्रो ८-२५-६
अथाब्रवीत्तं द्रुपदात्मजा सा ३-२०-१४
अथाब्रवीत् तत: कर्ण: ४-९-१५
अथाब्रवीत् पुनर्द्रोणं ७-६-१०२
अथाब्रवीत् स विजयं ३-२३-३०
अथाब्रवीत् सूतपुत्र: ८-२२-१७
अथाब्रवीद् द्रोणसुतस्तथात्मजं ८-२३-१०
अथाब्रवीद् बको ३-३-१२
अथाब्रवीद् भीमसेनं ३-२३-१२
अथाब्रवीद् राजपुत्रीं ४-६-३४
अथाब्रवीन्नरव्याघ्र: ६-२८-६
अथाब्रवीन्मय: २-१-१८
अथाब्रवीन्महाप्राज्ञो ७-६-४५
अथाब्रवीन्महाबाहु: ३-२५-२८
अथाब्रवीन्महाराज २-१७-२१
अथाब्रवीन्महाराज: २-१७-२५, ९-२२-७
अथाभवद् क्षणेनैव १२-३८-१६
अथाभिपत्य वेगेन ७-३२-१६
अथाभ्यगच्छद् गोविन्दो १४-१०-२२
अथाभ्यधावंस्त्वरिता: ८-२३-७
अथाभ्येहि त्वमागच्छ ६-१२-११
अथार्तिजं महाशब्दं १-२७-८
अथालोक्य प्रविष्टं ६-१५-२५
अथावमृद्नाद ४-६-२३
अथाशु भीमं च शरेण ८-२०-४
अथासनान्याविशतां ५-१-३
अथासौ मृदुयुद्धेन ३-१८-१४
अथास्य तं रथं दिव्यं ८-३-१७
अथास्य निजघानाश्वान् ९-६-२६
अथास्य पश्चाद्विदुर १-३३-६
अथास्य पादौ जग्राह १२-१३-३७
अथैनमपनीतेन सुहृदो ३-२-१६
अथैनमब्रवीत् क्रुद्ध: ६-२०-२५
अथैनमभिनिन्दन्ति १२-२८-५५
अथैनमुपसङ्गम्य ४-११-२०
अथैनं छिन्नधवानं ६-४-२१, ७-२७-२२
अथैनं दशभिर्बाणै: ४-१४-२२, ६-१६-१८
अथैनं रथवृन्देन कोष्टकीकृत्य ६-११-६
अथैनं विलपन्तं तं ७-७-१०
अथैनामष्टमे पुत्रे १-४-१५
अथैवं ब्रुवतामेव २-६-१८
अथैषां छिन्नधनुषां शरै: ६-१४-४१
अथोत्तर: शुभैर्गन्धै: ४-१५-३६
अथोत्तरा च कन्याश्च १४-११-४३
अथोत्तरेण प्रहिता: ४-१५-११
अथोद्भ्राम्य गदां भीम: ७-१९-१५
अथोद्यानवरे १-१३-२२
अथोपगम्य कालस्तु १३-१-२६
अथोपगम्य विदुरं ५-२२-१४
अथोपयातस्त्वरितो ८-२४-१९
अथोपविष्टं राजानं ३-१९-७
अथोपविष्ट: प्रतिसत्कृतश्च ३-१६-४
अथोपेत्य महाबाहु: ६-२९-९
अदत्तस्यानुपादानं १२-१७-५, १२-६३-१
अदर्शनादापतित: १२-४३-१०
अदर्शयद् वासुदेवो ६-१२-३२, ६-२५-३५
अदशमशका देशा १२-११-२३
अदाता ह्यनतिस्नेहो १२-२५-३९
अदान्त: पुरुष: १२-३९-२१
अदान्तो ब्राह्मणे १०-२-९
अदास: क्रियते दासो १२-१८-७
अदासो गच्छ मुक्तोऽसि ३-२१-५५
अदीर्घदर्शी निष्ठूरी ५-१८-४
अदृश्यमाने कौरव्ये ९-९-१५
अदृष्टपूर्वं पश्यामि ७-१५-२१
अदृष्टपूर्वा या नार्य: ११-३-८
अदृष्ट्वा तु रथानीके ९-६-३
अदैशिको यथा सार्थ: ७-१-१७
अद्भुतं चाद्य पश्यन्तु ७-१२-२५
अद्य कीर्तिमयीं मालां ९-१६-२७
अद्य कुन्त्या: परिक्लेशं ६-१६-१४
अद्य कृत्स्नां महीं देवीं ३-१५-५
अद्यकृष्ण विकर्णा मे १-१८-१८
अद्य क्रोधं विमोक्ष्यामि ९-१६-२५
अद्य चेयं मही कृत्स्ना ३-६-५
अद्य तद्विपरीतं ते ७-१९-१४
अद्य तं पापकर्माणं ८-१७-२८
अद्य ता अपि रोत्स्यन्ति ९-१०-७
अद्य तान् कुशलैर्विप्रै: १-३३-२०
अद्य तेऽहं रणे दर्पं ९-१६-३५
अद्य त्वां भगिनी पापं ४-७-५१
अद्य त्वां समरे हत्वा ७-२०-१८
अद्य दास्यामि संग्रामं ७-३०-३०
अद्य निष्कौरवामेक: १-३५-३३
अद्य पश्यत मे वीर्यं ७-४३-२२
अद्य पश्यतु मे शल्य ८-७-१२
अद्य पश्यन्तु कुरव: ५-३०-२१
अद्य पश्यन्तु मे वीर्यं ७-४०-२६
अद्य पाञ्चालसेनां तां १०-२-१३
अद्य पाण्डुसुतो राज्यं ५-१-४१
अद्य प्रज्ञामृतमिदं १२-३-१७
अद्य प्रभृति कौन्तेय १४-१०-४१
अद्य प्रभृति देहं स्वं १२-३८-६९
अद्य प्रभृति मे १-५-४७
अद्य प्रभृति सर्वेषु १६-१-१६
अद्य भीष्मो रणे क्रुद्धो ६-२३-३१
अद्य मद्बाणनिर्दग्धं ७-२०-१९
अद्य राजन् समेष्यामि ८-५-७
अद्य राजास्मि गोविन्द ८-२७-२४
अद्य व: सरथान् ९-१५-९
अद्य सप्तदशानि ९-२-१४
अद्य संयमनीं याता ७-२०-२०
अद्य स्वप्स्यन्ति पाञ्चाला १२-२-१२, १०-२-२९
अद्यापि तत्तत्र तथैव ५-६-२१

अद्यापि त्वहमाशंसे ९-१४-३१
अद्यापि मानुषो भाव: १७-३-२९
अद्यापुत्रा सूतमाता भवित्री ८-१६-१५
अद्याभिमन्यु जननीं ८-२२-२६
अद्यास्त्वनर्जुना भूमिं ७-४-१३
अद्याहमनुगच्छेयं ४-११-१३
अद्याहमनुगा कृष्ण ८-१८-१९
अद्याहमनृणो भूत्वा ४-७-६७
अद्यैव कुरु यच्छ्रेयो १२-४४-१५
अद्यैव त्वं वरारोहे १-११-५
अद्रोह: सत्यवचनं १२-८-११
अद्रोह: सर्वभूतेषु १२-३४-२१,
१२-४०-१९; १४-११-९४
अद्रोहेणैव भूतानां १२-५०-३७
अद्रोहोऽनभिमाना १२-२२-७
अद्वारेण रिपोर्गेहं २-५-२१
अद्वैधमनसं युक्तं १२-६०-६३
अधनस्य मृतं श्रेयो ६-२२-२५
अधनं दुर्बलं प्राहु: १२-३५-१९
आधन: कस्य किं १२-९-४२
अधनाद्धि निर्वतन्ते ५-१७-१०
अधनेनार्थकामेन १२-२-१६
अधर्मनिरतो मूढो १३-८-७
अधर्मयुक्तं न च कामयेत ५-१-१३
अधर्मयुक्तो विजयो १२-२८-५७
अधर्मश्च कृतोऽनेन १०-८-१४
अधर्मस्त्रिविधस्तस्य १२-५४-९
अधर्मं चरसे नूनं २-१३-३९
अधर्म: क्षत्रियस्यैष ६-२-३५,
१२-२८-६३, १२-६३-९
अधर्मेण च राज्यं १-३३-४३
अधर्मेण जित: पूर्वं ११-४-२०
अधर्मेण न गृह्णीयां ९-१४-३६
अधर्मेण प्रवक्तानां ९-२३-१६
अधर्मेण हतस्याजौ १०-४-१२
अधर्मेण हतं दृष्ट्वा ९-२०-१
अधर्मेण हते तात १०-१-१
अधर्मो धर्मरूपेण १३-२८-३
अधर्मोपार्जितैरर्थै: ५-१२-४२
अधर्मो यदि वा धर्म: ११-४-१८
अधार्मिकानां धर्मिष्ठा: १२-६३-२३
अधिकारे यदनृतं १३-७-१०
अधिक्षिप्तस्तु राघव: ८-८-१
अधियज्ञांश्च संभारान् २-६-२८
अधिष्ठित: पदा मूर्ध्नि ९-२३-१
अधीतं विधिवद् ९-२१-३५, ९-२३-१३
अधीत्य नीतिशास्त्राणि १३-२९-७
अधीत्यापि हि यो १३-१५-१५
अधुना किं नु दोषेण ११-४-३६
अधृष्य: सर्वभूतानां १३-२१-१३, ३२
अधो नाभ्या न हन्तव्यं ९-२०-५
अध्यगा नैष्ठिकी १२-५०-३५
अध्यगीष्ट स १-१४-५
अध्यर्धगुणमाहुर्यं ११-५-३५
अध्यर्धेन गुणेनेयं ९-१६-१७
अध्यात्मगतिचित्तो १३-२५-३०
अध्यात्मरतिरासीनो १२-६२-२२
अध्यापक: परिक्लेशात् १३-१५-१४
अध्यायानां सहस्रेण १२-१८-५८
अध्यायानां सहस्रैस्तु १२-१८-५७
अध्रुवा सर्वमर्त्येषु ९-२४-८
अनक्षज्ञस्य हि सतो ३-९-१८
अनक्षज्ञं च धर्मज्ञं ९-२१-३०
अनग्नयोऽनाहुतयो १-२९-५६
अनतिक्रमणीयानि १३-२-१५
अनतिक्रमणीयो वै ७ ७-१३
अनन्तमिव मे वित्तं १२-४६-२
अनन्तरं च राजानं १५-६-३०
अनन्तरं च राधेयं ३-१६-३६
अनन्तरं द्विजातिभ्य: १४-१०-७१
अनन्दनमधर्मज्ञं ५-२८-१०
अनभिध्या परस्वेषु १३-६-८
अनयन् परलोकाय शरै: ६-२४-४९
अनया: सम्प्रवर्तेरन् १२-१८-३०
अन्यो योऽयमागन्ता ५-१३-२५
अनयोर्वीरयोर्युद्धे ९-१८-२
अनर्घेया महाराज १३-१३-३१
अनर्थमर्थं मन्वानो ५-२४-४०
अनर्थानामधिष्ठानम् १२-३९-८
अनर्थश्चार्थरूपणे २-२१-८
अनवाप्तेषु कामेषु १२-४४-१३
अनसूया क्षमा शान्ति: १२-६३-८६
अनसूयाऽऽर्जवं शौचं ५-९-३७
अनस्त्रविदयं सर्वो ७-३६-९
अनागतं विजानीयात् १२-३७-२६
अनागतं हि बुध्येत १-२०-४७
अनाथानां जनानां च ११-६-२
अनाथां प्रमदां बालां १३-७-२२
अनादृत्य ततो ६-१८-३५
अनादृत्य तु तद्वाक्यं ३-२३-१३, २९;
५-१३-३५, ८-७-१६
अनाधृष्टिं कुण्डभेदिं ६-२२-३८
अनाधृष्य: कुण्डभेदी १-१०-१९
अनाप्तानां संग्रहात् त्वं ५-७-२५
अनाप्तैर्दत्तमादत्ते १-२२-४९
अनामयं पृच्छति ५-६-७
अन्तमयं स्वस्ति चेति ५-३०-४०
अनाम्नायमला वेदा १२-६३-१७४
अनायुष्यं दिवास्वप्नं १३-१७-६६
अनारम्भपरो राजा २-४-४
अनारम्भा: सुधृतय: १२-५३-८
अनारम्भे हि नियतो २-४-२६
अनार्यमार्गेण १७-३-९
अनार्यवृत्तमप्राज्ञं ५-१२-८
अनार्याचरितं तात २-११-४०
अनाश्चर्यमिदं ब्रह्मन् १-१८-४२
अनाश्चर्यो जयस्तेषां ७-२२-४८
अनाश्रित्येदमाख्यानं १-१-१८
अनाहूत: प्रविशति ५-८-२७
अनाहूतोपसृष्टानां १-१७-१८
अनिज्यया कुविवाहै: ५-११-४
अनित्यचित्त: पुरुष: १२-२४-८
अनित्यं किल मर्त्यस्य ५-१८-१८
अनित्यं यौवनं रूपं ११-१-३७,
१२-६२-१९
अनिन्द्रितो ह्यकामात्मा १२-३९-२६
अनिमन्त्रितो न गच्छेत् १३-१७-७२

अनिर्जित्य रणे ३-५-३९
अनिर्वेद: श्रियो मूलं ५-१२-३६
अनिर्वेद: सदा कार्यो १२-६३-५०
अनिवृत्ते तु निर्वासे ४-१३-५
अनिष्टदर्शनं दृष्ट्वा ७-४-२२
अनिष्टं चैव मे श्लिष्टं ७-८-३
अनिष्टं सर्वभूतानां १३-२१-४५
अनिष्टानां च संसर्गा ११-२-१
अनीकं पुरत: कृत्वा ६-१३-१९
अनीकानां च संह्लादे ७-११-१२
अनीर्षुर्गुप्तदार: १२-२०-८
अनीर्ष्युर्गुप्तदारश्च ५-१२-३
अनीश्वरश्च पृथिवीं ९-१४-१
अनीश्वरा विनश्यामो १२-१८-१०
अनुकम्पो नर: पत्न्या १४-११-४०
अनुकूलामनुवंशां १३-१२-१०
अनुक्त्वा समरे तात ८-३-७
अनुक्रोशादानृशंस्याद् ५-९-५१
अनुक्रोशो हि साधूनां १३-२-१८
अनुगृह्णीतां च प्रमुदो ८-२७-१२
अनुगृह्य सुहृद्वर्गं १-२६-२७
अनुग्रहं च मित्राणां १२-५८-३
अनुग्राह्या: पाण्डुसुता: ६-११-१६
अनुजग्मुर्महात्मानं १६-४-२५
अनुजानामि भीष्म त्वां १३-३२-३७
अनुजानामि राजंस्त्वां १४-५-१८
अनुजानीहि पितरं १५-२-५२
अनुजानीहि मां १३-३२-२३
अनुजानीहि मां तात ६-२३-२६
अनुज्ञातश्च गन्धर्वा ३-१७-२६
अनुज्ञातस्तदा तेन ३-१५-२
अनुज्ञातस्तु कृष्णेन २-६-२५
अनुज्ञातस्त्वहं तेन ९-१२-३२
अनुज्ञात: पाण्डवेन ५-७-१२
अनुज्ञात: स गच्छेति १-२४-१०
अनुज्ञात: संजय स्वस्ति ५-७-३
अनुज्ञातस्तु गान्धारि: ३-१६-५१
अनुज्ञात: स्वयं तेन १५-४-५
अनुज्ञातान्विदित्वेतान् २-१७-२
अनुज्ञातान्विदित्वेमान् २-१७-१
अनुज्ञातो रथवेगावधूत: ५-७-२६
अनुज्ञातोऽस्यावसथं ५-७-२७
अनुज्येष्ठं तु ते तत्र १-१६-२६
अनुतर्पुल एवार्थ: १२-४५-२१
अनुतिष्ठस्व तद् राजन् १२-१२-४
अनुत्तरीयवसनं १२-५३-१६
अनु त्वां तात जीवन्तु १२-२३-२५, १३-२१-११

अनुध्यानेन जप्येन ३-१-३७
अनुनीता हि भीष्मेण ५-१-३७
अनुनीतोऽस्मि गोविन्द ८-१६-३२
अनुपासितवृद्ध ५-२३-२६
अनुप्रवादाद् भीतास्मि ४-७-३०
अनुभूतं च दृष्टं च १४-१०-१८
अनुमानये त्वां दुर्धर्ष ६-४-५२
अनुमान्य यथाशास्त्रं ६-४-११
अनुमान्याथ कौन्तेयो ६-४-५७
अनुयास्यामि बीभत्सुं ७-१६-१७
अनुयास्यावहे त्वां तु १०-२-१५
अनुरक्तेन चेष्टेन १२-३५-२९
अनुरूपं कुरुश्रेष्ठ ५-३७-६
अनुवर्तामहे यत्तु १०-१-५३
अनुवर्त्स्यंति तं चापि ५-१-४३
अनुव्रताश्च ते सर्वे ३-१६-४७
अनुशास्य तु कौन्तेयं ३-१२-३९
अनुशिष्टा: स्म भद्रं ते ४-१२-२०
अनुशिष्यानुगम्यैतान् १-२२-५२
अनूपाधिपति: शूरो ६-२१-२०
अनृजुस्त्वनुरक्तोऽपि १२-२४-२९
अनृतं तमसो रूपं १२-३०-२२
अनृतं न स्मराम्यास्य १७-२-२०
अनृतं नाब्रवीच्छ्वश्रू: १२-५-१३
अनृते च समुत्कर्षो ५-१२-५६
अनृशंसं शुचिं दान्तं १२-१३-२३
अनृशंस: शुचिर्दान्त: १२-६३-१५०
अनृशंसा सत्यवाक्या १२-२२-६
अनेकशतसहस्रे ९-१२-२६
अनेकाग्रं तु तं २-१०-२०
अनेकान्तं बहुद्वारं १३-७-१
अनेन चास्य क्षुरनेमिनाद्य ८-२४-१५
अनेन तु ममाद्यापि १०-१-५४
अनेन नित्यं साध्वी त्वं १४-११-६८
अनेन विजिता गावो ४-१६-२९
अनेन वीर्येण कथं ३-२१-३४
अनेन व्यवसायेन २-१७-३९
अनेन सत्येन निहन्त्वयं ८-२६-२८
अनेनैव पथा राजन् ३-१२-४४
अनेयो ह्यर्जुन: सख्ये ५-२४-५३
अनन्तरं च प्रहारेषु ६-८-३०
अनन्तरं मम मित्राणां ८-१४-९
अन्तरा सायमाशं १३-१६-८
अन्तरिक्षचरी ह्यस्मि १-२५-२२
अन्तरिक्षे व्यराजन्त ४-१४-२२
अन्तरेण मयाऽऽज्ञप्त: १२-५२-२७
अन्तरेणापि कौन्तेय ३-९-१४
अन्तर्धानवधं चास्य चक्रे ३-१८-४३
अन्तर्धानं गतस्तत्र ४-१५-६८
अन्तर्बहिश्च यत्किं १२-४-१८
अन्तर्हितं राक्षसेन्द्रं ७-३३-१०
अन्तवत्यसुधर्मेऽस्मिन् २-१८-३३
अन्तवन्त इमे देहा ६-३-४५
अन्तं यथा गमिष्यामि ६-२५-४९
अन्त: पुरचराश्चैव ४-१५-५
अन्त:पुरं ततस्तस्य १-२७-१७
अन्त:पुराणां राज्ञां १४-१०-११
अन्त:पुरेषु च तदा १५-८-२७
अन्त:पुरेऽहमुषित: ४-१६-३५
अन्तो नास्ति १२-६२-२०
अन्धकारेऽर्जुनायान्नं १-१५-२०
अन्धस्य नृपते: पुत्रा १५-२-७
अन्धस्य नृपतेर्यष्टि: ९-१२-६४
अन्ध: स्यादन्धवेलायां १३-१८-३
अन्नदस्य मनुष्यस्य १३-१४-७६
अन्नमूर्जस्करं लोके १३-१४-६५
अन्नमेव प्रशंसन्ति १३-१४-६२
अन्नमेव मनुष्याणां १३-१४-८५
अन्नं च नो बहु १२-११-२६

अन्नं प्राणा नराणां १३-१४-७२
अन्नं बुभुक्षमाणस्तु १३-१७-३८
अन्नं तं प्रथमं १३-१४-६३
अन्नात् प्राणभृतस्तात् १३-१४-८३
अन्नाद् गृहस्था १३-१४-६६
अन्नाद् वलं च १३-१४-८४
अन्नार्थिनी समभ्यागात् १-२३-३४
अन्नेन सदृशं दानं १३-१४-६४
अन्गत् कुम्भादपां पूर्णा ५-२१-१०
अन्यत्र राजन् हिंसाया १२-३५-९
अन्यत्र संग्रामगतान्न ४-१५-४१
अन्यथा किल ते वाक्यं ५-३४-११
अन्यथा त्वद्य विक्रम्य ५-३५-४४
अन्यथा मां चिकीर्षन्तां ५-१८-२३
अन्यथा वर्तमानानां ३-१७-४९
अन्यदेव भवेद् वाह्यः १३-१७-५३
अन्यस्मिन्नपि लोके वै १३-१-४
अन्यस्मिन् नृप कर्तव्ये १-३३-१५
अन्यस्मै देहि गाण्डिवमिति ८-१५-१९
अन्यस्यापि न पातव्यं ११-४-३१
अन्यं तु रथमास्थाय ७-१९-१७
अन्यानन्यांश्च पुरुषान् १०-३-२१
अन्यानि पानानि च यानि ८-२०-२३
अन्यान् परिवदन् १-३-९४
अन्या भद्रे नयिष्यन्ति ४-६-१८
अन्यायोपगतं द्रव्यं १४-११-७९
अन्यांश्च शिष्यान्भीमादीन् १-१५-४४
अन्ये च बहवः शूरा ६-३-९
अन्ये चैनं वधिष्यन्ति ४-६-४१
अन्येनान्यस्य वै २-१२-३५
अन्येऽपि वहवो वृक्षाः १३-२-१२
अन्येऽप्यस्त्राणि जानन्ति ५-१४-२८
अन्येऽस्य युगमच्छिन्दन् ३-१७-३४
अन्योन्यकृतवैराणां १२-३६-२३
अन्योन्यमभ्यापततां ४-१०-२२
अन्योन्यसमुपष्टम्भात् ५-११-२७
अन्योन्यस्पर्धिनां ह्येषां ७-१-२२
अन्योन्यस्य प्रियाः सर्वे २-१८-११
अन्योन्यस्य हयान् हत्वा ७-२०-२६

अन्योन्यं तौ जिघांसन्तौ ९-१८-१८
अन्योन्यं तौ तथा वाग्भिः ७-२०-२४
अन्योन्यं तौ समासाद्य १-२५-४८
अन्योऽन्यं समनुज्ञाप्य २-९-५८
अन्योन्यं हि रणे शूराः ६-२२-४५
अन्वगच्छन् सत्य ६-२०-३९
अन्वगेव ततः पार्थः ६-२५-४३
अन्वयुभरतश्रेष्ठ ६-५-६१
अन्वयुः पाण्डवास्तां तु १५-४-७०
अन्वशासत् स धर्मज्ञः ३-१४-८
अन्वारुरोह दाशार्हं ५-२४-५
अन्विष्यामीह भर्तारं १-१२-९
अन्वीयमानो वीरेण ११-३-१५
अपकृत्य बुद्धिमतो ५-१२-१
अपक्रम्य तु ते तूर्णं ९-२४-३०
अपक्रान्तः स्वधर्माश्च ७-४१-२३
अपक्रान्तो मनुष्येभ्यः ६-२९-७
अपचिक्रमिषुः छिद्रं १२-३५-३२
अपज्यं क्रियतां १-१४-४९
अपतत् सहसा राजन् ६-६-१७
अपत्यमस्मि ते १४-११-५५
अपदस्थान् पदे १-२३-१३
अपध्यानमलो धर्मो १२-३४-७
अपध्वतस्त्ववमतो १२-३४-१२
अपनीते तु योगेन केनचिच्छ्वेत ७-४-४
अपरास्मिन् वनोद्देश १-३१-२२
अपराजितः पण्डितको १-१०-१६
अपराधिषु सस्नेहा १३-७-३४
अपराह्णे महाराज ६-१६-१,
६-२२-३०, ७-१६-२, ७-१७-१,
अपरेण तु भल्लेन ६-२२-३५
अपर्यन्तं धनौघं तं २-११-१५
अपर्यन्ते वले भग्नो ७-१६-१२
अपर्याप्तं तदस्माकं ६-३-१०
अपविध्या धनुश्छिन्नं ८-४-६
अपशास्त्रपरो राजा १२-२१-११
अपश्यत महाप्राज्ञं ९-१२-६२
अपश्यत् तत्र पाञ्चाली ३-१२-१४
अपश्यदपरं घोरं १२-३५-४९

अपश्यन्नम्भसः पारं ८-८-६१
अपश्यन् सात्यकिं चापि ७-१८-४
अपश्यमानस्तं १-३-१९
अपश्यमानो भीमं तु ३-१२-२८
अपाणित्वाद् वयं १२-४७-११
अपापो ह्येवमाचारः १२-३४-१७
अपास्य राजधानीं वा १२-३५-२४
अपां कुम्भैः सुपूर्णैश्च १४-४-२८
अपि कीटपतङ्गनां १४-११-३९
अपि घोरापराधस्य १-२०-२८
अपि चायं पुरा गीतः ७-२०-८३
अपि चैव मया श्रेयो ५-३२-२४
अपि चोक्तो मया वीरो ३-१२-३२
अपि जातु तथा १२-४७-३१
अपि तु त्वां १२-२३-१५
अपि त्वां कृष्ण पश्याम ५-२९-४०
अपि त्वां न लभेत् कर्ण ५-२९-३०
अपि दुर्योधनं कृष्ण ५-१८-७
अपि दृष्टस्त्वया तत्र १५-८-७
अपि नस्तद् भवेद् भूयो ३-२५-२१
अपि पापकृतो रौद्राः १२-५०-६
अपि मे जननी चेयं १५-७-९०
अपि वज्रधरः साक्षात् ५-५-१८
अपि वर्णापकृष्टस्तु १२-६३-१२०
अपि वर्षसहस्री त्वं ४-११-५२
अपि विश्वजितं कृष्णं ७-६-३१
अपि शक्यो रणे जेतुं ७-१२-२०
अपि स्वस्ति भवेत् १२-३८-२२
अपीडयत बाहुभ्यां ४-७-६५
अपीडयन् भृत्य १३-११-३
अपीडया च भूतानां १३-११-५
अपीदानीं भवेदस्य ७-२०-१२
अपुंस्त्वमप्यस्य ४-३-६३
अपूर्वश्च भवेत् १३-११-१
अपूर्वं भावयेत् पात्रं १३-११-४
अपृच्छद् वाष्पसंरुद्धो ६-१५-३१
अपृच्छन् क्षत्रियांस्तत्र ९-९-३
अपृच्छंश्चैव मां सर्वे ९-१२-४५
अपेतकर्णाः पुत्रास्ते ६-२-३८

अर्पैतु ते मनस्तापो ५-३७-२७
अप्यहेरारुजन् दंष्ट्रां ५-२८-१५
अप्यमित्रे दयावांश्च १५-४-३८
अप्याशिष्म वयमर्जुन त्वयि ८-१५-६
अप्याहुः सर्वमेवेति १२-२३-८
अप्युन्मत्तात्प्रलपतो ५-६-१६
अप्रकाशान्यप्रियाणि १५-२-४
अप्रतिग्राहके किं च १३-१५-४
अप्रदानेन राज्यस्य ५-१७-४, ५-१९-४
अप्रमत्तः स्थितो नित्यं २-६-५७
अप्रमादस्त्वया कार्यः १५-३-३
अप्रमादाद् भयं जह्याद् १२-६३-११६
अप्रमेयबलः शौरि ७-२६-३३
अप्रशस्तानि कार्याणि ५-१२-५
अप्रहृष्टेन मनसा २-१०-१६
अप्राप्तवति तस्मिंस्तु १-६-४
अप्राप्तस्यभिमर्शं तु १२-१८-४३
अप्रामाण्यं च वेदानां १२-२२-१५,
१३-११-११
अप्रार्थनीयामिह मां ४-५-१९
अप्रियं परुषं चापि १२-६३-५१
अप्रियैः सह संयोगो १२-१०-१६
अप्रेर्यमाणानि यथा १२-४८-१०
अप्रैषीद् राजपुत्री मां ४-६-१७
अप्लवेऽम्भसिमग्नानां २-१६-१५
अप्सरा देवकन्या वा ३-२०-७
अफलो यदि धर्मः ३-४-४८
अबलस्य कुतः कोशो १२-६३-३८
अबलाः स्वल्पकौपीनाः १३-१२-१५
अबाणे भ्रष्टकवचे ८-२५-३४
अबालस्त्वं मन्यसे २-१३-१९
अबुद्धिरेष महती ९-१८-१०
अबुद्धयद् भीमसेनस्तु ९-१८-२४
अबुध्यमानस्ता १८-२-२३
अबुध्यमानास्ते चापि ६-२३-४
अब्रवीच्च तदा कर्णं ७-२४-२
अब्रवीच्च तदा रामो ९-१७-५
अब्रवीच्च पुनर्भीमं ३-१३-१८
अब्रवीच्च पुनः कर्णं ८-९-३२
अब्रवीच्च विशुद्धात्मा ६-२-१८
अब्रवीत् कुशलं १-३४-१२
अब्रवीत् तत्र तेजस्वी ९-२-३
अब्रवीत् तत्र पुत्रस्ते ७-३१-२
अब्रवीत्तं तदा हृष्टः ७-३०-२०
अब्रवीत् प्रहसन् राजन् ८-१०-२५
अब्रवीद् भरतश्रेष्ठं १३-३२-१५
अब्रवीद्धि महातेजाः १४-७-३४
अब्रवीद्धि विशुद्धात्मा ६-२३-३२
अब्रुवन् कर्णं युध्यस्व ७-२६-१७
अब्रुवन् सैनिकास्तत्र ७-३-३२
अब्रुवंश्च महाराज १४-४-१४
अभक्षयन् वृथा १३-१६-१०
अभक्ष्यमेतदिति वै १३-२१-२५
अभयं यस्य भूतेभ्यः ५-१६-९
अभयं रौद्रकर्माणं ७-१९-२३
अभयं सर्वभूतानां ७-३६-३०
अभयं सर्वभूतेभ्यः ११-२-५७,
१२-४९-८, १२-५६-११,
१३-१४-२१, १३-२१-४३
अभयं सिन्धुराजस्य ७-२४-६
अभवच्च तयोर्युद्धं तुमुलं ९-१७-११
अभिक्रुद्धानभिक्रुद्धो ३-१८-३२
अभिगम्य भृगोः १३-१३-३३
अभिगम्य सुदुर्धर्षः ९-११-१२
अभिगम्याब्रवीत् प्रीतः २-९-५१
अभिजातोऽसि राजेन्द्र १७-३-१
अभिजानामि सौम्य १-२३-२२
अभिज्ञो दूतवाक्यनां ५-३४-२६
अभिज्ञो युद्धधर्मस्य ९-२३-९
अभिदुद्राव भीष्मं स ६-२५-३८
अभिदुद्राव वेगेन ६-८-५०
अभिद्यत ततो व्यूहस्तस्मिन् ६-८-६
अभिद्रुत्य तु राधेयः ८-१०-२३
अभिद्रुत्य निजग्राह केशपक्षे ३-२१-३७
अभिद्रुत्य सुशर्माणं ४-१०-४१
अभिधावंस्ततो ३-२३-३६
अभिपत्य महाबाहुः ६-१३-४२
अभिपूज्य महात्मानं १-२५-७१
अभिप्रजाता सा तत्र १२-३६-४
अभिप्रयामि संग्रामे ४-१२-४७
अभिप्रायं तु विज्ञाय ३-१२-५
अभिप्राये तु विदिते ६-२८-१०
अभिप्रेता च या तस्य १३-१२-५
अभिमन्द्याथ तानेवं ६-२८-४
अभिमन्युप्रभृतयः ६-२१-१९
अभिमन्युमुखश्चापि ६-२१-६
अभिमन्युर्महाबाहुः ४-१६-४२,
५-३६-९
अभिमन्युर्महेष्वासं ६-५-१२
अभिमन्युर्विकर्णस्य ६-१६-२
अभिमन्युश्च तद् दृष्ट्वा ६-२४-२४
अभिमन्युश्च तां वाचं ७-६-३२
अभिमन्युश्च यद् बाल ९-२१-३१
अभिमन्युस्ततः क्रुद्धो ६-२४-१८
अभिमन्युस्तथा शूरो ६-२०-४
अभिमन्युस्तु संक्रुद्धो ६-१४-२०
अभिमन्युं च ४-१६-४८
अभिमन्युं च मां १४-४-३१
अभिमन्युं च यद् बलं १२-१०-४
अभिमन्युः कृतोत्साहः ७-६-४३
अभिमन्युः सुसंक्रुद्धेः ६-५-३१,
६-१०-७
अभिमन्यू रथोदारः ६-२४-४
अभिमन्योर्विनाशेन ९-२-४०
अभिमन्यो वरं तात ७-६-२१
अभिमन्योस्ततस्तैस्तु ६-१८-२१
अभिमन्योः सुतो वीर १४-४-२१
अभिमानो मृषावादो १२-६३-१२९
अभियाय च दुर्धर्षा ६-१-२
अभियुक्तं बलवता दुर्बलं ५-८-७
अभिवादनदक्षं तं ७-८-१९
अभिवादनशीलस्य ५-१२-४९
अभिवादयमानं तं ३-१२-३
अभिवादयामहे ब्रह्मन् १-१४-४४
अभिवादयात वृद्धांश्च १३-१७-४३
अभिवादये त्वां शिरसा ३-८-१७
अभिवाद्य तु गोविन्दः १२-१३-१४

अभिवाद्याथ कौन्तेय: १३-३२-१४
अभिवाद्याथ तां कृष्ण: ५-२८-५९
अभिव्यक्त: परेषां च ५-१५-९
अभिशप्तं प्रपश्यन्ति १२-२-१०
अभिशापादहं भीतो ४-१६-४०
अभिषिक्ते ततस्तस्मिन् ९-३-२३
अभिषिक्तोङ्गराज्ये स: १-१७-३२
अभिषिच्य स्वराज्ये १७-१-६
अभिषूय ततो १४-१०-५०
अभिषेचय राजेन्द्र ९-३-१६
अभिसृत्य च मां युद्धे ८-१४-१२
अभीतो विकिरञ्शत्रून् १२-२८-६२
अभीश्च मन्युमांश्चैव १-३५-४६
अभीश्चरति यो नित्यं १२-३५-५७
अभुक्तवत्सु नाश्नाति १३-१६-१२
अभुक्त्वा देवकार्याणि १३-९-६
अभून्मुहूर्तं स्तिमितं १३-३१-३
अभूतानां भवेद्भर्ता १२-१५-१४
अभेद्यानि तत: सर्वे ३-१८-१८
अभ्यगच्छत्तदैवाशु १-५-३६
अभ्यतीत्य तु तत् ५-२०-५
अभ्यनन्दत कौन्तेय ७-२२-६१
अभ्यनन्दत् स राजर्षि: ३-१४-६
अभ्यभाषत संक्रुद्धो ८-१३-३
अभ्यषिञ्चच्च तत्रैव २-५-७४
अभ्यावहति कल्याणं ५-९-४२
अभ्युत्थानाभिवादाभ्यां १२-३७-३४
अभ्युत्थानेन दैवस्य १३-३-२५
अभ्युत्स्मयित्वा राधेयं २-१६-४
अभ्येत्य रणमध्यस्थं ४-१०-४४
अभ्येत्य राजानममित्र ४-३-६७
अभ्येत्य सहसा कर्णं ७-२९-२
अभ्राता विदित: ५-३०-२९
अमङ्गल्यध्वजे तस्मिन् ६-२६-३०
अमर्त्यत्वं मत्समत्वं १७-३-८
अमर्षणश्च कौन्तय: ५-१४-१८
अमर्षणं युधां श्रेष्ठं ११-५-१९
अमर्षण: स्वा: २-११-११
अमर्षणीयं तद् दृष्ट्वा ७-४०-२
अमर्षितैर्ये निहता १०-५-१३
अमर्षी जातसंरम्भ: ५-१८-२
अमर्षी दीर्घरोषश्च ११-५-३८
अमर्षी नित्यसंरब्ध: ३-५-३८
अमर्षेण तु सम्पूर्ण: १-२८-२९
अमात्यानुपघातीतान् १५-३-८
अमात्यांश्चातिशूरांश्च १२-२४-२६
अमात्येषु च सर्वेषु १२-१९-९
अमात्यो भव मे प्राज्ञ १२-३५-११५
अमात्सर्यं बुधा: प्राहु: ११-४०-११
अमानिन: सर्वसहा १२-७-१४
अमानी च सदाजिह्म: १३-२५-२१
अमानी सत्यवान् क्षान्तो १२-२४-३२
अमानुषं कृतं कर्म ४-७-७६
अमानुषं मनुष्येन्द्रै: ५-१४-३५
अमांसाशी सदा च १३-१६-५
अमित्रमपि चेद्दीनं १३-१४-२५
अमित्रं कुरुते मित्रं ५-८-२५
अमित्रं नैव मुञ्चेत १२-३७-३५
अमित्रं मित्रतां याति १२-३५-३६
अमित्रो न विमोक्तव्य: १-२०-१९
अमीमृदत् सर्वपातेऽद्य ८-३४-४
अमुञ्चत् स्थविरो २-१७-३३
अमूढत्वमसंगित्वं १२-५४-२८
अमृतस्येव संतृप्येत् १२-६१-२०,
१२-६३-१००
अमृतं चैव मृत्युश्च १२-४४-२३
अमृतं ह्यव्ययं १३-१३-३९
अमोघ: परमास्त्रस्य १०-८-४३
अमोघा ह्यपतन् बाण: ६-२५-१४
अम्बिकाम्बालिके भार्ये १-६-३०
अम्लानो बलवाञ्छूर: ४-२-१६
अयनेषु च सर्वेषु ६-३-११
अयमश्वो यथा १४-६-११
अयमायाति भगवान् १३-२०-४
अयमुत्सहते राज- २-११-२१
अयमेकोऽर्जुनो धन्वी १६-४-३१
अयं कथं वै भवतो ४-१४-४९
अयं करिकराकार: ८-२०-१६
अयं काल इति १-२७-५५
अयं कालो महाबाहो ७-२१-२०
अयं कुरूणामृषभो ४-१६-१०
अयं कुलेन रूपेण ९-३-६
अयं गुणानां १२-२०-२
अयं च कौरवो १५-४-२१
अयं च ते शुभे १-७-४८
अयं च बलिनां श्रेष्ठो ३-२२-१३
अयं च ब्राह्मणो विद्वान् ५-१-५२
अयं च सर्वयोधानामाचार्य ७-१-२३
अयं चिरोषितो राजन् १४-२-२५
अयं तु मे मणिर्दिव्य: १४-९-४०
अयं तु सदृश: शौरे: ८-५-१२
अयं ते पुण्डरीकाक्ष ५-१९-१३
अयं त्वा शकुनि: २-११-५
अयं त्वेको वृथादृष्टि: ५-३०-९
अयं दुरात्मा द्रुपदस्य पुत्र: ६-१५-४३
अयं धत्ते वेणुरिव- २-१४-५
अयं धर्मान् सहदेवो २-१३-३६
अयं पार्थ: कुत: पार्थं ७-११-२२
अयं पुत्रस्त्वया १-३-६२
अयं पृथायास्तनय: १-१७-२५
अयं बलवतां श्रेष्ठ: १-१३-१२
अयं बहुधनो राजन् २-१२-४१
अयं भद्रे तव मणि: १०-८-५०
अयं भीष्मस्तथा द्रोण: ५-२४-५२
अयं महास्त्रप्रहितो ८-२६-२७
अयं वा गच्छतु रणे ६-२२-७
अयं श्यामो महाबाहु: १-२५-११
अयं श्वा भक्त इत्येवं १७-३-२१
अयं श्वा भूतभव्येश १७-३-७
अयं स काल: सम्प्राप्त: ५-१७-२०,
६-१२-१९, ६-१६-१३, ६-२५-१९,
७-२६-२, ९-३-११
अयं स रथ आयात: ८-९-९
अयं स रथ आयाति ८-१९-८
अयं हि वृद्धो नृपति: १५-२-४९
अयुक्तामात्मन: पूजां २-७-४०
अयुद्धमनवस्थानं ७-१६-१५

अयुद्धमव्यवस्थानं ९-१४-१३
अयुद्धमाकांक्षत कौरवाणां ५-१-२९
अयुध्यमानस्य वधं ८-१५-२९
अयुध्यमानं यस्त्वाजौ ७-४२-१६
अयुध्यमानो म्रियते ११-१-२५
अयोनिञ्च वियोनिञ्च १३-१७-६६
अरक्षितारं राजानं ५-८-६१
अरक्षितारं हर्तारं १३-१४-१५
अरक्ष्यमाणं हि वृको ६-२३-३३
अरणीसहितं तस्य ३-२५-९
अरणीसहितं मन्थं ३-२३-५, ९
अरणीसहितं यस्य ३-२५-८
अरण्यगमने बुद्धिः १५-४-१३
अरण्यवासाद् दिष्टयासि ५-४-१८
अरण्ये गृहवासे च १३-१५-३३
अरण्ये दुःखवसतिः १२-९-२२
अरण्ये यो विमुच्येत ९-२-५२
अरण्ये वसतामासन् १२-९-२१
अरण्ये विजने १३-२६-१६
अरथश्चाविषङ्गी च ८-१४-२४
अरयो मे समुत्थाय १२-२७-१९
अरागद्वेषसंयुक्तः १-५-३
अराजकाः प्रजाः पूर्वं १२-१८-९
अराजकेषु राष्ट्रेषु १२-१८-३
अराजा किल नो राज्ञः १-१८-४०
अरिणापि समर्थेन १२-३५-१५४
अरींश्च विजिगीषन्ते १२-२९-१
अरोगान् सर्वसिद्धार्थान् ५-२२-२३
अरोषणो हि धर्मात्मा ९-२०-१७
अरोषस्तव चैवास्तु १०-८-२६
अर्चयित्वा यजेथास्त्वं १२-२१-२
अर्चयित्वा द्विजाग्र्यान् १४-३-१३
अर्चिताश्च नरैः पौरैः १-२३-३
अर्चेद् देवानदम्भेन १३-२८-३४
अर्जुनप्रमुखाः पार्थाः ६-२७-५
अर्जुनश्च यमौ चैव त्वं च ३-१८-७
अर्जुनश्चापि संक्रुद्धः ६-१८-३८
अर्जुनस्तत् तथाकार्षीत् ५-१६-३०
अर्जुनस्तु कटाक्षेण जिह्मं ७-४२-२
अर्जुनस्तु तथेत्युक्त्वा ६-२९-१३
अर्जुनस्तु नरव्याघ्रो ६-८-८
अर्जुनस्तु महाराज दृष्ट्वा ८-१९-१
अर्जुनस्य किलासीस्त्वं ४-११-३०
अर्जुनस्य तु तां श्रुत्वा ३-१८-१७
अर्जुनस्य मतं ज्ञात्वा १७-१-४
अर्जुनस्य महास्त्राणि क्रोधं ८-८-२
अर्जुनस्य वचः ७-४१-१०, १२-७-१
अर्जुनस्य सुतं त्वेष ७-६-५२
अर्जुनं च समाश्लिष्य १५-७-५६
अर्जुनं वासुदेवं च ५-३६-२४
अर्जुनं हि निहत्याजौ ५-३०-३५
अर्जुनः पञ्चविंशत्या ६ ८-२६
अर्जुनः परमं यत्नं १-१५-१८
अर्जुनः प्रतिजानीते २-१७-६९
अर्जुनः फाल्गुनो जिष्णु ४-१२-४०
अर्जुनः सत्यकर्मा च १०-७-२
अर्जुनः समरे शूरः ६-२६-२९
अर्जुनार्जुन तिष्ठस्व न १४-७-२९
अर्जुनार्जुन बीभत्सो ७-४२-२४
अर्जुनार्जुन यद्दिव्यं १०-७-१४
अर्जुनार्थे महाबाहो ७-१८-१३
अर्जुनं गाण्डिवं कृष्णे ८-८-६
अर्जुनेति जनः कश्चित् १-१७-५२
अर्जुने धरणी प्राप्ते ७-१४-२०
अर्जुनेन प्रतिज्ञाते ७-८-५९
अर्जुनेन यमाभ्यां वा ६-२२-५
अर्जुनेन विहिनस्तु यदि ७-४-७
अर्जुनेनार्जितां पूर्वं ५-३०-२०
अर्जुननैवमुक्तस्तु १-१५-५२,
१-२५-६७
अर्जुने सैन्धवं प्राप्ते ७-१६-१
अर्जुनो जयतां श्रेष्ठो ८-१२-२०
अर्जुनो द्रौपदेयाश्च ६-२०-३
अर्जुनोऽपि धनुर्गृह्य ६-५-८
अर्जुनोऽपि महाराज ८-१३-२२
अर्जुनोऽपि शरांस्तीक्ष्णा ४-१४-१८
अर्जुनो भीमसेनश्च ६-२६-७,
८-१२-४६
अर्जुनो वासुदेवश्च ७-४४-२
अर्जुनोऽहं महाराज ४-१६-१६
अर्जुनो हि शरैस्तीक्ष्णैः ६-१२-३७
अर्थकामौ परित्यज्य १२-५७-११
अर्थधर्मातिगो मन्दः ५-२३-२०
अर्थमूलोऽपि हिंसा च १२-२१-१२
अर्थयुक्त्या हि जायन्ते १२-३५-१२२
अर्थलुब्धान् न वः १-३५-३५
अर्थलोलुपता दुःखमिति १२-४५-२२
अर्थशास्त्रमिदं प्रोक्तं १-१-१९
अर्थश्चात्यर्थलुब्धस्य ९-२०-१५
अर्थसंनिचयं कुर्याद् १२-१६-४८
अर्थस्य पुरुषो दासो ६-४-२१, ३६
अर्थहेतोर्नरश्रेष्ठ ६-२२-२४
अर्थं ब्रूयान्न चासत्सु १२-२०-६
अर्थागमो नित्यमरोगिता च ५-८-६३
अर्थाच्च तात धर्माच्च ५-१३-१९
अर्थाद् धर्मश्च कामश्च १२-२-१३
अर्थान्न शोचन्प्राप्नोति ११-१-१८
अर्थार्थी जीवलोकोऽयं १२-६३-४६
अर्थाश्चैवधिगम्यन्ते १२-२९-७
अर्थाः खलु समृद्धा १३-५५-५
अर्थितश्चापि राजर्षिः १-५-४०
अर्थिनां च पितृणांच १२-९-२४
अर्थेन तु महाबाहुं ५-२१-८
अर्थेन हि विहिनस्य १२-२-१४
अर्थेभ्यो हि विवृद्धेभ्यः १२-२-१२
अर्थो वा मित्रवर्गो १३-३-१३
अर्थौ द्वावापि १-२८-२१
अर्धचन्द्रं च सन्धाय ६-२१-२
अर्धं च भीमाय १-३१-६
अर्धं ते भुञ्जते १-२७-६
अर्धं त्यक्त्वा यदा राजा १२-१९-७०
अर्धं भार्या मनुषस्य १-३-७६,
अर्धं राज्यं समग्रं १३-१३-२६, २७
अर्धं हि राजस्य विसृज्य ५-१-२१
अर्वाङ्निशीथात् परतः २-५-१०
अलक्ष्मीराविशत्येनं ३-४-६०
अलब्धस्य कथं लिप्सा १२-३७-५

अलमङ्ग निकारोऽयं ५-२६-२४
अलमन्यैरुपालम्भैः १२-४८-१५
अलमर्धं पृथिव्यास्ते ५-१५-१४, ५-२६-२३
अलमेव शमायास्मि ५-७-११
अलमेषमहाबाहुः ७-२२-१६
अलम्बुषस्ततः क्रुद्धो ७-३१-११
अलम्बुषं च कर्णं च ७-३१-१०
अलम्बुषोऽपि संक्रुद्धः ६-२४-१७
अलसग्रहणं प्राप्तो १२-५२-५
अलं तस्मै महा २-४-३५
अलं त्रासेन वः शूरा ७-६-७५
अलं द्यूतेन गान्धारे २-११-३४
अलं द्रुतेन वः शूराः ७-२७-२६
अलं परिग्रहेणेह १२-६२-१२
अलातं तिन्दुकस्येव ५-२८-१७
अलाभे सति वा लाभे १२-३-१२
अलायुधविषक्तं तु ७-३३-३
अलायुधस्तु संक्रुद्धो ७-३२-११
अलायुधस्य तु शिरो ७-३२-१८
अलुप्तधर्मस्तं धर्मं १६-४-२१
अलुब्धान् शिक्षितान् १२-२४-३४, १२-६३-३२
अलुब्धाश्चैव कौन्तेया ४-१३-११
अलुब्धाः शुचयो १३-७-१५
अलोलुपस्तथाल्पेप्सुः ५-१६-७
अलोहं निशितं शस्त्रं १-२२-४६
अल्पकालं जीवितं यन्मनुष्ये ५-६-२४
अल्पं च बलमेतेषां ९-८-१७
अल्पं वा स्वादु वा भोज्यं १२-३-११
अल्पं हि सारभूयिष्ठं १२-२३-२०
अल्पावशिष्टं कालस्य ४-९-११
अल्पेनाल्पेन देयेन ११-२७-३१
अल्पोऽपि तादृशी १३-२२-९
अल्पोऽप्यग्निर्वणं १-२०-१०
अल्पोऽप्यतिक्रमो नास्ति ९-२२-२९
अवकीर्णस्त्वहं कुन्त्या ६-२३-२१
अवकीर्णः सुगुप्तश्च १२-५६-७
अवगाढमथो द्रोणं १-१५-५६

अवगाढा द्विषन्तो मे ४-१५-६१
अवज्ञया दीयते १२-६०-४५
अवज्ञानमहंकारो १२-४९-५
अवतीर्णो रथात्तूर्णं ८-१०-३१
अवतीर्य रथात् तूर्णं ५-२०-४
अवतीर्य रथेभ्यश्च ९-२४-४
अवतीर्य रथेभ्यस्तु १०-८-४८
अवधानेन् मौनेन १२-३७-३१
अवधीत् पितरं पुत्रः १६-१-४३
अवध्यकल्पा निहता ८-२६-४०
अवध्यमानां वधं कृत्वा ६-२५-२३
अवध्यं पाण्डवं मन्ये ८-१५-४२
अवध्या ब्राह्मणा गावो ५-११-२८
अवध्यां स्त्रिमित्या १-२७-३८
अवध्यो नाम नास्त्यत्र ३-६-४८
अवप्लुत्य च वेगेन ८-११-२९
अवमत्यास्य तद् वाक्यं ३-२०-२५
अवमन्य च हंसाँ ८-८-५३
अवमन्यन्ति भर्तारं १२-१४-२४
अवमन्यसि गान्धारे ८-६-७
अवमानमहं प्राप्य ८-६-१६
अवमानाच्च लोभाच्च २-४-३४
अवमुच्य किरीटं स २-५-४१
अवमृदनन् स राष्ट्राणि १४-७-५
अवमेने धनुर्ग्राहानेष १७-२-२२
अवराणां समानानां १३-२८-२९
अवरोधान् जुगुप्सेत १२-३५-२६
अवरोप्येह वृक्षं तु १-३१-३
अवर्षं चातिवर्षं च २-६-१३
अवलिप्तस्य मूर्खस्य २-८-३८
अवलिप्तेषु मूर्खेषु ५-१२-३१
अवशोऽहं तदा तात ५-१४-२४
अवश्यमेव वक्तव्य १५-४-२३
अवश्यं चैव गन्तव्या २-९-५०
अवश्यं तु मया वाच्यं ८-५-११, ८-८-३०, ८-१८-६
अवश्यं निधनं १-२७-२५
अवश्यं राजपिण्डस्तैः ३-५-३६
अवस्थाने भीतं कृत्वा ९-१८-२३

अवस्थितं च प्रणिपत्य ६-१२-४०
अवहारं ततश्चक्रे ६-१४-५०
अवहासं तु तं मत्वा ९-१५-२५
अवाप्य कीर्तिं च ६-१२-४८
अवाप्य वसुसम्पूर्णा २-२१-३
अविक्षतशरीराश्चा ३-२४-५
अविक्षतेन देहेन १२-१७-११, १२-२८-६४, १२-६३-१०
अविक्षितं मरुत्तं च १२-११-१०
अविजित्य य आत्मानं ५-६-२९
अविज्ञानाद् भवान् ८-१५-२६
अविद्यः पुरुषः शोच्यः ५-१२-५०
अविद्वानशुचिः स्तब्धः १२-२४-४१
अविध्यात् पुण्डरीकाक्षः ८-२२-१५
अविनाशं सञ्जय पाण्डवानां ५-६-३४
अविनाशि तु तद्विद्धि ६-३-४४
अविन्दमानास्त्वथ ७-३३-५
अविरुद्धां त्रिवर्गेण १२-३५-१६
अविरोधेन भूतानां १२-५३-१
अविलुप्यागमं कृत्स्नं १४-११-११
अविषह्यतमा ह्येते ७-१०-६
अविषह्यं तु पार्थस्य ८-१९-३२
अविसंवादनं दानं ५-१२-९
अविस्थलं वृकस्थलं माकन्दी ५-६-७
अवृता ये तु भिन्दन्ति १३-२८-४
अवेक्षमाणः कैलासं ३-१४-३
अवेक्षया महारज ३-२५-२९
अवेक्षस्व यथा स्वैः १२-४-१३
अवेक्ष्या इति कृत्वाहं १४-११ ६७
अवेदयच्च शक्रस्य ३-८-३६
अवैक्षत स धर्मात्मा ४-१५-३४
अवैरा ये त्वनायासा १३-२६-२१
अव्यक्तमब्रवीद् ७-२९-२५
अव्यवस्थितमर्यादैः १२-५१-५
अव्याधिजं कटुकं ५-६-२८
अव्याप्परः परार्थेषु २-११-४१
अव्याहरति राजेन्द्रे १२-११-१
अव्याहृतं व्याहृताच्छ्रेय १२-६२-२९
अव्युत्पन्नं समानार्थं २-११-३८

अशक्तमिति मामेते ६-२२-२७
अशक्तश्चैक एवाहं २-१०-२६
अशक्तः प्रतियोद्धुं वै ६-२०-३१
अशक्तः प्रतिसंहारे १०-८-१२
अशक्नुवंश्च युद्धाय १५-३-३४
अशक्यं तु तमन्येन ७-५-१७
अशक्यः पाण्डवस्तात ६-२९-२३
अशक्या तरसा जेतुं ७-२८-५
अशंकितेभ्यः शङ्केत १-२०-३१
अशंक्यमपि शङ्केत १२-३७-३०
अशाश्वतमिदं सर्वं ११-२-४
अशिष्टवदमर्यादः ५-२६-६
अशिष्टा गतमर्यादा ५-२७-२०
अशोच्यत्वं कुतस्तस्या ४-७-१२
अशोच्यत्वं कुतस्तेषां २-१९-४
अशोच्यानन्वशोचस्त्वं ६-३-३८
अश्नाम्याच्छादये २-११-१०
अश्मसारमयं नूनं ३-२४-३, ६-२-८
अश्रद्धा परमं पापं १२-५०-४३
अश्रद्धेयमहं मन्ये १६-५-११
अश्रुतश्च समुन्नद्धो ५-८-२२
अश्रूपूर्णं ततो नेत्रे ७-४०-११
अश्वत्यथामन् पुनः शीघ्रम् ७-४४-१६
अश्वथामन् प्रसीदस्व ७-२७-९, ४०
अश्वथामा कृपो द्रोणः २-६-४३
अश्वत्थामा ततः क्रुद्धो ६-१७-२५
अश्वत्थामा ततः शल्यो ६-२४-४३
अश्वत्थामा तथोक्तस्तु ७-४४-१७
अश्वत्थामा तु तद् राजन् ९-१२-४७
अश्वत्थामा तु तौ दृष्ट्वा १०-३-२
अश्वत्थामा तु संक्रुद्धः १०-२-४४
अश्वत्थामा महाभागः ९-२३-१५
अश्वत्थामा यथा तात ७-११-३५
अश्वत्थामा रहस्येषु १-१५-२९
अश्वत्थामा हतो ब्रह्मन् ७-३६-३१
अश्वत्थामेति विख्यातो ७-२९-२०
अश्वत्थामेति हि गजः ७-३९-९
अश्वत्थाम्नः सनामानं ९-२१-२०
अश्वत्थाम्नि तथा शल्ये ९-२३-४

अश्वत्थाम्नि कृते नैषः ७-३९-५
अश्वपृष्ठेषु चाप्यन्ये ७-३५-२३
अश्वबन्धोऽथ नकुलः ४-१२-३७
अश्वबन्धो भविष्यामि ४-१-२९
अश्वमेधसहस्रं च १-३-९९, १३-१५-२४, १४-४०-२४
अश्वमेधसहस्रेण १२-११-१६, १५-३-४०
अश्वमेधे महायज्ञे १४-१०-६०
अश्वमेधे हयं मेध्यं २-९-२९
अश्वयुक्तै रथैश्चापि १६-४-२५
अश्वविद्याविदश्चैव १४-६-५
अश्वस्तनमृषीणां हि १२-२-८
अश्वानस्य बधीद् भोजो ७-६-१०८
अश्वानां प्रकृतिं वेद्मि ४-३-७०
अश्वारोहन् हतैरश्वैः ६-२७-५३
अश्वांश्च चतुरः श्वेतान् ७-२१-४०
अश्वांश्च चतुरो भल्लैः ७-२७-२१
अश्वांश्च दिव्यानिच्छेयं १-३६-१८
अश्वांस्तित्तिरिकल्भा २-१२-५३
अश्वैरग्र्यजवैः केचिद् ६-५-२५
अश्वैर्विनीतैर्जवनैः ४-४-२२
अश्वोत्सृज्यतामद्य १४-६-१०
अश्वो विद्धो रथश्छिन्नः ७-११-५३
अष्टपञ्चाशतं राद्भ्यः १३-३२-२४
अष्टमेऽहनि रोहिण्यां १-२२-५८
अष्टमेऽहनि सम्प्राप्ते ३-१४-७
अष्टाविंशांस्तु तान्बाणान् ७-१५-२०
अष्टौ गुणः पुरुषं दीपयन्ति ५-८-७५
अष्टौ नृपेमानि ५-१०-१३
असकृत् प्रोच्यमानापि १३-१-१३
असकृन्निकृताः पूर्वं ४-१०-२
असक्ताः सिकतास्तस्य २-१८-५२
असक्ताः सुखिनो १२-५९-६
असङ्गः श्रेयसो मूलं १२-६०-५६
असतां कीदृशं रूपं १३-२८-२३
असतां दर्शनात् ३-१-१५
असतां प्रतिषेधश्च १२-५-८
असतां शीलमेतद् १२-६३-२७

असत्प्रलापं पारुष्यं १३-६-७
असद् वा हसितं १३-२३-९
असन्तोषः प्रमादश्च १२-७-१५
असन्तोषः श्रियो मूलं २-११-५०
असन्तोषोऽसुखायेति १२-६०-५०
असपत्नां महीं १४-२-१०
असपिण्डा च या १३-१२-९
असमर्थाऽपसरणे १५-८-२६
असम्भावे तु सर्वस्य १५-२-३५
असम्भावितरूपं हि त्वयि १०-२-३३
असम्भिन्नार्यमर्यादा २-१६-२८
असम्भ्रान्तस्तदा राजन् ६-६-१८
असम्मोहाय मर्त्यानामर्थः १२-६-१०
असहायः पिता माता १३-२०-९
असहायेन रामेण वैदेही ३-२२-१६
असंविभागी दुष्टात्मा ५-१२-११
असंशयमिदं कृष्ण ५-२९-३४
असंशयं कृतास्त्राश्च ७-४-५१
असंशयं क्लेशितास्ते ५-५-१७
असंशयं ध्यानपरो १-५-३१
असंशयं परो धर्मः १-७-९
असंशयं महाबाहो ३-९-१२
असंशयं वाजिमेधः १४-१-२५
असंशयं विनीतात्मा १३-१५-२९
असंशयं स मे शिष्यो ७-२-१९
असंशयं संजय सत्यमेतद् ५-६-३२
असंशयं सौहृदान्मे ५-२९-११
असंशयं हितार्थाय ५-२९-२२
असाधुभ्योऽस्य १३-५०-८
असाधुः साधुतामेति १२-२४-७
असामान्यमिदं तात १-१५-६४
असांनिध्यं तु कौरव्य ३-२-१७
असिद्धानुनये कृष्णे ५-३०-१
असिना तीक्ष्णधारेण ८-१७-३
असिभिः पट्टिशैः ३-१७-३३
असिभ्यां चर्मणी चित्रे ७-२०-२९
असिमादाय शल्योऽपि ६-५-५२
असियुद्धे गदायुद्धे १-१९-४
असिं समुद्यम्य सितं ८-२०-१३

असुराश्च सुराश्चैव १४-१-२१
असूयको दन्दशूको ५-१०-१९
असूयन्ति हि राजानो ४-२-९
असूयैकपदं मृत्युः ५-१२-५७
असूर्यमिव सूर्येण २-७-२०
असौ दुर्योधनः पार्थं ९-१०-३
असौ दुर्योधनो राजन् ९-१३-३०
असौ रोषात् प्रचलितो २-८-२७
अस्तब्धमक्लीब ५-११-४३
अस्तब्धः पूजयेत् १२-२०-९
अस्तं गच्छन् यथा ६-६-२५
अस्ति ते वै प्रिया २-१३-५०
अस्ति देवा न मे १८-१-७
अस्ति बिन्दुसरस्युग्रा २-१-२२
अस्ति मासः प्रतिनिधिः ३-५-२८
अस्ति वै कृतमस्माभिः १२-३६-१८
अस्ति समं मया ३-२२-७
अस्तु शेषं कौरवाणां ५-२४-५५
अस्त्वयं सर्वदमनः १-३-५७
अस्त्विदानीमियं राजन् ९-१४-३३
अस्त्रमस्त्रेण तु रणे १०-८-२०
अस्त्रमस्त्रेण सर्वेषामेतेषां ७-१०-९
अस्त्रविद्यानुरागात् १-१५-१२
अस्त्रहेतोर्गते पार्थे ३-९-१, २
अस्त्रं ततो देवपतेः ८-२४-७
अस्त्रं ब्रह्मशिरस्तात १०-८-१९
अस्त्रं ब्रह्मशिरो नाम १०-९-१४
अस्त्रं ब्रह्मशिरो यत्र १०-८-२३
अस्त्राग्निना विचित्रोऽयं १-२९-४५
अस्त्राणां च १६-४-४७
अस्त्राणि मे प्रणष्टानि १६-५-१५
अस्त्राणि मे समग्राणि १-१४-१७
अस्त्राणि वा शरीरं १-१४-१६
अस्त्राणीन्द्राच्च रुद्राच्च ३-५-४८, ७-२-२०
अस्त्राण्यन्ये समुत्सृज्य ७-३५-१०
अस्त्रे द्रोणार्जुनसमं ५-१४-२०
अस्त्रैरस्त्रापि संवार्य ६-२२-४१, ७-२२-७, ८-२५-२५
अस्थिभूतो यदा राजा १३-१०-२२
अस्थिसंघातसम्बाला ६-२४-५६
अस्थिस्थूणं स्नायुयुतं १२-६२-१३
अस्पृष्टं जृम्भति गाण्डिवं ५-१३-१५
अस्मत्तस्तदुपादाय १०-६-१५
अस्मत्तोऽभ्यधिकं कर्णं ८-६-८
अस्मत्पक्षो महान् १-३३-३०
अस्मत्पोषणजा चिन्ता ३-१-३६
अस्मद्धितं वाक्यमिदं ५-५-३१
अस्माकमनुरूपो वै १-२९-६४
अस्माकं तु विशिष्टा ६-३-७
अस्मात्कृष्णात् सुसंरब्धात् २-१-२
अस्मानभिगतांस्तात ३-१८-१
अस्मानमी धार्तराष्ट्राः ३-५-६
अस्मानयमतिक्रमय १-३१-२
अस्मानयं सुविश्वस्तान् १-२३-३२
अस्मानुत्सृज्य राजा स १५-४-६१
अस्मानेवोपजीवंस्त्वं ७-१२-८
अस्मान्न त्वं सदा ७-१२-७
अस्मान् युधि ४-१०-१३
अस्मान् वा त्वं पराजित्य ५-३४-२२, ६-१४-३४
अस्मान्वेत्थ परान्वेत्थ ५-१७-३३
अस्माभिरुषिताः ३-५-२७
अस्माभिर्निर्जिता यूयं २-१७-३६
अस्माभिः कारितं १५-४-६४
अस्मांस्तदेनो गच्छेत् २-५-२९
अस्मांस्तु वा पराजित्य ६-१४-२१
अस्मिन् क्रतो यथोक्तानि २-६-२७
अस्मिन्नर्थंश्च १-२-१२
अस्मिन्नर्थे च कामे १२-३५-१४५
अस्मिन्नर्थे पुरा गीताः १०-१-२३
अस्मिन्नहं द्रुमे जातः १३-२-१६
अस्मिन्नेव प्रकरणे १२-९-३८
अस्मिन्नेवान्तरे वाक्यं १२-९-१
अस्मिन् महामोहमये कटाहे ३-२४-८३
अस्मिन् मुहुर्ते द्रोणस्तु ७-३-३३
अस्मिन्मुहूर्ते सत्यं वा ९-१५-३८
अस्मिन् युद्धे भीमसेन ५-१८-३३
अस्मिन् राजकुले १२-२-६
अस्मिन्वाक्यन्तरे वक्ता १२-८-१
अस्मिन् समागमे केन २-१२-३३
अस्मिस्त्वर्थान्तरे २-४-१५
अस्यतः कर्णिनालीकान् ५-१४-२७
अस्य धर्मप्रवृत्तस्य २-७-३६
अस्य पापस्य दुर्बुद्धे २-१५-३२
अस्य वर्षस्य शेषं ४-९-१२
अस्यामापदि घोरायां १२-२७-२०
अस्या वीर्यं निरीक्षध्वं १-१४-३८
अस्यां जायेत यः १-५-२५
अस्यां हि पाण्डुपुत्राणां ४-१२-२८
अस्यां हि समितौ २-८-७
अस्याः कृते मन्युरयं २-१५-५
अस्याः प्रदोषे शर्वर्याः ४-७-२०
अस्वस्ति तस्य कुर्वन्ति ६-१५-३६
अहत्वा समरे भीष्मं ६-२७-१९
अहन्यहनि चागत्य १२-५०-२१
अहन्यहनि भूतानि ३-२४-८१
अहन्यहनि युध्यन्ते क्षोभयन्तं ९-३-३६
अहन्यहनि शूराणां कुर्वाणः ९-२१-१९
अहमक्षेष्वभिज्ञातः २-११-१७
अहमन्नं भवान्भोक्ता १२-३५-१३३
अहमप्यत्र सैरन्ध्रया ४-१२-१३
अहमप्येवमेवैतत् १-३३-१७
अहमस्म्यर्जुनः पार्थः ४-१२-३६
अहमस्य करोम्यद्य १२-३६-१३
अहमावारयिष्यामि ७-१४-१८
अहमेकोऽवशिष्टस्तु १०-५-४
अहमेको हनिष्यामि ५-३५-४०, ८-८-९
अहमेतद् ब्रवीम्येवं ५-१८-९
अहमेतेन संगम्य ९-१६-२४
अहमेनं हनिष्यामि ७-६-५५
अहमेव सुभद्राया ७-७-६
अहमेव हि ते कृष्णे ४-७-१०
अहस्सु विहरानेन १-२६-११
अहं कर्णश्च शल्यश्च ७-२८-३
अहं कर्तेति विदुर २-१३-१७

अहं कस्य कुतो वापि १२-६२-२३
अहं कामगमा १-१५-३१
अहंकारस्य च त्यागः १२-५८-८
अहं खल्वपि संग्रामे ४-१६-२३
अहं च तत् करिष्यामि ५-१९-२०
अहं च तात कर्णश्च ५-१५-१९,२२
अहं च तेऽनुयास्यामि ६-७-२१
अहं च त्वाभिषेक्ष्यामि ५-२९-८
अहं च प्रियकृद्राजन् ६-७-१४
अहं च सह सौदर्यैः २-१०-३५
अहं चान्ये च राजानो ५-२९-३९
अहं चाभिगतः पूर्वं ५-३-१२
अहं चैनं प्रत्युदियां ५-३५-७
अहं तस्य भविष्यामि ५-४-२६
अहं तं जीवष्यिामि १०-८-४५
अहं तु कदनं कृत्वा १०-२-२६
अहं तु तद्धि जानामि २-१०-४०
अहं तु तव तेषां च श्रेय ५-२४-३९
अहं तु यत्नमास्थाय ७-२८-८
अहं तु सर्वलोकस्य ५-१७-४२
अहं तु सोमकान्सर्वान् ६-२३-३६
अहं ते जनकस्तात ३-२५-२
अहं ते रक्षणं युद्धे ६-२७-२१
अहं त्वनपराध्यन्ती ४-६-२८
अहं त्वभिद्रुतः सर्वैः ३-१९-९
अहं त्वानुप्रवेक्ष्यामि १२-३५-७३
अहं त्वामनुजानामि ६-२३-३०, ८-१७-२४, ८-१८-१४
अहं त्वामनुयस्मामि ६-२७-१७
अहं दाताऽस्मि २-१२-३४
अहं दुरापो दुर्धर्षो ४-१२-४३
अहं दुर्योधनं हन्ता २-१७-६५
अहं दुःशासनः कर्ण ७-३६-१४
अहं देशे तु १६-३-१९
अहं द्रोणः कृपो द्रौणिः ६-२२-६
अहं पार्थान् हनिष्यामि ६-२३-६
अहं पैलोऽय कौन्तेय १४-६-३
अहं प्रवेक्ष्ये शिबिरं १०-३-४
अहं भीष्मं कृपं द्रोणं ६-७-२२

अहं मूर्धाभिषिक्तो हि ८-६-१४
अहं योत्स्यामि तत्त्वेन ५-३५-४
अहं योत्स्यामि भवतः ६-४-६५
अहं वनं गमिष्यामि ९-१४-३५, १५-२-३८
अहं वने दुर्वसती ३-९-२०
अहं विशिष्टः सर्वेषां २-१३-४७
अहं वैकर्तनः कर्णः ७-९-८
अहं वै कुरुभिर्योत्स्ये ४-१२-२३
अहं वो रक्षितेत्युक्त्वा १३-१४-४६
अहं श्रुणोमि ते वाचं ४-८-१४
अहं सञ्जयो भूमिपते ५-७-१८
अहं सुयोधनं संख्ये ९-१६-१६
अहं हि पाण्डवान्सर्वान् ५-१३-२२
अहं हि पाण्डवान् हत्वा ५-१५-२३
अहं हि भृशमापन्नः १२-३५-६९
अहं हि विश्वकर्मा २-१-५
अहं हि सुभ्रु राज्यस्य ४-५-२५
अहासु गण्यमानेषु १२-६३-६१
अहापयित्वा यदि पाण्डवार्थं ५-६-४४
अहितानि च वाक्यानि १३-२३-६
अहिंसादि कृतं कर्म १२-५०-४२
अहिंसानिरता ये च १३-९-१२
अहिंसा परमो धर्मः १३-२१-१९, ५४
अहिंसा परमो यज्ञः १३-२१-५५
अहिंसार्थाय भूतानां १२-३१-८
अहिंसालक्षणो धर्मः १३-२१-४२
अहिंसा सत्यमक्रोधः १२-३१-९ १२-३९-३८, १३-७-२, १३-२८-१४
अहिंसा सत्यवचनं १२-२२-१४, १२-६३-८८, १३-२५-२
अहिंसा समता ३-२५-४
अहिंसा सर्वभूतेभ्यः १३-१४-३१
अहिंस्रस्य तपो १३-२१-५७
अहिंस्रः सर्वभूतानां १२-६३-१०७
अहीनो नाम राजेन्द्र १०-१०-४२
अहेरिव गणाद् भीतः १२-६३-१२६
अहो कृच्छ्रमनुप्राप्ताः ३-२-२०
अहो क्षत्रसमाचारो ५-२८-४६

अहो खलु महा दुःखं ११-२-३९
अहो तवेयं परिचारिका ४-५-९
अहोऽतीवसुभाग्याहं १२-३८-३५
अहो दुःखमहो १२-५-१
अहो देहप्रदानेन १२-३८-७०
अहो धिक्कां गतिं १-२७-२३
अहोधिक् धृतराष्ट्रस्य १-२३-४०
अहो धिक् यदधो नाभेः ९-२०-४
अहो धिक्स न जानाति ९-१२-४८
अहो धिग्वान्धवा २-१७-४०
अहो नार्हमिदं कर्म ३-१९-३७
अहो नाशंसते किञ्चित् ५-१८-१६
अहो बत महत् पापं ६-३-२६
अहो युद्धाभिकाक्षांणां ५-१८-१५
अहो विनिकृतो लोको ११-२-१७
अहो वो धिग्वलं १-१४-३५
अहो सिद्धार्थता तेषां १२-४७-९
अहोऽस्मि वञ्चितो १५-२-३३
अहोस्विद् धर्मराजस्य ७-२-७

आ

आकरे लवणे शुल्के १२-१९-२४
आकर्णपलितः श्यामो ७-१७-१७
आकर्ण्य भक्त्या १८-४-४
आकारेणैव तं ज्ञात्वा १-२८-२
आकाशगमने चैव १२-३८-७६
आकिञ्चन्यं मुनीनां च १२-२-७
आकुमारं च पौरास्ते १५-५-२०
आकृष्यमाणः कौन्तेयो ७-४४-६
आक्रीडोऽयं कुबेरस्य ३-१३-१५
आक्रुश्यमानो न वदामि १२-६०-११
आक्रुश्यमानो नाक्रुश्येत् १२-६१-१५
आक्रोशपरिवादाभ्यां ५-९-३९
आक्षिप्य केशान् वेगेन ४-७-५३
आख्यात च जाति १-३२-१७
आख्यातवानहं तेभ्यः ९-१२-४६
आख्यातव्यश्च भवता १४-६-२०
आख्यातव्यं मदीयानां ९-२३-६
आख्यास्ये ते प्रियं तात ३-१०-१३
आगच्छ नरशार्दूल १८-३-९

आगच्छेथा महाराज १४-७-३६
आगच्छेयमहं द्यूतं ३-२-१३
आगतस्य गृहे १-२७-७०
आगत: स्म महाभागे १-१३-३९
आगतोऽहं महाभाग १-३-१७
आगन्तव्यं च भवता १३-३१-१२
आगमानां हि १३-१७-७६
आगमा व: शिवा: १५-७-५१
आगमिष्यति ते भ्राता ३-१०-१८
आगमिष्यति बीभत्सु: १६-३-१६
आगमिष्यामि तद् २-१-२१
आगमिष्ये तत: क्षिप्रं ६-२३-११
आगमे च प्रयोगे १-३५-५०
आगम्य शिबिरं रात्रौ ९-२२-४९
आगम्य हास्तिनपुरात् ५-३१-१
आ गोपालाविपालेभ्य: ९-१२-५३
आग्नेयेनासृजद् वह्नि १-१६-३६
आचक्षध्वं च भीष्म १-१४-४५
आचक्षेहं मनुष्येभ्य: १२-६१-२५
आचक्ष्व धृतराष्ट्राय ५-७-१४
आचक्ष्व न हि मे ब्रह्मन् ३-१०-६
आचक्ष्व मां सुखिनं ५-७-१६
आचारलक्षणो धर्म: १३-१७-८
आचारस्य विधिं १२-४६-९
आचारनिह सत्यस्य १२-४०-५
आचाराल्लभते १३-१७-६
आचारो भूतिजनन: १३-१७-७५
आचार्य केन कालेन ५-३७-११
आचार्यघातिनां लोका १०-३-१३
आचार्य त्रिविधा १-१७-२९
आचार्यपुत्र दुर्बुद्धे ७-२८-१६
आचार्यपुत्रात् तस्मात् १-१५-१७
आचार्यपुत्रो य: शूर: ४-१५-५८
आचार्यमध्ये तिष्ठ ४-१३-२२
आचार्यमृत्विजं चैव २-७-१५
आचार्यवचनेनाथ १-१६-३३
आचार्यविहितं व्यूहं ७-२४-३
आचार्यशारद्वतयो: ४-१४-४५
आचार्यशिष्टा या जाति: १२-३०-१०
आचार्यं शीघ्रं कलशं ९-२४-२४
आचार्यश्च महेष्वास: १२-१०-३
आचार्यं मन्यसे कृष्णं २-७-२९
आचार्यं मा विगर्हस्व ७-२४-८
आचर्य: पाण्डुपुत्रान् वै ७-२७-३६
आचार्य: स्थविरो ७-२४-११
आचार्या मानितास्तुस्टा: ३-६-४
आचार्यो वृष्णिवीराणां ४-१५-५७
आचार्यो हि कृती द्रोण: ७-६-२९
आच्छादयसि प्रावारान् २-११-७
आच्छादित्वा दूतान् ४-१५-१३
आजगाम सभामन्यां ५-४-५
आजघ्नु: कुरवस्तत्र ८-२२-५
आजन्ममरणाद् यस्तु १३-१५-३०
आजमीढ रिपोर्लक्ष्मी: २-११-५३
आज्ञप्तस्त्वामहं योत्स्ये ६-४-४८
आज्ञप्तं नृपमुख्येषु ९-२३-१२
आज्ञप्तो धर्मराजेन ३-११-२१
आज्ञां तु शिरसा बिभ्रत् ७-१९-२
आढ्याश्च बलवन्तश्च १३-७-३३
आततायी हि यो १२-६-२८
आतस्थे स तपस्तीव्रं १५-८-१२
आतुरस्य कुतो निद्रा १०-२-२३
आत्तशस्त्रस्य हि रणे ७-२०-७१
आत्तशस्त्रां रथगता: २-१७-९
आत्तशस्त्रै रथोपेतै: ९-१५-३
आत्मजां रूपसम्पन्नां १३-८-६
आत्मज्ञानमसंरम्भ: ५-९-३८
आत्मज्ञानं समारम्भ: ५-८-१०
आत्मदोषात्त्वया राजन् ६-१५-१८
आत्मनश्चपलो नास्ति १२-६३-४५
आत्मनस्तु हितं पुण्यं १५-२-२५
आत्मन: सदृशं १७-२-१०
आत्मन: सप्तमो १७-१-१९
आत्मनाऽऽत्मानमन्विच्छेत् ५-९-३५
आत्मनानर्थयुक्तेन १२-४८-२
आत्मना विहितं १२-४८-१२
आत्मना सप्तमं कामं १२-४५-२९
आत्मनिन्दाऽऽत्मपूजा २-९-८
आत्मनीष्टे तथानिष्टे १२-४०-९
आत्मनैव कृतं कर्म ६-१५-२०
आत्मनो जन्मन: १-३-८१
आत्मनोऽतिक्रमं पश्य ११-३-३६
आत्मनो बन्धु: १-३-४३
आत्मनोऽर्थे त्वया लोके ९-२-२२
आत्मनो ह्यपराधेन ९-१९-१६
आत्मन्यपि च मित्रे च ९-२०-८
आत्मयज्ञेन नृपते ५-१५-२१
आत्मवांश्च जितक्रोध: १२-१५-१८
आत्मवीर्यं समाश्रित्य ५-३४-३९
आत्महेतो: परार्थे वा १३-२-६८
आत्मा जेय: सदा राज्ञा १२-१९-४
आत्मा नदी भारत ५-१२-६५
आत्मानमात्मनाऽऽश्वास्य ११-१-३४
आत्मानमेव प्रथमं ५-९-३०
आत्मा न शोचनीयस्ते ९-१९ १८
आत्मानं तक्षति ह्येष: ५-२४-८
आत्मानं मन्यते वीरं ८-१८-१२
आत्मानं मन्यसे चाथ १४-१-१८
आत्मानं सर्वकार्याणि १२-२६-२१
आत्मानं सर्वतो रक्षन् १२-२८-३
आत्मानुमानतो विद्वान् १४-११-३८
आत्मापराधादापन्न: ११-३-३४
आत्मापि चायं न मम १२-९-३२
आत्मा रक्ष्यो रणे तात ६-२२-४
आत्माराम: प्रसन्नात्मा १२-३-८
आत्मेव वेदितव्येषु १-१-१७
आत्मैव ह्यात्मनो ११-१-४३
आददानं महेष्वासं ७-२१-८
आददामोऽस्य रत्नानि ४-१०-६
आददीत बलिं चापि १२-१९-२१
आददे च शरं घोरं ६-८-४१
आदानरुचयश्चैव १५-३-१८
आदाय द्रौपदीं १-३४-२३
आदावेवाथ तं ३-८-१
आदित्य इव मध्याह्ने ८-१८-३०
आदित्यकेतुर्बह्वाशी १-१०-१७,
६-१९-२०

आदित्यकेतोः केतुं च ६-१९-२९
आदित्यस्तेजसां ६-२९-२१
आद्रवन्तमभिप्रेक्ष्य ६-२०-१६
आधिभिर्दह्यमानाया ६-२२-४४
आनर्तानवलोक्य त्वं १४-२-३०
आनायय सुतं क्षिप्रं ५-२६-८
आनीय च तथा वीरं १४-१०-७७
आनृण्यमद्य गच्छामि ९-१५-१०
आनृशंस्यपरैर्भाव्यं १३-३२-४१
आनृशंस्यस्य धर्मज्ञ १३-२-१
आनृशंस्यं क्षमा १२-५३-२२
आनृशंस्यं परो धर्मः ३-२४-४३,
३-२४-९१, १२-६२-५, १३-१४-३०,
आनृशंस्यं विजानामि १२-४२-१
आपतन्तं च तं दृष्ट्वा ६-१३-२०
आपतन्तीं तु सम्प्रेक्ष्य ३-१७-२८
आपतन्तीं महाशक्ति ७-१९-२०
आपत्काले हि संन्यासः १२-४-८
आपत्सु च यथानीतिः १२-१२-६
आपदर्थं च निर्यातं १२-२७-१६
आपदर्थं धनं १-२७-३६
आपदर्थे धनं रक्षेद् ५-११-४१
आपद्यापदि काले च १-२०-९
आपूर्यमाणेनास्त्रेण सैन्यं ७-४३-८
आपृच्छे त्वां गमिष्यामि २-९-४७
आपृच्छे भवतीं शीघ्रं ५-२८-३
आपृष्ठतापाञ्जप्त्वा सः ५-३०-१३
आपो मूलं फलं चैव १५-७-११
आप्लाव्य शुचयः सर्वे ५-३७-३५
आप्लुत्य रथिनः कांश्चित् ६-९-२०
आबद्ध मानुषाः सर्वे १०-१-३१
आभ्यन्तेर प्रकुपिते १२-३५-२७
आभ्यामन्यतरं पार्थं ५-३-१९
आभ्यां तव सुता १-३२-३९
आमन्त्रणार्थं दूतां २-६-३२
आमन्त्रयध्वं राष्ट्रेषु २-६-३३
आमन्त्रयामि भरतां २-१८-१
आमन्त्रये त्वां दुर्धर्षं ६-४-१७
आमन्त्रये त्वां नरदेवदेव ५-७-१
आमन्त्रये त्वां भगवन् ६-४-३२
आमन्त्र्य तौ १-३६-९
आमन्त्र्य यक्षराजं ३-१२-१६
आमिषं बन्धनं लोके १२-७-२१
आमिषे गृध्यमानानां १२-१-१६
आमुञ्च कवचं वीर ९-१५-३०
आयसं हृदयं नूनं ३-४-४
आयसैश्च महाचक्रैः १-३४-४०
आयाति भीमसेनासौ १४-१०-३
आयानेवासि विदितो १२-५०-३३
आयान्तं पाण्डवं दृष्ट्वा ७-२७-१८
आयुक्तकवचैर्युक्तैः ५-३२-११
आयुधानां च सर्वेषां १२-१९-४९
आयुधानां सम्पराये ८-८-१५
आयुधानि च दिव्यानि ३-१८-१९
आयुधानि च सर्वेषां ६-१०-२०
आयुंन सुलभं १२-६०-२१
आयुष्मान् केन भवति १३-१७-२
आयुष्मान् भवते चैव १३-२७-५
आयोधितास्तु गन्धर्वाः ३-१९-१३
आरब्धान्येव कार्याणि १२-१५-२५
आरब्धाश्च महाराज २-१०-३१
आरात् तिष्ठत मा १-२९-२८
आरामाणां तडागानां १३-१४-७
आरामेषु तथोद्याने १२-१९-१२
आरालिका सूपकारा १५-१-१३
आरालिको गोविकर्ता ४-१-२१
आरुरोह रथं शौरिः ५-२०-२
आरोग्यमानृण्यमविप्रवासः ५-८-७०
आरोप्य पृष्ठं हंसस्तं ८-८-६६
आरोप्याथ रथे कर्णं ५-२८-६०
आरोहन् दमयंश्चैव १ ३-५६
आर्जवं प्रतिपद्यस्व ५-१०-३, ५-२१-४
आर्जवं भृत्यभरणं १२-१७-६
आर्जवं सर्वकार्येषु १२-१४-९
आर्जवेन च सम्पन्नो १२-२१-४
आर्जवेनाप्रमादेन १२-६३-९०
आर्जवेनैव युद्धेन ५-३७-८
आर्जुनिश्चित्रसेनेन ६-२५-४
आर्तप्रलापान्मा तात ९-१४-३७
आर्तवाक्यं तु तत्तस्य २-११-२६
आर्तः स पत्तितः १२-४७-५
आर्तानां सुहृदां वाचो ३-९-२१
आर्ताहं प्रलपामीदं ३-४-५१
आर्द्रपाणिः १२-४६-१४
आर्यता नाम भूतानां १२-४०-१६
आर्या पृथा राजपुत्री २-१८-५
आर्याश्च पृथिवीपालाः १४-७-८
आर्यां च पश्य १४-४-४१
आर्याः पूज्याश्च ४-१६-२२
आर्ये जानासि यद् १-२६-४
आर्येण सुकरं त्वाहुः ७-२०-५०
आर्यपौत्राः क्व ते सर्वे ११-४-४७
आर्षभे चर्मणी चित्रे ७-२०-२७
आर्ष्टिषेणाश्रमे तेषां ३-१४-२५
आर्ष्यश्रृङ्गि महेष्वासं ६-२०-१२
आलस्यं चैव निद्रा १२-२४-२२
आलस्यं मदमोहौ च ५-१२-५८
आलस्ये कृतचित्तस्य १२-४-२
आलिखन्त इवाकाश ४-१२-३
आलोकयसि किं वृक्षं ४-९-२५
आवन्त्यः काशिराजेन ६-१४-६
आवन्त्यौ तु महेष्वासौ ६-१८-९
आवयोर्जीवितो राजन् ९-१४-४४
आवर्तयति भूयिष्ठं १२-२४-२७
आवाहाश्च विवाहश्च १३-१४-७५
आविध्य भीमोऽपि गदां ८-२०-७
आशया परमा प्राप्तो १४-११-८८
आशंसते वै धृतराष्ट्रः ५-६-१९
आशंसमानः कल्याणं ५-२१-११
आशंसे त्वद्य कर्णस्य ५-३०-१०
आशा धृतिं हन्ति ५-१२-६०
आशा बलवती राजन् ९-४-१२,
१२-४६-८
आशां कालवतीं १-२०-४८,
१२-३७-२४
आशां महत्तरां मन्ये १२-६३-३४
आशीविष इव क्रुद्धो ७-३४-१०

आशीविषान् नेत्रविषान् २-१३-२४
आशीविषास्ते शिरसि २-१४-३
आश्रमं ते ततो १५-६-२३
आश्रमाणां महाबाहो १२-१७-१९
आश्रमाद् राक्षसेन्द्रेण ३-२२-९
आश्रमांस्तुलयया सर्वान् १२-४-१४
आश्रमे क्रीडितं यत्तु १-१८-३८
आश्रमे वा वने वापि १३-८-९
आश्रमेषु यथाकालं १२-२६-२०
आश्रमेषु यथोक्तेषु १२-३२-२
आश्रित्य धर्मंजं १-३६-२
आश्वस्ता एव सर्वे स्म ९-१४-२७
आश्वासय सुभद्रां त्वं ७-१०-१७
आश्वासयामास च तं १-३२-४५
आश्वासयेच्चापि परं १-२०-२७
आसनस्थेषु सर्वेषु तेषु ५-१३-२
आसनं शयनं १२-१०-१८
आसनं सर्वतोभद्रं ५-२४-१०
आसनानि च दिव्यानि १-२२-२५
आसने चोपविष्टस्तु ५-४-७
आसनेनार्चयित्वा १-३-१५
आसं युधिष्ठिरस्याहं ४-१-१५
आसादितमिदं घोरं २-१९-१०
आसाद्य च कुरुश्रेष्ठ ९-१४-१
आसाद्य तु कुरुक्षेत्रं ५-३१-२८
आसाद्य तु वनं १-२८-२४
आसाद्य तु सभाद्वारं ५-२४-७
असीच्छक्त्यासिसम्पातो ७-५-७३
आसीत् किलकिलाशब्दः ६-५-५
आसीत्परमको हर्षः ७-६-१२५
आसीत् पुरुषशार्दूल ३-१०-११
आसीन्मम मतिः कृष्ण १४-४-३४
आसीन्मैत्री तु तावन्नौ १२-३५-१२९
आस्तिक्यव्यवसाया १२-६०-६४
आस्थाय तं काञ्चनरत्नचित्रं ७-३३-६
आहरेयुरिमे येऽपि ३-१-३४
आहर्ता चानुमन्ता च १३-२१-३६
आहिताग्निरधीयानो १३-२५-९
आहिताग्निर्हि धर्मात्मा १२-६०-३५
आहुश्चेमां परिषदं ५-२४-३४
आहुस्त्वां पाण्डवा ५-२४-३०
आहुः केचिद्धते सूते ९-९-४
आहूतेन रणे नित्यं १२-१३-३५
आहूतो न निवर्तेयं २-१२-३२
आहूयमानश्च स तेन ४-१४-३५
आह्वये त्वां रणं २-९-२४

इ

इङ्गितेनैव दाशार्हः १०-७-१३
इच्छतस्तेन मुच्येत ७-६-३
इच्छतः सा हि सिंहस्य २-९-१३
इच्छतां किल नामाहं २-९ १५
इच्छतां भूमिपालानां २-९-१४
अच्छतोपेक्षितो नाशः ११-५-५९
इच्छन्ति पितरः पुत्रान् ७-३०-२७
इच्छया ब्रूहि तत्त्वं १-३२-३६
इच्छयेह कृतं पापं १२-३६-१५
इच्छा द्वेषस्तथा तापः १२-३९-१२
इच्छामि तमहं ४-१५-६७
इच्छामि त्वां १-३-४१
इज्याध्ययनदानानि ५-१०-१५
इज्यायज्ञश्रुतिकृतैः १३-२१-३४
इतरे त्वथ सम्मूढाः १-१५-५९
इतरेषां तु सर्वेषां ३-४-६
इतः कष्टतरं चान्यत् १६-५-१२
इति कर्णवचः श्रुत्वा ५-३०-३७
इति कर्णस्य वाक्यान्ते ८-७-२८
इति कालेन १२-१०-२५
इति कुन्ती विनिश्चत्य ५-३०-११
इति कृष्णवचः श्रुत्वा ८-२२-२२
इति तत् कुरु कौन्तेय ६-२५-२२
इति तत्र महाराज ७-३६-२९
इति तद् वः प्रयततां ७-४-३
इति तस्य वचः श्रुत्वा २-८-३४,
१६-१-३६
इति ते ज्ञानमाख्यातं ६-३-६७
इति ते तं नरव्याघ्रं ७-३५-२२
इति तेषां प्रतिश्रुत्य ७-३७-१४
इति तेषां वचः २-९-१९
इति दुर्योधनामात्याः ३-१७-४६
इति पञ्चविधं १३-२४-९
इति पार्थं प्रशस्याथ ६-१२-३१
इति पूर्वं प्रतिज्ञातं ९-२०-१२
इति पृष्टा सुमनया १३-२३-४
इति पृष्ठो द्विजैस्तैः १४-११-१५
इति बाष्पकलां १५-४-६२
इति ब्रुवति राजेन्द्रे १५-२-४७
इति ब्रुवन्तीं तां साध्वीं १४-११-३७
इति ब्रुवन्निववृते २-१७-३१
इति ब्रुवाणं मद्रेशं ८-९-१०
इति ब्रुवाणं सुमनाः ८-१७-३१
इति भूमेर्वचः श्रुत्वा १३-१६-२७
इति भ्रातृवचः श्रुत्वा १४-७-३५
इति वाचा मधुरया १२-२७-२४
इति श्रुत्वा तु वचनं ९-२४-२४
इति श्रुत्वा त्वधिक्षेपं ९-२१-१३
इति श्रुत्वा वचस्तस्य ८-२७-२०
इति सन्तोऽनुशासन्ति २-८-४६
इति स द्रुपदो राजा १-३०-१०
इति सर्वान् गुणानेतान् १२-२०-१३
इति सर्वान् समुत्साह्य २-८-२२
इति संचिन्त्यः दुःखार्ता १२-३८-३७
इति संवदतोरेव ८-९-१७
इति सा निश्चतैवाशु १५-४-६७
इति स्म कृष्णवचनात् ८-१७-१
इति स्म तं परीक्षन्ते ४-७-७६
इतिहासपुराणानां १-१-१
इतिहासपुराणाभ्यां १-१-१४
इतिहासपुराणेषु १-८-१०
इतिहासप्रदीपन १-१-९
इतीदमुक्तं १२-३७-४७
इतीदमुक्त्वा विससर्ज ८-२५-७
इतीदमुक्त्वा शिरसा च १६-२-१०
इतो गत्वा संजय क्षिप्रमेव ५-७-४
इतो दुःखतरं किं नु ५-१७-६,
५-२८-६, १४-९-२७
इत्यभिव्यक्तमेवं स १२-३५-१३९
इत्यर्थमिष्यतेऽपत्यं १-२७-४५

इत्यवश्यं मयैतत्तु १४-११-१७
इत्युक्तवचनं तं तु १५-७-४४
इत्युक्तवति गाङ्गेय ६-२३-३३
इत्युक्तवति तस्मिंस्तु १४-१०-६३
इत्युक्तवान् गुरुः पुत्रं १०-६-९
इत्युक्तस्त्वरता तेन १२३-५-८५
इत्युक्तः कुपितो राजा ४-१५-२६
इत्युक्तः कौरवो राजा १५-७-३६
इत्युक्तः प्रतिगृह्याथ १४-११-३४
इत्युक्तः प्रत्युवाचेदं १५-७-९
इत्युक्तः प्रययौ पार्थः २-६-६
इत्युक्तः स कुरुश्रेष्ठः १४-१०-६७
इत्युक्तः स तथाचक्रे १४-१०-२१
इत्युक्तः स तथेत्युक्त्वा १४-६-७
इत्युक्तः स तथेत्येवं १५-७-१२
इत्युक्तः स तया १४-११-४७
इत्युक्तः स तदा दूतः १८-२-३७
इत्युक्तः स तु कौन्तेयः १७-१-३
इत्युक्तः स तु गान्धार्या १५-७-४७
इत्युक्तः स तु तच्चक्रे १४-१०-६
इत्युक्तः स तु तेजस्वी १४-१०-४५
इत्ययुक्तः स तु धर्मात्मा १४-५-१९
इत्युक्तः स तु राजेन्द्र १४-६-१३
इत्युक्तः स नृपो देव्या १५-६-११
इत्युक्तः स विनिष्क्रम्य ४-६-६
इत्युक्तः स्थापयामास १४-९-४१
इत्युक्ता तं तदा तत्र १२-३८-५८
इत्युक्ता तं महाबाहुः ४-७-५०, १७-२-२६
इत्युक्ता धर्मराजेन १५-४-५३
इत्युक्ता प्राद्रवत् कृष्णा ४-६-३७
इत्युक्ता सा ततः १४-११-४२
इत्युक्ता सिन्धुराजेन ३-२०-२४
इत्युक्तास्ते ततः १८-२-२४
इत्युक्तास्ते तदा १६-१-११
इत्युक्तास्तेन ते सर्वे १६-४-१२
इत्युक्तास्ते निषादास्तु १३-१३-१५
इत्युक्ते जानती सर्वमहं ११-५-१७
इत्युक्ते नृपतौ १४-१-३४

इत्युक्ते भीमसेनेन ३-२५-३२
इत्युक्ते युयुधानेन १६-१-३३
इत्युक्तो जनको १२-६०-६५
इत्युक्तो धर्मराजस्य ५-३३-१७
इत्युक्तो धर्मराजेन ८-९-६
इत्युक्तो भरतश्रेष्ठ २-१६-३३
इत्युक्तो भीमसेनस्तु ३-२१-२६
इत्युक्तो भीमसेनेन १७-२-१५
इत्युक्तो मत्स्यमध्यस्थ १३-१३-१३
इत्युक्तो वासुदेवेम ९-१४-७, १४-४-५२
इत्युक्त्वा च ततः १-१३-४१
इत्युक्त्वा चरणाभ्यां तु १२-३६-१४
इत्युक्त्वा तनयं ज्येष्ठं १-१३-४३
इत्युक्त्वा तं १-१२-१४
इत्युक्त्वा तं ततो १८-२-८
इत्युक्त्वा तं समुत्सृज्य १७-२-११
इत्युक्त्वा तानुपादाय १४-११-७०
इत्युक्त्वादाय १४-११-५७
इत्युक्त्वा दारुकमिदं १६-४-६
इत्युक्त्वा दुःखशोकार्तः ३-२५-२२
इत्युक्त्वा धर्मराजानं १५-२-२३
इत्युक्त्वा नकुलः १४-११-९१
इत्युक्त्वा न्यपतद् भूमौ ११-५-५५
इत्युक्त्वा पन्नगसुतां १४-९-२५
इत्क्त्वा पाण्डवं कृष्ण १०-५-३२
इत्युक्त्वा पाण्डवः क्रुद्धो १-२९-३७
इत्युक्त्वा पाण्डवो राजन् ७-२२-६२
इत्युक्त्वा प्रययौ राजा ७-२७-२८
इत्युक्त्वा प्रस्थितो १७-२-२३
इत्युक्त्वा प्राद्रवद् भीतो ४-१२-१६
इत्युक्त्वा प्राहरत् तूर्णं ८-३-८
इत्युक्त्वा बहु १४-८-१८
इत्युक्त्वा भरतश्रेष्ठो ५-२१-२३, ९-१६-२९
इत्युत्क्त्वा भीमसेनं तु ९-१९-१३
इत्युक्त्वा माधवं कर्णः ५-२९-४१
इत्युक्त्वा रथमास्थाय ९-२०-२२, १०-२-४८

इत्युक्त्वा राक्षसान् सर्वान् ३-१२-२१
इत्युक्त्वा राजशार्दूलः १०-७-१२
इत्युक्त्वा राजशार्दूलाः १-३१-४
इत्युक्त्वा वचनं कुर्वन् ७-२०-४१
इत्युक्त्वा वासुदेवस्तु १६-१-२४
इत्युक्त्वा शिशुपालः २-७-४४
इत्युक्त्वा शुष्कपर्णैस्तु १२-३८-६०
इत्युक्त्वा स तदा विप्रो १२-५२-७
इत्युक्त्वा स तु तान् १-२३-५९
इत्युक्त्वा समरे द्रोणो ७-३६-२४
इत्युक्त्वा सञ्जयं १५-८-१९
इत्युक्त्वा संजहारास्त्रं १०-८-५
इत्युक्त्वा सुहृदः सर्वान् १३-३२-४२
इत्युक्त्वा सैनिकान् ७-१५-१४
इत्युक्त्वा सोऽसुर २-१-२४
इत्युक्त्वा ह्रियमाणां तां ३-२०-३०
इत्येतद् गोषु मे प्रोक्तं १३-१३-४५
इत्येद् वचनं श्रुत्वा १३-१-३८
इत्येतानेवमुक्त्वा त्वं १२-५-४
इत्येवमब्रुवं पूर्वं ११-५-१८
इत्येवमादि सुमहत् १-१६-४१
इत्येवमार्तः परिदेवयन्सः १०-५-१५
इत्येवमुक्तस्तु जनार्दनेन ८-१६-१
इत्येवमुक्तस्तु तदा ५-३-२५
इत्येवमुक्तः पलितो १२-३५-७१
इत्येवमुक्तः पार्थेन १४-९-४६
इत्येवमुक्तः पुरुषोत्तमेन ८-१६-८
इत्येवमुक्तः सख्या सः १-१४-२१
इत्येवमुक्ते वचने २-१२-५२
इत्येवमुक्त्वा तौ वीरौ ३-१३-२०
इत्येवमुक्त्वा नृपते १४-९-३३
इत्येवमुक्त्वा पुनरवे ८-१६-१६
इत्येवमुक्त्वा वचनं ५-२३-३९, १६-४-७
इत्येवमुक्त्वा सहसोत्पपात ८-१६-२३
इत्येमुक्त्वा संक्रुद्धो १४-७-३०
इत्येवं केशवेनोक्तः ७-२१-२१
इत्येवं चिन्तयानस्य ३-७-३
इत्येवं चिन्तयामास १-३१-३६

इत्येवं निश्चयं कृत्वा ६-२६-४६
इत्येवं निश्चयं चक्रे १०-१-२६
इत्येवं प्रब्रुवन्तस्ते १-६-१८
इत्येवं भाषमाणे तु ७-२०-३४
इत्येवं वदतां तेषां १४-१०-३३
इत्येवं वादिनं तं सः १५-८-५
इत्येवं वादिनं पार्थं २-१२-५०
इत्येवं वादिनौ कृष्णौ ७-१५-९
इत्येवं व्यक्तमाभाष्य ७-३८-१७
इत्येवं स महातेजा ७-६-१२८
इत्येषा मे मती २-३-२२
इदमत्यद्भुतं १-११-१०
इदमर्घ्यं च पाद्यं च १४-११-३३
इदमस्तीत्यसम्भ्रान्तो ७-१४-२५
इदमाह्निकमव्यक्तं १३-२७-७
इदमिन्द्रेण ते साक्ष ७-२०-४७
इदं कष्टतरं पश्य ११-५-२७
इदं कार्यममृताशाः १२-६०-६
इदं च भूयो वक्ष्यामि २-१७-६६
इदं च राज्यं पार्थाय ४-१६-३०
इदं जितमिदं लब्धं ५-१४-४४
इदं तु खलु कौन्तेय १३-२१-२८
इदं तु त्वां कुरुराजो २-१२-७
इदं तु नाभिजनामि ५-१४-४१
इदं तु नीचाचरितं ७-२०-४९
इदं तु मे यथाप्राज्ञं ८-५-९
इदं तु यदतिक्षुद्रं ७-२०-५३
इदं तु रूपं मम ४-३-६०
इदं तु सर्वं त्वं २-१०-४४
इदं तु सुमहत्कार्यं ५-२१-१७
इदं तृतीयं भ्रातृणां १८-३-१६
इदं त्वकार्यं कुरुवीर २-१४-४०
इदं दुःखतरं मेऽद्य ११-५-३१
इदं देयमिदं १३-१४-४९
इदं द्वैत वतं नाम ३-३-५
इदं धनुरियं शक्तिः १०-६-१८
इदं धनुर्लक्ष्यमिमे च १-३०-१७
इदं नगरमभ्याशे १-२६-२४
इदं निर्दिष्टमयशः १-३३-६५
इदं नूनं महाप्राज्ञो ९-१२-२१
इदं पुनर्वचनं धार्तराष्ट्रं ५-७-६
इदं भारतमाख्यानं १८-४-१५
इदं मम महद्दुखं १२-१-१०
इदं मे तत्त्वतो १३-८-१
इदं मे महदाश्चर्यं ५-१८-१९
इदं मे वाक्यमादद्ध्वं २-१५-३०
इदं यदि द्वैतवनेऽप्यचक्षः ८-१५-४
इदं वः क्षत्रिया द्वारं ६-२-३३
इदं वै देवनं पापं २-१२-२५
इदं शरणमाग्नेयं १-२३-२३
इदं शृणु महाप्राज्ञ १३-१०-२
इदं सज्यं धनुः १-३०-९
इदं ह्यद्य कुलं श्रेष्ठं ५-२४-१६
इदानीं कृतकृत्याः स्म १०-२ २८
इदानीं त्वहमव्यग्रो ११-३-४०
इदानीं पार्थ जानामि ८-१५-२२
इन्द्रकीलं समासाद्य ३-६- ३
इन्द्रप्रस्थमुपागम्य २-५-७७
इन्द्रप्रस्थे ददौ १६-४-५४
इन्द्रप्रस्थे महात्मानौ १४-२-४
इन्द्रप्रस्थे वसन्तस्ते १-३६-१
इन्द्रस्यार्धासनं ४-१६-८
इन्द्रादनवरः संख्ये ७-५-२३
इन्द्रायुधसवर्णं तु ६-१४-३०
इन्द्रियाणामनुत्सर्गो ५-१२-३३
इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन १२-६३-१७१
इन्द्रियाणि च सर्वाणि १५-३-७
इन्द्रियार्थानुभवन् ३-२४-२४
इन्द्रेण निषधान् प्राप्य ३-२५-२६
इन्द्रोऽप्येतन्नोत्सहेत ५-६-२०
इमामर्थं पुरा पृष्टो १३-१४-६१
इममेकं च ते कामं ९-१५-३१
इमं ज्ञातिबधं कृत्वा १४-१-२६
इमं त्वस्य न शक्ष्यामि २-९-३१
इमं धर्मपथं नारी १३-२३-१७
इमं वैश्रवणावासं ३-१२-४२
इमं हि पुण्डरीकाक्षं ५-२७-११
इमानि पाण्डवानां च ७-२३-२८
इमां काकोपमां कर्ण ८-८-२९
इमां च नः प्रियां वीर ४-९-८
इमां चाप्यपरां भूयः ७-८-५८
इमां भारतसावित्रीं १८-४-१३
इमे तयो शरीरे १-१२-२६
इमे ते च बलौघेन ९-४-१६
इमे ते भ्रातरः पार्थ १२-५-१
इमे ते भ्रातरः सर्वे ७-८-३२
इमे ते भ्रातरो राजन् ३-२४-९
इमे महिष्यौ भ्रातुस्ते १-७-७
इमे मां क्रमयोऽदन्ति १२-४७-१६
इमे रथाः काञ्चनपद्मचित्राः १-३२-२६
इमे वै मानवाः १२-५०-१
इमे सभायामुपनीतशास्त्राः २-१४-३६
इमे ह्यायान्ति संहृष्टाः ९-१३-३६
इमौ च बाणौ सहितौ ४-१३-२७
इमौ तौ परिघप्रख्यौ १५-२-८
इमौ हि वृद्धौ १-३३-५९
इयमापत्समुत्पन्ना १२-२७-१८
इयं कूटे मनुष्येन्द्र ४-२-५
इयं च कीर्तिता कृष्णा २-१५-१७
इयं च कृपणा वृद्धा १५-४-१९
इयं च नलिनी रम्या ३-१२-१९
इयं च माता ज्येष्ठा मे १५-७-८
इयं च वसुधा १४-२-३२
इयं पौरवंशस्य जननी ३-८-२७
इयं वारिपथे युक्ता १-२३-५६
इयं स्त्री पुत्रकामस्य १६-१-१०
इयं हि योनिः १२-६०-५३
इयं हि वसुधा सर्वा १४-४-३
इयं हि वसुसम्पूर्णा १३-२-४३
इयेष सात्यकिर्हन्तुं ७-२०-७५
इरावन्तं तु निहतं ६-२०-२०
इरावांस्तु ततो ६-१८-१०
इरावांस्तु रणे क्रुद्धो ६-१८-१३
इषुकारो नरः १२-४६-१२
इषुपाते च सेनाया ४-१३-२९
इषुर्लिप्तो न कर्णी १२-२८-४९
इष्टवन्तो भविष्यन्ति १४-५-२४

इष्टं भृत्या भृताः सम्यग् ९-२३-१०
इष्टं मे बहुभिर्यज्ञैः ९-२-४८
इष्टानिष्टविपत्तिश्च १२-६३-१७८
इष्टान् प्राणानहं १६-३-२२
इष्टापूर्तं हि ते क्लीव ५-२८-१९
इष्टापूर्तात्तथा क्षात्रात् ७-३७-१३
इष्टापूर्तेन दानेन ९-१३-१६
इष्वस्त्रकुशलाः ५-३१-१४
इष्वस्त्रमेषां देवत्वं ३-२४-१९
इष्वस्त्रे चास्त्रसंधाने ६-२३-१५
इष्वस्त्रे निपुणो योधः ४-११-१०
इह कालातिरेकेण ४-१३-७
इह कीर्तिमवाप्नोति १३-२४-४
इह निःश्रेयसं प्राहुः ५-१६-१
इह मासं प्रतीक्षध्वं १-२६-२९
इह यत्तैर्निराकारैः १-२३-११
इह वत्स्यति कल्याणि २-१८-६
इह विप्रस्य १-२८-१३
इहागतेषु वा तेषु १-३३-२४
इहैव सम्प्रवेष्टाहं ७-८-५८
इहैवागत्य पाञ्चाली २-१४-२१
इहैवैतांस्त्वहं सर्वान् २-१६-१६

ई

ईदृग्रूपमहं मन्ये ८-९-१३
ईदृशं सात्यकिं संख्ये ७-२०-६२
ईदृशीं तां सभां २-१-३३
ईदृशो नौ समायोगो १२-३५-६६
ईदृशोऽपि बलौघस्तु ६-१५-१७
ईदृशो लोकधर्मोऽयं ९-२४-१०
ईप्सितं ते करिष्यामि १-७-२७
ईप्सितो ह्येष वै ३-६-२०
ईर्यमानेन सततं ३-३-१०
ईर्ष्या कामात्प्रभवति १२-४१-१५
ईर्ष्युर्घृणी त्वसन्तुष्टः ५-८-७१
ईश्वरत्वं पृथिव्याश्च २-१०-२५
ईश्वरं चापिभूतानां ३-४-४९
ईश्वरं सर्वभूतानां १२-३२-१६
ईश्वरः सर्वभूतानां ६-३-६५
ईषदाकलितं चापि ४-७-५६
ईषदुच्छ्वसमानस्तु १३-१-१४
ईषदुत्स्मयमानस्तु ८-२७-१५
ईषादन्तं महानागं ८-७-२९
ईहमानः समारम्भान् १२-४५-१, १३-२९-११
ईहमानो धनं १२-४५-५
ईहा धनस्य न सुखा १२-४५-१८

उ

उक्तमेतन्मया पूर्वं ६-१९-३६, ७-४-२, ८-१-१६
उक्तवत्यसि कल्याणि ९-२२-३९
उक्तवानर्थतत्त्वेन १२-३५-१४१
उक्तवानस्मि दुर्बुद्धि १३-३२-३४
उक्तवांश्च महाबाहुः ७-३९-३५
उक्तस्त्वया १३-२५-१९
उक्तस्त्वेवं तथा राजा ३-१२-३४
उक्तस्योक्तस्य २-९-२०
उक्तं त्वया बुद्धिमता २-४-१
उक्तं बहुविधं वाक्यं ५-२८-२
उक्तास्यष्टादशाहानि ११-४-५
उक्तो मन्त्रो महाबाहो १२-३६-१
उक्तो मार्गस्त्रयाणां च १३-२५-१२
उक्तोऽयमर्थ आचार्यौ ४-१३-२
उक्त्वा सकृत्तथा २-१२-१२
उग्रभीमरथौ वीरौ १-१०-१८
उग्रस्य सशिरस्त्राणं ६-१३-४४
उचितश्चैव सम्बन्धः १-३५-३८
उचितं नः कुले १५-२-२८
उचितं हि सदा गन्तुं ३-१६-३३
उच्चागारमभिप्रेक्ष्य १-२३-८
उच्चावचकरा दाप्या १२-२७-१२
उच्चावचं पार्थिव भोजनीयं १-३२-३१
उच्चैर्वृत्तैः श्रियो १२-६२-३९
उच्चैःश्रवा वरोऽश्वानां ८-१-९
उच्छिद्यमानमात्मानं १२-१९-१५
उच्छिष्टभोजनः काको ८-८-६९
उच्यते यत्तु कान्तारं ११-२ ४३
उञ्छं तदा शुक्ल १४-११-२६
उड्डीनमवडीनं च ८-८-४५
उताहो एवं मन्यसे ५-६-३७
उत्कृत्य वक्षः पतितस्य ८-२०-२०
उत्कृत्योत्कृत्य मांसानि १३-१०-२०
उत्तमव्यसनार्तेन १०-८-१३
उत्तमास्त्राणि मे सन्ति १-३६-१६
उत्तमौजास्तथा राजन् ५-३६-१२
उत्तरं परिपप्रच्छ ४-१५-४
उत्तरं वै हतं दृष्ट्वा ६-५-५५
उत्तरं स समाश्वास्य ४-१२-२५
उत्तरं सारथिं कृत्वा ४-१२-५७
उत्तरा च कुमारीभिः ४-१५-१६
उत्तरा तु महार्हाणि ४-१५-७१
उत्तराभ्यां फाल्गुनीभ्यां ४-१२-४२
उत्तरां प्रतिगृह्णातु ४-१६-३१
उत्तरीयेण पानी १-२४-११
उत्तरीयैः करैश्चापि १५-४-२७
उत्तरेण तु कैलासं २-१-१९
उत्तस्थुः समरे तत्र ६-१६-८
उत्तस्थौ पुत्रशोकार्ता १०-८-५४
उत्तिष्ठ कापुरुष त्वं ५-२८-१३
उत्तिष्ठ कुरुशार्दूल १४-१-५
उत्तिष्ठ गच्छ सैरन्ध्रि ४-६-९
उत्तिष्ठ पुत्र पश्येमां १४-४-४०
उत्तिष्ठमानं सौभद्रं ७-६-१२२
उत्तिष्ठ मा शुचः पुत्र १४-९-३६
उत्तिष्ठ राजन् किं शेषे ३-१९-७२, ११-१-२३
उत्तिष्ठ राजन् भद्रं ३-१९-५२
उत्तिष्ठ राजन्युध्यस्व ९-१४-१२
उत्तिष्ठाम्येष राजेन्द्र १३-१३-३५
उत्तिष्ठोतिष्ठ गान्धारे ९-१५-१९
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ विप्रर्षे १३-१३-३४
उत्तीर्य तु महाबाहुः १४-१-२
उत्थातव्यं जागृतव्यं ५-२८-५२
उत्थानवीरः पुरुषो १२-१६-९
उत्थानहीनो राजा हि १२-१६-१०
उत्थानं च मनुष्याणां १०-१-३७
उत्थानं चाप्यदैवस्य १०-१-३४
उत्थानं संयमो दाक्ष्यं ५-१२-४४

उत्थानं हि नरेन्द्राणां १२-१६-७
उत्थानेन सदापुत्र १२-१४-३
उत्थानेनामृतं १२-१६-८
उत्थाय च पुनर्धैर्यात् १४-४-४३
उत्थाय च महाबाहुः १४-९-४४
उत्थाय तु महाबाहुः ९-१७-३१
उत्थाय तु यथाकालं १४-५-२
उत्थाय भ्रातरं राजा ८-१७-१०
उत्थायोत्थाय गच्छेत १२-३७-१६
उत्थायोत्थाय हि सदा १०-१-४७
उत्थितः स तु शैनेयो ७-२०-७४
उत्थितायां पृथायां तु १४-४-१६
उत्पतन्तं तु वेगेन २-९-२
उत्पत्ति दानवृत्ति च १२-२७-११
उत्पथे हि वने जाता ४-३-७
उत्पद्यन्ते त्रयः १२-६३-२२
उत्पन्ना कारणे १२-३५-१२७
उत्पन्नेव हि जीवामो १२-३८-५७
उत्पपात ततो धारा ६-२९-१५
उत्पेदिरे महावाताः १६-१-१९
उत्सङ्गे च व्याल २-१३-१५
उत्सवादुत्सवं यान्ति १२-४८-४,
१२-६३-१६९
उत्साहश्च कृतो नित्यं ९-२४-१३
उत्सिक्ताः पाण्डवा १-२०-३
उत्सृजैतद् रथानीकं ४-१३-३३
उत्सृज्य कार्मुकं राजन् ६-६-१०
उत्सृज्यतां चित्रसेन ३-१८-५०
उत्सृज्यध्वं महावीर्यान् ३-१८-२९
उत्सृज्य रजतप्रख्यान् ६-२५-३७
उत्सृज्य रथवंश तु ४-१३-३५
उत्सृष्टं ब्राह्मणैर्यज्ञे १४-१-३३
उदकं चक्रिरे चैव १३-३३-१०
उदकेनैव तां रात्रिं ३-१-२७
उदके बह्वः प्राणाः १२-६-२०
उदके भूरियं धार्या ५-२८-५३
उदक्रोशन् विप्रमुख्याः १-३०-२५
उदक्शिरा स्वपेत तथा १३-१७-३१
उदतिष्ठन्महाराज ६-२-२३
उदपानमिहाश्वानां ७-१४-२४
उदारं यद् भवानाह १२-३५-७२
उदासीनारिमित्राणां १२-२६-१६
उदासीनो निरीक्षस्व १-२५-६५
उदिते तु सहस्रांशो ७-३८-१
उदीचीं पुनरावृत्य १७-१-२७
उदीर्यमाणं तद् दृष्टवा ७-२६-१
उद्धृतश्च भवेच्छल्यो ८-१-३३
उद्भावयस्व वीर्यं वा ५-२८-१८
उद्यच्छेदेव न नमेत् ५-२५-२४,
५-२८-४३, १२-६३-४०
उद्यतायुधमायान्तं ८-२-१२
उद्यतां पृथिवीं सर्वां ८-३-१९
उद्यतैरायुधैश्चित्राः ६-२-२६
उद्यन्तुं वा चालयितुं १०-६-२४
उद्यन्तौ च यथा सूर्यः ८-६-३
उद्यम्य शस्त्रमायान्तं १२-१४-११
उद्यम्योद्यभ्य मे दम्यौ १२-४५-११
उद्यानानि च रम्याणि १-३४-४५
उद्यानेषु विहारेषु १-२०-३४
उद्वेगं न हि ते १२-५७-४
उद्वेपते ते हृदयं ५-१८-१७
उन्मत्त इव मे पुत्रो ५-१५-१३
उन्मत्तमकरावर्तौ ६-२-२९
उन्माथमप्यादाय १२-३५-११०
उपगम्य महात्मानं ६-२८-२४
उपगृह्य तु वैराणि १२-३६-२८
उपचीर्णो गुरुर्मिथ्या ७-४१-६
उपजाता व्यसनजा १०-२-८
उपतस्थुः प्रकृतयः ४-१५-२
उपतस्थे महाबाहुं १-२५-१४
उपतिष्ठति तिष्ठन्तं १२-४८-७
उपदिष्टो हि मे पिता ७-६-२३
उपदेशं महाप्राज्ञ १२-४६-५
उपदेशः कृतोऽनेन १०-१-१९
उपदेशेन वर्तेऽहं १२-४६-६
उपदेशोऽनयोस्तुल्यो ९-१८-३
उपधानं ततो दत्त्वा ६-२८-२३
उपधानेन दत्तेन ६-२८-११
उपपन्नमिदं पार्थ ५-३-३२
उपपन्नमिदं मातः १-२८-२२
उपपन्नमिदं वाक्यं ५-२-१
उपपन्नश्चिरस्याद्य १-२५-४
उपपन्नं कुरुश्रेष्ठे ४-१६-४३
उपपन्नं महाप्राज्ञे १-३३-३७
उपपन्नं सतामेतद् १-२७-५७
उपपन्नो गुणैरेतैः ३-२५-१७
उपपन्नो गुणैः सर्वैः ५-३०-२४
उपप्लव्यं गता स तु १०-५-२१
उपप्लव्यं स गत्वा तु ५-४-१६
उपप्लव्यादिह क्षत्तः ५-२०-१०
उपभोगैरपि त्यक्तं १२-६०-५२
उपमानमिदं राजन् ११-२-४२
उपयातानतिरथान् ४-१५-६
उपयाता नरव्याघ्रा १४-१०-२०
उपयान्तं तु वार्ष्णेयं १४-२-४३
उपयास्यामि धर्मज्ञ १४-९-४७
उपरुन्धन्ति राजानो १२-२८-६१
उपर्युपरि राज्ञां वै ६-२-४४
उपवेश्य महात्मानं १२-१२-२३
उपसङ्क्रम्य चैवैनं ४-७-४५
उपसृत्य तु राजानं ९-१७-२८
उपस्तीर्णा सभा राजन् २-१२-२२
उपस्थाने महेन्द्रस्य ३-८-१९
उपस्थितश्च १४-१०-४
उपस्थितं रथं दृष्ट्वा २-९-५४
उपाकृत्य तु वै विद्यां ७-२२-१६
उपातिष्ठत तद् वेश्म ३-८-१५
उपातिष्ठत मेघाभो ४-७-७
उपातिष्ठन्नथो वैद्याः ६-२८-१७
उपाध्यायांश्च भृत्यांश्च १३-७-२४
उपानहौ च वस्त्रं च १३-१७-२०
उपानीतं तु पानीयं ६-२९-६
उपायं न तु पश्यामि ३-१६-२९
उपायान्तं तु राधेयं ७-२२-२२
उपावृत्तेषु पार्थेषु १५-४-८०
उपासत द्विजाः पूर्वां १०-४-८
उपासते महावृक्षं १२-६३-१४०

उपासिता च वृद्धानां १२-१५-१५
उपासितास्ते राधेय ५-२९-१
उपास्तीर्णा सभा राजन् २-१७-२८
उपास्ते त्वां नरव्याघ्र १३-३१-६
उपास्यमानं मुनिभिः १२-१३-१२
उपास्यमानं व्यासेन १३-३२-१२
उपेक्षितव्यो यत्नेन १२-३३-३८
उपेक्षिता हि १२-२७-२६
उपेतमथ माल्यैश्च ३-१४-११
उपेतं पादपैर्दिव्यैः ३-११-३०
उपेत्य चाश्रमं वीराः ३-२५-१८
उपेयाय स तु क्षिप्रं ५-१३-३
उपैति सत्याद् दानं हि १२-४०-२३
उपोपविष्टा राजानं ७-७-२
उपोह्यमाने द्यूते तु २-१२-३६
उभयत्र सुखोदर्कः १२-५०-४
उभयोः पतिते छत्रे ७-१३-५
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा १२-४३-२२
उभे सत्यानृते त्यज १२-५५-१०
उभे सैन्ये च ६-१-७
उभे सैन्ये महाराज ८-१-३५
उभौ च शरजालेन ६-८-३२
उभौ तौ बद्धनिस्त्रिंशौ ९-२-४२
उभौ धर्मौ महाभागौ १२-५३-३
उभौ परमसंहृष्टौ २-५-५३, ६-८-२३
उभौ मे दक्षिणौ पाणी ४-१२-४८
उभौ वरायुधधरौ ८-२२-१०
उभौ शमयितुं वीरौ १०-७-२३
उभौ शिष्यौ हि मे ५-३३-७
उभौ श्वेतहयौ राजन् ६-८-१९
उरसा पादपान् १-२३-४७
उरसेव प्रणमसे १२-५७-३
उरुवेगेन चाप्यन्यान् ६-९-२२
उरुवेगेन संकर्षन् ६-१३-२९
उलूक गच्छ कैतव्य ५-३४-७, ५-३४-३६
उलूक नकुलं ब्रूहि ५-३४-१८
उलूक न भयं तेऽस्ति ५-३४-२७
उलूकस्तत आगम्य ५-३४-६३
उलूकस्तु ततो राजन् ५-३४-६२
उलूकाच्चैव मां रक्ष १२-३५-७४
उलूकोऽपि महाराज ९-११-२
उलूपी पश्य भर्तारं १४-९-२०
उल्मुकं तु समुद्यम्य १-२९-२४
उवाच कौरवं राजन् १-१७-३३
उवाच चाद्याहमहं ८-२०-६
उवाच चैतान् राजासौ २-५-८
उवाच चैनं मधुरं १३-३१-८
उवाच चैनं संरब्धं ९-२०-८
उवाच चैव राज्ञः १-४-९
उवाच तत्पार्थवचो निशम्य ९-१६-९
उवाच भरतश्रेष्ठ १०-८-२
उवाच भरतश्रेष्ठं ८-१७-८
उवाच भीमसेनं सः ३-११-२२
उवाच मतिमान् २-५-४२
उवाच मध्ये वीराणां ५-३३-१३
उवाच यस्यास्ति बलं ८-२०-१८
उवाच स च धर्मात्मा १४-९-३
उवाच स महातेजाः ४-७-७१
उवाच सर्वांश्च पदाति ७-२८-३७
उवाच स्वागतं तेऽद्य १२-३८-४६
उशीनर कपोते तु १३-१०-१८
उषिताश्च वने कृच्छ्रं ३-२५-२०
उषितास्मि तवागारे १२-३६-२१
उषिताः स्म महाराज ४-१६-१७
उषिताः स्म सुखं १५-४-३४
उषित्वा खाण्डवप्रस्थे २-१-१६
उषित्वा तत्र कौन्तेयः १-३५-४३
उषित्वा पञ्च वर्षाणि ३-१५-१
उषित्वा शर्वरीः श्रीमान् १३-३२-५
उष्णार्तश्च क्षुधार्तश्च १४-११-२७
उष्णीषे पर्यं गृह्णीतां १३-३३-७

ऊ

ऊचुश्च सहितास्तत्र १-३१-२८
ऊधश्छिन्द्यात्तु यो धेन्वाः १२-२१-१३
ऊनं च तावद्धि जना ८-२१-१८
ऊरू भिन्धीत भीमस्य ९-२१-१७
ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष १८-४-११
ऊर्ध्वमुत्क्षिप्य कवचं ४-११-३९
ऊर्ध्वरेता महाभागे १-३-२३
ऊर्ध्वंसस्याभावद् १-८-२
ऊर्ध्वं पुच्छान् विधुन्वानाः ४-१३-४१
ऊर्ध्वं प्राणा १३-१७-४२
ऊषुर्नातिचिरं कालं ३-१२-४०
ऊष्मतो म्लायते पर्णं १२-६३-६८

ऋ

ऋणशेषमग्निशेषं १२-३७-३७
ऋतुकाले ततो ज्येष्ठां १-७-४५
ऋतुर्मातुः पितुर्बीजः १४-११-४४
ऋते त्वां राक्षसश्रेष्ठं ६-२४-१२
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति ६-३-६३
ऋते प्रायगतं राजन् ६-४-४४
ऋते सेनाप्रणेतारं ५-३२-१८
ऋत्विक्पुरोहिताचार्याः १३-११-६
ऋत्विग् गुरुस्तथा २-८-१३
ऋत्विजं मन्यसे २-७-३०
ऋद्ध्या मरुत्तस्तान् २-४-८
ऋषयश्च महात्मानः १-३०-११
ऋषयः पितरो देवाः १३-१६-२१
ऋषयोऽपि हि धैर्येण ३-८-३८
ऋषयो ब्राह्मणा देवाः १३-२१-२
ऋषिपुत्रो मनीषी स १५-८-२१
ऋषिपुत्रो ममाचार्यो ७-२२-१४
ऋषिः कश्चिदिहागम्य १-३-२५
ऋषीणामत्र संवादो १३-२१-१०
ऋषीणामपि राजेन्द्र १२-१४-७
ऋषीणां च नदीनां च ५-१०-२३
ऋषीणां देवतानां च १२-३८-६१

ए

एक एकेन संगम्य ९-१५-१३
एक एव चरेद् धर्मं १३-२८-३३
एक एव दमे दोषो १२-३९-२८
एक एवेति जानीहि १३-२८-११
एकचक्रां गतास्ते तु १-२७-१, २
एकचक्रां ततो गत्वा १-२८-५०
एकचिन्तनमर्थानां १-२-६१
एकत्र चिरवासश्च १-२९-१४
एकत्र चिरवासो हि ३-५-५०

एकधा शतधा राजन् ७-६-७९
एकप्रहारनिहतान् ६-१३-२२
एकप्राणावुभौ कृष्णौ १९-२-३८
एकमाहुर्वैश्यवरं २-१६-१४
एकमेवाद्वितियं तद् ५-८-३५
एकया द्वे विनिश्चत्य ५-८-३२
एकवर्णः सुक्लृप्ताङ्गैः ५-२०-१२
एकवस्त्रा प्ररुदती २-१८-५५
एकशत्रुवधेनैव ५-२८-३५
एकश्चेद् योद्धुमाक्रन्दे ९-१५-१५
एकसार्थंप्रयातनां ११-१-२९
एकसार्थंप्रयातौ स्वः १०-२-४३
एकस्तव सुतो वालः १-२७-६७
एकस्तु सुखसंवृद्धः ७-६-८८
एकस्मिन्नेव जायेते ५-१-३०
एकस्याप्यसमर्थस्त्वं ७-२६-१६
एकस्यैव वयं तात ३-१८-२५
एकं त्विच्छामि भद्रं ते ५-४-२३
एकं प्रहारं यं दद्यां ५-१५-६
एकं वास्मान् निहत्य त्वं ९-१६-१४
एकं विषरसो हन्ति ५-८-३३
एकं हन्यान्न वा हन्यात् ५-८-३१
एकः कर्णः पराञ्जेतुं ५-२३-२१
एकः क्षमावतां दोषो ५-८-३६
एकः पापानि कुरुते ५-८-३०
एकः प्रसूयते राजन् १३-२०-८
एकः शत्रुर्न द्वितीयो १२-६०-५१
एकः सम्पन्नमश्नाति ५-८-२९
एकः स्वादु न भुञ्जीत ५-८-३४
एकाग्रः स्यादविवृतो १-२०-१६
एकाङ्गेनापि सम्भूतः १२-१६-१२
एकादशचमूनाथं ९-१९-१०
एकादशचमूभर्ता ९-१२-१९, ९-२३-५
एकादशचमूर्भित्वा ११-५-४०
एकादशैताः पृतना ५-५-१०
एकान्तेन हि विश्वासः १२-२४-९
एकान्तेन हि सर्वेषां १२-२८-७
एकान्तेन ह्यनर्थोऽयं ३-४-६१
एकाह्ना निर्दहेयं वै १७-२-२१
एका ह्यहं सम्प्रति २-२०-१६
एकी भूतास्ततः सर्वे ६-२५-१, १६-१-३८
एकेन तेन वीरेण ४-१५-६५
एकेन सह संयुक्तः ६-१-१५
एकेनांशेन धर्मार्थौ १३-२५-२६
एकैकश्चापि पुरुषः १-२७-६१
एकैकश्चौघबलान् ३-२४-७
एकैकेन च मां यूयं ९-१५-४,९-१५-२७
एको दुर्योधनो राजा २-९-५९
एको धर्मः परं श्रेयः ५-८-४०
एकोऽप्यमात्यो मेधावी २-२-२१
एको भीमः परं शक्त्या ६-७-८
एकोऽस्त्रवित् सखा तेऽयं ६-७-१०
एकोऽस्य सुमहाप्राज्ञ १२-३९-२६
एकोऽहमस्मीति १-३-६९
एकोऽहमिति यन्मोहात् ५-२७-२४
एको हि त्वं जातु सुतस्य ५-७-२४
एको ह्यत्र महेष्वासः ८-१-३२
एत एव त्रयो लोका १२-३०-४
एत एवासयस्तीक्ष्णाः ५-११-३६
एतच्च कदनं कृत्वा ९-२२-३४
एतच्च पूर्वं कार्यं नः ५-२-२
एतच्चैव करिष्यामो ५-१-४८
एतच्चैव मतं सत्यं ५-२५-६
एतज्ज्ञात्वा यथाभूतं ९-३-२८
एतज्ज्ञात्वा समागच्छ २-१४-१७
एतत् कुरु महेष्वास ७-६-१०५
एतत् कृतं महाराज ८-५-१७
एतत् कृत्वा महत्पापं ७-४२-६
एतत् तव महाराज १-३३-५७
एतत् तु रोचतां वाक्यं ६-३९-२८
एतत्ते कथितं तात १३-१३-४९
एतत्ते सर्वमाख्यातं १४-११-९२, १८-३-२०
एतत् ते सर्वमाख्यानं १३-३-२४
एतत् पापिष्ठमकरोः २-१३-४९
एतत् पार्थस्य तु वचः ७-२०-७३
एतत् फलमहिंसायाः १३-२१-५८
एतत् श्रुत्वा च १५-८-२६
एतत् श्रुत्वा ततो राजा ६-७-१८
एतत् श्रुत्वा तु कौन्तेयः ५-३७-१८
एतत् श्रुत्वा तु कौन्तेयाः १-२९-८
एतत् श्रुत्वा तु ते सर्वे ६-२३-३४
एतत् श्रुत्वा तु नृपतेः ४-१०-१७
एतत् श्रुत्वा तु राधेयः ५-३५-३१
एतत् श्रुत्वा तु वचनं १-३३-७, ६-२२-१०, ७-२१-३१, ८-२१-९
एतत् श्रुत्वा तु विदुरं ५-२७-१५
एतत् श्रुत्वा पाण्डवो ८-१६-१९
एतत् श्रुत्वा महान् २-१५-१८
एतत् श्रुत्वा महाबाहुः ५-१८-१०
एतत् श्रुत्वा महाराज ६-४-४६, ५०
एतत् श्रुत्वा वचस्तस्य ७-१०-२३, ८-१२-२१
एतत् श्रुत्वा वचः क्रूरं ६-१९-३५, ९-१-२१
एतत् श्रुत्वा वचो भीष्मः ६-११-२०
एतत् श्रुत्वा वचो राज्ञो ९-३-१७
एतत् श्रुत्वा व्यवसितो २-१२-५५, ५८; २-१३-२८, ३०, ३२, ३७, ४३, ४५, ४८
एतत् श्रुत्वा शमं १३-१-३७
एतत् सर्वमनुध्याय ९-२२-३२
एतत् सर्वमशेषेण १३-१५-७
एतत् सर्वं तु विज्ञाय ९-२२-३०
एतत् सर्वं यथान्यायं १५-३-३९
एतत् सर्वं समाज्ञाय ५-१५-१२
एतत् सर्वं समीक्ष्य १-२७-४०
एतत् संचिन्त्य राजेन्द्र २-२-८४
एतत् सुभीमं भीमानां १०-६-३६
एतदर्थं मया खड्गो ८-१५-२१
एतदर्थं मया तात ५-३४-५८
एतदर्थं महाबाहुः १०-८-२४
एतदर्थं हि हैडिम्बे ७-३०-२६
एतदस्त्रमतश्चैव १०-८-३३
एतदाख्याय स मुनिः २-२-६७
एतदाचष्ट पृष्टः १-३-३९

एतदाचार्यतनयात् ८-१-१०
एतदाज्ञाय वचनं १४-७-२०
एतदात्मवतां वृत्तं ३-४-३३
एतदिच्छाम्यहं ज्ञातुं ५-३७-५
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं ९-१-२, १८-१-२
एतदीदृशकं कृत्वा ६-५-५४
एतद् गृहस्थधर्मं त्वं १३-१६-२८
एतद् धनञ्जयो वाच्यो ५-२८-५६
एतद् धर्मफलं पुत्र ५-३०-१९
एतद् ध्वजाग्रं पार्थस्य ४-१३-१५
एतद्धि नित्यं यत्नेन १५-७-३५
एतद्धि परमं नार्याः १-२७-२७
एतद् निशम्य प्रययुर्हि ३-२१-५
एतद् ब्रह्मन् विजानामि १२-५७-१३
एतद् भीष्मस्य वचनं १२-३९-३१
एतद् यशस्यमायुष्यं १३-१७-७७
एतद् राजन् २-१३-२९, ४२, ४७, ५१
एतद् वचनमाज्ञाय ३-५-४१, १६-५-२४
एतद् वचो मद्रपतेर्निशम्य ८-२६-४१
एतद् वाक्यं सौहृदादापगेयो ६-२९-३३
एतद्विचिन्तितं तावत् १२-५२-१६
एतद् विज्ञाय धर्मज्ञ १-२५-२०
एतन्नारोचयद् राजन् ७-३९-६
एतन्मम धनं २-१३-२७, ३१
एतन्महत्कर्म करोति १-३०-१८
एतन्मे सर्वमाचक्ष्व ११-२-४१
एतमर्थं महाबाहुः ९-१२-५९
एतमाश्रित्य पुत्रस्ते ५-१३-२६
एतस्मात् कारणात् पाप ९-१४-४८
एतस्मिन्नन्तरे द्रौणिः ८-१३-२
एतस्मिन्नन्तरे राजन् ७-३१-३
एतस्मिन्नन्तरे वीरः ८-१३-२१
एतस्मिन्नतरे वीरौ ७-१४-५
एतस्मिन्नन्तरे शून्ये ७-४-६
एतस्मिन्नेव काले च ८-१२-३६
एतस्मिन्नेव काले तु १-२३-४८, ५-३३-१०, ६-१४-४९, ६-१७-३१, ६-२२-२०, ७-२१-१०, ८-१३-१४, १४-३-१७, १४-१०-२; ३७
एतस्य हि महाबाहो ४-१५-४१
एतस्यैवं प्रवृद्धस्य ७-३०-२४
एता जात्यस्तु वृक्षाणां १३-१४-१५
एता दीर्घमिवोच्छ्वस्य ११-५-७
एतानद्य हनिष्यामि ६-१३-३८
एतानर्घ्यानभिगतान् २-७-१६
एतानास्थाय वै तात ३-१८-९
एतानि राज्ञां कर्माणि १२-९-१८
एतान् दोषाँस्तु १-३५-३७
एतान् धर्मान् कौरवाणां ५-६-४३
एतान्न हन्तुमिच्छामि ६-३-२५
एतान् निहत्य समरे ३-२-६
एतान्यनिगृहीतानि ५-९-३३
एतान्यस्य मृषोक्तानि ५-१३-३१
एतान्येव पदान्याहुः १२-४५-३
एतान् शोकभयोत्सेकान् १२-५७-१०
एतान् हि सर्वान् संरब्धान् ५-२७-२३
एतावदुक्त्वा गोविन्दो १४-१-१३
एतावदुक्त्वा तं द्रोणः ७-११-३८
एतावदुक्त्वा द्रौणिर्मां १०-६-३७
एतावदुक्त्वा राजानं १-३-१०३, ६-२२-८
एतावदुक्त्वा वचनं ९-३-४३, ९-१२-६५, ९-२२-४६, ९-२४-१८, १२-१-२३, १३-३२-३२, १५-२-५३
एतावदेव पुरुषैः २-४-३०
एतावन्मात्रमेतद्धि १३-३०-४
एता वाचः परुषाः ८-१६-६
एतावानात्मविजयः १२-१९-५
एतावानेव पुरुषे १-२८-१४, ५-२८-२७
एतावानेव वेदेषु निश्चयः १२-२-२१
एतावान् पुरुषस्तात १-२७-१३
एताश्चान्याश्च विविधाः १५-२-१०
एतां बुद्धिं विनिश्चत्य १२-७-१३
एतां बुद्धिं समास्थाय १२-४५-३०
एतांश्च वचसा साम्ना ७-८-३३
एतांश्चान्यांश्च सुबहून् ९-२३-१९
एते गुणाः समस्ताः १२-१९-३४
एते च बहवश्चान्ये ५-१४-१३
एते चान्ये च बहवः ५-३६-२१, ७-३-२९, ७-९-९
एते चैवापरे चैव १२-१४-३२
एते ते घ्नन्ति नस्तात ७-२३-१६
एते त्वां पाण्डवाः ७-४२-५
एते द्रवन्ति पाञ्चालाः ८-१९-४
एते न किंचिदप्याहुः २-१५-२२
एतेन व्यवसायेन तत् ३-२४-८
एतेन सहितो युध्य ७-२९-१७
एतेन हि कृता योग्या ९-१६-४
एतेन हि महाबाहो ७-२०-७
एतेनैवार्जुनं ज्ञातुं ७।२७।१४
एते प्रधान्यतो राजन् ५-३६-२२
एते मत्स्यानुपागम्य ४-११-३
एते महारथाः शूराः ६-१३-३४
एते रथा नरव्याघ्राः ३-१८-८
एते रथास्तवाख्यातं ५-३६-१
एते रुवन्ति मधुरं १-२४-९
एते विचित्रवीर्यस्य १-७-५१
एते वै सप्त दोषाः ५-१२-५८
एतेषामवमानानां ६-२०-२८
एतेषामुदयं स्थानं १२-४०-५
एतेषां कतमो राजन् ४-१-८
एतेषां बाहुवीर्येण ४-१६-२४
एतेषु विजितेष्वद्य २-१०-३७
एतेषु हि नरः सक्तो २-१५-२५
एते हि नित्यसंन्यासा १२-४-१२
एते ह्यपि यथैवाहं ५-१६-२७
एते ह्यभिमुखा सर्वे ७-२७-११
एतैरतिरथैर्गुप्तः ६-५-२९
एतैरेव गुणैर्युक्तः १२-२४-१९, १२-२५-११
एतैर्विवर्धते तेजः १२-५४-२६, १२-६३-११७
एतैश्चान्यैश्च विप्रस्य १२-३३-२५
एत्य नो नार्जुनो गर्हेद् ७-६-१९
एनं चेन्न महाबाहुः ९-१८-१४
एनं सेनापतिं कृत्वा ९-३-८
एभिः पाप्मभिराविष्टो १२-७-१६

एभिः सहायैः कस्मात् त्वं ३-२२-१४
एभ्यो निकृतिपापेभ्यः ५-२८-२६
एवमत्र महाराज १४-१०-४३
एवमभ्याहते लोके १२-४४-७
एवमस्त्विति चोक्तः १२-३३-७
एवमस्त्विति तं चापि १-१३-२०
एवमस्तिवति तं राजा ३-२१-४६
एवमस्त्विति तां राजा १-३-४६
एवमस्त्विति बीभत्सुः ७-२१-१५
एवमस्त्विति राजानं ७-३२-६
एवमाकारलिङ्गैस्ते २-१८-६०
एवमाख्याय पार्थेभ्यः २-२-८६
एवमाख्यायमानं तु ४-१५-६६
एवमाज्ञाप्य राजा सः १५-६-१६
एवमादीनि वाक्यानि ४-१२-२१
एवमाभाष्यमाणोऽपि ६-४-८
एवमाप्य राजानं ८-१७-१८
एवमामन्त्र्य ते वीराः ६-२६-१६
एवमार्ता विलपती ११-५-११
एवमाश्वासितस्तेन ११-१-२२
एवमाश्वासितः पार्थः ७-८-३४
एवमाश्वासितो राजा ७-६-१५
एवमाश्वासितो विद्वान् १२-३५-७६
एवमुक्तस्ततः कर्णः १-१७-३५, १-१७-४३
एवमुक्तस्ततः कृष्णो २-६-२६
एवमुक्तस्ततः पक्षी १२-३८-५२
एवमुक्तस्ततः पार्थः ३-२३-४१
एवमुक्तस्ततो द्रौणिः १०-२-२२
एवमुक्तस्ततो भीमः ७-४३ २६
एवमुक्तस्ततो राजन् ६-८-१८
एवमुक्तस्ततो राजा ६-२-३२, ६-३-२२
एवमुक्तस्ततो राज्ञा ४-२-२२
एवमुक्तस्तथा चक्रुः ६-६-१३
एवमुक्तस्तथेत्युक्त्वा २-१८-१८, ३-८-३, ८-५-५
एवमुक्तस्तदा कर्णः ८-२६-११
एवमुक्तस्तदाचार्यः ७-११-३७
एवमुक्तस्तदा पार्थः ७-५-५७
एवमुक्तस्तदा भीमो २-५-६०,३-२३-४८
एवमुक्तस्तदा राजा ६-८-६
एवमुक्तस्तदा शूरैः ६-१४-३५
एवमुक्तस्तया भर्ता १-२७-४१
एवमुक्तस्तव सुतः ६-२३-३६, ८-५-१८
एवमुक्तस्तु कर्णेन ३-१६-११,५५,७६; ६-२३-१०
एवमुक्तस्तु कृष्णेन ५-३-२०, ८-१२-३३, ८-१५-१८, १६-६-१
एवमुक्तस्तु कौन्तेयो १२-६-१०
एवमुक्तस्तु गन्धर्वः ३-१६-२६
एवमुक्तस्तु गाङ्गेयः १३-३२-२१, ३६
एवमुक्तस्तु गोविन्दो १२-११-३
एवमुक्तस्तु दाशार्हः ७-५-४२, ६-१०-१०
एवमुक्तस्तु देवेन ८-२६-१३
एवमुक्तस्तु पार्थेन ६-१५-३, ६-२२-२६, ६-२७-२२, ७-१४-१७
एवमुक्तस्तु पृथया १-२७-७६
एवसुक्तस्तु भीमेन ३-१३-१७
एवमुक्तस्तु भीष्मेण १२-१३-३६
एवमुक्तस्तु मार्जारः १२-३५-६१
एवमुक्तस्तु राज्ञा सः १४-१-८
एवमुक्तस्तु राजेन्द्र १४-४-२६
एवमुक्तस्तु राधेयो १-३१-२१
एवमुक्तस्तु वेगेन ४-१०-३१
एवमुक्तस्तु शक्रेण ३-८-४०
एवमुक्तस्तु सव्रीडं ३-२१-५८
एवमुक्तस्तु सुश्रोण्या ४-११-३२
एवमुक्तस्य कर्णस्य १-१७-२८
एवमुक्तः परां शान्ति १२-३५-११६
एवमुक्तः प्रत्युवाच १-२२-५१, ३-६-२५, ३-२०-१६, ५-१७-२४, ८-३-५
एवमुक्तः प्रातिकामी २-१४-१२
एवमुक्तः शकुनिना २-११-२०, ३-१६-५०
एवमुक्तः स कृष्णेन ११-३-३७, १२-१२-१२
एवमुक्तः स गन्धर्वैः ३-१८-२७
एवमुक्तः स तं द्रोणो १-१८-४३
एवमुक्तः स धर्मात्मा १५-४-५५
एवमुक्तः सः नृपति २-५-४०
एवमुक्तः स पार्थेन ४-१२-२६
एवमुक्तः स बीभत्सुः १६-४-१
एवमुक्तः स भगवान् १-३६-२१, २६
एवमुक्तः समाश्वस्तः ७-११-७
एवमुक्तः स राजर्षिः १५-४-२, १५-७-५
एवमुक्तः स राजा तु १४-७-३७
एवमुक्तः स वैराटिः ४-१३-३४
एवमुक्तः सव्यसाची १-१५-४७
एवमुक्तः स सैरन्ध्र्या ४-११-२४
एवमुक्तः सहस्राक्षं ३-६-१६
एवमुक्ता ततः शंक्रं १-११-१३
एवमुक्ता तु पार्थेन ३-८-३०
एवमुक्ता प्रत्युवाच ४-११-३५
एवमुक्ता महाबाहुः ५-३३-६
एवमुक्ता महीपालाः ६-२-३६
एवमुक्ता महेष्वासाः ६-१४-३७
एवमुक्तास्ततः सर्वे २-४-४०, ३-१३-५०
एवमुक्तास्तया पौराः १-२२-४२
एवमुक्तास्तु गन्धर्वाः ३-१७-१५, ३-१८-२४
एवमुक्तास्तु गन्धर्वैः ३-१७-१६
एवमुक्तास्तु ते सर्वे १-२२-१२, ७-२८-१२
एवमुक्तास्तु राधेयः ७-२६-३४
एवमुक्ता स्मितं कृत्वा ३-८-८
एवमुक्ता हिडिम्बा १-२५-८
एवमुक्ते तत. कुन्तीं १४-४-१५
एवमुक्ते ततः सर्वा ८-१२-४७
एवमुक्ते ततोः द्रोणं ७-१-२६
एवमुक्ते तु कृष्णेन ५-३१-२३
एवमुक्ते तु धर्मात्मा ३-१६-१६
एवमुक्ते तु भीष्मेण २-६-१६, ६-११-२४
एवमुक्ते तु वचने २-१३-५२, ३-२-६
एवमुक्ते तु सव्रीडः ४-१०-४८
एवमुक्ते मया २-८-१६

एवमुक्ते महाराज ७-२०-८५
एवमुक्तेषु राज्ञा १-२२-१४
एवमुक्तो गुडाकेशः ३-२३-३२,
५-३७-२५
एवमुक्तो धर्मराजः ४-१६-३२
एवमुक्तोऽपि दुष्टात्मा ५-३१-७
एवमुक्तोऽब्रवीत् पार्थं ८-१७-१९
एवमुक्तोऽब्रवीद् द्रौणी ९-१३-१५
एवमुक्तो भगवता १३-३१-७
एवमुक्त्वो मया द्रौणिः १०-६-३३
एवमुक्तो महाबाहुः ७-२-६५,
७-२२-२५, ७-३०-१९
एवमुक्तो महाराज ७-३०-१२,
९-१४-२२, ११-६-४
एवमुक्तो हृषीकेशो ६-३-१५
एवमुक्तौ महात्मानौ ७-२२-५५
एवमुक्त्वा किरन् बाणान् ७-४-२१
एवमुक्त्वा कुमारान् १-१४-३७
एवमुक्त्वा कुरून्सर्वान् १-२-२७,
१३-३३-१
एवमुक्त्वा जरासन्धः २-५-४३
एवमुक्त्वा जहासोच्चैः ५-२७-२५
एवमुक्त्वा ततः कृष्णा १०-५-२७
एवमुक्त्वा ततः कृष्णां ३-११-२५
एवमुक्त्वा ततः पार्थं ८-१०-२९
एवमुक्त्वा ततः पार्थः ३-२३-३९,
६-१३-३९
एवमुक्त्वा ततः ७-२३-३६, ७-३१-२३
एवमुक्त्वा ततः शौरी ६-८-११
एवमुक्त्वा ततो बाहुं १-२५-४७
एवमुक्त्वा ततो भल्लं ७-६-९२
एवमुक्त्वा ततो भीष्मं ६-२७-१५
एवमुक्त्वा ततो भीष्मः २-८-१४
६-१०-२५
एवमुक्त्वा ततो राजा ५-३४-२१
एवमुक्त्वा ततो वाक्यं ७-८-३७
एवमुक्त्वा ततो वीरौ ६-१५-३९
एवमुक्त्वा तु कौन्तेयः १-१८-१०,
२-१६-३

एवमुक्त्वा तु गाङ्गेयः १३-३२-२६
एवमुक्त्वा तु गान्धारी ११-४-४०
एवमुक्त्वा तु तं कृष्णे ७-४४-१०
एवमुक्त्वा तु तानक्षान् २-१३-३४
एवमुक्त्वा तु ते व्याधाः ९-१३-२७
एवमुक्त्वा तु बीभत्सुं ६-२८-१४
एवमुक्त्वा तु बीभत्सुः ४-११-४६
एवमुक्त्वा तु भीष्मस्तां १-५-५०
एवमुक्त्वा तु राधयः ८-८-२५
एवमुक्त्वा तु वार्ष्णेयं १४-४-१३
एवमुक्त्वा तु सौभद्रम् ७-६-७६
एवमुक्त्वा तु हैडिम्बः ६-२०-२९
एवमुक्त्वा त्वरन् द्रोणः ७-१२-२७
एवमुक्त्वा धनुर्घोरं ६-१६-१५
एवमुक्त्वा धनुस्त्यक्त्वा ७-४४-२१
एवमुक्त्वा धर्मराजं ३-५-५१
एवमुक्त्वा धर्मराजः ३-६-१०
एवमुक्त्वानदद् राजन् ७-६-५६
एवमुक्त्वानवेक्ष्यैनां १७-२-७
एवमुक्त्वा निवेश्यतान् १-२६-२८
एवमुक्त्वानु जग्मुस्ते ३-१-८
एवमुक्त्वा प्रहस्यैनं १-१८-३७
एवमुक्त्वाब्रवीन्माद्री १-११-२१
एवमुक्त्वा महाबाहुः १-१३-५७,
१-२४-२२, ३-२-२१, ५-२३-१७,
६-२१-१०, ७-२८-१०, ७-३०-३२
एवमुक्त्वा महाभागः १-२९-२१
एवमुक्त्वा महाराज ४-७-७२, ८-५-२०,
८-६-१७, ८-१०-११, ८-१३-७; १६,
९-१२-४१, ९-२२-३७, १०-२-४१
एवमुक्त्वा महीपालान् १-६-२१
एवमुक्त्वा यदुश्रेष्ठः २-९-३२
एवमुक्त्वा ययौ विद्वान् १-१३-४९
एवमुक्त्वा युधां श्रेष्ठः १०-७-१
एवमुक्त्वार्जुनं राजा ७-१५-१६
एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये ६-३-२८
एवमुक्त्वार्जुनो बाणान् ७-१५-२९
एवमुक्त्वा विदुरं २-१२-१५
एवमुक्त्वा विनिश्चित्य १२-३८-७१

एवमुक्त्वा शान्तनवो ६-२९-८
एवमुक्त्वा सटास्तस्य ३-२१-४३
एवमुक्त्वा स तान् २-७-३
एवमुक्त्वा स धर्मात्मा ११-३-३,
१४-६-२१
एवमुक्त्वा सम्प्रतस्थे १-२०-५१
एवमुक्त्वा स वामेन पदा ९-१९-३
एवमुक्त्वा सुदुःखार्तः ९-१९-२१
एवमुक्त्वा हिडिम्बां सः १-२५-४२
एवमुक्त्वा हृषीकेशं ६-३-३६
एवमुक्त्वा हृषीकेशः १६-३-२०
एवमुच्छिष्टपुष्टः स ८-८-६८
एवमेतत्करिष्यामि १-५-४३,
४-७-३१, ३९; ५-४-२९,
८-५-१९-१५-४-१
एवमेतत् तडागस्य १३-१४-१३
एवमेतत् तु संचिन्त्य ४-९-३५
एवमेतद् यथाऽऽत्थ त्वं १-२६-९
एवमेतद् यथा त्वं मां ५-१२-६९
एवमेतन्मया तात १-२१-२१
एवमेतन् महाप्राज्ञ १-३४-१६
एवमेतन्महाबाहो ३-५-३०, ५-१-४२,
५-३२-२३, ६-२६-१३, ११-३-३८,
१५-४-७१
एवमेतन्महाराज ५-१४-४०
एवमेतं महाव्यूहं ६-१९-६
एवमेते महासेने ६-२२-५०
एवमेनं महाव्यूहं ६-७-२६
एवमेव तु गोविन्दं ८-२२-१९
एवमेव महात्मानः ३-२५-२७
एवमेव महाबाहो ८-२८-१३, ७-३०-२९
एवमेव यथाऽऽत्थ त्वं १०-२-२४
एवमेव यदा विद्वान् १२-३३-३३
एवमेव विना राज्ञा १२-१८-२३
एवमेव हते कर्णे ७-२२-४६
एवमेवात्मनो वीर्यं ८-८-५
एवमेवापरां सन्ध्यां १३-१७-१५
एवमेष क्षयो वृत्तः ८-२७-३२, १०-४-२९
एवमेषां करिष्यामि ५-३२-२६

एवं कर्मसु सर्वेषु २-१२-३०
एवं कलत्रमानीय १६-४-५०
एवं कुरु न चान्या तु १०-८-३४
एवं कृते रथस्थोऽहं ८-५-१६
एवं कृष्णा विराटस्य ४-३-४७
एवं कृष्णां मोक्षयित्वा ३-२२-२
एवं क्रुद्धो भीमसेनः ८-२०-१९
एवं क्लान्तमना राजन् ७-२३-५
एवं गते प्राप्तकालं ७-३०-१३
एवं गते मयेदानीं ६-२८-१९
एवं च मामुपस्थाय २-५-१७
एवं चरस्व राज्यस्थः १२-२०-१२
एवं चिन्तापरिगतो ३-१९-४०
एवं ज्ञात्वा महाप्राज्ञ ११-२-५८
एवं ज्ञात्वा स्थिरो भूत्वा ७-७-१५
एवं तदभवद् युद्धं ८-४-१६
एवं तयोर्युद्धतोराजि ८-२५-२
एवं तान् व्याकुली कृत्य ७-२१-२७
एवं ता भीरु रोत्स्यन्ति ५-१९-१९
एवं ते धर्मराजस्य १५-१-१७
एवं ते निधनं यातः १०-४-२८
एवं ते न्यवसंस्तत्र ४-४-२५
एवं तेऽन्योन्यमामन्त्र्य ४-२-१
एवं ते पुरुषव्याघ्राः २-१७-७७,
६-२-५२

एवं ते मत्स्यनगरे ४-४-१
एवं ते विनिवृत्तास्तु १-३१-३३
एवं ते विलपन्ति स्म १-२३-४२
एवं तेषां कथयतां १४-६-४
एवं तेषां विलपतां १-३०-३२
एवं तेषु निवृत्तेषु १-३०-२१
एवं ते समयं कृत्वा ९-४-८
एवं तौ कथयन्तौ १-२७-१६
एवं त्रिरात्रमभवत् १४-७-२७
एवं त्वया कुरुश्रेष्ठ १५-३-३७
एवं त्वसौ राजसुतं निशम्य ८-२०-१७
एवं त्वं मामिहाभ्येत्य २-१२-३१
एवं त्वां वासयिष्यामि ४-३-४६
एवं दत्त्वार्जुने शापं ३-८-३३

एवं दुर्बुद्धिना प्राप्तं १२-३३-१६
एवं दुर्मर्षितो राजा १४-९-८
एवं दुर्योधनेनोक्तं ९-२-५९
एवं दुर्योधने राजन् ९-१६-१
एवं दुःशासनबलं ७-११-२९
एवं द्यूतजिताः पार्थाः ३-१-१
एवं द्वन्द्वसहस्राणि ६-५-१८
एवं धर्मं प्रधानेष्टं १२-८-११
एवं धर्मेण धर्मज्ञः १-६-२६
एवं धर्मेण वृत्तेन १२-२१-१८
एवं धृतिमतः साधोः १०-८.२२
एवं नाहं न वै मृत्युः १३-१-३२
एवं निपातिते कर्णे ९-१-१
एवं निर्जित्य तान् वीरान् १४-८-२०
एवं निर्दिश्य चात्मानं ४-१-१६
एवं निश्चित्य मनसा ७-१८-१०
एवं नूनं व्यदधात् २-१४-२४
एवं पश्यन् हृषीकेशः १६-१-२१
एवं पुत्राश्च पौत्राश्च १२-४३-७
एवं प्रमुदितः पार्थः ५-३-३३
एवं प्रयतमानानां १६-१-१८
एवं प्रलम्भान् विविधान् २-१०-१५
एवं प्रवर्तमानस्य १२-५८-१३
एवं प्रवर्तिते द्यूते २-१३-१
एवं प्रव्रजिताश्वानि ६-१४-९
एवं प्राज्ञवता बुद्ध्या १२-३५-१५३
एवं बभूव यज्ञः सः १४-१०-८२
एवं बलवतः सर्वं ३-५-२३
एवं बहुगुणं सैन्यं ६-१५-१३
एवं बहुविधं तस्य ७-१९-४९
एवं बहुविधं तस्या १-२७-५०
एवं बहुविधं राजा १८-२-३३
एवं बहुविधा वाचः ६-२४-६२,
१८-२-२०

एवंबुद्धिः पाण्डवेषु ५-२५-३४
एवं ब्रुवति कृष्णोऽस्त्र ६-४-१२
एवं ब्रुवति कौन्तेये ७-४३-११
एवं ब्रुवति कौरव्ये १४-२-३३
एवं ब्रुवति दाशार्हे ५-२५-३८

एवं ब्रुवति देवेन्द्रे १८-३-११
एवं ब्रुवति भीमं तु ३-९-१५
एवं ब्रुवति राजे ३-१२-४३, ४-१६-४५
एषं ब्रुवत्यां करुणं १४-८-१६
एवं ब्रुवत्येव मधुप्रवीरे ५-१-२७
एवं ब्रुवत्येव युधिष्ठिरे १-३२-२५
एवं ब्रुवाणमजिनं २-१७-५८
एवं ब्रुवाणस्तं वीरं १०-३-१४
एवं ब्रुवाणं कर्णं तु ७-२६-१०
एवं ब्रुवाणं गोविन्दं १०-८-४०
एवं ब्रुवाणं भीमं तु ३-९-११
एवं ब्रुवाणो बीभत्सुः ७-११-४८
एवं भवतु कल्याणि २-१६-१०
एवं भित्त्वा महेष्वासः ६-१६-२४
एवं भूतस्तव पिता ६-२७-४१
एवं मत्स्यस्य नगरे ४-४-२
एवं मनुष्यमप्येकं ५-११-२६
एवं मारिष संग्रामो ८-९-२६
एवं मे समयं त्वद्य ४-७-२९
एवं युयुधिरे वीराः ६-१६-१०
एवं ये ज्ञातयोऽर्थेषु ५-१६-२१
एवं ये भूतमिच्छेयुः १२-१८-१५
एवं रूपा मया नारी ४-५-१५
एवं लोकानुरोधेन १२-१८-५९
एवं वनस्थाश्च हि ते ३-१६-१
एवं वर्षाण्यतीतानि १५-८-३६
एवं विचिनुयाद् राजा १२-१९-१३
एवं विचिन्तयानस्तु ९-१२-२२
एवं विचिन्त्य बहुधा ९-२२-१४
एवं विद्वञ्जोषमास्स्व ८-८-२१
एवं विद्वान् मावमंस्थाः ८-८-७९
एवं विधं कार्मुकभीमनादम् ६-१३-९
एवं विप्रलपन्तीं १४-४-४२
एवं विमृशतस्तस्य १२-५२-२४
एवं विलपतस्यस्य १२-३८-३४
एवं विलपन्तीं कुन्तीं २-१८-३४
एवं विलपमानं तं ७-९-६
एवं विलप्य बहुधा ३-२४-६, ७-८-२०,
१२-३८-८०

एवंवृत्तानि युद्धानि १४-७-९
एवं वै परमं धर्मं १३-२१-१७
एवं वै भाव्यमेतेन ५-३०-३८
एवं स गौतमस्तत्र १२-५२-३९
एवं स गौतमः पुत्रं १२-५२-३५
एवं स चिन्तयित्वा तु ७-१६-७
एवं स तत्र गूढात्मा १-१४-२९
एवं स तपसा राजन् १५-५-११
एवं स तान्समाश्वास्य १-२६-२५
एवं स दुःखितो राजन् १२-५२-३१
एवं स धार्तराष्ट्रांश्च १-१३-१०
एवं स निधनं प्राप्तः १५-८-२५
एवं स निश्चयं कृत्वा १-१३-१५
एवं स निहितो राजन् ७-२१-३५
एवं स पाण्डवः क्रुद्धः ६-२७-२९
एवं स बहुशः सर्वान् २-१५-११
एवं स बहुशो राजा ८-२७-२७
एवं समीक्ष्यात्मनि २-१७-६४
एवं सम्पूजितो ३-७-१०
एवं सम्भाषमाणे तु ३-१०-७
एवं स राजशार्दूल १३-३३-४
एवं स राजा धर्मात्मा १४-७-२१
एवं सर्वास्त्रविदुषोः ४-१४-१५
एवं सर्वेषु कार्येषु १२-५२-४०
एवं स वसते तत्र ११-२-३८
एवं स सुबहून् मल्लान् ४-४-१८
एवं संकथयन्तौ तौ ७-८-१२
एवं संछादितं तत्र ६-१४-१२
एवं संयम्य चित्तानि ४-२-१९
एवं संरुषितस्तेन ७-२६-२१
एवं संसारगहने ११-२-१४
एवं सा धर्मराजस्य ६-१२-१६
एवं सान्त्वसमायुक्तं १-३३-५६
एवं सा बहुला सेना ६-९-२३
एवं सुरमणीयानि ३-११-३६
एवं स्थिते धर्मसुतस्य ५-१-१२
एवं हि मत्स्ये न्यवसन्त ४-३-७४
एवं हि वर्तमानेऽहं १-४-११
एवं हृतायां कृष्णायां ३-२२-१, ३-२३-२
एवं हृतायां भार्यायां ३-२३-१
एष एको महातेजाः १४-९-३२
एष एव परो धर्मो १५-२-५१
एष केतू रणे कृष्ण ८-१९-३
एष गच्छति सौभद्रः ७-६-४७
एष गान्धारि पुत्रस्ते ५-२६-५
एष चापि नरव्याघ्रो ६-२६-१२
एष चास्तं गिरिश्रेष्ठं ६-१० २३
एष चास्त्रप्रतीघातं ७-४४-१९
एष चेदिपतिः शूरो ११-५-४९
एष तावदभिप्रायं १-३५-२७
एष तिष्ठति कौन्तेयः ८-१९-९
एष तिष्ठति गोविन्दः २-९-२२
एष तिष्ठन् रथश्रेष्ठे ४-१३-२६
एष ते कवचं राजन् ७-१२-२६
एष ते निहतो बन्धुः ७-३१-२१
एष ते पाण्डवः शत्रुः ७-३६-२२
एष ते पार्षतो नित्यं ६-७-१६
एष ते भरतश्रेष्ठ १२-४२-१३,
१४-८-११
एष ते मातुलो जिह्मो ७-३६-१९
एष ते राजधर्माणाः १२-१६-१६
एष ते लक्षणोद्देशः १२-२६-२४
एष त्वहमनीकानि ७-२३-३४
एष दुर्योधनः कृष्ण ७-१५-२६
एष दुर्योधनः शेते ११-५-२६
एष दुर्योधनो राजन् ५-२७-१४
एष दुर्योधनो राजा ३-१९-१७
एष दुःशासनः शेते ११-५-३४
एष धर्मः कुरुश्रेष्ठ १२-३१-९
एष धर्मो महायोगो १४-११-८२
एष नः शत्रुरत्यन्तं २-९-२७
एष नैव रथः कर्णो ५-३५-२८
एष नो ग्लह एवैको २-१७-४४
एष पञ्चविधो धर्मो १३-२५-४
एष पाण्डव ते भ्राता १०-६-२
एष पाण्डुसुतस्तात ६-८-१७
एष पुत्रस्य ते पुत्र १७-१-७
एष प्रयात्याधिरथिः ७-२२-२३
एष प्रसाद्य शिरसा १४-८-१३
एष भीमो महाक्रोधी ७-४-४४
एष भीमो रणश्लाघी ७-२९-१६
एष भीष्मं तथा द्रोणं ६-४-१०
एष भीष्मः सुंसक्रुद्धो ६-८-९
एष मध्ये कृतः षडभिः ७-२१-११
एष मार्गो हि मोक्षस्य १२-५४-२९
एष मुख्यतमो धर्मः ८-८-१४
एष मोक्षविदां धर्मः १३-२५-३४
एष युध्यति संग्रामे ६-१३-५८
एष योत्स्यति संग्रामे ५-३६-१५
एष राजा महाबाहुः ७-२७-३०
एष वः शाश्वतः पन्थाः ६-२-३४
एष विग्रहवान् धर्मः ४-१६-९
एष व्यवस्थितो द्रोणो ४-१३-३१
एष व्यूहामि ते व्यूहं ६-२-४८
एष शाकुनिकः शेते १२-३५-३९
एष शिष्यः सखा चैव ७-२०-३
एष शूरश्च वीरश्च ८-११-२
एष सारथ्यमातिष्ठे ८-६-२७
एष सूर्यं इवाम्भोदैः ८-९-११
एष हि ब्राह्मणद्वेषी ७-३४-१४
एष ह्यतिबलः शूरः ८-१-७
एष ह्येषां समस्तानां २-७-१९
एषा तृतीया जिज्ञासा १८-३-१३
एषा ते कथिता राजन् १३-२७-१६
एषा पद्मपलाशाक्षी ४-१६-१५
एषामभ्यधिका मासाः ४-१३-८
एषा मम मतिस्तात १-३३-२७
एषामुत्कृत्य मांसानि १-२५-७
एषामेकैकशो राजन् २-७-१७
एषा मे परमा बुद्धिः ५-१४-३९
एषा वै द्रौपदी कृष्णा ३-२०-१८
एषां ज्यायस्तु कौन्तेय १२-९-१९
एषां पराक्रमस्यान्ते १-१८-९
एहि क्षत्तर्द्रौपदीं २-१४-१
एहि संजय सर्वं मे ५-३४-३
एह्यर्जुन त्वया वीर १४-६-१८
एह्येहि पार्थ बीभत्सो ८-१७-२३

एह्येहि पाञ्चालि २-१४-३२
एह्येहि पुरुषव्याघ्र १८-३-३
एह्येहि भरतश्रेष्ठ १८-३-१८
एह्येहि मे विप्रतीप ६-२३-८
एह्येहि सर्वे योत्स्यामः ६-४-६६

ऐ

ऐन्द्रिमप्रतिमं द्रोणः १-१५-१३
ऐश्वर्यधनरत्नानां १२-३५-१३८
ऐश्वर्यमदपापिष्ठाः ५-६-२७
ऐश्वर्यं हि महत्पुत्र २-११-६

औ

औरसो भवतः पुत्रः १५-२-३७
औषधानि च सर्वाणि १२-१६-५०
औषधान्यगदादीनि १२-३६-३५

क

क एष कौरवान् ७-४२-३
ककुदं सर्वयोधानां ६-२-३
कक्षघ्नः शिशिरघ्नश्च १-२२-४७,
१-२३-५३
कच्चिच्च निहतामित्रः १२-१-८
कच्चिच्च बलमुखेभ्यः २-२-४१
कच्चिच्छारीरमाबाधं २-२-५६
कच्चिच्छृणोषि वृद्धानां २-२-७०
कच्चिज्ज्ञातीन् गुरून् २-२-४७
कच्चिज्ज्ञानानि सर्वाणि १२-१३-१७
कच्चित् कारणिका धर्मे २-२-१९
कच्चित् कुशलिनौ बाहू ८-१२-३१
कच्चित् कृतं विजानीषे २-२-७१
कच्चित् कोषश्च २-२-४५
कच्चित् तीर्णप्रतिज्ञं हि ७-१९-४६
कच्चित्ते गुरवः सर्वे १-१४-१६
कच्चित् ते पुरुषा २-२-६९
कच्चित्ते वर्धते राजन् १५-७-६
कच्चित् ते सफला २-२-६४
कच्चित् ते सर्वविद्यासु २-२-६०
कच्चित् त्वमेव सर्वस्याः २-२-४०
कच्चित्त्वं वर्जयस्येतान् २-२-६३
कच्चित् त्वां नावजनन्ति २-२-२९
कच्चित् पुरुषकारेण २-२-३६
कच्चित् पौरा न सहिताः २-२-५८
कच्चित् प्रकृतयः सप्त २-२-११
कच्चित्स कदनं कृत्वा ७-८-२१
कच्चित्सर्वे न कर्मान्ताः २-२-१७
कच्चित् सर्वेऽनुरक्ताः २-२-३४, ५९
कच्चित् सहस्रैः २-२-२०
कच्चित् सूत्राणि सर्वाणि २-२-७२
कच्चित्स्त्रीबालवृद्धं ते १५-७-४
कच्चित् स्वनुष्ठिता तात २-२-५२
कच्चिदग्नि भयाच्चैव २-२-७५
कच्चिदग्निषु ते युक्तो २-२-२६
कच्चिदन्धांश्च मूकांश्च २-२-७६
कच्चिदभ्यस्यते सम्यक् २-२-७३
कच्चिदभ्यागता दूरात् २-२-६८
कच्चिदर्थयसे नित्यं २-२-५४
कच्चिदर्थं च धर्मं २-२-८
कच्चिदर्थान् विनिश्चित्य २-२-१६
कच्चिदर्थाश्च कल्पन्ते २-२-५
कच्चिदर्थेन वा धर्मं २-२-७
कच्चिदष्टाङ्गसंयुक्ता २-२-४४
कच्चिदष्टादशान्येषु २-२-२३
कच्चिदस्त्राणि सर्वाणि २-२-७४
कच्चिदाचरितां पूर्वैः २-२-६
कच्चिदात्मसमा वृद्धाः २-२-१३
कच्चिदात्मानमन्वीक्ष्य २-२-१०
कच्चिदात्मानमेवाग्रे २-२-४२
कच्चिदायस्य चार्धेन २-२-४६
कच्चिदेतत् श्रुतं पार्थ ६-३-६८
कच्चिदेतैर्महादोषैः ५-८-८
कच्चिद् गाण्डीवजः ७-१५-२२
कच्चिद् दारान्मनुष्याणां २-२-३८
कच्चिद् दुर्गाणि सर्वाणि २-२-२२
कच्चिद् दुर्योधनो राजा ७-१९-४७
कच्चिद् द्विषामविदितः २-२-२४
कच्चिद् धृष्टश्च शूरश्च २-२-३०
कच्चिद् धौम्यस्त्वदाचारैः ३-१४-१९
कच्चिद् बलस्य ते २-२-३१
कच्चिद् बलस्य भक्तं २-२-३२
कच्चिद् भयादुपगतं २-२-३९
कच्चिद् रक्ताम्बरधराः २-२-५५
कच्चिद् राजगुणैः २-२-९
कच्चद् राजन् २-२-१८
कच्चिद्राजा धृतराष्ट्रः ५-६-१०
कच्चिद् राष्ट्रे तड़ागानि २-२-५०
कच्चिद् विद्याविनीतांश्च २-२-३७
कच्चिद् विनयसम्पन्नः २-२-२५
कच्चिद् वीर्यं यथापूर्वं ८-१२-३०
कच्चिद् वैद्याश्चिकित्सायां ३-२-५७
कच्चिद् द्वौ प्रथमौ २-२-५३
कच्चिन्न कृतकैर्दूतैः २-२-१२
कच्चिन्न चौरैर्लुब्धैर्वा २-२-४९
कच्चिन्न तैरवाप्तोऽयं १८-२-३
कच्चिन्न भवतं २-२-५१
कच्चिन्न लुब्धाश्चौरा २-२-४८
कच्चिन्निद्रावशं नैषि २-२-१४
चच्चिन्नैको बहूनर्थान् २-३-३५
कच्चिन्नोग्रेण दण्डेन २-२-२८
कच्चिन्न्यायाननुच्छिद्य १५-७-३
कच्चिन्मन्त्रयसे नैकः २-२-१५
कच्चिन्मुख्या महत्स्वेव २-२-२७
कच्चिन्मूलं दृढं २-२-४३
कणिक त्वं ममा १-२०-३
कण्टकान् कूपमग्नि च १२-४२-२
कण्वस्याहं भगवतो १-३-३३
कथमनेन वीर्येण ४-१०-३९
कथमभ्याहतो लोकः १२-४४-८
कथमस्मद्विधो ब्रूयाद् ५-३३-२२
कथयन्ति स्म पुरुषाः १४-१०-८४
कथयस्व महाबाहुं १-१३-४०
कथयामास देशांश्च १-२९-६
कथं कार्यं परीक्षेत १२-५२-१
कथं गच्छति कौन्तेयो २-१८-३९
कथं च धर्मयुक्तास्ते ५-१-३६
कथं च राजा भुवत्वेमां ९-२-४३
कथं च वर्तते चाद्य १५-८-८
कथं च वः समेतानां ९-१-२५
कथं च शतधा जिह्वा ७-४२-७
कथं चागात् कुरून् १-१४-४

कथं चातिरथस्तेन ६-२-७
कथं चारं प्रयुञ्जीत १२-१९-२
कथंचित् तव गाङ्गेय १-५-३२
कथं जयेम सर्वज्ञ ६-२६-२५
कथं जयेयं संग्रामे ६-४-२५
कथं जानीम भवतः १-३२-३५
कथं तव कुलस्यैकां १-२७-३०
कथं तु मम कौरव्यो २-७-१०
कथं त्वदगमनार्थं मे २-९-४९
कथं त्वयि च कर्णे च ७-२३-२३
कथं त्वामप्यतिक्रान्तः ७-१२-१९
कथं त्वां सर्वधर्मज्ञं १०-४-१०
कथं त्वेवं वदसि २-१४-१४
कथं द्रक्ष्यामि कौन्तेयं ७-७-४
कथं द्वैतवने राजन् १२-५-२
कथं न धर्मं धर्मज्ञैः ११-४-१६
कथं धर्मे स्थातुमिच्छन् १२-३१-१
कथं न राजवंशोऽयं १५-४-७५
कथं नियम्यमानस्य ७-२४-४
कथं नु युक्तः १२-५९-१
कथं नु राजा वृद्धः स १५-५-१८
कथं नु वातातपकर्शिताङ्गो ३-१९-८
कथं नु शतधा नेदं ११-५-२९
कथं नु सत्यः ३-१९-७
कथं परसुतस्यार्थे १-२८-६
कथं पाण्डोर्न नश्येत १५-४-७३
कथं पारमगत्वा हि ९-१४-१५
कथं पुरा कपोतेन १२-३८-५
कथं प्रकाशस्तेषां वा ७-२८-३४
कथं प्रणिपतेच्चायं ५-१-३५
कथं भवति १२-५४-१
कथं भीष्ममहं संख्ये ६-३-३२
कथं भुक्त्वा स्वयं भोगान् ९-२-४५
कथं भ्रातॄन् हताञ्श्रुत्वा ९-२३-२०
कथं राजा प्रजा १२-२१-१ ,
कथं रिपुवंश यातो ३-२४-२
कथं वत्स्यथ दुर्गेषु २-१८-३१
कथं वा सम्प्रवेक्ष्यामः ३-१९-६६
कथंविधं पुरं राजा १२-२६-१
कथं विनष्टा १६-१-७
कथं विराटनगरे मम ४-१-१
कथं वै मद्विधो राजा २-१७-४३
कथं वै सफला २-२-६५
कथं शक्ष्यामि बालेऽस्मिन् १-२७-३१
कथं शिखण्डी गाङ्गेयं ६-२७-१
कथं सक्तून् गृहीष्यामि १४-११-६२
कथं स च महीपालो १५-६-२
कथं सदोपवासी १३-१६-७
कथं सद्धर्मचारित्वान् २-१८-२८
सकथं समभवद् १-२-७
कथं संसारगहनं विज्ञेयं ११-२-१६
कथं सैरन्ध्रि मुक्तासि ४-८-३५
कथं स्विदिह राजेन्द्र १२-२५-१
कथं हंसं नु बलिनं ८-८-४३
कथं हि धर्मराजस्य ५-१-३२
कथं हि पाण्डवः १-३३-६१
कथं हि प्राप्यते शीलं १२-३४-१८
कथं हि राजवंश्यस्त्वं ७-२०-५२
कथं हि शिरसो १-३५-३२
कथं ह्यनुचरान् हित्वा ३-२१-३५
कथं ह्यराजा दाशार्हो २-७-२७
कथान्तमासाद्य च ५-१-९
कथितं राजधर्माणां १२-१६-१
कथ्यमाने तथा रम्ये १-२२-४
कदर्यमाक्रोशकमश्रुतं च ५-११-४७
कदाचिदथ गाङ्गेयः १-८-१४
कदाचिद् दिवसान्पञ्च १२-५०-२४
कदाचिद् धर्मिणस्तस्य १४-११-२४
कदाचिन्मासमात्रेण १२-५०-२५
कदा द्रक्ष्यामि तां देवीं १५-६-९
कदा द्रक्ष्यामि बीभत्सुं ३-९-२३
कनिष्ठास्तं नमस्येरन् १३-१८-८
कन्दरेषु च शैलानां १२-३८-७५
कन्यापितृत्वात् १-५-४१
कन्यापुत्रो मम पुरा १-७-२०
कमण्डलुं च सर्वेषां १-१५-१४
कम्पमानेव कदली १०-५-२२
करग्रहणपूर्वं तु २-५-४६
करवाणि च ते काम ६-४-३५
करवाणि प्रियं किं ते १३-१३-१८
करसम्पीडनं कृत्वा २-५-४८
करिष्य इति भीमेन १-२८-१
करिष्यतो नः किमु भीम ७-३३-१५
करिष्यामि प्रयत्नेन ७-१८-८
करोति पापं १२-३९-९
करोत्वाहारमिति १५-२-२१
कर्ण कर्ण वृथादृष्टे ८-१०-९
कर्ण जानामि ते वीर्यं ८-१-१२
कर्ण न चेदद्य निहन्मि ८-१४-२४
कर्ण पश्य सुदुर्बुद्धे ७-२७-५
कर्णपुत्रवधं दृष्ट्वा ९-४-४०
कर्णमेवाभिषेक्ष्यामः ८-२-६
कर्ण शोभिष्यसे नूनं ५-३०-२३
कर्णस्ततः प्रथमं तत्र ८-२४-२
कर्णस्तु पञ्चरात्रेण ५-३७-१५
कर्णस्तु सात्यकिं जित्वा ८-१२-१५
कर्णस्य तु वचः श्रुत्वा ५-१३-२३
कर्णस्य भवता कार्यं ५-४-२५
कर्णस्य मतमाज्ञाय ८-१-२२
कर्णस्य वचनं श्रुत्वा ७-१-२५
कर्णं च कर्णिना कर्णे ४-१३-४४
कर्णं तु निहतं दृष्ट्वा ८-२७-१
कर्णं तु शूरं पतितं ८-२६-३२
कर्णं दुर्योधनं चैव १-२३-५५
कर्णार्जुनौ च भवेतां ५-३०-२२
कर्णिनालीकदंष्ट्रस्य १०-५-६
कर्णिनालीकनाराचा ५-९-४४
कर्णिनालीकनाराचान् १३-१७-२४
कर्णिनालीकनाराचैः ८-१९-२२
कर्णे हते कौरवाः प्राद्रवन्त ८-२६-३३
कर्णोऽथ पार्थं न ८-२५-३
कर्णोऽपि द्रष्ट्वा द्रवतो ८-११-१
कर्णोऽपि निशितैर्बाणैः ८-९-२४
कर्णोऽपि नोत्तरं प्राह ८-८-८८
कर्णोऽपि रथिनां श्रेष्ठः ७-२७-१६
कर्णोऽपि राजन् सम्प्राप्य ८-१-२०
कर्णो भूरिश्रवा द्रौणिः ७-१०-४

कर्णो रथेन तेजस्वी ८-२२-२
कर्णो वा युध्यतां पूर्वं ५-३२-२८
कर्णो वा समरश्लाघी ५-३७-४
कर्णो हि बलवान् दृप्तः ८-१८-७
कर्णो ह्यभ्यधिकः पार्थात् ८-६-२४
कर्तव्यमेव कर्मेति ३-४-५८
कर्तव्यं हि कृतं राजन् ३-१९-४९
कर्म खल्विह कर्तव्यं ३-४-५२
कर्म चैतदसाधूनां १२-२८-५०
कर्मणः फलनिर्वृत्तिं १३-३-८
कर्मणाऽऽचरितं पूर्वं ५-१६-११
कर्मणा तेन पार्थस्य ६-२९-१७
कर्मणा प्राप्यते स्वर्गं ११-२-८
कर्मणा मनसा वाचा १५-५-१३
कर्मणा मनुजः कुर्वन् १३-२१-३
कर्मणा येन केनैव १-२०-३९
कर्मणा येन तेनैव १२-३७-२९
कर्मणा लिप्यते १३-२१-६
कर्मणां च समस्तानां १३-४-१
कर्मणैव हि संसिद्धि ६-३-५८
कर्मण्येवाधिकारस्ते ६-३-५७
कर्मण्यकुहकार्थानि १२-३२-१०
कर्मैतत् पार्थं शक्रेण ७-५-३४
कर्शनार्थो हि यो ३-५-८
कर्शितं व्याधितं १-२०-४३
कलत्रमादितः कृत्वा १२-२७-२२
कलत्रस्य बहुत्वाद्धि १६-४-४०
कलावधर्मो भूयिष्ठं १२-१९-७२
कलिङ्गस्तु ततः क्रुद्धो ६-९-८
कलिङ्गस्तु महेष्वासः ६-९-१
कल्मषं गुरुशुश्रूषा १३-१३-४४
कल्याणं कुरुते बाढं १२-४०-१३
कवचं ध्वजं चैव ८-१७-१३
कवची सशरः खड्गी ७-३०-२०
कवचेन विहीनश्च ७-३४-११
कश्च जातु कुले जातः ५-२५-२३
कश्च धर्मः परो लोके ३-२४-४२
कश्चान्यो भ्रातृभार्यां वै ५-२५-३१
कश्चित् क्षुद्रसमाचारः १२-३८-६
कश्चित्तरति काष्ठेन १२-३५-६५
कश्चिदाहूय तं संख्ये ७-४-५
कश्चिन्महति कान्तारे ११-२-१९
कश्मलाभिहतो राजा ७-१६-६
कस्त्वं तातेह ३-६-१६
कस्त्वावधीद् वरारोहे ४-६-३८
कस्त्वेतद्व्यवसेदार्यः ७-४२-८
कस्मादन्नानि पानानि ५-२३-५
कस्मिन् काले चरेद् धर्मं १३-७-७
कस्मिन्निदं हृते राजन् ७-४०-६
कस्मै भवान् मन्यते २-७-१८
कस्यचित्त्वथ कालस्य १-१५-५५, ३-६-१, १६-१-२
कस्यचिन्नाभिजानामि १२-६३-४६
कस्य त्वं सुरगार्भाभे १-२५-५१
कस्य वा त्वं कुतो वा ४-३-५०
कस्येशो नः पराजैषीः २-१४-१९
कंसदासस्य दायाद ९-२१-१६
कः कस्य चोपकुरुते १२-६०-२७
कः क्षत्रियोऽहन्यमानः १६-१-३२
कः पण्डितः पुमाञ्ज्ञेयः ३-२४-६२
कः शत्रुर्दुजयः पुंसां ३-२४-५६
कः स्विदेको रमते १२-६१-३२
काकेनेमांश्चित्रबर्हान् २-१३-८
काञ्चनं विष्टरं १-२-३
का तु सीमन्तिनी त्वादृक् ५-२२-१९
का त्वं कदम्बस्य ३-२०-१२
का त्वं कस्यासि कल्याणि ४-५-१२
का त्वं कस्यासि सुश्रोणि १-३-२०
का त्वं ब्रूहि यथा भद्रे ४-३-३५
का देवरूपा हृदयङ्गमा ४-५-८
काननेषु च रम्येषु १६-४-२७
कानि दानानि १३-१४-६०
कानीनश्च सहोढश्च ५-२९-३
कानीनस्त्वं मया जातः ५-३०-१७
कानीह भूतान्युपसेवसे त्वं १३-५-३
कान्तारे वनदुर्गेषु ५-१२-४३
कान्तारेष्वपि विश्रामः १-३-७९
कान्तारेष्वथ घोरेषु १३-२१-२२
कापालीं नृप पापिष्ठां १२-२-४
कामकारेण दण्डं तु १२-२५-७
कामक्रोधग्राहवतीं ५-१२-६६
कामक्रोधवनादृत्य १२-२८-१६
कामक्रोधव्यपेता ये १२-४२-१८
कामक्रोधौ पुरस्कृत्य १२-२१-५
कामक्रोधौ भयं निद्रा १२-६३-१४५
कामक्रोधौ वशे १२-६३-११८
कामक्रोधौ हि पुरुषं ५-२६-१६
काम जानामि ते मूलं १२-४५-१७
काममभ्यस वा मा वा ६-२७-८, १४
कामश्च योऽसौ द्रुपदस्य १-३२-२२
कामं क्रोधं च मृत्युं १२-६३-१६२
कामं क्रोधं च लोभं ५-२६-१७, १२-३९-२५, १२-५४-२४
कामं खलु जगत् सर्वं ७-२६-३२
कामं गच्छन्तु मे सर्वे १५-७-४५
कामं त्वया परित्यक्ता १-३-८८
कामं न खलु शक्योऽहं ८-८-१८
कामं नैतत् तवाख्येयं १२-१३-२०
कामं वध्यतु सैन्यं मे ६-२६-३८
कामं सर्वं प्रदास्यामि १२-३५-१३७
कामं हरन्तु मत्स्यानां ४-१२-१४
कामात् क्रोधादविज्ञानाद् ७-४०-१८
कामान्वृणीष्व लोकांश्च ३-६-२२
कामार्थौ पृष्ठतः कृत्वा १३-२८-६
कामोपभोगेन रहस्तस्यां १-७-४७
कामो लोभश्च दर्पश्च ५-१६-६
कामो ही मे सञ्जय ५-६-३५
काम्पिल्ये ब्रह्मदत्तस्य १२-३६-३
कायेन त्रिविधं कर्म १३-६-५
कारणात्प्रियतामेति १२-३५-१४
कारयामास पूजार्थं ५-४-३
कारयित्वा क्रियास्तेषां ११-६-११
कार्तिकस्य तु मासस्य २-५-५५
कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः ६-३-३५
कार्मुकप्रवरं चापि ७-३०-४
कार्यंते यच्च क्रियते १३-३०-१
कार्यवन्तो गृहानेत्य २-५-२२

कार्यं मे कांक्षितं १-१५-६
कार्यार्थे कृतसन्धानो १२-३५-१०७
कार्यार्थे निर्गतं चापि १३-२३-१०
कार्यवितौ हि धर्मेण १३-३०-८
कार्ष्णिश्चापि मुदा युक्तः ६-२४-१४
काल एव सर्वकाले १३-३०-२
कालज्ञाः समयज्ञश्च १२-३३-२९
कालदण्डोपमां घोरां ६-६-१४
कालपक्वमिदं मन्ये ५-२५-४५
कालमूलमिदं सर्वं १६-५-२२
कालवर्षी च पर्जन्यः १-३-३, १२-११-२२
कालवालास्तु ये पार्थं ८-१०-२२
कालं प्राप्यानुगृह्णीयाद् १२-३५-४
कालः कर्षति भूतानि ११-१-२७
कालः पचति भूतानि १७-१-२
कालः सर्वं समादत्ते १२-६३-९३
कालातिक्रमणादेते २-२-३३
काले कालेऽस्य सम्प्राप्ते १४-११-२६
कालेन महतागच्छत् १२-५०-३१
कालेन रिपुणा सन्धिः १२-३५-१५५
काले मृदुर्यो भवति १२-३७-४५
कालो दुर्योधनं हन्तुं ३-९-१०
कालो नूनं महाराज १०-४-९
कालो वा कारणं राज्ञः १२-१९-६५
काल्यमर्थं निषेवेत १३-७-८
काशिभिश्चेदिपाञ्चालैः ५-१७-७
काशिराज्यं तदद्यैव १३-१०-७
काश्यो यद् धनमहार्षीत् २-१५-२
काषायं सुलभं पश्चात् २-४-२७
काष्ठानि चाभिहार्याणि १२-१९-४१
कां नु वाचं संजय मे ५-६-१८
किञ्चिच्च विदुरेणोक्तो १-२३-२१
किञ्चच्छेषं च शिबिरं ९-१-१७
किञ्चदेव ममत्वेन १२-४३-१७, १२-५५-७
किन्तु सर्वापराधोऽयं १४-९-२२
किन्न निमिषति सुप्तं ३-२४-२८
किन्नु कुर्यां कथं कुर्यां ५-१४-२३
किन्नु चित्रमितस्त्वद्य ९-२३-७
किन्नु तत्कलुषं कर्म १८-२-२७
किन्नु तत्कारणं मन्ये १२-३५-१२८
किन्नु सुप्तोऽस्मि १८-२-३२
किमनुक्रोशय वैफल्यं १३-२-१७
किमनेन चिरं भीम १-२५-६६
किमन्यदवमानाद्धि २-७-३७
किमयं द्रवते सेना ७-४०-४
किमर्थं च त्वयाविद्धो ३-६-३५
किमर्थं न नरव्याघ्र ७-२-६
किमर्थं पाण्डवश्रेष्ठ ४-१६-३४
किमर्थं ब्राह्मणे दानं ३-२४-४६
किमर्थं मां प्राकृतवत् १-३-७१
किमस्माभिः कृतं तेषां ५-२५-१८
किमाहुर्दैवतं विप्राः १२-१८-१७
किमिदं कुरुथा प्राज्ञाः १-३५-२६
किमिदं ते व्यवस्तितं १५-४-५७
किमिदं साहसं तीक्ष्णं १-२८-५
किमिदं साहसं राजन् ९-१६-३
किमिदं साहसं वीरौ १०-७-२४
किमीदृशं नृशंसेन १२-३८-६५
किमेकं यज्ञियं साम ३-२४-२०
किमेवं भृशदुःखार्तौ १-२७-४३
कियत् तत्तत् प्रवक्ष्यामि ८-८-७४
कियन्तं चैव कालं ते १५-१-३
किरन्निषुगणांस्तीक्ष्णान् ७-११-५२
किरातश्च समं तस्मिन् ३-६-३२
किराता यवना राजन् १४-७-७
किरीटी बलवान् पार्थः ५-५-१८
किल्बिषी चापि मे वध्यः १३-१-१८
किं कत्थितेन बहुना ९-१६-३६
किं करिष्यसि संग्रामे ८-२२-१७
किं करोमि क्व गच्छामि ४-७-२
किं कर्तव्यं मनुष्येण १३-६-४
किं कर्म पुरुषः कृत्वा १२-६०-२
किं कस्य धर्माचरणं १२-४९-३
किं कार्यं सर्वधर्माणां १२-३०-२
किं कुर्मः पुरुषव्याघ्र २-५-६७
किं कृत्वा धृतराष्ट्रस्य १८-२-२९
किं क्षत्रियाणां देवत्वं ३-२४-१८
किं क्षेपैर्दुर्बलायासैः १-१७-२०
किं चाप्यधिकमेतस्माद् ३-१८-११
किं चाप्येतेन तत्कर्म ५-१३-२७
किं चिकीर्षत्ययं कर्म १-२८-३
किं चेदानीं बहूक्तेन ५-३४-६०
किं छिद्रं को नु षङ्गो मे १२-२८-४
किं ज्ञानं प्रोच्यते राजन् ३-२४-५४
किं तस्य तपसा राज्ञः १२-१९-६१
किं तात परमं स्वर्ग्यं १२-२३-२२
किं तु कर्माकरोद् भीमः ११-४-१४
किं तु सम्बन्धकं तुल्यं ५-२-३
किं तु सौहृदमेवैतत् ५-१८-३०
किं ते द्यूतने राजेन्द्र ४-१५-२१
किं ते धनैर्बान्धवैर्वापि १२-४४-२८
किं ते व्यवसितं राजन् ६-४-६
किं ते व्यवसितं वीर ३-१८-४७
किं त्वं दुर्योधनैवं मां ६-२३-१८
किं त्वं नकुल कुर्वाणः ४-१-२८
किं त्वं साक्षाद् धनुर्वेदः १-३१-१८
किं नः संप्रेक्षमाणानां ९-८-४
किं नाम तद्भवेत् कर्म १०-४-१७
किं नाम पतितं काक ८-८-५९
किं नु कृत्वा हितं मे स्याद् ६-७-७
किं नु दुःखतरं कृष्ण ११-५-४४
किं नु नाद्य कृतं तात १-३४-२७
किं नु नो विद्यते कृत्यं ७-३८-१३
किं नु बन्धुविहीनस्य ११-१-१०
किं नु मुह्यसि मूढस्त्वं १२-४३-५
किं नु राधेय वाचा ते ५-५-२८
किं नु वक्ष्यसि राजानं ७-२०-४५
किं नु शक्यं मया कर्तुं ३-२१-४२
किं नु संशप्तकान्हन्मि ७-५-४१
किं नु स्यादधिकं तस्मात् ३-१६-२७
किं नु हित्वा प्रियो भवति ३-२४-४४
किं नो गावः करिष्यन्ति ४-१३-३७
किं नो विविदितेनेह २-१६-१७
किं न्वतः परमं दुःखं १-२७-४९
किं परं ब्रह्मचर्यस्य १३-७-५

कि पार्थिवेन कर्तव्यं १२-३३-१
कि पुनर्मामितो विप्राः ३-१-३१
कि पुनस्त्वयि दुर्धर्षे ५-३५-६
किं बलं परमं तुभ्यं १४-११-१०
किं ब्राह्मणानां देवत्वं ३-२४-१६, १२-६१-३४

किं मे भ्रातृविहीनस्य १८-१-६
किं मे राज्येन भोगैर्वा १५-२-३४
किं रोदिषि त्वं ३-२१-३
किं विघातेन ते पार्थ ३-२३-४०
किं वृथोक्तेन बहुना ७-२०-२२
किंशील: किंसामाचारः १२-२४-२, १२-५६-१

किं शोचसि महाराज ११-१-५
किं श्रेयः परमं ब्रह्मन् १२-५९-३
किं श्रेयः सर्वभूतानां १२-६०-४
किं सौम्य नातित्वरसे १-३५-८४
किं स्थैर्यमृषिभिः प्रोक्तं ३-२४-६०
किं स्वित् प्रवसतो मित्रं ३-२४-३०
किं स्वित्सत्यं किमनृतं १२-३१-३
किं स्विदात्मा मनुष्यस्य ३-२४-३८
किं स्विदादित्यमुन्नयति ३-२४-१२
किं स्विदावपतां श्रेष्ठं ३-२४-२२
किं स्विदेकपदं धर्म्यं ३-२४-३६
किं स्विदेको विचरते ३-२४-३४
किं स्विद् गुरुतरं भूमेः ३-२४-२६
किंस्विद् वयमपेतार्थम् ७-७-५
कीचकश्चाप्यलंकृत्य ४-७-४१
कीचकस्तु सुकेशान्ते ४-६-११
कीचकं घातयित्वा तु ४-७-७४
कीचकोऽथ गृहं गत्वा ४-७-३५
कीचको न च धर्मज्ञो ४-६-३०
कीचको मावधीत् तत्र ४-६-३९
कीचको राजवाल्लभ्यात् ४-७-१६
कीदृशं च भवेद् राज्यं ९-२-५७
कीदृशाः साधवो विप्राः १३-७-१२
कीदृशे पुरुषे तात १३-५-१
कीर्तनं श्रवणं दानं १३-१३-३६
कीर्तिरक्षणमातिष्ठ १-३३-४६
कीर्ति पुण्यं यशो १२-३०-७
कीर्त्यमानेषु राज्ञां तु १-६-१५
कुक्षीसंधारणाद् धात्री १२-५२-२२
कुञ्जरान् कुञ्जरारोहान् ९-७-३
कुञ्जराश्च हता राजन् ८-१९-२५
कुञ्जरांश्च हयांश्चैव ९-१२-६
कुञ्जरेनेव मत्तेन ९-२१-६
कुटुम्बतन्त्रे च तदा १४-६-२२
कुटुम्बमास्थिते त्यागं १२-४-१६
कुटुम्बार्थे समानीतं १३-२३-१२
कुटुम्बिने सीदते च १३-१४-६७
कुतस्त्वमसि सम्प्राप्तः १-२५-१५
कुतस्त्वा कश्मलमिदं ६-३-३०
कुतोमूलमिदं दुःखं १-२७-५६
कुन्ती च भृशसन्तप्ता २-१८-२०
कुन्ती चैव तु माद्री च ३-२४-९३
कुन्तीपुत्रेषु जातेषु १-११-१४
कुन्तीमातर्ममाप्येतत् १-३६-८
कुन्ती श्रुत्वा तु तद्वाक्यं ५-३०-५
कुन्त्यास्तु वचनं श्रुत्वा १५-४-७९
कुपुत्रे नास्ति विश्वासः १२-३६-३१
कुबेरवैवस्वतवासवानां ८-२६-३९
कुभार्यां च कुपुत्रं च १२-३६-३०
कुमारकास्तदा हंसान् ८-८-३७
कुमारमाशु जानीत ४-१५-८
कुमारान् क्रीडमानान् १-१३-५८
कुरुभ्यः प्रस्थितास्ते तु २-४-४२
कुरुराजे हि रङ्गस्थे १-१६-२६
कुरुष्वानुग्रहं सौम्य १२-३८-६२
कुरु सत्त्वं च मानं च ५-२८-२१
कुरूणामस्ति यद्वित्तं १-१४-५०
कुरूणाभृषभं पार्थं ३-१४-१४
कुरूणां पतिते ह्येवं ६-२७-४५
कुरूणां पाण्डवानां च १-२-६, १०, ५-२४-१४

कुरूणां सृञ्जयानां च ६-५-४
कुर्यात्तृणमयं चापं २-२०-११, १२-३७-२०

कुर्वतां च परं यत्नं ७-२४-१४
कुर्वतो नार्थसिद्धिर्मे ३-४-६२
कुर्वतो हि भवत्येव ३-४-५९
कुर्वाणौ सुमहत् कर्म ६-११-१०
कुलक्रमागतं वैरं ७-४१-३१
कुलकार्यं महाबाहो २-५-२६
कुलप्रकृतिदेशानां १२-६३-३१
कुलसंहननज्ञानैः ७-१-२०
कुलं ख्यातिं च वृत्तं च १-८-२२
कुलाज्ज्ञानात्तथैश्वर्यात् १२-४१-१२
कुलानि समुपेतानि ५-११-५
कुलीनं शिक्षितं प्राज्ञं १२-२४-१५
कुलीनः कुलसम्पन्नः १२-२४-३३
कुलीनः पूजितो नित्यं १२-२४-२७
कुलीनः शीलसम्पन्नः १२-२५-१०
कुलीनः सत्त्वसम्पन्नः १२-२५-१३
कुलीना देशजाः प्राज्ञाः १२-२४-२८
कुलीनान् शीलसम्पन्नान् १२-२४-३०
कुलीना रूपवत्यश्च १-८-१८
कुले जन्म तथा वीर्यं १२-१०-२०
कुले जन्म प्रशंसन्ति २-४-१९
कुले जातस्य वृद्धस्य ५-१७-९
कूपमध्ये च या जाता ११-२-४७
कूपवीनाहवेलायां ११-२-२९
कूपाधस्ताच्च नागेन ११-२-३७
कृच्छ्रं चानभूय १८-३-१०
कृच्छ्रेणैव तु तां पार्थः १४-२-४१
कृतकृत्यांश्च वो मन्ये १६-५-२०
कृतघ्नानां गतिस्तात १३-६-२
कृतघ्नोऽयं नृशंसोऽयं १४-४-३५
कृतजप्याह्निकास्ते तु १४-११-३०
कृतज्ञं धार्मिकं सत्यं ५-१२-३२
कृतज्ञं बलवन्तं च १२-२४-१६
कृतज्ञो दृढभक्तिः स्यात् १२-१८-१६
कृतप्रज्ञश्च मेधावी १२-२४-४२
कृतबुद्धिर्द्रुमे तस्मिन् १२-३८-१८
कृतमित्यब्रवीच्छल्यः ५-४-११
कृतमेव तु कल्याणं १-३५-९
कृतमेव त्वया सर्वं २-१-३
कृतयत्नाफलाश्चैव १३-२९-३

कृतवर्मणा नृशंसेन १०-५-३
कृतवर्मा कृपश्चैव ९-१३-२
कृतवर्माणमेकेन ६-५-३३
कृतवर्मा रणे भीष्मं ६-१७-३५
कृतऽवहारे तैर्वीरैः ८-४-२४
कृतवीर्यकुले जातः २-४-२०
कृतवैरे न विश्वासः १२-३६-२५
कृतश्च समयः पूर्वं ८-७-८६
कृतस्य पूर्वं चानर्थैः १२-४५-१०
कृतस्वस्त्ययनास्तेन १-२९-७५
कृतं चाप्यकृतं किंचित् १३-३-१९
कृतं पापमिदं ब्रह्मन् १०-८-१८
कृतं भवद्भिः सदृशं ९-२४-१७
कृतं मया पार्थ यथा न ८-१६-२०
कृतं सर्वमहं मन्ये १-१७-१५
कृतं हि तत् स्यात् १-३२-१९
कृतः पुरुषकारश्च १०-१-३६
कृतः पुरुषकारस्तु १३-३-१८
कृतः सेनापतिस्त्वेषः ५-३५-४१
कृताकृतपरिज्ञाने १२-१२-२८
कृताञ्जलिस्ततो वाक्यं ८-१६-३१
कृताञ्जलेः प्रपन्नस्य ८-१५-३०
कृतातिथ्यस्तु गोविन्दः ५-२२-८
कृतातिथ्यं तु गोविन्दं ५-२२-१२
कृतार्थं चावगच्छामि ३-७-२
कृतार्थं स्वस्तिमन्तं त्वां २-१८-१७
कृतार्था भुञ्जते दूताः ५-२३-६
कृतास्त्रान् धार्तराष्ट्रांश्च १-१६-१
कृताह्निकं च राजानं १५-७-२२
कृती दक्षो युवा शूरः ७-२४-१०
कृती सर्वत्र लभते १३-३-१०
कृते कर्मणि राजेन्द्र १२-१९-५३
कृते प्रतिकृतं पश्य १०-४-२१
कृतेऽवहारे सैन्यायां ६-७-१
कृते विवाहे च ततस्तु १-३२-६१
कृते विवाहे तु तदा ४-१६-५४
कृते विवाहे द्रुपदो १-३२-६०
कृतोदकं तु राजानं १२-१-३, १४-१-१
कृतोदकानुजप्यः स ५-२४-२
कृतोदकास्ते सुहृदां १२-१-१
कृतो यत्नो मया पूर्वं २-१०-२७
कृतो लोकपरोक्षोऽयं १-३-१०९
कृत्रिमं भासमारोप्य १-१५-३३
कृत्वा कर्म रणेऽसह्यं ७-६-४२
कृत्वा तां नैष्ठिकीं २-३-६
कृत्वा तु कुशलप्रश्नं १-३४-२९
कृत्वा तु नैर्ऋतान् २-१८-५८
कृत्वा तु पाण्डवाः सर्वे १४-३-९
कृत्वा धनुषि ते मार्गान् १-१६-२१
कृत्वा प्रवर्ग्यं धर्माख्यं १४-१०-४९
कृत्वा बलवता सन्धिं १२-३५-९७
कृत्वा मूत्रपुरीषे तु १३-१७-२८
कृत्वा मूलप्रतीकारं ५-३१-२७
कृत्वावहारं सैन्यानां ७-४-१
कृत्वा विवाहं तु कुरुप्रवीराः ५-१-१
कृत्वा शून्यान् रथोपस्थान् ८-१८-२९
कृत्वा संशप्तका घोरं ८-१९-१९
कृत्वा सुदुष्करं कर्म ७-२०-४
कृत्वा सेनाप्रणेतारं ९-३-२
कृत्वा हि पूर्वं मित्राणि १२-३५-११४
कृत्वोद्वाहं तदा तं तु १-९-११
कृपणं वर्तयिष्याम ९-१९-१८
कृपणं विलपन्नार्तः ९-२-५३
कृपणानाथवृद्धानां १२-२६-१९, १२-२८-२५
कृपणान् सततं दृष्ट्वा १२-४१-१८
कृपमभ्यर्च्य च गुरुं १७-१-९
कृपयाऽऽदाय हंसस्तं ८-८-६५
कृपया परयाऽऽविष्टः ६-३-१९
कृपश्च कृतवर्मा च ९-५-२५
कृपस्य वचनं श्रुत्वा १०-२-१
कृपं द्रोणं च शल्यं च ५-३२-१५
कृपं निवर्तयामास १५-४-४९
कृपं विव्याध विंशत्या ७-२-२२
कृपं शारद्वतं वीरं ९-१२-४३
कृपः शारद्वतश्चैव १-२१-२८
कृपः शारद्वतो राजन् ५-३५-१६
कृपानुकम्पा कारुण्यं ५-२४-१७
कृपाय च महाराज १२-१३-३
कृमिकीटपिपीलेषु १३-६-३
कृशाय कृतविद्याय १३-१४-२६
कृशांश्च वातातपकर्शिताङ्गान् ३-१६-५
कृष्ण इत्येव दशमं ४-१२-५०
कृष्णद्वैपायनात् तात ३-६-७
कृष्णद्वैपायनोऽप्येतत् १-७-५०
कृष्णद्वैपायनो राजन् १३-२२-३
कृष्ण पश्य महात्मानं ६-२६-३
कृष्ण पश्य महेष्वासं ६-७-३
कृष्णमाह्वयतामद्य २-९-२२
कृष्णयोः सदृशो वीर्ये ७-२२-४२
कृष्णवर्त्मेव ज्वलितः ५-१३-१०
कृष्णसम्माननार्थं च ५-२२-५
कृष्णस्तु सह पार्थाभ्यां २-५-७६
कृष्णस्य तु वचः श्रुत्वा ५-२६-१
कृष्णस्य सदृशं शौर्ये १-३५-५३
कृष्णस्य सन्निधौ १६-१-३०
कृष्णा च क्षौमसंवीता १-३२-५३
कृष्णा तु केशैः प्रच्छाद्य २-१८-४४
कृष्णावेकरथे यत्तौ ५-१४-३१
कृष्णां निपतितां दृष्ट्वा १७-२-१२
कृष्णाः श्वेताश्च तं वृक्षं ११-२-३६
कृष्णे नयो मयि २-४-६
कृष्णेन वाक्यमुक्तोऽसि ५-२५-२
कृष्णेन सहितात् को वै ५-३०-२८
कृष्णो वापि भवेल्लोके ७-२२-४३
कृष्णौ च पुरुषव्याघ्र ८-१९-१६
केकयानां रथान् सप्त ७-६-११८
केकयाश्चाप्यनुज्ञाताः ३-२-२४
केचिच्छराक्षेपभयात् १-१६-१७
केचिदग्रासिना छिन्नाः ६-९-१९
केचिदासन् निरुत्साहः ७-३७-४
केचिदासन् विमनसः १-३०-२६
केचिदाहुर्युवा श्रीमान् १-३०-३०
केचिदूचुर्महेष्वासाः २-९-१७
केचिद्धि सौहृदादेव २-३-१३
के तत्रान्ये कितवा २-१२-११
केतुं निपतितं दृष्ट्वा ६-६-७

के देशा: परिदृष्टास्ते १५-८-४
के धर्मा: सर्ववर्णानां १२-१७-४
केन कालेन गाङ्गेय ५-३७-३
केन भूतानि वर्धन्ते १२-१८-२०
केन वृत्तेन कल्याणि १३-२३-३
केन वृत्तेन राजेन्द्र १३-२०-२
केन वृत्तेन वृत्तज्ञ १२-२०-१
केन शीलेन वृत्तेन १३-२६-१
केन स्म द्रौपदी कृष्णा ४-१-३५
केनस्विच्छ्रोत्रियो भवति ३-२४-१४
केन स्विदावृत्तो लोक: ३-२४-४८
केनायमावृत्तो लोक: १२-६१-३०
के पूज्या वै त्रिलोके १३-९-१
केयं वै बृहती १-२५-१६
केवलानृण्यमाप्तास्मि १०-८-५२
केशपक्षपरामर्शे द्रोपद्या ११-४-३४
केशपक्षं वरारोहा गृह्य ५-१९-१२
केशवे तु तदा याते ९-३-४४
केशवेनैवमुक्तोऽथ १०-७-१६
केशाञ्जानाम्यहं कर्तुं ४-३-३८
केषांचिदच्छिनत् पक्षान् १०-१-१६
कोकिलस्य वराहस्य १२-३७-१५
कोटि: प्रदीयतां मूल्यं १३-१३-२४
कोऽतिथि: सर्वभूतानां ३-२४-३२
को नु मे जीवितेनार्थ: ८-१४-१६
को नु सर्वान् विनिर्जित्य ९-१६-९
कोऽन्यो हि पृथिवीं १४-१०-३१
को न्वर्जुनक दोषोऽत्र १३-१-१५
कोपिता: पाण्डवा नित्यं ६-२३-२४
को मोदते किमाश्चर्यं ३-२४-७९
को मोह: प्रोच्यते राजन् ३-२४-५८
कोऽयमन्नमिदं भुङ्क्ते १-२८-२७
को वा मुखमनीकानां९-१-२४
कोशश्च सततं रक्ष्यो १२-६३-२७
कोशश्चापि विशीर्णोऽयं १४-१-३२
कोशस्य निचये १५-३-२२
कोशस्योपार्जनरति: १२-१५-१
कोशं दण्डं बलं मित्रं १२-३५-१३
कोशेन धर्मश्च कामश्च १२-३५-२०
कोष्ठागारं च ते नित्यं १२-६३-२८
कोष्ठकीकृत्य तं वीरं ६-२४-२९
कोऽहंकार इति प्रोक्त: ३-२४-६४
को हि गाण्डीवधन्वानं ५-१-३८,
७-३६-१६
को हि तत्रैव भुक्त्वान्नं १-३५-३७
को हि तिष्ठति दुर्धर्षे ७-१-२४
को हि द्रुपदमासाद्य १-३३-१०
को हि धर्मोऽस्ति २-८-४९
को हि नाम पुमाँल्लोके २-१०-२४
को हि नाम समानेषु ५-३५-३५
को हि मे भोक्तुकामस्य १-२५-३९
को हि राधासुतं कर्णं १-३१-२९
को हि शक्तो रणे जेतुं ६-२३-१४
को हि शास्त्रविदां मुख्यो ७-२७-३९
को हि सुप्तानिमान्भ्रातॄन् १-२५-२४
कौन्तेय यदि प्रश्नांस्तात् ३-२३-३७
कौन्तेयस्त्वं न राधेय: ५-३०-१६
६-२३-९
कौरवाणां कुले जात: ५-३३-१८
कौरवाणां प्रकृतिं च ५-१७-४५
कौरवार्थे पराक्रान्ता: ९-६-७
कौरवास्तु ततो राजन् ६-१३-६९
कौरवेषु निवृतेषु ६-१३-६८
कौरवेष्वपयातेषु ८-४-२३
कौसल्ये देवरस्तेऽस्ति १-७-३१
क्रमेण परिसर्पन्तं ११-२-३०
क्रमेण स हयस्त्वेवं १४-८-२२
क्रव्यादैर्भक्ष्यमाणान् वै ११-५-३
क्रिया भवति केषांचित् १३-११-२
क्रियाभ्युपायैरिन्द्रेण ९-१४-६
क्रियाभ्युपायैर्बहुभि: ९-१४-५
क्रियावाञ्श्रद्दधानो हि १२-६३-१०३
क्रीडता हि मया बाल्ये ६-२६-३५
क्रीडन्तो वीटया तत्र १-१४-३०
क्रीडितुं तेन चेच्छन्ति १२-१४-३१
क्रुद्धश्च चापमायम्य ६-९-२७
क्रुद्धस्ततो भीमसेनस्तरस्वी ८-२०-३
क्रुद्धस्य नरसिंहस्य १०-५-१०
क्रुद्धं पापं नर: कुर्यात् ३-४-२२
क्रुद्धोऽपि पुरुषव्याघ्र १-२६-२
क्रुद्धोऽप्यक्रुद्धरूप: स्यात् १-२०-२५
क्रुद्धो भृशं तव पुत्रेषु ६-१५-४७
क्रुश्यन्ति परिदीप्यन्ति १२-१४-२६
क्रूरपापजनैर्जुष्टं २-१७-५५
क्रूरबुद्धेरहं तस्य १-२५-५४
क्रूरोऽमर्षी स दुष्टात्मा ४-१०-३
क्रूरो मानुषमांसाद: १-२५-२
क्रोधदीप्तं तु कौन्तेयं १०-७-४
क्रोद्धमाहारयच्चैव १८-२-३४
क्रोधमूलो विनाशो हि ३-४-२१
क्रोधसम्मूर्च्छितो राजन् ६-६-२०
क्रोधस्तेजाश्च तपसा ५-३५-२०
क्रोधं शमेन जयति १२-६३-११५
क्रोध: सुदुर्जय: शत्रु: ३-२४-५७
क्रोधात्प्रस्फुरमाणोष्ठ: ८-२६-११
क्रोधाद् दानफलं हन्ति १४-११-८३
क्रोधामर्षवशं प्राप्त: १०-१-१०
क्रोधाविष्टो विनि:श्वस्य ४-७-६२
क्रोधितस्तु रणे पार्थ: ८-१३-२३
क्रोधो हन्ता मनुष्याणां ३-४-२०
क्रोधो हर्षश्च दर्पश्च ५-८-१२
क्रोशतां किमिदं कोऽयं १०-३-२३
क्रशन्त्यो यस्य वै १३-१४-४४
क्रोशमात्रमपक्रान्तं १-१२-३३
क्रोशमात्रं प्रयातेषु पाण्डवेषु ३-११-१२
क्रोशमानेऽर्जुने चैव ७-३६-३७
क्रौञ्चं दृष्ट्वा ततो भीष्म: ६-८-१
क्लान्त: शत्रुनं २-५-५८
क्लिश्यमानेषु भूतेषु १२-३२-१
क्लीबस्य हि कुतो राज्यं १२-२-३
क्लीबे दारक्रिया २-७-४२
क्लैब्यं मा स्म गम: ६-३-३१
क्व गतो भगवन् १-१३-४४
क्व गतो भविता १-१३-३७
क्व गमिष्यथ भद्रं ३-१-९
क्व गमिष्यसि राजेन्द्र ६-४-७
क्व च ते भ्रातरो मह्यं १८-२-१३

क्व चासौ विदुरो १५-७-८
क्वचिद् वहन्तो १-२६-१८
क्व ते कृतास्त्रता याता ९-१४-२०
क्व ते तत् पौरुषं यातं ९-१४-१९
क्व ते वीर्यं क्व चास्त्राणि ७-२७-४
क्व नु ते पार्थिवा १८-१-१७
क्व नु ते सूतपुत्रोऽभूत् ९-२-१७
क्व नु स्विदर्जुनः ४-१२-३४
क्व समुत्था. कथंशीला १२-२२-४
क्व स वीरो महाबाहुः ४-१५-६६
क्व सा क्रीडा ७-३८-१२
क्व सा बुद्धिरियं १५-४-६०
क्वासे क्व च गमिष्यामि १२-१०-३१
क्षणं कुरु महाराज १-२-११
क्षणात्प्रांशुः क्षमाद्ध्रस्वः १-१६-३८
क्षणेन तस्य ते राजन् १६-४-४३
क्षणेन स रथस्तस्य ६-२५-२८
क्षणेनैव वने तस्मिन् ३-१८-२१
क्षतात्त्राता क्षताज्जीवन् ७-४१-१३
क्षत्तरानय गच्छैतान् १-३४-४
क्षत्तर्यद् गुरुराचार्यः १-१६-६
क्षत्ता च धर्मार्थविद् १५-५-१५
क्षत्ता मन्त्री महाप्राज्ञः २-११-२२
क्षत्ता यदब्रवीद् वाक्यं १-२२-५४
क्षत्तारं कुरुराजस्तु ४-१५-४०
क्षत्तार्थबद्धस्त्वस्माकं १-२१-२९
क्षत्ता व्ययकरस्त्वासीत् २-७-७
क्षत्रधर्माच्च्युतो राज्ञि ११-४-३५
क्षत्रधर्माद्धि पापीयान्न १२-२८-५८
क्षत्रधर्मेण धर्मज्ञ १२-९-२
क्षत्रधर्मो महारौद्रः १२-९-५
क्षत्रियस्य महाराज २-११-४७
क्षत्रियस्य स्मृतो १३-२५-११
क्षत्रियस्यापि यो धर्मः १२-१७-९
क्षत्रियस्यैतदेवाहुः २-५-३६
क्षत्रियः क्षत्रियं जित्वा २-८-६
क्षत्रियः क्षत्रियं हन्ति ५-१७-१६
क्षत्रियः सर्वशो २-४-२१
क्षत्रियाणां बलं ज्येष्ठं १-१७-४६
क्षत्रियाणां महाराज १२-९-३
क्षत्रियाणां वचः १-६-१९
क्षत्रिया दह्यमानास्ते ८-१२-३
क्षत्रियास्ते महात्मानः ११-१-३३
क्षत्रियेण हि हन्तव्यः ५-१९-५
क्षत्रिये संगतं नास्ति १२-३६-१२
क्षत्रियोऽध्ययने १३-१५-१६
क्षत्रियो बाहुवीर्येण १२-६३-५५
क्षत्रियो रक्षणधृतिः १३-१४-२८
क्षत्रियो वृत्तिसंरोधे १२-३५-६
क्षन्तव्यमेव सततं ३-४-३२
क्षममाणं नृपं नित्यं १२-१४-१५
क्षमयन्तं तु राजानं ४-१५-४८
क्षमं च मन्यसे युद्धं ७-१२-२३
क्षमा तेजस्विनां तेजः ३-४-३०
क्षमा धर्मः क्षमा यज्ञः ३-४-२८
क्षमा धृतिरहिंसा ५-१६-४,१२-३९-२२
क्षमा प्रशस्यते लोके ७-४२-१२
क्षमा ब्रह्म क्षमा सत्यं ३-४-२९
क्षमावन्तश्च धीराश्च १३-७-२८
क्षमा वशीकृतिर्लोके ५-८-३८
क्षमाशील पुरा भूत्वा ११-४-७
क्षमेदशक्तः सर्वस्य ५-१२-३८
क्षयं नीतोऽस्मि वार्ष्णेय ६-७-६
क्षयं मनुष्यदेहानां ९-४-१९
क्षरन्त इव नागेन्द्राः ४-९-१३
क्षात्रं धर्मं महाराज ३-९-४
क्षामयित्वा तु कौरव्यं ४-१५-५३
क्षितावास्तां महेष्वासौ ७-२२-६०
क्षितिं गता जानुभिरेव ८-२५-१०
क्षिप्तं क्षिप्तं पुनश्चक्रं १-३६-३६
क्षिप्तं क्षिप्तं रणे १-३६-२६
क्षिप्तानि क्षिप्यमाणानि ७-२५-१७
क्षिप्तांस्त्वया चाग्रसद् ८-२४-१३
क्षिप्रकारी जितक्रोधः १२-१५-२४
क्षिप्रमागम्यतां राजन् ५-४-१४
क्षिप्रहस्तश्चित्रयोधी ५-३१-२०
क्षिप्रं क्रुद्धेन तं वृक्षं १-२८-३३
क्षिप्रं गच्छत भद्रं वः ६-२१-८
क्षिप्रं च गावो ४-३-५२
क्षिप्रं बलचतुर्भागं ४-१३-१८
क्षिप्रं वा सन्धिकामः १२-३५-२८
क्षिप्रं विजानाति चिरं ५-८-१५
क्षिप्रं श्येनाभिपन्नानां ७-५-२०
क्षिप्रं संनद्धकवचौ १०-२-४७
क्षीणरत्नां च पृथिवीं ९-१४-३०
क्षीणवद् विह्वलत्वात् तु ९-५-१६
क्षीणस्य दीर्घसूत्रस्य १२-३५-२१
क्षीणोषधि समावेशे १४-११-२५
क्षुत्पिपासादयो भावाः १२-५९-८
क्षुद्रं कृत्वा फलं पापं ३-२०-२९
क्षुद्राक्षेणेव जालेन ५-९-३६
क्षुधा निर्णुदति प्रज्ञां १४-११-७३
क्षुरप्रैर्विशिखैर्भल्लैः ३-१७-२९
क्षुरान्तमुद्यम्य भुजेन चक्रं ६-१२-३८
क्षुराभ्यां चक्ररक्षौ च ६-९-२८
क्षेत्रस्थेषु च सस्येषु १२-१९-३८
क्षेत्रं पुरुषकारस्तु १३-३-७
क्षेपायमाणाभिषङ्ग १२-६१-१०
क्षौमं च कुशचीरं च १२-५९-११

ख

खड्गजिह्वं धनुरास्यं ८-१८-१३
खड्गमादाय सुशितं ६-१७-२७
खनकेन तु तेनैव १-२३-६५
खाण्डवप्रस्थमध्यस्थो २-६-९
खाण्डवे दह्यमाने तु १-३६-३२
खिन्नस्तु बलवान् १-१३-२९
ख्यापनेनानुतापेन दानेन १२-१-२०

ग

गङ्गाद्वारं प्रतिमहान् १-१४-५
गङ्गायाः सुरनद्या वै ६-१८-५
गङ्गां चैवानुयास्याम १-१३-१९
गच्छ गच्छ महाबाहो ७-२७-४२
गच्छ जानीहि के १-२५-५
गच्छ जानीहि सौम्येमां ३-२०-१०
गच्छ तात महाप्राज्ञा ५-२६-२
गच्छ त्वमपि कौन्तेयं ७-३६-१८
गच्छत त्वरितः सर्वे ३-१७-१८

गच्छ त्वं कितवं २-१४-१६
गच्छ त्वं हि यथाकाम ३-८-९
गच्छ दुर्योधन पुरं ५-४-१२
गच्छन्तु दूतास्त्वरितं ४-१०-५४
गच्छन्नेव स गोविन्दं ७-८-२
गच्छ मूर्ध्ना प्रपन्नोऽस्मि ३-८-२९
गच्छ वा तिष्ठ वा भद्रे १-२५-२८
गच्छ शीघ्रं महाराज ६-२२-९
गच्छ सञ्जय यत्राग्निः १५-८-१८
गच्छ सैरन्ध्रि गन्धर्वा ४-६-३६
गच्छ सैरन्ध्रि भद्रं ते ४-८-२८
गजं तु सगजारोहं ३-२१-११
गजानश्वान् रथांश्चैव १-१८-१७
गजानां बृंहतां चैव ६-२-२२
गजानीकं हतं दृष्ट्वा ९-१०-५
गजाश्वरथयोधानां ७-४-२५
गजो गजं समासाद्य ६-२४-५४
गजो गजेन समरे ६-५-२०
गजो गजेनाभिहतः पपात ६-१३-६
गजानां वृत्तिमिच्छामि १२-२९-१
गणैरप्सरसां चैव ३-१७-१०
गते पूर्वाह्णभूयिष्ठे ६-५-२७, ६-६-२६, ६-१०-१, ६-१२-१
गतश्रीकांश्च्युतान् ३-२०-२१
गतसत्त्वमिव ज्ञात्वा ३-२१-५६
गतस्य विषयं तत्र १२-३५-५१
गतं मां सहसा भूमिं १२-३५-५२
गतः पिता मे १-३-१८
गतः स पुरुषव्याघ्रः ७-१२-२
गतः स वीरलोकाय ७-४०-१५
गतानेतान्विदित्वा तु ३-१-३
गतायुषमसमार्थ्यं १३-२-१३
गतिर्या भवतां राजन् ३-१-३२
गतिं चैव न पश्यामि १-२७-६४
गते तु नारदे पार्थः २-२-८७
गते तु पाण्डवे तात ३-१०-२
गते त्रयोदशे वर्षे ३-१९-७५
गते दुर्योधने कृष्णः ५-३-२८
गते द्वारवतीं कृष्णे ५-३-३
गते भगवति व्यासे १-२९-२२, ७-७-१७, १५-३-१
गतेषु तेषु वीरेषु ४-२-२५
गतेषु पार्थिवेन्द्रेषु २-९-४६
गतोऽसि वैरस्यानृण्यं ९-१९-८
गत्वा च मम विश्वासं १२-३५-११३
गत्वा तु तावका राजन् १०-१-२
गत्वा त्ववभृथं राजा १४-१०-७५
गत्वा शान्तनवं वृद्धं ६-२६-१८
गदतः क्लीबया ५-१८-३३
गदया त्वां महाबाहो ९-१५-१८
गदया निहतो भीमः ९-१७-२६
गदया वध्यमानास्ते ६-१३-२५
गदया व्यधमत् सर्वान् ६-१३-३१
गदं वीक्ष्य शयानं च १६-१-४६
गदापर्णिं ततो भीमं ८-१९-२८
गदाप्रहाराभिहतः ५-१५-७
गदामादाय भीमोऽपि ८-४-१५
गदायुद्धे न मे कश्चित् ९-१५-३६
गदायुद्धेऽसिचर्यायां १-१५-२७
गदाविमथितैर्गात्रैः ६-२२-४८
गदां च भीमसेनाय २-१-२७
गदिनं कोऽद्य मां पाप ९-१६-३७
गन्धर्वजानामश्वानामहं १-२९-५१
गन्धर्वराज गच्छाद्य ३-८-२
गन्धर्वराजस्तान् सर्वान् ३-१७-२५
गन्धर्वास्त्रासितान् दृष्ट्वा ३-१७-३०, ३-१८-४०
गन्धर्वैर्घोषयात्रायां ५-१३-३०
गन्धर्वैर्वारिते सैन्ये ३-१७-२१
गन्धर्वैस्तु महाराज ३-१७-३६
गन्धाभरणमाल्येषु ४-७-३६
गमनं चापि युक्तं स्यात् १-३४-१७
गर्ते मत्तः प्रपतति २-१३-४०
गर्जितेन वृथा किं ते १-२५-४६
गर्जित्वा सूतपुत्र त्वं ७-२६-१८
गर्दभे मार्दवं कुर्याद् ५-१-४६
गर्भस्थो वा प्रसूतो वापि ११-२-१०
गर्भेषु पाण्डवेयानां १०-८-३२
गर्हे ह्यहं त्वां स्वकुले ५-७-२३
गवाश्वं बहुधेनूकं २-१३-१७
गवां मध्ये तु पठतः १३-२७-१३
गव्यूतिमात्रे व्यवसत् ३-१६-५३
गव्ये विषाणकोषे च १-१६-४०
गाङ्गेयस्तु रणे पार्थं ६-५-९ ६-८-२२
गाङ्गेयो भगदत्तश्च ६-२२-४१
गाण्डीवधन्वन् संग्रामे ८-१८-३
गाण्डीवधन्वा च वृकोदरश्च ३-१६-१३
गाण्डीवधन्वा ये चान्ये ५-३३-२
गाण्डीवप्रेषिता बाणाः ७-१०-१३
गाण्डीवं च धनुर्दिव्यं ७-१०-१५
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् ६-३-२१
गान्धारराजः शकुनिः २-१२-१२, ११-५-४६
गान्धारराजः सुबलः २-६-४२
गान्धारी च महाभागा १-१६-१०, १५-८-२२
गान्धारी तु वरारोहाः १-८-२८
गान्धारी त्वथ शुश्राव १-८-२६
गान्धारी पुत्रशोकार्ता ११-३-४
गान्धारे शृणु राजेन्द्र ५-३५-९
गान्धार्या चाभ्यनुज्ञातः १५-४-६, १५-७-५७
गान्धार्याश्च यथा १-३३-४१
गान्धार्या सहितो १५-८-११
गान्धार्याः कथयामास १५-६-२९
गान्धार्याः सन्निधौ तु १५-४-८८
गायत्र्या न परं जप्यं १३-२७-४
गायामि नृत्याम्यथ ४-३-५९
गारुडं च महाव्यूहं ६-११-२
गार्हस्थ्यस्य च धर्मश्च १२-५३-२
गार्हस्थ्यं धर्ममखिलं १३-१६-१७
गार्हस्थ्यं धर्ममाश्रित्य १३-१६-२०
गावल्गणे संजय स्वागतं ५-६-८
गावश्च बहुलास्तत्र ४-९-३२
गावः गन्धेन पश्यन्ति ५-९-१८
गावः स्वर्गस्य सोपानं १३-१३-४१

गात्रो राष्ट्रस्य कुरुभिः ४-११-२७
गावो लक्ष्म्याः सदा १३-१३-३७
गाहमानमनीकानि ७-६-६५
गाहमनो मया द्रोणो ७-४२-१५
गीतवादित्रनृत्यानि ३-७-१६
गीतं नृत्यं विचित्रं च ४-१-२६
गीतं वा यदि वा ४-११-३६
गुणवत्सु कथं द्वेषं ६-२४-६१
गुणवन्ति च धान्यानि ४-९-३०
गुणवाञ्छीलवान् १२-१४-८
गुणहीनं परेषां च ५-१५-११
गुणा दश स्नानशीलं ५-११-४४
गुणान् गुणवतां शल्य ८-८-२
गुणान् पार्थस्य ३-१-२४
गुणाश्च षण्मितभुक्तं ५-११-४५
गुणैरप्सरसां दिव्यैः १-३-२८
गुणैः समुदितं सम्यक् १-८-१५
गुणैः समुदितान् दृष्ट्वा १-२१-१
गुरुणा कुरुवृद्धेन ६-२६-३४
गुरुणा चाभ्यनुज्ञातः १३-२५-८
गुरुणा चैव निर्बन्धः १३-१७-४९
गुरुपुत्र इति ह्येनं ८-१२-३२
गुरुपुत्रोऽद्य सर्वेषां ९-३-५
गुरुपूजा च कौरव्य १२-३९-२४
गुरुपूजा च सततं १२-५८-२
गुरुभ्य आसनं देयं १२-४९-१९
गुरुर्गरीयान् पितृतो १२-३०-१०
गुरुर्भवान् न मे शत्रुः ७-११-४७
गुरुशुश्रूषया शूराः १३-१५-२२
गुरुषु मातृपित्रोश्च १३-९-२२
गुरुं प्रव्यथितं दृष्ट्वा ६-२१-१३
गुरुं मे यत्र पाञ्चालः ७-४१-५
गुरून् हत्वा हि महानुभावान् ६-३-३३
गुरोरप्यवलिप्तस्य १-२-२४,
१२-१५-५, १२-३७-३३
गुरोमर्म गुरुस्त्वं वै १४-११-६५
गृध्येत् यदान्यविभवैः ५-६-३८
गृध्रदृष्टिर्बकालीनः १२-३७-४१
गृहस्थ एव यजते १२-५३-६
गृहस्थं हि सदादेवाः १२-९-१३
गृहं च सुपरिच्छन्नं १-१५-३
गृहं वा गच्छ माद्रेय ८-३-२३
गृहाण चक्रमित्युक्तः १०-६-२१
गृहाण धर्मराजं वा ८-७-८
गृहाणि राजमार्गेषु १२-१२-१७
गृहाणीव हि मर्त्यानां ११-२-५
गृहाणेदं महाबहो १-१५-६२
गृहाणेमं महाराज १-५-१२
गृहाणेमां मया प्रोक्तां ३-५-४५
गृहादग्निश्च बोद्धव्य १-२२-५६
गृहारम्भो हि दुःखाय १२-४६-१०
गृहीतखड्गचर्मणिः १-१६-२२
गृहीतवाक्यो नयविद् ५-११-३७
गृहीतवाक्यो नृपतेः १-३२-१५
गृहीतं वाजिनं दृष्ट्वा १४-९-११
गृहीतास्त्रस्तु कौन्तेयो ३-७-१२
गृहीत्वा च धनुः पार्थः ६-१२-२६
गृहे गृहे हि राजानः २-४-२
गृहे यत् क्षत्रियस्यापि ९-२-५१
गृहे वसन्तं गोमायुं २-१३-३
गृहेषु कुरुमुख्यानां १-८-६
गृहैरादर्शविमलैः १-३४-४५
गृह्णातु विधिवत् पाणिं १-३२-४८
गृह्णीत बध्नीत ३-१२-२२
गृह्य धर्मज्ञ मा १२-३५-२
गृह्य संज्ञां ततो भीमः ९-१८-१६
गोकुलस्य वृषार्तस्य १३-८-४
गोघ्नः स्त्रीघ्नश्च २-८-४८
गोपाध्यक्षो भयत्रस्तो ४-११-४
गोपायितारं दातारं १२-२१-९
गोपाल इव दण्डेन १-१८-१८
गोमायुनेव सिंहानां ३-५-४
गोरसानुपयुञ्जानः ३-१७-६
गोविन्द मयि या १४-१-१४
गोविन्दं च महात्मनं १४-१०-८०
गोवृषो वा वराहो वा १३-१०-१४
गोष्पदं प्राप्य ७-२०-१२
गोसंख्याता भविष्यामि ४-१-३३
गौतमस्तु सुतं दृष्ट्वा १२-५२-३३
गौतमी नाम कौन्तेय १३-१-७
गौतमो द्विगुणं कालं ५-३७-२२
गौतमोऽपि त्वरायुक्तः ६-२४-३४
गौरवं पाण्डुपुत्राणां ६-४-७१
गौरवेन परित्यक्त १२-६०-२८
गौर्गौरिति पुरा मन्द ९-१९-२
ग्रथयिष्ये विचित्राश्च ४-३-३८
ग्रन्थिको नाम नाम्नाहं ४-१-३०
ग्रसन्त इव मज्जानो ६-२-५३
ग्रस्तचक्रस्तु राधेयः ८-२५-२९
ग्रहणं धर्मराजस्य ७-२०-१४
ग्रहनक्षत्रताराणां १-१-४
ग्रामस्याधिपतिः कर्मः १२-२७-३
ग्रामं ग्रामशताध्यक्षाः १२-२७-७
ग्रामीयान् ग्रामदोषैश्च १२-२७-४
ग्रामे गृहे वा ये द्रव्यं १३-२६-१७
ग्रामो धान्यैर्यथा शून्यः १२-९-४६,
१२-६३-४
ग्राहः पञ्चत्वमापेदे १-१५-६१

घ

घटमानान् यथाशक्ति ६-१८-७
घटोत्कच विजानीहि ७-३०-२१
घटोत्कचस्तु राधेयं ७-३०-१७
घटोत्कचस्तु स्वं नागं ६-१३-५५
घटोत्कचस्य विजयं ६-२२-२
घटोत्कचं यदा कर्णः ७-३३-८
घटोत्कचे तु निहते ७-३५-१
घटो ह्यस्योत्कच इति १-२६-१४
घट्टयन्निव मर्माणि ७-६-४६
घण्टावान् मानवः शीघ्रं ४-१५-१५
घातको वध्यते नित्यं १३-२१-५२
घातयामि सुकेशान्ते ४-६-४०
घातयित्वा जरासन्धं २-५-८१
घातयित्वा तमेवाजौ १२-१२-१०
घातयित्वा महीपालान् ९-२१-१८
घातयित्वा वयस्यांश्च ९-२-५६
घुष्यमाणे महादाने १४-११-४
घृतं माल्यं च गधांश्च १३-३२-७

घोरं युद्धमदीनेन ८-१४-१०
घोषा द्वैतवने सर्वे २-१६-३२
घ्नन्ति चान्यान् नरा १२-९-२९

च

चकर्ष च ततो दोर्भ्यां ६-२५-३२
चकर्ष दोर्भ्यामुत्पात्य ४-४-१३
चकारभावं संसर्गात् १-३-३१
चकार सज्जं कृच्छ्रेण १६-४-३७
चक्ररक्षः कुमारस्तु ७-३-२३
चक्ररक्षावपि तदा ७-२२-३५
चक्रव्यूहो महाराज ७-६-१२
चक्रुः प्रदक्षिणं सर्वे १५-७-५८
चक्रे दानापदेशेन १-२३-३३
चक्रे निवेशनं राजा १४-३-१२
चक्रे स वेश्मनस्तस्य १-२३-२६
चक्षुर्दद्यान्मनो दद्याद् १३-४-६
चक्षुर्मनोभ्यां संतोष्याः ७-२३-३३
चक्षुषा क्रोधदीप्तेन ९-२२-४२
चक्षुषा मनसा वाचा ५-९-१२, १२-६०-११
चक्षुषा विप्रहीनस्य १३-८-८
चतुर्णामपि वर्णानां १३-२७-१०
चतुर्णामेव पापानाम् ३-४-५
चतुर्णां मध्यमौ श्रेष्ठौ १२-२४-५
चतुर्थः कीचकस्तेषां ४-९-४०
चतुर्थे नियते काले १५-२-२१
चतुर्दशी पञ्चदशी १६-१-२२
चतुर्द्वारं पुरुषं १२-५३-९
चतुर्भिश्चतुरो वाहान् ९-४-३५
चतुर्भिः कारणैः कृष्ण ३-२-९
चतुर्युजो रथाः सर्वैः ५-३२-७
चतुर्विधानि मित्राणि १२-२४-४
चतुर्विधा भिक्षवस्ते १३-२५-३५
चतुर्विधा हि लोकेऽस्मिन् १२-६०-८
चतुर्विधेयं निर्दिष्टा १३-२१-४
चतुर्वेदोऽपि दुर्वृत्तः ३-२४-७६
चतुष्पथगदायुद्धं १-३-५
चतुष्पदी हि निःश्रेणी १२-८-३
चतुष्पादं दशविधं १-३५-४८
चत्वरेष्वथ तीर्थेषु १२-१९-४५
चत्वारस्तु नरव्याघ्रः ४-९-३९
चत्वारः सचिवा यस्य १५-४-२२
चत्वारि कर्माण्यभयङ्कराणि ५-८-५५
चत्वारि ते तात गृहे ५-८-५४
चत्वारि यस्य द्वाराणि १२-६१-२२
चत्वारि राज्ञा तु महाबलेन ५-८-५३
चत्वारिंशदहान्यद्य ९-१७-६
चत्वार्याहुर्नरश्रेष्ठाः २-१५-१४
चन्दनागुरुकाष्ठानि ११-६-८
चमूं द्रावयते क्रोधात् ६-२४-११
चरणक्षालने कृष्णः २-७-८
चरन् मार्गान् विजानाति १-२२-५०
चरितब्रह्मचर्यस्य १२-१७-२४
चरेद्धर्मानकटुकः १२-२०-३
चलेद्धि हिमवाञ्छैलः ५-१९-२२
चलेद्धि हिमवान्स्थानात् २-१७-७१
चाक्षुषी नाम विद्येयं १-२९-४८
चातुराश्रम्यमुक्तं ते १२-१८-१
चातुर्वर्ण्यप्रमोदाय १२-६-२५
चातुर्वर्ण्यविधानं १-१-३
चातुर्वर्ण्यस्य धर्माश्च १२-१५-१०
चारमन्त्रबलादानैः १२-२९-४
चारयेथाश्च सततं १५-३-९
चारश्च प्रणिधिश्चैव १२-१६-२
चारः सुविहितः कार्यः १-२०-३३
चारान्मन्त्रं च कोशं च १२-२६-१५
चारांश्च विद्यात् १२-१९-११
चारित्रनिरता राजन् १३-७-१७
चारित्रमात्मनः १२-५५-१२
चारैर्विदित्वा १५-३-२३
चालयन्नूरुवेगेन ३-१२-७
चिक्रीडुश्च तथैवान्ये ९-२१-४
चिता समीपे गत्वा स ४-८-१७
चिताः कृत्वा प्रयत्नेन ११-६-१०
चित्रकौतूहले तस्मिन् १-३५-४
चित्रबाणश्चित्रवर्मा १-१०-१२
चित्रसेनमथालक्ष्य ३-१८-४५
चित्रसेनरथं प्राप्य ९-४-२४
चित्रसेनस्तु मल्लेन ९-४-२०
चित्रसेनं नरव्याघ्रं ६-१४-१८
चित्रसेनं समागम्य ३-१९-२४
चित्रसेनो विकर्णश्च ६-१८-२०
चित्रं मणिमयं २-१-२०
चित्रायुधो निषङ्गी च १-१०-१४
चिन्तयानो महाभागां ९-२२-११
चिन्तयित्वा तु पार्थेभ्यः ५-५-३२
चिन्त्यतामिदमेकाग्रं ५-३५-४७
चिरकारिक भद्रं ते १२-५२-२८
चिरकारी तु पितरं १२-५२-३२
चिरकारी महाप्राज्ञे १२-५२-३
चिरकालेप्सितं लोके ७-२०-२३
चिरदृष्टो मयेत्येवं १५-८-५
चिरमन्वास्य विदुषः १२-५२-४३
चिरमस्म्युषितः पुत्र १५-२-४६
चिरमाशंसितो मात्रा १२-५२-३०
चिररात्रोषिताः स्नेह १-२९-१०
चिरस्य दृष्ट्वा दाशार्हं ५-२४-१२
चिरं गतास्तोयहेतोः ३-२३-४३
चिरं धारयते शेषं १२-५२-४१
चिरं वृद्धानुपासीत १२-५२-४२
चिरं स चिन्तयत्यर्थान् १२-५२-४
चिरं स्थास्यति चाकीर्तिः ७-४१-७
चिरात्तु नानुपश्यामि १५-८-३
चिराभिलषितं कामं ७-२०-१७
चिरायमाणां मां ज्ञात्वा १-२५-५७
चिरायमाणे नकुले ३-२३-२४
चिरेण मित्रं बध्नीयात् १२-५२-३६
चीरवल्कलमृद् राजन् १५-२-२७
चुक्रुशुः कर्ण कर्णेति ७-३५-१६
चुक्षुभे सा सभा राजन् २-१३-५३
चेकितानं वृतं दृष्ट्वा ९-५-२४
चेकितानः सत्यधृतिः ५-३६-१८
चेतनारहितं काष्ठं २-८-४१
चेदीनामाधिपत्ये च २-९-३६
चेरुर्भैक्ष्यं तदा ते तु १-२७-४
चेष्टामकुर्वंल्लभते १०-१-४०
चैत्यकस्य गिरेः शृंगं २-५-१५

चैद्यां हि पौर्णमास्यां १४-६-४

छ

छद्मना निर्जितास्ते तु ३-१६-४१
छद्मना निहतं श्रुत्वा ७-४०-१०
छादयामास समरे ६-१७-३२
छादयित्वा रणे द्रोणः ७-१७-१४
छित्त्वाधर्ममयं पाशं १२-६०-५७
छित्त्वा ध्वजरथं चैव ७-२२-४
छित्त्वा शक्तिं तु गाङ्गेयः ६-२५-१०
छिन्नमूले त्वधिष्ठाने १२-३७-८
छिन्नमूले ह्यधिष्ठाने १-२०-१५
छिन्नस्कन्धः स विनदन् ६-९-१६
छिन्नस्थूणं वृषं १२-५१-२
छिन्नहस्तः प्रायगतः ९-२१-२१
छिन्नहस्ता विकवचाः ६-१६-९
छिन्नं तु तन्तुबाहुल्यं १२-३५-१०१
छिन्ने धनुषि राजेन्द्र ९-११-६

ज

जगाम स स्वभवनं १२-३५-११०
जग्राह तामुत्तरवस्त्रदेशे ३-२०-२६
जग्राह विमलं शूलं ६-२२-१४
जघन्यकालमप्येतत् ५-३४-४४
जघन्यतो वयं तत्र ४-१०-१०
जघान निशितैर्बाणैः ६-२७-२८
जटाधारणसंस्कारं १२-१७-२१
जटासुरात् परिक्लेशं १२-७-६
जटासुरिर्महाराज ७-३१-१३
जटासुरो मम पिता ७-३१-५
जटाः कृत्वाऽऽत्मनः १-२६-१७
जनप्रवादान् सुबहून् २-१७-४१
जनमेजयस्तु राजर्षि १-२-२
जनमेजयः शिखण्डी च ७-३५-३
जनस्य संनिनादं तु ७-१५-१३
जनार्दनवचः श्रुत्वा ५-३१-९
जनार्दनं द्वादशभिः ८-२५-१६
जनार्दनं भीमसेनर्जुनौ च ५-७-२
जनार्दनेनानुगतः १३-३२-९
जनो जनपदे भाव्यः ४-९-२५
जन्मप्रभृति कृष्णश्च १-३५-४७
जन्मप्रभृति कौन्तेयाः ५-२४-४७
जन्ममृत्युजरादुःखैः १२-६३-८६
जन्ममृत्युजराव्याधिः १२-३-१६
जपतां जुह्वतां १३-२७-१४
जपेदुदकशीलः स्यात् १२-३४-१५
जयद्रथश्च हन्तव्यः ७-२०-१०
जयद्रथस्ततो राजा ७-११-१०
जयद्रथस्य कर्णस्य ५-३०-४
जयद्रथे च निहते ९-२-१०
जयद्रथेनापहृता ३-१९-४, ३-२१-४
जयमाशस्व मे ब्रह्मन् ६-४-३८
जयश्च तेऽस्तु भद्रं ते ८-७-९
जयश्चैव ध्रुवोऽस्माकं ८-२७-२२
जयस्य हेतुः सिद्धिर्हि २-४-२३
जयं ते प्रतिदास्यामि ७-२६-५
जयेयं लोभमोहौ च ३-२५-१६
जये स्याद् विपुला कीर्तिः ८-२१-७
जयो जयन्तो विजयः ४-३-११,
४-८-१२
जयो नामेतिहासोऽयं १-२-१३,
५-२८-५५, १८-४-६
जयो वधो वा संग्रामे ५-१७-३८
जराथ तं देशमुपाजगाम १६-२-१५
जरामृत्युभयव्याधि १-१-२
जरापरिगतो वृद्धः १४-११-४६
जरामृत्यू हि भूतानां १२-१०-१४,
१२-६३-१५५
जरा रूपं हरति धैर्यमाशा ५-१०-११
जराविध्यत् पादतले १६-२-१६
जराशोकसमाविष्टं १२-६२-१४
जरासन्धबलं प्राप्य २-४-१४
जरासन्धरथं कृष्णः २-५-६३
जरासन्धविनाशं च २-४-२५
जरासन्धह्रदे घोरे २-५-६६
जरासन्धात्मजश्चैव २-५-७१
जर्जरं चास्य विषयं १२-१४-२७
जर्जरीकृतसर्वाङ्गौ ९-१८-१९
जलसन्धं महेष्वासं ७-२३-८
जलस्थानैश्च विविधैः १-१२-२
जलसंधं हतं दृष्ट्वा ७-१६-२४
जलाशयं प्रविष्टोऽथ ९-१४-९
जले निपतितं दृष्ट्वा २-१०-७
जलौकवत् पिबेद् १२-२७-३०
जवेनाभ्यद्रवत् द्रोणं ७-१३-२
जवे लक्ष्याभिहरणे १-१३-३
जहर्ष कर्णोऽतिभृशं २-१३-५६
जहास सस्वनं हासं ५-३७-१६
जहि भीष्मं स्थिरो भूत्वा ६-२६-४१
जहि शत्रून् रणे राजन् ५-२८-३८
जागर्मि रात्रयः सर्वाः ५-१४-१६
जाग्रतो दह्यमानस्य ५-८-६
जातकर्मादि संस्कारं १-३-५४
जातपक्षांश्च सोऽपश्यत् १२-५०-२३
जातमात्रः पुरा चैष १-२८-१८
जातमात्रैव मे देया १-५-२४
जातमुत्सृज्य तं गर्भं १-३-३३
जातमेवान्तकोऽन्ताय १२-४४-२०
जातरूपस्य मुख्यस्य २-१२-५७
जातस्य भारते वंशे २-४-२८
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः ६-३-४९
जातं जातं च सा १-४-१४
जातिजन्मजरादुःखैः १३-२१-४६
जातिस्मरो महानुष्ट्रः १२-३३-४
जाते वृकोदरे पाण्डुः १-११-१२
जातोऽसि भारते वंशे ५-३-२४
जातोऽहं यज्वनां वंशे ८-८-२७
जात्यैवैके सुखितराः १२-४७-१८
जानन्नपि महाबुद्धिः २-१७-४१
जानन् वै मोहयसि २-११-४५
जानाति विश्वासयितुं ५-८-७९
जानामि क्षुधितं तु त्वां १२-३५-१३४
जानामि चैव सत्यं तत् १-७-१५
जानामि ते स्थितिं १-७-१४
जानामि त्वां महाबाहो ६-२७-१०
जानामि त्वां महाभाग ७-१२-६
जानामि समरे वीर्यं ६-२३-१३
जानाम्यहं द्यूतम् २-१२-१०
जानाम्येतां महाराज ५-१७-२८

जानाम्येव महाबाहो ६-२३-२०
जानासि च महाबाहो ९-२२-३३
जानासि च यथा राज्ञि ९-२२-३९
जानासि मे जीवपुत्रि ५-३०-२
जानीमहे देवितं २-१३-१३
जानेऽहमेतदप्येवं ११-५-६२
जामदग्न्यं रणे रामं ६-२-५
जालं ते योजयामासुः १३-१३-६
जिघ्राणोऽस्य वसागन्धं १-२३-९
जिज्ञासुर्ह्येष पुत्रस्य १४-९-३८
जितमित्येव शकुनिः २-१७-४६
जिता सभा वस्त्रवता ५-९-२५
जितेन्द्रियश्च वसुधां १-२२-५७
जितो दुर्योधनः संख्ये ९-१२-५५
जितोऽहं पूर्वकं नाम १-२९-४४
जित्वा जय्यान् २-४-७
जित्वा मुक्तो द्रोणपुत्रः १०-८-५१
जित्वारीन् क्षत्रधर्मेण १२-९-९
जिष्णुः सहिष्णुर्धृष्णुश्च १४-६-१४
जीयमानान् विमनसः ६-१८-३
जीर्णमन्नं प्रशंसन्ति ५-१०-२२
जीर्णेन वयसा पुत्र १४-११-५४
जीवत्पुत्रि सुतस्तेऽयं १-२६-२६
जीवत्सु पाण्डुपुत्रेषु ५-१९-८
जीवसूर्वीरसूर्भद्रे १-३२-५७
जीवितं तव दुष्प्रज्ञ ९-१४-४५
जीवितं प्रतिपद्यस्व १-२९-४३
जीवितं प्रियमत्यर्थं ५-३५-२२
जीवितं यस्य धर्मार्थं १२-६३-१२७
जीवितार्थी कथं त्वद्य १२-३५-५६
जीवितुं चेच्छसे मूढ ४-१०-४६
जीवितुं मरणं चैव १२-३-१३
जीवितुं यः स्वयं १२-५०-१२
जीविते परमं १-२७-२०
जुह्वानोऽग्निं यथा कालं १२-३-४
जृम्भमानं महासिहं ६-२-२८
जेतुं समग्रां सेनां मे ५-१५-२
जेष्याम्यद्य रणे पार्थं ७-२७-२७
जोषमास्स्व न मां भूयः ७-४२-१९
ज्ञातयस्तारयन्तीह ५-१२-२२
ज्ञातयो यस्य नैव १-२४-१६
ज्ञातिशोकाभिसन्तप्तः १२-११-२
ज्ञातीनां हि मिथो भेदे ५-२३-३६
ज्ञात्वा च तान् १-२२-२७
ज्ञात्वा चिकीर्षितं चैषां ३-१८-४९
ज्ञानतृप्तो ह्रीमान्तथा १२-२२-८
ज्ञानपूर्वं कृतं कर्म १३-२८-३०
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नः २२-२४-४३
ज्ञानवृद्धं च वृद्धं च २-८-४७
ज्ञानवृद्धाः प्रशंसन्ति १२-२९-८
ज्ञानं तत्त्वार्थसम्बोधः ३-२४-५५
ज्ञानं प्लावयते १२-५३-२१
ज्ञानं विज्ञानमारोग्यं १३-१४-६
ज्ञानौषधमवाप्येह ११-२-५३
ज्ञायतामस्य यद् दुःखं १-२७-१५
ज्याघोषश्चैव पार्थानां ३-३-११
ज्यायांसमपि चेद् वृद्धं ६-२६-४२
ज्येष्ठवत् तात वर्तस्व १३-१८-२
ज्येष्ठस्य च शिरः कायात् ७-१४-७
ज्येष्ठं युधिष्ठिरेत्येवं १-११-२४
ज्येष्ठः कुलं वर्धयति १३-१८-४
ज्येष्ठानुज्येष्ठतां १-१०-७
ज्येष्ठा मातृसमा चापि १३-१८-१०
ज्येष्ठो भ्राता पितृसमो १३-१८-७

ट

टिट्टिभं तमुपेक्षेत १२-३३-३६

त

त ऊचुः पुरुषव्याघ्रं १४-७-१९
त एवमुक्ताः प्रत्युचुः ३-१९-६६
तच्च दिव्यं धनुःश्रेष्ठं १-३६-२३
तच्च निवेदयामास १८-२-३८
तच्चेदेवं द्वेषरूपेण पार्थाः ५-६-२६
तच्चैतद् वर्धते १-८-१६
तडागकृद् वृक्षरोपी १३-१४-१८
तडागानां च वक्ष्यामि १३-१४-८
तडागे यस्य गावस्तु १३-१४-१०
तत आज्ञापयामास २-६-३१
तत आनाय्य तान् १-३३-३९
तत आमन्त्र्य तं १-२९-१७
तत आश्लिष्य तं प्रेम्णा ८-१७-१२
तत आहूय पाञ्चाल्यः १-३२-३४
तत आहूय मन्त्रज्ञं १-२०-२
तत उत्कोचकं तीर्थं १-२९-६९
तत उत्थाय दाशार्हं ५-२४-१
तत उत्थाय दाशार्हः १२-१२-२५
तत उत्सृज्य १-१८-३०
तत उत्स्रष्टुकामांस्तान् ७-४३-१८
तत एनं परिश्रान्तं ४-७-६३
तत एनं महाबाहुः ३-१३-२४
तत एनं विचेष्टन्तं ३-२१-४७,
४-१०-४३, ४-१२-२४
तत एनां बलाद् १-१२-४
तत एनां महाबाहुः ९-२२-४७
तत एवमुवाचार्तः ६-२५-४६
तत कर्म प्रेक्ष्य बीभत्सोः ६-२९-१८
ततश्चक्रुपतुर्भीमं ७-४४-५
ततश्चटचटाशब्दः १-३१-२४
ततश्च तं बली भीष्मः १३-३२-२२
ततश्चतुर्थे दिवसे १४-७-२८
ततश्च यात्वा मरुधन्व ३-१५-१९
ततश्चाश्रममागच्छत् १५-६-३८
ततश्चिच्छेद तं पाशं १२-३५-१०८
ततश्चुक्रोध बलवान् ६-२०-१८
ततश्चेदिपतेर्वाक्यं २-९-५
ततश्छत्रं ध्वजं चैव ७-५-५३
ततस्तत्कारणं १-५-३५
ततस्तत् परमाश्चर्यं १४-५-११
ततस्तत् पुनरावृत्तं ६-१२-२४—२६,
७-२९-१९
ततस्तत्र समाजग्मुः १५-६-२४
ततस्तत् सर्वमाचष्ट १-१३-५५
ततस्तथा तद् व्यदधाद् ४-१५-७३
ततस्तथोक्तः परिहृष्टरूपः १-३१-११
ततस्तथोक्ता भर्त्रा १-११-९
ततस्तदर्थं यतते १२-५४-४
ततस्तदस्त्रं सहसा सृष्टं १०-७-१९
ततस्तदा कुरुश्रेष्ठ १०-६-११

ततस्तद् द्रोणपुत्रस्य ७-४४-३
ततस्तद्वचनान्मत्स्यै: ४-१०-५५
ततस्तद् विद्रुतं सैन्यं ३-२१-२२
ततस्तमाचार्यसुतं ७-२८-१७
ततस्तयोर्युद्धमतीवदारुणं ८-२०-२
ततस्तयो: संन्निपात: ९-१७-९
ततस्तव महासैन्यं ८-१२-२२
ततस्तव सुता राजन् ६-२२-३१
ततस्तव सुतो राजन् ७-११-२५, ९-१५-२३
ततस्तस्मादवप्लुत्य ६-९-१७
ततस्तस्माद्भयान्मुक्त: १२-३५-१११
ततस्तस्मिन् क्षणे कर्ण: १-१७-३१
ततस्तस्मिन् क्षणे कल्पो १०-५-२०
ततस्तस्मिन् परित्राणं ७-२३-२५
ततस्तस्मिन् प्रतिज्ञाते १-७-२३
ततस्तस्य नगस्थस्य १-१५-५३
ततस्तस्य रथौघस्य ७-१४-४
ततस्तस्य विनाशार्थं १-१८-२६
ततस्तं काञ्चने पीठे १६-३-८
ततस्तं पुत्रशोकेन ७-८-३८
ततस्तं ब्राह्मणं तत्र १-२७-१८
ततस्तं मुनिरुत्थाय १२-४७-३३
ततस्तं रथमास्थाय ३-२१-४८
ततस्ता नर्तनागारात् ४-८-३३
ततस्तानि महार्हाणि ३-१२-२७
ततस्तान् परिविश्वस्तान् ३-१३-१
ततस्तान् प्रेरयामास ४-१२-३
ततस्तान् युधि दुर्धषान् ३-१८-२३
ततस्तालध्वजो राम: ९-१७-२
ततस्तावुद्यतगदौ १-१६-३०
ततस्तां पतितां दृष्ट्वा १०-५-२३
ततस्तां भगवान् १२-१८-५४
ततस्तु कुन्ती द्रुपदा १-३१-४
ततस्तु कृष्ण: समरे ६-१२-३४
ततस्तु तं वै शरमप्रमेयं ८-२६-२६
ततस्तु तावका: शूरा: ९-५-२०
ततस्तु तां समारोप्य ४-८-१०
ततस्तु तुमुलस्तेषां ७-१६-४
ततस्तु ते राजगणा: १-३०-१९
ततस्तु तौ पिता पुत्रौ ६-१७-१८
ततस्तु त्वरयन् योधान् ८-१-२७
ततस्तु त्वरितो भीम: ८-११-१९
ततस्तु दुर्योधनभोज: ८-२३-५
ततस्तु द्रुपद: क्रोधात् ७-३७-८
ततस्तु द्रौपदी गत्वा ४-७-३७
ततस्तु नृपति: क्रुद्धै: ६-१३-५२
ततस्तु पाण्डवानीकात् ९-१२-९
ततस्तु प्रकृती: सर्वा: १७-१-१०
ततस्तु भीमोऽद्भुत १-३१-७
ततस्तु मद्राधिपतिर्महात्मा ९-७-९
ततस्तु मद्राधिपति: प्रहृष्टं ९-७-११
ततस्तु यादवश्रेष्ठ: ९-२२-२२
ततस्तु राजा सिन्धूनां ३-२०-५
ततस्तु वरयित्वा १-९-३१
ततस्तु शल्यो ज्वलनार्कतेज: ९-७-१३
ततस्तु सक्तुगन्धेन १४-११-८५
ततस्तु सभ्या विज्ञाय ४-६-३३
ततस्तु सहित: सर्वै: १-२-५
ततस्तु सारथिर्ज्ञात्वा ८-१-२१
ततस्तूर्यशताकीर्णं १६-१-२९
ततस्तृतीये दिवसे १४-१०-४०
ततस्ते कौरवा: सर्वे १-१३-३२
ततस्ते क्षत्रिया ६-२९-५
ततस्ते जवना धुर्या: ४-१२-५९
ततस्ते ज्ञापयामासु १-२३-६६
ततस्ते तावका: सर्वे ६-८-२, ६-२१-२७
ततस्ते तिग्मतपसं ३-१४-१२
ततस्ते तु यथाकालं २-६-३४
ततस्ते तूत्तरेणैव १७-१-२५
ततस्ते दक्षिणं तीरं ४-३-२
ततस्ते धृतराष्ट्रस्य १-३४-२८
ततस्ते नरशार्दूला: १-३०-१
ततस्ते नियतात्मान: १७-२-१
ततस्तेनैव विधिना १-७-४१
ततस्ते पाण्डवा दूरात् १५-६-२१
ततस्ते पाण्डवा राजन् ७-२७-१५
ततस्ते पाण्डवास्तत्र १-३४-३३
ततस्ते पाण्डवा: सर्वे १-२९-५
ततस्ते पाण्डुपुत्रस्य ९-१३-२२
ततस्ते पापकर्माण: १६-४-३०
ततस्ते पार्थिवा: क्रुद्धा: ६-११-५
ततस्ते पार्थिवा: सर्वे १-६-२२, ६-५-१, ६-१८-२९, ६-३०-१
ततस्ते पुरुषव्याघ्रा: १०-८-४७
ततस्ते प्रययु: सर्वे ३-३-८
ततस्ते प्राद्रवन् भीता: ८-११-२२
ततस्ते प्राविशन् पार्था: ९-२२-२
ततस्ते फाल्गुनेनाजौ १४-८-६
ततस्ते बाष्पमुत्सृज्य १५-६-३३
ततस्तु ब्राह्मणा: सर्वे १४-१०-७२
ततस्ते मत्स्यकांक्षिणो १३-१३-७
तत्रस्ते यक्षवचनात् ३-२४-९६
ततस्ते यत्नमातिष्ठन् १-१४-३१
ततस्ते यौगपद्येन नृसिंहा ३-२०-४
ततस्ते विस्मयं जग्मु: ६-२८-२२
ततस्ते वृक्षमूलेषु १५-७-१३
ततस्तेषां महास्त्राणि ६-५-४०
ततस्तेषां विधातव्यं १२-२६-१७
ततस्तेषां शरीरैश्च ७-६-४०
ततस्तेषु प्रयातेषु १-९-७, ३-३-१
ततस्तेषु प्रलीनेषु १२-५०-२६
ततस्तेषूपविष्टेषु ५-३३-४
ततस्ते सत्वरा जग्मु: १५-६-२८
ततस्ते समनुज्ञाता: १-३४-२३
ततस्ते समयं चक्रु: ६-१-१०
ततस्ते सहिता भूत्वा ९-१०-१५
ततस्ते सहिता: सर्वे १-१३-२७, ३-१७-५, ३-१७-२०
ततस्तैर्विहित: पूर्वं ३-१६-३५
ततस्तौ द्रोणशैनयौ ७-१३-४
ततस्तौ नरशार्दूलौ २-५-४५, ४-४-१२
ततस्तौ दृष्ट्वा ७-१४-१०
ततस्तौ पुरुषव्याघ्रौ ७-२९-१८
ततस्तौ भृशं संक्रुद्धौ ९-६-२०
ततस्तौ रथमास्थाय १४-२-२१

ततस्तौ रथिनां श्रेष्ठौ ७-२९-८
ततस्तौ रभसौ युद्धे ८-१२-६
ततस्त्रयादेशस्यान्ते ४-१०-११
ततस्त्रयोदशे वर्षे ४-१६-४७
ततस्त्रिगर्तराजानं १४-७-१५
ततस्त्वरितमागम्य ८-४-१४
ततस्त्वरितमायान्तीं १४-४-५
ततस्त्वर्जुनपाञ्चालौ १-१८-२४
ततस्त्ववभृथस्नातं २-९-३८
ततस्त्वाज्ञापयामस २-६-२६
ततस्त्वादाय दारूणि १३-३३-५
ततस्त्वामन्त्र्य कौन्तेयान् ५-४-३०
ततस्त्वेषां मुखमालोक्य २-१४-२८
ततः कतिपयाहस्य १-२९-३, १-३६-६,
१४-५-१३
ततः कथान्ते गोविन्दः १४-२-८
ततः कथास्तस्य निशम्य ३-१६-६
ततः कथास्ते समवाययुक्ताः ५-१-८
ततः कदाचित् कुशलः ३-१६-३
ततः कदाचिच्छोचन्तं १-५-२८
ततः कदाचित् तस्याथ १२-३८-८
ततः कदाचिद् गङ्गायाः १५-८-१३
ततः कदाचिद् भुञ्जाने १-१५-२१
ततः कदाचिद् भैक्ष्याय १-२७-७
ततः कबन्धं किंचित् तु ७-११-२१
ततः कर्णमुखान् १-३१-११
ततः कर्णस्य दुर्धर्षं ८-७-४
ततः कर्णं पुरस्कृत्य ८-४-१७
ततः कर्णं महाराज ८-२१-४
ततः कर्णं शिनेः पौत्रः ७-२२-३९
ततः कर्णं समुत्सृज्य ७-३२-१०
ततः कर्णः कुरुभिः ७-३३-२१
ततः कर्णः शरैस्तीक्ष्णैः ७-६-६०
ततः कर्णे हते राजन् ९-१-३
ततः कर्णो महातेजा १-३१-१२
ततः कर्णो महाराज ८-३-१५, ८-१८-२७
ततः कर्णो रणे दृष्ट्वा ७-३०-१
ततः कलिङ्गसैन्यानां ६-९-२४
ततः कलिङ्गः संनद्धा ६-९-३०
ततः काको भृशं श्रान्तः ८-८-५७
ततः काल्यं समुत्थाय १२-१७-१
ततः कार्ष्णिर्महाराज ६-२४-१६
ततः किम्पुरुषावासं ३-१४-१७
ततः किरीटी तस्यानु ५-३-८
ततः किरीटी परवीरघाती ८-२१-१३
ततः किरीटी प्रतिलभ्य ८-२६-२०
ततः किरीटी भीमश्च ७-२५-२४
ततः किरीटी रणमूर्ध्नि ८-२१-१६
ततः किरीटी सहसा ७-३-३४
ततः किरीटी संचिन्त्य १४-७-१४
ततः किरीटी संरब्धोः ६-२७-२५
ततः कुन्ती च कृष्णा च १-३२-४६
ततः कुन्ती च विप्रश्च १-२७-८७
ततः कुन्तीपुत्रो राजा ३-२३-४९
ततः कुन्ती भीमसेनं १-२९-१६
ततः कुन्ती सुतान् १-२९-९
ततः कुन्तीसुतो राजा १२-१२-२४,
१३-३२-१, १८-२-९
ततः कुन्ती पुनः १-११-१९
ततः कुमारं सा देवी १-७-४४
ततः कुमुदनाथेन ७-३५-२६
ततः कृच्छ्रगतं कर्णं ७-६-६२
ततः कृतप्रतिज्ञो वै १२-३८-६३
ततः कृतयुगे धर्मो १२-१९-६७
ततः कृतस्वस्त्ययनाः ३-१-३८
ततः कृपश्च कर्णश्च ४-१४-४
ततः कृपश्च द्रोणिश्च ९-१३-८
ततः कृपोऽप्युवाचेदं ७-२७-१३
ततः कृष्णश्च पार्थश्च २-१-१२
ततः कृष्णं समासाद्य १४-४-७
ततः कृष्णो महाबाहुः ७-२१-४
ततः कृष्णोऽर्जुनं दृष्ट्वा ८-२५-२६
ततः केचिन्महीपालाः २-९-३३
ततः कोपपरीताङ्गी ११-५-५६
ततः क्रुद्धा महाराज ९-१२-१
ततः क्रुद्धोऽब्रवीत् ८-१२-२८
ततः क्रुद्धो महाबाहुः ७-११-२०,
७-४१-११
ततः क्रुद्धो महाराज ६-८-२७,
६-२४-१९, ७-१३-८, ७-१६-२१,
७-१९-१८, ८-३-१२, ८-१२-७
९-४-३६
ततः क्रुद्धो महेष्वासः ६-५-५९, ६-६-३१
ततः क्रुद्धो रणे पार्थः ७-१५-३५
ततः क्रुद्धो रणे भीमं ८-२-९
ततः क्रुद्धोऽर्जुनो ६-१७-९
ततः क्रुद्धो वृषसेनः ८-२१-१०
ततः क्रुद्धो महाराज ८-१-१८
ततः क्रोधसमाविष्टः ६-२०-३०
ततः क्षणेन क्षितिपं ७-५-६
ततः क्षणेन क्षितिपाः ८-१९-३५
ततः क्षत्तान्नपानानि ५-२३-१८
ततः क्षिप्तमिवात्मानं १-१७-१७
ततः क्षुब्धार्णवनिभं १-१६-२८
ततः क्षुरप्राञ्जलिकारः ८-२४-८
ततः क्षुप्रेण सुसंशितेन ८-२६-२२
ततः द्रोणः कृपः कर्णः ७-६-९५
ततः पञ्चदशे वर्षे १५-२-१२
ततः पप्रच्छ पितरं ४-१५-४५
ततः परममस्त्रं तु १०-८-३५
ततः परमसंक्रुद्ध १६-१-३४
ततः पराङ्मुखप्रायं ८-१९-२९
ततः पराजिताः पार्था २-१७-४७
ततः पराजिते कर्णे ८-११-९
ततः परानीकसहं ८-९-१
ततः परिषदो मध्ये १६-१-३१
ततः पाञ्चालमुख्यस्य ७-३०-३
ततः पाण्डवयोधास्ते ७-५-१७
ततः पात्रीः सकरकाः १४-३-१४
ततः पादाववच्छाद्य १-१७-३८
ततः पार्थाः पञ्च ३-२१-८
ततः पार्थो धनुर्गृह्य ६-२५-३०
ततः पार्थोऽभ्यनुज्ञातः ४-१५-७०
ततः पार्थो महाबाहुः ७-५-५८
ततः पार्थो महेष्वासः ७-२७-२०
ततः पावकमब्रूतां १-३६-२७
ततः पित्रा चिरं १२-५२-३४

ततः पुण्ये शिवे १-३४ ३४
ततः पुत्रशतं जज्ञे १-१०-१
ततः पुत्रांश्च पौत्रांश्च १६-३-१५
ततः पुनरथोवाच १-२३-५२
ततः पुनरमेयात्मा ६-८-४०, ६-९-२९,
६-१९-२५, ८-१२-५
ततः पुनर्भीमरवं ४-१४-५२
ततः पुनः समावृत्ताः १७-१-२६
ततः पुरीं द्वारवतीं १६-२-७
ततः पुरुषशार्दूलौ ३-२३-३३
ततः पूर्वाह्णसमये ९-१-१७
ततः पूर्वोत्तरे वायुः ३-१२-२
ततः पौरुषमास्थाय ९-६-५
ततः प्रकुपितो राजा ४-१५-३२
ततः प्रकृतयः सर्वाः १२-१२-२०
ततः प्रजज्ञे निनदः १५-७-६१
ततः प्रज्ञावयोवृद्धं ५-२-१४
ततः प्रज्ञास्त्रमादाय ६-१५-५१
ततः प्रणादः संजज्ञे ११-३-७
ततः प्रतिज्ञां समयं च ६-१२-४२
ततः प्रतीतमनसः १५-४-७
ततः प्रत्यवहारोऽभूत् ७-४४-२२
ततः प्रदक्षिणं कृत्वा ३-६-११
ततः प्रदक्षिणीकृत्य १४-३-१०
ततः प्रदुद्रवः शेषाः ६-२२-३९
ततः प्रबुद्धः कौन्तेयः १-१३-५२
ततः प्रभातसमये ७-६-१, १२-३५-१०३
ततः प्रभाते राजा सः १५-४-४३
ततः प्रभाते विमले ५-३७-३४, ६-१७-१
ततः प्रभासे न्यवसन् १६-१-२७
ततः प्रभिन्नेन महागजेन ४-१४-२८
ततः प्रभृति रक्षांसि १-२८-४५
ततः प्रमथ्य सर्वांस्तान् ३-१७-२४
ततः प्रमुच्य कौन्तेयं ७-२५-२२
ततः प्रमुदिते तस्मिन् ८-१२-४२
ततः प्रयातः सह ६-१७-१२, ७-१६-१९
ततः प्रयाताः कुरु १-३२-२७
ततः प्रयाते दाशार्हे ३-२-२२
ततः प्ररुदितान् १-२७-५१
ततः प्ररुरुदुः १७-१-२७
ततः प्रववृते भीमः ८-१३-१
ततः प्रववृते युद्धं ६-८-५८, ६-१८-३६,
६-१९-९, ६-२०-४, ६-२७-४,
७-३-१३, ७-५-१३, ७-११-५१,
७-२४-२०, ७-३५-७, ७-३५-३०,
८-१-३७, ९-४-१७
ततः प्रवासितो विद्वान् १-२३-५१
ततः प्रविश्य विदुरो ५-८-२
ततः प्रविश्यानुमते ५-७-१७
ततः प्रवेशनं तस्यां २-१-३४
ततः प्रसाद्यमानस्तु ७-२७-१२
ततः प्रहसिताः सर्वे ३-१६-३४
ततः प्रहस्य बीभत्सुः ४-१३-४२,
४-१४-६, ४-१४-२१, ६-२७-३४
ततः प्रहस्य समरे ६-१७-३६
ततः प्रहृष्टाः कुरु ८-२३-१
ततः प्रहृष्टो दाशार्हः ७-१५-११
ततः प्राग्ज्योतिषो ६-१८-१७
ततः प्रादुरभूच्छब्दः १६-४-२०
ततः प्राप्ता क्षणेनैव ३-८-१३
ततः प्रायाद् रथेनाशु ८-११-३, ८-१९-६
ततः प्रायाद् विदुर २-१२-३
ततः प्रासदहर्म्येषु १५-४-४५
ततः प्रासृजदुग्राणी ८-१२-२६
ततः प्रीतमनः क्षता १-३३-२
ततः प्रीतमना द्रोणः १-१५-५०
ततः फलानि पत्राणि १३-२-२३
ततः शक्तिगदाखड्ग ६-९-३१
ततः शक्तिममेयात्मा ६-६-१६
ततः शक्तिं महाघोरां ९-११-८
ततः शक्तिं महावेगां ६-८-४३
ततः शक्रासने पुण्ये ३-७-९
ततः शक्रोऽब्रवीत् पार्थं ३-७-१३
ततः शतसहस्राणि ७-५-२९
ततः शब्दो महानासीत् १६-४-१५
ततः शयाने गोविन्दे ५-३-७
ततः शरशतं शल्यः ९-६-२४
ततः शरशतैस्तीक्ष्णैः ८-१२-२७,९-५-३
ततः शरसहस्राणि ८-१९-३६
ततः शरं महोघोरं ८-२६-१६
ततः शरं समादाय १-१४-४२,९-१०-२०
ततः शराः प्रापतन् ७-३३-११
ततः शरीरे रामस्य १६-४-२३
ततः शरैर्भीमतरैः ८-२५-१८
ततः शल्याश्रितं दृष्ट्वा ८-७-५
ततः शल्ये निपतिते ९-७-२३
ततः शल्यो महाराज ९-१-६, ९-५-३३
ततः शल्यो महावीरः १-३०-२३
ततः शल्यो रणे क्रुद्धः ९-५-६
ततः शल्यो रणे राजन् ९-५-४०
ततः शस्त्रजितां ३-१४-२४
ततः शस्त्राणि ते सर्वे ७-४३-२९
ततः शंखं प्रदध्यमौ ४-१३-४०
ततः शंखाश्च भेर्यश्च ७-३-१०
ततः शान्तनवं भीष्मं ५-३२-१७
ततः शान्तनवः क्रुद्धः ६-१६-२३
ततः शान्तनवो धीमान् १-६-२
ततः शान्तवो भीष्मः १-९-१३,
४-१४-९, ४-१४-२०, ५-२५-१,
६-९-३६, ६-१९-७, ६-२४-१,
४-२४-२८
ततः शारद्वतं राजा ७-४०-८
ततः शारद्वतो वाक्यं ४-९-३६
ततः शास्त्रार्थतत्त्वज्ञः १२-३५-१५२
ततः शिष्यान् समानीय १-१८-२
ततः शीघ्रतरं प्रायात् ५-२९-४२
ततः शुल्काम्बरधरः १-१६-१३
ततः शेषं समादाय १६-४-४९
ततः शैक्यायसीं गुर्वीं ६-१३-२८
ततः शोकपरीतात्मा १२-१-१२
ततः शौरिं नृयुक्तेन १६-४-१७
ततः श्रुत्वैव भीष्मस्य २-९-२३
ततः श्वेतहयः कृष्णं ७-५-३९
ततः स कौरवो राजा १-९-२२
ततः सः गुर्वीं ३-१२-२३
ततः स च हृषीकेशः १२-१३-८
ततः स तपसा युक्तः १२-६०-५

ततः स तृणमादाय १-२७-५३
ततः सत्कृत्य वार्ष्णेयं ५-२-११
ततः सत्यजितं तीक्ष्णैः ७-४-३२
ततः सत्यजितं पार्थः १-१८-२५
ततः सत्यवती काले १-७-३०
ततः सत्यवती दीना १-७-१
ततः सत्यां प्रतिज्ञा तां ८-१६-२६
ततः स द्रुपदः १-३२-४१
ततः स नृपतिर्दृष्ट्वा १५-८-१७
ततः सन्धाय ते सर्वे १५-४-२८
ततः सन्धाय विमलान् ६-२१-२२
ततः सन्ध्यामुपास्यैव ७-८-६
ततः सन्नादयञ्शक्रो १७-३-१
ततः स परिघाभेन ७-३१-१५
ततः स पाण्डवानीके ७-३-१६
ततः स पार्थं वैराटि ४-१२-५१
ततः स पार्षतः क्रूरः ६-१८-५
ततः स पितुरर्थाय १-५-४९
ततः स पुरुषव्याघ्रः १-३५-१९, ४-४-९,
७-१६-२६, ८-१८-२०
ततः स प्राविशत्तूर्णं १४-४-२७
ततः स बाल्यात्पितरं १४-९-१५
ततः स भग्नपार्श्वाङ्गः १-२८-४०
ततः स भरतश्रेष्ठः ९-१७-३२
ततः सभायां निर्गम्य ५-२७-२
ततः स भीमस्तं १-२८-४८
ततः सः भीमं च धनञ्जयं च ११-३-४२
ततः स भूयः संक्रुद्धः १-२८-३१
ततः समभवद् युद्धं १-६-२३,
६-२२-१२, ७-२५-१२, ७-३१-२४
ततः समाकुले तस्मिन् ६-१४-२६
ततः समाधाय सः १-३२-५१
ततः समानयामास १५-२-१४
ततः समाप्तभूयिष्ठे १-१७-१
ततः समासाद्य १६-२-२
ततः समुत्थाय सः २-१४-३१
ततः समुत्थाय सुदुर्मनाः २-१४-३३
ततः समुत्पेतुरुदायुधास्ते १-३१-६
ततः समेत्य नकुलं १०-११-९

ततः सम्पूजितो द्रोणः १-१५-१
ततः सम्प्रेषयामास ५-२-१३
ततः सम्मन्त्र्य कृष्णेन २-५-४४
ततः सरथनागश्वाः ६-१०-१३,
६-२५-११, ८-१९-२२
ततः स रथमास्थाय १-१२-६०
ततः स रथिनां श्रेष्ठः १-६-१३
ततः स राक्षसः क्रुद्धः १-२८-२५,
६-२४-१५
ततः स राजा कौरव्यो १७-१-१४
ततः स राजा द्रुपदः १-३२-१४
ततः स राजा प्रददौ १५-७-१८
ततः स राजा मेधावी १४-२-२३
ततः स राजा सिन्धूनां ३-२०-८
ततः सर्वस्य रङ्गस्य १-१६-३४,
१-१७-४९
ततः सर्वस्य सैन्यस्यः ७-५-१५
ततः सर्वाणि सैन्यानि ७-२८-३५
ततः सर्वाण्यनीकानि ६-१३-२७
ततः सर्वान् समानाय्य ७-३-२
ततः सर्वाः प्रकृतयः १-२३-१
ततः सर्वे तथेत्युक्त्वा १-२५-७३
ततः सर्वे महाबाहुः ३-१२-१२
ततः सर्वे समागम्य ९-४-६
ततः स वरुणास्त्रेण १-१५-१६
ततः स विपुलं चर्म ६-८-४९
ततः सविशिखं चापं ९-५-३७
ततः स व्यायतं कृत्वा ४-८-१५
ततः स व्रतिभिः १-१४-१२
ततः स शरवर्षाणि १४-८-५
ततः स शरवर्षेण इव ९-७-२
ततः स शुशुभे राजन् ८-३-२०
ततः स सर्वसेनायां ७-२०-६८
ततः सहैव कन्याभिः ४-८-४०
ततः संज्ञां पुनर्लब्ध्वा १४-९-२६
ततः संनोदयामास ७-६-३३
ततः संप्रेरयामास ३-१५-७
ततः संवत्सरस्यान्ते १-१९-१
ततः संवादिते तस्मिन् १-३५-१६

ततः संस्तीर्यं रत्नैस्तां २-११-२८
ततः संस्तूय गोविन्दं १६-३-९
ततः संहृत्य मुष्टिं तु ३-१३-२३
ततः सा कुन्तिभोजेन १-९-६
ततः सागरसंकाशं २-८-२६
ततः सात्यकिमभ्येत्य ६-१४-४५
ततः साधुविसृष्टेन ७-१७-७
ततः सा नर्तनागारे ४-८-३२
ततः साभरणौ बाहू ७-१६-२२
ततः सा भारती सेना ७-२५-७६
ततः सा महती सेना ६-८-५७
ततः सायकवर्षेण ७-११-१८
ततः सा रङ्गमध्यस्थं १-९-७
ततः सुतुमुलं युद्धं ३-१८-३१
ततः सुदर्शनं वीरं ७-१९-२५
ततः सुदंष्टं महच्चारु ७-१६-३२
ततः सुदेष्णामनुमन्त्र्य ४-५-११
ततः सुनिशितान् पीतान् ६-२२-३६
ततः सुपुंखैर्निशितैः ८-१०-४
ततः सुप्रीतमनसस्ते २-५-७०
ततः सुबलदायादं ७-६-११७
ततः सुभद्रा सौभद्रं १-३५-४४
ततः सुरपतिः शक्रः १८-३-२
ततः सुशर्मा त्रैगर्तः ४-१०-२५
ततः सूतस्तस्य २-१४-२९
ततः सेनापतिं चक्रे ५-३२-३०
ततः सेनापती राजन् ८-१२-८
ततः सेनामुखे कर्णं ८-९-३
ततः सैनिकमुख्यास्ते ७-२५-२१
ततः सैनिकवर्गाश्च १६-१-२६
ततः सैन्यास्तव विभो ९-६-१
ततः सैन्येषु भग्नेषु ६-६-३९
ततः सोऽतित्वरः कृष्णः १४-४-४
ततः स्थले निपतितः २-१०-५
ततः स्फाटिकतोयां २-१०-६
ततः स्रस्तोत्तरपटः १-१७-३६
ततः स्वरथमारोप्य ६-१४-२५,
९-५-१८
ततः स्वरथमास्थाय ७-१९-३३

ततः स्वशिबिरं ६-१४-५१, ६-१८-४१
ततः स्वशिबिरं प्राप्तौ ७-८-७
ततः स्वाचरणो विप्रः १५-४-२९
ततः स्वैभूंषणैर्दासीं १-७-४६
ततोऽगच्छत् परां १२-३६-७
ततोऽगच्छन्महा १-३-११
ततो गते दारुके १६-२-४
ततो गते भ्रातरि १६-२-१३
ततो गते शाकुनिके १२-३८-७३
ततो गत्वा केशवस्तं १६-२-१२
ततो गाण्डीवधन्वानं ७-५-६१, ८-१८-२
ततो गाण्डीवनिर्घोषः ६-१६-७ ८-१९-२३
ततो गाण्डीवनिर्मुक्तैः १६-४-४२
ततो गान्धारराजस्य ९-८-३
ततो गुरुतरां दीप्तां ९-१७-२३
ततो गृहीत्वा तीक्ष्णाग्रं ९-४-३७
ततोऽग्निसदृशं घोरं ८-२५-२७
ततो घटोत्कचः खड्गं ७-३१-१७
ततो घटोत्कचो राजन् ६-१३-५४
ततो जगाम विदुरः १-३४-५, २-१८-३८
ततो जग्राह केशेषु ४-७-५२
ततो जग्राह शकुनिः २-१२-४४
ततो जनपदं प्राप्य ४-३-३
ततो जनार्दनः संख्ये ७-१४-२३
ततो जयद्रथे राजन् ७-२१-३७
ततो जयो महाराज ७-११-५०
ततो जलविहारार्थं १-१३-१६
ततो जवेन महता ४-१०-१२
ततो जवेनाभिससार २-१४-३४
ततो जैत्रं रथवरं ८-७-२
ततो ज्ञात्वा हतामित्रं ११-४-२
ततो ज्यामभिमृज्याशु ८-१८-१६
ततो ज्यां विनिधायान्याम् ८-२५-२३
ततोऽतिविद्धोऽथ युधिष्ठिरोऽपि ९-७-१०
ततो दत्त्वा बहुधनं १४-१-४७
ततो दश महेष्वासाः ६-५-४५
ततो दानपवित्रेण १३-२२-१०
ततो दिव्यं मणिवरं १०-८-५४
ततो दिव्येन धनुषा ८-१-२४.
ततो दिशश्चानुदिशः ४-१४-४१
ततो दीनमना भीष्ममुवाच ११-१६-१७
ततो दीप्ताग्निसंकाशां ७-३२-१४
ततोऽदीर्घेण कालेन १-१९-३
ततो दुर्योधनश्चापि १-३३-१२
ततोदुर्योधनस्तत्र १-१३-२६
ततो दुःशासनस्त्रस्तः ७-११-३०
ततो दुर्योधनस्याङ्के ५-५-२६
ततो दुर्योधनस्याश्वान् ८-१२-११
ततो दुर्योधनं कर्णः ३-१६-३१
ततो दुर्योधनं क्षत्ता ५-२७-१७
ततो दुर्योधनं दृष्ट्वा ९-१०-२
ततो दुर्योधनं मुक्तं ३-१८-५५
ततो दुर्योधनं हत्वा ९-१९-१
ततो दुर्योधनः कर्णं १-१३-३४, १-१७-५०
ततो दुर्योधनः कर्णः ४-१४-१
ततो दुर्योधनः कृष्णौ ७-१५-३३
ततो दुर्योध्रनोः कोपात् १-१७-४४
ततो दुर्योधनः क्रुद्धः ७-६-९४, ८-४-१०, ८-१२-४
ततो दुर्योधनः पापः १-१३-२३
ततो दुर्योधनः प्रेष्यान् ३-१७-७
ततो दुर्योधनः श्रुत्वा ५-३-२
ततो दुर्योधनः स्थित्वा ९-३-३
ततो दुर्योधनादींस्तान् १-१५-४३
ततो दुर्योधनेनापि १-१७-२२
ततो दुर्योधनो द्रोणम् ७-३६-१
ततो दुर्योधनो भूमौ ९-३-१०
ततो दुर्योधनो मन्दः ५-२-१०
ततो दुर्योधनो राजन् ६-८-५६
ततो दुर्योधनो राजा १-२२-१, ४-९-१०, ४-१०-९, ५-२३-४, ६-८-१६, ६-१०-११, ६-१४-२, ६-११-११, ६-१९-१७, ३२; ६-२०-२३, १६-२३-१, ७-२४-१, ७-२८-२८, ७-३५-६, ८-१-७, ८-४-५, ८-८-८७, ९-५-४८, ९-१२-५,
ततो दुर्योधनो वाक्यं ४-९-३७
ततो दुःशासनं जित्वा ७-१६-३२
ततो दुःशासनः क्रुद्धोः ७-१९-१९
ततो दुःशासनो राजन् २-१५-२८, ७-१६-२७
ततो दृष्ट्वा निहितं १६-२-६
ततो देवनिकायस्थः १७-३-२३
ततो देवव्रतो वृद्धैः १-५-३८
ततो दौःशासनिः क्रुद्धः ७-६-११९
ततो दौःशासनिः क्षिप्रं ७-८-४९
ततो द्युतिमतां मध्ये ५-३४-२८
ततो द्रुतं चैकशरेण ८-२१-१५
ततो द्रुपदमासाद्य १-१४-२०
ततो द्रोणश्च पार्थश्च ६-२४-४२
ततो द्रोणः कृपः कर्णः ७-८-४७
ततो द्रोणः केकयांश्च ७-२५-४
ततो द्रोणः पाण्डुपुत्रान् १-१५-९
ततो द्रोणः महेष्वासः ७-४-३९
ततो द्रोणः सुपीताभ्यां ७-३७-११
ततो द्रोणः सोमदत्तः २-१७-१८
ततो द्रोणाभ्यानुज्ञातः १-१७-१७, २१
ततो द्रोणोऽजयद् युद्धे ७-३७-७
ततो द्रोणो महाराज ६-१५-५०, ७-१७-१६
ततो द्रोणोऽर्जुनं भूयः १-१५-२६
ततो द्रौणिर्महाराज ७-२८-२४, ९-२४-५
ततो द्वारमनासाद्य २-५-२
ततो द्वाःस्थः प्रविश्यैव ४-१५-३८
ततो द्विजातीनभिवाद्य १२-१६-१९
ततो द्वितिये दिवसे १४-१०-२९
ततो द्वैधीकृते सैन्ये ७-३७-२
ततो द्वैपायनो राजन् २-६-३०
ततो धनञ्जयं दृष्ट्वा ६-४-१
ततो धनञ्जयं द्रोणः १-१५-४५
ततो धनञ्जयो राजन् ३-१५-८, ८-१७-२५
ततो धनञ्जयो वीरो ६-२४-३०

ततो धनुर्ज्यामवनाम्य शीघ्रं ८-२४-२२
ततो धनुर्ज्या सहसातिकृष्टा ८-२४-२१
ततो धर्मश्च शक्रश्च १७-३-२२
ततो धर्मसुतो राजा ६-११-९ १३-२०-५
ततो धाराकुले काले १२-३८-१०
ततोऽध्यायसहस्राणां १२-१८-५१
ततो ध्वजममोघेषु: ६-५-४३
ततो न ममृषे चैद्य: २-९-७
ततो नरा विनिष्क्रान्ता: १-२८-४९
ततो न व्याजहारेषां २-८-१८
ततो नागस्य तद् वर्म ७-५-५२
ततो नाज्ञासिषं किंचिद् ७-२५-१९
ततो नावं परित्यज्य १-२४-१
ततो निक्षिप्य राजानं ७-१९-३
ततो निद्रावशं प्राप्तौ १०-१-९
ततो निमित्तमन्विच्छन् १-५-७
ततो निवृत्त: कौन्तेय: १६-४-३३
ततो निशम्य दाशार्हः ५-२५-२७
ततो निशाम्य गाङ्गेयं १२-१३-१६
ततो निष्क्रम्य नृपति: १५-४-८
ततो निष्क्रान्तमागम्य १-७-३६
ततो निष्क्रान्तमालोक्य १-७-४२
ततो निष्पाण्डवामुर्वीं ७-३९-१७
ततोऽनुमान्य धर्मात्मा १७-१-१३
ततो नृप: सिंहगते २-१७-६२
ततो नृपा: समाजह्रु: ६-२८-५
ततोऽन्तरिक्षादपतद् गतासु: ७-३३-२०
ततोऽन्धकारं प्रणुदन् ४-१०-२४
ततोऽन्धकाश्च भोजाश्च १६-१-४३
ततोऽन्यद् धनुरादाय ६-६-८
ततोऽन्यं रथमास्थाय ६-६-२३
ततोऽन्यान् षट् समादाय ६-५-६५
ततोऽन्योन्यं प्रधावन्त: ६-२४-३
ततोऽपयाद् द्रुतं राजन् ८-१०-३०
ततोऽपराभ्यां भल्लाभ्यां ८-११-१७
ततोऽप्रहृष्ट: कौन्तेय: ७-२०-५
ततोऽप्रीतस्तथोक्त: ७-६-५
ततो बद्धाङ्गुलित्राणा १-१६-१५
ततो बद्ध्वा लतापाशै: १-१३-३१
ततो बलमतिख्यातं १-१३-११,
१-१९-१७
ततो बलेऽतिलुलिते ७-५-७५
ततो बहुतरं भीरु: १४-९-१९
ततो बाह्वोर्ललाटे च ८-१०-२०
ततोऽब्रवीच्छान्तनव: ६-१३-४८
ततोऽब्रवीत् गुडाकेशं १-१९-८
ततोऽब्रवीत् तदा द्रोण: १-१४-३८
ततोब्रवीत् पुनर्द्रोण: ५-३५-२९
ततोऽब्रवीत्सकैकेयान् ७-२८-११
ततोऽब्रवीत् सत्यधृति: ३-२३-१९
ततोऽब्रवीत् स्वयं द्रोण: ७-११-४६
ततोऽब्रवीद् धर्मसुत: ९-१७-७
ततोब्रवीद् वासुदेवं १-३४-२८
ततोऽब्रवीद् वासुदेव: १-३४-२०,
८-१६-२, ८-२६-१२, १४-१०-६६
ततोऽब्रवीद् वासुदेवाऽभिगम्य १-३१-३८
ततोऽब्रवीन्मय: पार्थं २-१-१
ततोऽब्रवीन्महातेजा: १४-६-८
ततोऽब्रवीन्महात्मा स: ४-१५-२५
ततोऽब्रवीन्महाराज १५-३-२
ततोऽब्रवीन्महाराज: १-१६-३,
६-२६-१७, ८-२५-५
ततो ब्राह्मणवेषेण १३-१-१०
ततोऽब्रुवन् कुरव: सर्वे ७-३३-१४
ततो भवत्यपक्रान्ते १२-३५-९०
ततोऽभवन्महाशब्द: ७-३-३१
ततो भागीरथीतीरात् १५-५-५
ततो भागीरथीतीरे १५-५-१
ततोऽभिगम्य देवेशं ३-७-८
ततोऽभिगम्य सा १-७-२८
ततोऽभिजग्मु: पाञ्चालान् १-१८-५
ततोऽभिमन्यु: प्रहसन् ७-६-३०
ततोऽभिवाद्य जननीं १-१३-५३
ततोऽभिवाद्य पितरं ११-३-१९
ततोऽभिषिषिचु: कर्णं ८-१-१८
ततोऽभिषेचनीयेऽह्नि २-७-१३
ततो भीमबलो भीम: ९-१६-२३
ततो भीमस्तमादाय १-२८-४६
ततो भीम: शनैर्भुक्त्वा १-२८-३२
ततो भीम: समुत्क्षिप्य १-३१-२५
ततो भीमो महाबाहु: ६-८-५४,६-९-३३,
६-१३-३३, ७-२२-५९, ७-३९-७
ततो भीमो महाराज ९-९-१६
ततो भीमो वनं घोरं १-२४-७
ततो भीष्मनिहन्तारं १०-३-१९
ततो भीष्मरथात्तूर्णं ६-६-३७
ततो भीष्मं कृपाचार्यं १-२२-८
ततो भीष्मं पुरस्कृत्य ५-३२-३२,
६-५-६८
ततो भीष्म: कुरुश्रेष्ठ: ६-१२-२५,
६-२५-२७
ततो भीष्मोऽब्रवीद् २-७-१४
ततो भीष्मो महाबाहु: ६-६-३२
ततो भी: प्राविशत्काकं ८-८-५५
ततो भुजगसंकाशां ७-५-४५
ततो भुजाभ्यां बलवद् ६-१२-४४
ततो भूरिश्रवा: क्रुद्ध: ७-२०-३१
ततो भेरिश्च शंखाश्च ५-३२-३१
ततोऽभ्यधावतां तूर्णं ९-४-२७
ततोऽभ्यधावत् पानीयं ३-२३-४६
ततोऽभ्यायाद् भीमबलौ ५-३-२२
ततोऽभ्यावृत्य वार्ष्णेय: ५-२४-४२
ततोऽभ्येत्य हयं वीर: १४-९-१०
ततो मद्राधिपं द्रौणि: ९-६-२८
ततो मद्राधिपो दृष्ट्वा ८-११-८
ततो मनुजशार्दूल: ३-१९-७७
ततो मध्ये नरेन्द्राणां ९-२०-३
ततो मनुं व्यादिदेश १२-१८-१०
ततो मयोक्तं तद् वाक्यं १४-११-८९
ततो महास्त्राणि महाधनुर्धरो ८-२३-३
ततो महीं पर्ययौ १२-१८-१४
ततो माद्री विचार्यैव १-११-२२
ततो माद्री समालिङ्ग्य १-१२-६
ततो मामुपनेष्यन्ति ४-८-४४
ततो मायास्त्रमास्थाय ३-१७-३१
ततो मित्रेषु सर्वेषु ४-१६-४६
ततो मुमोच कालिङ्ग: ६-९-१४

ततो मुहूर्तमाश्वस्य ९-१८-२१
ततो मुहूर्तं सा ध्यात्वा ९-२-३३
ततो मुहूर्तं संगृह्य २-९-५६
ततो मुहूर्तात्कर्णस्य ७-६-६१
ततो मुहूर्ताद् राजेन्द्र ८-११-२७
ततोऽम्बिकायां प्रथमं १-७-३३
ततो यज्ञं महाबाहुः १४-१०-४६
ततो यथागतं जग्मुः १३-१-३६
ततो यथादेशमुपेत्य ६-१३-४
ततो यथाप्रतिज्ञाभिः ४-३-१२
ततो ययुर्दारुककेशवौ १६-२-१
ततो ययौ भीमसेनः १४-१०-७
ततो ययौ हृषीकेशो ८-१४-५
ततो यष्टिप्रहरणाः १६-४-३२
ततो यष्टिं शलाकां १२-३८-७२
ततो युद्धमभूद् राजन् ७-१२-१२
ततो युद्धं समभवत् ६-८-३
ततो युधिष्ठिरश्चैव ७-२८-२७
ततो युधिष्ठिरं पूर्वं १-१५-३६
ततो युधिष्ठिरं प्रेप्सुः ७-४-४०
ततो युधिष्ठिरः कर्णं ८-१०-८
ततो युधिष्ठिरः कृष्णं २-५-८०
ततो युधिष्ठिरः क्रुद्धः ७-२५-१३
ततो युधिष्ठिरः पूर्वं १-१५-३७
ततो युधिष्ठरः प्रादात् १४-१०-५६
ततो युधिष्ठिरानीकं ७-३-१९
ततो युधिष्ठरो दृष्ट्वा ६-४-२, १८-१-५
ततो युधिष्ठरो द्रोणं ७-४-२७
ततो युधिष्ठिरो राजन् ८-४-४
ततो युधिष्ठिरो राजा १-१३-५६,
२-६-३६, २-८-१, ३-१२-४५,
३-१४-२, ३-२३-१५, ६-४-६९,
६-१५-२, ६-१८-२५, ६-२६-२,
७-५-१६, ७-७-३, ७-१३-१०,
७-३०-८, १३-२१-१, १५-६-१९,
१५-७-६२, १८-३-१९,
ततो युधिष्ठिरो वश्यान् ६-१८-२८
ततो युधिष्ठिरो वाक्यं ६-४-२९
ततो युयुत्सुमानाय्य १७-१-५

ततो युयुत्सुः कौरव्यान् ६-४-६८
ततो योधान् जघानाशु १४-७-१६
ततो रङ्गाङ्गणगतः १-१६-३१
ततो रजन्यां व्युष्टायां ६-२-२०
ततो रणे तावकानां रथौघाः ९-७-८
ततो रथाश्वांश्च मनुष्य- ७-३७-१७
ततो रथं समुत्सृज्य ६-१५-१७
ततो रथाच्छकुनिं पातयित्वा ९-११-१६
ततो रथादवप्लुत्य ३-१७-३५
ततो रथेन शुभ्रेण १-१८-७, ५-२४-३,
५-२७-२६
ततो रागः प्रभवति १२-५४-५
ततो राजन्नाशुकारी ४-१०-३५
ततो राजन् हृषीकेशः ७-२२-४४
ततो राजसमूहास्ते ६-१७-८
ततो राजानमभ्येत्य ७-२२-४९
ततो राजानमामन्त्र्य १-१६-७
ततो राजा महातेजाः १२-१७-३
ततो राजा सहामात्यः १४-१०-३४
ततो राज्ञः कुलद्वारि २-५-६२
ततो राज्ञः सुतो ज्येष्ठः ४-१५-४३
ततो राज्ञाभ्यनुज्ञातः १०-८-४९
ततो रात्र्यां व्यतीतायां १-२८-२३,
१५-४-९०
ततो रिपुघ्नं समधत्त कर्णः ८-२५-४
ततो रुधिरसंयुक्तं ४-१५-४४
ततोऽर्जुनगृहं गत्वा ७-१०-१८
ततोऽर्जुनश्च कृष्णश्च १-३५-१४
ततोऽर्जुनश्च भीमश्च ९-८-२
ततोऽर्जुनश्चित्रसेनं ३-१८-४६
ततोऽर्जुनस्तानामन्त्र्य १६-३-३
ततोऽर्जुनस्त्वरमाणः ३-८-३४
ततोऽर्जुनस्य भुजयोः १-३१-१६
ततोऽर्जुनस्याथ परैः ७-६-११
ततोऽर्जुनं तदा मूर्ध्नि १-१५-८
ततोऽर्जुनं वासुदेवः ७-५-५६
ततोऽर्जुनः क्षिप्रमिहोपयातु १६-२-३
ततोऽर्जुनः परं चक्रे ३-७-१
ततोऽर्जुनः प्रत्यविध्यत् १-३१-१३

ततोऽर्जुनः शरव्रातान् ७-११-३९
ततोऽर्जुनः सप्तदश ८-२५-१९
ततोऽर्जुनः संत्वरितः ६-६-३४
ततोऽर्जुनः सुशर्माणं ७-५-४३
ततोऽर्जुनो द्वादशभिः ८-२५-१३
ततोऽर्जुनो धनुर्दिव्यं १६-४-३६
ततोऽर्जुनो भृशं क्रुद्धः ६-८-२८
ततोऽर्जुनो महाराज ८-१७-७
ततोऽर्जुनो वचः श्रुत्वा ७-८-५०
ततोऽर्जुनोऽस्त्रमाग्नेयं १-२९-६६
ततोऽर्जुनोऽस्त्रविच्छैघ्र्यं ७-५-६६
ततोऽर्जुनोऽस्त्रवीर्येण ७-१५-४२
ततोऽर्थगतितत्त्वज्ञः १२-३५-६०
ततोऽर्धरात्रे सम्प्राप्ते २-५-११
ततो लाङ्गलमुद्यम्य ९-२०-७
ततो लोभः समभवत् १६-४-२९
ततो वधं नार्हति ८-१५-४७
ततो वनगताः पार्थाः ३-४-१
ततोऽवहारं चक्रुस्ते ७-३-३७, ८-२७-२
ततोऽवहारं सैन्यानां ६-२२-५१,
६-२५-५५, ५६
ततोऽवहारः सैन्यानां ६-१०-२६
ततो वादित्रघोषाश्च ७-८-६०
ततो वादित्रघोषेण ७-१-३४
ततो विचिन्त्य मनसा २-१-९
ततो विततधन्वानं १-१५-३८
ततो विदित्वा पार्थः १-१७-२७
ततो विद्वान् विदुरं २-१२-२
ततो विनिद्रा विश्रान्तः ७-३५-१४
ततो विनिहते राजन् ७-२१-३३
ततो विमर्दः सुमहान् ८-२५-१
ततो विमुच्य बाहुभ्यां ४-१२-५४
ततो विराटद्रुपदौ ७-३-२८
ततो विराटमूचुस्ते ४-८-७
ततो विराटं प्रथमं ४-३-१३
ततो विराटं समुपेत्य ४-३-२१
ततो विराटः कौन्तेयान् ४-१०-५०
ततो विराटः परमाभितुष्टः ४-१६-२५
ततो विराटः प्रस्कन्द्य ४-१०-३७

ततो विराटो नृपतिः ४-१५-१३
ततो विवाहे निर्वृत्ते १-६-१
ततो विवाहो विधिवद् ४-१६-५०
ततो विवेश भवनं १५-४-४२
ततो विसस्रुः पुनरर्दिता ८-२३-४
ततो विसृज्य गन्धर्वं ३-८-१०
ततो विस्फार्य समुहच्चापं ८-१०-१४
ततो वीक्ष्य दिशः सर्वाः ६-१२-१२
७-१८-२
ततो वीक्ष्य नरश्रेष्ठं ६-२८-७
ततो वृकोदरः क्रुद्धः ९-५-५
ततो वृकोदरो राजन् ९-१३-२९
ततो वृतो मया भर्ता १-२५-५६
ततो वृद्धं तथा दृष्ट्वा १२-१३-१५
ततो वृद्धा महाराज ९-१२-५२
ततो वृदाँश्च बालाँश्च १६-४-५२
ततो वृन्दारकं वीरं ७-६-९७, ७-१९-२२
ततो वृषो बाणनिपात- ८-२५-१५
ततो व्यतीते पृषते १-१४-८
ततो व्यध्वगतं पार्थं २-१७-२७
ततो व्यपेते तमसि ५-२०-१
ततो व्यपोहमानास्ते १-२३-६४
ततो व्यसाभ्युनुज्ञातः ११-५-१
ततो व्यूढान्यनीकानि ७-३-१२
ततो व्यूढेष्वनीकेषु ६-११-४, ७-११-११
ततो शोणहयः क्रुद्धः ७-३-२१
ततोऽश्वान् रजतप्रख्यान् ६-१२-२३
ततोऽश्वाँश्चतुरश्चास्य ८-३-१६
ततोऽस्तं पर्वतश्रेष्ठं १०-१-६
ततोऽस्त्रमस्त्रेण निवार्य ४-१४-४०
ततोऽस्त्रमाग्नेयममित्रसाधनं ८-२४-५
ततोऽस्मै तदहं सर्वं ९-१२-३६
ततोऽस्य कार्मुकं द्वाभ्यां ६-१६-१७
ततोऽस्य केशान् सव्येन ७-३६-३३
ततोऽस्य छेत्तुमारब्धः ७-२०-३६
ततोऽस्य जानुना पृष्ठं १-२८-३७
ततोऽस्य दश्यमानस्य १-१३-५१
ततोऽस्य दीप्यमानेन सुदृढेन ९-६-२७
९-७-२६
ततोऽस्य निशितैर्बाणैः ७-१५-३६,
९-१०-२४
ततोऽस्य प्रहसन् क्रुद्धः ९-१०-२६
ततोऽस्य रुधिरं १-२८-३९
ततोऽस्य वाहान् निशितैः ७-१६-२९
ततोऽस्य विधिवच्चक्रुः १३-३३-९
ततोऽस्य विशिखं तीक्ष्णं ७-१७-९
ततोस्य सारथिं क्षिप्रं ७-२५-१०
ततोऽस्याकथयद् राजा ५-४-२१
ततोऽस्यापततः शूरः ९-११-३
ततोऽहनि तृतीये च ४-१६-१
ततो हर्षं समागम्य ६-१-५
ततो हर्षः समभवत् २-१२-१८
ततो हलधरः क्षीबः १-३५-३
ततो हलहला शब्दं १-१८-२२,६-५-६७
ततोऽहं समनुज्ञाता ३-८-२२
ततोऽहं सर्वभूतानां १-२५-५५
ततो हाहाकृतं सर्वं ८-१०-१७
ततो हृष्टेन मनसा ३-६-४०
तत्कथं त्वकृतास्त्रेण १-३०-२८
तत्कर्म भीमस्य समीक्ष्य १-३१-३२
तत् कुमारबलं तत्र १-१६-१९
तत्कृत्वा दुष्करं कर्म ४-७-७३
तत्तथा तव पुत्रस्य ७-११-२४
तत्तथा निद्रया भग्नं ७-३५-२५
तत्तथा पीडितं तेन ६-१७-२९
तत्तस्मै तद् यथावृत्तं ८-२७-१४
तत्तु कर्म तथा कुर्याद् १२-३४-२३
तत्तु दुर्योधनः श्रुत्वा ७-४०-७
तत्तु वाक्यमनादृत्य ५-२७-१
तत्तु शक्यं महाराज १५-३-४
तत्तु सर्वं यथान्यायं ७-३-१, १४-६-१७
तत्ते वृकोदरमयं ५-१५-८
तत्त्वज्ञः सर्वभूतानां ५-८-१९
तत्त्वरध्वं नरेन्द्राणां ५-१-५१
तत्प्रभग्नं बलं दृष्ट्वा ६-१०-२०,
७-३-२०
तत् प्रापतच्चाञ्जलिकेन ८-२६-३०
तत् प्रेक्ष्य कर्माति १-३१-९
तत्र काकसहस्राणि १०-१-१३
तत्र किं मन्यसे कृष्ण ५-१७-२३
तत्र कृत्यमहं मन्ये २-६-३
तत्र केचिद् ब्रुवन्ति १-२२-३५
तत्र केशवमानर्चुः ५-२४-११
तत्र कोशं बलं मित्रं १२-२६-१०
तत्र गङ्गाजले रम्ये १-२९-२५
तत्र गच्छाम भद्रं वः ६-१३-५९
तत्र गत्वा चतुःशालं १-२२-१९
तत्र गत्वा व्यतीतानि १-३६-१२
तत्र गत्वा स जग्राह २-१-२५
तत्र गत्वा स धर्मज्ञः १-३४-७
तत्र गन्धर्वराजो वै ३-१७-९
तत्र गुल्माः परित्रस्ताः ९-१२-५१
तत्र चङ्क्रममाणौ तौ १-३५-५
तत्र चागत्य चाण्डालः १२-३५-४३
तत्र चामिषलुब्धेन १३-२-४
तत्र छिद्रे प्रहर्तव्यं ७-२१-१४
तत्र जाम्बूनदमयं ५-२३-३
तत्र तस्यासतः कालः १३-१३-४
तत्र तिष्ठति संनद्धः ६-१३-३७
तत्र ते ददृशुर्भीष्मं १२-१३-११
तत्र ते न्यवसन् राजन् १-३२-४७
तत्र तेऽपि महाव्यूहं ६-२४-२
तत्र ते पुरुषव्याघ्राः १-२३-७, ३-१२-१
तत्र ते पृथिवीपालाः ५-३७-३८
तत्र तेषु शयानेषु १-२५-१
तत्र ते सत्कृतास्तेन १-२३-५
तत्र ते सायुधाः सर्वे १-२३-२८
तत्र ते सुमहात्मनः १२-१-२
तत्र त्वन्यो वनचरः १३-१३-२९
तत्र दुर्योधनो राजा ५-३२-१३,
५-३४-५
तत्र दृष्ट्वा तु राजानं ४-९-३
तत्र द्रोणोऽहरत् प्राणान् ७-२९-९
तत्र द्वारमनुप्राप्ता ३-८-१४
तत्र नः प्रथमः कल्पः ५-१७-१४
तत्र नानाप्रकारेषु १-३०-१३
तत्र नानाविधाकाराः १४-५-१५

तत्र निक्षिप्य तान् १-२४-८
तत्र पश्याम्यहं कर्मं ९-६-२
तत्र पूर्वचतुर्वर्गः ५-१०-१६
तत्र बुद्धि प्रवक्ष्यामि ४-९-२५
तत्र भीष्मः शान्तनवः ६-१२-१२
तत्र भैक्ष्यं समाजह्रुः १-३०-५
तत्र मल्लाः समापेतुः ४-४-५
तत्र मृगसहस्राणि १-३-८
तत्र मेध्येष्वरण्येषु १२-२३-१३
तत्र यात्रा मम मता ४-१०-५
तत्र युद्धमभूद् घोरं ९-९-१४
तत्र यो बलवान् कृष्ण ५-१७-२१
तत्र राजा धृतराष्ट्रः ५-६-४०
तत्र राज्ञः परो धर्मः १३-२५-१३
तत्र राज्ञः समुदितान् १-६-१४
तत्र वृद्धान्यथा वत्स १४-१०-३८
तत्र वेदविदो राजन् १४-१०-४७
तत्र संगणना नास्ति १४-७-६
तत्र संधाय विपुलान् ६-६-११
तत्र सम्प्रेषितामेनां ४-६-५
तत्र संशयितादर्थात् १०-१-२२
तत्रस्थं त्वां न संसोढुं ७-११-६
तत्र स्नायुमयान्पाशान् १२-३५-४४
तत्र स्म नित्यं वध्यन्ते १२-३५-४५
तत्र हयाश्च नागाश्च ७-३५-२४
तत्र हर्षकरी वाचः १४-१०-३०
तत्राकरोन्महाराज ८-३-२६
तत्राक्रन्दो महानासीत् ६-२२-४४
तत्रागच्छेः सहामात्यः १४-९-४५
तत्राजग्मुर्बकं द्रष्टुं १-२८-५१
तत्राजयद् वासुदेवः ८-२२-१६
तत्रातिष्ठन्महाराज ४-१६-५२
तत्रादानेन भिद्यन्ते १२-२९-५
तत्राद्भुतमपश्याम ६-८-५१,
६-२२-४०, ७-२१-२५
तत्रापरे वध्यमानाः १०-३-२४
तत्रापश्यत् स्थितान् ६-३-१७
तत्रापश्यन्महाबाहुः १६-१-४४
तत्रापातयतां राजन् १२-५०-१९
तत्रारण्यकशास्त्राणि १२-१७-२३
तत्रारावो महानासीत् ७-४-५४
तत्रालसा मनुष्याणां १०-१-३८
तत्रावहारं सम्प्राप्तं ६-१०-२४
तत्राश्चर्यमपश्याम ९-६-१५
तत्राश्चर्यं भीमसेनः १-३१-२६
तत्राश्रमपदं धीमान् १५-५-६
तत्रासीत् सुमहद् युद्धं ६-२४-४७
तत्रासीदूर्जितं मृष्टं ५-२२-७
तत्रास्ति शयनं दिव्यं ४-७-२१
तत्रास्य सुमहद् राजन् ६-५-४१
तत्राहं कर्णं च सुयोधनं च ८-२०-११
तत्राहं कीचकं मन्ये ४-९-४१
तत्राहं वायुभक्षो वा १५-२-२९
तत्राहूता गताः सर्वे २-८-२३
तत्रेमां वसतिं शिष्टां ३-१८-६१
तत्रैनं पर्युपातिष्ठन् १५-५-२
तत्रैव कुरुते बुद्धि १२-५४-८
तत्रैव न्यवसत् कृष्णः १३-३-२०
तत्रैव न्यवसन् राजन् १-२९-२
तत्रैषा परमा काष्ठा ५-१७-१५
तत्रोपविष्टं वरदं १-२-४
तत्रोपविष्टास्ते सर्वे १-१३-२१
तत्रोपविष्टा शोचन्तः १०-१-८
तत्रोपविष्टेषु महारथेषु ५-१-७
तत्रोपविष्टौ मुदितौ १-३६-१३
तत् श्रुत्वा करुणं वाक्यं ११-१-८
तत् श्रुत्वा कुरुराजस्य १५-४-२६
तत् श्रुत्वा कुरुवृद्धो हि ६-२३-६
तत् श्रुत्वा कौरवेयास्ते १-१५-७
तत् श्रुत्वा द्रुपदो राजा १-३२-४४
तत् श्रुत्वा द्रौपदी भीमं ३-२१-३०
तत् श्रुत्वा नृपतिस्तस्य १४-१०-२८
तत् श्रुत्वा पाण्डवाः सर्वे २-१५-२७
तत् श्रुत्वा भाषितं तस्याः ४-७-७५
तत् श्रुत्वा भीमसेनस्य १-२४-६
तत् श्रुत्वा वचनं कृष्णः ६-४-६२
तत् श्रुत्वा वचनं तस्य ४-१०-८,
६-२८-२१
तत् श्रुत्वा वचनं तस्याः ११-४ १७
तत् श्रुत्वा वाक्यमशिवं १०-५-५
तत् श्रुत्वा वासुदेवस्य १-३५-४२
तत् श्रुत्वा विदुरो २-११-३०
तत् श्रुत्वा वृष्णिवीरास्ते १-३५-२१
तत् श्रुत्वा सर्वतो दृष्टिं ३-६-१४
तत् सदः पार्थिवैः कीर्णं २-६-४६
तत् सम्पूज्य वचोऽक्रूरं ७-३५-१८
तत्सर्वं त्वां समुद्दिश्य ४-७-४६
तत्सैन्यं भरतश्रेष्ठ ९-९-१
तत्स्वकोशात्प्रदेयं स्यात् १२-२३-९
तथा कृते राजनि भीमसेनः ९-७-१५
तथा कृष्णस्य माहात्म्यं ८-८-४
तथा कृष्णस्य वीर्येण १-३६-१९
तथा गजानां कदनं ७-५-५
तथागतं तु तं दृष्ट्वा २-१०-८
तथागते भीममभीस्तवात्मजः ८-२०-१
तथा चरन्ती पाञ्चाली ४-५-३
तथा चिरोषितं चापि १३-११-१०
तथा जनपदाश्चैव १२-१९-५५
तथाऽऽज्ञप्तास्तु ते सर्वे ७-३५-४
तथा तत् पौरुषं राजन् ६-१८-६
तथा तमनुधावन्तं ५-१६-१५
तथा तमरिसैन्यानि ९-७-५
तथा तर्कयतस्तस्य ३-७-४
तथा तस्मिन् बले शूरैः ८-२-३
तथा तस्मिन् महायज्ञे १४-१०-१७
तथा तान् दुःखितान् २-१५-८
तथा तु दृष्ट्वा योधास्ते ७-१५-१२
तथा तु नर्दमाने वै ७-१९-४३
तथा तु मुदिताः सर्वे १-३६-५
तथा तु विक्रम्य रणे ८-२०-१२
तथा तेषु निवृत्तेषु ७-५-२
तथा तेषु विषक्तेषु ७-१४-१
तथा तेषूपविष्टेषु १५-७-२६
तथा तौ कथयित्वा तु ४-७-२३
तथा तौ दुःखितौ दृष्ट्वा ३-१९-४७
तथा त्वमपि राधेय ८-७-३५
तथा दिव्यास्त्रवित् कर्णः ५-३७-२३

तथा दृष्ट्वा तु राजानं ९-२४-१९
तथा दृष्ट्वा महाराज ९-१२-१८
तथा द्वैतवने कर्णं ८-८-७३
तथा नार्यो नृसिंहानां १५-६-३५
तथा निपतिते कर्णे ८-२७-५
तथा निर्मथितं तेन ७-६-४१
तथानुमन्त्रितास्तेन ३-१-२३
तथानुशिष्टः प्रययौ ५-२-२६
तथान्यानपि निघ्नन्तं १६-१-३७
तथा परुषितं दृष्ट्वा ७-२७-१
तथापरेणास्य जहार ९-७-१६
तथापरे द्योतमानाः ७-४३-४
तथापि तेषां दुःखेन १-२७-५४
तथा पौरजनः सर्वः १५-५-१७
तथाप्यप्रियमस्माकं ११-४-२४
तथा प्रतिभये तस्मिन् ५-३३-२०
तथा प्रभाते कर्तास्मि ७-१०-१४
तथा प्रयाते राजेन्द्र ८-१-२९
तथा प्रयान्तं वार्ष्णेयं १४-२-३९
तथा प्रवृत्ते तुमुले ८-२३-२
तथा प्रवृत्ते संग्रामे ६-८-४, ९-५-२८
तथा बलवता भीमः १-२८-३०
तथा बृहद्बलं हत्वा ७-६-१०१
तथा ब्रुवति तस्मिंस्तु १३-१-२०
तथा ब्रुवति माद्रेये ३-१३-१२
तथा ब्रुवति वार्ष्णेये १४-४-३१
तथा ब्रुवाणं गाङ्गेय ६-२६-२३
तथा भद्रे करिष्यामि ४-७-१९
तथा भवद्भ्यां कार्यं स्यात् १०-३-५
तथा भारत धर्मेषु ३-९-८
तथा भिन्नतनुत्राणः ६-५-५१
तथा भीमो महेष्वासः ३-१८-३३
तथा भीष्मकृपद्रोणशल्यः ६-१५-६
तथा भीष्मस्तु सुदृढं ६-१२-३३
तथा भीष्मेण द्रोणेन २-१२-१७
तथा मत्स्यैः परिवृतं १३-१३-८
तथा मद्राधिपस्यापि ९-५-१३
तथा महात्मनस्तस्य १५-८-२९
तथामात्या जनपदाः १५-३-२७
तथा मामभिजानाति ५-२९-१५
तथा मायां प्रयुञ्जानं ७-४१-२४
तथा मुमूर्षुमासीनम् १२-४७-६
तथा मोहः प्रमादश्च १२-६३-१३०
तथा यमौ चाप्यसुखौ ३-१६-१०
तथायुक्तं च तद् दृष्ट्वा १४-४-३०
तथा रोगाभिभूतस्य १२-३८-३१
तथार्जुनो देहमृदु ३-१६-९
तथा विक्रोशमानस्य ७-३५-१७
तथा विमनसं दृष्ट्वा ६-२१-१५
तथा विमुक्तो बलिना ८-२६-२९
तथा विराटनगरे ५-३३-२१
तथा विलपमाने तु ७-२२-२०
तथा विसर्गे कौबेरे २-१८-१३
तथा विसंज्ञेषु च तेषु ४-१४-४४
तथा व्यूढेष्वनीकेषु ४-१३-२४,
५-३४-१—२, ८-९-१८
तथा शल्यसमो नास्ति ८-५-१५
तथा शान्तनवो भीष्मः १-२१-४
तथा स गन्धर्ववरोपमः ४-३-७३
तथा समुपविष्टेषु १५-७-३२
तथा सम्प्रेषयामास १४-१०-१३
तथा सम्भाषणं तु ९-१६-१८
तथा सर्वं स नगरं १२-१३-४
तथा संछिद्यमानेषु ७-४-३६
तथा संजल्पतस्तस्य १-२५-३६
तथा संनहनान्येषां ४-१२-३१
तथा संसक्तयुद्धं तत् ७-३७-१६
तथा सा पतिता देवी ८-२७-३४
तथाऽऽसीनेषु सर्वेषु ३-२०-१७
तथाऽसुरं मयं नाम १-३६-४१
तथासौ वाक्प्रतोदेन ९-१५-२१
तथास्तु कृष्णेत्यभिनन्द्य वाचं ८-१६-१२
तथास्तु ते महाभागे २-१६-१२
तथा स्त्रीषु प्रतिश्रुत्य ४-१२-११
तथास्मान् बाधसे नित्यं ८-१०-९
तथास्य चतुरो वाहांश्चतुर्भिः ६-८-३८
तथा स्वर्गश्च भोगश्च १३-३-१२
तथा हसन्निवाभीक्ष्णं ३-६-१७
तथाहं भरतश्रेष्ठ ५-३५-११
तथा हि कामो भवतः ४-३-२६
तथा हि त्वरमाणेन १२-३५-९३
तथेति च प्रतिज्ञाय १-१९-१०
तथेति तत् प्रतिज्ञाय १-२६-१२
तथेति राजन् पुत्रस्ते ८-६-३०
तथेतिवादिनं मत्स्यं ४-१०-५२
तथेति सम्प्रतिश्रुत्य १-१५-६६
तथेति सा यदा तूक्ता १-४-१२
तथेत्यथोक्तः प्रतिपूजि- १४-२-३५
तथेत्युक्तः केशवस्तु ८-२७-११
तथेत्युक्त्वा च कौन्तेयः १३-३१-१३
तथेत्युक्त्वा च गत्वा १-१४-४६
तथेत्युक्त्वा ततः १-१४-१८
तथेत्युक्त्वा तु ते १-३-६०,
१-१८-४
तथेत्युक्त्वा तु सा देवी २-१८-२४
तथेत्युक्त्वा महाकायः ७-३१-९
तथेत्युक्त्वा हि ते सर्वे ९-२२-८
तथैव कुरवो राजन् ६-२७-३
तथैव कृतवर्मा च ६-५-३८
तथैव कौरवो राजा ११-१-२
तथैव क्रोधसंरक्तः ९-१९-४
तथैव गत्वा बीभत्सुं ४-१३-३८
तथैव च महाबाहुः ७-२१-२३
तथैव चाभिगम्यैनं ५-३३-२५
तथैव तव पुत्रस्य ७-३-१५
तथैव तव पुत्रोऽपि ९-१८-१७
तथैव तस्याप्यनु १-३१-३९
तथैव तावकं सैन्यं ६-१५-२
तथैव देवी गान्धारी १५-५-१२
तथैव द्रुपदो राजा ६-२५-३
तथैव द्रोणपुत्रस्य १०-७-२०
तथैव परदारान् ये १३-२६-१८
तथैव पाण्डवं युद्धे ६-८-३४
तथैव पाण्डवं राजन् ८-१-२२
तथैव पाण्डवा राजन् ९-४-९
तथैव पाण्डवा हृष्टाः ८-२२-१२
तथैव पाण्डवाः शूराः ९-४-१५

तथैव पाण्डवाः सर्वे ६-८-२१,
६-१४-३, ८-२२-६
तथैव भगदत्तश्च ६-२४-४४
तथैव भीमसेनोऽपि २-६-७, १५-२-३
तथैव भीष्माहृतमन्तरिक्षे ६-१३-८
तथैव मद्राधिपतिं १-३१-३०
तथैव राजा कौन्तेयः ५-३७-४१
तथैव लक्ष्मणो राजन् ६-१४-२१
तथैव वृद्धं पितरं १५-५-२२
तथैव सबलाश्चेमे ६-७-१५
तथैव समरे राजन् ६-२४-३१
तथैव सम्पूज्य वचः ८-२६-२१
तथैव सहिता चापि ११-४-४९
तथैवार्जुनमुक्तानि ६-८-२५
तथैवार्जुनिना मुक्ताः ६-२४-२१
तथैवाश्वनृनागानां ६-२२-४९
तथैवैकरथो गत्वा १-१९-१६
तथोक्तवति गाङ्गेये ६-२६-३३
तथोक्तास्तेन वीरेण १६-४-३५
तथोक्ते द्रोणपुत्रेण ९-३-९
तथोक्त्वा द्रोणपुत्रस्तु ७-४०-३१
तथोक्त्वा मुनयस्ते तु १६-१-१४
तथोपकारिणं चैव १२-४२-१०
तथ्यं वा यदि वातथ्यं १२-४-२४
तदत्र प्रतिवक्ष्यामि ९-२-९
तदद्भुतमभूद् युद्धं ७-५-७२
तदद्भुतं देवमनुष्यसाक्षिकं ८-२३-९
तदनीकमनाधृष्यं ७-५-१४
तदनीकं महद् दृष्ट्वा ४-१२-५
तदनुज्ञातुमिच्छामि १४-५-१७
तदन्तरममेयात्मा ६-२४-४१
तदन्तरं च सम्प्रेक्ष्य ६-२१-३
तदन्तरं प्राप्य वृषः ८-२६-१९
तदन्तरं समासाद्य ६-२६-३१
तदन्नमुत्तमं भुक्त्वा १३-२२-५
तदपास्य धनुर्द्रोणिः ८-१३-८
तदपास्य धनुश्छिन्नं ६-१७-१४
तदभ्यासकृतं मत्वा १-१५-२३
तदयं पाण्डुपुत्रेण २-१५-१६
तदर्जुनो वीर्यवतां १-३०-३४
तदर्थमभिनिष्क्रम्य ५-२७-७
तदर्थं न च तं वीरं १-१३-३८
तदर्हसि कृपां कर्तुं १-२६-७
तदलं मम राज्येन १२-२३-१२
तदवस्थान् सुतान् २-१८-२७
तदवस्थे हते तस्मिन् ७-२१-१
तदवेक्ष्य कुमारास्ते १-१४-४१
तदवैक्षत पाञ्चाली ३-१२-३
तदस्त्रं द्रोणपुत्रस्य ७-४३-२७
तदस्मदर्थं धर्मार्थं १-२७-४८
तदस्माभिरिमं पापं १-२३-१४
तदस्य तप्यमानस्य १२-१३-२५
तदस्य दृष्ट्वा हृदयं ११-२-२०
तदहं तेजसः कालं ३-४-१८
तदहं प्रज्ञया ज्ञात्वा १-२८-१९
तदहं भ्रातृसहितः ३-१-१९
तदहं यष्टुमिच्छामि २-६-२२
तदहं श्रोतुमिच्छामि १२-३३-२६
तदहृष्टमनानन्दं १५-४-८२
तदागमनजं हेतुं ५-३-१०
तदाग्नेयं महाघोरं ७-१३-९
तदाचार्यवचः श्रुत्वा ६-२१-९,
७-६-१०७
तदा चैतत् कुलं १३-१२-१४
तदाज्ञाय हृषीकेशः १०-८-३६
तदादाय गतो राजन् ३-२३-६, १०
तदादाय ययौ पाण्डुः १-९-२६
तदानीकमभिप्रेक्ष्य ९-५-२१
तदानीकं तदा पार्थः ९-१०-१४
तदाप्रभृति बीभत्सुं १२-१०-५
तदा मोहमनुप्राप्तः ७-५-३१
तदा विसर्जयामास ४-१५-३
तदा सर्वाणि सैन्यानि ४-१४-८
तदा स वृद्धो भवति १२-५२-२०
तदाऽऽसीत् सुमहद् युद्धं ६-२२-२१
तदाहृत्य च तां चक्रे २-१-२६
तदाह्वानममृष्यन् वै ९-१६-३०
तदिदं जीवितं तेषां १-३३-५०
तदिदं द्यूतमारब्धं ९-१६-६
तदिदं नरकायाद्य ७-२२-१८
तदिदं पाण्डवेयानां १०-८-१७
तदिदं पार्षतेनेह ७-४०-१९
तदिदं ब्राह्मणस्यास्य १-२७-१४
तदिदं व्याकुलं सर्वं ९-२०-१६
तदिदं समनुप्राप्तं ९-२२-४१
तदुक्तं मम चानेन ८-१५-२०
तदुपश्रुत्य तत्कर्म १४-५-१२
तदुपश्रुत्य धर्मात्मा १३-२-१४
तदेतद् वै समालोक्य ८-९-५
तदेतन्नरशार्दूल १२-१५-३
तदेवाणोरणुतरं १२-६२-११३
तदैन्द्रमस्त्रं विततं च ६-१२-४७
तदैव निहताः कृष्ण ११-५-५३
तदैव वध्यः सोऽस्माकं ११-४-२५
तदैवैष हतः पापः ९-२१-११
तद् गोकुलमिवोद्भ्रान्तं ६-२५-१७
तद्दण्डविन्नृपः प्राज्ञः १२-२८-२९
तद् दारहरणं प्राप्तम् ३-२२-६
तद् दृष्ट्वा तादृशं युद्धं ७-११-४३
तद् दृष्ट्वा तावकं सैन्यं ६-२१-२९
तद् दृष्ट्वा महदाश्चर्यं ४-८-२२
तद् दृष्ट्वा सोपधं कर्म १०-१-१८
तद् दृष्ट्वोपस्थितं युद्धं ५-३३-१
तद् धर्मराजस्य वचः १७-३-१७
तद् धर्मशीलस्य वचः ८-१४-२१
तद् ब्रूहि मां सुविस्रब्धः१२-३८-५०
तद् भीष्मवाक्यं हितमीक्ष्य ४-१४-५२
तद् युद्धमभवद् घोरं १-१८-२१
तद् युधिष्ठिर तुष्टोऽस्मि ६-४-३४
तद्राज्ये राज्यकामानां १२-१५-३१
तद् वचः सर्वधर्मज्ञाः ७-३५-१५
तद्वचः संगतं श्रुत्वा १२-३५-७५
तद् वचो भीमसेनस्य ९-१३-३१
तद् वध्यमानं पाण्डूनां ८-४-१९
तद् वनं पावको धीमान् १-३६-४६
तद्वाक्यसमकालं च २-६-२९
तद्वाक्यसमकालं तु १-१५-५८

तद्वाक्यं रुरुचे तेषां ४-१३-२०
तद् विहाय धनुश्छिन्नं ६-१०-९
तद्वीक्ष्य कर्णो ज्वलनास्त्रमुद्यतं ८-२४-६
तद् वृत्तं तु त्रयोदश्यां २-५-५६
तद् वै कर्तास्मि कौरव्य ७-३६-९
तद् वै श्रुत्वा भीमसेनः २-१७-५४
तनुरुद्धः शिखी राजा ५-११-१४
तन्तिपाल इति ख्यातः ४-१-३४
तन्नजानाति गाङ्गेयः ५-३७-३०
तन्न देवा न गन्धर्वा ७-९-४
तन्न मे रोचते युद्धं ६-१३-६६
तन्नराश्वौघवहुलं ८-९-२१
तन्नः कार्यं पक्षिवर १२-६०-५
तन्नः प्रत्यक्षमेवेदं १३-२२-१६
तन्निघ्नन्तं महातेजा १६-१-४७
तन्महात्मा महाभागः १०-६-५
तन्महोत्सवसंकाशं ४-१६-५५
तन्मामद्यैव पश्यन्तु ११-१-१३
तन्मां किमभितप्यन्तं ७-२३-२७
तपसस्तस्य चान्तेऽथ १२-३३-५
तपसा दीप्तवीर्योऽयं १-३-२७
तपसा प्राप्यते स्वर्गः १३-१४-५
तपसा ब्रह्मचर्येण ७-१०-२०, १२-७-२०, १३-१७-३
तपसा रूपसौभाग्यं १३-३-११
तपस्तेपे सुतस्यार्थे १-४-३
तपस्योपनिपत्त्यागः १२-६३-१३५
तपस्विनश्च ये नित्यं १३-९-१९
तपस्विनां धर्मवतां १२-६३-१५१
तपस्विनो धृतिमतः १२-५३-१९
तपः किंलक्षणं प्रोक्तं ३-२४-५२
तपः शौचवता नित्यं १२-६३-३५
तपः सर्वगतं तात १२-६०-४८
तपः स्वधर्मवर्तित्वं ३-२४-५३
तपो दमो ब्रह्मवित्तं ५-११-२
तपोधनान् वेदविदः १३-९-५
तपो बलं तापसानां ५-१२-४५
तपोभिः क्रतुभिश्चैव १४-१-१९
तपो यज्ञस्तथा विद्या १२-९-१५

तपो यज्ञः श्रुतं शीलं १३-१४-५४
तपो यज्ञादपि श्रेष्ठं १२-२२-१३
तपोवनानि यज्ञांश्च १४-११-८८
तप्यमानः किल पुरा १-३-२६
तमग्रणीः सर्वधनुर्धराणां ९-७-१७
तमतथ्यभये मग्नः ७-३९-२५
तमतिक्रुद्धमायान्तं ७-६-५७
तमतीत्य यथायुक्तं १२-१२-९
तमत्वरन्तं पलितं १२-३५-८३
तमथाश्वासयन् सर्वे ३-२५-२३
तमनार्यं नृशंसं च १४-८-१५
तमन्वगात् सुदुःखार्ता ११-३-१६
तमन्वधावद् धावन्तं ४-१२-१८
तमन्वयाद् वानरवर्यकेतनः १४-२-३७
तमन्वयुस्तत्र तत्र १६-४-१८
तमपि प्रहसन् द्रोणः ७-१७-१२
तमप्यतिरथं भीमः ७-१९-३२
तमप्याक्रम्य पादेन १०-३-१७
तमप्रतीतमनसं १६-५-३
तमब्रवीत् ततः कर्णः ८-३-२१
तमब्रतीत् ततः पार्थः ६-७-२३
तमब्रवीत् ततो राजा १-३२-४९
तमब्रवीत् प्रीतमनाः ३-६-३४
तमब्रवीत् सत्यधृतिः ९-१२-६३
तमब्रवीत् स्वागतमित्यनन्तरं ४-३-१७
तमब्रवीद् धर्मराजः ३-१३-४, ४-१५-९
तमब्रवीद् वासुदेवः १-३१-४१, ६-८-१०, ७-४४-७, ८-२६-१
तमब्रवीन्महाराज ७-२०-१६, ९-३-२९, ९-२४-२६
तमब्रुवन् प्रजा मा भैः १२-१८-१२
तमब्रूतां महात्मानौ १०-२-४२
तमभिद्रुत्य राधेयः ८-३-१९
तमभिद्रुत्य सान्त्वेन १-३५-४१
तमभिप्रेक्ष्य सम्प्राप्तं ३-९-१६
तमभ्यधावत् कौन्तेयः १०-७-८
तमभ्यधावन्नकुलः ८-२१-११
तमभ्यर्च्य महाबाहुः १५-८-२
तमभ्ययाद् बृहत्क्षत्रः ७-१७-३

तमर्जुनः प्रत्युवाच ७-२२-४७
तमर्थमपि जलपन्त्याः ४-७-३४
तमविध्यदमेयात्मा ८-१२-१०
तमश्रुपरिपूर्णाक्षं १०-५-१९
तमसा च महाराज ८-४-२१
तमसाभिप्लुते लोके ४-१०-२३
तमस्य हर्षं ममृषे ८-२५-१७
तमहं पतिता काक ८-८-४७
तमहं सगणं राजन् ७-३२-५
तमाक्रम्य पदा राजन् १०-३-१०
तमागतमभिश्रुत्य १-९-१५
तमागतमृषिं दृष्ट्वा २-२-३
तमागम्य महाप्राज्ञः ९-१२-३०
तमचार्योऽब्रवीत् कर्णं ७-६-१०३
तमात्मजान्तकरणं ११-३-१०
तमाद्रवन्तं सम्प्रेक्ष्य ६-२२-११
तमापतन्तं त्वरितं ४-१४-२९
तमापतन्तं दृष्ट्वैव १-२५-३०
तमापतन्तं नकुलं ८-२१-१२
तमापतन्तं नरवीरमुत्तमं ८-२१-१४
तमापतन्तं नागेन्द्रमम्बुदः ७-५-८
तमापतन्तं प्रसमीक्ष्य ४-३-१४
तमापतन्तं राधेयं ७-२२-२१
तमापतन्तं वेगेन ६-८-१२, ६-९-७, ६-२४-३६, ७-२७-१९
तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य ६-५-५७, ६-६-२९, ६-२०-२२, २४, ३३; ६-२१-२५, ६-२५-४०, ७-२०-१५, ७-२५-७, ८-११-४, ९-१८-२२, १४-७-३१
तमापतन्तं सहसा घोररूपं ६-२२-१५, ८-४-२, ९-११-७
तमापतन्तं संक्रुद्धं ७-३०-३३
तमायान्तमभिक्रुद्धं ७-५-१६
तमायान्तमभिप्रेक्ष्य ४-३-४९, ६-९-२५, ६-१६-१२, ७-२०-२
तमायान्तं तथा दृष्ट्वा ७-१९-३१
तमायान्तं महाबाहुं ७-३८-१८
तमायान्तं समीक्ष्यैव ८-१९-७
तमारोप्य रथे राजन् ८-१२-१४

तमार्जुनिर्द्वादशभिः ७-५-१८
तमालक्ष्य महाबाहुः १४-७-२४
तमालोक्य धनुस्त्यक्त्वा १-१७-३७
तमाबिध्यच्छितैर्बाणैः ७-३-२२
तमाश्रित्य हि कौन्तेयः १-३३-२२
तमासनगतं तत्र १६-४-८
तमासनगतं देवी १५-४-४
तमासाद्य महावेगैः ६-५-३६
तमाह कृष्णः किमिदं ८-१६-७
तमिमं विक्रमं लोके ८-२७-७
तमिमं समुपातिष्ठ १-३३-४८
तमिस्रे तत्र गच्छेथाः ४-७-३३
तमुत्तमं सर्वधर्नुधराणां ६-१३-७
तमुत्तीर्णं तु सम्प्रेक्ष्य ९-१५-२४
तमुत्तीर्णं महाबाहुं ९-१५-२३
तमुत्थाय ततो राजा ८-१७-२६
तमुत्थितं महात्मानं १४-९-४३
तगुत्पतन्तं शयनात् १०-३-९
तमुत्सृज यथाशास्त्रं १४-६-६
तमुत्स्मयन्तं सम्प्रेक्ष्य १३-२२-६
तमुदारं महासत्त्वं १३-२-९
तमुदीक्ष्य तथाऽऽयान्तं ७-६-३५
तमुदीक्ष्य समायान्तं ४-१४-१०
तमुद्यतगदं दृष्ट्वा ६-१३-१८, ६-२१-१५, ८-४-११
तमुद्यतं रथेनैकं १-१८-१२
तमुद्यतं तु वेगेन ७-२७-६
तमुद्यन्तमुदीक्ष्याथ ६-६-३३
तमुन्मथ्य सुशर्माथ ४-१०-२७
तमुपस्थितमाज्ञाय ५-२४-४
तमुपस्थितमासीनं १३-२२-४
तमुपागम्य राजर्षि ३-१४-५
तमुवाच घृणी राजा ३-२१-५४
तमुवाच ततः कुन्ती १५-७-५१
तमुवाच ततः पादी ६-४-१६
तमुवाच ततः प्रीतः ३-६-१८
तमुवाच ततो ज्येष्ठः ३-२१-५१
तमुवाच ततो राजा ५-३५-४६
तमुवाच तदा पुत्रं १४-९-४५
तमुवाच तदा भीष्मः २-१५-३८
तमुवाच स कौन्तेयः १-१५-४१
तमुवाच हृषीकेशः ६-३-३७
तमुवाचाथ गाङ्गेयः १२-१३-३८
तमुवाचाथ गान्धारी १५-७-४६
तमुवाचापसर्पेति १-१५-४२
तमुवाचैवमुक्तस्तु २-९-४८
तमेकं रथिनां श्रेष्ठं ६-१४-३९
तमेकं समरे शूरं ६-१२-१३
तमेनमनुवर्तन्ते ७-४-५०
तमेव दिवसं चापि ५-३-५
तमेव नाधिगच्छामि ४-११-१४
तमेवमुक्तं भर्त्रा तु १४-९-६
तमेवमुक्त्वाप्यनुनीय ८-२३-२०
तमेवं शरणं गच्छ ६-३-६६
तमेवंवादिन वीरं ८-८-६४
तमेवंवादिनं पार्थं १२-१०-१०, १४-१-१७
तमेवंवादिनं प्राज्ञः १२-३५-९५
तमेवंवादिनं भीतं ११-४-४४
तमेवंवादिनं भीष्मं १-९-१९
तमेवान्विष भद्रं ते ३-२१-२५
तमोमयं जगन्मेने ७-५-६४
तया ते समनुज्ञताः ११-४-४५
तया त्वभिहतो भीमः ९-१७-२२
तया भीष्मनिपातिन्या ६-६-२२
तया हृतः पतितो वेपमानः ८-२०-८
तयैवं समनुज्ञातः १-५-१४
तयोरथ भुजाघातात् २-५-५१
तयोरर्थे कृतज्ञा सा १२-३६-५
तयोरासीत् सम्प्रहारः ३-१३-२१
तयोरुत्पादयापत्यं १-७-८, १-७-२६
तयोरेवं प्रवदतः ७-२४-१९
तयोर्घोतरे युद्धे ८-२२-१४
तयोर्दुःखितयोर्वाक्यं १-२७-४२
तयोर्युद्धं ततो द्रष्टुं २-५-५०
तयोर्हि दर्शनं नैतत् ११-५-५४
तयोस्तदभवद् युद्धं ४-१४-११
तयोस्तु धनुषी चित्रे ७-१४-६
तयोस्तु सेनयोरासीत् ६-१-८
तयोः क्षणमिवापूर्णः ७-६-८४
तयोः पाणी गृहीत्वा तु १-६-३१
तयोः प्रहर्षमालक्ष्य ८-२७-१३
तयोः शब्देन महता १-२५-४९
तयोः समभवद् युद्धं ८-२-६
तयोः सम्प्राप्तयोरुष्ट्ररः १२-४५-७
तयोः संवदतोरेवं ३-५-४२, ७-२९-१४ १२-३५-१०२
तयोः सुतुमलं युद्धं ७-३२-११
तरन्निव जले श्रान्तः ७-२०-१
तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयः ३-२४-८२
तर्ज्यमानस्तदा राजन् ९-१५-१
तर्पितेषु द्विजाग्र्येषु १४-११-३
तलाभ्यां स तु भीमेन ४-७-५९
तलेनाहन्यमानौ तु २-५-४९
तलैश्चैवाथ निस्त्रिंशैः ६-२२-४६
तल्पैश्चाभ्यासिकैर्युक्तं १-३४-३९
तल्लक्षयित्वा द्रुपदस्य १-३२-३३
तव कृष्ण प्रसादेन पाण्डवोऽयं ८-२७-२१
तव कोपाग्निना दग्धः ७-२२-५६
तव च भ्रातरं वीरं ३-१०-१०
तव त्विदं मतं मत्वा १-११-१८
तव दोषेण युद्धं च प्रवृत्तं ६-१५-१९
तव धर्माश्रिता बुद्धिः ५-१७-३६
तव पित्राभ्यनुज्ञातां ३-८-३१
तव पुत्रकृतोत्साहाः ९-३-१
तव पुत्रं तथा हत्वा ९-१९-७
तव पुत्रा दुरात्मानः १३-३२-३१
तव पुत्रास्त्वतः कर्णं ८-२२-११
तव पूर्वाभिगमनात् ५-३-१५
तव प्रसादादिच्छेयं ७-११-३६
तव प्रसादाद् गोविन्द ६-७-१२, ९-२२-१५
तव बलं नृपश्रेष्ठ ७-२८-४१
तव भ्राता मम सखा ६-२६-११
तवाज्ञां शिरसाऽऽगृह्य ७-१६-१८
तवाद्य पृथिवी सर्वा ९-२०-२४
तवापराधादस्माभिः ९-१९-१७

तवापि तनयो राजन् ६-१४-४६
तवार्जुनो नानुमते ७-१९-११
तवेदं स्वकृतं राजन् २-१९-५
तवेमामापदं दृष्ट्वा ३-४-४०
तवैतत् क्षम्यतेऽस्माभिः ७-२७-८,
७-२७-१४
तवैव दुष्कृतैर्वीरो ९-२१-२६
तवैव रत्नानि धनं च १४-२-३४
तस्करेभ्यः परेभ्यो वा १३-७-१८
तस्माच्छत्रुवधे राजन् ३-५-२९
तस्मात् कर्तव्यमेतद् वै ४-९-४३
तस्मात् कौरव्य धर्मेण १२-१९-७७
तस्मात् क्षिप्रं बुभूषध्वं ४-९-१४
तस्मात् तडागं कुर्वीत १३-१४-१९
तस्मात्तडागे सद्वृक्षा वै १३-१४-१७
तस्मात् तत्र निवासं तु ४-९-३४
तस्मात्तं परिपप्रच्छ ७-३९-१५
तस्मात्तिष्ठेत् सदा पूर्वा १३-१७-१५
तस्मात्ते वर्तयिष्यामि १२-२६-३
तस्मात्त्वमपि कौन्तेय १३-९-२३
तस्मात्त्वमपि वार्ष्णेय १३-९-१५
तस्मात्त्वमपि तं कामं १४-१-४४
तस्मात् त्वया न कौन्तेयः २-५-५९
तस्मात्त्वं नर्तनः पार्थ ३-८-३२
तस्मात् त्वं वै महाबाहो ८-१६-२७
तस्मात् पानीयदानाद् वै १३-१४-८६
तस्मात् पापं न गूहेत १३-२८-३१
तस्मात्पार्थं महायज्ञैः १२-८-४
तस्मात्पितुर्वचः कार्यं १२-५२-१३
तस्मात्पुत्रेण या तेऽसौ ११-३-३१
तस्मात् पूजयितव्याश्च १२-३०-१२
तस्मात् प्रणम्यैव वचो ब्रवीतु ५-१-२५
तस्मात्प्रमाणतः कार्यः १२-५१-७
तस्मात्प्राज्ञैश्च वृद्धैश्च ३-१-१३
तस्मात्सक्तून् गृहीष्यामि १४-११-६९
तस्मात् सत्यव्रताचारः १२-४४-२२
तस्मात् सर्वगुणैरेतैः १२-२४-४७
तस्मात् सर्वेषु भूतेषु १२-२७-४२
तस्मात् सुभृशमाश्वस्य १-७-५

तस्मात् सेनाविभागं मे ५-३१-११
तस्मादज्ञानसम्भूतं ६-३-६२
तस्मादद्यैव गन्तव्यं १२-७-११
तस्मादन्यत्र यास्यामि १२-३६-२९
तस्यादभीतवद् भीतः १२-३५-१५८
तस्मादभ्यधिकः स्नेहः १-२६-२३
तस्मादभ्युपगन्तव्यं १४-१-३८
तस्मादर्हसि गाङ्गेय ६-२३-१५
तस्मादसि मया पुत्र १४-९-३९
तस्मादहमपीच्छामि ५-३७-२४
तस्मादितो गच्छतुः धर्मशीलः ५-१-१८
तस्मादेनं राक्षसं घोररूपं ७-३३-१६
तस्माद् गच्छन्तु पुरुषाः ३-१६-४५
तस्माद् गच्छामहे सर्वे ९-१३-२४
तस्माद् गुणेषु रज्येथाः १२-६०-४२
तस्माद् दद्यान्न याचेत १३-२९-१३
तस्माद् देवव्रतं भूयः ६-२६-१६
तस्माद् धर्मे प्रवर्तेथाः १२-५४-२१
तस्माद् यास्यामि तीर्थानि ५-३३-८
तस्माद् युद्धोचितं कर्म ४-१३-१५
तस्माद् युद्ध्यस्व मा भैस्त्वं ७-९-१४
तस्माद्राजन् स्थिरो भूत्वा ६-१५-२१
तस्माद्वक्ष्यामि ते राजन् ५-९-३
तस्माद् वाक्कायमनसा १३-६-९
तस्माद् विद्धि महाराज १३-२१-१८
तस्माद्विश्वसिव्यं च १२-२४-११,
१२-३५-३७
तस्माद् सत्स्वपि वृद्धेषु २-८-८
तस्मान्न तापं १-२२-२४
तस्मान्मामनुजानीत ७-९-५
तस्मान्निर्वेद एवेह १२-४५-१३
तस्मान्निमन्त्रयेऽहं ते ४-१६-३८
तस्मान्नैव मृदुर्नित्यं १२-१४-१६
तस्मान्न्यायागतैरर्थैः १३-२०-१३
तस्मान्मृदु शनैर्ब्रूयाः ५-१८-६
तस्मान्मे सुतयोः कुन्ति १-१२-११
तस्मान्मैत्रं समास्थाय ११-२-५५
तस्मिञ्जीवति पापिष्ठे ४-७-५
तस्मिन् कर्मणि संसिद्धे १-१५-५४

तस्मिन्काले तु पाञ्चालः १-१८-६
तस्मिन् कालेऽपि च १२-३५-१००
तस्मिन् काले समागम्य ४-८-१
तस्मिन् कुर्वति विश्वासं १२-२६-२३
तस्मिन् कृतास्त्रे रथिनां ३-१५-९
तस्मिन् कृते तदा देवी ४-६-८
तस्मिन् क्षणे पाण्डवस्य ८-१९-२६
तस्मिन् गते कौरवेये ३-१८-५९
तस्मिन् गिरौ प्रस्रवणोपपन्ने ३-१५-१७
तस्मिन् गृहीते राजेन्द्र ३-१७-४२
तस्मिन् गृहीते विरथे ४-१०-२८
तस्मिन् ग्रामे प्रधानास्तु ५-२०-७
तस्मित् द्वौ शकुनौ बद्धौ ५-१६-१३
तस्मिन्ननिर्जिते युद्धे १२-७-१०
१२-७-१२
तस्मिन्नपरिहार्येऽर्थे ११-४-५२
तस्मिन्नभ्यर्चिते कृष्णे २-८-२०
तस्मिन् नः समये तिष्ठ ५-२४-३३
तस्मिन् निपतिते नागे १४-७-१३
तस्मिन्निपतिते वीरे ७-५-११,
१४-९-१७, १७-२-१३
तस्मिन् निवसमानोऽथ ३-१२-४१
तस्मिन्नुच्चार्यमाणे तु ३-१९-२७
तस्मिन्नपुरते शब्दे २-१५-१९,
३-११-१०, १५-८-२८
तस्मिन्नेवंविधे राजन् ५-२४-१८
तस्मिन्न्यस्ते मणौ वीरः १४-९-४२
तस्मिन् प्रतिवसन्तस्ते ३-२३-४
तस्मिन् प्रपक्षे पक्षे च ८-१२-२५
तस्मिन् प्रमथिते सैन्ये ७-५-४९
तस्मिन् प्रमुदिते १-१६-३५
तस्मिन् प्रयाते दुर्धर्षे १०-६-१
तस्मिन्न् प्रयाते शिबिरं १०-३-१
तस्मिन् प्रवृत्ते संग्रामे ९-११-१
तस्मिन् प्रशान्ते विधिना ७-४४-१२
तस्मिन् बद्धे भविष्यन्ति ५-२१-१८
तस्मिन् बद्धे महाप्राणे १२-३५-४६
तस्मिन् बहुमृगेऽरण्ये ३-२०-२
तस्मिन् भग्ने महाराज ७-२२-११

तस्मिन् महति संक्रन्दे ६-२२-१
तस्मिन् मुहूर्ते दशभिः ८-२५-१२
तस्मिन् युद्धे महाराज ९-१७-१
तस्मिन् रात्रिमुखे घोरे ६-२६-१, १०-१-७
तस्मिन् रौद्रे तथा युद्धे ६-२४-५५
तस्मिन् वर्षे गतप्राये ४-५-४
तस्मिन् विद्धे महेष्वासे ४-१३-४५
तस्मिन् विनिर्जिते तूर्णं ६-२४-२७
तस्मिन् विनिहते चास्त्रे ७-२५-१६
तस्मिन् विनिहते राजा ४-१०-४
तस्मिन् विनिहते वीरे ४-४-१६,७-२२-१
तस्मिन् वृक्षे तथाभूते १३-२-७
तस्मिन् समिद्धे पतिताः ११-१-२१
तस्मिन् सम्प्रस्थिते २-१८-१९
तस्मिन् संधीयमाने तु ७-२१-२९
तस्मिन् सुतुमुले युद्धे ६-१८-३३
तस्मिन् हते महामात्रे ७-४-३८
तस्मिन् हते महासत्त्वे ६-२७-४६
तस्मिन् हते महेष्वासे ७-२६-७, ९-१-९
तस्मिन् हते हतं सर्वं ९-३-३८
तस्मिन्ह्रदं प्रविष्टे तु ९-१२-४२
तस्मिंस्ततोऽह्नि प्राप्ते १-१६-९
तस्मिंस्तथा ब्रुवाणे तु १३-१-३३
तस्मिंस्तथा मया शस्ते ७-४१-२५
तस्मिंस्तथा वर्तमाने ६-१४-४७, ७-३२-१, ९-१२-५४
तस्मिंस्तदा वर्तमाने १-३६-११
तस्मिंस्तदा सम्प्रहारे ९-१८-२०
तास्मिंस्तु निहते वीरे ६-२०-१९
तस्मिंस्तु निहते शूरे ७-१-११
तस्मिंस्तु पतिते भूमौ ६-१८-१४
तस्मिंस्तु पुरुषव्याघ्रे १७-२-१९
तस्मिंस्तु शब्दे महति १-३०-३६
तस्मै दित्सति कन्यां तु १-३१-१
तस्मै पूजां प्रयोक्ष्यामि ५-२०-११
तस्मै प्रयतमानाय ४-११-२९
तस्मै बाणांस्ततो जिष्णुः १४-७-२६
तस्मै भीष्माभ्यनुज्ञातः २-७-२१
तस्मै युधिष्ठिरः पूजां २-१-१३
तस्मै स कुरुमुख्याय १-५-३७
तस्मै सदा प्रयच्छन्ति ८-८-३४
तस्मै सर्वं विधिं १५-५-१०
तस्य कर्णो धनुर्मध्ये ८-११-५
तस्य कर्णो धनुश्छित्वा ८-३-१०
तस्य कल्यगता भार्या १२-३८-२०
तस्य कायं विनिर्भिद्य ७-५-९
तस्य कृष्णस्य कपिलां १-७-३४
तस्य कोपं समुद्वीक्ष्य ८-१५-१६
तस्य क्रुद्धः स नागेन्द्रः ६-५-४९
तस्य गत्वा पदं राजन् ३-२३-११
तस्य गात्राणि सर्वाणि ३-१३-२५
तस्य चाज्ञानमाधारः १२-६३-१३८
तस्य चास्त्राणि दिव्यानि ९-२-१९
तस्य चिन्तयतो दुःखं ७-१-३
तस्य चिन्तयमानस्य ९-२२-१२
तस्य जानुं ददौ भीमः ४-१०-४२
तस्य जानू ददौ भीमः ३-२१-३९
तस्य जिह्ममभिप्रायं ७-२-१६
तस्य ज्याछेदनं कर्णः ८-२५-२४
तस्य ज्यातलनिर्घोषं १-१५-२४
तस्य तच्चारितं दृष्ट्वा ३-१४-१९, ९-६-१९
तस्य तत् पूजयामास ६-१२-२९, ६-२५-३३
तस्य तद्दुष्करं कर्म १-५-५१
तस्य तद्बलमाज्ञाय १-३-५८
तस्य तद्वचनं धर्म्यं १५-४-४०
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा १-२-९, १-५-४८, १-२४-४४, २-९-१, ३-६-३९, ३-७-६, ३-१७-१३, ३-१९-४३, ४-१६-२०, ५-५-१३, ५-२१-१९, ५-३४-३०, ६-२७-९, ६-२७-१६, ७-३६-१५, ७-३९-२४, ९-२४-९; १२-३८-५१, १४-११-८
तस्य तद् वचनं साधोः १०-८-३९
तस्य तद् वचनं स्त्रीषु ४-११-१९
तस्य तन्मतमाज्ञाय ५-२०-६
तस्य तल्लाघवं दृष्ट्वा ९-६-३
तस्य तं तुमुलं शब्दं ७-३३-२
तस्य तं नदतो नादं ६-१३-५७
तस्य तं निनदं श्रुत्वा ६-१३-६३
तस्य तेन शिरः कायात् ९-४-३८
तस्य ते शम एवास्तु २-१९-११
तस्य ते शिरसा गृह्य ९-१२-८
तस्य तौ भ्रातारौ राजन् ९-४-२९
तस्य त्वं पदवीं गच्छ ७-१६-१४
तस्य त्वकारभावज्ञः ८-२१-५
तस्य दानं क्षमा सिद्धिः ५-१६-२
तस्य द्रोणोऽच्छिनन्मुष्टौ ७-६-१११
तस्य द्रोणोऽवधीदश्वान् ६-१७-१६
तस्य द्रोणो हयान् हत्वा ७-२५-९
तस्य द्वारणि सर्वाणि १५-३-११
तस्य धर्मप्रवृत्तस्य २-५-६९
तस्य पादौ च पाणी च ४-७-६९
तस्य पार्थो धनुश्छित्त्वा १-१८-२९, ७-५-५०
तस्य पुत्रो यथा पाण्डुः १-२१-१७
तस्य प्रभवमन्विच्छन् १-५-१९
तस्य प्रमुखतो राजन् ७-२५-५
तस्य भार्याब्रवीद् वाक्यं १४-११-३६
तस्य भीतस्वनं श्रुत्वा १-३६-४४
तस्य भीमोऽपि द्विरदं ८-२-११
तस्य भीमो महावेगां ९-१७-१९
तस्य भीमो वधप्रेप्सुः ४-६-२२
तस्य मां राक्षसेन्द्रस्य १-२५-५३
तस्य मूलं समाश्रित्य १२-३५-४१
तस्य मेऽद्य स्थितस्येह २-५-२५
तस्य मेऽप्यधिकं शस्त्रं ९-६-१०
तस्य राजन् फलं विद्धि १३-१५-३२
तस्य लज्जान्वितस्यैव ३-१९-३
तस्य वाक्येन सौम्येन १३-२-२०
तस्य वारणराजस्य ६-५-४८
तस्य विक्षिप्यमाणस्य ४-१२-५६
तस्य विख्यातवीर्यस्य १२-५०-४५
तस्य विद्युदिवाभ्रेषु ७-३-१७
तस्य वीरस्य विक्रान्तैः १-९-२९

तस्य वीरस्य शब्देन १०-३-१५
तस्य वृक्षस्य वक्ष्यामि १-१-११
तस्य व्यवसितस्त्यागः १-२८-११
तस्य सत्याभिसन्धस्य १४-११-८६
तस्य सर्वं सविस्तारं ५-२२-१३
तस्य सर्वं यथान्यायं १४-५-१४
तस्य संकल्पमाज्ञाय ११-३-२२
तस्य संदधतश्चेषुं ७-३८-१९
तस्य साधुसमाचारात् १२-५४-१२
तस्य सा बहुशः श्रुत्वा ४-६-३
तस्य सैन्यस्य महतः ८-२-४
तस्य स्म स्थाणुभूतस्य १२-५०-१७
तस्याक्षकुशलो राजन् २-१०-४३
तस्याथ सारथेः पञ्च ७-४-३०
तस्याद्य कुरुवीरस्य ५-८-५
तस्याद्य न प्रपश्यामि ९-३-३४
तस्याद्य वसुधा राजन् ५-१४-४५
तस्यानुबन्धं द्रष्टासि ७-४०-२०
तस्यान्तमिषुभी राजन् ८-१३-१३
तस्यापचितिमिच्छामि ७-३१-६
तस्या बहुविधं दुःखात् १०-५-३४
तस्याभिपततस्तूर्णं ३-१८-४१
तस्याभिमन्युरायम्य ७-६-६३
तस्यायमागतः कालः ५-३४-१३
तस्यायसीं महाशक्तिं ६-२५-६
तस्यायं वचनाद् दष्टः १३-१-१६
तस्या रूपेण वेषेण ४-३-३०
तस्यार्जुनः शरैः षड्भिः ७-१४-९
तस्यावर्जितनागस्य ७-५-१०
तस्यावहासस्य फलं ९-१९-२
तस्याशुकारी सुसमाहितेन ९-११-१४
तस्याश्रुपरिपूर्णाक्षिः १६-३-११
तस्याश्वान् गदया हत्वा ७-६-११६
तस्याश्वांश्चतुरो हत्वा ६-१४-२२,
६-१७-३७
तस्यास्ताः कृपणा वाचः ४-८-१३
तस्याहं कुरुशार्दूल ५-४-२७
तस्यां चोत्पादयामास १-९-३२
तस्यां दिव्यानभिप्रायान् २-१०-२
तस्यां नद्यां महासत्त्वः ३-१२-९
तस्यां निशायां व्युष्टायां ७-११-१
तस्यां रजन्यां व्युष्टायां ३-१५-६,
५-१३-१
तस्यां रात्र्यां व्युतीतायां ४-७-२४,
१०-५-१
तस्यां सभायां नलिनीं २-१-३०
तस्याः पापमभिप्रायं ११-४-३
तस्याः प्रसादनं वीर ९-२२-१८
तस्याः श्रुत्वैव वचनं १-२५-६०
तस्याः सहोदराः कन्याः १-८-२३
तस्येमानात्मजान् १-१२-१८
तस्यैतन्मतमाज्ञाय १-५-४६
तस्यैतद् वचनं श्रुत्वा ७-३२-७
तस्यैव च न पश्यामि ५-१४-६२
तस्यैव सिञ्चते मूलं १२-५४-१४
तस्योपरि सपत्नस्य १२-३५-४८
तं कथं पाण्डवं युद्धे ७-१२-२२
तं कृच्छ्रामापदं प्राप्तं ७-१५-४०
तं कृताञ्जलयः सर्वे १-९-२४
तं कोसलानामधिपः ७-६-९८
तं क्रोधं वर्जितं धीरैः ३-४-२३
तं क्षिपन्तं सुरांश्चैव १-६-७
तं गृहीत्वा ततो राजा १०-८-५३
तं गृहीत्वा तु कौरव्य १४-९-३५
तं गृहीत्वैव पाणिभ्यां ११-३-२४
तं चक्ररक्षौ पाञ्चाल्यौ ७-११-४९
तं चतुर्दशभिः पार्थः ७-१५-१८
तं च तूवरकं बालं ५-३४-१५
तं च दीप्तं शरं घोरं ६-८-४२
तं च भीमं महात्मानं ३-१२-३६
तं चरन्तं रणे पार्थाः ६-१८-३१
तं च व्यूहं विधास्यामि ७-६-८, ९-३-२१
तं च श्रुत्वा महेष्वासं ९-१३-३२
तं चाप्यतिक्रमन्तस्ते १७-२-२
तं चाहमपि शोचन्तं ९-१२-३५
तं चितागतमाज्ञाय १-१२-२५
तं चिन्तयन्तमासीनं २-१९-२
तं चैव क्रूरकर्माणं १०-७-७
तं जालेनोद्धृतं दृष्ट्वा १३-१३-९
तं तथा कृपयाविष्टं ६-३-२९
तं तथा परिक्रुष्यन्तं ७-२०-३८
तं तथा भाषमाणं तु १-३३-११
तं तथावादिनं कृष्ण ३-१२-३०
तं तथावादिनं तत्र ७-३८-१०,१४
तं तथेत्यब्रवीत् पार्थः ७-१५-७
तं तथैव हनिष्यामि १०-२-४६
तं तदाभिप्रशंसन्तं ७-३६-१३
तं तस्य निनदं घोरं ७-१९-४०
तं तावत् सहदेवात्र ५-३१-१६
तं तु छित्वा रणे भीष्मः ६-१८-२६
तं तु दृष्ट्वा महाव्यूहं ६-१९-३
तं तु पश्यन्ति पुरुषाः १४-११-७७
तं तु सक्रोधमालोक्य ७-२२-३७
तं तु सम्प्रेक्ष्य पुत्रस्ते ७-४-२३
तं तूर्णमभिधावन्तं ८-१०-३
तं त्वामयशसा स्पृष्टं ५-२८-४७
त दहन्तमनीकानि ८-३-२७
तं दाशः प्रतिजग्राह १-५-३९
तं दीप्तमिव कालाग्निं ९-५-१०
तं दृष्ट्वा कुरवस्तत्र ८-१९-३१
तं दृष्ट्वा कुरवस्त्रस्ताः ७-१४-१२
तं दृष्ट्वा क्षत्रियाः शूराः ६-२४-७
तं दृष्ट्वा दीनमनसं १४-१-३
तं दृष्ट्वा द्विरदं दूरात् ८-२-५
तं दृष्ट्वा धर्मराजश्च ५-३३-२
तं दृष्ट्वा धर्मराजस्तु ३-१२-३७
तं दृष्ट्वा नित्यमुद्युक्तं १-१५-१९
तं दृष्ट्वा निहतं शूरं ८-११-१६
तं दृष्ट्वा परमप्रीताः ९-१७-३
तं दृष्ट्वा पाण्डवं राजन् ६-२९-१०
तं दृष्ट्वा पुरुषव्याघ्रं ७-१९-३९
तं दृष्ट्वा मद्रराजश्च ५-४-९
तं दृष्ट्वा यमदूताभं १२-३५-१०४
तं दृष्ट्वा युयुधानस्य ६-१४-३२
तं दृष्ट्वा सानवद्याङ्गी १-९-९
तं दृष्ट्वा सूतपुत्रोऽयं १-१७-४०
तं देशं समुपाजग्मुः १३-१३-५

तं नागवदुपक्रम्य ४-८-१८
तं निवृतं तु शुश्राव १४-१०-१
तं निहत्य ततः पार्थः ९-१०-१९
तं निहत्येषुवर्षं तु ७-३७-९
तं पद्भ्यामनुवव्राज २-९-५५
तं पार्थेनाभये दत्ते १-३६-४५
तं प्रजा नानुवर्तन्ते १२-३४-११
तं पुत्रोऽप्येक एवैनं १०-६-६
तं पूर्वापररात्रेषु १२-६२-७६
तं प्रत्यविध्यद् दशभिः ६-१४-१४,
६ २१-११
तं प्रमथ्य ततः क्रुद्धः ७-३१-१६
तं प्रयान्तमभिप्रेक्ष्य ६-४-५
तं प्रयान्तममोघेषुं ७-२१-५
तं प्रयान्तं कुरुश्रेष्ठं ७-५-३८
तं प्रयान्तं ततः पश्चात् ७-५-२७
तं प्रयान्तं महाबाहुं ७-१९-४, ७-२७-२९
तं प्रयान्तं महावेगैः ८-१९-१८
तं प्रविष्टमभिप्रेक्ष्य ५-२६-११
तं प्रविष्टे विनिघ्नन्तं ७-९-३७
तं प्रहारमसम्भ्रान्तः ९-१७-२४
तं प्रेक्ष्य कर्णः परिवर्त- ४-१४-३६
तं प्रेक्ष्य दीप्तं युधि ८-२५-९
तं प्रेक्ष्य राजोपगतं ४-३-५७
तं बलौघमपर्यन्तं २-८-२५
तं भग्नसक्थं राजेन्द्र १०-४-२
तं भीमरूपं त्वरितं ४-१४-३२
तं भीमसेनश्च शिनेश्च नप्ता ९-७-६
तं भीमसेनो धावन्तं ४-१०-४०
तं भीमो भीमकर्माणं ४-१०-३२
तं भीष्मः प्रत्युवाचेदं १-९-१७
तं भुक्तवन्तमाश्वस्तं ५-२३-१९
तं भूमौ पतितं दृष्ट्वा ७-६-२२४
तं मत्तमिव मातङ्गं ४-६-२४
तं मया सह गत्वाद्य १४-२-२०
तं माता पुनरेवाल्यं १-७-४३
तं मामेवंविधं राजन् ८-६-१२
तं मुदाभिसमागम्य २-६-१९
तं मोक्षयत भद्रं वः ३-१९-१८
तं यथावत् प्रतिव्यूह ६-७-२४
तं रथस्थं महाबाहुं ८-७-६
तं रथं रथिनां श्रेष्ठः ८-७-३
तं रथैर्बहुसाहस्रैः ७-१५-४१
तं राजसूयं सुहृदः २-३-१२
तं राजानं तथा क्लान्तं २-५-५७
तं राजा प्राहसद् दृष्ट्वा ४-१०-४५
तं वने विजने गर्भं १-३-३४
तं विजित्याथ कर्णोऽपि ८-३-२५
तं विदित्वा गतक्रोधं ११-३-२६
तं विव्याधाशुगैः षड्भिः ९-७-२५
तं विशोध्य तदा राजा १-३-१०७
तं विश्रान्तं शुभे देशे २-३-९
तं विषीदन्तमाज्ञाय ४-७-६६
तं विसंज्ञमपोवाह ४-१४-२४
तं विसज्ञं विमनसं ६-५-६४
तं वीरशयने वीरं ६-२९-२
तं वृक्षमादाय रिपुप्रमाथी १-३१-८
तं वै यान्तं केशवेन १६-२-५
तं वै राजा सत्यधृतिर्महात्मा २-१२-४
तं वै वधूः स्थिता १४-११-५९
तं वै शाकुनिकं दृष्ट्वा १२-३८-४५
तं व्यालनानाविधगूढसारं ६-१३-२
तं शयानं महात्मानं १०-३-७
तं शयानं महात्मानः १६-३-१०
तं शिखण्डी त्रिभिर्बाणैः ६-२७-६
तं शिबिः प्रतिविव्याध ७-२५-८
तं शूरमार्यव्रतिनं ७-३-२५
तं समीक्ष्य ततः कर्णः ८-२६-१४
तं समीपस्थितं दृष्ट्वा ७-२१-२४
तं समेत्य महाराज ७-१९-५
त सम्पूज्याथ पलितं १२-३५-७६
तं सम्मथितसर्वाङ्गं ४-७-७०
तं सशालचयं श्रीमत् १४-१०-८
तं सात्यकिः शीघ्रतरं ७-३८-४
तं सूतपुत्रो दशभिः ८-१०-१२
तं हतं नृपतिं दृष्ट्वा ८-२-१३
तं हत्वा वै भवान् राजा ९-१५-३२
तं हन्यां चेत् केशव ८-१५-४४
तं हीयमानं विज्ञाय ४-७-६१
तं हृष्टास्तावका राजन् ८-१८-२१
ता इमाः पृथिवीपालाः १-६-२०
ताड्यमानासु भेरीषु ६-२७-२
तात धर्मार्थकामानां १२-३४-१
तात भ्रातः सखे बन्धो ६-१२-१०
तात मन्युर्न ते कार्यः ९-१९-१४
तादृशं च परं द्वारं २-१०-१३
तादृशात्किल्बिषाद् राजा १२-२३-९
तानपास्य शरान् मुक्तान् ९-११-५
तानपृच्छत्ततो राजा १५-६-२५
तानप्राप्तान् महाबाहुः ६-९-९
तानब्रवीत् ततः कर्णः ८-५-२
तानर्जुनः प्रत्यगृह्णात् ९-१२-२
तानर्जुनः शरैस्तूर्णं ७-१४-११
तानागच्छतः सहसा ७-३५-५
तानागतानभिप्रेक्ष्य ४-१६-४९
तानागतान् समीक्ष्यैव १४-३-१९
तानाचख्यौ तदा सूतः १५-६-४२
तानापतत एवाशु ९-८-२४
तानावार्य रणे श्वेतः ६-६-१
तानि नागसहस्राणि ६-१०-१४
तानि मांसानि संच्छिद्य १३-१०-२१
तानि सर्वाणी जीर्णानि ७-३८-९
तानुवाच जरासन्धः २-५-१२
तानुवाच ततो राजा ३-१-२९
तानुवाच महाप्राज्ञः ६-४-९
तानुवाच महाबाहुः ६-२६-२१
तानुवाच सुरान् सर्वान् १२-१८-५०
तानुवाच हृषीकेशः २-५-६८
तान् कर्णस्त्वग्रतो न्यस्तान् ८-२५-२०
तान् दीनमनसः सर्वान् १६-४-९
तान् दृष्ट्वा चलितान् संख्ये ७-४-४१
तान् दृष्ट्वा जाह्नवीपुत्रः ६-२८-१८
तान् दृष्ट्वा दुःखितो भीमः ३-२३-४५
तान्दृष्ट्वा द्रवतः शूरान् ७-६-६८,
७-२८-१५
तान्दृष्ट्वा द्रवतः सर्वान् ३-१७-३७
तान्दृष्ट्वा निहतान्वीरः ६-१४-४२

तान् दृष्ट्वा पततस्तूर्णम् ७-११-२७
तान् दृष्ट्वा पततः शीघ्रं ३-१७-३७
तान् धार्तराष्ट्रान् दुर्वृत्तान् २-१७-७५
तान् धौम्यः प्रतिजग्राह १-२९-७०
तान्निकृत्तानिषून्दृष्ट्वा ७-१५-३१
तान् निहत्य शरान्द्रौणिः ७-२८-१३
तान् परीप्सस्व राजेन्द्र ४-१०-१४
तान् पाद्यमधुपर्कार्हान् २-५-७
तान्प्रभग्नान्द्रुतान्दृष्ट्वा ९-८-१५
तान् प्रमथ्य शरव्रातैः ७-३-३०
तान् प्रविष्टाँस्तदा दृष्ट्वा ६-२०-८
तान्प्रेक्ष्य सहितान्सर्वान् ९-१०-१२
तान्यनीकान्यथालोक्य ६-१३-६२.
तान् विकीर्णपताकेन ४-१४-३
तान् विक्रमेण जित्वेमां १-३३-३६
तान् विनिर्जित्य तु रणे १-६-२४
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः ६-३-१८
तान् समीपगताञ्श्रुत्वा १४-५-७
तान्सम्प्रभग्नान्सम्प्रेक्ष्य १४-७-१७
तान् सर्वान् पतितान् दृष्ट्वा ६-२०-११
तान् सिंहविक्रान्तगतीन् १-३२-२९
तान् सोऽभिपत्य जिज्ञासुः ८-८-३९
तान् हत्वा निशितैर्बाणैः ९-१२-२५
तान्हृष्टान्पुरुषव्याघ्रान् ९-२१-९
तान् भीतान् विगतज्ञानान् १-२८-४२
तापसैश्च महाभागैः १५-६-४०
तापस्ये मे मनस्तात १५-२-४५
ताभिः परिवृतो राजा ११-३-११
ताभ्यां स सम्परिष्वक्तः १४-२-४५
ताभ्यां सह समाः सप्त १-६-३२
तामन्या समायोगैः १-१४-४०
तामपृच्छत् स दृष्ट्वैव १-५-२०
तामब्रवीद् राजपुत्री ४-८-४१
तामभ्यगच्छद् राजेन्द्रः ११-४-४१
तामवेक्ष्य तु कौन्तेयः ३-११-१५
तामस्य विशिखैस्तूर्णं ६-८-४८
तामापतन्तं सम्प्रेक्ष्य ६-२१-१७
तामापतन्तीं सम्प्रेक्ष्य ३-१७-३८,
६-२२-१७
तामापतन्तीं सहसा ६-८-४४,
६-१४-२४, ६-१८-१९
६-२५-७; ९, ९-११-९,
तामाशां हृदये कृत्वा ९-४-१३
तामाहुस्तु जरां प्राज्ञाः ११-२-४५
तामिन्द्रसेनस्त्वरितोऽभिसृत्य ३-२१-२
तामुपारुह्य नकुलः ४-३-९
तामुपेत्य महात्मानः ३-११-३१
तामुवाच ततो राजा १-४-८
तामुवाच महाबाहुः ५-१९-१८
तामुवाचाथ गान्धारी ११-४-५०
तामेवमुक्त्वा राजर्षिः १-३-१११
ताम्रलोहैः परिवृताः २-१२-५६
तालवत् कुरुते मूलं १-२०-४९
तावकानां रणे कर्णः ८-२२-१३
तावकाश्च महेष्वासाः ६-१४-२७
तावकास्तव पुत्राश्च ७-१-१२
तावकीनं वचः श्रुत्वा ६-११-१८
तावद् गर्जस्व राधेय ७-२६-१९
तावन्तरिक्षगो शीघ्रं ५-१६-१६
तावन्योन्यस्य धनुषी ८-२-८
तावन्येन्यं गदाग्राभ्यां ७-६-१२१
तावन्योन्यं शरैर्घोरैः ८-२-१५
तावन्योन्यं समाश्लिष्य ४-७-५४
तावन्योन्यं हि समरे ६-१४-४३
ता वाचः स तदा श्रुत्वा १८-२-२६
तावापतन्तौ सम्प्रेक्ष्य ६-२१-१४
तावापतन्तौ सहितौ ६-२१-१६
ताविमौ चन्दनेमाक्तौ १५-२-९
तावुत्तमौ सर्वधनुर्धराणां ८-२४-१८
तावुद्यतगदौ वीरौ ७-६-१२०
तावुद्यतमहाचापौ १-१७-२४
तावुभावप्यनिर्देश्यौ १-३१-१५
तावुभौ नरशार्दूलौ ६-५-१३
तावुभौ सुमहोत्साहौ ४-४-११
तावेकस्थौ रणे वीरौ ६-१८-१२
तावेतौ रथिनां श्रेष्ठौ ७-२२-४
तासां ये पतयः सप्त ५-३१-१२
तास्तु दृष्ट्वैव कौरव्यः १६-३-६
तां कीचकः प्रधावन्तीं ४-६-२०
तां कृष्यमाणां च २-१४-४४
तां क्रोशन्तीं पृथा २-१७-२५
तां क्षमां तादृक्षीं कृष्णे ३-४-३१
तां च चिक्षेप संक्रुद्धः ६-२७-३१
तां चाब्रवीदयं ते सः १३-१-९
तां चासीनौ ददृशतुः ४-६-२१
तां चैव भार्यां दुष्यन्तः १-३-१०८
तां तथा ब्रुवतीं श्रुत्वा ३-८-२४
तां तथा मानुषं रूपं १-२५-३७
तां तु तेजस्विनीं कन्यां १-९-५
तां तु दृष्ट्वा निपतितां १४-४-३७
तां तु पतितां दृष्ट्वा १७-२-४
ता तु विद्रवतीं दृष्ट्वा ७-२९-१३
तां तु सेनां भृशं विद्ध्वा ८-१८-२३
तां दृष्ट्वा चिन्तयामास १-५-६
तां दृष्ट्वा देवगर्भाभां ४-५-५
तां दृष्ट्वा द्वारकां पार्थं १६-३-७
तां दृष्ट्वा पुरुषा राजन् ४-८-३१
तां दृष्ट्वा विदितो हृष्टः ३-८-४
तां दृष्ट्वा सीदतीं सेनां ९-५-१
तां दृष्ट्वा हृष्टरोमाभूत् १-४-६
तां नदीं क्षत्रियाः शूराः ६-२४-५९
तां नामृष्यत कौरव्यः ९-१७-२०
तां नावमिव पर्यस्तां ९-२-१६
तां निवेश्य ततो १-३४-४८
तां पतन्तीं वरारोहां ३-११-३
तां पराः परिधावन्तीं ४-३-२८
तां पर्यगृह्णात् विदुरो ८-२७-३५
तां प्रत्यगृह्णात् कौन्तेयः ४-१६-५१
तां मृगीमिव संत्रस्तां ४-६-१५
तां रात्रिमवसत् १६-४-१३
तां विदित्वा चिरगतां १-२५-२९
तां शमीमुपसङ्क्रम्य ४-१२-२६
तांश्च प्रद्रवतो दृष्ट्वा ६-२१-३१
तां सम्मर्द्य ततः संख्ये ९-५-४
तां सभामभितो नित्यं २-१-३२
तां समाश्वासयामास ११-४-४८
तां समासाद्य वित्रस्तां ४-८-९

तां स्म तत्र मयेनोक्ताः २-१-२९
तांस्तथाधिराथिः क्रुद्धः ८-१२-१७
तांस्तथा व्यथितान्दीनान् ३-१७-४७
तांस्तथावादिनः पौरान् १-२२-३९
तांस्तथा वादिनो राजन् ७-२०-६९
तांस्तु कामवशं प्राप्तान् १२-१८-४४
तांस्तु दृष्ट्वा सुमनसः १-२३-३०
तांस्तु दृष्ट्वा सुसंरब्धान् ७-१४-१४
तांस्तु निष्पतितांस्त्रस्तान् १०-३-२५
तांस्तु प्रपतितान् दृष्ट्वा १७-२-१८
तांस्तु भल्लैर्महावेगैः ८-२-२
तांस्तु सर्वान्परिग्लानान् १४-८-७
तांस्तु सर्वान् महेष्वासान् ७-६-९६
तांस्तु सर्वान् समानीय १-१५-३२
तांस्तु हत्वा ततः काकान् १०-१-१७
ताः शनैरिव सव्रीडं १२-१२-१८
ताः समाश्वासयत् क्षत्ता ११-३-६
ताः समासाद्य राजानं ११-३-५
ताः सर्वगुणसम्पन्नाः १-६-२५
तिर्यक् प्रेक्षी यश्च २-१२-४४
तिलशस्तस्य संवाहं ७-३१-१२
तिलान् ददत पानीयं १३-१४-११
तिष्ठ तात सतां वाक्ये ५-१६-२५
तिष्ठ तिष्ठेति तं भीष्मः ३-२१-३६
तिष्ठन्ति भ्रातरः सर्वे १८-३-१८
तिष्ठन्तीमाश्रमद्वारि ३-२०-६
तिष्ठन्त्येते यथास्थानं १२-३३-२७
तिष्ठ स्थितोऽस्मि विद्धयेनं ६-१२-४
तिष्ठेदानीं सुसंरब्धः ६-६-१५
तीर्थयात्रां गते रामे ५-३३-२७
तीर्थशौचमनर्थित्वं १३-१९-४
तीर्थानां हृदयं तीर्थं १२-४९-२०
तुदन्नखैस्तु स द्रौणिं १०-३-११
तुल्यप्रियाप्रिययोः १२-६३-१०७
तुल्याभिजनवीर्यश्च २-११-३९
तुल्या हि सर्वभूतानां ३-१२-२०
तुल्ये प्रियाप्रिये यस्य ३-२४-८६
तुष्टोऽस्मि पूजितश्चास्मि ६-४-५३
तुष्यामि ते विप्रमुख्य १-३१-१७
तूर्णं प्रत्यानयस्वैतान् २-१७-१७
तूष्णीं भव न ते सौम्य १२-३५-८६
तूष्णींभूतं तु राजनं १२-१२-१
तृणानि भूमिरुदकं ५-११-९
तृणोल्कया हि ज्ञायते ५-१०-१०
तृप्तः शान्तनवश्चापि ६-२९-२०
तृष्णा मे बाधतेऽत्युग्रा १३-१०-१०
तृष्णार्तिप्रभवं दुःखं १२-४३-११
ते कर्णमासाद्य महाप्रभावाः ८-२४-९
ते किरन्तः शरव्रातान् १४-८-३
ते गत्वा दूरमध्वानं ९-१३-३९
ते च त्रयोदशं वर्षं २-१७-१६
ते च पञ्च शतं चैव १-११-२८
ते च सर्वे द्विजश्रेष्ठाः १५-७-३१
ते च सर्वे महेष्वासाः ९-३-४५
ते चापि कौरवीं सेनां ७-२८-४
ते चापि भृशमभ्यघ्नन् ७-२२-८
ते चापि रथिनः सर्वे ७-११-१९
तेऽचिरेणैव कालेन १-१४-३
ते चेत् कुरूननुशिष्याथ ५-६-१६
ते चैव भ्रातरः पञ्च ९-१-१९, १०-४-१९
तेजसा वह्निसदृशः ८-१८-९
तेजांसि यानि दृष्टानि १७-३-२५
तेजोवधनिमित्तं तु ६-२३-१०
ते तत्र भुक्त्वा १-३२-३२
ते तत्र वीरा परमासनेषु १-३२-३०
ते तत्र शूराः कथयां १-३१-८
ते तथा पुरुषव्याघ्राः १-२९-१
ते तथा वञ्चयित्वा तु १५-२-१
ते तथा सहिता वीराः ३-१०-२१
ते तथेत्येव कौरव्यं ३-१७-८
ते तमूचुस्ततो वाक्यं १५-६-२६
ते तस्य वीर्यं च बलं च ३-१२-२६
ते तं तदा तोमरपट्टिशाद्यैः ३-१२-२४
ते तं दिवसशेषेण ३-१-२६
ते तं दृष्ट्वा महात्मानं १-१४-३३
ते तं दृष्ट्वा महेष्वासं ९-२४-३
ते तं शयानं सम्प्रेक्ष्य १०-४-३.
ते तं ह्रदं समासाद्य ९-१३-९
ते तात यदि मन्यध्वं १-२२-६
ते तान्साम्बं पुरस्कृत्य १६-१-९
ते तु ज्ञात्वा ततः पार्थाः ६-३६-३२
ते तु तत्र चिरं कालं ९-१२-४९
ते तु तत्र नरव्याघ्राः ३-१६-४०
ते तु दृष्ट्वा तदाऽऽविद्धं ४-८-२०
ते तु दृष्ट्वा पुरं तच्च १-३०-४
ते तु दृष्ट्वैव कौन्तेयं ३-१२-११
ते तु पानमदाविष्टाः १६-१-३९
ते तु बाणमयं वर्षं ६-५-५८, ६-६-३०
ते तु मां रथमारोप्य ९-१२-५०
ते तु राज्ञा समादिष्टाः ८-११-१३
ते तु वीराः समाश्वस्य ९-२२-६
ते त्रस्यन्तो महेष्वासाः ८-४-२२
ते त्रिगर्ताश्च मत्स्याश्च ४-१०-२०
ते त्वगच्छन्नहोरात्रात् १-२९-२३
ते त्वतीत्य जनाकीर्णाः २-५-६
ते त्वनुज्ञाप्य राजानं ९-१३-३८
ते त्वरध्वं महावीर्याः ६-१३-६०
ते त्वस्मद्धितकामार्थं ३-१-२१
ते त्वां ज्ञातिक्षयकरं २-५-३१
ते त्वाशुगतिभिर्वीरः ३-११-२७
ते ददृशुस्तस्य दलस्य रेणुं ३-२१-६
ते दह्यमाना गन्धर्वाः ३-१८-३९
ते दिशः खं च सैन्यं च ७-४३-३
ते दुर्गवासं बहुधा निरुध्य ३-१५-१४
ते दृष्ट्वा निहतान्सूतान् ४-८-२३
ते दृष्ट्वा सहसा पार्थं ७-१५-४४
ते द्रोणपुत्रमासाद्य ९-२३-२४
ते द्वन्द्वशः पृथक् चैव २-१२-३८
ते द्वादशं वर्षमुपोपयातं ३-१५-१८
तेन केतुश्च मे छिन्नः ८-१४-११
तेन तत्संवृतं दृष्ट्वा ते ३-१७-११
तेन ता निर्जिता गावः ४-१५-६४
तेन ते निर्जिताः सर्वे १-९-३५
तेन ते विशिखा मुक्ताः ६-२४-२०
तेन त्वमेवं गमितः १८-३-७
तेन त्वं ब्रह्माणां ३-६-८

तेन त्वां भ्रंशमिष्यामि ३-६-३५
तेन दुर्वारितास्त्रेण १३-१-५
तेन द्रोणेन ते तात ४-१५-५७
तेन द्वारेण शत्रुभ्यः २-४-२३
तेन नादेन वित्रस्ता ६-९-११
तेन निद्रोपरोधेन १-२३-४४
तेन मां प्रेषितं विद्धि १-२३-५४
तेन युद्धमहं मन्ये ७-१५-४
तेन रुद्धा हि राजानः २-३-१९
तेन वै परमा पूजां ७-१९-१२
तेन शब्देन वित्रस्तः १-२८-४१
तेन सत्ववता संख्ये ६-२९-२४
तेन संनोद्यमानस्तु ७-६-२७
तेनानुचरता तस्मिन् १२-३५-४७
तेनापि सुहृदा ब्रह्मन् १०-६-२७
तेनाप्येतन्महद् दिव्यं १०-६-३०
तेनार्दिता महाराज ६-२४-८
तेनासौ सहितो राजा १५-५-८
तेनास्त्रेणावधीत् ७-३३-९
तेनास्य सुमहद् युद्धं १-६-८
तेनाहं प्रेषिता भ्रात्रा १-२५-१८
ते निकृत्तमहाचापाः ६-५-६०
तेऽनुयाता वयं वीरं ७-८-४६
तेनैकेन यथाऽऽदिष्टं ३-१८-२६
तेनैव तु पथा यान्तः ७-६-६७
तेनोत्तमास्त्रेण तप्तो महात्मा ६-१२-४५
तेनोत्स्राटा चक्रयुक्ता शतघ्नी ७-३३-१३
ते नोदिताः पार्थिवसत्तमेन ७-२८-३८
तेनोपमन्त्र्यमाणायाः ४-७-१५
तेनोरसि महाराज ६-२१-४
तेऽन्योन्यमभिसम्पूज्य १-२९-६८
ते पथानन्तरान् वृक्षान् ३-११-९
ते परस्परमामन्त्र्य १-१२-१९
ते पश्यन् ब्राह्मणं १-१४-३२
ते पीड्यमाना द्रोणेन ७-८-४२
ते पुत्रास्तव कौरव्य ५-२४-१९
ते पुरा सत्कृतांस्तात १-२१-२०
ते पूर्वं पाण्डुपुत्रेण दृष्टा ९-१३-२१
ते पृच्छमानाः सहिताः २-३-२
ते पृष्टास्तु वदेयुर्यत् १०-१-५७
ते प्रयाता व्यरोचन्त १०-२-४९
ते प्रहृष्टा रणे राजन् ७-२१-१७
ते प्राप्य धनमक्षय्यं ९-२२-५
ते प्रियार्थं कुरुपतेः १४-१०-१४
ते प्रेषिताः सुमित्रेण ७-६-३४
ते बद्धाः शरजालेन ३-१८-३७
तेऽब्रुवञ्ज्ञातुमिच्छामः १५-६-४१
ते भग्नमनसः सर्वे १४-७-१८
ते भवन्तो यथाधर्मं ५-५-१२
तेऽभिगम्य महात्मानं ५-२०-८
तेऽभिगम्य महात्मानः १२-१-४
तेऽभिवाद्य महात्मानं १-२६-२०
तेऽभिवाद्य सुखप्रश्नं १४-११-३२
ते भीमभयसंत्रस्ताः ८-११-३१
तेभ्यो भक्ष्याणि पानानि १-२३-४
तेभ्यो हिरण्यं रत्नं वा १३-७-४
ते मनः क्रूरमाधाय ६-५-६
ते मात्रा सममुज्ञाताः १५-७-५२
ते मुहूर्तं तु विश्रम्य १०-१-३
ते मुहूर्ताद् रणे वीराः ९-८-१२
ते मूर्ध्नि समुपघ्राताः १५-१-८
ते मोहवशमापन्नाः १२-१८-४१
ते यज्ञसेनं द्रुपदं १-१८-३४
ते यूयं यदि मन्यध्वं ७-३५-१३
ते रणाद् भरतश्रेष्ठ ९-८-१४
ते रथान् मेघसंकाशा २-१६-३४
ते वचस्तस्य तत् श्रुत्वा ७-४३-१७
तेऽवतीर्णमुपश्रुत्य विषयं १४-८-२
तेऽवतीर्य कुरुक्षेत्रं ६-१-१, १२-१३-१०
तेऽवतीर्य रथेभ्यश्च १०-१-५
ते वध्यमाना गन्धर्वाः ३-१८-३५
ते वध्यमाना द्रोणेन ६-१५-११
ते वध्यमाना भीमेन ८-१८-२६
ते वनेन वनं गत्वा १-२६-१६
ते वयं तं नरव्याघ्रं ३-११-४
ते वयं धृतराष्ट्रस्य १-२३-६२, ५-१-३९
ते वयं धृतराष्ट्रं च १०-१-५६
ते वयं नयमास्थाय २-४-३१
ते वयं न श्रियं हातुं ५-१७-१३
ते वयं पाण्डव ज्येष्ठं १-२१-५
ते वयं पाण्डुपुत्रेभ्यः ९-२-२५
ते वयं प्रमुखे तस्य ६-२६-४५
ते वयं प्राप्तकालस्य १-३३-१६
ते वयं मृगयाशीलाः १-२३-१५
ते वयं राजवंशेन १-२१-१३
ते वयं संशयं प्राप्ताः ६-२-४५
ते वयं साधु पाञ्चालान् १-२९-१३
ते वयं स्मरमाणास्तान् ७-४-१०
ते वर्धयित्वा नृपतिं ८-२७-३०
ते वा द्वादशवर्षाणि २-१७-१२
ते वा युधि दुराधर्षाः ५-३-१८
ते वार्यमाणाः समरे ९-५-४१
ते विक्रमन्तः स्फुरत १-३०-२०
ते विवाहार्थमानीताः ५-३-४
ते विश्रम्य ततो राजन् ६-१५-१
ते वीरा बद्धनिस्त्रिंशाः ४-३-१
ते वै धन्या यैः कृतं ५-६-१५
ते शंखनादेन कुरुप्रवीराः ४-१४-४३
ते शूरास्ततधन्वानः ३-११-५
ते श्रमेण च कौरव्याः १-२४-३
ते श्रुत्वैव वचस्तस्य १७-१-११
तेषामथो वृद्धतमः १-१२-२२
तेषामनुग्रहश्चायं १-३३-६६
तेषामपि परां पूजां १४-१०-२४
तेषामभ्यागतानां च १४-१०-१५
तेषामापततां क्षिप्रं ८-११-१४
तेषामापततां तत्र ८-१८-२२
तेषामापततां तूर्णं ९-५-२२
तेषामापततां युद्धे ४-१३-२९
तेषामापततां वीरः ७-६-३९
तेषामापततां वेगं ८-१०-३३
तेषामेकैकशो वीर्यं ७-१०-७
तेषामेको महानासीत् ४-४-६
तेषामेतादृशीं चेष्टां ७-३५-११
तेषां कथयतामेव १४-१०-२६
तेषां च लोभं प्रसमीक्ष्य वृद्धं ५-१-१६
तेषां तद्वचनं श्रुत्वा ४-८-२६

तेषां तन्मतमाज्ञाय ८-२७-३
तेषां तु गच्छतां शीघ्रं १७-२-३
तेषां तु निनदं श्रुत्वा ६-८-१४
९-१७-३०
तेषां तु वचनं श्रुत्वा १४-१-४६,
१८-२-२१
तेषां तु वृत्तमाज्ञाय ५-५-७
तेषां तु शरवर्षाणि ३-१८-३८
तेषां दुर्योधनः श्रुत्वा १-२१-७
तेषां दुर्योधनो राजा ससैन्यानां ५-३७-३९
तेषां न तावन्निवृंत्तं ४-१३-४
तेषां नैष्फल्यमालोक्य ७-१५-१९
तेषां पापमभिप्रायं ५-२७-६
तेषां पुण्यजनोपेतं १-३४-४७
तेषां प्रयतमानानां ३-२३-१३
तेषां मधूनां बहुधा ११-२-३३
तेषां मध्ये महर्षीणां ३-२२-३
तेषां मध्ये महाबाहुः ९-१७-८
तेषां मध्ये महाबुद्धिः २-५-९
तेषां महारथानां सः ६-८-१५
तेषां माता बहुविधं १-३१-३४
तेषां यं प्रवरं मेने ८-८-४०
तेषां युधिष्ठिरो राजा ५-३७-४२
तेषां व्यवसितं ज्ञात्वा ६-१५-२६
तेषां शराणां वेगेन १-३१-१४
तेषां शुश्रूषणाच्चैव १२-१७-१८
तेषां श्रुत्वा च संवादं ९-१३-२०
तेषां स मार्गान् विविधान् ३-१२-२५
तेषां समिध्य तानग्नीन् ४-२-२३
तेषां समुपविग्टानां ५-२३-२४
तेषां संग्रामकृत्यं १२-२७-९
तेषां संलोडयमानानां ७-२८-३३
तेषां संश्रवणे चापि १५-४-८९
तेषां सुतुमलं युद्धं ६-१६-२२
तेषां सुलुलिते सैन्ये ८-११-२१
तेषु तत्रोपविष्टेषु २-११-२१, ४-१६-४
तेषु त्रिषु कुमारेषु १-८-१
तेषु नष्टेषु सर्वेषु ७-२६-३९
तेषु निक्षिप्तशस्त्रेषु ७-४३-३०

तेषु प्रक्षीयमाणेषु ७-१७-१३
तेषु प्रमथ्यमानेषु ७-५-७१
तेषु राजसहस्रेषु ९-१२-११
तेषु श्रान्तेषु भग्नेषु ६ २२-५१
तेषु सम्भाषमाणेषु ९-१३-१९
तेषु संत्रस्यमाणेषु ४-१०-२९
तेष्वनीकेषु भग्नेषु ७-५-१२
तेष्कनीकेषु यत्तेषु ६-२-१५
तेष्वनीकेषु सर्वेषु ७-११-२
तेष्वासीनेषु सर्वेषु ५-२४-१३
तेष्वेवं संनिवृत्तेषु ७-५-१
ते समाज्ञाय सम्प्राप्तं १४-७-१२
ते समाच्छंन्नरव्याघ्राः १०-७-३
ते समाशंसिरे लब्धा १-२९-७१
ते समासाद्य गङ्गां तु ११-६-१२
ते समासाद्य पन्थानं ३-१४-९
ते समासाद्य सरितं ९-२२-९
ते समेत्य यथान्यायं ५-३७-३६, १४-५-९
ते सर्वं एव राजानं ३-१८-५३
ते सर्वंतः सम्परिवार्यं ४-२४-३९
ते सर्वे त्वरिता गत्वा ३-१२-३५
ते सर्वे धृतराष्ट्रस्य ३-६-३
ते सर्वे पृष्ठतः कृत्वा ५-५-६
ते सर्वे मामभिप्रेक्ष्य ९-१२-४४
ते सर्वेऽवस्थिता धर्मे १-३३-५२
ते सान्त्व्य धौम्यं परिदीन ३-२१-७
ते स्म लक्ष्याणि बिभिदुः १-१६-१८
ते हता न्यपतन् भूमौ ९-९-१७
ते हत्वा सर्वपाञ्चालान् १०-४-१
ते हन्यमाना द्रोणेन ७-२५-२३
ते हन्यमानाः पार्थेन ६-१७-११
ते हन्यमानाः समरे ७-२८-१४
ते हयाः प्रत्यपद्यन्त ९-१२-४
ते हि कृष्णायसस्येव ५-२८-४५
तैरयुद्धं साधु मन्ये ५-१४-३८
तैरहं समरे वीर ५-३६-२३
तैराख्यातेन मार्गेण १५-६-२७
तैर्वाहं निहतः संख्ये ६-२३-२७
तैर्विना नोत्सहे वस्तुं १७-३-३०

तैर्विमुक्तो रथो रेजे ७-१५-४३
तैश्चापि सम्परिष्वक्तः १-१३-५४
तैश्चैव सहिताः क्षिप्रं ९-१२-६१
तैस्तच्छरीरमुत्सृष्टं १३-२०-११
तैस्तैः परिवृता वीराः १-३४-२६
तैस्तैश्च नियमैः शूराः १३-१५-२१
तैः समेत्य यथान्यायं ५-२२-१०
तैः समेत्यर्चितस्तांश्च १४-१०-३६
तैः सायकैर्मोहितं वीक्ष्य ९-७-१८
तैः सार्धं मन्त्रयेथा १५-३-१३
तोमरप्रासनाराच ६-१४-५
तोषयिष्याम्यहं क्षिप्रं १३-१३-३०
तौ चैवानय भद्रं ते ३-२३-३१
तौ तत्र समरे युक्तौ ६-१०-१०
तौ तत्रसुचिरं कालं १-३-३२
तौ ते ददृशुरासक्तौ १-२५-६१
तौ दर्शयन्तौ समरे ९-१७-१६
तौ दृष्ट्वा तु व्यतिक्रतान्तौ ७-१४-३२
तौ दृष्ट्वा पुरुषव्याघ्रौ ८-२२-९
तौ धरामन्वपद्येतां ८-११-१८
तौ नखैरिव शार्दूलौ ७-२०-२५
तौ निहत्य पृथक् धुर्यौं ४-१०-२६
तौ परस्परमासाद्य ९-१७-१५; १७
तौ परस्परवेगाच्च ८-१-२०
तौ परस्परसंरम्भाद् ९-५-१७
तौ प्रगृह्य महावेगे ७-३१-२५
तौ प्रदक्षिणसव्यानि १-१६-२४
तौ प्रबुद्धौ महात्मानौ १०-१-२८
तौ मुक्तौ सायकौ ३-६-३३
तौ मुहूर्तं समाश्वस्य ९-१७-१२
तौ यात्वा पुरुषव्याघ्रौ ५-३-६
तौ युध्यमानौ संरब्धौ ५-१६-२०
तौ रथस्थौ नरव्याघ्रौ ६-२५-५१
तौ रथाभ्यां रथश्रेष्ठौ १-३१-३०
तौ रथौ सूर्यसंकाशौ ८-२२-३
तौ विवादमनुप्राप्तौ ५-१६-१९
तौ विहाय समाक्रान्तौ ५-१६-१४
तौ वृषाविव नर्दन्तौ ६-६-३,
७-४२-२१, ९-५-१४

तौ शंखभेरीनिनदे ८-२४-१
तौ श्रुत्वा युगपद् वीरौ ७-१९-४१
तौ स जित्वा महाराज ६-१८-१५
तौ समतौ नरव्याघ्रौ ७-२२-३८
तौ सायकौ महाराज ८-१-१९
त्यक्तं मे जीवितं राज्यं ५-१५-२४
त्यक्तात्मानः पार्थिवा- ५-१३-१२
त्यक्तोदात्तं मद्यरतं १२-२८-३५
त्यक्त्वा तु विविधान् ९-२-५४
त्यक्त्वाधर्मं च लोभं च ६-२-४७
त्यक्त्वानुविन्दोऽथ रथं ६-१८-११
त्यक्त्वा भ्रातॄन् दयितां १७-३-१४
त्यक्त्वा मन्युं व्युपशाम्यस्व ६-२६-२९
त्यक्त्वा सन्तापजं शोकं १२-९-८
त्यज शोकं महाराज १४-१-१२
त्यजामि दारान् मम ४-५-१८
त्यजेच्च पृथिवी गन्धं १-७-११
त्यजेत् कुलार्थे पुरुषं ५-११-४०
त्यजेदेकं कुलस्यार्थे १-१०-५
त्यागस्य चापि सम्पत्तिः १३-१६-३
त्यागः स्नेहस्य यत्त्यागः १२-४०-१५
त्यागो ध्यानमथार्यत्वं १२-४०-७
त्रयस्त्रिंशत् समाऽऽहूय ५-१४-२९
त्रयः शब्दा न जीर्यन्ते १२-११-१९
त्रयाणां केन ते राजन् २-५-३९
त्रयोदश समास्तीर्णा जागरेण ८-२७-२६
त्रयोदशं च वै वर्षं २-१७-४५
त्रयोदशं च निर्वृत्ते २-१७-३८
त्रयोदशं च सजने २-१६-१३; ३५; ३७
त्रयोदशाहमात्रं मे ४-८-४३
त्रयोदशाहं वर्षाणि यस्माद् ८-१४-१४
त्रयोदशेमा हि समाः ८-१५-७
त्रयोदशैतेऽतिबलाः १२-४१-३
त्रय्यां संवृतमन्त्रश्च १२-१५-९
त्रस्तमुद्विग्नहृदयं १२-१८-२८
त्रस्तान् कुन्तीसुतान्दृष्ट्वा ७-३९-२
त्रातुमर्हसि मां भीम १०-५-३३
त्रायते हि सदा सर्वं १२-२८-२३
त्रायस्व मां महाभाग १-२९-४१
त्रास्यामि त्वां महाबाहो १-२५-२१
त्राहि मां मातरं चैव १२-५२-२९
त्रिकारणं तु निर्दिष्टं १३-२१-७
त्रिगर्ताधिपतेश्चापि ७-५-४४
त्रिगर्तान् मे पिता यातः ४-१२-७
त्रिगर्तैरभवद् युद्धं १४-७-११
त्रितयं सर्वथाप्येवं १-२७-३२
त्रिधाभूतैरबध्यन्त ६-२०-५
त्रिभागमात्रशेषायां ७-३७-१
त्रिभिरासादितोऽस्माभिः २-४-३३
त्रिभिर्वर्षैरिदं पूर्णं १८-४-३
त्रिभिर्वर्षैः सदोत्थायी १-२-२०
त्रिवर्गश्चापि यः प्रोक्तः १२-१९-५९
त्रिविधं नरकस्येदं ५-८-५१
त्रिविधानीहि वृत्तानि १३-३२-१७
त्रिविधाः पुरुषा राजन् ५-८-४९
त्रिषु लोकेषु न त्वासीत् १-८-१२
त्रिषु लोकेषु यो राज्यं १-२४-१५
त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु १२-३०-६
त्रिसाहस्रस्तथा राजन् ९-५-२६
त्रीण्येव तु पदान्याहुः १३-२२-८
त्रीन्क्रुशान्नावजानीयात् १४-१७-४८
त्रैलोक्यहेतोर्न जहेत् ४-१४-५१
त्वगस्थिभूतः परिशुष्कः १५-५-१४
त्वगस्थिभूतां वेपन्तीं १४-११-३८
त्वत्कृते पृथिवी सर्वा २-६-२१
त्वत्कृते सुकृतांल्लोकान् १०-३-१२
त्वत्तोऽप्यहं गृहीष्यामि १-२९-५४
त्वत्तोऽस्त्रेण वृणोम्यश्वान् १-२९-५५
त्वत्तोऽहं दुर्लभं कामं १०-६-३५
त्वत्प्रभावार्जितान् १४-५-२१
त्वत्समं त्वद्विशिष्टं वा ८-१८-८
त्वत्सहायो ह्यहं कृष्ण ८-१८-१७
त्वदन्यो नेह संग्रामे ९-१२-३८
त्वदर्थं पूज्यमानैषा ७-२२-२८
त्वदीयास्तु तदा योधाः ६-८-३५
त्वद् गुणाकृष्टचित्ताहं ३-८-२३
त्वद् दोषात् कुरवः क्षीणाः ८-३-४
त्वद्बुद्ध्या निहते कर्णे ८-२७-२३
त्वद्युक्तोऽयमनुप्रश्नः ६-२-१३,
१२-३५-३५
त्वद्विधेभ्यो मया ह्यात्मा १२-३५-१५०
त्वद्वीर्येण प्रमुक्तोऽहं १२-३५-१३१
त्वन्नियुक्तः सव्यसाची २-१३-७
त्वन्नेत्राः सन्तु ते पुत्राः १-१७-२४
त्वमन्यदा भीमसेन ५-१८-१२
त्वमप्येभिर्महेष्वासैः ३-२२-१५
त्वमप्येवं महाबाहो १-१७-२६
त्वमप्येवंविधं हित्वा १२-३३-१७
त्वमल्पबुद्ध्या नृपते ३-१९-५८
त्वमित्यत्रभवन्तं हि ८-१५-५०
त्वमिमं पुण्डरीकाक्ष ५-२७-१९
त्वमेकः सुस्थितो राजन् ९-१९-२०
त्वमेव कर्णं जानासि ५-२९-२
त्वमेव कुरुमुख्याय २-१०-४५
त्वमेव नः कुले राजा ३-१९-४६
त्वमेव प्रीतिमांस्तस्मात् १२-२३-२४
त्वमेव राजञ्जानासि ३-३-४
त्वमेव राजशार्दूल २-६-२३
त्वमेवैतन्महाबाहो १४-५-२२
त्वया कथितमत्यर्थं ७-३६-२०
त्वया कालोपसृष्टेन ९-२२-२७
त्वया चतुर्णां भ्रातॄणां ५-३०-३९
त्वया च सहितो राजन् २-१०-३६
त्वया चैवं व्रतं पार्थ ८-१५-३१
त्वया चोपहृता राजन् २-५-२७
त्वया तु पार्थैश्च कृते ८-२३-१२
त्वया दत्तां न चेच्छेयं ९-१४-४०
त्वया दायादवानस्मि ४-१५-५४
त्वयाद्य भद्रे रहसि १-३-५०
त्वया पुनरनार्येण ७-४२-१८,९-२१-२४
त्वया विनिकृता राजन् ९-१८-४७
त्वया विनिहताः सर्वे ९-१६-२०
त्वया हि वाच्यमानोऽहं १२-३५-१४४
त्वया ह्येतत्प्रतिज्ञातं १४-४-१०
त्वयि कर्णे कृपे द्रोणे ७-२७-१०
त्वयि धर्मोऽर्जुने धैर्यं २-१६-३१
त्वयि याते महाबाहो ७-८-३६

त्वयि वेदस्तथास्त्राणि ७-३५-२०
त्वयैव ससुतेनायं ११-१-२०
त्वयोक्तो नैव युध्येत ७-३९-२३
त्वय्याधीनः शमो राजन् ५-२४-२३
त्वय्येव तावत्तिष्ठन्तु १-२९-६७
त्वय्येवैतद् युक्तरूपं ६-१२-३०
त्वरमाणश्च लुब्धश्च ५-८-७७
त्वरमाणास्त्वराकाले ७-६-१०९
त्वरमाणांस्तु तान् सर्वान् ८-१९-२०
त्वरिता जवनैरश्वैः ९-२४-२
त्वरे चाहमनेनाद्य १०-२-३९
त्वष्ट्रा कृतं वाह्यमकूजनाक्षं ८-१५-१०
त्वंकारं नामधेयं च १२-४९-२२
त्वं कालरात्रीमिव ४-५-२९
त्वं च कामगमस्तात ६-२०-१४
त्वं च दुर्योधनबलं ७-२३-३५
त्वं च शूरतमो लोके ८-२५-३५
त्वं च श्रेष्ठतमो लोके ५-३-१३
त्वं चात्मानं हन्तुमिच्छ- ८-१६-१०
त्वं चापि न यथापूर्वं ७-४०-५
त्वं चापि फलभाक् १५-२-३०
त्वं चापि रथिनां श्रेष्ठः ७-९-१०
त्वं चाश्वसिहि कौन्तेय ९-१४-२६
त्वं चैव कुरुशार्दूल ९-२२-३१
त्वं चैव सौमदत्तिश्च ७-११-३
त्वं चैवाहं च ये चान्ये १२-४३-६
त्वं तु केवलबाल्येन २-१५-२३
त्वं तु केवलमौर्ख्येण ९-१४-४३
त्वं तु दुष्प्रकृतिर्मूढः ८-८-७
त्वं तु विप्रश्च वृद्धश्च ७-२६-४१
त्वं तु मे जातितः शत्रुः १२-३५-१३०
त्वं तु लुब्धतमो राजन् ७-२८-६
त्वं तु शुक्राभ्यनुज्ञाता ३-८-७
त्वं तु हेतूनतीत्यैतान् २-३-१५
त्वं देविता त्वत्कृते ८-१६-५
त्वं पापः क्षत्रियो भूत्वा ५-३४-३८
त्वं पुनः सूर्यसंकाशः १०-२-३२
त्वं मां यथावद् विदुर ५-९-१
त्वं वार्जुनो वा कृष्णो वा ७-६ २०
त्वं वै ज्येष्ठो ज्यैष्ठिनेयः २-११-३७
त्वं वै धर्मान्विजानिषे २-१८-९
त्वं वैऽस्वगर्हयात्मानं ७-२०-६४
त्वं सौबलेन सहितः ३-१६-३०
त्वं हि कृष्णो रणे शक्तः ८-१९-१२
त्वं हि केशव धर्मात्मा १४-४-२३
त्वं हि क्षत्रियदायादः ८-२५-३७
त्वं हि तात महाबुद्धे १३-२२-१५
त्वं हि प्राणैः प्रियतरः ७-३८-८
त्वं हि भोज्ये पुरस्कार्यः ५-३४-१७
त्वं हि राजेन्द्र भूम्यर्थे ५-१०-४
त्वं हि सौम्य कृतार्थोऽद्य १२-३५-१३२
त्वामभिवादयन्ति ते ५-२२-२२
त्वामाश्रित्य महाबाहो ९-१६-१९
त्वामाह्वयामहे राजन् २-५-३४
त्वामृतेऽपि हि दुष्यन्त १-३-१०२
त्वामेव स्थापयिष्यन्ति ५-२४-५६
त्वां क्रोधवशमापन्नं ११-३-२८
त्वां च प्राप्य रणे पापः ९-१६-२१
त्वां च व्यसनमभ्यगात् ३-४-३५
त्वां चैव नरशार्दूल ९-२२-३५
त्वां पुरस्कृत्य सगणं ७-३२-८
त्वां राजन् राजपुत्रीं च ३-११-१९
त्वां वयं हि समाश्रित्य ६-२३-१४
त्वां हि चक्षुर्हणं वीरं ७-२२-५८

द

दक्षिणास्त्वं ददास्येषां २-२-६०
दग्धैकदेशा बहवः १-३६-३३
दण्डनीतिश्च राजा च १२-१९-६२
दण्डनीतिं परित्यज्य १२-१९-७१
दण्डनीतिं पुरस्कृत्य १२-१९-७४
दण्डनीतिं स्वधर्मेभ्यः १२-१९-६४
दण्डनीत्यां प्रणीतायां १२-६-२२
दण्डनीत्यां यदा राजा १२-१९-६६,६९
दण्डश्चेन्न भवेल्लोके १२-६-२३
दण्डस्यैव भयादेके -१२-६-७
दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वाः १२-६-२
दण्डः सरंक्षते धर्मं १२-६-३
दण्डे त्रिवर्गः सततं १२-१९-२६;
दण्डेन नीयते चेदं १२-१८-५३
दण्डेन रक्ष्यते धान्यं १२-६-४
दण्डेन रक्ष्यमाणा हि १२-१९-२८
दण्डेनोपनतं शत्रुं १-२०-४६,
१२-३७-२२
दत्तमाहारमिच्छामि १२-३८-५५
दत्तस्येह फलं किं च १३-१५-३
दत्तं भुक्तमधीतं च ७-३६-३२
दत्तानुकीर्तिर्विषमः १२-४२-५
दत्ता भीम त्वया संवित् ७-१९-४४
दत्तावकाशे पुरुषैः १-१७-५
दत्तैषा भवता मह्यं १४-१०-६५
दत्त्वा तस्यासनं शुभ्रं १-९-१६
ददर्श च स तेजस्वी १४-४-२९
ददर्श तत्र वेदीश्च १५-७-१६
ददर्श तत्र सा गत्वा १-२५-९
ददर्श तं पक्षिसुतं १२-३६-८
ददर्श पाण्डवांस्तत्र १-३४-९
ददर्श स तदा गावः ३-१७-२
ददाति यजते चापि १३-२१-१५
ददाति वा दास्यति वा १३-२४-५
ददानीत्येव भगवान् ३-१५-१०, १२
ददामि तेऽस्त्रं दयितं ३-६-४५
ददामि ते हन्त वरं ४-३-६१
ददामि ते हन्त वरान् ४-३-२५
ददामि यानानि धनं ४-३-६८
ददासि चेद् वरं मह्यं २-१६-९, ७-२-४
ददुस्तेषामावसथान् २-६-४५
ददृशुर्विविधाश्चर्यं ३-११-२९
ददृशुस्ते ततः कृष्णां ४-८-४
ददृशे नकुलस्तत्र ३-२१-१४
दन्तिनश्च नरश्रेष्ठ ६-२४-५२
दन्तैरिव महानागौ ९-५-१६
दमघोषसुतो धीरः १-३०-२२
दमयन्निव दम्यानि १२-२७-२२
दमस्तेजो वर्धयति १२-३९-१८
दमस्य तु फलं राजन् १३-१५-११
दमं निःश्रेयसं प्राहुः १२-३९-१६
दमः क्षमा धृतिस्तेजः १२-६०-१३

दमात् तस्य क्रियासिद्धिः १२-३९-१७
दमेन शोभते विप्रः १२-६०-४७
दमेन सदृशं धर्मं १२-३९-१९
दमो दानं क्षमा बुद्धिः १-५-२
दमो नान्यस्पृहा नित्यं १२-४०-१०
दम्भं मोहं मत्सरं पापकृत्यं ५-८-८४
दम्भो द्रोहश्च निन्दा च १२-३६-६
दयया यदि वा राजन् ६-२३-१६
दया न तस्मिन् कर्तव्या १-२०-१२
दयान्वितः पुरुषः १२-६०-२६
दयितः फाल्गुनो नित्यं ७-२४-५
दर्पः क्रोधो मदः स्वप्नः १२-३९-७
दर्पो नाम श्रियः पुत्रः १२-२८-१८
दर्भास्तरणमास्तीर्य ३-१९-६८
दर्शनं कथनं चैव १३-१३-४६
दर्शनादेव वै शुभे १-३-२१
दर्शनाकांक्षिणं पार्थं २-३-८
दर्शनीयं च शूरं च ३-४-१३
दर्शनीयो मनस्वी च ५-१४-३६
दर्शने कीदृशः स्नेहः १३-१३-१
दर्शयन्तावुभौ शिक्षां ७-२०-२८
दर्शयन् सर्वसैन्यानां १-१८-३३
दर्शयामास तं गङ्गा १-५-१०
दर्शयामास भीमस्तु ३-२१-४९
दर्शं च पौर्णमासं च १२-५३-७
दशधर्मगतेभ्यो यत् १२-१९-२२
दश धर्मं न जानन्ति ५-८-७६
दश पार्थस्य नामानि ४-१२-३८
दश बालाञ्जले क्रीडन् १-१३-६
दशमेऽहनि राजेन्द्र ६-२७-३८
दश रात्रोषितानां तु १-२३-६
दशाचार्यानुपाध्यायः १२-३०-९
दशाध्यायसहस्राणि १२-१८-५६
दस्यूनामिव धर्मस्ते ४-६-२९
दहत्सु मृगयूथेषु १५-८-१५
दहने हि कृतो यत्नः ९-१४-४६
दह्यतीव शरीरं मे ६-२९-११
दह्यमानस्तु शोकेन १०-२-२
दह्यमाने स्वके गेहे १-२२-२८
दाक्ष्यमेकपदं धर्म्यं ३-२४-३७
दाक्ष्यं ह्यामर्षः शौर्यं च ३-४-२६
दातव्यमसकृच्छक्त्या १३-२५-२४
दातारं संविभक्तारं १२-२८-३३
दातारो न ग्रहीतारः १२-४२-१५
दानकृद्भिः कृतः पन्थाः १३-२२-१३
दानमध्ययनं यज्ञं १२-२३-१८
दानमध्ययनं यज्ञः १२-१७-१२,
१२-६३-१०२
दानशीलो भवेद् राजा १२-२३-२
दानस्य किं फलं प्राहुः १२-४९-१
दानं कतिविधं देयं १३-२४-१
दानं दाक्ष्यं श्रुतं शौर्यं २-८-१२
दानं यज्ञं क्रिया चेह १३-१४-३२
दानाद् दमो विशिष्टो हि १३-१५-१३
दानेन कर्मणा चान्ये १२-३५-१८
दानेन तपसा चैव १३-७-२६
दाने तपसि सत्ये च ५-२८-२३
दानेन भोगी भवति १३-२९-१२
दानेनान्यं बलेनान्यं १२-२३-२१
दान्तस्य किमरण्येन १२-३९-३०
दापयित्वा करं धर्म्यं १२-२१-८
दारवेष्वप्रमत्ता च १-१२-१३
दारयेयं महीं कृत्स्नां ८-६-११
दारयेयं महीं क्रोधात् ७-४१-१७
दारुकोऽपि कुरून्गत्वा १६-३-१
दारुकोऽथेत्य संदेशं ७-२२-३३
दाशार्णकाः प्रभद्राश्च ६-७-२७
दासी शतं च ते दद्यां ४-७-२८
दासोऽस्मीति तथा वाच्यं ३-२१-४५
दास्यामीति प्रतिज्ञाते १-१९-९
दिनकरे किञ्चिच्छेशे ६-२७-४२
दिलीपं च महात्मानं १२-११-१८
दिवसान्ते परिश्रान्ताः १-१३-२८
दिवसेनैव तत् कुर्यात् ५-१०-२०
दिवं स्पृशति भूमिं च ३-२४-८५
दिवारात्रौ च भात्येष ५-२०-१४
दिव्यमस्त्रं विकुर्वाणं १-५-८
दिव्यश्च ते प्रभावोऽयं ६-२७-११
दिव्यान्यस्त्राणि सर्वाणी ७-३६-५
दिशं धनपतेरिष्टां २-६-८
दिशो विलोकयामास १३-३८-१७
दिष्ट्या कुशलिनः सर्वे ५-५-१४
दिष्ट्या कुशलिनौ चेमौ २-५-७९
दिष्ट्या गाण्डीवधन्वा च ८-२७-१६
दिष्ट्या च वोऽहं पश्यामि ९-२४-१४
दिष्ट्या च सन्धिकामास्ते ५-५-१५
दिट्ष्या जयसि गोविन्द ८-२७-२५
दिष्ट्या जयसि राजेन्द्र १२-१२-२१
दिष्ट्या जीवति संग्रामे ७-१९-४५
दिष्ट्या जीवसि गान्धारे ३-१९-८
दिष्ट्या तु पुरुषव्याघ्रः ११-३-३९
दिष्ट्या ते प्रतिकर्तव्ये १०-२-१४
दिष्ट्या त्वमपि जानीषे ९-१५-११
दिष्ट्या त्वं दर्शनीयोऽथ ४-७-४८
दिष्ट्या त्वं न शृंगालो वै १२-४७-१५
दिष्ट्या त्वां पार्थं पश्यामि ४-१२-५२
दिष्ट्या त्विदानीं पापत्मा १-२३-४१
दिष्ट्या त्विदानीं सम्प्राप्तः ७-१५-६
दिष्ट्या धनञ्जयास्त्राणि ३-१५-४
दिष्ट्या ध्रियन्ते पार्थाः १-३३-४९
दिष्ट्या नाहं जितः संख्ये ९-२३-१४
दिष्ट्या नाहं परावृतः ९-२४-१२
दिष्ट्या पञ्चसु रक्तोऽसि ३-२५-५
दिष्ट्या पश्यामि वो मुक्तान् ९-१३-११
दिष्ट्या पश्यामि संग्रामे ७-२२-५४
दिष्ट्या प्राप्तोऽसि कौन्तेय १३-३२-२३
दिष्ट्या भवन्तः सम्प्राप्ताः ४-१६-२९
दिष्ट्या भीमेन बलवान् २-५-७८
दिष्ट्या मुक्तस्तु संग्रामात् १२-१-७
दिष्ट्या लोके पुमानस्ति ३-१७-५१
दिष्ट्या वर्धसि धर्मज्ञ २-९-३९
दिष्ट्या वर्धसि राजेन्द्र ७-२२-५०
दिष्ट्या विनिर्जिता गावः ४-१५-१२
दिष्ट्या शूरोऽसि कौरव्य ९-१५-१२
दिष्ट्या सम्पादिता जिष्णो ७-२२-४५
दिष्ट्या सर्वे पावकात् १-३१-४२
दिष्ट्यासि राजन् न हतो ८-१७-२२

दिष्ट्या सैरन्ध्रि मुक्तासि ४-८-३४
दीक्षाकाले तु सम्प्राप्ते १४-७-१
दीक्षितः स तु धर्मात्मा २-६-३५
दीनश्च याचते चायं १३-२४-८
दीप्यमाना महोल्केव ७-३०-१६
दीप्यमानौ महात्मानौ ९-६-२२
दीयतां भुज्यतां चेष्टं १४-१०-८४
दीर्घदर्शी मृदुर्दान्तः १५-४-३७
दीर्घबाहुर्महाबाहुः १-१०-२०
दीर्घबाहुं महोरस्कं १-३५-४५
दीर्घायुषस्तव सुताः १-१३-४८
दीर्घो द्वादश गव्यूतिः ७-११-८
दीर्यते चोत्तरेणैव ७-५-४०
दीर्यन्ते किं नु गिरयः १-१७-३
दीर्यमाणं बलं दृष्ट्वा ७-६-१२६
दुराचारा दुर्विचेष्टाः १२-४९-१०
दुराचारान् यदा राजा १२-३४-१०
दुराचाराश्च दुर्धर्षाः १३-२८-२४
दुराचारो हि पुरुषः १३-१७-७
दुरात्मा मद्रको नित्यं ८-८-११
दुरुक्तं विप्रतीपं वा ६-२३-२७
दुर्ग्रहः पाणिना वायुः ५-२७-२१
दुर्जातिः सूतपुत्रस्य ५-१३-२०
दुर्बलस्य च यच्चक्षुः १२-२८-२१
दुर्बलं बलवन्तं च १२-४४-१८
दुर्बुद्धीनामशिष्टानां ५-२३-२५
दुर्भिक्षादेव दुर्भिक्षं १२-४८-३
दुर्मदो दुर्विगाहश्च १-१०-११
दुर्मुखस्य तु भल्लेन ६-५-३४
दुर्मुखः कृतवर्मा च ६-५-२८
दुर्योधन किमेवं मां ७-२६-१३
दुर्योधन कुतोमूलं २-११-४
दुर्योधनकृते ह्येतत् १२-१-१८
दुर्योधन जीवसि चेत् १०-४-१८
दुर्योधन तव प्रज्ञा १-३३-२८
दुर्योधन तवामित्रान् ७-३१-४
दुर्योधन न तेऽमर्षः २-१०-३०
दुर्योधन न शोचामि ५-२५-७
दुर्योधन निबोधेदं ५-२४-४३,
५-२५-९, ९-२-५
दुर्योधन निवर्तस्व ५-१५-१४
दुर्योधनप्रयुक्तेन १-२३-३८
दुर्योधनमतिक्रान्तं ७-१५-२
दुर्योधन ममाप्येतत् १-२१-२४
दुर्योधन यथाराज्यं १-३३-४२
दुर्योधन यदाह त्वां ५-२६-१२
दुर्योधनवचः श्रुत्वा २-११-१,
३-१७-२३, ८-६-६, ९-३-१३
दुर्योधन विजानीहि ५-१६-२४
दुर्योधनश्च कर्णश्च १-३३-७१
दुर्योधनश्च भीमेन १०-२-३६
दुर्योधनश्चापि तमुग्रतेजाः ४-१४-२७
दुर्योधनस्ततः कर्णं ८-१२-३७
दुर्योधनस्तदा राजन् ६-२४-१०
दुर्योधनस्तु तत् श्रुत्वा ९-१३-३७
दुर्योधनस्तु तत् सैन्यं ५-३-२१
दुर्योधनस्तु तां वाचं १०-२-२३
दुर्योधनस्त्वया चोक्तः ९-२२-४०
दुर्योधनस्य कर्णस्य ३-२-५, ५-२७-३
दुर्योधनस्य ग्रहणात् ३-१८-५
दुर्योधनस्य तत् श्रुत्वा ८-१२-४१
दुर्योधनस्य पापस्य ३-१९-२
दुर्योधनस्य पारुष्यं २-१६-२९
दुर्योधनस्य शान्त्यर्थं २-११-२९
दुर्योधनस्य सचिवाः ९-१२-५७
दुर्योधनस्यापि तदा १-१७-५३
दुर्योधनस्यापि मतं च वेत्तुं ५-१-२३
दुर्योधनस्यापि यथावत् ५-१-१७
दुर्योधनहितार्थाय ७-२६-४३
दुर्योधनं ख्यापयामः ९-१३-२३
दुर्योधनं च बाणाभ्यां ७-१५-३८
दुर्योधनं चित्रसेनः ३-१७-४१
दुर्योधनं तथा कर्णं ५-२५-४७
दुर्योधनं तु विरथं ८-१२-१३
दुर्योधनं द्रौणिमुखांश्च सर्वान् ८-२१-१७
दुर्योधनं निशान्ते च ३-१९-६९
दुर्योधनं पीड्यमानं ७-५-७
दुर्योधनं मोक्षयित्वा ३-२०-१
दुर्योधनं समासाद्य २-१७-३
दुर्योधनं समुद्दिश्य ८-४-८
दुर्योधनं हतं दृष्ट्वा ११-५-१२
दुर्योधनः किलापृच्छत् ५-३७-२०
दुर्योधनः सौबलसूतपुत्रौ ३-१६-१४
दुर्योधनापराधेन ११-४-११
दुर्योधनार्थे शकुनिः ५-५-२२
दुर्योधने च विमुखे ७-६-८५
दुर्योधनेऽथ शकुनौ मूढे ५-१०-२६
दुर्योधने धार्तराष्ट्रे तद् वचः ५-१६-३१
दुर्योधनेन किं कार्यं ९-९-५
दुर्योधनेन पृथिवी १४-१-२९
दुर्योधनेनैवमुक्तः ७-२८-१
दुर्योधनो गुरुद्वेषी ३-१-५
दुर्योधनो ग्लहते २-१३-१२
दुर्योधनोऽपि धर्मात्मा ९-२०-२१
दुर्योधनोऽपि राजेन्द्र ९-२४-२९
दुर्योधनो भयाद् विद्वन् ५-५-२४
दुर्योधनो महाराज २-११-२, ९-१०-१
दुर्योधनो युयुत्सुश्च १-१०-८
दुर्योधनो वाचमिमां शृणोतु ५-१३-७
दुर्योधनो हतो राजा ९-१-१३
दुर्लभं जीवितं मन्ये ७-२७-३२
दुर्विज्ञेया गतिर्नूनं ९-२४-७
दुर्विज्ञेया गतिर्ब्रह्मन् १५-८-३०
दुर्विदा गतिरर्थानां १०-५-७
दुर्विनीताः श्रियं प्राप्य ३-१९-३६
दुर्विभाव्यं भाषितं २-१४-२
दुष्करं भवता कर्म ९-२१-५
दुष्कुलीनः कुलीनो वा ५-१२-३०
दुष्कृते सुकृते चापि १२-६०-१४
दुष्यन्तस्तु तदा राजा १-३-११२
दुहितरि स्नुषायां च ४-१६-३९
दुहिता वसुदेवस्य १-३५-२
दुहित्रा दासवर्गेण १२-६३-१२४
दुःखस्यैतस्य महतः ५-४-२०

दुःखार्तेषु प्रमत्तेषु ५-१२-४०
दुःखेन श्लिष्यते भिन्नं १२-६३-२५
दुःखेनैतत् समानीतं २-१७-४
दुःखोपहतचित्ताभिः ११-५-५
दुःशला चापि तान् योधान् १४-८-१९
दुःशलायाश्च तं पौत्रं १४-१०-७८
दुःशलां चापि समये १-१०-२३
दुःशलां मानयद्भिस्तु ११-५-४२
दुःशासनबलं हत्वा ७-११-३१
दुःशासनभुजं श्यामं ५-१९-१६
दुःशासन रथास्तूर्णं ६-२-१६
दुःशासन सुबालोऽयं २-१५-२६
दुःशासनस्तु तत् श्रुत्वा ७-६-५४
दुःशासनस्तु समरे कैकयान् ६-१६-३
दुःशासनस्य च गृहं ५-२०-१७
दुःशासनं दुर्विषहं ६-१५-२३
दुःशासनं द्वादशभिः ४-१३-४४
दुःशासनं पुरस्कृत्य ७-१२-११
दुःशासनः सुबाहुश्च ७-९-९
दुःशासने तु निहते ८-२१-१
दुःशासने दुर्विषहे कर्णे वा ५-२४-४९
दुःशासनेन च तथा ३-१६-५२
दुःशासने यद् रणे संश्रुतं मे ८-२०-२६
दुःशासनेन संयुक्तः ७-२३-२१
दुःशासनैष मम २-१४-३०
दुःशासनो दुर्विषहः ३-१७-४५
दुःश्रुतं मेऽस्तु सुभगे ३-८-२५
दूतश्च हृषीकेशः ५-२१-२०
दूतं गान्धारराजस्य १-८-२१
दूरपाती महेष्वासः ७-१५-३
दूरादावसथान् मूत्रं १३-१७-५०
दूरादेव तमालोक्य १२-१३-१३
दूरादेव तु तं प्रेक्ष्य ४-११-३३
दृढमूला वयं राज्ये २-१७-१५
दृढसन्धो जरासन्धः १-१०-१५
दृढाहतस्ततो भीमः ६-१५-९
दृश्यन्ते वै विकर्णेह् २-१५-२०
दृषद्वतीं चाप्यवगाह्य १२-१६-२०
दृष्टद्वारो लभेद् द्रष्टुं ४-२-५
दृष्टं दुर्योधनैतत् ते ६-२९-२२
दृष्टा हि बहवः शूराः ८-१८-४
दृष्टो युधिष्ठिरो राजा २-७-४३
दृष्ट्वा कर्णं महेष्वासं ८-१-२६
दृष्ट्वा कुणीन् पक्षहतान् १२-४७-२४
दृष्ट्वा कुशलिनौ कृष्णौ ७-१८-१७
दृष्ट्वा घटोत्कचं राजन् ७-३१-१
दृष्ट्वा च कर्णेन धनञ्जयस्य ८-२४-१२
दृष्ट्वा च निहतं कर्णं ८-२७-२८
दृष्ट्वा चान्यान्महायोधान् ७-१९-४८
दृष्ट्वा तत्कदनं घोरं ७-२३-२
दृष्ट्वा तत् कर्म पार्थस्य ७-५-३३
दृष्ट्वा तं निर्जितं युद्धे ७-३०-५
दृष्ट्वा तं प्रहरिष्यन्तं ३-६-३०
दृष्ट्वा तु तानापततः ९-९-८
दृष्ट्वा तु द्वैरथं ताभ्यां ८-२२-४
दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं ६-३-२
दृष्ट्वा तु पार्थं संरब्धं ७-१५-१०
दृष्ट्वा तु हतविक्रान्तं ९-९-२
दृष्ट्वा दुर्योधनं कृष्णः ७-१५-१
दृष्ट्वा दुर्योधनं हृष्टाः ६-१-४
दृष्ट्वा द्रोणं ततः शूरः ७-४-२८
दृष्ट्वा द्रोणाय पाञ्चाल्यं ७-३८-३
दृष्ट्वा ध्वजं पातितां ८-२६-२४
दृष्ट्वा ध्वजाग्रं पार्थस्य ६-१-३
दृष्ट्वा परिवृतं राजन् ८-१९-२७
दृष्ट्वा पाण्डुं च माद्रीं च १-१२-८
दृष्ट्वा पार्थं तदाऽऽयान्तं १-१८-२३
दृष्ट्वा पुत्रं च तं ग्रस्तं ६-२४-३८
दृष्ट्वा प्रयातांस्तु कुरून् ४-१४-५३
दृष्ट्वा भीमबलोद्भूतं १-२८-४७
दृष्ट्वा भीमस्य विक्रान्तं १-२८-१५
दृष्ट्वा भीमेन महतीं ७-३५-२
दृष्ट्वा भीष्मेण संसक्तान् ६-१४-४
दृष्ट्वा भूमिञ्जयं नाम ४-११-६
दृष्ट्वा भ्रातॄंश्च पुत्रांश्च ७-८-१३
दृष्ट्वा माधवमाक्रन्दे ६-२५-३९
दृष्ट्वाऽऽयातौ महावीर्यौ ८-१३-१७
दृष्ट्वा युधिष्ठरं दूराद् ६-४-१३
दृष्ट्वा युधिष्ठिरं राजन् ५-४-१३
दृष्ट्वा रथगतान्वीरान् ३-१८-२२
दृष्ट्वाऽऽर्तोऽपि हि २१-३८-१४
दृष्ट्वा विराटनगरे ५-१३-२८
दृष्ट्वा विशोकं समरे ६-१५-३०
दृष्ट्वा व्यवस्थितं भीमं ९-१७-१८
दृष्ट्वा शारद्वतं पार्थः ७-२२-१२
दृष्ट्वाऽश्रामपदं तत्र १-३-१०
दृष्ट्वा सभागतां कृष्णां १२-७-४
दृष्ट्वा हि क्षत्रियाञ्शूरान् ६-२२-२६
दृष्ट्वेमां पृथिवीं २-१०-२१
दृष्ट्वैव चोर्वशीं पार्थः ३-८-१६
दृष्ट्वैव तामर्जुनस्य १-३५-६
दृष्ट्वैव नरशार्दूल १०-८-१
दृष्ट्वैव पार्थेन हतं ४-१४-३१
दृष्ट्वैव भीमसेनं सा १-२५-१०
दृष्ट्वोपविष्टां राजर्षिः १०-५-२८
देवकन्या भुजङ्गी वा ४-३-३६
देवगर्भौ देवबलौ ८-२२-८
देवतातिथिपूजायां १३-९-१३;
देवतातिथिभिः सार्धं १३-१६-१४
देवतातिथिभृत्यानां ३-२४-२५,
१३-९-२०
देवतातिथिभृत्येभ्यः १२-६०-३१
देवतानां पितॄणां च १३-२३-७
देवता ब्राह्मणाः सन्तः १२-६३-१४२
देवताभ्यो नमस्कृत्य १०-७-१८
देवतार्थमुपाहृत्य २-५-३७
देवदानवगन्धर्वं १०-६-१७
देवने कुशलश्चाहं २-१०-४२
देववाक्यात् प्रचिच्छेद ७-५-६३
देवव्रतत्वं विज्ञाप्य ५-३६-२६
देवव्रते तु निहते ७-१-५
देवानामिव ते सर्वं २-११-९
देवानुवाच संहृष्टः १२-१८-५२
देवासुरमनुष्येषु ८-८-७७
देवासुरसमो राजन् ४-१०-२१
देवेभ्यश्च पितृभ्यश्च १३-१६-१३
देवैरप्यापदः प्राप्ताः ३-२५-२५

देशकालौ समासाद्य १२-३७-२१
देश: कालस्तथायुक्त: ५-२१-१६
देह: प्राणश्च धर्मश्च १४-११-६६
देहिनोऽस्मिन् यथा देहे ६-३-४०
देही नित्यमवध्योऽयं ६-३-५०
दैन्यं यथा बलवति २-४-२४
दैवतेभ्य: पितृभ्यश्च १२-५८-६
दैवतेभ्यो नमस्कृत्य १०-१-४५
दैवमानुषयो: किंस्वित् १३-३-३
दैवं ध्रुवं पार्थवशात् ८-३६-३८
दैवादिष्टेऽन्यथाभाव: ७-२४-१३
दोग्ध्री धान्यं हिरण्यं १२-२१-१६
दोग्ध्री वासांसि रत्नानि १३-१४-५१
दोषमत्र न पश्यामि ७-२६-२३
दोषस्त्वस्य महानेक: ५-३५-२१
दोषान् स्वान् नार्हसे ३-६-३७
दौरात्म्यं धार्तराष्ट्रस्य ५-२३-३०
दौर्योधनि: सुसंक्रुद्ध: ६-१०-६
दौष्कुलेयाश्च लुब्धाश्च १२-२४-२९
द्यूतप्रियश्च कौन्तेय: २-१०-४१
२-११-१८
द्यूतमेतत् पुराकल्पे ५-११-४२
द्यूतं मूलं कलहस्य २-१३-११
द्यूतापहृतराज्यानां १५-४-७२
द्यूते क्षत्त: कलहो २-१२-९
द्यूते पाने तथा स्त्रीषु १२-५९-९
द्यूते हारितवान् सर्वं ४-१५-२३
द्यौ: स्वित् पतति किं ३-११-८
द्रवतस्तान् समालक्ष्य ६-११-११
द्रवतस्तान् समालोक्य ७-२७-२५
द्रवतास्तांस्तु सम्प्रेक्ष्य ४-८-२१
द्रवमाणं तु तत्सैन्यं ७-२९-१२,
७-४३-९
द्रवमाणं बलं दृष्ट्वा ७-४०-३
द्रवमाणेषु शूरेषु ६-२३-२०
द्रव्यागमो नृणां सूक्ष्म: १४-११-७५
द्रव्याण्याददते चैव १३-२२-१९
द्रष्टार: स्म सुखाद्धीनान् ३-१९-२६
द्रष्टासि श्वो महेष्वासान् ७-१०-१२
द्रष्टुकामा: सभां चैव २-६-४०, २-७-९
द्रष्टुमिच्छामि तां चाहं १८-२-५
द्रावयित्वा महासैन्यं ६-२४-९
द्रावयेयं शरैश्चापि ७-४१-१८
द्रुपदश्चेकितानश्च ६-१४-८
द्रुपदस्य कुले जातां ३-४-१४
द्रुपदस्य च पुत्राणां १०-३-२०
द्रुपदस्य सपुत्रस्य ५-३४-२९
द्रुपदस्य सुता ह्येषा ३-२२-५
द्रुपद: कौरवान् दृष्ट्वा १-१८-११
द्रुपदेनैवमुक्तस्तु १-१४-२६
द्रुपदोऽपि महान् राजा १-३३-६७
द्रोग्धव्यं न च मित्रेषु ३-१३-६
द्रोणकर्णादिभि: सार्धं ७-३१-७
द्रोणद्रौणिकृपैर्गुप्त: ८-८-७०
द्रोणपुत्रस्य सहज: १०-५-३१
द्रोणपुत्रं च कर्णं च ५-३२-१६
द्रोणपुत्रं पराजित्य ८-१४-१
द्रोणपुत्रादृते वीरात् ९-१२-२७
द्रोणपुत्रेण शल्येन ६-१०-२
द्रोणपुत्रो महेष्वास: ५-३५-१८
द्रोणभीष्माभिसंगुप्तं ६-१५-१६
द्रोणभीष्मार्णवं तीर्त्वा ९-३-४१
द्रोणमेवान्वपद्यन्त ७-५-६८
द्रोणस्तव महेष्वास: २-१०-३४
द्रोणस्तु तत्समालोक्य ७-४-३१
द्रोणस्तु तद्वच: श्रुत्वा ७-२५-१२
द्रोणस्तु निशितैर्बाणै: ६-८-३७
द्रोणस्तु पञ्चभिर्बाणै: ७-११-४२
द्रोणस्तु परमक्रुद्ध: ७-२५-१५
द्रोणस्तु बहुभिर्विद्ध: ७-१७-४
द्रोणस्तु सत्वरो राजन् ७-१९-३०
द्रोणस्तु समरे क्रुद्ध: ६-१५-८, ६-१८-३९
द्रोणस्य चैव भीष्मस्य ९-४-१०
द्रोणस्य तद् वच: श्रुत्वा ७-४-८
द्रोणस्य तु तदा शिष्यौ १-१५-२८
द्रोणस्य दृढमत्युग्रं ७-६-२२
द्रोणस्य प्रीतिसंयुक्तं ७-६-४९
द्रोणस्य भीष्मस्य च २-१४-४२
द्रोणस्य मिषतश्चाहं ७-१०-१०
द्रोणस्य यतमानस्य ७-४-१९
द्रोणं कर्णं कृपं शल्यं ७-६-४४
द्रोणं कृपं नृपांश्चान्यान् २-१८-२
द्रोणं च युधि संरब्धं ६-२३-२२
द्रोणं निवारितं दृष्ट्वा ७-३-२४
द्रोण: कृपश्चैव विविं- ४-१४-३८
द्रोण: पुरस्ताज्जघने ७-२८-३८
द्रोणाय हास्तिनपुरं २-६-३७
द्रोणे चास्त्रविदां श्रेष्ठे ६-११-१४
द्रोणेन च सपुत्रेण ९-२२-२८
द्रोणेन चैवमुक्तस्य ७-२-१०
द्रोणेन च्छाद्यमानौ तु ७-३७-१०
द्रोणेन वध्यमानानां ७-२९-१०
द्रोणेन वार्यमाणास्ते ७--२५-२७
द्रोणेन व्याहृते त्वेवं ७-६-१०
द्रोणेनाबद्धकवचे ७-१४-३३
द्रोणेनैव विनीतश्च १-१९-१३
द्रोणेनैषा मति: कृष्ण ७-१५-२५
द्रोणो भीष्म: कृप: शल्य: ६-२३-३
द्रोणो भीष्म: कृपो द्रौणि: २-१५-२१
द्रौणिरप्यथ सम्प्रेक्ष्य १०-८-११
द्रौणिरेवमथाभाष्य ७-२८-२०
द्रौणिर्गाण्डीवधन्वानं ६-१४-१५
द्रौणिर्दुर्योधनश्चैव ६-८-२०
द्रौणिर्भूरिश्रवा: शल्य: ६-१३-१०
द्रौणिस्ततोऽभ्ययात् तूर्णं ८-२-१४
द्रौणिस्तदपि राजेन्द्र ८-१३-११
द्रौणिं त्यक्त्वा ततो युद्धे ६-१४-१७
द्रौपदी क्व च पाञ्चाली ४-१२-३५
द्रौपदी च परिक्लिष्टा ९-१६-३३
द्रौपदी च सुभद्रा च १५-१-९
द्रौपदी चान्वयाच्छ्वश्रूं १५-४-६८
द्रौपदी चाब्रवीद् भीमं ३-२१-५२
द्रौपदीप्रमुखाश्चैव १५-७-५९
द्रौपदी प्रेक्ष्य तान् सर्वान् ४-४-२४
द्रौपदीं धर्मराजस्तु ३-२१-२१
द्रौपदेया महाराज ५-३६-८
द्रौपदेया रणे क्रुद्धा: ६-१६-४

द्रौपदेया हता राजन् १०-५-२
द्रौपदेया हृताः सर्वे १०-४-२०
द्रौपद्या विप्रकर्षेण ३-१-३५
द्वन्द्वानि तत्र यान्यासन् ७-३८-२
द्वात्रिशत् कारणानि स्युः ७-२०-३०
द्वादशानां तु सर्वेषां ३-२१-१८
द्वादशेमानि वर्षाणि ३-३-२, ४-१-५, ५-२४-३१
द्वाभ्यामेव तु मासाभ्यां ५-३७-१४
द्वारकां तु गते कृष्णे ५-२-१२
द्वारदेशात् समुद्भूतः १-१७-२
द्वारं तु पिहिताकारं २-१०-११
द्वारं तु विवृताकारं २-१०-१४
द्वाराणि यस्य सर्वाणि १२-५३-१४
द्वारिणं तापसा ऊचुः १-१२-२०
द्वारेषु च गुरुण्येव १२-१९-४०
द्वावङ्कुशधरौ तत्र ५-३२-१०
द्वावम्भसि निवेष्टव्यौ ५-८-४७
द्वाविमौ कण्टकौ तीक्ष्णौ ५-८-४३
द्वाविमौ ग्रसते भूमिः ५-८-४१, १२-१५-२
द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र ५-८-४८
द्वाविमौ पुरुषौ राजन् ५-८-४५
द्वाविमौ विराजेते ५-८-४४
द्वावेतौ ग्रसते भूमिः २-११ ५१
द्वावेव तु महाराज ५-३३-२६
द्वास्थं प्राह महाप्राज्ञः ५-८-१
द्वाःस्थोऽथ श्रुत्वा नृपतिं ५-७-१५
द्विजातिपूजाभिरतः ५-१०-२४
द्विजातेः कस्यचित्पार्थ १२-४४-३
द्विजानां देवकार्येषु १२-१२-३१
द्विजेभ्यो गुणमुख्येभ्यः १३-३२-४
द्विजेषु वैद्यः श्रेयांसः ५-२-१६
द्विट्छिद्रदर्शी नृपतिः १२-१५-१२
द्वितीयं कुरुवंशस्य १-७-३८
द्वितीयां च तृतीयां च ८-२५-२२
द्विपक्षगरुडप्रख्यैः १-३४-३७
द्विपा वा बलिनो राजन् ४-१-१९
द्विपान् द्विपगतांश्चैव ७-२१-२६
द्विपाश्वस्यन्दनेभ्यश्च ७-४३-१३
द्विपाः प्रभिन्नाः शार्दूलाः १-३६-३४
द्विवर्षोपनिवृत्तेषु १५-८-१
द्विषदन्नं न भोक्तव्यं ५-२३-१५
द्वे कर्मणी नरः कुर्वन् ५-८-४२
द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये १२-५३-२०
द्वेष्टारमन्ये क्लीबस्य ३-१७-५०
द्वेष्यो न साधुर्भवति न ५-१२-१६
द्वेष्यो भवति भूतानां १२-६३-१४
द्वैपायनवचः श्रुत्वा ९-१२-३१
द्वैपायनस्तथा कृष्णः १४-१०-६४
द्वैपायनोष्ठपुटनिःसृतं १८-४-१६
द्वैरथे मां रणे तस्मात् ५-२९-१९
द्व्यक्षरस्तु भवेन्मृत्युः १२-४-२१, १४-१-४०

ध

धनञ्जय कथं शक्यं ६-२-४३,८-१७-२७
धनञ्जय महाबाहो ६-२८-८
धनञ्जयवचः श्रुत्वा २-६-४
धनञ्जयवियोगाच्च ३-९-३
धनञ्जय शिरश्छिन्धि ७-२१-३०
धनञ्जयसमं युद्धे ७-५-२५
धनञ्जयस्तु दैवं तत् १६-४-४६
धनञ्जयस्तु श्रुत्वैतत् ९-१८-१५
धनञ्जयः शाम्यति वारितः ८-२३-११
धनञ्जयेन चोत्सृष्टः ७-१२-१७
धनञ्जयो रथेनाजौ ९-८-२५
धनञ्जयो वासुदेवः २-१०-३८
धननाशेऽधिकं दुःखं १२-४५-१९
धनमाहुः परं धर्मं ५-१७-११
धनस्य राजतो यस्य १२-६३-१६५
धनं चापि विजित्याशु ४-१५-१
धनं लभेत दानेन १३-४-९
धनं वा पुरुषो राजन् १२-६३-१८
धनात्कुलं प्रभवति १२-२-१८
धनात् स्रवति धर्मो हि १२-१८-१५
धनिनः पूजयेन्नित्यं १२-२७-३९
धनुरस्त्रं शरा वीर्यं २-६-२
धनुरस्याच्छिनत् तूर्णं ७-१५-३७
धनुरादाय तत्राहं १६-५-१४
धनुरेकेन भल्लेन ७-१६-३०
धनुर्ग्राहा हि ये केचित् ८-१८-५
धनुर्मे नास्ति भगवन् १-३६-१७
धनुर्वेदेऽश्वपृष्ठे १-८-९
धनुश्च तत् केशवाय प्रयच्छ ८-१५-११
धनुषश्चैव निर्घोषः ४-१२-६५
धनुष्यनवरश्चासीत् ४-११-२२
धनुः शस्त्रं शरा वीर्यं २-४-१८
धनूंषि च महार्हाणि ४-११-४२
धनूंषि तेषामिषुधीन् ८-२३-६.
धनूंष्यन्ये व्यक्षिपन्त ९-२१-३
धनूंष्यश्वान् नियन्तॄंश्च ७-६-८२
धनेन किं यन्न ददाति १२-६३-१६८
धनेन क्रयिको हन्ति १३-२१-३०
धनेन जयते लोकौ १२-३५-१६
धनेन बहुधा क्रीत्वा १३-१२-६
धनेन मत्ता ये ते २-१७-५१
धन्यं यशस्यमायुष्यं १-२-१६, १२-१४-८७, १३-२१-२७
धन्यः कुन्तीसुतो राजन् ७-२-५
धन्यः कुन्तीसुतो राजा ७-२-९
धन्यानामुत्तमं किं स्वित् ३-२४-४०
धन्यानामुत्तमं दाक्ष्यं ३-२४-४१
धन्या वयं यदस्माकं ३-१-१८
धन्वदुर्गं महीदुर्गं १२-२६-५
धर्म एव कृतः श्रेयान् १२-६०-६
धर्म एव गतिस्तेषां १२-३८-२१
धर्म एव प्लवो नान्यः ३-४-४७
धर्म एव हतो हन्ति ३-२४-९०
धर्मकामार्थसम्बन्धं १-३-६४
धर्मकार्यं यतञ्छक्त्या ५-२३-३२
धर्मकार्याणि निर्वर्त्य १२-२१-३
धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे ६-३-१, १४-११-२१
धर्मचर्या च राज्यं च १२-१२-७
धर्मच्छलमपि श्रुत्वा ९-२०-१९
धर्मज्ञस्य सुतः स त्वं १४-४-३९
धर्मज्ञः पण्डितो ज्ञेयः ३-२४-६३
धर्मज्ञः पाण्डवो ज्येष्ठः ३-१६-४६

धर्मज्ञाश्च कृतज्ञाश्च ४-९-१८
धर्मतश्चैव गुप्तास्ते ४-९-२४
धर्मतो याचमानानां ९-१४-४२
धर्मतोऽहं परित्याज्या १-२७-४४
धर्मनित्यः सदा पाण्डुः १-२१-१६
धर्मपाशसितः पारं २-१५-३६
धर्मपुत्र विषादं त्वं ६-२६-६
धर्मपुत्रं च भीमं च १४-४-१२
धर्ममन्विच्छसि ज्ञातुं ७-४१-१५
धर्ममूलं जगद्राजन् ३-५-१६
धर्ममूलः सदैवार्थः १२-३४-४
धर्ममूला सतां कीर्तिः ९-१५-८
धर्ममेव गुरुं ज्ञात्वा १४-११-७४
धर्ममेव प्रपद्यन्ते १२-१८-३३
धर्ममेवानुवर्तस्व १२-२८-३०
धर्मयुद्धे ह्यधर्मेण १०-४-११
धर्मराजनिसृष्टास्तु २-१५-३७, ३-१९-४
धर्मराजमथामन्त्र्य २-१-१७
धर्मराजस्य तद् वाक्यं ७-१६-१६
धर्मराजं च धौम्यं च ३-११-२४
धर्मराजं परिष्वज्य ११-३-२१
धर्मराजाय तत् सर्वं १-३५-१५
धर्मराजो न संक्रुध्येत् ३-१६-४२
धर्मराजोऽपि सम्प्रेक्ष्य ६-१६-२५
धर्मराजो हि शुद्धात्मा १३-३२-३०
धर्मराज्ञः कथं भार्या ३-२-८
धर्मवर्त्मनि संस्थाप्य ११-८-१३
धर्मशास्त्रमिदं पुण्यं १-२-१५
धर्मशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः १२-२५-१२
धर्मशीलं गुणोपेतं १२-४२-८
धर्मशीलः सदा राजा ३-२४-९२
धर्मश्चार्थश्च कामश्च ३-२४-६६,
१२-१९-६०, १३-२०-१५
धर्मस्त्वयमिहार्थः किं १२-५०-२
धर्मस्य विधयो नैके १२-३९-१५
धर्मस्य ह्रियमाणस्य १२-२८-२; १०
धर्मं कृत्वा कर्मणां तात ५-६-२५
धर्मं चरामि सुश्रोणि ३-४-४३
धर्मं पुत्र निषेवस्व १२-६३-१५७
धर्मं पूर्वं धनं मध्ये २-५-१५
धर्मं सत्यं श्रुतं न्यायं १२-६३-५२
धर्मं समाचरेत् पूर्वं १२-६३-६२
धर्मं संहरते तस्य १२-२-९
धर्मः कामश्च स्वर्गश्च १२-२-१७
धर्मः किंलक्षणः प्रोक्तः १३-२५-१
धर्मः सत्यं तथा वृत्तं १२-३४-२०
धर्माच्छरीरसंगुप्तिः १२-३४-६
धर्माणामागमं श्रुत्वा १३-२१-२
धर्मात्मा च महात्मा च १-३-५१
धर्मात्मा मन्त्रविद्येषां १२-२२-२
धर्मादपेतं यत्कर्म १२-६०-४४
धर्मादर्थाच्च कामाच्च ५-२७-१०
धर्मादर्थाद् भयात्कामात् १३-२४-३
धर्मादुत्कृष्यते श्रेयः १२-६३-८०
धर्माय राजा भवति १२-२८-९
धर्मार्थकामकालेषु १२-३८-२९
धर्मार्थकामकुशलः ७-२३-३२
धर्मार्थकममोक्षार्थः १-१-७
धर्मार्थकामान् योऽध्येति ९-२०-१५
धर्मार्थकामाः किंमूलाः १२-३४-२
धर्मार्थमेव ते राज्यं ३-४-३७
धर्मार्थसहितं वाक्यं ६-२९-३४
धर्मार्थहेतोः क्षमते १२-४०-१४
धर्मार्थं च कामं च १२-९-२३
धर्मार्थं ब्राह्मणे दानं ३-२४-४७
धर्मार्थी यः परित्यज्य ५-९-३४
धर्माश्च तत्र सर्वैस्तु ४-९-३३
धर्मिष्ठान् व्यवहारांश्च १२-२९-९
धर्मे चार्थे च कामे १-२-२१, १८-४-५
धर्मेण राज्यं विन्देत ५-९-१५
धर्मेण वेदाध्ययनं १२-५८-९
धर्मेणार्थः समाहार्यः १३-२५-२५
धर्मेणैवर्षयस्तीर्णा १२-६३-६१
धर्मे तिष्ठन्ति भूतानि १२-२८-११
धर्मे ते वर्धतां बुद्धिः ३-२१-५७
धर्मे नित्या पाण्डव ते ५-६-२२
धर्मे वर्धति वर्धन्ति १२-२८-१४
धर्मो योनिर्मनुष्याणां १२-४९-२६
धर्मोऽहमिति भद्रं ते ३-२५-६
धर्म्यं धर्मेण धर्मज्ञे १०-५-२९
धर्म्यैर्धनागमैस्तस्य २-६-१५
धातुर्नियोगाद् भूतानि २-१७-२९
धातुर्विधातुः सवितुर्विभोर्वा ३-२०-१३
धात्रोपदिष्टं विषमं नूनं ९-१९-१५
धान्यस्य दशमं भागं १२-१८-१२
धारणाद् धर्ममित्याहुः ८-१५-३७
१२-३१-७
धारयामास च प्राणान् ६-२७-४४
धारयामास चात्मानं १३-३३-२
धारयामास तस्याथ १३-३३-७
धार्तराष्ट्रप्रियकरं ७-८-५५
धार्तराष्ट्रसुताः सर्वे ९-१०-६
धार्तराष्ट्रस्य तद् वाक्यं ३-१६-१५
धार्तराष्ट्रस्य वार्ष्णेयः ५-२९-२७
धार्तराष्ट्रस्य शिबिरे ७-१०-३
धार्तराष्ट्रस्य सैन्येषु ५-३७-१९
धार्तराष्ट्रान् रणे हत्वा २-१७-६१
धार्तराष्ट्रान् सुसंक्रुद्धान् ६-१५-२४
धार्तराष्ट्रा यतः कर्णः १-१७-२३
धार्तराष्ट्रा लताधर्मात्ः ५-६-५१
धार्तराष्ट्रास्तमायान्तं ५-२२-२
धार्तराष्ट्राः कालपक्वा ५-१६-२१
धार्तराष्ट्राः पाण्डवान् ५-११-३२
धार्तराष्ट्रैर्हता न स्युः १-३१-३५
धार्तराष्ट्रैश्च सहिताः १-१३-२
धार्मिकं तं सुतं लब्ध्वा १-११-८
धार्मिको भीमसेनोऽसौ ९-१९-१२
धिक् क्रोधं धिक्सखे लोभं ७-३८-७
धिक् तस्य जीवितं राज्ञः १३-१४-४२
धिक् त्वामसति पुंस्कामे १-२५-४०
धिक् त्वामस्तु सुदुर्बुद्धि १४-९-४
धिक् पार्थस्य धनुष्मत्तां ५-१९-१०
धिक्शब्दस्तु ततस्तत्र २-१५-३३
धिगस्तु कृतवर्माणं १०-४-१६
धिगस्तु क्षत्तारमिति २-१४-१०
धिगस्तु क्षात्रमाचारं ७-२२-१३,
१२-१-१३

धिगस्तु चातिलुब्धं मां ७-२७-३८
धिगस्तु नष्टः खलु २-१४-४१
धिगस्तु मज्जीवितमद्य कृष्ण ८-१५-८
धिगस्त्वर्थं यत्कृतेऽयं ५-३०-६
धिगिदं जीवितं लोके १-२७-१९
धिग्गाण्डिवं धिक् च ते ८-१५-१४
धिग् राज्यमिदमस्माकं १५-८-३३
धिङ् ममास्त्राणि दिव्यनि ७-४०-२४
धीमान् सत्यधृतिर्दान्तोः १२-२२-८
धीरः किं स्वित्तात १२-४४-५
धीरो मर्षी शुचिस्तीक्ष्णः १२-२४-२०
धुर्ययोर्हययोरकः ५-३२-८
धूतपापः स तेजस्वी १२-५४-२७
धूमायन्ते व्यपेतानि ५-११-२२
धृतराष्ट्रकुले कृष्ण ५-२९-१७
धृतराष्ट्रप्रयुक्तास्ते १-२२-२
धृतराष्ट्रमुपातिष्ठत् १५-१-५
धृतराष्ट्रश्च तद्वाक्यं १५-४-४१
धृतराष्ट्रश्च पाण्डुश्च १-८-७, ५-५-३
धृतराष्ट्रश्च भीष्मश्च २-६-४१
धृतराष्ट्रस्ततो भीष्मं ५-५-३०
धृतराष्ट्रस्तु तं हृष्टः २-१३-५५
धृतराष्ट्रस्तु तेनाह्वा १५-४-८४
धृतराष्ट्रस्तु राजर्षिः ११-६-१
धृतराष्ट्रस्त्वचक्षुष्ट्वात् १-८-१३
धृतराष्ट्रस्य तं कामं १-२२-७
धृतराष्ट्रस्य पुत्राणां ५-३०-३२
धृतराष्ट्रस्य ये पुत्राः ५-५-४
धृतराष्ट्रस्य वैश्यायां १-१०-२
धृतराष्ट्रं ततश्चैव ५-२७-९
धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य ५-२४-९,
१३-३१-१४, १३-३२-८
धृतराष्ट्रात्मजं तस्मै ९-१३-२५
धृतराष्ट्रादनु च ते १४-५-१०
धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञाताः ११-४-१
धृतिमानप्रमत्तश्च १२-६३-१०४
धृतिर्नाम सुखे दुःखे १२-४०-१७
धृतिस्थैर्यसहिष्णुत्वात् १-१९-२
धृतिः शमो दमः शौचं ५-१२-१०

धृत्या शिश्नोदरं ५-१२-६८, १२-६२-२१
धृष्टकेतुश्चेकितानः ६-३-५
धृष्टकेतुश्च चेदीनां ७-१७-८
धृष्टकेतुस्ततो राजन् ६-१६-२१
धृष्टकेतुः स्वसारं च ३-२-२३
धृष्टद्युम्न निबोधेदं ६-७-१९
धृष्टद्युम्न पलायस्व ७-४३-१०
धृष्टद्युम्नबलेन वै ९-९-११
धृष्टद्युम्नमहत्थाहं ८-१२-४५
धृष्टद्युम्नमुखान् पार्थान् ८-१०-२
धृष्टद्युम्नमुखास्त्वन्ये ६-२२-४३
धृष्टद्युम्नवचः श्रुत्वा ९-१२-२९
धृष्टद्युम्नश्च सेनानीः ५-३६-१६
धृष्टद्युम्नस्ततो द्रोणं ५-५-१५, ६-८-३९
धृष्टद्युम्नस्तु पाञ्चाल्यः १-३२-१
धृष्टद्युम्नस्तु मां दृष्ट्वा ९-१२-२८
धृष्टद्युम्न स्थिरो भूत्वा ८-२८-१९
धृष्टद्युम्नं च पाञ्चाल्यं ५-३४-२०
धृष्टद्युम्नं च समरे ७-४०-२३
धृष्टद्युम्नं च हत्वा सः १०-३-१६
धृष्टद्युम्नं तु संसक्तं ६-१०-४
धृष्टद्युम्नं मन्ये ५-३१-२२
धृष्टद्युम्नं सात्यकिं च १८-१-१६
धृष्टद्युम्नं हि विरथं ८-१३-१२
धृष्टद्युम्नः शिखण्डी च ६-२०-२
धृष्टद्युम्नः सहानीकः ७-२५-३
धृष्टद्युम्नादहं मुक्तः ९-९-१३
धृष्टद्युम्नोऽथ पाञ्चाल्यः ७-१८-३७
धृष्टद्युम्नो महाराज ९-१-१४
धृष्टद्युम्नो राजपुत्रस्तु १-३१-९
धृष्टं शूरं प्रहर्तारं १२-२३-२६
धैर्योपपत्तिर्व्यक्तिश्च १२-६३-१७७
धौम्यश्च कथं २-१८-४०
धौम्य-द्वैपायन-मुखैः २-६-२०
धौम्येन सहिता वीराः ३-१०-२०
धौम्यो रौद्राणि सामानि २-१८-४५
ध्मापयन् वारिजं राजन् ८-१-२५
ध्यानमध्यमनं दानं १२-५४-२५;
१२-६३-११७

ध्यानमूकत्वमापन्नं ११-१-४
ध्यायन्निव च मां राजन् १-५-३०
ध्रुव एव जयस्तस्य ४-१५-१२
ध्रुवमस्मत्सहायास्ते १-२१-२२
ध्रुवस्तत्र जयः कर्ण ७-२६-२९
ध्रुवस्ते विजयो राजन् ६-४-३९
ध्रुवं च त्वां हनिष्यामि ६-२७-१३
ध्रुवं दुर्योधनो वीरः ११-५-२१
ध्रुवं युधिष्ठिरं संख्ये ७-१-२८
ध्रुवं युधि हतास्तेन ५-५-२९
ध्रुवं वै ब्राह्मणे सत्यं ७-१०-१६
ध्रुवं हि युद्धे मरणं ७-८-३०
ध्रुवो जयः पाण्डवानां ५-३३-६
ध्वजं क्षत्रं पताकाश्चं ८-१२-३४
ध्वजं चास्य त्रिभिर्भल्लैः ६-५-३७
ध्वजं चिच्छेद भल्लेन ८-१०-२१
ध्वजं द्वाभ्यां तु चिच्छेद ६-६-१२
ध्वस्ताकारं समालक्ष्य ७-८-८

न

न कथञ्चन कौन्तेय ६-२६-२६
न कथञ्चन शस्त्राणि ७-४३-१९
न करिष्यति तल्लोके १४-१०-६८
न कर्णोऽभ्याधिकस्त्वत्तः ८-६-२०
न कर्मणा पितुः पुत्रः १२-६३-४९
न कर्माणि नियुक्तः सन् ४-२-१८
न कश्चिज्जात्वतिक्रमेत् १२-१०-१५
न कश्चित्कस्यचिन्मित्रं १२-३५-९८
न कातरं स्यान्मम ४-३-७१
न कामाननुरुद्ध्येत १२-५५-८
न कार्यमिह मे नाथ १२-३८-७९
न कालो दण्डमुद्यम्य २-२१-९
न कालोऽद्य विषादस्य ३-१९-७१
न कांक्षे विजयं कृष्ण ६-३-२३
न किञ्चिदवमन्येऽहं ८-८-६३
न किंचिदित्थं प्रवदन्ति २-१४-८
न कुट्यां नोदके सङ्गः १३-२५-२९
न कुर्यां कर्म बीभत्सं ४-१२-४६
नकुलस्तु ततः कर्णं ८-३-२
नकुलस्तु ततो विद्धः ८-३-९

नकुलस्तु तथेत्युक्त्वा ३-२३-१७, २०
नकुलं रभसं युद्धे ८-३-१
न कुलं वृत्तहीनस्य ५-९-२२
नकुलं सरथिं कृत्वा १०-५-३६
नकुलः पतितस्तस्मात् १७-२-१७
नकुलः सहदेवश्च ६-१७-५
नकुलः सहदेवो वा ४-१६-१२
नकुलः सहदेवोऽहं १८-२-२५
नकुलः सुबलं राजन् २-९-४५
नकुलो मूषकानत्ति १२-६-१७
न केनचित् प्रवादेन १२-४७-२६
न कोपः पाण्डवे कार्यः ११-४-४
न कोपाद् व्याहरन्ति ये १३-२६-१५
न कौणपाः शृङ्गिणो वा १-२९-३०
नक्तमेव च भक्तानि १२-१९-४२
नक्तं च बलमस्माकं १-२९-५८
नक्तंचर्या दिवास्वप्नं १२-२८-१०
न क्लीबो वसुधां भुंक्ते १२-५-५
न क्वचिद्धि मया तादृक् २-११-१४
न क्षंस्यन्ते तथास्माभिः २-१७-१०
नखकेशदशाकुम्भवारिणा १६-५-४
न गच्छेयमहं तस्य ४-६-१०
न गृहं गृहमित्याहुः १२-३८-२४
न च कश्चित्कृते कार्ये १२-३५-९९
न च कश्चिद् गृहे ५-२२-३
न चकार तथा राजा १-१०-६
न च किञ्चिदथोचुस्तं २-१८-४
न च क्षान्तेन ते नित्यं १२-१४-१४
न चक्षुषा न मनसा १२-५६-४
न च तत्कारणं विद्म. ५-२३-८
न च तं कृष्ण पश्यामि ५-२५-२०
न च तं ममृषे भीमः ६-९-११
न च तानपि दुष्टात्मा ५-१७-८
न च तावत् क्षमः पार्थं ७-२२-२७
न च तेभ्यो भयं ते अस्ति ६-२-२४
न च ते भ्रातरः पार्थं १८-३-१७
न च ते मानुषेष्वेतत् १-१५-६३
न च तेऽयं समारम्भः ५-३०-३३
न च त्वत्तो हि राधेयः ८-६-२२
न च द्वितीयं व्यसृजत् ७-५-६९
न च धर्मं यथावत्त्वं ३-१५-२४
न च पश्यामि दाशार्ह ८-१४-३
न च पश्यामि यः पार्थं १-३५-४०
न च प्रणीयते चक्षुः १-१३-४५
न च प्रतिनिधिं कर्तुं १४-१-३१
न च फलति विकर्मा १४-३-२३
न च भीष्मो न च द्रोणः १-२१-२५
न च भोक्ष्ये न पनीयं १२-१०-८
न च मन्युस्त्वया कार्यः १८-३-४
न च मामद्य सौभद्रः ७-८-११
न च मृत्योर्न चाधर्मान् १२-५७-१२
न च मे तत्र कोपो भूत् २-१५-४
न च मे तद् वचो मूढः १३-३२-३६
न च मे प्रतिमा काचित् १२-१३-२९
न च मे विद्यते वित्तं १-२७-६३
न च रक्षोगणभयं १०-८-३०
न च राजभयं तेषां १३-२७-९
न च राज्यसमो धर्मः १२-३५-२७
न च वश्यो भवेदस्य १२-१९-१७
न च वित्तेन शक्योऽसौ ५-२१-९
न च शक्यमवस्रष्टुं ६-२३-२५
न च शक्या रणे सर्वे ७-२-१३.
न च शत्रुरवज्ञेयः १२-१६-११
न च शोचामि गान्धारीं १५-८-३१
न च सान्येषु देशेषु १५-४-१४
न च स्म किंचिच्छक्नोति १-३६-३८
न च स्वपिषि जागर्षि ५-१९-१३
न चाकामः शकुनिना २-१२-१४
न चाऽऽत्माधिकारेण १२-१७-२९
न चात्मा रक्षितव्यो वै ७-२०-५७
न चात्र शूरान्मोक्ष्यामि ७-३०-३१
न चाददीत वित्तानि १२-१५-१६
न चाद्भुतमिदं मन्ये ७-४१-२६
न चानार्यसमाचारः ३-१६-४९
व चानुलिम्पेदस्नात्वा १३-१७-३५
न चानुशिष्याद् राजानं ४-२-८
न चान्नदोषान्निन्देत् १२-५६-८
न चापि कर्णं गुरुपुत्र ८-२३-१९
न चापि कर्णं प्रसहेत् ८-२३-१८
न चापि गच्छेत् कार्येण १३-१७-३३
न चापि तव संकल्पं २-१-७
न चापि तेषां वीराणां १-३३-५१
न चापि पाण्डवा युद्धे ७-४-४७
न चापि मम पर्याप्ताः ५-१७-१९
न चापि वयमुग्रेण ५-२५-१९
न चापि विद्यते कश्चित् ४-३-६
न चाप्यवहसन् कञ्चित् १२-३-९
न चाप्याहं त्वया लभ्याः ४-५-२८
न चाप्यहं वर्तयन्ती १-१२-१०
न चाप्यहं वृथा भूयः १-५-३४
न चाप्येतान् हतान् युद्धे ११-१-३०
न चार्थो भैक्ष्यचर्येण ३-५-१७
न चावाभ्यामृतेऽन्योस्ति७ -५-२५
न चासीतासने भिन्ने १३-१७-४४
न चासौ राक्षसः शक्तः १-२७-७३
न चास्माञ्शरणं गच्छेत् ८-७-५४
न चास्य जीविते राजन् ११-२-३५
न चास्य तृष्णा विरता ११-२-३४
न चास्य रक्षां पश्यामि ८-१९-११
न चाहं किञ्चिदपत्यर्थं ५-२५-१६
न चाहं कामये पापं ५-३४-५७
न चाहं कामये यक्ष ३-२४-११
न चाहं लक्षये कञ्चित् ५-२५-१५
न चाहं शीघ्रयानेऽद्य ७-१२-१५
न चाहं समरे तात १०-२-१९
न चेच्छाम्यमवस्रष्टुं ६-२३-२८
न चेतयति वो राजा ३-१७-१६
न चेत् स ममं राजेन्द्र ३-२-१५
न चेत् संवास्यसे राजन् ५-२५-३९
न चेदद्य हि तं वीरं ८-१७-१५
न चेदेवं प्राप्तंकालं वचो मे ६-२९-३२
न चेद्भागं कुरवोऽन्यत्र युद्धात् ५-६-२३
न चेद् युधिष्ठिरं वीरः ७-२-१७
न चेद् राज्यं त्यजति धार्तराष्ट्रः ५-१३-८
न चेद् विजित्य गास्तास्त्वं ४-१२-१२
न चेर्ष्या स्त्रीषु कर्तव्या १३-१७-६८
न चैकत्र समासक्तः १२-२५-३३
न चैकेन परिव्राज्यं १३-१७-७३
न चैतच्छ्रद्दधे वाक्यं ५-३०-२५
न चैतदनुरूपं ते ५-१८-२१

न चैतद् विद्मः कतरन्नोगरीयः ६-३-३४
न चैते तव पर्याप्ताः ५-२४-५०
न चैनमशक्तस्थानात् १०-६-२२
न चैव मामकं कञ्चित् ६-१८-२
न चैवं नैष्ठिकं कर्म ५-१७-३७
न चैवं वर्तितव्यं स्म १२-३३-३
न चैवात्मावमन्तव्यः ३-४-६३
न चैवात्र दया कार्या [illegible]-३-४०
न चैवाविहितं शक्यं १२-४५-९
न चैष पतितः कृष्ण ९-२०-६
न चोक्ता नैव चानुक्ता २-१६-२७
न चोत्सहे तपोविघ्नं १५-७-४९
न चोपविष्टस्तस्यासीत् ७-८-१६
न चोष्ठौ न भुजौ जानू न ४-२-१४
न छन्दांसि वृजिनात्तारयन्ति ५-१०-७
न जातु कामान्न भयान्न लोभात्
५-१२-६१, १८-४-१२
न जातु गमनं पार्थ ५-१७-३१
न जातु त्वामिति ब्रूयात् १३-२८-२८
न जात्वदक्षो नृपतिः १२-२८-२८
न जात्वस्य च वंशस्य १५-४-३२
न जानपदिकं दुःखं ११-१-३८
न जानीते हि यः श्रेयः ९-२-२६
न जायते म्रियते वा कदाचित् ६-३-४६
न जीवनाशोऽस्ति देहभेदे १२-६३-७५
न ज्येष्ठो वावमन्येत १३-१८-६
नटांश्च नर्तकांश्चैव १२-१९-५०
न तत्तरेद् यस्य न १२-३७-४६
न तत् परस्य संदध्यात् ५-१२-४६,
१३-२१-४८
न तत्र कृपणः कश्चित् १४-१०-५१
न तत्र वर्णेषु कृता विवक्षा १-३२-२१
न तत्राविदितं ब्रह्मंल्लोके ५-५-२१
न तत्रासीत्पुमान् कश्चित् ६-१९-१४
न तथा बलवीर्याभ्यां ६-२-४६
न तथा बाध्यते कृष्ण ५-१७-१२
न तथा राज्यसम्प्राप्तिः १-३४-२३
न तथा ह्याप्नुयां प्रीतिं ३-१६-२६
न तद्धनुर्मन्दबलेन शक्यं १-३२-२३

न तद् भूतं प्रपश्यामि ८-८-२०
न तयोर्विवरं कश्चित् ६-८-३१
न तस्य दासा न रथः ३-९-२९
न तस्यैष वधस्तात ११-४-२८
न तं देशं प्रपश्यामि ९-८-१६
न तं देवा न गन्धर्वाः ७-३६-१२
न तं पश्यामि लोकेऽस्मिन् ८-१९-१०
न तात चपलैर्भाव्यं ३-१४-२४
न तादृशा विनश्यन्ति ४-९-१८
न तां स्वर्गगतिं प्राप्य १-२-१८
न तु कश्चिन्नयेत् प्राज्ञः १३-३०-९
न तु केनचिदत्यन्तं ४-८-३९
न तु तावदहं मन्ये ७-३०-१५
न तु ते युधि संत्रासः ७-९-१२
न तु त्वं धर्ममुद्दिश्य ५-२१-६
न तु त्वामनृतं कर्तुं ६-२६-१४
न तु द्विजोऽयं भविता ४-३-१५
न तु पापकृतां राज्ञां १३-१४-३४
न तु बालानिमान् दीनान् १४-१-२७
न तु युक्तं रणे हन्तुं ५-३७-३१
न तु वाच्यो मृदुवचः ५-१-४५
न तु शक्यं जरासन्धे २-३-१८
न तु हन्यान्नृपो जातु १२-२५-९
न तृप्तिः प्रियलाभेऽस्ति १२-४७-२१
न ते चालयितुं शक्याः १२-४२-१७
न ते जातु नशिष्यन्ति ५-३०-३६
न ते नियुद्धे न जवे १-१३-९
न ते प्रकृतिमान् वर्णः ४-७-८
न ते राज्यं प्रयच्छन्ति ५-३१-८
न तेऽर्जुनस्तथा ज्ञेयः ७-१८-१६
न ते श्रुतमिदं भीष्म २-८-४४
न तेषां भिद्यते वृत्तं १३-२८-७
न तेषां विद्यते दुःखं १३-२७-१२
न तेषां स्खलितं किञ्चित् १४-१०-४८
न ते सौम्य भयं कार्यं १२-३५-६२
न तेऽस्त्यविदितं किञ्चित् ९-२२-२४
न त्यागो न पुनर्याच्ञा १२-९-६
न त्वन्यमिह मार्जारत् १२-३५-५५
न त्वमर्हसि पार्थेन १-१७-४१

न त्वयं पार्थिवेन्द्राणां २-७-४१
न त्वया सदृशः कश्चित् ६-२३-१४
न त्वयेदं श्रुतं राजन् २-१७-७
न त्वहं तव धर्मज्ञ २-८-५०
न त्वहं युद्धमिच्छामि ५-१५-१६
न त्वं करोषि कामेन ५-१५-१७
न त्वं कापुरुषाचीर्णं ८-२५-३२
न त्वं धर्मं विचरं सञ्जयेह ५-६-३६
न त्वं भीमो न नकुलः ९-१६-११
न त्वात्मनो गुणान् वक्तुं ५-३५-१२
न त्वां प्रभिन्नं जानामि १६-५-५
न त्वां ब्रवीमि कार्पण्यात् [illegible]-२-३१
न त्वां सन्देष्टुमर्हामि २-१८-२२
न त्विदं केषुचिद् ब्रह्मन् १-२७-७६
न त्विदानीमहं मन्ये ९-१४-३२
न त्वेतत्ते क्षमं राजन् ११-३-३३
न त्वेतत् सहसा पार्थ ३-६-४७
न त्वेतदद्भुतं वीराः ९-१३-१३
न त्वेवास्मद्विधः प्राज्ञः १२-३५-५३
न त्वेवाहं जातु नासं ६-३-३९
न त्वेवोत्सादनीया मे ५-३२-२५
न दद्याद् यशसे दानं १२-९-४७
नदन्ति नाद्य तूर्याणि ७-८-९
न दरिद्रो वसुमतः १-१४-२३
न दारा न च पुत्रः स्यात् १२-१८-२५
न दिवा मैथुनं गच्छेत् १३-१७-५९
न दिष्टमभ्यतिक्रान्तुं ५-१२-७१
नदीतीरेषु रम्येषु १५-६-१७
नदीमार्गेषु च तथा १२-१९-३९
नदीं प्रवर्तयित्वा च ८-१९-२
न दुष्करतरं दानात् १२-३९-३७
न दुष्करमिदं पुत्र १२-६३-२४
न दुःखं राज्यहरणं ५-२२-१७
न दूरं नगरं मन्ये १-२५-७२
न दूषयामि ते राजन् ४-१५-५१
न दृष्टं न श्रुतं वापि ६-१२-९
न देवा दण्डमादाय ५-१०-५
न देवितव्यं हृष्टेन ४-१५-१९
न दैवस्यातिभारोऽस्ति १०-४-४

न द्वितियां प्रतिज्ञां हि ५-३४-५५
न धर्मंधनसौख्येन ३-१९-६४
न धर्मंपर एव स्यात् ३-५-१४
न धर्मंफलमाप्नोति ३-४-४४
न धर्मंसौक्ष्म्यात्सुभगे २-१४-४३
न धर्मः प्रीयते तात १४-११-८०
न धर्मार्थी नृशंसेन १२-६०-३०
न धर्मोऽस्तीति मन्वानः १२-२८-२३
न ध्रुवं सुखमस्तीति ९-२-५०
न नग्नः कर्हिचित्स्नायात् १३-१७-३४
न नश्यति कृतं कर्म १३-४-५
न निद्रामभिगच्छामि ३-५-४०
न निर्दहति ते यावत् ६-२९-२६
न निर्मन्युः क्षत्रियोस्तु ३-४-१६
न निवर्तयितुं चापि ६-१०-२२
ननु त्वमार्यधर्मज्ञा १४-९-२१
ननु नामाङ्कमारोप्य १-३-८५
ननु नामास्त्रधर्मज्ञः ७-२०-४७
ननु रामोऽब्रवीद् राजन् १०-४-१३
न नूनं.तस्य पापस्य ३-४-३
न नूनं विद्यते सत्यं ९-२४-६
नन्दामि वः प्रभावेण १२-२७-२३
नन्दामि सौम्य भद्रं ते १२-३५-६८
नन्वद्य त्वां सहामात्यं १-२४-२१
न न्याय्यं निहतं शत्रुं ९-२१-१०
नन्वहं कृष्ण भीष्मस्य ५-१९-९
न परस्यप्रवादेन १२-२५-८
न पाणौ लवणं विद्वान् १३-१७-५५
न पाण्डवान् प्रतिबलांस्तव ६-११-१५
न पाण्डवेया न वयं ७-३६-६
न पापकं ध्यास्यति ३-१६-१२
न पार्थिवमिदं राज्यं १२-९-२७
न पार्षतो दुरात्मासौ ७-४०-३०
न पुत्रधनलाभेन ३-१६-२२
न पुत्र भीमं पश्यामि १-१३-४२
न पुत्रमभिजानामि १-३-८९
न पुत्रः पितरं जज्ञे ६-५-२१
न पुरा भीमसेन त्वं २-१५-६
न पुल्कसो न चाण्डालः १२-४७-२३
न पूर्वे नापरे जातु १२-४५-१६
न पृथिव्या सकलया ५-२९-१६, १२-१-१७
न प्रदास्यति चेद्राज्यं २-१७-७२
न प्रमत्ताय भीताय ७-२०-४८
न प्राणहेतोर्न भयात् ९-१४-२५
न बाह्यं द्रव्यगुत्सृज्य १४-१-३९
न बिभेति यदा चायं १२-८-९, १२-४३-२१
न ब्रवीम्युत्तरे मिथ्या १४-४-४६
न भक्षयति यो मांसं १३-२१-६, १३-२१-१२
न भग्ने नावशीर्णे च १३-१७-३२
न भयं विद्यते जातु १३-२१-४१
न भयं विद्यते राजन् १२-३५-१५६
न भर्तुः शासनं वीराः ९-८-७
न भीमं समरे मेने ६-९-१२
न भुङ्क्ते मय्यभुक्ते सा १२-३८-२५
न भूमिदानाद् राजेन्द्र १३-१४-५८
न भेतव्यं नरव्याघ्र ७-९-७
न भेतव्यं महाराज ५-१५-१
न भोक्ष्ये न च जीविष्ये १६-३-२१
न मत्तो दुःखिततरः ३-९-२४
न मनुष्ये गुणः कश्चित् ५-११-२९
न मन्युर्हृदि नः कश्चित् १५-२-४०
न मम जयः प्रीतिकरः ७-७-९
न ममैतन्मतं कृष्ण ५-१७-२६
न मया निर्जिता गावः ४-१५-६२
न मर्षणीयाः संग्रामे ७-३६-२
नमस्तस्मै सुपूज्याय ७-२२-१९
न माता न पिता किञ्चित् १२-६०-६१
न मादृशोऽन्यो नरदेव विद्यते ८-१६-१३
न मामधुरि राजेन्द्र ८-६-१३
न मामर्हसि गान्धारि ११-४-३६
न मामस्मादभिप्रायात् ८-७-२७
न मां प्रीणयते राज्यं १५-२-३१
न मां प्रीणाति मद्भुक्तं २-११-१३
न मां ब्रूयुरधर्मिष्ठाः ५-२३-३७
न मां माधव वैधव्यं ५-२२-१६
न मृतो जयते शत्रून् ३-१९-७०
न मृत्युसेनामायान्तीं १२-४४-२१
न मृष्याद् भृशसंक्रुद्धः ४-१५-४२
न मेऽकरोत् तद् गाङ्गेयः १०-४-२४
न मे कश्चिद् विजानीयात् २-१८-५३
न मे त्वत्तो भयं राजन् ८-१५-६
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं ६-३-६०
न मे सीदन्ति मज्जानः ५-१८-२९
नमो धात्रे विधात्रे च ३-४-३४
न यज्ञैर्दक्षिणावद्भिः ११-१-३२
न यस्य कूटं कपटं १२-१५-२७
न युक्तमात्मना वक्तुं ९-१५-३७
न युक्तं भवतास्मासु ५-२३-७
न युद्धे तात कल्याणं ५-२६-२१
न येषामस्ति संस्कर्ता ११-६-३
न योनिदोषो वर्तेत १२-१८-२७
न योऽभ्यसूयत्यनुकम्पते च ५-८-८१
नरकं पातिता पार्थाः २-१७-५०
नरनागाश्वमथनं ७-२८-३१
नरहस्तिरथाश्वानां ५-३२-६
न राज्यं प्राप्तमित्येव ५-९-४
न राज्यं त्यक्तुमिच्छामः ५-१७-१७
नरा नरान् समासाद्य ६-२०-४६
नरा विनिहताः सर्वे ९-१-१६
नरेणधर्मकामेन १-२-१७
नरेन्द्र बहुशोऽन्विष्टाः ४-९-४
नरेन्द्र सूदः परिचारके ४-३-२३
न रोचते मे संग्रामः ६-१३-६४
न रोचते विग्रहो मे १-३३-४०
नर्दित्वा सुमहानादं ६-२०-२१
न लुब्धो बुध्यते दोषान् ७-७-७
न लेभे स तु निद्रां वै १०-१-११
न लोके दीप्यते मूर्खः १२-५८-११
न लोभान्न पुनः कामान् ३-६-२३
न वक्ष्यामि न वक्ष्यामि १२-७-३
नवद्वारमिदं वेश्म ५-८-७५
न वधः पूज्यते लोके १०-२-२७
नवनीतं यथा दध्नः १-१-१२
नवनीतं सरस्वत्या १२-१८-५२

नवमीं दशमीं चास्य ८-२५-२२
न वयं तत् प्रहास्यामः ३-२५-३१
न वराहं न चोक्षाणं १३-१०-१६
नवं ततोन्यत् समरे प्रगृह्य ९-७-१२
न वाच्यः परीवादोऽयं १२-६३-३६
न वार्ष्णेस्यापराधः ७-२०-७८
न वासयेत् पारवर्ग्यं २-१३-१८
न विक्रमो न चाप्यर्थः ११-२-५४
न वित्तेन न पारुष्यैः १२-३६-२६
न विद्यते सन्धिरथापि १७-३-१५
न विद्वान् विद्यया हीनं १३-२९-८
न विना नायकं सेना ७-१-१५
न विप्रियं करिष्यामि ६-४-६१
न विमुञ्चति मां शोकः १२-१०-१
न विश्वसेच्च नृपतिः १२-१५-११
न विश्वसेदविश्वस्ते १-२०-३२,
५-१२-२, १२-३५-४७, १२-६३-४४
न विषादस्त्वया कार्यः १-२७-६६
न विषादोऽत्र कर्तव्यः १-२६-२१
न विस्मयते नृपते १४-११-९३
न वीर पत्नीं विहरेत १२-५३-१३
न वेत्ति कर्मतो भार्या १४-११-४१
न वेदानां परिभवात् १२-२२-१०,
१२-५३-१७
न वै तेषां स्वदते ५-११-२१
न वै देवा हीनसत्त्वेन १२-६१-२८
न वै परीक्षसे सम्यक् २-११-३
न वै भिन्ना जातु चरन्ति ५-११-२०
न वै मम हितं पूर्वं ५-३०-२७
न वैरमुद्दीपयति प्रशान्तं ५-८-८२
न वैराण्यभिजानन्ति २-१६-२४
न वै राज्यं न राजा १२-१८-३९
न वै श्रुतमविज्ञाय ५-१२-२६
न शक्याः पाण्डवा जेतुं ६-१९-३९
न शक्रभवने पुण्ये ५-२८-४९
न शङ्खलिखितां वृत्तिं १२-३५-१०
न शत्रुर्वशमापन्नः ५-१२-७
न शत्रुं तात पश्यामि ६-४-४३
न शशाक वशे कुर्तुं १-१९-१४
न शोचन्न प्रहृष्यंश्च १२-३-७
न शोचन् मृतमन्वेति ११-१-२६
न श्रुतेन न दानेन १२-५-१०
न श्रेयसे नीयते २-१३-२०
नष्टं च भारतं वंशं १-७-२९
नष्टं समुद्रे पतितं ५-१२-२७
नष्टायां प्रतिपत्तौ च १२-१८-४२
नष्टे धने वा दारे वा १२-९-३०,
१२-४३-१; २
नष्टे ब्रह्मणि धर्मे च १२-१८-४७
नष्टो मोहः स्मृतिः ६-३-६९
न सकामाः परे कार्याः २-१५-७
न स जातः पुमांल्लोके १०-२-४०
न सन्तापस्त्वया कार्यः १-२७-२४
न सन्त्याज्यं च ते धैर्यं १२-१४-२२
न सम्बन्धं पुरस्कृत्य २-८-९
न स रात्रौ सुखं शेते ५-१२-१२
न स वीरो न मातङ्गः ३-५-२५
न संशयमनारुह्य १-२०-४०
न संहताभ्यां पाणिभ्यां १३-१७-४५
न साम्ना प्रतिपद्येत ३-१७-१३
न सा सभा यत्र न सन्ति ५-१०-१७
न सा स्त्रीत्यभिमन्तव्या १२-३८-३६
न सूतेषु न धुर्येषु ६-१-१६
न सूदतां बल्लव ४-३-२२
न स्म तं तात पश्यामि ६-४-२८
न स्म मृत्युर्वयं २-४-२९
न स्मरामि कदा वैरं २-५-२३
न स्याद् यदिह दण्डो वै १२-१९-२७
न स्वप्नेन जयेन्निद्रां ५-१२-५१
न स्वे सुखे वै कुरुते प्रहर्षं ५-८-८३
न हन्तव्यो न हन्तव्यः ७-२०-७९,
७-३६-३६
न हन्तव्यो महाबाहो ३-२१-२९
न हर्षात् सम्प्रपश्यामि ३-१०-१८
न हायनैर्न पलितैः ५-३५-३६
१२-६३-१७०
न हास्यते कर्म यथाप्रतिज्ञं ६-१२-४१
न हि कर्णः समुद्भूतः ८-८-८४
न हि कश्चित् क्षमाकाले ३-४-१९
न हि कामात्मना राज्ञा १२-२३-१०
न हि कार्पण्यमास्थाय ५-१७-३९
न हि कार्यमकार्यं वा ८-१५-२५
न हि केवलधर्मात्मा ३-५-२२
न हि गाण्डीवमुक्तानां ३-५-२४
न हि जातु द्वयोर्बुद्धिः ५-३२-१९
न हि जात्ववमन्तव्यः १२-१८-३६
न हि जानाति बीभत्सुः ७-४०-२९
न हि जानामि वृत्तान्तं ७-२०-६
न हि ज्ञानविरुद्धेषु ११-१-४५
न हि तत् तस्य वीरस्य १५-१-१८
न हि तस्य महाबाहोः ५-१४-१७
न हि तामुत्सहे वक्तुं ४-८-२९
न हि ते त्रिषु लोकेषु ८-१५-४१
न हि तेऽभ्यगमज्जातु ३-४-३६
न हि ते राजशार्दूल ११-३-२९
न हि ते विग्रहं वीराः ५-५-८
न हि ते सम्भ्रमः कार्यः ७-२७-३५
न हि ते संयुगे पीडां ६-२७-१८
न हि त्वां गौरवेणाहं १५-६-६
न हि त्वां रथिनां श्रेष्ठं १०-२-१८
न हि दासीत्वमापन्ना २-१४-४
न हि दुःखं समाप्नोषि ४-८-३७
न हि दुःखेषु शोचन्ते १२-६३-९१
न हि देवेषु यक्षेषु ५-३६-६
न हि दैवेन सिध्यान्ति १०-१-३२
न हि धर्मविभागज्ञः ८-१५-२३
न हि धर्मं परं जातु २-८-४
न हि पश्यामि जीवन्तं १२-६-१६
न हि पश्यामि तं लोके ९-१६-१०
न हि पश्यामि योद्धव्यं ८-१५-१७
न हि पश्यामि संग्रामे ४-१३-१३
न हि प्रमत्तेन नरेण शक्यं १०-५-१२
न हि प्राणात् परमस्ति १०-५-११
न हि प्राणात् प्रियतरं १३-२१-३८
न हि बुद्ध्यान्वितः प्राज्ञाः १२-३५-५४
न हि भीष्मकृपद्रोणाः ५-२५-२१
न हि मद्बाहुगुप्तस्य ७-९-१३

न हि मद्राधिपादन्यः ९-५-१२
न हि मानं प्रशंसन्ति २-१२-२४
न हि मामाहवे क्रुद्धं १-३१-१९
न हि मांसं तृणात्काष्ठात् १३-२१-२०
न हि मे जीवितेनार्थः ७-२४-११, ११-४-४३
न हि मे राक्षसा भीरु १-२५-२७
न हि मे विक्रमे तुल्यः ५-३३-१४, ७-४३-२०
न हि मे शाम्यते मन्युः ८-२२-२५
न हि मे शुध्यते भावः ७-१८-१४
न हि मोघः शरः कश्चित् ६-१२-१४
न हि यज्ञसमारम्भः २-३-६
न हि याचन्ति राजानः ३-१२-१८
न हि युद्धेन पुत्रस्ते ११-४-१९
न हि योगं प्रपश्यामि १-२७-२१
न हि राज्ञा प्रमादो वै १२-२४-६
न हि राज्ञामुदीर्णानां १-१४-२२
न हि राज्यं महाप्राज्ञ ५-२६-१४.
न हि वैराणि शाम्यन्ति १२-३६-२७
न हि शक्तोऽसि मार्जारः १२-३५-६४
न हि शक्यो रणे जेतुं ६-८-३३
न हि शक्यो रणे पार्थः ७-२-१८
न हि शान्तिं प्रपश्यामि १४-१-१६
न हि शूराः पलायन्ते ९-१४-१७
न हि शौर्यात्परं किञ्चित् १२-६३-१३
न हि सत्यादृते किञ्चित् १२-१४-६
न हि स मोक्ष्यते जीवन् ३-२१-२८
न हि सम्बुध्यते यावत् २-८-३१
न हि साम्ना न दानेन १-३३-५५ ५-१९-३
न हि सोऽस्ति पुमान् ६-२-५१
न हिंस्यात् परवित्तानि १२-१५-७
न हिंस्यात् सर्वभूतानि १२-५६-५, १२-६२-८
न हिंस्या मानुषा भूयः १-२८-४३
न हीमे सर्वराजानः ५-२४-५१
नहुषस्तु ततः श्रुत्वा १३-१३-१६, १३-१३-३२
न ह्यृष्यत्यात्मसम्माने ५-८-१८
न ह्यज्ञातमसाध्यं वा ७-६-९
न ह्यतः सदृशं किञ्चित् १३-२१-४०
न ह्यधर्मतया धर्मं १३-३०-६
न ह्ययुक्तं न चासत्यं १-३६-३
न ह्यवश्येन्द्रियो राज्यं ५-२६-१५
न ह्यहं तत्र यास्यामि १८-२-३६
न ह्यहं नाप्ययं मृत्युः १३-१-२७
न ह्येवं मित्रकार्याणि १२-३५-९२
न ह्येष समरे शक्यः ६-१०-२१
नाकम्पत महाबाहुः ७-२८-२२
नाकरोद् वचनं देव्याः १-७-४५
नाकर्मशीले पुरुषे वसामि १३-५-५
नाकल्याणं न कल्याणं १२-३-१३
नाकामयत तं दातुं १-५-२६
नाकारो गूहितं शक्यः ७-२-११
नाक्रोशमृच्छेन्न वृथा १२-५३-११
नाक्षैर्दीव्येन्नाददीतान्यवित्तं १२-५३-१०
नागानीकेन महता ७-११-२६
नागायुतसमप्राणाः १-७-३७
नागाश्च रथिनः सर्वे ४-१४-७
नागेन पीड्यमानः स ६-१३-५६
नाग्निर्दहति काष्ठानि १३-२७-११
नाग्निं परित्यजेज्जातु १३-७-१
नाघ्नतः कीर्तिरस्तीह १२-६-१५
नाचक्षुर्वेत्ति पन्थानं १-२२-४८
नाचार्यः कामवान् शिष्यैः ५-३०-८
नाचिरं निहतस्तस्य ४-११-२८
नाच्छित्वा परमर्माणि १-२२-४२, १२-६-१४
नाजितान् वै नरपतीन् २-५-३५
नातः कार्यतमं मन्ये ६-२-१७
नातः श्रीमत्तरं किञ्चित् ५-१२-३७
नातिक्रमिष्यते कृष्णः ९-२-३०
नातिदूरमथो गत्वा ४-१२-४
नातिदूरं ततो गत्वा ९-१२-२०
नातिभारोऽस्ति दैवस्य ११-५-५१
नातिलक्ष्यतया कश्चित् ६-१३-१२
नातिवृद्धमबालं च ६-१५-१५
नातृप्यद् दर्शने तेषां ४-१६-२८
नात्मनोऽस्ति प्रियतरः १३-२१-४७
नात्यक्त्वा सुखमाप्नोति १२-६३-६६
नादण्डः क्षत्रियो भाति १२-५-६
नादातारं भजन्त्यर्था १३-३-१५
नादस्यच्चेद् वरं मह्यं ७-१२-९
नादृश्यत तदा राजन् ७-३-३५
नाद्य शक्या मया हन्तुं १०-१-२०
नाधनो धर्मकृत्यानि १२-२-१९
नाधर्मश्चरितः कश्चित् १७-२-५
नाधर्मश्चरितो राजन् १२-२८-५१
नाधर्मेण महीं जेतुं १२-२८-५६
नाधर्मे ते धीयते पार्थ बुद्धिः ५-६-२७
नाधर्मो विद्यते कश्चित् ५-१-४०
नाधर्म्यमभवत् तत्र १४-१-४९
नाधितिष्ठेत् तुषं जातु १३-१७-३९
नाध्यापयेत् तथोच्छिष्टः १३-१७-४६
नाध्यापयेदधीयीत १२-१७-१०
नानारूपविकाराश्च ५-३२-१२
नानारूपाणि शस्त्राणि ९-५-३१
नानारूपा मधुकरा ११-२-३१
नानाविधानि शस्त्राणि ६-२२-४७
नानाशनः स्यान्न १२-५३-१२
नानाशस्त्रविदः पूर्वे १०-७-२४
नानृती पाण्डवो ज्येष्ठः ७-४१-३२
नानृते कुरुषे भावं ३-१४-१५
नान्तं गच्छामि हर्षस्य ७-२२-५३
नान्धः कुरूणां नृपतिः १-७-३८
नान्यत्र विद्यातपसोः ५-११-१६, १२-६३-१०८
नान्यथा तन्महाबाहो १-५-४५
नान्यमस्यानुपश्यामि ९-१६-५
नान्यः कर्ता ऋते भीमात् ४-७-३
नान्यानपीडयित्वेह १२-३५-१५
नान्वबुध्यत तद् राजा १५-२-१३
नापराध्यति बीभत्सुः ११-४-१२
नापरीक्ष्य नयेद्दण्डं १२-२०-७
नापश्यत् तत्र किंचित् सः ३-२३-३५
नापश्यत् समरे कञ्चित् ९-१२-१७

नापश्यन्त रणे योद्धाः ७-२८-३०
नापि वैरं न सौहार्द ८-८-१२
नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात् १२-५८-१२
नाप्राप्तकालो म्रियते १३-२९-१०
नाप्राप्य पाण्डवैश्वर्यं २-११-५४
नाप्राप्यभभिवाञ्छन्ति ५-८-१६
नाबीजं जायते किञ्चित् १३-३-४
नाबीजाज्जायते किञ्चित् १२-६०-१०
नाभवत्कृपणः कश्चित् १-८-५
नाभवन् दस्यवः केचित् १-८-३
नाभागधेयं प्राप्नोति १३-२९-१
नाभिनन्दामि ते राजन् २-११-३२
नाभीतो यजते राजन् १२-६-१३
नाभ्यनन्दन्त सैन्यानि ७-२०-७७
नाभ्यसूयामि ते वाक्यं ५-१-३१,
७-१२-१३, ९-२-४६
नाममात्रेण तुष्येत ५-१२-६
नामर्षयत् ततस्तेषां २-१०-९
नाम विश्राव्य तु वक्रः १-२८-३४
नाम विश्राव्य वै संख्ये ५-२८-३६
नामानि चक्रिरे तेषां १-११-२३
नामृष्यत पुरो योऽसौ ५-३३-११
नायमर्हति वार्ष्णेयः २-७-२४
नायं परस्य सुकृतं १२-६०-१५
नायं पापसमाचारः ३-२१-४१
नायं प्रतिबलो भीरु १-२५-३४
नायं युक्तः समाचारः २-७-२५
नायासयामि भर्तारं १३-२३-१६
नारदस्त्वब्रवीत् काले १२-१-५
नारदं प्राञ्जलिं दृष्ट्वा १३-९-३
नारदेनैवमुक्तस्तु १८-१-१२
नारदेनैवमुक्तोहं १३-१४-७८
नाराजकेषु राष्ट्रेषु १२-१८-४
नारीणां चिरवासो हि १-३-५९
नारीं विगतकामास्तु ५-८-६९
नारुन्तुदः स्यान्न नृशं- २-१४-६,
१२-६०-७, १३-१७-२१
नार्थो न धर्मो न यशः १२-६२-१६
नार्थो न धर्मो न सुखं ११-१-४०

नार्यः पतिव्रताः सर्वाः १४-१-५१
नाहंसीहासुखं वस्तुं ४-५-१७
नाहंसे मां सहस्राक्षः १३-२-१९
नाहंस्येवं वरारोहे ४-५-२३
नालमेष क्षयं कर्तुं ६-७-९
नालसाःप्राप्नुवन्त्यर्थान् १२-३७-१७
नालं सुखाय सुहृदः १२-१०-३३
नालाभकाले लभते १३-२९-२
नावमन्येदभिगतं १३-१४-७०
नावमन्ये न गर्हे च ३-४-५०
नावमन्ये नरव्याघ्र १-२५-३५
नावमानं कुलस्यास्य १-३५-३४
नावहास्या यथा वीर ६-२७-२०
नाविद्यत तदा विप्राः १४-११-२५
नाविद्यो नानृजुः १२-६३-२६
नावि नौरिव सम्बद्धा २-८-३७
नाशक्नुवंश्च भूतानि १-३६-३९
नाशयेद् बलवर्हाणि १२-६३-३०
नाश्रोत्रियः श्रोत्रियस्य १-१४-२५
नाश्वेन रथिनं यायात् १२-२८-४७
नाषडङ्गविदत्रासीत् १४-१०-५४
नासतो विद्यते भावः ६-३-४३
नासम्यक्कृतकारी स्यात् १-२०-७,
१२-३७-३९
नासीच्चौरभयं तात १-३-२
नासीत्तत्र पुमान् कश्चित् ६-१०-८
नासूयको न चापीर्षुः ४-९-२७
नास्तिकः सर्वशङ्की च १२-४७-३०
नास्तिकान्निरनुक्रोशान् १२-६३-१६६
नास्तिक्यमनृतं क्रोधं २-२-६१
नास्तिक्यं वेदनिन्दां च १३-१७-२७
नास्ति जातु रिपुर्नाम १२-३५-१२०
नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य १२-५७-८
नास्ति भर्तृसमो नाथः १२-३८-७८
नास्ति भार्यासमो बन्धुः १२-३८-३२
नास्ति भूमिसमं दानं १३-१४-५९
नास्ति मातृसमा छाया १२-५२-२१
नास्ति मैत्री स्थिरा नाम १२-३५-१२१
नास्ति यज्ञक्रिया काचित् १३-१२-१६

नास्ति लोके पुमानन्यः २-५-३२
नास्ति विद्यासमं चक्षुः १२-४४-२६,
१२-६२-१
नास्ति सत्यसमो धर्मः १-३-१००
नास्ति सत्यात्परो धर्मः १२-४०-२१
नास्ति सांख्यसमं ज्ञानं १२-६३-१५२
नास्माकं निकृतिर्वह्निः ९-१९-६
नास्मि कर्णं धनुर्वेदः १-३१-२०
नास्मि देवी न गन्धर्वी ४-३-३७
नास्मिञ्जातु कुले जातः ५-२८-४१
नास्मि भीतो महाबाहो ५-३३-२३
नास्मि लभ्या विराटेन ४-३-४४
नास्मै देयो ह्यनुनयः २-८-५
नास्य कृत्यानि बुध्येरन् १-२०-४४
नास्यच्छिद्रं परः पश्येत् १-२०-६
१२-२४-४९
नास्य युद्धे समं मन्ये ७-६-४८
नास्याहं न मदीयोऽयं १३-२४-६
नास्येन्द्रियमनेकाग्रं १२-६३-१०६
नाहत्वा विनिवर्तिष्ये ८-१७-३१
नाहत्वा सर्वपाञ्चालान् ७-२३-२९
९-१३-१८
नाहमात्मफलार्थं वै १५-४-७७
नाहमादातुमिच्छामि १०-१०-६२
नाहमेतत् करिष्यामि १-२७-६९
नाहं कर्मफलान्वेषी ३-४-४२
नाहं कामान्न संरम्भात् ५-२३-१०
नाहं काषायवसना १३-२३-५
नाहं जनं निर्दहेयं २-१८-४८
नाहं जीवति गाङ्गेयः ५-३२-२९
५-३५-४२
नाहं तथा ह्यर्जुनाद्वासुदेवात् ५-६-१
नाहं तातस्तव पितुः ६-२६-३७
नाहं ते विप्रियं कान्त १२-३८-७४
नाहं त्वया समेष्यामि १२-३५-१३५
नाहं बिभेमि कृष्णाभ्यां ८-८-९
नाहं भवति न द्रोणे ५-१५-१८
नाहं भीषयितुं शक्यः ८-८-८२
नाहं भ्रातृवचो जातु १-२५-१२

नाहं मनांस्याददेयं २-१८-५४
नाहं राजा भवान् राजा १५-२-३९
नाहं राज्ञो धृतराष्ट्रस्य २-१२-१३
नाहं राज्यसुखान्वेषी १२-२३-११
नाहं राज्यं प्रदास्यामि -४-१३-१६
नाहं विना यदुभिर्यादवानां १६-२-९
नाहं वृष्णिप्रवीरेण १६-४-२
नाहं शतसहस्रेण १३-१३-२३
नाहं शप्तः प्रतिश्यामि १२-६१-१८
नाहं शरीरेण वसामि १३-५-१४
नाहं शोचामि तनयं १४-९-२३
नाहं सहायः पार्थस्य ५-३-२३
निकृतिर्देवनं पापं २-११-२३
निकृत्या कामये नाहं २-१२-२७
निकृत्या निकृतिन मे ९-१४-३
निकृत्या निकृतिप्रज्ञाः ३-९-७
निकृत्या वञ्चिताः पार्था ७-२४-१६
निक्षिप्य मानुषं देहं १७-३-६
निक्षेप्स्यन्ति च शस्त्राणि ७-४३-१५
निगृह्यमाणः पार्थेन ६-२५-४४
निगृह्य वासुदेवस्तं ७-८-२८
निग्रहेण च पापानां १२-२८-६०, १२-६३-८
निग्राह्यलक्षणं प्राप्तिः २-४-८
नित्यतृप्तः सुसन्तुष्टः १२-५६-९
नित्यपुष्पफलाश्चैव १२-११-२४
नित्यप्रभिन्नान् मातङ्गान् ५-२०-१३
नित्यमग्नि परिचरेत् १३-१६-२३ १३-१७-२९
नित्यमर्थेषु सर्वेषु १२-२४-३०
नित्यमुद्यतदण्डश्च १२-२३-५
नित्यमुद्यतदण्डस्य १२-३७-७
नित्यमुद्यतदण्डः स्यात् १-२०-४ १२-१९-२५, १२-३७-६
नित्यमुद्यतदण्डाद्धि १-२०-५
नित्यमेव शृगालस्त्वं ८-७-३९
नित्यं क्रोधात्तपो रक्षेत् १२-६२-४
नित्यं च बहु दातव्यं १२-६३-१४८
नित्यं शमपरा ये च १३-९-१७
नित्योद्विग्नमिदं सर्वं ५-११-१५
नित्योद्विग्नाः प्रजा यस्य १२-३६-३५
नित्योद्युक्तेन वै राज्ञा १२-१५-१
निदेशाद् धर्मराजस्य २-१७-७६
निद्रातन्द्रे क्रोधहर्षौ ५-२२-२१
निद्रान्धास्ते महाराज ७-३५-८
निद्रार्तमर्धरात्रे च १०-१-२५
निधनं वासुदेवस्य १६-१-५
निन्दते स्वानधिकारान् १२-१४-३०
निपातितस्यन्दनवाजिनागं ८-२६-३४
निमित्तानि च पश्यामि ६-३-२२
निमीलिताक्षं तं वीरं ६-३०-४
निमेषान्तरमात्रेण ४-१४-१७
निमेषार्धेन कौन्तेयं ६-१८-२४
नियच्छ यच्छ संयच्छ १२-६३-१९
नियतस्त्वं नरव्याघ्र १२-१८-३८
नियतं तं विजेष्यामि २-११-१९
नियन्तु शिल्पयत्नाभ्यां ७-५-१९
नियमानां फलं राजन् १३-१५-९
नियम्याः सर्वं एवैते १२-२७-३४
निरन्तरं च मिश्रं च १२-६०-१२
निरमर्षं निरुत्साहं ५-२८-२५
निराबाधास्त्वयि हते १-२५-४५
निरामिषा न शोचन्ति १२-६२-१०
निराशीः स्यात्सर्वसमः १२-१७-२६
निरीक्षमाणास्तु वयं ७-६-१३०
निरुष्य हि वने वासं ४-१३-२८
निर्गम्य चन्द्रोदयेन ३-८-११
निर्जग्मुस्ते शनैः सर्वे ३-११-११
निर्जने तु वने यस्मात् १-३-३८
निर्जनेयं वसुमती ११-१-६
निर्जने विपिने रम्ये १-३-३६
निर्जिते मयि युद्धेन ६-२६-२७
निर्जित्य हि रणे पार्थः ७-२३-३
निर्मनुष्यांश्च मातङ्गान् ६-१९-१३
निर्मन्युर्गतसंरम्भः कृतकर्मा ६-२३-२९
निर्मन्युश्चाप्यसंख्येयः ५-२८-११
निर्ममा निरहंकारा १३-१९-५
नियतियत मे सेनां १५-६-१२
निर्याय नगराच्छूराः ४-१०-१९
निर्वनो वध्यते व्याघ्रः ५-६-५०
निर्वापयन्तो ज्वलनं १-२३-६१
निर्वेदमहमासाद्य १२-४५-२५
निर्वेदं निर्वृत्ति तृप्ति १२-४५-२८
निवर्ततागता दूरं ३-१-२२
निवर्तध्वमधर्मज्ञाः १६-४-३४
निवर्तयित्वा कुरुराष्ट्र- १४-२-३८
निवर्तयिष्यति त्वासौ २-११-२४
निर्वतस्व कुरुश्रेष्ठ १५-४-७८
निर्वतस्व विधित्साभ्यः १२-४५-१५
निवर्तितव्यो हि मया १८-२-१५
निवसेम वयं ते वा २-१७-१४
निवारितस्तु द्रोणेन ६-८-५३
निवार्य च महाबाहुं २-१६-१९
निवार्य महतीं सेनां ६-१५-२९
निवासं रोचयन्ति स्म १-३४-४४
निविष्टं गोकुलं यत्र १३-१३-४०
निविष्टांस्तान्निशम्याथ १६-१-२८
निवृत्तमनसं तस्मात् १०-६-२५
निवृत्ता मधुमांसेभ्यः १३-७-२९
निवृतिलक्षणस्त्वन्यः १३-२५-२७
निवृत्तिः कर्मणः पापात् १२-५८-४, १२-६२-२
निवृत्ते पौरवर्गे च १५-४-५०
निवृत्ते विदुरे चापि १-२२-५३
निवृत्ते विहिते युद्धे ६-१-११
निवृत्तेषु तु पौरेषु ३-१-२५
निवृत्तो हि महाबाहुः ७-४-४९
निवेदयन्ति स्म तदा १-२७-५
निवेदयामास तदा २-८-३५, १५-६-३६
निवेदयित्वा ते सर्वे १-३-६१
निवेद्य शिरसा भूमौ १-१४-१३
निशम्य वाक्यं तु जनार्दनस्य ५-१-१९
निश्चक्राम त्वनादृत्य ५-२७-२५
निश्चक्राम पुरात्तस्मात् १३-३२-११
निश्चितानामनारम्भं २-२-६२
निश्चितेयं मम मतिः ३-१९-६५
निश्चित्य यः प्रक्रमते ५-८-१७

निषधेषु महीपालः ३-९-२७
निषसाद रथोपस्थे ८-१३-२४
निषेकं विपरीतं सः १२-३३-३९
निषेवते प्रशस्तानि ५-८-११
निष्ठुरो रोषणोऽत्यर्थं ५-१४-२१
निष्पन्नमफलं शुष्कं १३-२-११
निष्पपात ततस्तूर्णं ६-२३-१२
निष्पिष्य पाणिना पाणिं ४-७-६८
निष्पिष्यैनं बलाद् भूमौ १-२५-६७
निष्प्रचारो निराहारः १३-२-८
निसर्गतस्ते तव वीर ८-२३-१५
निस्संशयो वधः पुंसां १-२७-३९
निहतश्च जरासन्धः २-४-३९
निहतं पितरं श्रुत्वा ७-१-२
निहता भ्रातरः शूराः ६-१९-३३
निहते चेदीराजे तु ७-१७-११
निहते तु तदा भीष्मे ७-१-७
निहते मामके सैन्ये ९-१२-१३
निहते राक्षसे तस्मिन् ३-१४-१
निहतेषु च शूरेषु ९-८-१३
निहतैर्वारणैरश्वैः ७-११-२८
निहत्य त्वां पदा भूमौ ७-४२-१७
निहत्य दुःशासनमुक्तवान् ८-२३-१७
निहत्य पृथिवीपालान् १५-४-५९
निहत्य समरे राजन् ६-२७-४०
निहत्य सर्वपाञ्चालान् ७-३६-१०
निहत्यालायुधं रक्षः ७-३३-१
निहन्यमानां शत्रूणां ७-२९-४
निहन्यादपि तं वीरं १-१३-४६
निःसंशयं क्षत्रियपुङ्गवास्ते १-३१-१२
नीचस्य बलमेतावत् ८-८-८३
नीचाश्रयान्मत्सरेण ६-२३-१२
नीतिधर्मानुसरणं १२-१६-६
नीतिमान् सकलां नीतिं १-१९-१२
नीलाक्षस्तत्र नकुलः १४-१०-५
नीहारेण हि संवीतः १२-६०-५९
नूनमद्य हतः शेते ७-१८-१२
नूनमद्यासि सम्पक्वः ३-१३-१५
नूनमश्रद्दधानोऽसि १४-२-१८

नूनमाचरितं पापं ११-५-१०
नूनं च तव वै नास्ति ३-४-१५
नूनं दुर्योधनेनेदं १-२३-६२
नूनं लक्ष्मणमातापि ९-२३-२२
नूनं वयं वध्यपक्षे ७-६-२
नूनं व्यपकृतं किञ्चित् ११-१-११
नूनं स पतितः शेते ७-८-२५
नृत्यमानाविव रणे २-२८-२३
नृत्यमाने च ते सेने ८-१-३६
नृपतींश्चैव तान् सर्वान् १४-१०-७९
नृपोऽस्ति मद्विधः ३-९-२४
नृशंसस्य ममाद्यायं १२-३८-६७
नृशंसं परुषं वक्तुं २-१७-५९
नृशंसं बत कौन्तेय ७-२०-४४
नृशांसो दह्यते नित्यं १२-४२-३
नेत्रे सुविपुले सुभ्रु ४-५-१४
नेदमस्ति कुलं सर्वं ३-१-४
नेदं चिकिर्षितं तस्य ३-१८-५२
नेदं जानाति गहनं १-२५-१७
नेदं युक्तं महीपाल २-८-२
नेदं लोभान्न चाज्ञानात् १-२८-२०
नेदानीमतिनिर्बन्धं १२-१२-११
नेमानि ह्रि त्वदीयानि ४-१३-२७
नेमे मृगाः स्वर्गजितः १२-४-१०
नेयमस्ति मही कृत्स्ना ३-१-६
नेयं पुरा जातु मयेह ४-५-७
नेयं शक्या त्वया नेतुं ३-२०-२८
नेयं सभा राजपुत्र ७-३८-११
नेशोऽयं सततं देही १२-६३-१४४
नेहाऽस्ति पुरुषः कश्चित् ७-४२-४
नैकमिच्छेद् गणं हित्वा १२-२४-३१
नैकान्तविनिपातेन १२-२३-१९
नैतच्चित्रं महाबाहो २-५-६५
नैतच्चित्रं महाराज ९-१४-२३
नैतत्कारणमल्पं हि ७-३४-७
नैतत् कृच्छ्रमनुप्राप्तः ३-२-१२
नैतदन्ये करिष्यन्ति १४-१०-३२
नैतदस्त्रं मया शक्यं ७-१५-३२
नैतदावर्तते राजन् ७-४४-१८

नैतदेवं यथाऽऽत्थ त्वं १०-८-४१
नैतद् गन्धर्वराजस्य ३-१८-२८
नैतद् वेद महेन्द्रोऽपि ३-६-४६
नैतस्य कर्ता लोकेऽस्मिन् ३-१९-१०
नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं १२-४४-२
नैतादृशं भारत युद्धमासीत् ८-२६-३७
नैतानतिशमेज्जातु १२-३०-७
नैतावता कृतमित्य- २-१७-६३
नैते जातु पुनर्युद्धं ७-४-४३
नैते युधि पराजेतुं २-१०-३९
नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि ६-३-४८
नैनं पश्यामि कौन्तेय ६-४-२६
नैव कर्तव्यमिति १७-१-१२
नैव कालो न भुजगः १३-१-३४
नैव कुन्तीसुतः पार्थः ७-५-३०
नैव तेऽनुष्ठितं कर्म १४-१-३६
नैव त्वां जातु हिंस्यात्सः ४-६-१३
नैव धर्मेण तद् राज्यं ३-५-३
नैव नस्तादृशं युद्धं ७-३७-१५
नैव नस्तादृशो राजन् ६-२-३०
नैव निम्नं स्थलं वापि १२-३८-११
नैव प्राज्ञा गतश्रीकं ३-२०-२२
नैव भीष्मो न च द्रोणः ८-१२-१८
नैवमायुष्मता वाच्यं ५-१३-२१
नैवमित्यब्रवीत्तं तु १८-१-८
नैवर्त्विग् नैव चाचार्यः २-७-३३
नैव लघ्वी न महती २-१३-५१
नैवंविधः शंखशब्दः ४-१२-६४
नैवंरूपा भवन्त्येवं ४-३-३४
नैवासन्नद्धकवचः १२-२८-४४
नैवास्ति नो धनुस्तादृक् ५-१४-३२
नैवास्य कश्चिद् भविता १२-१०-३०
नैवास्याग्निर्न चारिष्टः १२-६३-६५
नैवेच्छति न चानिच्छः १२-६३-१०५
नैष कालो महाराज ५-१४-४२
नैष जातु महाबाहुः ७-४-४६
नैष धर्मो महिपालाः ६-२८-२०
नैष युद्धेन संग्रामे ७-३९-३
नैष योग्योऽद्य मित्रं वा ९-२१-१२.

नैष शक्यो मया वीरः ५-३५-१९
नैष शक्यो युधा जेतुं ६-१३-६५
नैष शूरैः स्मृतो धर्मः ४-१२-१७
नैषा चेदिपतेर्वृद्धिः २-९-६
नैषां दारेषु कुर्वीत ४-२-१०
नैषां बभूव सम्प्रीतिः १५-५-२३
नैषोऽन्तरेण राजानं ४-१३-३६
नोक्तपूर्वं मया मिथ्या १४-३-४७
नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं १२-२७-१३
नोत्थापयामि भर्तारं १३-२३-१५
नोत्सहे कुरुभिर्योद्धुं ४-१२-६
नोत्सहे जीवितुमहं ३-१९-५४
नोत्सृजेत पुरीषं च १३-१७-३७
नोदकक्लिन्नगात्रस्तु १३-१९-६
नोदयाश्वान् भृशं कृष्ण ७-२१-३
नोदयाश्वान् महाबाहो ८-७-११
नोदयाश्वान् यतो ६-१२-२२, ६-२५-२४
नोदयाश्वान् हृषीकेश ८-१४-४
नोद्यमानस्तदा भीमः ४-४-८
नौषधानि न मन्त्राश्च १२-१०-२७
न्यवर्तन्त ततः सर्वे १७-१-२०
न्यविशन्त हि ते सर्वे १-२४-४
न्यवेदयस्तत् पुरुषाः १-१३-१८
न्यसेत गुल्मान् दुर्गेषु १२-१९-६
न्यस्तमानोऽस्मि भक्तोऽस्मि १२-३५-७०
न्यस्तशस्त्रस्तु संग्रामे ७-३९-४
न्यस्तशस्त्रस्य बालस्य ७-२०-७२
न्यस्तशस्त्रे ततो भीष्मे ६-२३-९
न्यस्तशस्त्रौ ततस्तौ तु ७-४४-४
न्यहनत् तावकांश्चापि ६-१७-३०
न्यायतो युद्धमानस्य १०-१-२१
न्यायवृत्तो वधो यस्तु ७-४०-१४
न्यायशिक्षाचिकित्सा च १-१-५
न्यायागतस्य द्रव्यस्य ५-८-४६
न्यायागतं धनं चैव १२-६०-२९

प

पक्षपातो महानस्याः १७-२-६
पक्षिणो वर्षवेगेन १२-३८-१२
पक्षौ तु भीमसेनश्च ६-७-२८
पञ्च चैव महावीर्याः ५-१९-१५
पञ्च पञ्चैव लिप्सन्ति ५-२१-७
पञ्चभिः सततं यज्ञैः १२-६३-१०१
पञ्चमेऽहनि षष्ठे वा ३-२४-८०
पञ्चयज्ञविशुद्धात्मा १३-२५-२०
पञ्चयज्ञांस्तु यो मोहात् १२-३८-४९
पञ्चयोजनमुत्सृज्य ५-३७-३७
पञ्चवर्षाण्यहं वीरं ३-११-१
पञ्चशीर्षधरैर्नागैः ११-२-३४
पञ्चाग्नयो मनुष्येण ५-८-५६
पञ्चानां तु त्रयो धर्म्याः १३-१२-८
पञ्चानां पाण्डुपुत्राणां ४-३-५१, ४-३-६९
पञ्चार्द्रो भोजनं भुञ्ज्यात् १२-४९-१३
पञ्चेन्द्रियस्य मर्त्यस्य ५-८-५८
पञ्चैव पूजयंल्लोके ५-८-५७
पटच्चरैश्च पौण्ड्रैश्च ६-७-२८
पठकाः पाठकाश्चैव ३-२४-७५
पठन्नाख्यायिकाश्चैव ४-१-२५
पण्डितोऽहं पुरा चासं १२-४७-२९
पतङ्गा इव चाग्नौ ते १६-१-४३
पताकाध्वजवृक्षाढ्या ६-२४-५८
पतितं प्रेक्ष्य यन्तारं ९-५-९
पतितः शोच्यते राजन् १२-२-११
पतितान्युत्तमाङ्गानि ६-१२-५
पतितान् रथनीडांश्च ९-२-२
पतिते भरतश्रेष्ठे ७-१-१०
पतिव्रता पतिगतिः १२-३८-२७
पतिव्रता महाभागा ४-१-२
पतिशुश्रूषया यन्मे ११-५-६०
पतिष्यति तदस्त्रं हि १०-८-४२
पतेद् दिवाकरः स्थानात् ८-२२-२०
पतेद् द्यौर्हिमवाञ्छीर्येत् ३-२-११
पदं पदसहस्रेण ४-१५-५५
पदातिर्द्रुतमागच्छत् ६-२०-९
पदातिसंघाश्च रथाश्च संख्ये ६-१२-४६
पदातीनां सहस्राणि ७-११-५
पनसस्य यथा जातं ११-२-२७
पन्था देयो ब्राह्मणाय १३-१७-१९
पन्थानो ब्रह्मणस्त्वेते १२-५३-२२
पपात स द्विजस्तत्र ११-२-२६
पप्रच्छ चैनं धर्मात्मा १-३२-४३
पप्रच्छ भ्रातरं भीमं ३-१२-२९
पप्रच्छागमने हेतुं ३-१०-७
पप्रच्छानामयं राजन् १-३४-१०
परचक्रोपरोधे च १२-१२-३०
परच्छिन्नैः काष्ठतृणैः १२-५०-३८
परतन्त्रं कथं हेतुं १३-१-५
परदारा न गन्तव्या १३-१७-१७
परदाराभिहर्तारः १३-७-२०
परदारास्मि भद्रं ते ४-५-२०
परदारे न ते बुद्धिः ४-५-२१
परदोषु ये नित्यं १३-२६-७
परदारेष्वसंसर्गः १३-२५-३
परमापद्गतेनापि १०-६-८
परवन्तो वयं राजन् १-३४-१९
परवीर्यं समाश्रित्य ५-३४-४०; ४८
परश्रया न तप्यन्ति १२-३२-१२
परश्चेदेनमतिवादबाणैः १२-६१-९
परस्परभयादेके १२-६-६
परस्परं तौ विशिखैः ८-२४-३
परस्परं समासाद्य १६-१-४
परस्परं हि संरक्षा १२-३५-११
परस्वे निर्ममा नित्यं १३-२६-३
परं क्षिपति दोषेण ५-८-२८
परं निर्वेदमगमत् १५-५-२४
परं विषहते यस्मात् ५-२८-३०
परं हि ब्रह्म कथितं १४-२-१९
पराक्रमं तु सूतानां ४-८-८
पराक्रान्तस्य तस्यैव ६-५-४२
पराजयमशोचन्तः ९-२-६०
पराजयं च प्राप्ताः स्म ३-१९-१५
पराजयं धार्तराष्ट्रे ४-२९-३७
पराजयो वा मृत्युर्वा ७-४४-२०
पराजितं तु राधेयं ८-११-१०
पराजितान् पाण्डवेयांस्तु ५-६-४५
परानेव यशसा श्लाघसे २-१३-१४
परापवादं न ब्रूयात् १३-१७-५८

परा बुद्धिः परं तेजः ५-१५-३३
पराभूतैर्हि वस्तव्यं ४-१३-३
परामर्शश्च कन्यायाः ७-३२-४
परासुता क्रोधलोभात् १२-४१-११
परिक्रम्य कुरुक्षेत्रं ५-३२-३३
परिक्लेशश्च वो मन्ये ३-१-३१
परिक्षिद्धास्तिनपुरे १७-१-८
परिक्षीणे कुले यस्मात् १४-५-४
परिक्षीणेषु कुरुषु १०-८-३८
परिखा खण्यतामत्र ६-२८-१६
परिखेदपरित्रासात् १३-१३-१०
परिगृह्य द्विजश्रेष्ठान् ३-११-६
परिगृह्य हि यद् युद्धे ९-१२-१६
परिग्रहवता तन्मे १२-१-२१
परिग्रहं परित्यज्य १२-६२-९
परिणाम्य निशां तां तु ६-१९-१,
७-४-१४
परित्यक्तः सुतश्चायं १-२७-३४
परित्यजामि काम त्वां १२-४५-२७
परित्यजेयं त्रैलोक्यं १-७-१०
परित्यागे न लभते १२-४५-२०
परित्रातुमिह प्राप्तः ७-२६-३
परिनिर्विण्णचेताश्च १६-५-१७
परिनिष्ठितकार्यस्तु १२-१७-१३
परिपप्रच्छ निपुणं १-१४-४८
परिवार्य ततो भीमं ६-१६-२०
परिवार्य तु तैः सर्वैः ७-८-४८
परिवार्य रथैः शल्यं ९-५-३४
परिवृतः समन्तात् सः ६-१८-३०
परिवृत्तेऽहनि ततः ३-१२-८
परिश्रान्तं गतं भूमौ ७-२०-३३
परिश्रान्ता हयाश्चास्य ७-२०-११
परिश्रान्ते विदीर्णे वा १०-१-२४
परिष्वज्य च गान्धारी ११-५-१४
परिष्वज्य च तस्याथ १-१७-३९
परिष्वज्य महाबाहुः ९-१२-५९
परिहासश्च भृत्यैस्ते १२-१४-२३
परिहासेप्सया वाक्यं ४-१६-७
परीक्ष्यकारिणो ह्यर्थाः १२-३३-२०
परीक्ष्य च गुणान्नित्यं १२-२४-३६
परीतस्तव पुत्रोऽयं ५-२१-२१
परुषं ये न भाषन्ते १३-२६-११
परुषः कत्थनो नीचः ५-३५-२७
परेशां यत्र दोषः स्यात् १२-४२-९
परेषां यदसूयेत १२-६०-१७
परैः परिभवे प्राप्ते ३-१८-४
परोक्षमगुणानाह १२-६३-१७
परोक्षं नाभिजानामि ४-६-३२
पर्जन्यः पर्वते वर्षन् १०-१-३३
पर्जन्यास्त्रेण संयोज्य ६-२९-१४
पर्यतिष्ठत तेजस्वी ७-२७-१७
पर्यपृच्छत् ततस्तस्याः १-५-२३
पर्यरक्षन्त तां तत्र १-३-३५
पर्यस्तां पृथिवीं सर्वां ५-२३-३१
पर्याश्वासयदप्येनां ३-११-१७
पर्वणि त्वं समुद्दिश्य ४-६-४
पर्वतं योऽभिविध्येत ४-१५-६०
पलायमानं त्रैगर्तं ४-१०-३८
पवित्रं परमं चैतत् १४-१०-४४
पशुवद् घातनं वा मे २-९-२१
पश्चाज्ज्ञातं महीपाल ७-२१-३४
पश्चार्धे तस्य पद्मस्तु ७-११-९
पश्य कर्णं महेष्वासं ७-३०-९
पश्य कर्णेन हैडिम्बे ७-३०-२३
पश्य कुन्तीसुतं वीरं ८-९-१६
पश्य कृष्ण महाबाहो ८-१४-२
पश्य चैतान् महीपालान् २-८-३
पश्यतां सुमहत् कर्म ४-१०-३४
पश्यतेदं सविपुलं १४-११-८७
पश्यतेमौ मे बाहू ७-४३-२१
पश्यतो वृष्णिदाराश्च १६-५-१३
पश्यध्वमुपधानं मे ६-२८-१५
पश्यध्वं ह्यायतौ वृत्तौ २-१५-३५
पश्यन्ति हि भवन्तोऽद्य २-९-३०
पश्यन्तो रमणीयानि १-३०-२
पश्य पार्थं यथा सेना ८-१-३०
पश्य पीनौ मम भुजौ ८-६-९
पश्य पुत्रांस्तथा भ्रातॄन् ५-२४-५४
पश्य बाह्वोर्बलं मेऽद्य ८-१९-१५
पश्य बाह्वोश्च मे वीर्यं ७-१५-२८
पश्य भूतानि दुःखेन १२-४३-७
पश्य माधव पुत्रान्मे ११-५-३०
पश्य मां त्वं रणे पाप ८-१-३
पश्य मूर्धाभिषिक्तानां ७-२३-६
पश्य राधेय पाञ्चालान् ७-४-४२
पश्य वीर यथा ह्येषः ६-२०-१३
पश्य वृष्ण्यन्धकव्याघ्र ७-२०-३९
पश्य वैकर्तनं कर्णं ११-५-३७
पश्य समूहं महेष्वास ६-१९-४
पश्य सिन्धुपतिं वीरं ७-२१-१९
पश्यामि बहुलान् राजन् ३-२३-१८
पश्याम्येकं भासमिति १-१५-४९
पश्यार्जुन महाव्यूहं ८-९-४
पश्येथाश्च ततो योधान् १५-३-२०
पश्येमां धार्तराष्ट्रेण ९-१४-२
पश्येमे रादेसी कृष्ण ५-१८-२४
पश्येयुरद्य मे वीर्यं ४-११-१८
पश्यैतदन्तरं बाह्वोः ५-१८-२६
पश्यैतां पाण्डुपुत्राणां ६-३-३
पश्यैताः पुण्डरीकाक्ष ११-५-६
पश्यैनं तं द्रुमाग्रस्थं १-१५-३९
पाञ्चजन्यस्य निर्घोषं ६-१-६
पाञ्चालक सुदुर्वृत्त ७-४२-१०
पाञ्चालनगरे गत्वा १-२९-२०
पाञ्चालराजस्तु विपण्णरूपः १-३२-१०
पाञ्चालराजस्य समीपतस्तु ५-१-४
पाञ्चालराजं द्रुपदं १-१८-३
पाञ्चालराजेन सुता १-३२-२०
पाञ्चालस्य च दायादः ३-२-२
पाञ्चालस्य रथस्येषां १-१८-३१
पाञ्चालानथ मत्स्यांश्च ६-६-३८
पाञ्चाला निहताः सर्वे १०-३-२७
पाञ्चालानेव तु द्रोणः ७-३८-२१
पाञ्चालान् केकयांश्चैव ७-२६-९
पाञ्चालान् सोमकांश्चैव ७-२७-४१
पाञ्चालापसदाद्य त्वां ८-१३-४
पाञ्चालाश्च नरव्याघ्र ९-१-१५

पाञ्चालाश्च यथा सर्वे ९-१-२६
पाञ्चालास्तु महाराज ८-१२-१६
पाञ्चालांश्चैव तान् सर्वान् ७-२८-२५
पाञ्चाला हि जिघांसन्तः ७-१६-३
पाञ्चालाः केकया मत्स्याः ७-४-३९
पाञ्चालाः सृञ्जयाश्चैव ९-२१-२
पाञ्चालिकार्थं चित्राणि ४-११-४४
पाञ्चालेषु च शूरेषु ८-१०-५
पाञ्चाल्यं तु महाबाहो ५-३६-२५
पाणिमद्भ्यः स्पृहास्माकं १२-४७-१०
पार्णि पाणौ विनिष्पिष्य ७-८-५२
पाणौ गृहीत्वा विदुरं ५-२४-८
पाण्डवश्च यथावृतः ५-२-१९
पाण्डवश्रीप्रतप्तस्य २-१०-१७
पाण्डवस्त्वब्रवीद् भ्रातॄन् २-९-३५
पाण्डवं चित्रसंनाहाः ६-१९-२१
पाण्डवा अपि भूपाल ९-५-२
पाण्डवा धृतराष्ट्रेण १-२२-१७
पाण्डवा धार्तराष्ट्राश्च ११-५-५७
पाण्डवानाञ्च गाङ्गेय ५-३७-२
पाण्डवानामनीकानि ७-५-७०
पाण्डवानामयं कोपः ७-२३-२०
पाण्डवानां प्रवृत्तिं च ४-९-७
पाण्डवानां प्रियं कुर्वन् ६-२७-१२
पाण्डवानां रथाश्चापि ६-१९-८
पाण्डवानां विनाशाय ९-२२-४२
पाण्डवानां हितं नित्यं ७-३१-८
पाण्डवान् कुशलं पृच्छेः ५-२८-५८
पाण्डवान्धार्तराष्ट्रांश्च १-१८-१
पाण्डवाश्च महात्मानः २-१४-२७,
१७-१-२१
पाण्डवाश्च महाराज ६-२२-१९
पाण्डवाश्च यथा मुक्ताः ९-१-२७
पाण्डवाश्च सहद्रोणाः १-१७-५१
पाण्डवाश्चातिदीनास्ते १५-४-८१
पाण्डवाश्चापि ते सर्वे १-२३-४३
पाण्डवाश्चैव ते सर्वे १५-५-२१
पाण्डवास्तु जयं लब्ध्वा ७-३९-३९
पाण्डवास्तु महाराज ९-१२-२३
पाण्डवास्तु रणे दृष्ट्वा ९-८-११
पाण्डवास्तु रथान् युक्तान् १-२२-३१
पाण्डवास्तु स्वनं श्रुत्वा १-१८-१४
पाण्डवास्त्वं च राष्ट्रं च १०-८-२५
पाण्डवांश्च ततः सर्वान् ४-१६-२६
पाण्डवाः सर्वकार्याणि १५-१-६
पाण्डवेनाभ्यनुज्ञातः ३-१८-५८
पाण्डवेभ्यो भयं न स्यात् १-२१-१५
पाण्डवेयानि रत्नानि ३-१९-५२
पाण्डवेषु च सापेक्षं ७-२-२३
पाण्डवेषु दयां नित्यं ६-२३-७
पाण्डवैर्यानि रत्नानि १०-८-२८
पाण्डवैः संशमं कृत्वा ५-२४-५८
पाण्डवो भीमसेनोऽहं ३-१२-१३
पाण्डुपुत्रान् हनिष्यामः ७-३६-२१
पाण्डुमुपरतं दृष्ट्वा १-१२-१५
पाण्डुराभ्रप्रकाशेन १-३४-३६
पाण्डुर्दृष्ट्वा सुतांस्तांस्तु १-११-२६
पाण्डुर्धनुषि विक्रान्तः १-८-११
पाण्डुर्हि राजा द्रुपदस्य १-३२-१८
पाण्डोः सुताः पञ्च पञ्च ५-८-८६
पातयैनं रथात् पार्थ ६-२६-४०
पाताल इव दुष्पूरः १२-४५-२४
पातितं भीमसेनेन ४-८-३
पातिते भीमसेनेन १-३१-२७
पातितो भुवि भीमस्तु ४-७-५७
पात्रं गृहीत्वा सौवर्णं ४-१५-३५
पादपैः पुष्पविकचैः ३-११-३२
पादयोः पतितं दृष्ट्वा ८-१७-१०
पादैः सलिलपानाच्च १२-६३-७२
पादौ तव ग्रहीष्यन्ति ५-२९-७
पादौ न धावये तावत् ३-१९-७४
पादौ प्रपीड्य कृष्णस्य ९-२२-२१
पाद्यमर्घ्यं यथान्यायं १३-२५-२२
पाद्यमासनमेवाथ १३-४-८
पानमक्षास्तथा नार्यः १२-२७-१९
पानागारनिवेशाश्च १२-२७-३३
पानीयदानमेवैतत् १३-१४-८०
पानीयदानात्प्रभृति १३-१४-८२
पानीयमन्तिके पश्य ३-२३-१६
पापस्य यदधिष्ठानं १२-३९-१; २
पापस्यास्य नृशंसस्य ५-२१-२२
पापं कर्म कृतं किञ्चत् १२-३६-१६
पापं कुर्वन्ति यत्किचित् १३-१४-४७
पापानुबन्धं न हि कामयेत ५-६-२९
पापामचोक्षामवलेहिनीं च १३-५-१०
पापा ह्यपि तदा क्षेमं १२-१८-६
पापीयसः क्षमेतैव १२-६१-१७
पापेन कर्मणा वित्तं १२-२८-५२
पापेनापिहितं पापं १२-४९-२४
पापोऽयं नित्यसन्तुष्टः ३-१८-५१
पारगं सर्वविद्यानां ९-३-४
पारदार्यमनायुष्यं १३-१७-७०
पार्थ पार्थ महाबाहो ७-११-४०
पार्थबाहुविसृष्टः सः ७-२०-४२
पार्थमादाय गोविन्दः ८-२७-१२
पार्थ मा साहसं कर्षीः ३-२४-१०
पार्थ यच्छिक्षितं तेऽस्त्रं ७-१५-१५
पार्थ यत्ते कृतं कर्म १-१७-१०
पार्थश्चाप्यब्रवीत् कृष्णं ७-११-४५
पार्थस्य समरे कृष्णः ८-६-२
पार्थः प्राप्य धनुः श्रेष्ठं २-४-१७, २-६-१
पार्थान्सुमनसो दृष्ट्वा २-१०-१८
पार्थाः पञ्चदशान् शूरान् ३-२१-१२
पार्थिवान् पार्थिवश्रेष्ठः २-८-३३
पार्थिवेन विशेषण १२-१९-१
पार्षतं तु रणे राजन् ७-१-३२
पालनाद्धि पतिस्त्वं मे १४-११-४५
पाल्यमानास्तथान्योन्यं १२-१८-४०
पाशमेकमुभावेतौ ५-१६-१८
पास्यन्तीमे जलं पश्चात् १-२४-२३
पांसुभिः समभिच्छन्नः १२-३-६
पांसूपलिप्तसर्वाङ्गः २-१८-४३
पिङ्गला कुररः सर्पः १२-१६-७
पिता त्यक्ता तथा माता १-२७-४७
पिता त्वस्य महातेजाः ५-३५-२३
पिता धर्मः पिता स्वर्गः १२-५२-१५
पिता नस्त्वं गुरुर्बन्धुः ७-१९-१३

पिता मम यथा क्षुद्रैः ७-४०-१२
पितामह निबोधेदं ६-११-१३
पितामहमभिप्रेक्ष्य ६-४-४
पितामह महाप्राज्ञ १२-३८-१,
१३-३-१, १३-२०-१, १३-२७-१
पितामह यथेष्टं मां ५-३५-३२
पितामहवचः श्रुत्वा ६-१३-६७
पितामहश्च द्रोणश्च ५-१५-३४
पितामहस्य मे यज्ञे १४-११-१
पितामहं गुरुं चैव २-७-१
पितामहं रणे हत्वा ७-४१-२९
पितामहः शान्तनवः ५-३०-७
पितामहानां सर्वेषां १-२-८
पितामहेन ये चोक्ताः ४-९-४२
पितामहो नः स्थविरः ५-६-९
पिता माता तथैवाग्निः ३-१४-२१
पिता मान्यो गुरुः श्रेष्ठः १-२२-४०
पिता मे निहतः क्षुद्रैः ९-२४-२१
पिता रक्षति कौमारे १३-१२-१७
पिता वै गार्हपत्योऽग्निः १२-३०-५
पिता श्रेष्ठः सुहृद्यश्च ५-१४-४३
पितासि राजन् पुत्रास्ते ५-२१-१३
पितुराज्ञा परो धर्मः १२-५२-१०
पितुराज्ञां कथं कुर्यां १२-५२-९
पितुरेतद् वचः श्रुत्वा ५-१५-३०
[illegible]प्नवान् राज्यं १-२१-११
पितृपक्षे च ते पार्थाः ४-२९-५
पितृपैतामहं राज्यं ५-९-१३
पितृपैतामहं वृत्तं ३-१४-२०
पितृभक्तोऽसि राजर्षे १३-३२-३८
पितृभिर्भ्रातृभिश्चापि १३-१२-११
पितृभिः सहसालोक्यं २-१६-६
पितृवत् पालयेद् वैश्यः १२-१७-१५
पितृवद् भ्रातृवच्चैव १५-४-३३
पितृशुश्रूषणे किं च १३-१५-६
पितृष्वस्रीयाय स तां १-९-२
पितृहन्तृनहं हत्वा १०-२-३८
पितृणां पुत्रपौत्राणां ११-१-७
पितॄन्पितामहान्भ्रातॄन् १२-१३-३३

पित्र्यमंशं महाबाहो ५-२८-५
पित्र्यं तेभ्यः प्रदायांशं ५-२४-३८
पित्र्यं हि राज्यं विदितं ५-१-१४
पिनद्धकम्बुः पाणिभ्यां ४-१-२४
पिशाचान् पक्षिणो नागान् १-३६-३५
पिशुनां न प्रभाषन्ते १३-२६-१२
पीडितं चापि जानामि १५-२-३५
पीडिते धर्मराजे तु ९-५-३४
पीड्यमानाः शरै राजन् ७-५-१५
पुण्डरीकाक्ष पश्य त्वं १४-४-१७
पुण्डरीकाक्ष भद्रं ते १४-२-२६
पुण्यगन्धः सुखस्पर्शः ३-११-३४
पुण्यस्यैवाभिगन्धस्ते १३-२२-११
पुण्यं नृपैर्दस्युवधेन लभ्यं ५-६-३९
पुण्यानि यानि कुर्वीत १२-६३-५६
पुण्यापुण्यैस्तथा गन्धैः १२-६३-७१
पुण्योऽयमितिहासाख्यः १८-४-१
पुत्र आत्मा मनुष्यस्य ३-२४-३९
पुत्रका न विहास्ये वः २-१८-३२
पुत्रकाम न ते हन्मि १-४-१७
पुत्रगृद्धया त्वया राजन् ११-१-१६
पुत्रदारैः सुखैश्चैव १२-६३-९५
पुत्र नात्मावमन्तव्यः ५-२८-५१
पुत्रपौत्रवधूभृत्यैः १२-३८-२३
पुत्रशोकाभितप्तेन ११-५-३९
पुत्रशोकाभिसन्तप्तं ११-३-३२,
१२-४३-४, १४-२-२६
पुत्रशोकाभिसन्तप्ता १६-१-२३
पुत्रश्च ते महातेजाः १३-३२-१८
पुत्र संशाम्यतां तावत् १५-४-३
पुत्रस्यैतद्वचः श्रुत्वा २२-४४-२९
पुत्रहन्ता नृशंसोऽहं ११-४-४२
पुत्रं तु निहतं दृष्ट्वा ९-११-४
पुत्रं विनिहतं श्रुत्वा ६-२२-२३
पुत्रं हि मातापितरौ १२-३५-१२३
पुत्रः सखा वा भ्राता वा १-२०-२२
पुत्रा इव पितुर्गेहे १२-१५-२६
पुत्राणामिव चैतेषां ७-२३-१९
पुत्राणां तव दुर्धर्ष ६-२-३९

पुत्राणां तस्य बालानां ८-८-३३
पुत्रान्भ्रातॄन्निगृह्णन्तः १२-२९-१०
पुत्रार्थी विहितो ह्येषः १४-११-५१
पुत्रास्तु तव तं दृष्ट्वा ६-१३-४७
पुत्रांस्तु तव सम्प्रेक्ष्य ६-१३-४१
पुत्रांस्ते निहतान् दृष्ट्वा ८-११-२३
पुत्रेण घातयित्वैनं १४-९-२४
पुत्रोऽपि तव दुर्धर्षः ६-१६-५
पुत्रो भ्राता पिता चैव ९-२-७
पुत्रो वा यदि वा भ्राता १२-३७-३२
पुनरज्ञातचर्यायां १२-७-७
पुनरन्तःपुरगतः ४-४-२०
पुनरावर्तमानानां ९-१८-१२
पुनरुक्तं च वक्ष्यामि ५-१९-७
पुनरेव तु वक्ष्यामि ९-१८-९
पुनरेव तु सा देवी १-७-४०
पुनरेव हि मे बुद्धिः १३-२८-८
पुनर्दीव्याम भद्रं ते २-१७-११
पुनर्द्रष्टुं हि तानीह १-२९-१२
पुनर्द्यूतेन मां जित्वा ३-९-१९
पुनर्द्वैतवनं रम्यं ३-२३-३
पुनर्बहुमृगं रम्यं ३-१८-६०
पुनर्भरतवंशस्थ १-७-१८
पुनर्भेदश्च मे युक्तः ५-३१-४
पुनर्युयुश्च संरब्धा ४-१४-२
पुनर्वसनमुत्क्षिप्य २-१०-१०
पुनश्च पतितं चक्रे ९-२१-२२
पुनश्च परिपप्रच्छ १२-३९-३२
पुनश्चेदीदृशं वाक्यं ८-८-२३
पुनश्चेदीदृशीं वाचं ७-४२-९
पुनश्चैवानयिष्यामि १-२६-८
पुनः पुनर्न मृष्यामि १६-५-९
पुनः पुनश्च वार्ष्णेयं १४-२-४०
पुनः शरशतैरेनं ६-२७-३५
पुनः सामाभिसंयुक्तं ५-३१-५
पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात् १-३-७४
पुमांसः पुष्पशीलाढ्याः १४-१-५२
पुरस्तात् सैन्धवानीकं ७-१६-११
पुरं च ते सुगुप्तं स्यात् १५-३-१०

पुरं जनपदो भूमिः २-१३-२९
पुरःसरो ममाद्यस्तु ९-६-१२
पुराणपूर्णचन्द्रेण १-१-८
पुरा द्वैतवने चासि १७-३-१९
पुरा महर्षिश्च्यवनः १३-१३-३
पुरायमस्मान्गृह्णाति ५-२७-४
पुरा युद्धात् साधु मन्ये ५-१३-३३
पुरां शक्रेण मे दत्तं ४-१२-४४
पुरा ह्युक्तो नाकरोस्त्वं ५-११-३१
पुरीषमूत्रे नोदीक्षेत् १३-१७-१८
पुरीषं यदि वा मूत्रं १२-४९-११
पुरुजित् कुन्तिभोजश्च ५-३६-१९
पुरुषं तं न पश्यामि ५-३१-१९
पुरुषः श्रियमाप्नोति ३-४-३४
पुरुषे पुरुषे बुद्धिः १०-२-३
पुरुषो भव गान्धारे ९-१५-२०
पुरे जनपदे चैव १२-१९-१०
पुरोचनभयादेव १-२३-२७
पुरोचने तथा हृष्टे १-२३-३१
पुरोद्यतान् पुरा ह्यस्मात् १५-४-५८
पुरोहितमते तिष्ठेद् १-२९-६३
पुरोहितं ते प्रस्थाप्य ५-३-१
पुरोहितांश्च पौरांश्च १-२२-९
पुरोहितेन तेनाथ १-२९-७२
पुलाका इव धान्येषु १२-४८-५
पुष्टयर्थं च स्वपुत्रस्य १२-३६-६
पुष्पवत्सु ध्रुवा श्रीश्च २-५-१९
पुष्पं पुष्पं विचिन्वीत ५-९-१०
पुष्पिताः फलवन्तश्च १३-१४-१६
पुंसामिष्टश्च विषयः ४-८-४२
पुंस्त्वोपघातं कालेन १२-५९-१४
पूजनीया महाभागाः ५-१२-४
पूजयां चक्रिरे ते वै ५-३३-३
पूजयित्वा च पूजार्हान् २-८-१९
पूजयित्वा ततः पश्चात् ९-१७-४
पूजयित्वा महाराज १४-१०-८१
पूजयित्वा यथान्यायं १-१२-२१
पूजयेद् धार्मिकान् राजा १२-२६-१३
पूजामस्मै प्रयुङ्क्ष त्वं १२-३८-४३
पूजार्हाः पूजिताश्चात्र १४-११-१२
पूजितो धृतराष्ट्रेण ८-१४-२०
पूज्यमानं मया यो नः २-८-१५
पूर्वजं नकुलेत्येवं १-११-२५
पूर्वजातिकृतं पापं ११-५-३२
पूर्वमप्यतिदुःशीलः १०-१-५२
पूर्वमाचार्यपुत्राय १०-७-१७
पूर्वमेव तु सम्मन्त्र्य १-१८-८
पूर्वं नरकभाग्यस्तु १८-३-६
पूर्वं परीक्षितो हि त्वं १८-३-१४
पूर्वं सम्मानना यत्र १२-३६-२०
पूर्वागतं ततस्तत्र ४-७-४३
पूर्वाह्णे तस्य रौद्रस्य ६-५-३
पूर्वाह्णे तु महाराज ६-१८-८
पूर्वे वयसि तत् कुर्याद् ५-१०-२१
पूर्वे समुद्रे यः पन्थाः १२-५४-२३
पृच्छामि त्वां द्विजश्रेष्ठ ६-४-४१
पृच्छामि त्वां ब्रूहि जयं ८-१४-२५
पृच्छामि त्वां संजय राजमध्ये ५-१३-६
पृथगक्षौहिणीनां च ५-३२-१४
पृथामामन्त्र्य गोविन्दः ५-२३-१
पृथामेव च शोचामि १५-८-३२
पृथिवी दक्षिणा चात्र १४-१-३०
पृथिवीराज्यमर्होऽयं १-१७-४७
पृथिवीं पर्यटन्तं हि १४-६-१२
पृथिव्यां चतुरन्तायां ४-१२-४१
पृष्ठगोपांश्च तस्याथ ४-१०-३६
पृष्ठतस्तु वरारोहा १७-१-२३
पृष्ठतो द्रौपदीं चैव १४-४-६
पृष्ठे हिमवतः पुण्ये ३-१४-४
पैशुन्ये न प्रवर्तामि १३-२३-८
पौरजानपदानां च १५-३-१६
पौरजानपदान् सर्वान् १२-१२-२६
पौरजानपदा यस्मिन् १२-२४-४६
पौरजानपदैश्चैव १३-३१-१५
पौरवाच्छान्तनो पुत्रः १-५-१६
पौरवाणां वंशकरः १-३-१
पौरवेषु ततः पुत्रं १-५-१५
पौराश्च पादचारेण १-३५-२
पौरुषेण तु यत्कार्यं १-३६-२०
पौरेषु विनिवृत्तेषु १-२२-४३
पौरोगवो ब्रुवाणोऽहं ४-१-१७
प्रकाशितं तदा लोके ७-२८-४०
प्रकीर्णकेशां सुश्रोणीं ११-५-२८
प्रकीर्णकेशी पतितार्थं २-१४-३८
प्रकीर्णकेशे विमुखे ८-२५-३३
प्रकीर्णभाण्डमनवेक्ष्यकारिणीं १३-५-९
प्रकीर्णमूर्धजाः सर्वाः १६-४-१६
प्रकीर्य केशान् सुशुभान् ११-३-९
प्रकृतिस्थोऽसि मे शल्य ८-१९-१४
प्रकृत्या पापसत्त्वश्चं ५-१८-३
प्रगाढदृढमुष्टित्वे १-१९-६
प्रगृहीतगदो दृष्ट्वा ९-१७-१३
प्रगृहीतमहाखड्गौ ६-१४-४४
प्रगृहीताग्रहस्तेन ६-५-४७
प्रगृह्य खड्गं च रथान्महात्मा ९-७-१९
प्रगृह्य च शरं घोरं ६-९-६
प्रगृह्य तरसा दोर्भ्यां ४-७-६४
प्रगृह्यमाणा तु महाजवेन ३-२०-२७
प्रचिच्छेदाशु भल्लेन ८-१२-२४
प्रचोदितोऽहं कालेन १३-१-२१
प्रच्छन्नं विदुरेणोक्तः १-२३-३०
प्रच्छन्नो वा प्रकाशो वा ३-११-४८
प्रजज्ञे राक्षसो पुत्रं १-२६-१३
प्रजह्यात् समरं भीतः ८-१०-२६
प्रजानामायुषो ह्रासं १२-१८-५५
प्रजानां पालनं धर्मः ११-१२-२
प्रजापतिरिदं सर्वं १२-३९-३४
प्रजाः पशूंश्च स्वर्गं च १२-६३-५७
प्रजाः पालयते यो हि १३-२५-१२
प्रजाः पालयतोऽसम्यक् १२-२५-३
प्रज्ञया मानसं दुःखं ११-१-४१,
१२-६५-१८
प्रज्ञया सदृशश्चासि ५-२-१८
प्रज्ञाचक्षुरचक्षुष्ट्वात् १-२१-३
प्रज्ञाचक्षुर्यः प्रणेता ५-७-५
प्रज्ञा धर्मे च रमते १२-५४-१३
प्रज्ञानाशात्मको मोहः १२-३४-९

प्रज्ञा प्रतिष्ठा भूतानां १२-४७-२
प्रज्ञावृद्धं धर्मवृद्धं ५-१२-६७
प्रणमन्ति सुवृद्धाँश्च ५-१३-५
प्रणयाद् बहुमानाच्च ८-६-१८
प्रणयेन ब्रवीमि त्वां १२-३८-४७
प्रणष्टजातिवीर्यस्य १६-५-१८
प्रणिधींश्च ततः कुर्यात् १२-१९-८
प्रणिपत्य हि राजनं ९-२-२७
प्रणीयेन्न हि नो द्रव्यं ५-१७-२७
प्रतपन्तं श्रिया जुष्टं ९-२३-८
प्रताप्यमानं सूर्येण ८-११-३०
प्रतार्यमाणस्तैः सर्वैः ८-८-३८
प्रतिकर्तुं न शक्ता ये १२-४१-१७
प्रतिकर्म पराचारः १२-२२-५
प्रतिगृह्णामि वो धेनुं १३-१३-४८
प्रतिगृह्णाम्यहं राजन् ४-१६-३३
प्रतिगृह्णीष्व भद्रं ते १४-११-३३
प्रतिगृह्य च तान् सर्वान् १-१५-५
प्रतिगृह्य च तां पार्थः ४-१६-५३
प्रतिगृह्य ततोऽस्त्राणि ४-१२-५५
प्रतिगृह्य तु तत्सर्वं १-१४-१९
प्रतिगृह्य तु तद्रत्नं १४-१०-६९
प्रतिगृह्य तु तद् वाक्यं १-३४-३२,
२-१-११, ८-७-१०
प्रतिगृह्य धरां राजन् १४-१०-५७
प्रतिघातेन सान्त्वस्य ५-१७-१९
प्रतिजग्राह तत् कृष्णः २-७-२२
प्रतिजग्राह तान् सर्वान् १-१४-२
प्रतिजज्ञे च दाशार्हः १४-४-४५
प्रतिज्ञातं च भीमेन ९-१८-६
प्रतिज्ञातं सभामध्ये ५-३४-१६
प्रतिज्ञाते तु पार्थेन ७-१०-१
प्रतिज्ञापालनं धर्मः ९-२०-११
प्रतिज्ञाय तु दुष्यन्ते १-३-५३
प्रतिज्ञाय वधं जिष्णो ६-२६-३९
प्रतिज्ञां षण्ढकोऽस्मीति ४-१-२३
प्रतिदास्ये च भवतां १२-२७-२१
प्रतिनन्दाम ते वाक्यं ४-१०-५३
प्रतिपद्य कुरुक्षेत्रं १२-१७-२

प्रतिपद्य नरो धर्मं १२-६०-७
प्रतिपद्य यदा सूनुः १-३-८२
प्रतिपालय मां सूत ६-१५-३४
प्रतिप्रकाशिते लोके ७-३५-२७
प्रतिप्रदानं शरणागतस्य १७-३-१६
प्रतिप्रयाते दाशार्हे ५-३२-१
प्रतिबुद्धः स वार्ष्णेयः ५-३-९
प्रतिलभ्य ततः संज्ञां ७-८-५१
प्रतिलभ्य तु राधेयः ८-१०-१८
प्रतिलभ्य तु संज्ञां १४-४-३८
प्रतिवाक्यं स एवासि ८-१३-५
प्रतिविव्याध तं तूर्णं ७-३०-२
प्रतिव्यूह्य बलं सर्वं ९-१०-४
प्रतिषिद्धा हि ते याच्ञा ३-५-१८
प्रतीचीं नकुलो राजन् २-६-८
प्रतीच्छ त्वं मया दत्तं ३-१९-४१
प्रत्यक्षं गुनवादी यः १२-३३-४१
प्रत्यक्षं प्रीतिजननं १३-१४-७४
प्रत्यक्षं भूमिपालानां १०-२-३५
प्रत्यक्षं यन्मया दृष्टं ६-२-१४
प्रत्यक्षं लोकतः सिद्धिः १३-२८-१
प्रत्यक्षं सर्वसैन्यानां ८-१२-४३
प्रत्यक्षेणानुमानेन १२-१४-१७
प्रत्यपद्यन्त ते सर्वे ६-४-७०
प्रत्यश्वमेकश्च महाप्रदीपः ७-२८-३९
प्रत्याख्यातो राजपुत्र्या ४-६-१
प्रत्याख्याय च मां भीरु ४-५-२४
प्रत्याजहार तां रामः ३-२२-१०
प्रत्यादित्यं न मेहेत १२-४९-२१
प्रत्यादित्यं प्रत्यनलं १३-१७-४७
प्रत्याहुर्नोच्यमाना मे १२-३२-४
प्रत्युत्थानासनाद्येन १-२०-३०
प्रत्युद्गम्याथ विव्याध ६-२४-३३
प्रत्युद्ययुस्ततो भीमं ६-१३-४०
प्रत्युद्याहि रणे पार्थं ९-३-३९
प्रत्युपस्थितकालस्य १२-३७-२७
प्रत्युवाच महेन्द्रस्तं ३-६-२१
प्रत्यूषकाले शिबिरात् १०-३-२६
प्रदक्षिणं तौ प्रगृहीतपाणिकौ १-३२-५२

प्रदानमपि कन्यायाः १-३५-३६
प्रदायाथ मणिं द्रौणिः १०-८-४६
प्रदिशञ्छरसम्पातान् २-१८-५१
प्रदुद्रुवुस्ततस्तेऽन्ये ६-१९-३१
प्रदुद्रुवुः कुरवश्चैव ६-१५-४८
प्रद्रुतान्तान्कुरून्दृष्ट्वा ८-१९-३३
प्रद्विष्टस्य कुतः श्रेयः १२-२७-१४
प्रधर्षयन् महाबाहुः ५-२७-२२
प्रपतेद् द्यौः सनक्षत्रा ७-३-७
प्रपद्यस्व महाबाहुः ५-२६-१९
प्रपात्यमानः श्येनेन १३-१०-३
प्रपेततुः स्पर्धया च ८-८-४९
प्रबुद्धास्ते हिडिम्बायाः १-२५-५०
प्रबोधयैतान् संसुप्तान् १-२५-३२
प्रब्रूहि कतमे तत्र ८-८-६०
प्रब्रूहि राजशार्दूल १-१७-३४
प्रभग्नं स्वबलं दृष्ट्वा ७-१२-१
प्रभज्यमानं सैन्यं तु ६-२५-१८
प्रभज्यमानां सैन्यं तु ६-१२-१८
प्रभवार्थाय भूतानां १२-३१-६
प्रभातायां च शर्वर्यां ५-३७-१,
६-११-१, ६-२३-३०
प्रभातायां तु शर्वर्यां ३-१-२८
प्रभातायां रजन्यां तु ८-५-६
प्रभावज्ञास्मि ते कृष्ण १४-४-२४
प्रभां समुत्सृजेदर्कः १-७-१२
प्रभिन्नास्तु महाकायाः ६-५-२४
प्रभुत्वं लभते जन्तुः १२-५४-१६
प्रभुत्वं हि पराक्रम्य १३-१०-१३
प्रभूतनागाश्वरथं ४-५-१०
प्रमथ्नन्तं तदा वीरान् ७-२५-६
प्रमदाः कामयानेषु ५-८-६६
प्रमाणमप्रमाणं वै १३-२८-१६
प्रमृज्य वदनं शुभ्रं ७-२२-५२
प्रयच्छ पाण्डुपुत्राणां ५-२६-२२
प्रयतिष्ये तथा कर्तुं १-१५-२५
प्रयत्नज्ञो हि कौन्तेयः ७-१५-३९
प्रयत्नं कृतवन्तोऽपि १३-२९-५
प्रययौ रथघोषेण ८-९-२

प्रयाणं घुष्यतां चैव १५-६-१५
प्रयाणे च ततः कर्णः ८-७-१८
प्रयातस्याथ पार्थस्य ८-१८-१
प्रयातान्सहितान्दृष्ट्वा ३-१८-२०
प्रयातु नो भवानग्रे ५-३२-२२
प्रयान्तं नृपसिंहं तं ३-१९-७८
प्रयाहि शीघ्रं कर्तव्य ५-३४-३१
युञ्जानो महात्मानौ ४-१४-१६
प्रयोजनं च निवृत्तं १५-७-४२
प्रवर्तमाने द्यूते तु ४-१४-२४
प्रवर्तमाने संग्रामे ७-६-३७
प्रववुश्च शिवा वाताः ७-४४-१३
प्रवादितैश्च वादित्रैः १-१६-१२
प्रवादेनेह मत्स्यानां ४-७-२६
प्रवारणं तु बालानां ५-३-१६
प्रवासं यदि मे याति १३-२३-१३
प्रविवेश पितामह्याः १४-१०-:९
प्रविशत्स्वथ वीरेषु ३-११-७
प्रविश्य च पुरीं वीरः १६-५-१५
प्रविश्य तद् वनं घोरं १०-१-४
प्रविश्य तां सभां पार्थाः २-१२-२०
प्रविश्य तु रणे राजन् ७-१४-३
प्रविश्य नगरं वीरः ९-२२-२०
प्रविश्य प्रत्यपद्यन्त ९-२२-४
प्रविश्याथ गृहं तस्याः ५-२८-१
प्रविश्याथार्जुनः सेनां ७-६-७२
प्रविष्टयोर्महाराज ७-१३-१
प्रविष्टे तव सैन्यं तु ७-१६-२०
प्रविष्टो धार्तराष्ट्राणां ६-१५-३३
प्रवृणीष्वापरं सौम्य ३-२५-१५
प्रवृत्तवाक् चित्रकथ ऊहवान् ५-८-२०
प्रवृत्तं धार्तराष्ट्रस्य २-१७-४९
प्रवृत्तिलक्षणो धर्मः १३-२५-२३
प्रवेशने तु पर्थानां १२-१२-१५
प्रव्राजनं च नगरात् १२-७-५
प्रव्राज्य पाण्डवान् वीरान् ३-१६-१६
प्रशमे हि कृतो यत्नः ६-२३-३२
प्रशाधि त्वमिमामुर्वीं १२-१-२२
प्रशाधि पृथिवीं देवीं १२-५-१५
प्रसन्नमनसा सर्वे १-२२-११
प्रसन्नमप्रसन्नं वा १२-२४-२७
प्रसमीक्ष्य भवानेतत् ५-२५-१३
प्रसह्य हरणं चापि १-३५-१२
प्रसादनं पाण्डवस्य ४-१६-२१
प्रसादयामहे विद्वन् १३-१३-४७
प्रसादयामो भद्रं ते ४-१६-२४
प्रसादयेन्मधुरया १२-३४-१६
प्रसादं कुरु वीराणां ५-१२-२०
प्रसाद्य भगवन्तं ते १२-१८-४८
प्रसाद्य राजानममित्रसहं ८-१६-१८
प्रसार्य बाहू च रथाद् गतो गां ९-७-२२
प्रसिद्धव्यवहारं च १२-२६-८
प्रसीद देवि मा गास्त्वं १५-४-६६
प्रसीद मा त्यजात्मानं ३-१९-६३
प्रसुप्ताविव तौ दृष्ट्वा ३-२३-३४
प्रसुप्ते हि यथा सिंहे २-८-३०
प्रसुस्रुवुः शकृन्मूत्रं ७-११-१६
प्रस्थाप्य दूतानन्यत्र ५-३-२
प्रस्थाप्यन्तां हि विद्वांसः १४-१०-५
प्रस्थाप्यं माद्रीसुतमाजमीढः १०-५-१७
प्रस्थाप्य सेनां कन्याश्च ४-१५-१७
प्रस्थितं तमभिप्रेक्ष्य ५-२५-४३
प्रस्थितं सूतपुत्रं च ८-७-१७
प्रस्थिताः स्वानि राष्ट्राणि २-९-४१
प्रहरन्तमनीकानि ६-६-१
प्रहरस्व च मे वीर ८-१-६
प्रहरस्व शरानेतान् ३-६-४१
प्रहरिष्यन् प्रियं ब्रूयात् १-२०-२६,
१२-३७-३६
प्रहरेन्न त्वविज्ञाय १२-२०-११.
प्रहर्षं प्राप्य सेना तु ९-३-२५
प्रहर्षः प्रीतिरानन्दः १२-६३-१२८
प्रहर्षात् प्रददौ वित्तं ४-४-१७
प्रहसंश्चाब्रवीद् वाक्यं २-९-३
प्रहारवेगाभिहतान् १-१३-८
प्रहितो विदुरेणास्मि १-२३-१९
प्रहृष्टमनसं ज्ञात्वा ७-३४-४
प्रहृष्टमानसं तत्र १-१२-३
प्रहृष्टा दंशिता योधाः ५-३१-२४
प्राकारं भृत्यभरणं १२-२७-२५
प्राकृतो हि प्रशंसन्वा १२-३३-३७
प्राक्कर्मभिस्तु भूतानि ११-२-१२
प्राक्रोशन् क्षत्रियास्तत्र ६-२४-६०
प्राक्रोशन् प्राद्रवंश्चान्ये ६-२७-४९
प्रागुत्तरेण नगरात् १-३०-१२
प्रागेव तु धनादानं १२-२७-१७
प्रागेव तु महाबुद्धिः ११-३-२३
प्रागेव विद्रुतान् दृष्ट्वा ७-४१-२
प्राग्ज्योतिषमथाभ्येत्य १४-७-२१
प्राग्ज्योतिषश्च नृपतिः २-६-४४
प्राग्ज्योतिषो महेष्वासः ६-१७-६
प्राग्ज्योतिषपुरं यातान् २-९-२८
प्राग् द्वादशसमा राजन् ३-९-६
प्राङ्मुखस्योर्ध्वबाहोः सा ५-३०-१२
प्राजापत्यं तथैवैन्द्रं ४-१४-१६
प्राज्ञ एको रमते ब्राह्मणानां १२-६१-३३
प्राज्ञस्तव जातु क्रुधं न भ्राता ८-१५-५२
प्राज्ञस्तु जल्पतां पुंसां १-३-९३
प्राज्ञस्त्यागगुणोपेतः १२-१५-२३
प्राज्ञः प्राज्ञप्रलापज्ञः १-२२-४४
प्राज्ञः शूरो धनस्थश्च १२-२७-४१
प्राज्ञाञ्शूरान्महोत्साहान् १२-२९-११
प्राज्ञा मेधाविनो दान्ता १२-२६-१२
प्राज्ञैः शूरैर्महोत्साहैः ५-२४-४५
प्राज्ञोपसेविनं वैद्यं ५-१२-२९
प्राणकृच्छ्राद् विमुक्तं त्वं २-१-६
प्राणदानात्परं दानं १३-२१-४४
प्राणप्रदानजं त्वत्तः १२-३५-१४२
प्राणवान् विक्रमी चैव १-१३-१३
प्राणवांश्चापि भवति १३-१४-७३
प्राणातिपातः स्तैन्यं च १३-६-६
प्राणात्यये विवाहे च १२-३१-११
प्राणानादत्त योधानां ६-२५-५२
प्राणानुत्स्रष्टुमिच्छामि १३-३२-४०
प्राणानुपासृजद् वीरः १०-४-२७
प्राणान्तकारिणीं घोरां ९-२१-१५
प्राणान्तिकैरप्युपायैः ५-५-५

प्राणान् ददाति भूतानां १३-१४-७७
प्राणा: प्राणभृतां संख्ये ७-६-८१
प्राणिनामवधस्तात् ८-१५-२७
प्राणी धर्मसमायुक्त: १३-२०-१२
प्राणे शौर्येऽथ विज्ञाने ८-५-१०
प्राणैर्हंस प्रपद्ये त्वां ८-८-६३
प्राणोत्सर्गं विसर्गं वा १३-१३-१४
प्राणो वै यज्ञियं साम ३-२४-२१
प्रातरुत्थाय कृष्णस्तु ५-२२-१
प्रातरुत्थाय तान् राजन् १५-३-६
प्रातरेव हि पश्येथा १५-३-१९
प्रातिकामिन् द्रौपदीमानयस्व २-१४-११
प्रादुरासंस्ततो बाणा: ७-४३-२
प्रादुरासीत् तया तेन १-२३-३८
प्रादुश्चक्रे ततो मायां ६-२१-२६
प्रादुश्चक्रे यदा द्रौणिरस्त्रं ७-४३-१
प्रादुष्करोम्येष महास्त्रमुग्रं ८-२४-१७
प्रादुष्कृताग्निरभवत् १५-४-८६
प्रादुष्कृता यथान्यायं १५-४-८५
प्राद्रवन्नाथमिच्छन्ती ४-७-४
प्राप्तकालमहं मन्ये ९-१२-५८
प्राप्तमप्रतिमं दु:खं ३-२२-८
प्राप्तं कलियुगं विद्धि ९-२०-१८
प्राप्तं पुत्रफलं त्वत्त: १५-७-३९
प्राप्ता सुमहतीं सिद्धि १५-८-३४
प्राप्ता: स्यां यद्यहं वीर ३-१९-३१
प्राप्स्यते च भवान्पुण्यं १५-४-३६
प्राप्तोऽस्मि पाण्डवान् गत्वा ५-१३-४
प्राप्तोऽस्मि समये राजन् १३-३२-१७
प्राप्तौ तु क उपाय: स्यात् १-३५-१०
प्राप्नुयात् स यशो दीप्तं २-४-११
प्राप्य चापि महद् राज्यं ५-२९-२५
प्राप्य राज्यं महातेजा: १-३४-४९
प्राप्य राज्यं महात्मान: १५-१-१;४
प्राप्य राज्यं महाबाहु: १२-१३-१
प्राप्य राज्यं महाराज १२-१३-२
प्रायशो हि कृतं कर्म १०-१-३९
प्रायश्चितं कृतघ्नानां १३-६-१
प्राय: स्त्रीशेषमभवत् ९-१-१८
प्रायात् पुनर्महाबाहु: ६-४-३०
प्रायेण श्रीमतां लोके १२-१०-२३
प्रायोयविष्टं जानीध्वं १२-१०-७
प्रायोपविष्टं राजानं ३-१९-५६
प्रायोपविष्टे नृपतौ १४-९-३४
प्रार्थयेयं त्वया सख्यं १-१८-३९
प्रार्थितं ते मया चक्रं १०-६-३४
प्रार्थितो राजसूयो मे २-३-१०
प्रावर्तत ततो युद्धं ६-१२-३
प्रावर्तत महावेगा ६-१२-७
प्राविशत् पाण्डवानीनकं ७-२५-१
प्रासादशतसम्बन्धं १४-१०-९
प्रासादहर्म्यसंवृद्धां १५-६-७
प्रियदर्शी महाबाहु: ३-१७-४४
प्रियमेव परीप्सन्ते २-३-१४
प्रियमेव वदेन्नित्यं १२-६३-१५
प्रियवचनवादी किं लभते ३-२४-७७
प्रियवचनवादी प्रियो भवति ३-२४-७८
प्रियवादी सदा दान्त: ४-९-२६
प्रियस्ते नकुलो राजन् २-१३-३५
प्रियस्ते भीमसेनोऽयं ३-२४-८९
प्रियं कर्तुमुपस्थातुं २-६-१४
प्रियं तु ते चिकीर्षामि ४-१५-१९
प्रियं तु मे स्यात्सुमहत् १४-१-१५
प्रियं ब्रूयादकृपण: १२-२०-४
प्रियं हि हर्षजननं १२-५७-९
प्रिया च दर्शनीया च ३-४-२
प्रियाणि लभते नित्यं १३-१४-२४
प्रियाभ्युपगते द्यूते ५-२५-१७
प्रिया हि पाण्डवा नित्यं ७-२८-२
प्रिये नातिभृशं हृष्येत् १२-२८-३८
प्रियो बहुमतश्चासं ४-१६-३६
प्रियो भवति दानेन ५-१२-१५,
१२-३५-१२६
प्रियो मेऽयं प्रियोऽस्याहं १३-२४-७
प्रीतस्तेऽभिगमेनाहं ६-४-४९
प्रीतात्मा स तु तं वाक्यं १४-११-७१
प्रीतिमान्नं पितु: पुत्र: १२-५२-१२
प्रीतिमानस्मि ते पार्थ ३-६-४३
प्रीतिश्च मनुजव्याघ्र १-१७-११
प्रीतोऽहं पुत्र युध्यस्व ६-४-१९
प्रीत्या शोक: प्रभवति १२-४१-८
प्रीयते हि हरन्पाप: १२-१८-५
प्रेक्षतस्त्वेव पार्थस्य १६-४-४५
प्रेक्षन्त: सर्वतस्तौ हि ९-५-११
प्रेक्षमाणा बहुविधान् ३-१०-३
प्रेक्षमाणो वनं तत्तु १-३-९
प्रेक्षापूर्वं मया द्यूतं २-१६-३०
प्रेरितो वासुदेवस्तु २-१-८
प्रेषिता भीमसेनेन ६-२२-३७
प्रेष्यतां चैव राधेय: १-३३-२६
प्रेष्यतां द्रुपदायाशु १-३३-५५
प्रेष्यमाणा विकल्पन्ते १२-१४-२५
प्रैक्षन्त कुरव: सर्वे ४-१३-२२
प्रोवाच दु:खशोकार्त: १४-८-१७
प्रोवाचाथ सुसंरब्ध: १५-२-६
प्रोवाचेदं वच: काले १४-१०-२
प्लवन्ते धर्मलघव: १३-१-१२

फ

फलमस्यावहासस्य ९-१५-२६
फलमूलाशनाहारा ३-१-३०
फलानि वृक्षमारुह्य १-१३-७
फल्गु यच्च बलं किंचिद् ५-३१-२६
फाल्गुनस्य वच: श्रुत्वा ३-८-१८
फाल्गुनेन प्रतिज्ञाते ५-३५-१
फाल्गुनोऽपि तथेत्युक्त्वा ६-२८-९
फेनमात्रोपमे देहे १२-६३-१६०

ब

बकवच्चिन्तयेदर्थान् १३-३७-१८
बद्ध्वा तु कवचं तस्य ७-१२-२८
बन्धनाद् विप्रमुक्ताश्च २-५-६४
बन्धूनां सुहृदां चैव १२-५२-३८
बबन्ध कक्ष्यां कौन्तेय: ४-४-१०
बबन्ध नेत्रे स्वे राजन् १-८-२७
बभञ्ज चैनां त्वरित: ६-२२-१८
बभूव तुमुलं युद्धं ८-२-१७
बभूव विमना: पार्थ: १६-४-४८
बभूव सर्वसैन्यानां ६-१९-१६

बलज्येष्ठं स्मृतं क्षत्रं ५-३५-३७
बलदेवस्य वाक्यं तु ५-१-४४
बलवती क्षुद् बालानां १४-११-५३
बलवत् प्रतिविद्धस्य ४-१५-३३
बलवन्तश्च दाशार्हाः १-३३-६८
बलवन्तः समृद्धार्था १-२४-१८
बलवान् पुत्रस्नेहश्च ५-१७-२२
बलस्य परिमाणे च १२-१२-२९
बलं प्रसादयेद् राजा १५-३-३६
बलं बुद्धिश्च तेजश्च १६-५-२१
बलं वीर्यं च शौर्यं च ५-३४-२४
बलात् पार्थस्तु विष्टभ्य ६-२५-४५
बलानां हर्षणं नित्यं १२-१६-५
बलाबलममित्राणां ५-३५-४९
बलिना विग्रहो राजन् १२-३६-३६
बलिना संनिकृष्टस्य १२-३५-५७
बलिनो भ्रातरश्चास्य ७-२६-३१
बलिनौ मतिमन्तौ च १२-३५-१०६
बलिषड्भागमुद्धृत्य १२-३६-३४
बलीनां सम्यगादानात् २-६-११
बली भीमः समर्थश्च ९-१६-७
बलेन तुल्यश्च न विद्यते मया ४-३-२४
बलेन महता युक्ताः ६-२०-७
बहवः पर्वता भीम ३-११-१८
बहुत्वान्निहतौ तत्र १६-१-४१
बहुत्वान्मम कार्याणां ८-५-८
बहुपुत्रः प्रियापत्यः ८-८-३२
बहुपुष्पफलं रम्यं ३-३-३
बहुप्रकारा दृश्यन्ते ७-८-४
बहुभिः सह संगम्य ७-२०-६१
बहुरत्नं ददौ कृष्णो १४-५-३
बहुलत्वं च सेनानां ५-५-११
बहुविघ्नश्च नृपते २-२-८२
बहुवित्तं पराजैषीः २-१३-२५; ४६
बहुशः कत्थसे कर्ण ७-२६-१२
बहुशः प्रतिषिद्धोऽसि ४-१५-३१
बहुशो जीयमानस्य ५-५-२९
बहुशोणितदिग्धाङ्गः २-१८-५७
बहुशोऽसि मया राजन् ६-११-२१
बहुश्रुतः कृतात्मा च ५-१४-३७
बहूनपि हयारोहान् ६-५-२६
बहूनां कलहो नित्यं १२-४६-१३
बहूनि च विचित्राणि १४-३-१५
बहूनि पतितानि त्वं ८-८-५८
बहूमि हि विचित्राणि ६-१८-१
बहूंश्च दीर्घान् प्रविकीर्य ४-३-५६
बह्वाशिनं ततो भीमः ६-१९-३०
बह्वीस्तथान्या मायाश्च ६-२४-२५
बह्व्यो दृष्ट्वा शरीराणि ११-५-८
बाढमित्येवमुक्त्वा तु ६-२०-१५
बाधेतामानुषः शत्रुः १-१५-६५
बान्धवाः कर्म वित्तं वा १२-४७-१
बार्हद्रथो जरासन्धः २-४-९
बालस्य हतबन्धोश्च १४-८-१४
बाला क्षुधार्ता नारी च १४-११-६४
बालानामथ बृद्धानां १३-७-२५
बाला यूयं न जानीध्वं २-७-२६
बाला विहीनाः पित्रा ते ५-२४-२९
बालो युवा च वृद्धश्च १२-४८-१३
बाल्यवृत्तानि सर्वाणि ७-३८-५
बाल्यात्त्वमिह त्यजसि ८-७-२१
बाष्पपूर्णमुखी दीना १२-३६-११
बाहुभिः क्षत्रियाः शूराः ७-२६-२०
बाहुभ्यामुद्धरेद्भूमिं ८-९-१५
बाहुभ्यां परिरभ्यैनं ४-७-६
बाहुभ्यां योक्त्रयित्वा तं १-२५-६९
बाहुवीर्ये समो नास्ति ८-५-१४
बाहुश्रुत्यं तपस्त्यागः १२-६३-६०
बाहूनिवैतान् माच्छेत्सीः २-११-४३
बाहू विदर्शयन् राजन् २-१८-५०
बाहूंश्चिच्छेद तरसा ९-७-४
बाह्यमाभ्यन्तरं चैव १२-२६-१४
बाह्यश्चेद्विजिगीषुः स्यात् १२-३५-२२
बाह्यान्तरं च भूतानां १२-४-२२
बाह्वोर्बलं हि भीमस्य १-२८-१६
बाह्वोर्बले नास्ति समः २-१८-४९
बिभित्सवस्ततो व्यूहं ६-१७-३
बिभेद हृदयं राज्ञः ७-५-६५
बिभेमि कर्मणः पापात् १२-१८-११
बिभ्रतः क्षात्रमोजश्च २-५-१४
बीजं भक्तेन सम्पाद्य १२-३५-१३
बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यं १२-५१-१०
बीभत्सुरपि गीतेन ४-४-२१
बीभत्सुर्दक्षिणं पार्श्वं ७-२५-२५
बीभत्सोर्वचनं सौम्य १२-९-११
बीभत्सो विप्रकर्माणि ७-४१-२१
बुद्धियोगबलोत्साहैः १-१५-३१
बुद्धिलाभात्तु पुरुषः १२-६३-९२
बुद्धिशूरास्तथैवान्ये १३-१५-२०
बुद्धिश्च हीयते पुंसां ३-१-१६
बुद्धिश्रेष्ठानि कर्माणि १२-३३-१८
बुद्धौ कलुषभूतायां ५-९-४७
बुद्धौ कलुषितायाञ्च २-२१-७
बुद्ध्या भयं प्रणुदति ५-११-१७
बुद्ध्याभिजानामि नरेन्द्रपुत्र ३-२०-१५
बुद्ध्वा च स महातेजाः १२-५०-२०
बुभुक्षां जयते यस्तु १४-११-७३
बृहतीं धार्तराष्ट्रस्य ६-२-४१
बृहन्नलासहायश्च ४-१५-५
बृहन्नला सुकल्याणि ४-८-३८
बृहन्नलां तामभिवीक्ष्य ४-३-६२
बृहन्नले गायनो वा ४-११-३७
बृहन्नले नु किं तेऽद्य ४-८-३६
बृहस्पतेरुशनसः ९-२१-३३
बोध्यमानं तु तत्सैन्यं ७-३५-२८
बोध्यं शान्तमृषिं राजा १२-४६-४
ब्रवीम्यतेत् क्लीबवत् त्वां ६-४-३७
ब्रवीषि यदिदं कर्ण ३-१६-२४
ब्रह्मक्षत्रस्य सम्मानात् १२-२२-३
ब्रह्मक्षत्रेण संसृष्टं ३-३-१३
ब्रह्मघोषाश्च भूयांसः ४-९-२८
ब्रह्मघ्ने च सुरापे च १२-६३-६४
ब्रह्मचर्यं परो धर्मः १-२९-५९
ब्रह्मचर्यं महद्घोरं १०-६-२८
ब्रह्मचर्यात् परं तात १३-७-६
ब्रह्मचारी गृहस्थश्च १२-६-१२
ब्रह्मचारी व्रती चापि १०-८-६

ब्रह्मतेजोद्भवं तद्धि १०-८-७
ब्रह्मदत्तः सुतं दृष्ट्वा १२-३६-१७
ब्रह्ममृत्यू ततो राजन् १४-१-४१
ब्रह्मलोकं गुरोर्वृत्या १२-३०-६
ब्रह्मलोकपरा भूत्वा ९-५-२९
ब्रह्मादित्यमुन्नयति ३-२४-१३
ब्रह्मास्त्रमप्यवाप्यैतत् १०-८-२१
ब्रह्मस्त्रमुद्यतं दृष्ट्वा ७-२५-२०
ब्रह्मास्त्रेणैव तं पार्थः ८-२६-१५
ब्रह्मेशानेन्द्रवरुणान् ७-१९-१, ८-९-७
ब्राह्मणक्षत्रियाद्यं च १-१६-११
ब्राह्मणस्य तु देहोऽयं १२-६३-१६४
ब्राह्मणस्य तु यो धर्मः १२-१७-७
ब्राह्मणस्थ वचः श्रुत्वा ३-२३-१२
ब्राह्मणस्य वशं नाहं ७-४-१८
ब्राह्माणस्यांसदेशे सः ८-१३-२४
ब्राह्मणं वृद्धमाचार्यं ७-४१-९
ब्राह्मणं स्वयमाहूय ३-२४-६९, १३-८-२
ब्राह्मणानां च वेश्मानि १४-१०-१२
ब्राह्मणानां तपस्त्यागः १२-९-४
ब्राह्मणानां महाराज १२-९-१५
ब्राह्मणानां यथाधर्मः १२-१३-३२
ब्राह्मणानां सतामेषः १३-१२-३
ब्राह्मणानेव सेवस्व १३-२८-१७
ब्राह्मणायाभिरूपाय १३-१४-६८
ब्राह्मणाश्च हि ते नित्यं १३-३२-४३
ब्राह्मणाश्च महीपाल १५-४-१०
ब्राह्मणांश्चैव मन्येत १३-७-९
ब्राह्माणांस्तपर्यन् द्रव्यैः १३-१४-३६
ब्राह्मणाः कथयिष्यन्ति ५-२९-२९
ब्राह्मणाः श्रुतिसम्पन्नाः १३-९-१४
ब्राह्मणेभ्यः प्रदायाग्रं १२-४२-१२
ब्राह्मणेभ्यः प्रयच्छन्ति १३-१६-१५
ब्राह्मणेषु च ये शूराः ५-११-२३
ब्राह्मणेषु च वृत्तिर्या १३-२८-१५
ब्राह्मषेपु सदा वृत्ति ३-१९-४२
ब्राह्मणेषूत्तमा वृत्तिः ३-३-१६
ब्राह्मणैस्ते च सहिताः १-३०-१४
ब्राह्मणो गुणवान् कश्चित् १-७-१९
ब्राह्मणो द्विपदां श्रेष्ठः १-३-८४
ब्राह्मण्यनुपमा दृष्टिः ३-३-१४
ब्राह्मण्यः सत्त्वयोधी च ६-३०-१६
ब्राह्मण्यः सत्यवान् दान्तः ७-२६-३०
ब्राह्मं वेदमधीयानाः १-२६-१९
ब्राह्मे बले भवान् युक्तः ८-१०-२७
ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत १३-१७-१४
ब्राह्मया श्रिया दीप्यमानं ३-६-१५
ब्रुवन्नुच्चैर्वचस्तांश्च १८-१-६
ब्रूयाद् य एवं गाण्डीवं ८-१६-२५
ब्रूगात्स्वं वासुदेवं च ५-३४-१४
ब्रूयात्स्वं सहदेवं च ५-३४-१९
ब्रूया कर्ण इतो गत्वा ५-२९-३१
ब्रूयाः केशव राजानं ५-२८-४
ब्रूयाः सञ्जय राजानं ९-१२-३९
ब्रूहि चैव परं वीर ६-४-५४
ब्रूहि भूयो महाबुद्धे ५-१०-१
ब्रूहि सर्वं यथातथ्यं ९-१-२८

भ

भक्तत्यागं प्राहुरत्यन्त- १७-३-११
भक्तं च भजमानं च ५-८-५२
भक्तानामनुरक्तानां १३-१०-२४
भक्षयित्वापि यो मांस १३-२१-३५
भक्ष्यभोज्याधिकारेषु २-७-४
भक्ष्यं पेयमथो लेह्यं १२-४२-११
भक्ष्यं भोज्यं च पेयं च १-१३-१७
भक्ष्योत्तमप्रतिच्छन्नं ५-९-५
भक्ष्यांश्च विविधाकरान् ४-६-७
भगदत्तः प्रभिन्नेन ६-१३-५१
भगवन् काम्यकात् पार्थे ३-१०-१
भगवन् देवर्षीणां त्वं ३-२२-४
भगवन्नाभ्यसूयामि ११-४-९
भगवन् नरलोकस्थं १२-१८-४९
भगवन्नार्यमाहैतत् ३-१४-२२
भगवन्निहताः सर्वे १६-१-४९
भगवन् न्याय्यमाहैतं २-२-७८
भगवन् सर्वधर्मज्ञ १३-२०-६
भगवन् संशयो मेऽस्ति १३-२५-५
भगवंस्त्वत्प्रसादान्मे १२-३३-६
भग्नचक्राक्षनीडाश्च ६-१४-११
भग्नदर्पं हृतधनं १-१८-३४
भग्नसक्थो नृपो राजन् ९-२३-२
भग्नं तु स्वबलं दृष्ट्वा ६-२२-१३
भयं ते सुमहत् कस्मात् १३-१०-५
भयात्पापात्तथा बाधात् १३-७-२७
भयाद् रणादुपरतं ६-३ ५४
भयान्नमन्ति राजानः १०-४-७
भयार्ताय ततस्तस्मै २-५-७३
भयेन दीनरूपोसि ४-१२-९
भयेन भेदयेद् भीरुं १-२०-२१
भरतस्य महत्कर्म १२-११-२७
भरतस्यान्वये जातं १-३५-३९
भरतस्यान्वये जाता १-४-१
भरतं चैव दौष्यन्ति १२-११-१५
भरताद् भारती कीर्तिः १-३-११४
भरतानां महज्जन्म १८-४-२
भरद्वाजसखा चासीत् १-१४-६
भरद्वाजोऽपिभगवान् १-१४-९
भरस्व पुत्रं दुष्यन्त १-३-१०४
भर्तारमनुरुन्धन्त्यः ४-६-३५
भर्तारं निहतं दृष्ट्वा १४-९-१८
भर्तृ पिण्डविमोक्षार्थं ९-५-३०
भत्रानिन महाभागे १-२६-८
भव एधस्व मोदस्व २-२-८५
भवतश्च प्रियं यत्स्यात् ७-४-१२
भवता सत्यमुक्तं तु ५-५-१६
भवता संगमो यस्य ३-१०-१९
भवतो बाहुवीर्येण १२-१-६
भवत्प्रसादाद् भगवन् १४-५-१६
भवत्या यदभिप्रेतं १-७-२४
भवत्या यन्मतं कार्यं १-२९-१५
भवदीयमिदं सर्वं १५-२-४४
भवद्भिर्न हि मे मन्युः १५-४-२५
भवद्भ्यामिह संग्रामः ७-२९-३
भवद्भ्यां पुरुषाग्र्याभ्यां ५-३५-७
भव नस्त्वं महाराज १२-१२-२२
भवन्तश्च परिश्रान्ताः ९-१३-१२
भवन्तं चेह सम्प्रेक्ष्य १५-७-४०

भवन्तं धृतराष्ट्रोऽपि ५-२-६
भवन्तः कारयन्त्वेषां ११-६-६
भवन्तः कुरवश्चैव १५-४-११
भवन्तः सुहृदोऽस्माकं १-२२-४१
भवन्ति गेहे बन्धक्यः २-१५-१
भवन्ति भेदा ज्ञातीणां ३-१८-२
भवन्तीति नृलोकेऽस्मिन् २-५-१३
भवन्तोऽप्यनुजानन्तु १५-४-१४
भवन्तोऽस्य च वीरस्य १४-४-२३
भवानग्रे रथोदारः ५-३५-१०
भवानन्यद् वनं साधु ३-१०-४
भवानपि तथा सम्यक् १२-२८-४२
भवानभिगतः पूर्वं ५-३-१४
भवानर्धरथो मह्यं ५-३५-३४
भवानिह च सारथ्ये ५-४-२४
भवानुपेक्षां कुरुते ७-२३-७
भवानुशनसा तुल्यः ५-३२-२१
भवानेव तु नः शक्तः ८-१-१३
भवानेव प्रियोऽस्माकं ३-६-६
भवान् क्षत्ता च राजा च ५-२५-१४
भवान्पिता भवान्माता १-८-२०,
१२-४-२३, १५-२-३६
भवान् पितृसमो मह्यं ७-११-२४
भवान् भीष्मश्च कर्णश्च ६-३-८
भवान् मातृसमोऽस्माकं ८-१५-४०
भवान् वा विधिवत्पाणिं १-३२-५०
भवान् बृहत्तमो राज्ञां ५-२-५
भवान् समर्थस्तान् सर्वान् ५-३-२९
भवान् संचरते लोकान् २-२-७९
भवान् सेनापतिर्मह्यं ६-७-२०
भवान् हि परिपाल्यो मे १४-११-५०
भवान् हि संकृतो वीरैः ३-९-३०
भवांश्च मध्यस्थतया ६-१९-३४
भवांस्तु कीर्तिमाँल्लोके ५-३-३०
भवांस्तु धर्मसंयुक्तं ५-२-२२
भवितव्यं सदा राज्ञा १२-१४-१९
भवितव्यं हि यद् भावि ७-२०-८२
भविता त्वत्समो नान्यः १-१५-६६
भवितायं महारौद्रः ५-३३-५
भविता विग्रहः सोऽयं ५-३२-३
भविष्यन्ति सहामात्याः ९-३-१२
भवेत् सत्यमवक्तव्यं ८-१५-३४
भवेत् सत्यव्रताचारः १२-६३-१४३
भवेत्सत्यं न वक्तव्यं १२-३१-५
भवेस्त्वं यद्यपि त्वाढ्यः १२-४७-२०
भागिनेयान् निजांस्त्यक्त्वा ९-३-७
भागोऽवशिष्ट एकोऽयं ९-६-८
भाजनानि च लौहानि १५-७-२०
भाण्डागारायुधागारं १२-२६-११
भाण्डागारायुधागारान् १२-१९-४७
भानुमांस्तु ततो भीमं ६-९-१०
भारताचार्यपुत्रस्त्वं १०-६-३२
भारद्वाजप्रियं कर्तुं १-१८-१९
भारद्वाजस्ततस्तूर्णं ६-१७-२३
भारद्वाजस्ततः क्रुद्धः ६-१७-१९
भारद्वाजस्तु समरे ६-१७-१३
भारद्वाजो ययौ मत्स्यं ६-१७-४
भारो हि धार्तराष्ट्रेण ८-२१-७
भार्या पुत्रोऽथ दुहिता १-२७-२६
भार्याभिहृतो वैरी यः ३-२१-३१
भार्या मे भव सुश्रोणि ३-२०-२३
भार्यावन्तः क्रियावन्तः १-३-७७
भार्या हि परमो ह्यर्थः १२-३८-३०
भार्यां गच्छन् ब्रह्मचारी १३-१६-९
भार्यां पतिः सम्प्रविश्य १-३-७३
भावस्ते विदितोऽस्माभिः ५-३४-५१
भावं जिज्ञासमानोऽहं ५-१८-३१
भाषमाणस्य काकस्य ८-८-४१
भासं पश्यसि यच्चेनं १-१५-५१
भास्करस्येव पतनं ७-४०-१
भिक्षुकांश्चाक्रिकांश्चैव १२-१९-४४
भित्त्वानीकं महेष्वासः ७-८-१७
भिन्ध्यनीकं युधांश्रेष्ठ ७-६-२४
भिन्नमर्मा शरशतैः ६-५-५३
भीतवत् संविधातव्यं १-२०-४५,
१२-३७-२५
भीतं भक्तं नान्यदस्तीति १७-३-१२
भीतो भीमं त्यज्य चायासस्तथा ८-१५-२
भीतोऽस्मीति कथं ब्रूयां ५-३३-१८
भीम नारायणस्त्वं मे ७-४३-२५
भीमभीमरथौ चोभौ ६-१३-४६
भीम मा भैर्महाबाहो १-२५-६३
भीमवेगो भीमबलः १-१०-१३
भीमश्च वृष्णिसिंहस्य ७-२१-३८
भीमसेन न ते शक्या ७-१९-८
भीमसेनप्रभावात्तु ८-१४-१३
भीमसेनमिमं चापि ३-४-१०
भीमसेनरवं श्रुत्वा ७-१९-४२
भीमसेनवचः श्रुत्वा २-१६-१,
७-३९-१०
भीमसेनसहायश्च १-१९-१५
भीमसेनस्ततो राजन् ६-९-३९
भीमसेनस्तथेत्युक्त्वा ३-२३-४४
भीमसेनस्तमालोक्य २-१६-५
भीमसेनस्तु कौन्तेयः ६-१५-७,६-९-१८
भीमसेनस्तु तत् श्रुत्वा १-२८-२८
भीमसेनस्तु तं दृष्ट्वा १-२५-४३
भीमसेनस्तु धर्मेण ९-१८-४
भीमसेनस्तु राजानं ६-२५-२
भीमसेनस्तु राजेन्द्र १-२३-४५, ५-३६-३
भीमसेनस्तु सव्रीडं ७-३९-८
भीमसेनस्तु सम्प्रेक्ष्य ६-२२-३२
भीमसेनस्य वा राजन् १-३३-२१
भीमसेनं तथा दृष्ट्वा ६-९-३५
भीमसेनं समाकीर्णं ७-४४-१
भीमसेनः सुनिशितैः ६-१५-२२
भीमसेनादयश्चैव १५-७-२५
भीमसेनादिभिः सर्वैः ३-१२-४६
भीमसेनाद्धि मे भूयः ५-१४-१५
भीमसेनार्जुनयमैः ६-१५-५
भीमसेनार्जुनौ चोभौ ३-४-३८
भीमसेनेन तत्रोक्तः २-१०-१२
भीमसेने प्रविष्टे तु ६-१५-२८
भीमसेनोऽपि तद् रक्षः १-२८-३५
भीमसेनोऽपि तेजस्वी १४-६-१५
भीमसेनोऽपि समरे ६-२२-२२
भीमसेनोऽपि संक्रुद्धः ६-१७-३९

भीमसेनो महाबाहुः १-१८-५, १-३३-६२
भीमसेनो महाराज ६-१९-३७
भीमसेनोऽर्जुनश्चैव ९-१०-११
भीमस्तमाह च ततः ८-४-१३
भीमस्तु समरे क्रुद्धः ९-१०-२५
भीमस्तु सारथिं हत्वा ६-१९-१८
भीमस्त्वापततो राज्ञः ३-२१-१६
भीमं च भीमविक्रान्तं १८-२-४
भीमं च वलिनां श्रेष्ठं १५-७-५५
भीमः प्रियस्ते सर्वेभ्यः १०-६-३
भीमार्जुनावुभौ नेत्रे २-४-१३
भीमार्जुनौ परित्यज्य १७·३-२०
भीमार्जुनौ यमौ चैव २-१६-२,
१७-१-१५
भीमेन च परामृष्टः ४-७-५५
भीमोऽथ प्रथमं गत्वा ४-७-४०
भीमोऽपि वेगादवतीर्य ८-२०-९
भीमोऽपि हत्वा तत्रैव ८-२०-२५
भीरु राजन्यो ब्राह्मणः १२-६०-१८
भीषयित्वा रथानीकं ७-१९-२७
भीष्मके चैव दुर्धर्षे २-७-३२
भीष्मचापविमुक्तानि ६-८-२४
भीष्मद्रोणप्रमुखतः ६-३-१६
भीष्मद्रोणमुखान्सर्वा ६-२५-२१
भीष्मद्रोणौ कृपद्रौणी ३-१९-३४
भीष्मद्रोणौ हतौ श्रुत्वा ९-१-२३
भीष्मश्च धृतराष्ट्रश्च २-१५-१०
भीष्मस्ततः शान्तनवः ४-१४-३७
भीष्मस्तु निहते तस्मिन् ६-९-३८
भीष्मस्तु रथिनां श्रेष्ठः ६-८-१३
भीष्मस्तु वेदनां धैर्यात् ९-२९-३
भीष्मस्तु संहतः संख्ये ६-२४-४६
भीष्मस्य तद् वचः श्रुत्वा ६-१३-६१
भीष्मस्य तु पितुश्चैव ५-२६-१३
भीष्मस्य संज्ञा तु तथैव ४-१४-४६
भीष्मस्याथ वचः श्रुत्वा ५-२५-४६
भीष्मस्यैतद् वचः श्रुत्वा १३-४-१३
भीष्मं च धृतराष्ट्रं च २-९-४४
भीष्मं च शरवर्षाणि ६-१२-३५
भीष्मं च समुदीर्यन्तं ६-६-४०
भीष्मं तु रथवंशेन ६-२३-३५
भीष्मं तु समरे क्रुद्धं ६-१९-१०
भीष्मं द्रोणं कृपं द्रौणि २-७-२
भीष्मं शान्तनवं दृष्ट्वा ६-२८-१
भीष्मं शान्तनवं षष्ट्या ४-१३-४४
भीष्मः कृत्वा महाव्यूहं ६-१९-२
भीष्मः पितामहो राजा ३-१-२०
भीष्मः प्रस्थाप्य राजानं ४-१३-२१
भीष्मः शान्तनवस्तपूर्णं ६-१८-२३
भीष्मः शान्तनवो विद्वान् १-३४-१
भीष्मेण सर्वमुक्तोऽसि १५-३-३८
भीष्मे तु संग्रामशिरोविहाय ४-१४-२५
भीष्मे द्रोणे कृपे कर्णे ३-६-२
भीष्मे ब्रुवति तद् वाक्यं ५-५-२०
भीष्मे शान्तनवे नाथे ९-२३-३
भीष्मे शान्तनवे राजन् २-७-३१
भीष्मो द्रोणश्च कर्णश्च ३-५-३४,
४-११-२, ८-२७-२३
भीष्मो द्रोणः कृपश्चैव २-१२-३७
भीष्मोऽपि समरे राजन् ६-१६-६
भुक्तं राज्यफलं पुत्राः १५-४-७६
भुक्तो वाप्यथवाभुक्तः १-२९-३२
भुक्त्वा तानापि सक्तून् १४-११-५८
भुङ्क्त एव तु कौन्तेयः १-१५-२२
भुङ्क्तेऽन्यस्मिन् कदाचित् १४-११-२४
भुंक्ष्व भोगान्भ्रातृभिश्च १४-१-६
भुंक्ष्व भोगान् मया सार्धं १-१७-१६
भुञ्जानमन्नं तं दृष्ट्वा १-२८-२६
भुञ्जाना मुनिभोज्यानि ३-१४-२३
भूतसंघाश्च बहवः १-३६-४०
भूतं भव्यं भविष्यं च १२-५७-५
भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः ५-२-१५
भूमिरल्पफला देया १५-३-३१
भूमिरेतो निगिरति १२-९-२०
भूमिष्ठानीव भूतानि १२-६३-१३१
भूमेः क्षमा च तेजश्च २-१८-१४
भूमौ शये जप्यपरः १५-२-२२
भूय एव तु भीष्मश्च १-३३-३८
भूय एवाभ्यवर्षच्च ७-१५-३४
भूयश्च विननादोग्रं ६-२०-३४
भूयश्च श्रोतुमिच्छामि ५-३५-४८
भूयश्चोवाच मतिमान् ८-१७-२०
भूयांसं लभते क्लेशं ५-९-१९
भूयो भूयः समीहन्ते ११-२-३२
भूरिश्रवसि संक्रान्ते ७-२१-२
भूरिश्रवा रणे मत्तः ६-१७-७
भूरिश्रवाश्च शल्यश्च ६-१३-१६
भूरिश्रवाश्छिन्नबाहुः १६-१-३५
भूरिश्रवाः शान्तनवः २-१७-१९
भूरिश्रवाः शलश्चैव ६-२४-४५
भूलिंगशकुनिर्नाम २-९-१०
भृता हि पाण्डुनामात्याः १-२१-१९
भृतो वत्सो जातबलः १२-२७-१५
भृत्यशेषं तु योऽश्नाति १२-६३-१२२
भृत्यातिथिषु यो भुङ्क्ते १३-१६-११
भृत्या मे सुभृतास्तात ९-२-४९
भृत्याश्चान्धकवृष्णीनां १६-४-२६
भृशं तु गाढविद्धत्वात् ८-२७-१०
भेदे गणा विनेशुर्हि १२-२९-६
भेदे विनाशो राज्यस्य २-११-३६
भैक्ष्यचर्या न विहिता ३-५-१९,
१२-३५-८
भैक्षचर्या परो धर्मः १३-२५-७
भैक्ष्यचर्यासु निरताः १३-९-११
भैक्ष्यमेवाचरिष्याम १२-४-४
भैमसेनिर्महाराज ५-३६-२०
भैषज्यमेतद् दुःखस्य ११-१-३९,
१२-६२-१७
भोग्ये भोज्ये प्रवचने १२-५२-१४
भोजनं भोजनार्थिभ्यः १४-१०-५२
भोजानीकमतिक्रम्य ७-१९-३५
भोजाः प्रव्रजितान् श्रुत्वा ३-२-१
भो भोः कौरवदायाद ६-१४-३३
भो भो धर्मज्ञ राजर्षे १८-२-१८
भो भोः पश्यत मे वीरं १४-९-२९
भो भोः पार्थ महेष्वास ८-२५-३०
भो भो फाल्गुन तुष्टोस्मि ३-६-४२

भो भो राक्षस तिष्ठस्व ३-१३-११
भो भो राजन्नवेक्षस्व १७-२-२४
भो भो राजन् महाप्राज्ञ १८-३-१२
भो भो शक्रात्मज श्रीमान् ३-७-५
भौमं च बिलमद्यैव १-२३-१६
भौमेन प्राविशद् भूमिं १-१६-३७
भ्रमतश्च वराहस्य १-१६-३९
भ्राजमानं श्रियायुक्तं ७-३७-१
भ्रातरश्चैव मे सर्वे ३-१९-३३
भ्रातरं निहतं दृष्ट्वा, ८-८-७१, ९-४-३४
भ्रातरः पतिता मेऽत्र १७-३-३
भ्रातरः पितरः पौत्राः १२-५५-१
भ्राता च मम बालोऽयं १-२७-४६
भ्राता भ्रातरमन्वेतु ५-७-९
भ्राता हि चिरयातो नः ३-२३-२५
भ्रातुरेतद् वचः श्रुत्वा ५-२५-४१, ८-१-३४
भ्रातुर्वचनमाज्ञाय २-९-४२, ६-२०-३८
भ्रातृभिः सह कौन्तेय १-३४-३१
भ्रातृभिः सह राजेन्द्र ५-४-१८
भ्रातृभिः सहितः सर्वैः ५-३४-१०
भ्रातृव्या बलिनो यस्मात् १-२०-५०
भ्रातृशोकाभिसंतप्तः ३-२३-२७
भ्रातृणां चैव पुत्राणां ९-१९-१९
भ्रातृणामात्मनश्चैव १०-७-१५
भ्रातृणां देहि पञ्चानां ५-७-८
भ्रातृणां निधनं श्रुत्वा ५-३४-२४
भ्रातृणां भवतामेकः ९-१५-३५
भ्रातृणां मतमज्ञाय ७-१०-२
भ्रातृनर्हसि मे वीर ३-१९-२५
भ्रातृन् द्रक्ष्यति स्वर्गे १७-३-५
भ्रातृंश्च पुत्रांश्च हतान् १०-५-१४
भ्राश्तृंच सर्वान् क्रतुभिः १२-९-२६
भ्रातृंस्तान् ह्रियतो दृष्ट्वा ३-१३-१३
भ्रातृंस्तान् विपिने त्यक्त्वा ३-६-२४
भ्रामयित्वा शतगुणं २-५-६१,४-४-१५

म

मघाविषयगः सोमः ६-२-३१
मङ्गलालम्भनं योगः ५-१२-३५
मज्जन्तमिव चात्मानं ७-२३-२६
मज्जन्त्यलावूनि शिलाप्लवन्ते २-१४-९
मञ्चाँश्च कारयामासुः १-१६-८
मणिपूरेश्वरं त्वेवं १४-९-२
मणिरत्नचितां तां तु २-१-३१
मणिं चैव प्रयच्छाद्य १०-८-२७
मणी वोष्ट्रस्य लम्बेते १२-४५-१२
मण्डलं तु समालोक्य ६-१७-२
मण्डलावर्तमार्गेषु ९-५-१५
मतमेतच्च भीष्मस्य १-२१-१०
मतं मतिमतां श्रेष्ठाः ८-१-२
मतिमन्तश्च ये केचित् २-८-१७
मत्त इव हि मातङ्गः ५-२८-४४
मत्तप्रमत्तमुदितं १४-१०-८३
मत्तः कैतवकेनैव २-१२-४५
मत्ते गजे गोवृषभे १३-५-१२
मत्वाऽऽत्मानं त्वपराद्धं १६-२-१७
मत्सकाशमनुप्राप्तं १३-१०-६
मत्समो हि गदायुद्धे ५-१५-५
मत्संहननतुल्यानां ५-३-१७
मत्स्यराजस्ततो हृष्टः ४-१५-३९
मत्स्यराजः परामृष्टः ४-१०-३०
मत्स्यः सुप्तो न निमिषति ३-२४-२९
मत्स्यो विराटो बलवान् ४-१-९ ५-३१-१७
मथ्यमानेन दुःखेन १-२७-१०
मदं स्वप्नविज्ञानं ५-१२-२५
मद्यपानं कलहं पूगवैरं ५-१०-८
मद्यमांसपरस्वानि १२-२७-३६
मद्रकाः सिन्धुसौवीराः ८-८-१३
मद्रराजमभीप्सन्तः ६-५-५७
मद्रराजः कृतः शल्यः ९-३-२७
मद्रराजो महाराज ९-३-३३
मद्रराजो महेष्वासः ५-३५-१३
मद्राधिपश्चापि युधिष्ठिरस्य ९-७-१४
मद्राधिपश्चापि विमूढचेताः ८-२६-३५
मद्राधिपो हतः शल्यः ९-१-१२
मद्रेश्वर प्रयाचेऽहं ८-६-१
मद्वचश्चापि भूयस्ते ५-३४-४२
मद्वाक्यमेतद् राजेन्द्र ३-१९-५३
मद्वाक्यसमकालं तु १-१५-३५
मद्वाक्यसमकालं ते १-१५-४६
मधुदोहं दुहेद् राष्ट्रं १२-२७-२९
मधुमांसनिवृत्तानां ७-१०-२५
मधुमांसं च ये नित्यं १३-२१-३७
मधु यः केवलं दृष्ट्वा ११-१-१७
मधुरानूपरे देशे ५-३२-३४
मधुरास्तु कथाश्चित्राः १४-२-५
मधुरेणैव राज्यस्य १-३३-४४
मधुलोभान्मधुकरैः ११-२-३७
मधु वै माध्विको लब्ध्वा २-१३-४
मधुसूदन मा कार्षीः ९-१६-१५
मध्यमः पाण्डवस्तीक्ष्णः ९-२-४१
मध्यस्थस्येह विप्रस्य १३-८-३
मध्यस्थः सततं भीष्मः १-२१-२७
मध्याह्ने सुमहारौद्रः ६-२०-१
मध्ये कुरूणां कौन्तेय ५-३४-९
मध्ये राज्ञामहं तत्र ५-१७-४३
मनसा च प्रदीप्तेन १३-१९-८
मनसा चिन्तयन्पापं ५-२३-३३
मनसोऽप्रतिकूलानि १२-६३-१४७
मनस्तु पूर्वमादद्यात् १२-६३-११९
मनुष्ययोनिमिच्छन्ति १२-४७-७
मनुष्यलोके सकले ४-१५-५६
मनुष्यशालावृकमप्रशान्तं १२-३३-४२
मनुष्याणां समालम्भः २-५-३०
मनुष्या यदि वा देवाः १३-२८-२२
मनुष्या ह्याढ्यतां प्राप्य १२-४७-१९
मनुष्येषु मनुष्येन्द्र १२-१३-२४
मनुष्यो ब्राह्मणश्चासि १२-४७-८
मनोरथद्रुमोऽस्माकं ६-१३-३५
मनोरथप्रलापा मे ७-२६-२८
मनोरथरथं प्राप्य १२-६०-२०
मन्त्रभेदस्य षट् प्राज्ञः ५-१२-२४
मन्त्रभेदे हि ये दोषाः १५-३-१५
मन्त्रयस्व महाबाहो ६-४-२३
मन्त्रयित्वा तु कौन्तेयः ४-१५-७२

मन्त्रस्य नियमं कुर्या ५-२९-२३
मन्त्रिगणश्चैव कुर्वीथाः १५-२-१३
मन्त्रिण्यननुरक्ते तु १२-२४-३७
मन्त्रे च निश्चये चैव १२-१२-२७
मन्नियोगात् सुकेशान्ते १-११-४
मन्यते स वृतं पुत्रं १-३३-४
मन्यन्ते वलवन्तस्तं १२-५०-७
मन्यमानः प्रभावं च ९-२४-१६
मन्यमानः स संकेतं ४-७-४२
मन्यमानो हतं कर्णं ८-१४-७
मन्यसे त्वं स्वकं व्याघ्रं ८-७-३६
मन्यसे यच्च कौन्तेयं ७-३६-११
मन्यसे यच्च मूढ त्वं ५-३४-४३
मन्ये चाभ्यधिकं शल्य ८-६-२३
मन्ये त्वं कुत्सितो राजन् ७-२८-७
मन्ये लोकविनाशोऽयं ११-४-५१
मन्ये वरयितव्यास्ताः १-८-१९
मन्योर्हि विजयं कृष्णे ३-४-२४
मम कौतूहलं त्वस्ति १४-२-१६
मम चान्धस्य वृद्धस्य १५-४-१७
मम तावदपर्याप्तौ ८-२२-२३
मम त्वतन्तरं कृत्यं ७-१५-१६
मम धर्मार्थयुक्तं हि ५-२३-३८
मम पञ्च सुता ब्रह्मन् १-२७-६८
मम पुत्रस्तव भ्राता १-७-६
मम पुत्राश्च पौत्राश्च ५-२०-१५
मम भीमः सखा चैव ६-१५-३७
मम वा मन्दभाग्यत्वात् ७-२७-३७
मम वित्तमसंख्येयं २-१३-२६
मम सर्वेऽपि राजानः ७-२०-७०
मम ह्यभाग्यानि पुरा ८-१५-९
मम ह्यमोघा दत्तेयं ७-२६-३७
मम ह्येतदशक्तं वै ९-१०-९
ममापि न तथा राज्ञि १५-७-५०
ममापि परमा भक्तिः ३-१-३३
ममापि मानः परमः ८-२३-१३
ममापि हि महान् हर्षः ३-१६-२५
ममाप्येतन्मतं पार्थ ३-३-७
ममाप्येष सदा माद्रि १-११-१७

ममाप्येषा मतिर्ब्रह्मन् १-२७-७२
ममाप्येषा मतिस्तात १-३३-५४
मयायं ताडितो जिह्मः ४-१५-४६
ममैतद् विहितं भक्ष्यं १३-१०-८
ममैव वचनादेषः १-२८-४
ममैष आचार्यसुतः ६-१४-१६
ममैप भारः सर्वो हि ६-२५-४८
ममैषा भगिनी पार्थ १-३५-७
मया च तत्कृतं कर्म १३-१-३५
मया च पापकर्मासौ १०-४-२२
मया च स्वयमागम्य ९-२२-२६
मया तु मोहिनी नाम १४-९-३७
मया त्वाशंसमानेन ७-१२-१०
मया त्वेतत्प्रतिज्ञातं ७-२०-८१
मया दत्तमिदं राज्यं ४-५-२६
मया नागपुरं गत्वा ५-३१-२
मयापि च प्रतिज्ञातः ५-३४-३४
मया प्लेवन संग्रामं ५-३०-३१
मया भवतु निर्वृत्तं ६-३०-१९
मया वध्योऽभविष्यत्सः ७-३४-१३
मया श्रुतश्च द्रोणेन ७-८-१५
मया वचः श्रुतं मृत्योः १३-१-२३
मया सार्धमितो यातं ५-२९-६
मया सौभपतिः पूर्वं १-६-२८
मया हि राजन् सदिगीश्वरा ८-१६-१४
मया ह्युत्सृज्य सुहृदः १-२६-५
मयि जायेत यः पुत्रः १-३-४५
मयि जीवति कौरव्य ७-४-२०,
७-२६-८
मयि जीवति गान्धारे ७-२७-३४
मयि जीवति यत् तातः ७-४०-१७
मयि जीवति राजेन्द्र ७-३-९
मयि तिष्ठति दुष्टात्मन् १-२५-४४
मयि नीतिर्बलं भीमे २-४-३२
मयि प्रतिश्रुत्य बधं हि तस्य ८-१५-५
मयेदं व्यसनं पूर्वं १-२६-२१
मयैष धन्वनिर्मुक्तैः ३-६-३६
मयैष प्रार्थितः पूर्वम् ३-६-३१
मय्येव हि विशेषेण ७-२३-२४

मरण जन्मनि प्रोक्तं १२-६०-५८
मरुद्गणैः परिवृतः ४-१५-३०
मर्त्येनावश्यमर्तव्यं ९-८-२१
मर्षयामि च तत्सर्वं ५-३५-२३
महता रथघोषेण १२-११-१४
महता राजभोगेन १३-३२-१०
महता शरवर्षेण ७-२२-३
महता शंखनादेन ९-१३-३४
महता हि प्रयत्नेन ३-१७-४८
महत्त्वाद् भारवत्त्वाच्च १-१-१३
महत्यपररात्रे च ८-१-२३
महद् वो भयमागामि ५-१५-२८
महर्षिर्भगवान् व्यासः १८-४-८
महर्षी सहितौ तत्र १०-७-२२
महर्षेर्वचनं श्रुत्वा १३-१३-२८
महर्षेः कीर्त्तने तस्य १-७-२२
महाकुलानां स्पृहयन्ति देवाः ५-११-१
महाकुले निवेष्टव्यं १३-१७-६७
महाकुले प्रसूतां च १३-१७-६३
महाऽज्ञानमहङ्कारः ३-२४-६५
महात्मा जनिता लोके १-३-५२
महादण्डश्च तस्य स्यात् १२-१९-४३
महादृतिरिवाध्मातः १२-२८-५४
महाध्वजपताकाश्च ५-२०-१६
महानुग्रहो मेऽद्य १३-१०-१९
महानप्येकजो वृक्षः ५-११-२४
महानयं धर्मपथः १२-३०-१,१२-३९-१३
महानुभावाश्च ततः ६-१३-५
महान्तमप्यर्थमधर्मयुक्तं ५-१२-५५
महान् धर्मो महाराज १२-३८-२
महापापानि कर्माणि ३-५-३१
महाप्राज्ञकुले जातः ५-२४-४४
महाफलविधिर्दाने १३-७-१९
महाबलान् पश्य महानुभावान् ५-१२-६२
महाभाग्यं दण्डनीत्याः १२-१९-६३
महाभाग्यं पुरा राज्ञां १२-११-९
महामना भवेद् धर्मे १२-३४-१४
महारथः समाख्यातः ८-१४-१९
महाराज विजानीहि २-१३-२

महावनमिव छिन्नं ५-१५-२९
महावेगो महोत्साहः ५-१४-१९
महिमानं परं चापि २-१०-१९
महिषीयुवराजाभ्यां १-२-१४
महेन्द्र इव लक्ष्मीवान् १८-२-३०
महेन्द्रकेतवः शुभ्राः ६-२-२५
महेन्द्रशास्त्राभिमुखान् ८-२४-११
महेन्द्रसमवीर्येण ६-१२-१७, ६-२५-१६
महेन्द्रस्य नियोगेन ३-८-९
महोदरं महेष्वासं ६-१९-२८
महोपनिषदं चैव ६-२७-५०
मा कुलघ्नः कुपुरुषः ५-२५-४
मा कृथाः पुरुषव्याघ्र १२-११-४
माघोऽयं समनुप्राप्तः १३-३२-२५
मा च ते निघ्नतः शत्रून् १२-६-२७
मातरं चाविदूरस्थां १५-७-२३
मातरं पितरं चापि १२-६३-५३
मातरं पितरं चैव १३-७-३२
मातरं भ्रातरं ज्येष्ठं १-२५-२३
मातरः सर्वभूतानां १३-१३-४२
मातरौ तौ तथैवेभे १५-७-४१
माता गुरुतरा भूमेः ३-२४-२७
मा तात श्रियमायान्तीं ५-२४-५७
मा तात साहसं कार्षीः ३-२३-२२,
३-२३-२८, ३-२३-४७
माता देहारणिः पुंसां १२-५२-१८
मातापितरमुत्थाय १३-१७-३०
माता पिता च भ्राता च १२-१९-२९,
१२-६३-३३
मातापितृभ्यां जामीभिः १२-६३-१२४
मातापितृभ्यां भीष्मेण ५-२५-३६
मातापितृसहस्राणि ११-१-३५,
१२-१०-२९, १८-४-९
मातापित्रोर्गुरूणां च १२-३०-३
मातापित्रोश्च ये वृत्ति १२-३२-६
माता सती पाण्डवानां १-२४-५
मातुलं न च स्वस्रीयः ६-५-२२
मातुलेनैवमुक्तस्तु ७-२७-३३
मातुः पितुर्गुरुणां च १३-१७-७४
मातृवत् स्वसृवच्चैव १३-२६-४
मा ते राष्ट्रे याचनकाः १२-२७-३७
माऽऽत्मानमवमन्यस्व ५-२८-१२
मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय ६-३-४१
मा त्वं राजन् व्याहर ८-१६-२
माद्रीपुत्रावपि तथा ३-१८-३४
माद्रीपुत्रा च रथिनौ ५-३६-४
माद्रीपुत्रौ च वक्तव्यौ ५-२८-५७
माद्रीपुत्रौ ततः शूरौ ८-१२-९
माद्रीपुत्रौ प्रियौ राजन् २-१३-३८
माद्रीसुतस्तत् परिगृह्य वाक्यं १०-५-१६
माधवस्तु वचः श्रुत्वा ६-२५-५०
मा धूमाय ज्वलात्यन्तं ५-२८-२६
मानक्रोधविहीनाश्च १-८-४
मानसं सर्वभूतनां १२-४९-२५,
१३-२८-३२
मानं त्यक्त्वा यो नरो १२-६०-३८
मानं यदा लभते मान- ८-१५-४८
मानं हित्वा प्रियो भवेत् ३-२४-४५
मा नः कुले वैरकृत् ५-११-८
मानान्मोहाच्च लोभाच्च १२-५१-९
मानिता बान्धवाः सर्वे: ९-२३-११
मा निमज्जीः स्वदोषेण २-१७-२२
मानुषानति गन्धर्वान् १-२९-३६
मानुषान् कामभोगांस्त्वं १२-७-१९
मानुषेषु न मे तात २-२-८०
मा नोऽवमंस्था विद्म २-१३-१६
मा पिता रुद मा मातः १-२७-५३
मा भवन्तोऽत्र तप्यन्तां ९-२४-१५
मा भैस्त्वं कुरुशार्दूल २-८-२९
मा भैस्त्वं पृथुसुश्रोणि १-२५-३३
मा भैस्त्वं राजयुत्राग्रच ४-१२-६१
मामद्य सात्वतश्रेष्ठ ६-२५-४१
मामयं प्राह वार्ष्णेय ११-५-१६
मायया निकृतिप्रज्ञः ११-५-४७
मायया निर्जिता देवैः ९-१८-५
मायाधिकास्त्वयुध्यन्त ३-१६-१४
मायाविन इमां मायां ९-१४-४
मा योत्सीः कुरुभिः सार्धं ८-३-२२
मा राजन् विमना भूस्त्वं १-३२-३७
मारिषाधिरथेः श्रुत्वा ८-८-२६
मारुतोदकवेगेन ये १२-३३-३०
मार्गमाणास्तु संक्रुद्धाः ९-१३-६
मादर्वं सर्वभूतानां ५-१२-३४
मार्दवं सर्वभूतेषु १२-५८-५
मालाकारोपमो राजन् १२-२१-१७
मा वधीः कस्य कासीति १-४-१६
मा वृथा गर्ज कौन्तेय ९-१६-३८
मा व्यथां कुरु राधेय ८-२१-६
मा शिरोस्य पदा मार्दीः ९-१९-९
मा शुचः पुरुषव्याघ्र ३-२२-११,
९-८-३१
मा शुचो धृतराष्ट्र त्वं ११-३-२७
मा शुचो भरतश्रेष्ठ ६-७-१३
मा शोकं कुरु वार्ष्णेयि ७-१०-१९
मा शोच भरतश्रेष्ठ ६-२३-५
मा शोचिथास्त्वं नृपतिं १५-८-३४
मासजातस्तु ते वीर १४-५-६
मासार्धमासोपवासाद् १३-१६-२
मा साहसमितीदं सा २-९-११
मा सूतपुत्र मुह्यस्व ४-५-२७
मासेनेति च तेनोक्तः ५-३७-२१
मासेऽपतिष्यः पञ्चमे ८-१५-१३
मास्तं गमस्त्वं कृपणः ५-२८-१६
मा स्म तात पुनः कार्षीः ३-१८-५६
मा स्म यज्ञकृतां प्रीतिं ९-१३-१७
मा स्म लुब्धांश्च मूर्खांश्च १२-२१-६
मा स्माधर्मेण लोभेन १२-२१-१०
मा हासीः साम्पराये त्वं २-१८-१२
मां च कृष्ण समासाद्य ५-२९-१८
मां च ब्रुवाणं शुश्रूष ५-१६-२६
मां वा नियुङ्क्ष्व सौहार्दात् ६-२६-८
मां स भक्षयते यस्मात् १३-२१-५१
मांसस्याभक्षणाद् राजन् १३-२१-८
मासं च रुधिरं चास्य १३-१०-९
मां सुखं प्रतिपद्यस्व ४-७-२७
मितं ददाति हि पिता १२-३८-७७
मितं भुक्तं संविभज्याश्रितेभ्यः ५-८-८५

मित्रता सर्वभूतेषु १२-५-७
मित्रद्रुहः कृतघ्नस्य १२-३०-१४
मित्रद्रोहस्तु पापीयान् ८-८-८६
मित्रप्रतीक्षया शल्य ८-८-२२
मित्रब्रह्मगुरुद्रोही ७-४०-२८
मित्राणि ते प्रहृष्यन्तु ५-२९-१०
मित्रेषु वत्सलश्चास्मि १२-३५-१४३
मित्रैः प्रहीयमाणस्य १२-३५-१
मिथ्याप्रतिज्ञो लोकेषु १-६-१८
मिथ्याभिगृध्नो हि नरः ४-५-२२
मिषतां सर्वयोधनां १६-४-४१
मुखाद्वर्णोऽप्रसन्नो वः ७-८-१४
मुखानि ऋतवो मासाः ११-२-४९
मुख्यश्चैवैष नो धर्मः ५-२५-२२
मुञ्च मुञ्चाधमाचारं ४-१०-४७
मुञ्चेयं यदि वस्त्राणि ५-३७-९
मुञ्चैनं भीष्म पश्यन्तु २-९-४
मुदाभ्युपगतौ कृष्णौ ८-१४-६
मुदितः शुचिरभ्येति १२-५०-१०
मुद्रिकामपि विप्रर्षे १-१४-४१
मुनयः सत्यनिरताः १३-१५-२७
मुनिर्यथारण्यगतः ७-४१-१२
मुनिश्च स्यात्सदा विप्रः १३-१६-४
मुमुचुः शरवर्षाणि ३-१९-२१
मुष्टिनाभ्याहतस्तेन ७-३१-१४
मुष्टिभिर्जानुभिश्चैव १-३१-२३
मुष्टिभिश्च महाघोरैः ३-१३-२२
मुहूर्तमिव तद् युद्धं ६-५-१९
मुहूर्तमिव च ध्यात्वा १३-३१-४
मुहूर्तमिव तु ध्यात्वा १५-४-५६
मुहूर्तमिव तौ गत्वा ९-६-२९
मुहूर्तमेव तृप्तिश्च १-२५-१३
मुहूर्तयाते तस्मिंस्तु १-३-४८
मुहूर्तं ज्वलितं श्रेयः ५-२८-१७
मुहूर्तं तावदेकाग्रः १२-३-१
मुहूर्तं तु स तं वेगं ४-७-६०
मुहूर्तं सञ्चिन्त्य विष्णुः १२-१८-६१
मुहूर्तादिव तं द्रोणः १-१५-४८
मुहूर्ताल्लब्धसंज्ञस्तु १२-३८-५९
मुह्यता तु मनुष्येण १०-१-५५
मुह्यामीव निशम्याद्य १३-१४-१
मूढमैन्द्रियकं लुब्धं १२-२८-३४
मूढास्त्वेतानि भाषन्ते ७-३६-१७
मूत्रं नोत्तिष्ठता कार्यं १३-१७-४१
मूर्खो हि जल्पतां पुंसां १-३-९२
मूर्खो ह्यधिकृतोऽर्थेषु १२-२१-७
मूर्ध्नि त्वां वासयेयं वै ४-३-३९
मूलमेवादितश्छिन्द्यात् १-२०-१४, १२-३७-९
मृगयाक्षाः स्त्रियः पानं १२-१०-२४
मृगया चोचिता राजन् ३-१६-३८
मृगया शोभना तात ३-१६-३९
मृगयां चैव नो गन्तुं ३-१६-४८
मृगयित्वा यथान्यायं ४-९-५
मृगयूथैरनुद्विग्नैः १५-७-१७
मृगाणामिव शार्दूलः ४-१-२२
मृजावान्स्यात्स्वयूथ्येषु १२-६३-२९
मृतं पुत्रं दुःखपुष्टं ५-१२-६३
मृतं शरीरमुत्सृज्य १२-२०-१०, १३-२०-३; ७
मृतं कथं स्यात् पुरुषः ३-२४-५०
मृते वा जीविते वापि १२-५९-७
मृतो दरिद्रः पुरुषः ३-२४-५१
मृत्युनाभ्याहते लोके १२-६३-१६३
मृत्युनाभ्याहतो लोकः १२-४४-९
मृत्युर्जरा च व्याधिश्च १२-४४-१९
मृत्युस्त्वं चैव हेतुर्हि १३-१-२४
मृत्योरास्यमनुप्राप्तं ६-५-६८
मृदुनैव मृदुं हन्ति १२-३७-४४
मृदुमप्यवमन्यन्ते १२-६३-१६
मृदुरित्यवजानन्ति १२-३७-४३
मृदुर्वदान्यो ह्रीमांश्च ४-१-१२
मृदुर्हि राजा सततं १२-१४-१०
मृदुं वै मन्यते पापः ५-१-४७
मृदनन् रथेभ्यो रथिनः ६-१३-३०
मृषावादं परिहरेत् १२-२८-३१
मेघवृन्दमिवाकाशे १-३४-४२
मेघसंकुलमाकाशं १२-३८-९
मेघाविव यथोद्वृत्तौ ९-४-१९
मेधावी धारणयुक्तः १२-२४-२१
मेने ततः संक्रमणस्य कालं १६-२-१४
मेनेऽभ्यधिकमात्मानं ५-४-६
मैव स्म सुकृतां २-१७-६०
मैवं वदस्व कल्याणि १-१३-४७
मोक्षधर्मेषु नियतः १२-६३-९९
मोक्षधर्मेषु निरतः १२-५६-२
मोक्षः पितामहेनोक्तं १२-५४-२२
मोघं त्वेदं भुविनामधेयं ४-१४-३४
मोघान्यगुप्तद्वारस्य १२-५३-१५
मोहजालस्य योनिर्हि ३-१-१२
मोहयित्वा कृपं द्रोणं ६-२४-६
मोहात् तव सपुत्रस्य ७-१-८
मोहितं वीक्ष्य राजनाम् ६-२१-२४
मोहो हि धर्ममूढत्वं ३-२४-५९
मौसलं ते समाश्रित्य १६-१-६
मौसले वृष्णिवीराणां १६-५-७
म्रियते याचमानो वै १३-१४-२९
म्रियेतापि न भज्येत ५-१८-५
म्लेच्छाश्चार्याश्च ये तत्र ६-४-७४

य

य इमामखिलां भूमिं १२-७-१७
य इमे पापगन्धेऽस्मिन् १८-२-२८
य ईर्ष्युः परवित्तेषु ५-९-२३
य एतान् प्रज्ञया दोषान् १२-५४-१२
य एनं शरवर्षाणि ५-३६-७
य एव तु सतो रक्षेत् १२-२२-१
य एष द्रौपदो राजन् ६-२६-२८
य एष बल्लवो ब्रूते ४-१६-१३
य एष राजन् राजेति १२-१८-३७
यच्च कामसुखं लोके १२-४३-१९
यच्च कृष्णमवोचस्त्वं ५-३४ १२
यच्च कोपितयात्यर्थं १-३-११०
यच्चक्षुषा द्रष्टुमिच्छेत् १-२९-५०
यच्च तान् पाण्डवान् द्यूते ७-२३-१८
यच्च ते तपसो वीर्यं ९-३-४२
यच्च ते द्रोणभीष्माभ्यां १२-७-८, १४-१-३७

यच्च त्वं मन्यसे प्राप्तं १-३३-१९
यच्च दुर्योधनो मन्दः ९-१२-१४
यच्च नः प्रेक्षमाणानां ७-२३-१७
यच्च नः सहितान् सर्वान् ६-२३-२१
यच्च पित्रानुशिष्टोऽसि ७-२३-३१
यच्च प्रार्थयसे हन्तुं ८-७-२२
यच्च भूतं भविष्यं च १२-१३-२१
यच्च मे गर्हसे राजन् ७-२०-५९
यच्च साम्नैव शक्यते १-३३-६९
यच्चापि भीमसेनस्य ५-३४-४६
यच्चाप्यजेयतां तेषां १-३३-६०
यच्चाश्वस्तास्तवेच्छामः ७-३५-२१
यच्चासहायतां राजन् २-१०-३३
यच्चाहं पाण्डुपुत्रेषु १५-२-१७
यच्चेक्षितासि विस्पष्टं ३-८-२६
यच्चेह किंचित् कर्तव्यं १३-३२-२०
यच्चैभ्यो याचमानेभ्यः ५-२५-३५
यच्चैव द्रौपदी कृष्णा ६-२०-२७
यच्चैव नगरे तस्मिन् ५-१६-२९
यच्चैवं मन्यसे मूढ ५-२५-२९
यच्चैषां द्रविणं २-१५-२५
यच्छक्यं ग्रसितुं ग्रस्यं ५-९-६
यच्छक्नोसि समुद्यन्तुं १०-६-१९
यजतां विविधैर्यज्ञैः १२-५-३
यज देहि प्रजां रक्ष १२-६-२६
यजन्ते च महायज्ञैः १२-१८-३४
यजस्व मदनुज्ञातः १४-५-२३
यजस्व वाजिमेधेन १२-७-१४,
१४-१-२४, १४-१-४५
यजस्व विविधैर्यज्ञैः १३-५-१६,
१३-३१-९, १४-१-१०
यजस्वाभीप्सितं यज्ञं २-६-२४
यज्ञदानतपःशीला १३-२२-१८
यज्ञवाटे च यत्किञ्चित् १४-१०-७०
यज्ञशूरा दमे शूराः १३-१५-१९
यज्ञसेनस्य कामस्तु १-३०-६
यज्ञस्य च न विघ्नः स्यात् २-८-२८
यज्ञः श्रुतमपैशुन्यं १२-६३-६
यज्ञाङ्गं दक्षिणा तात १२-२२-११

यज्ञाय सृष्टानि धनानि धात्रा १२-८-५
यज्ञेन तपसा चैव १४-१-२०
यज्ञैरेव महात्मानः १४-१-२२
यज्ञैस्तपोभिर्नियमैः १-२७-३५
यज्ञो दानमध्ययनं तपश्च ५-१०-१४
यज्ञो दानं दया वेदाः १२-६३-४७
यज्ञोपवीतधरणं १३-२५-१४
यज्ञो विद्या समुत्थानं १२-९-१६
यतमानाः प्रयत्नेन ७-३-१४
यतमानौ तु तौ वीरौ ६-८-२९
यतः प्रभवति क्रोधः १२-४१-१
यतः शङ्का भवेच्चापि १२-१६-५२
यतितं पाण्डवैः सर्वैः ९-२२-२५
यतितं वै मया पूर्वं १-२७-२२
यतेन्द्रियो नरो राजन् ११-२-५२
यते हि नित्यं तव कर्तुमिष्टं ८-१६-३
यतो धर्मस्ततः कृष्णः ६-४-४०
यतो बुद्धिस्ततः शान्तिः २-१६-२३
यतो यतः पाण्डुसुतः प्रविष्टः ८-१८-२५
यतो यतः प्रेक्षते स्म ६-१३-३२
यतो यतो मनो दुःखात् ११-२-३
यत्कर्णशल्यप्रमुखैः १-३०-२७
यत्कर्तव्यं मनुष्येण ७-२४-१५
यत्कृतं तत्र संग्रामे ६-२-१२
यत्कृतं स्याच्छुभं कर्म १२-६३-८७
यत्कृते पृथिवी नष्टा १८-१-१४
यत्कृतेऽहमिमां प्राप्ता २-१८-५६
यत् कृत्यं मन्यसे पार्थ ४-१६-४४
यत् कौरवाणामृषभात् ७-२-२
यत्क्रोधनो यजति यत् १२-६१-२१
यत्तत् प्रविश्य पार्थानां ८-१०-१
यत् तत् सौगन्धिकं राजन् ३-१२-३१
यत् तदाचष्ट पुत्राय द्रोणः १०-६-४
यत् तदुग्रं तपः कृष्ण १०-६-१३
यत्तद् घोरं पशुपतिः ५-३७-२९
यत्तद् बलममित्राणां १२-५-११
यत् तद् भगवता प्रोक्तं १४-२-१५
यत् तद् वाक्यं द्वैतवने ८-१५-३
तत् तद् विराटनगरे ५-१६-२८

यत्ताः सर्वे पराभूताः ७-२३-२२
यत्तु कर्णमहं ब्रूयां ८-६-२९
यत्तु कुर्यामहं राजन् १-४-१०
यत्तु केवलचापल्यात् ३-५-३३
यत्तु धर्मप्रवृत्तः सन् ७-४०-१६
यत् तुभ्यं रोचते कृष्ण ५-१७-३२
यत्तु मर्षितमस्माभिः ७-३६-३
यत्तु मां मन्यसे राजन् ९-३-१४
यत्तु मे भगवानाह १०-८-३१
यत्तु शक्यं मया कर्तुं ६-११-२२
यत् तु सा बृहती श्यामा ५-२२-१८
यत् तु स्वयं पाण्डुसुतैः ५-१-१५
यत्ते कुशलिनो वीराः १-३३-९
यत्ते प्रियं तत् करिष्ये १-२५-२५
यत्ते भ्रातृन् महाराज ३-४-८
यत्तो दृढश्च दक्षश्च ८-५-३
यत्तौ भवन्तौ पर्याप्तौ १०-३-३
यत्त्वत्र विहितं कार्यं ७-१५-२७
यत्त्वद्य मे व्यवसितं ३-१९-३२
यत् त्वं निदर्शनार्थं ८-८-८०
यत्त्वमाभाषसे पार्थं ३-९-१३
यत्त्वमिच्छसि कृष्णाय ५-२१-५
यत्त्वया कीथतं पूर्वं ६-२५-४७
यत्त्वया कथितं वीर ६ १२-२०
यत्त्वया सत्यवत्यर्थे १-५-४४
यत्त्वयोक्तो महाबाहुः ३-१०-१४
यत्त्वं मामभिसंघत्से ७-३८-७
यत्त्वादृशो विकुर्वीत ५-२८-३९
यत्नं करोति विपुलं ८-१३-१५
यत्नेन तु स तं हर्षं १-३२-४२
यत्नेन तु सदा पार्थ ९-१६-२२
यत्नेन महता वीरौ ७-४२-२१
यत् पार्थिवै रुक्मसु- १-३०-३३
यत्पुरं दुर्गसम्पन्नं १२-२६-६
यत्पुरा कथितं वीर ६-२५-२०
यत् पृथिव्यां व्रीहियवं ५-१२-५४
यत्र कुत्सा प्रयोक्तव्या २-८-३९
यत्र यत्र रथो याति ७-१४-२
यत्र द्रोणस्तथा भीष्मः ४-१५-२९

यत्र धर्मसुतो राजा १४-२-१२
यत्र धर्मो ह्यधर्मेण ५-२४-३५
यत्र नास्ति बलात्कारः १२-३६-३३
यत्र नास्ति शरैः कार्यं १२-७-९
यत्र यत्र च दृश्यन्ते १-३६-३१
यत्र यत्रैनमासीनं ४-२-७
यत्र यात्येष तत्र त्वं ७-२२-२४
यत्र योगेश्वरः कृष्णः ६-३-७०
यत्र व्यस्ताः समस्ताश्च ८-८-७१
यत्र श्यामो लोहिताक्षः १२-६-११
यत्र सा बृहती श्यामा १७-३-३१
यत्र सूक्तं दुरुक्तं च ५-२३-२२
यत्र स्त्री यत्र कितवः ५-१२-१३
यत्र हर्षस्त्वया कार्यः ३-१९-६२
यत्राशोक समुत्क्षिप्ताः ६-१३-३६
यत्रास्तमितशायी स्यात् १२-१७-२५
यत्रेच्छागामिनो दान्तः १३-१५-१२
यत् यत् सत्कारसंयुक्तं ५-२१-१५
यत्समर्थं पाण्डवानां ३-२-१०
यत् सुखं सेवमानोऽपि ५-१२-३९
यत् स्यादहिंसासंयुक्तं ८-१५-३६
यथा कर्म शुभं कृत्वा १-७-२
यथा कंसश्च केशी च १४-४-५१
यथा काष्ठं च काष्ठं च १२-१०-२८
१२-४३-८
यथा कुन्ती च माद्री च ३-८-२८
यथा कुन्ती तथा माद्री ३-२४-९४
यथा कुरूणां सैन्यानि ६-२५-५३
यथा कुशलधर्मा सः १२-५४-११
यथाखुः स्याद् विडालश्च ८-७-४०
यथाग्निः पवनोद्धूतः १३-३-२०
यथा च कर्कटी गर्भं ४-३-४३
यथाचक्रं तु कौलालः ७-२०-३७
यथा च तन्न जानन्ति १-२२-२६
यथा च त्वां न पश्येयुः ४-७-२२
यथा च त्वां न शंकेरन् १-२२-२३
यथा चन्द्रमसो वृद्धिः १३-१४-५६
यथा चन्द्रोदयोद्धूतः ७-३५-२९
यथा च मृन्मयं भाण्डं ११-२-९

यथा च स्वगृहस्थः श्वा ८-७-३३
यथा च्छायातपौ नित्यं १३-१-३१
यथा जनित्री स्वं पुत्रं १३-१४-५५
यथा जीर्णमजीर्णं वा ११-२-६
यथा ज्येष्ठः कनिष्ठेषु १३-१८-१
यथाऽऽज्ञापयसे विद्वन् २-१८-७
यथा तुदसि मर्माणि २-१७-५६
यथा तु सलिले राजन् ११-२-१३
यथा ते कुलतन्तुश्च १-७-१६
यथा तैलक्षयाद् दीपः १३-३-२१
यथाऽऽत्थ मे पाण्डव तत् ५-६-११
यथा त्रस्यन्ति भूतानि ७-११-१५
यथा त्वामभिनन्दामि १-३२-५९
यथा दारुमयो हस्ती १२-६३-२
यथा दुर्योधनो वाच्यः ५-१-५३
यथा देवास्तथा विप्राः २-७-१२
यथाद्य समरे कर्णं ८-१७-१७
यथाधर्मं यथाबुद्धि ८-१५-३८
यथा धेनुसहस्रेषु १२-४८-१४,
१३-४-१०
यथा नलवनं क्रुद्धः ७-५-४८
यथानृतं च सत्यं च ८-७-४१
यथान्तकमनुप्राप्य ११-३-३०
यथान्यायं महातेजाः ५-३०-१४
यथा पशूनां संघातं ६-१३-२४
यथा पाण्डोः सुता राजन् १३-३२-२९
यथा पिपासां जयति १३-२९-९
यथा पुत्रवियुक्तोऽयं १५-१-१६
यथा पुत्रास्तथा पौत्राः १२-१९-२३
यथा प्रतिज्ञा मम लोकबुद्धौ ८-१५-४५
यथा प्राग्ज्योतिषो राजा ७-५-२२
यथा प्राग्रचान्यथा ज्येष्ठान् ६-१३-४९
यथाफलाः षण्ढतिलाः २-१७-५३
यथा बीजं विना क्षेत्रं १३-३-६
यथा ब्रवीति धर्मात्मा १५-४-३५
यथा ब्रूयान्महाप्राज्ञः ८-१५-३९
यथा भीष्मः शान्तनवो ५-२६-१८,
५-३७-१३
यथामति ब्रवीम्येतत् ५-१८-२७

यथा मधु समादत्ते ५-९-९
यथा मातरमाश्रित्य १२-५३-५
यथा मृत्पिण्डतः कर्ता १३-१-३०
यथा मे दयितो धर्मः १४-४-४८
यथा मे न वधः कार्यः ७-३-६
यथा यथा हि पुरुषः ५-१०-६
यथा यथा हि युध्यन्ते ७-४३-१४
यथा यथा ह्ययुध्यन्त ७-४३-६
यथा यथैव शान्तिः स्यात् ५-१८-१
यथायमागमो मह्यं १-३-२४
यथायोगं यथाकामं ६-१-२४
यथां रथस्य निर्घोषः ४-१२-६६
यथा रथस्तथा नागाः ५-३२-९
यथा राजकुलं प्राप्य ४-२-४
यथाऽऽरुह्य महावृक्षं १२-४-६
यथाहं मानिताः कच्चित् ३-१४-१८
यथावत् प्रतिपद्येथाः २-१८-१६
यथावदर्चयित्वाथ १-३-१६
यथा वदासि गोविन्द २-४-३८
यथा वदसि राजेन्द्र १५-४-३१
यथावध्ये भवेद् दोषः ५-१९-६
यथा वायुस्तृणाग्राणि ११-१-२८
यथा विराटनगरे ४-१-३
यथा विसृजतश्चास्य ७-३०-१०
यथा वेदाः स्वाधीताश्च १३-२२-१४
यथा वै ब्राह्मणः सीदन् १२-३५-७
यथा वैश्रवणे भद्रा १-३२-५६
यथाशक्ति यथोत्साहं ६-१८-४
यथा शत्रून् घातयित्वा १२-४-७
यथा शल्य विजानीषे ८-६-१९
यथा शंखस्य निर्घोषः ७-१८-११
यथाश्रयत चक्राङ्गं ८-८-७५
यथाश्वहृदयं वेद ८-५-१३, ८-६-२५
यथा श्वा भषितुं चैव १३-११-१३
यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु १२-६३-३
यथा सत्यं च धर्मश्च १४-४-५०
यथा स पुरुषव्याघ्रः ७-१२-३
यथा समुद्रो भगवान् १-२-१९,
१८-४-१४

यथा सर्वश्चतुष्पाद् वै १३-२१-५
यथा सर्वास्ववस्थासु ८-६-५
यथा स हृतदर्पश्च ५-४-२८
यथा सृष्टोऽसि कौन्तेय १२-१०-३४
यथा सैरन्ध्रिदोषेण ४-८-२५
यथाह विदुरः कृष्णे ५-२१-१४
यथाहं नाभिजानामि १४-४-४९
यथा हि कनकं शुद्धं १२-६३-१७२
यथा हि गार्भिणी हित्वा १२-१४-२०
यथा हि पुरुषः खात्वा १२-४-५
यथा हि लक्ष्यं निहतं १-३२-१३
यथा हि शिशिरापाये ७-४३-७
यथा हि सुमहानग्निः ३-३-१५
यथा ह्यकर्णधारा नौः ७-१-१६
यथा ह्यनुदये राजन् १२-१८-२२
यथा ह्यभ्युदितः सूर्यः ८-१-१५
यथा ह्युपस्थितैश्वर्याः १३-३०-५
यथेच्छकं स्वयं ब्रूयाः ५-३५-३८
यथेच्छन्ति तथैवास्तु २-१७-२६
यथेद्धः प्रज्वलत्यग्निः १२-७-१८
यथेन्द्राणी हरिहये १-३२-५५
यथेष्टं गम्यतां कामं १२-१०-९
यथैव कुन्त्या कौन्तेयाः ११-४-१०
यथैव त्वं तथा भीमः १८-३-८
यथैव पाण्डोस्ते वीराः १-३४-२
यथैव पाण्डोः पुत्रास्तु १-३३-८
यथैव मत्तो मद्येन ८-८-२८
यथैव मन्यते वीरः १-३४-२१
यथैव मम पुत्राणां १-३४-३
यथैव शृङ्गं गोः काले १२-५५-६
यथैवाहं तथैव त्वं ११-४-५३
यथोक्तः स नृदेवेन ६-७-२५
यथोदयगिरौ द्रव्यं १२-६०-४०
यदज्ञानादवोचं त्वां ४-१२-५३
यदतप्तं प्रणमति ५-९-२०
यदत्र तथ्यं तद् ब्रूहि १४-११-१३
यदत्र हितमस्माकं १०-८-४
यदत्रानन्तरं कार्यं ७-३०-११
यदनेन कृतं कर्म १३-१-२९
यदन्नं नाभिजानाति १३-२३-११
यदन्येषां हितं न स्यात् १२-३४-२२
यदन्यैर्विहितं नेच्छेत् १२-५०-११
यदपश्यं सभायां त्वां ३-४-७
यदप्यल्पतरं कर्म १२-२४-१
यदयं कथ्यते नित्यं ५-१३-२४
यदर्जुनगुणांस्तथ्यान् ७-२७-२
यदर्थमिष्यते भार्या १-२७-२८
यदर्थं राज्यमिच्छामि ९-१४-२९
यदस्ति किंचिन्मम वाजि- ४-३-७२
यदस्तुत्यमिमं शश्वत् २-९-९
यदस्त्रमस्यति द्रोणः ७-१३-७
यदहंकारमाश्रित्य ६-३-६४
यदा कालं भवान् वेत्ति १४-६-२
यदा कृष्णामुपादाय ११-५-४१
यदा च त्वां महाबाहो ६-२३-१९
यदा चायं न बिभेति १२-६३-१३२
यदा चास्मान्न मुमुचुः ३-१९-२१
यदा ज्येष्ठः पाण्डवः ५-१३-९
यदा तु कश्चिज्ज्ञातीनां ३-१८-३
यदा तु कौरवो राजा १५-२-२
यदा तु पाण्डवाः सर्वे ९-१३-७
यदा तु पार्था वनमा- ३-२१-१
यदा तु पीडितो राजा १२-१९-३५
यदा तु मन्यते वीरः १-३४-१८
यदा तु हीनं नृपतिः १२-१९-१४
यदा ते सुमनसः स्युः १२-३४-३
यदा त्वबुध्यात्मानं १२-३३-१३
यदा त्वमन्यत नृपः १-२२-५
यदा त्वस्य भवेद् बुद्धिः १३-३०-३
यदा दानरुचिः स्याद् वै १४-११-७४
यदा द्रक्ष्यसि भीमेन ८-६-१५
यदा द्रक्ष्यसि भूतेशं ३-६-२६
यदा द्रष्टा भीमसेनं रथस्थं ५-१३-११
यदा द्रोणसुतो गर्भान् १४-४-१८
यदा धर्मश्च भार्या च ३-२४-६७
यदा न कुरुते धीरः १३-४३-२३
यदा न कुरुते भावं १२-६३-१३३
यदा नाभूत् कैतव- २-१४ १५
यदा निवृता राजनः १-३०-२४
यदानुमन्यसे कालं १-१६-४
यदापकृष्टः स रथात् ७-४४-११
यदा परिनिषिच्येत १३-१४-३७
यदा परे च बलिनः १५-३-२९
यदा पश्यामि चाण्डालं १२-३५-८९
यदा प्रमाणं प्रसवः १३-२९-१४
यदा बालः सुभद्रायाः ७-२०-८०
यदाभिमन्युं बहवः ८-२६-९
यदाभिमन्युः परवीरघाती ५-१३-१३
यदा रक्षति राष्ट्राणि १२-२८-२४
यदा रजस्वलां कृष्णां ८-२६-७
यदा रथे गाण्डीवं वासुदेवं ५-१३-१४
यदा राज्यमिदं मातः १५-४-६३
यदार्जुणेन ते वीराः ४-१६-१८
यदार्यजनविद्विष्टं १२-२८-३७
यदा शरशतैः पार्थः ८-८-७६
यदा शूरं च भीरुं च ९-८-१९
यदा श्रोष्यसि निर्वोपं ८-७-१४
यदा सभायां राजनं ८-२६-३
यदा समर्थो यानाय १५-३-३०
यदा सर्वे विमनसः ४-४-७
यदा संहरते कागान् १२-८-८, १२-४३-२०
यदासौ सर्वभूतानां १२-८-१०
यदास्य तुल्यः पुरुषः ४-४-१९
यदा स्वपक्षो बलवान् १५-३-२८
यदाह भरतश्रेष्ठः ५-१३-३२
यदाहमेतज्जानामि १२-४४-११
यदि कर्णं रणे हन्यात् ८-२२-१८
यदि कांक्षन्ति ते राज्यं ५-५ २५
यदि किञ्चिन्मयाज्ञानात् १२-३५-९४
यदि कुन्तीसुतं गेहे ५-१-३४
यदि चेत् खादको न स्यात् १३-२१-२४
यदि चैतत् कथञ्चित् ८-२२-२१
यदिच्छसि शिरश्चास्य ७-२०-६३
यदि जानाति मां राजा ५-२९-२४
यदि तत्प्रप्नुयामहे १४-३-७
यदि तस्य रणे साह्यं ७-३-८

यदि तावच्छमं कुर्यात् ५-२-८
यदि तावन्मया द्रोण: ८-१३-६
यदि ते तादृशो राष्ट्रे १३-१४-४१
यदि ते सोऽनुजः कृष्णः ७-१९-९
यदि तेऽहमनुग्राह्यः ६-२६-५
यदि तेऽहमनुग्राह्या ५-१९-११
यदि तेऽहं प्रिया पार्थ ३-१२-४
यदि तेऽहं प्रियो राजन् ७-३८-१५
यदि त्वनुग्रहवती १२-१३-६
यदि त्वपत्यसन्तानं १-११-१५
यदि त्वामनुपश्यामि ५-२८-४०
यदि त्वेनं महाराज २-३-२०
यदि दक्षः समारम्भात् १०-१-४२
यदीदं गृहमाग्नेयं १-२३-१०
यदिदं तप इत्याहुः १३-१६-१
यदिदं ते विलपितं ५-१४-४६
यदिदं धर्मराजेन ११-५-३३
यदीदं शक्यमस्माभिः १-२२-५५
यदि धर्मस्त्वया कार्यः १-३३-५३
यदिदानीमहं ब्रूयां १५-४-१२
यदि दुर्योधनस्यैते १८-१-१३
यदि धर्मपथस्त्वेषः १-३-४४
यदि न स्युर्मानुषेषु ३-४-२७
यदि नाम ह्ययं युद्धे ९-१६-२
यदि नारायणास्त्रस्य ७-४३-२३
यदि नाहं परित्याज्यः ६-११-१९,
७-२९-६
यदि नोत्तष्ठति जयः १४-९-३१
यदि नोत्सहसे योद्धुं ४-१२-२२
यदि प्रीतेन मे दत्तं १-२९-५२
यदि ब्रह्मन् शृणोष्येतत् १२-४७-२७
यदि ब्राह्मण देहस्ते १२-४७-२५
यदि भीताश्च कौन्तेयाः २-७-३८
यदि भीमार्जुनो कृष्ण ५-१९-१४
यदि मा नाभिगच्छेथा ६-४-३३
यदि मामप्रतीकारं ६-३-२७
यदि मां चापि कर्णं च ९-२१-२३
यदि मां देवताः सर्वाः ८-८-८१
यदि मां धर्मराजश्च ३-१६-२८
यदि मे याचमानायाः १-३-७२
यदि मे हृदयं वेत्सि २-४-३६
यदि यज्ञांश्च वृक्षांश्च १२-५१-८
यदि यत्नो भवेन्मर्त्यः १३-२९-४
यदि युद्धेन जेयाः स्युः ७-४४-८
यदि राजा समर्थोऽपि १२-२७-२८
यदि लोकानिमान् प्राप्ताः १८-२-२
यदि वापि समर्थः स्यात् ९-१४-३८
यदि वेदा प्रमाणास्ते ३-९-९
यदि वै तत्र ते श्रद्धा १८-२-७
यदि वैरिषु भृत्येषु १३-१०-१२
यदि वै सारथिः स स्यात् ४-११-२३
यदि वै स्त्री न रोचेत १३-१२-१२
यदिष्टं क्षत्रबन्धूनां ९-२१-३६
यदि सन्तं सेवते यद्य- १२-६१-२७
यदि संन्यासतः सिद्धि १२-४-११
यदि सापि दुरात्मानं ५-२६-३
यदि साम्ना न मोक्षध्वं ३-१८-३०
यदि साम्ना न मोक्षयन्ति ३-१८-१६
यदि स्वविषये राजन् १३-१०-११
यदि ह्यद्य न गच्छेयं ५-२९-२१
यदि ह्ययं विसृजन् साम ५-६-३३
यदि ह्येतद् पतेद् भूभौ ४-१५-५०
यदीमां भवतो बुद्धि १२-४-३
यदीमे सहसा क्रुद्धे ५-१८-२५
यदुक्तं पार्थ कृष्णेन १६-३-२२
यदुप्रवीर योऽयं ते १४-४-९
यदृच्छया चोपपन्नं ६-३-५२
यदृच्छयैतत् सम्प्राप्तं ८-१२-३८
यदेतत् कत्थनावाक्यं ५-३४-८
यदेतत् पश्यसि वनं १-२५-५२
यदेतन्नर्तनागारं ४-७-३२
यदेतन्मन्यसे पार्थ १२-९-३९
यदेनं शरवर्षेण ६-८-५२
यदेव योगाः पश्यन्ति १२-६३-१५३
यदेवानन्तरं कार्यं ४-२-२१
यदैव तैः कृतं किञ्चित् १५-४-२४
यदैव लभते वीरः ५-२८-३७
यद्दुरापं भवेत्किञ्चित् १२-३९-३६
यद् द्रौपदीमेकवस्त्रां ८-२६-२
यद् बलं यच्च ते वीर्यं ८-१०-१०
यद् ब्रवीषि महाराज ३-९-२५
यद् ब्रूयाद्धि हृषीकेशः ९-२-२९
यद् भावानह तत्सर्वं १२-३५-११७
यद् भीमसेनं सर्पैश्च ८-२६-५
यद्यत्तत्र प्राप्तकालं ५-६-४
यद्यत्तेषां महाबाहो ५-२२-२४
यद्यत्त्यजति कामानां १२-४३-१८
यद्यदाचरति श्रेष्ठः ६-३-५९
यद्यदास्यदनुज्ञां वै ७-२४-७
यद्यदिष्टतमं लोके १३-१४-३३
यद् यदेवंगतेनाद्य १२-३५-७८
यद्यद् धर्मेण संयुक्तम् ५-१७-३४
यद् यद् भर्तानुयुञ्जीत ४-२-१२
यद्यनेन हतो बाल्ये २-८-४०
यद्यन्यवशगेनेदं १३-१-१७
यद्यप्यशीला नृपते १२-३४-२४
यद्यप्यस्य विपतिः स्यात् १२-१६-१५
यद्ययं फाल्गुनो युद्धे १-१७-३०
यद्यर्धदिवसं द्रोणः ७-३९-१७
यद्यस्ति दत्तमिष्टं वा १२-४८-१
यद्यहं न्यस्तशस्त्रस्त्वां १४-९-५
यद्यहं भवतोस्त्याज्यः ७-२९-५
यद्यहं वचनादस्याः १-३-१०६
यद्यहं सात्यकिं पश्ये ७-२०-५८
यद्युत्तरोऽयं संग्रामे ४-११-४५
यद्युत्पतति लोकांस्त्रीन् ५-३४-४५
यद्येकस्तु न हन्तव्यः ९-१५-२८
यद्येतत् त्वं प्रतिश्रुत्य १४-४-२०
यद्येतदेवमुक्त्वा २-१५-३१
यद्येतदेवं संग्रामे ७-८-५७
यद्येतद् वो बहुमतं १४-३-५
यद्येनमभियायाच्च १५-३-३३
यद्येनं समतिक्रम्य ७-२४-९
यद्येवं नाभिगच्छेथाः ६-४-१८
यद्येवं पाण्डवै राजन् ३-१९-२०
यद्येवं वक्ष्यसे भूयः ७-२६-४२
यद्येष गुरुरस्माकं २-१५-३४

यद्येष दर्पाद्धर्षाद् वा १-३०-२९
यद्येष बलमास्थाय ९-१८-८
यद् राष्ट्रेऽकुशलं किञ्चित् १२-२३-७
यद् वरं सर्वतीर्थानां १३-१९-१
यद् वारणावते पार्थान् ८-२६-६
यद् वृत्तं तत्र संग्रामे ६-२-११
यन्त्रं वैहायसं चापि १-३०-८
यन्मन्येत ममाभावात् १२-२४-१३
यन्मयोक्तमिदं वाक्यं १४-११-१६
यन्माब्रवीद् धृतराष्ट्रः ५-६-१२
यन्मां प्रार्थयसे हन्तुं ३-६-२९
यन्मां ब्रवीषि गान्धारे ८-६-२६
यन्मित्रं भीतवत्साध्यं १२-३५-९६
यन्मूलं सर्वधर्माणां १३-१२-१
यमदंष्ट्रान्तरं प्राप्तः ७-१२-११
यमर्थसिद्धिः परमा न १२-६३-९४
यमात् कुबेराद् वरुणात् ३-१०-१५
यमाभ्यां युयुधानाद्वा ९-१५-७
यमाभ्यां सह राजेन्द्र ३-२१-२७
यमावध्य भयं नास्ति १०-८-२९
यमाह कृष्णो दाशार्हः ५-३१-२१
यया वृत्या महीपालः १२-२३-१
ययुश्च शिबिरं तेषां १०-२-५०
ययुस्ते परिवार्याथ १६-४-२६
ययोरेव समं वित्तं १-१४-२४
ययौ द्रव्यं तदादाय १४-३-१६
यवीयसस्तव भ्रातुः १-७-२५
यवीयान् देवलस्यैषः १-२९-६५
यशश्च दर्पश्च तथा ८-२६-२३
यशः शौर्यं जयं चास्य २-८-१०
यशः सत्यं दमः शौचं ३-२५-३
यश्च दिष्टपरो लोके ३-४-५६
यश्च नोऽविदितं कुर्यात् १६-१-१७
यश्च पौरजनः कश्चित् १५-६-१४
यश्च याति पुरस्तान्मे १६-५-१६
यश्च सर्वान् वशे चक्रे ५-१४-५
यश्चात्मनि प्रार्थयते १३-५-७
यश्चापि धार्तराष्ट्रस्य ५-५-९
यश्चासीदश्वबन्धस्ते ४-१६-१४
यश्चैनं शृणुयान्नित्यं १ १-१५
यष्टव्यं क्रतुभिर्नित्यं १२-२६-१८
यस्तत्र वसतेऽधस्तात् ११-२-४६
यस्तान् द्वेष्टि स मां द्वेष्टि ५-२३-१४
यस्तान् पाशान्वशे १२-६३-१४१
यस्तु क्रोधं समुत्पन्नं ३-४-२५
यस्तु गोप्ता महेष्वासः ७-१०-११
यस्तु तां स्पर्धया क्षुद्रः ११-३-३५
यस्तु देवमनुष्येषु ३-८-५
यस्तु देशः प्रियस्तस्य १६-४-१९
यस्तु द्यूतजितां कृष्णां ८-२७-१८
यस्तु धर्मपरश्च स्यात् २-१३-२३
यस्तु धर्मं यथाशक्ति १२-३८-४१
यस्तु पक्वमुपादत्ते ५-९-८
यस्तु मे विहितो भक्षः १३-१०-१७
यस्तु वृद्ध्या न तृप्येत् १२-२४-१२
यस्तु स्यात् क्षत्रियः कश्चित् १-२९-६०
यस्तेषां तदवस्थानां १०-२-३०
यस्त्वं वृद्धं सर्वराज्ञां ५-३४-५०
यस्मात् परस्परं घ्नन्तः ११-५-६१
यस्माददान्तान् दमयति १२-६-८
यस्माद् ग्रसति चैवायुः १३-२१-२६
यस्मिञ्जाते ददौ द्रोणः ७-४१-४
यस्मिन् क्षमा च क्रोधश्च १२-५-९
यस्मिन् धर्मो विराजेत १२-२८-१२
यस्मिन् धृतिरनुक्रोशः १-३३-६३
यस्मिन्नहनि भीमस्तु १-११-११
यस्मिन्नेतानि दृश्यन्ते १३-११-९
यस्मिन् प्रशासति महीं १२-१०-११
यस्मिन् भयार्दितः सम्यक् १२-२३-२३
यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यः
५-११-३३, १२-३१-१२
यस्मिन् सर्वं सम्भवति २-३-११
यस्मिंश्चैव समस्तानां ३-९-२२
यस्मै देवाः प्रयच्छन्ति २-११-६,
५-९-४६
यस्य कृत्यं न जानन्ति ५-८-१३
यस्य कृत्यं न विघ्नन्ति ५-८-१४
यस्य चानेन धर्मज्ञ २-८-४३
यस्य चाराश्च मन्त्राश्च १२-१५-२९
यस्य चार्थार्थमेवार्थः ३-५-११
यस्य चार्द्रस्य वृक्षस्य ४-६-२६
यस्य तेऽर्थाच्च कामाच्च ३-२४-९५
यस्य दानजितं मित्रं ५-१२-५२
यस्य दुर्योधनो वीर्यं १-२८-८
यस्य द्वेषेण संयुक्तः ८-१४-१५
यस्य धर्मो हि धर्मार्थं ३-५-१०
यस्य नास्ति निजा प्रज्ञा २-११-४४
यस्य पुत्रा महेष्वासाः १-७-४४
यस्य बाहुबले तुल्यः ३-११-३, ५-१४-४
यस्य बाहू समाश्रित्य १-२८-७
यस्य भागश्चतुर्थो मे १०-२-२४
यस्य भार्या गृहे नास्ति १२-३८-३३
यस्य यन्ता हृषीकेशः ५-१४-३०
यस्य वाङ्मनसी गुप्ते १२-६१-१९
यस्य वाङ्मनसी स्यातां १२-४४-२५
यस्य वा मनुजस्येदं १-१७-४८
यस्य वीरस्य वीर्येण १-२८-९
यस्य वीर्यं समाश्रित्य १-२८-१०,
५-३४-५२, ७-२३-४
यस्य वृत्तं न जल्पन्ति ५-२८-२२
यस्य वै नानृता वाचः ५-१४-२५
यस्य शूरस्य विक्रान्तैः ५-२८-३१
यस्य स्म विषये राज्ञः १३-१४-४३
यस्य हि त्वं सपत्नः स्याः १-५-४२
यस्याङ्के क्रीडमानेन ११-१०-२
यस्यापचारात्प्राप्तोऽयं ३-२१-२४
यस्याभावेन भूतानां १२-१८-३५
यस्यार्थास्तस्य मित्राणि १२-२-१५
यस्यावाच्यं न लोकेऽस्ति १२-३३-४०
यस्याहमधिरुह्याङ्कं ६-२६-३६
यस्यां भवन्ति भूतानि १२-१९-७६
यस्यां यस्यामवस्थायां १३-४-४
यस्यां रात्र्यां व्यतीतायां १२-४४-१३
यं च धर्मं चरिष्यन्ति १२-१८-१३
यं चासि प्रस्थितो देशं ३-१३-१६
यं दृष्ट्वा कुरवः सर्वे ६-२-५०
यं पुत्रमष्टमं राजन् १-५-११

यं पुरा पर्युपासीनाः ११-५-२२; २३
यं पुरा व्यजनै रम्यैः ११-५-२४
यं पूजयेम सम्भूय १२-१८-१०
यं प्रशंसन्ति कितवाः ५-१२-१४
यं भारं पुरुषो वोढुं ७-२६-२४
यं यं हि धार्तराष्ट्राणां ६-१९-३७
यं हि धर्मं चरन्तीह १२-२३-६
यं हि न व्यथयन्त्येते ६-३-४२
यः कलिङ्गान् समापेदे ५-१४-८
यः काममन्यू प्रजहाति ५-८-७८
यः कामानाप्नुयात्सर्वान् १२-४५-१४
यः काशीनङ्गमगधान् ५-१४-७
यः कृशार्थः कृशगवः १२-२-२०
यः कृष्णसदृशो वीर्ये ५-१४-११
यः प्रतीचीं दिशं चक्रे ५-१४-६
यः प्रवृत्तां श्रुतिं सम्यक् १३-८-५
यः शत्रुः पाण्डुपुत्राणां ६-२६-१०
यः सः कौरव्यदायादः १-१२-२३
यः सत्करोति ज्ञानानि १२-१५-२८
यः सदैव मनुष्येषु १०-६-२६
यः स धर्मः पुरा दृष्टः ७-१६-८
यः स भूरिश्रवाश्छिन्नभुजः ७-४२-१४
यः समुत्पतितं हर्षं ३-१९-५९
यः स मेघवपुः श्रीमान् १६-५-६
यः सर्वान् पृथिवीपालान् ६-२-४
यः स वात इवोद्धूतः ६-२-४९
यः संश्रयः पाण्डवानां ५-१४-१२
यः स्यादनुप्राप्तवधः १-२०-२९
यः स्याद् दान्तः सोमपः १२-६३-५
याच्यमानं मया मूढ ९-२१-२७
याज्ञसेनी सुदेष्णां तु ४-५-२
याज्ञसेन्या यदुक्तं तत् २-१५-९
याज्ञसेन्या वचः श्रुत्वा ३-५-१,१२-६-१
याते त्रिगर्तान् मत्स्ये ४-११-१
या ते शक्तिर्बलं यच्च ७-३८-१६
यात्रार्थं भोजनं येषां १२-३२-१५
यात्वा चाहं कुरून् सर्वान् ५-१७-४४
या दुस्त्यजा दुर्मतिभिः १२-४३-२४
१२-५५-११
चादृग्भीष्मस्तथा द्रोणः ९-३-३१
यादृशं पुरुषस्येह १३-१७-१७
यादृशं वपते बीजं १३-३-५
यादृशः पुरुषस्यात्मा ५-१-२८
यादृशेन हि वर्णेन १२-६०-४१
यादृशैः संनिवसति १२-६१-२६
यानङ्गिराः क्षत्रधर्मान् १२-२८-८
यानपात्रे च याने च १३-२७-८
यानमन्यत योग्यांश्च १२-१२-३३
यानर्जुनः सभ्रुकुटीकटाक्षं ८-२४-४
यानं वस्त्रमलङ्कारान् १२-१८-२६
यानि ग्राम्याणि भोज्यानि १२-२७-६
यानि चान्यानि दुष्टात्मन् ९-१६-३४
यानि तूभयतो राजन् १४-७-१०
यानिमानाश्रिताकार्षीः १-२५-४१
यानि यानि च कर्माणि ४-१-११
यानीमानि बहिर्वेद्यां १३-१४-२०
यानीह रमणीयानि १-२९-११
यान्यकार्याणि चास्माकं ९-२१-३२
यान् स्म तान् ग्लहते तातः ७-२३-१५
यामवाप्य महाबाहुः ३-५-४६
यामः सर्वे च सम्भूय ९-८-८
यामेतामतुलां लक्ष्मीं २-११-१६
या मे प्रीतिः पाण्डवेषु ५-२३-२८
यावच्चक्रमिदं ग्रस्तं ८-२५-३६
यावच्च मार्दवेनैतान् ५-१७-४०
यावच्च राजा पाञ्चाल्यः १-३३-३२
यावत्कीर्तिर्मनुष्यस्य १-३३-४७
यावत् तिष्ठन्ति समरे ६-२९-२७
यावत् ते नोपगच्छन्ति १-१५-१५
यावत् स्थास्यन्ति गिरयः ५-२९-२८
यावदूर्ध्वमधश्चैव १२-३३-१४
यावदेतान्निरीक्षेऽहं ६-३-१४
यावद् गाण्डीवघोषं त्वं ८-७-३७
यावद्धि तीक्ष्णया सूच्या ५-२५-२६
यावद्धि सूच्यास्तीक्ष्णायाः ५-१५-२५
यावद्भूमेरायुरिह १३-१४-५२
यावनाथौ चरिष्येते ५-२५-८
यावन्न कृतमूलास्ते १-३३-२९
यावन्न ते चमूः सर्वाः ६-२९-२५
यावन्नः पश्यमानानां ७-२७-३१
यावेतौ मन्यसे कृष्णौ ९-३-१८
यासौ राजन् रक्षिता ७-३३-१८
यास्तु कोशबलत्यागात् १२-३५-२५
यास्तु ता बहुशो धाराः ११-२-५१
यां कृतां नानुकुर्वन्ति २-१-१०
यां गतिं क्षत्रियस्याहुः १०-४-१५
यांस्तान् बलवतो नित्यं ७-२६-४३
याः स्म ता लोकनाथेन १६-३-५
यियासतस्ततः कृष्णः ७-५-३७
युक्तमेतत् तृतीयायां २-८-३६
युक्तमेतत् त्वयि विभो २-१-४
युक्तरूपः स हि गुरुः १-१४-४७
युक्तो भवत्समो गोप्ता ७-१-२७
युगक्षयात् परिक्षीणे १२-३७-१
युगपच्चैव संग्रामे ७-५-३५
युगपन्न तु ते शक्याः ७-१-२१
युगमीषां वरूथं च ३-१७-४०
युद्धधर्मान्नि वै श्रेयान् ९-२-६
युद्धस्व राजधर्मेण ५-२८-७
युद्धयस्व समरे पार्थं ५-३५-४५
युद्धं कृत्वा दिनान् पञ्च ७-४४-२३
युद्धं च क्षत्रशमनं २-२-८३
युद्धाय क्षत्रियः सृष्टः ५-२८-४८
युद्धार्हान् क्षत्रियान् सर्वान् ५-१८-२८
युद्धे जितं यशोहीनं १-२९-४२
युद्धे जितः पराभूतः २-१२-५४
युद्धे पराजितो वासि १६-५-४
युद्धेष्वपर्वादिष्यन्ति १०-४-१४
युद्धेष्वपि प्रवृत्तानां ७-४०-१३
युधामन्युश्च विक्रान्तः ६-३-६
युधिष्ठिरगते राज्ये १५-४-१६
युधिष्ठिर न सन्तापः १-२८-१२
युधिष्ठिरमतं ज्ञात्वा १७-१-१८
युधिष्ठिरमथागम्य ३-१९-२८
युधिष्ठिर महाप्राज्ञ ७-७-११
युधिष्ठिर महाबाहो १५-२-४८, १५-७-१
युधिष्ठिर विजानीहि २-१८-८

युधिष्ठिरश्च गाङ्गेय १३-३३-६
युधिष्ठिरश्च भीमश्च ७-४२-३
युधिष्ठिरश्च मे ग्राह्यः ७-१२-१६
युधिष्ठिरसमीपे तु १४-१०-२५
युधिष्ठिरस्तमावार्य २-१६-१८
युधिष्ठिरस्तमासाद्य ३-१४-१३
युधिष्ठिरस्तु तद्वाक्यं ७-३९-२६
युधिष्ठिरतु तान् विप्रान् १४-१०-५९
युधिष्ठिरस्तु धर्मात्मा १-१३-३५, ३-५-५२, १२-१३-३०
युधिष्ठिरस्तु निर्विण्णः १८-२-१६
युधिष्ठिरस्तु निश्चेता २-१४-२०
युधिष्ठिरस्तु नृपतिः १५-८-३८
युधिष्ठिरस्तु मद्रेशं ९-६-१४
युधिष्ठिरस्त्वयं धीमान् १५-७-३३
युधिष्ठिरस्य गेहे वै ४-१-२७, ४-१-३८
युधिष्ठिरस्य च क्रोधात् ५-१४-३४
युधिष्ठिरस्य नृपतेः १५-२-१
युधिष्ठिरस्य पुरुषाः ५-४-७
युधिष्ठिरस्यासमहं पुरा ४-३-१८
युधिष्ठिरं च भीमं च ५-३०-३४
युधिष्ठिरं तस्य भार्या १-२९-४०
युधिष्ठिरं पुरस्कृत्य ४-१६-२
युधिष्ठिरं महाराज ८-४-१
युधिष्ठिरः पुरं हित्वा ५-१५-३
युधिष्ठिरः सभास्तारः ४-४-३
युधिष्ठिरः स्वयं राजा ६-५-१४
युधिष्ठिराभिषेकं च २-८-२४
युधिष्ठिराभ्यनुज्ञाताः १४-१०-७०
युधिष्ठिरेण चादिष्टाः ६-५-२
युधिष्ठिरणैवमुक्तः ८-१५-१५
युधिष्ठिरो द्यूतमदेन २-१४-१३
युधिष्ठिरो धर्ममयो महाद्रुमः ५-६-४८
युधिष्ठिरो धर्मात्मा १-१३-५
युधिष्ठिरो भीमसेनः ७-६-६६
युधिष्ठिरो महाराज १५-१-११
युधिष्ठिरो ययावग्रे १७-१-२२
युधिष्ठिरो रथश्रेष्ठः १-१५-३०
युधिष्ठिरोऽहं नृपते १३-३२-१६
युध्यतामेव तेषां तु ६-२५-५४
युध्यतां तु तथा तेषां ६-१८-४०
युध्यते राक्षसो नूनं ६-२०-३६
युध्यध्वं मा पलायध्वं ६-२१-३०
युध्यन्ति क्षत्रियाः शत्रून् ७-२०-५६
युध्यमानस्य मे वीर ५-३३-१९
युध्यमाना हि कौरव्याः ११-४-१३
युध्यस्व निरहङ्कारः ६-२३-३१
युध्यस्व यत्नमास्थाय दैवं ७-२४-१८
युध्यस्वैनं कुरुश्रेष्ठं १४-९-७
युध्येयुरिति मे बुद्धिः ४-१०-१६
युयुक्षमाणास्त्वत्तो हि २-५-३३
युयुत्सुश्च महातेजाः १५-६-१८
युयुत्सुं संजयं चैव २-१८-३
युयुधानस्तु तं राजन् ७-२०-२१
युयुधानेन सहितः १४-१०-२३
युवैव धर्मशीलः स्यात् १२-४४-१७
युष्माकं विक्रमादद्य ४-१०-५१
युष्माभिस्तानि चीर्णानि ९-२-२१
यूयमिन्द्रसमाः सर्वे १५-४-७४
यूयं चाप्यपराधेयुः ३-१६-४३
यूयं मुमूर्षवश्चापि ३-१७-१७
यूयं सर्वे वधिष्यध्वं ५-२९-३८
यूयं ससुहृदः पार्थाः ९-१५-२
ये केचन गतास्तस्य ७-६-७३
ये क्रोधं सन्नियच्छन्ति १२-३२-१४
ये खल्वजिह्माः कृपणाः १२-४७-१४
ये गुणाः कीर्तिता लोके ३-१-१७
ये गुप्ताश्चैव दुर्गाश्च १२-१९-३६
ये च केचन लोकेऽस्मिन् १२-१३-२६
ये च केचिन्नियोत्स्यन्ति ४-१-२०
ये च ते कथिता व्यालाः ११-२-४४
ये च त्वाभिप्रशंसेयुः १२-२८-६
ये च त्वामनुजीवन्ति १५-७-२
ये च त्वामनुवर्तन्ते २-१७-५७
ये च द्विजाति प्रवराः १४-१०-१८
ये च धर्ममसूयन्ते १३-२८-१८
ये च ब्रूयुस्तवास्मीति १०-२-२८
ये च मूढतमा लोके १२-९-३६
ये च विद्यामुपादाय ७-२२-१७
ये चान्नमिच्छन्ति १-३१-५
ये चान्ये प्रतियोत्स्यन्ति २-१७-७०
ये चापि त्वां महाबाहो १४-६-१९
ये चापि पृथिवीपालाः १५-१-१५
ये चाप्युक्ता मयि गुणाः ७-१-३१
ये चाल्पतेजोबलसत्त्वमानाः १३-५-६
ये तपश्च तपस्यन्ति १२-३२-११
ये तु धर्मं महाराज १३-२८-२०
ये तु प्राज्ञाः स्थिताः सत्त्वे ११-२-१५
ये ते शूरा महात्मानः १६-५-८
ये त्वया सुनृशंसेन ६-२०-२६
ये त्वेकरतयो नित्यं १२-२२-६
ये त्वेतत्प्रतियोस्यन्ति ७-४३-१६
ये दम्भान्नाचरन्ति स्म १२-३२-३
ये धर्ममनुपश्यन्तः ५-२४-३७
ये तु धर्मं प्रशंसन्तः १३-७-३
येन केनचिदाच्छन्नः १२-६३-१२५
येन खट्वां समारूढः ५-१२-२३
येन त्वं पीडितो बाणैः ८-१७-२९
ये न पूर्वामुपासन्ते १३-१७-१६
येन प्रीणाति पितरं १२-३०-१३, १३-४-१२
येन प्रीणात्युपाध्यायं १३-४-१२
ये भृत्यभरणे शक्ताः १३-९-१०
येन भोजश्च हार्दिक्यः ७-१२-२१
ये न मानित्वमिच्छन्ति १२-३२-१३
येन यूयं सुदुर्वृत्ताः १६-१-१३
ये नये कुशलं शूरं ५-३२-२०
येन येन यथा यद्यत् १२-४८-८
येन येन शरीरेण १३-४-३, १३-२१-५३
येन वा लभते कीर्ति १३-१७-५
येनाजौ निहता भूमौ १०-४-६
येनासि बहुशो राज्ञा ६-२३-११
ये नास्तिका निष्क्रियाश्च १३-१७-९
येनैतद् दीर्घकालं नः ७-१५-८
येनोपायेन सैरन्ध्री ४-६-२
येऽन्यानेन जिहीर्षन्तः १२-३१-१०
ये परस्वापहर्त्तारः १३-७-२१

येऽपि राजर्षयः सर्वे १७-३-२४
ये पुरा कुरुराष्ट्राणि १-९-२८
ये भक्षयन्ति मांसानि १३-२१-५०
ये भीमसेनं ददृशुस्तदानीं ८-२०-२४
ये भूतान्यनुगृह्णन्ति १२-२७-३८
ये मदर्थे हताः शूराः ९-२-५५
ये मामामन्त्रयन्ति ४-१-३१
ये मां युद्धेऽभियोत्स्यन्ति ७-२८-९
ये मे निराकृता नित्यं ३-१९-३०
येयमर्थोद्भवा तृष्णा १२-५५-२
ये राजसूयावभृथे पवित्राः ८-२०-१४
येऽर्था धर्मेण ते सत्याः १२-६०-३४
ये वदन्तीह सत्यानि १२-३२-९
ये वर्जयन्ति परुषं १३-२६-१३
ये वा पापं न कुर्वन्ति १२-३२-७
ये वित्तमभिपद्यन्ते १२-९-४१
ये विप्रकुर्वन् राजानं ९-२१-८
ये वेदं प्राप्य दुर्धर्षाः १३-९-१०
ये वै तपसि वर्तन्ते १३-९-८
ये वै भेदनशीलास्तु ५-१२-१७
येषामपरिमेयानि १-४-२
येषामर्थे काङ्क्षितं नः ६-३-२४
येषां च बहवः शूराः १-२४-१७
येषां त्रीण्यवदातानि ३-१-१४
येषां पक्षधरो रामः १-३३-६४
येषां वैनायिकी बुद्धिः १२-२४-३५
येषां स्वादूनि भोज्यानि १३-१४-४०
येषां हि वृत्तं व्यथते ५-११-३
येषु नः प्रत्ययो राजन् ४-९-१६
येषु भारं समासाद्य ९-२-११
येषु येषु नरव्याघ्र ७-२०-५१
ये सर्वातिथयो नित्यं १३-९-१९
ये हन्युः शस्त्रवेगेन ११-५-५०
यैर्जिता भूमिपालाश्च १६-३-१३
यैः स्म ते नाद्रियेताज्ञा ३-१६-१७
योगदोषान्समुच्छिद्य १२-६३-११४
योगमत्र विधास्यामि ७-२१-१३
योग्यो नृपः भीमसेनः ८-१६-२२
योजयध्वं रथानाशु १-३५-२२
यो जानाति परप्रज्ञां १-२२-४५
यो जितः पञ्चवर्गेण ५-९-२८
यां ज्ञातिमनुगृह्णाति ५-१२-१८
योत्स्याम्यहं भारत ८-१४-२३
योत्स्येऽहं मातुलेनाद्य ९-६-९
यो दद्यादपरिक्लिष्टं १३-४-७
यो दद्यादपरिक्लिष्टः १३-१४-७१
यो दीर्घबाहुः क्षिप्रास्त्रः ५-१४-९
यो दुर्लभतरं प्राप्य १२-६०-५४
योऽधर्मविजिगीषुः स्याद् १२-३५-२३
यो धर्मार्थौ समुत्सृज्य १२-३४-८
योधानामयुतं हत्वा ६-२७-३९
योधाश्चापि हि मां दृष्ट्वा ७-८-१०
यो न दर्शयते तेजः ३-४-१७
यो न यानं न पर्यङ्कं ४-२-६
यो न शक्यो बलात् कर्तुं ५-२७-२०
यो नः संख्ये नौरिव २-१३-४२
यो नात्युक्तः प्राह १२-६१-१६
यो निमित्तमनर्थानां ४-७-१७
यो नैव रोषान्न भयात् ५-१४-३
योनैः स्वैः सुखहार्दैश्च ९-२०-१३
योऽन्यथा सन्तमात्मानं १-३-६८
योऽप्यन्यः कारयेदेवं १३-१०-२७
यो बिभेद चमूमेकः ११-५-३६
यो मामद्य महात्मानं ८-७-१९
यो मां नित्यमदीनात्मा ७-८-२४
यो मां ब्रूयात् कश्चन ८-१५-४३
योऽमित्रैः सह सम्बद्धः १२-२४-४०
यो मे पुत्रात्प्रियतरः १-१६-३२
यो यजेताश्वमेधेन १३-२१-११
योऽयमक्षतधर्मात्मा १७-२-१४
योऽयमस्मासु सर्वेषु १७-२-९
योऽयं मूर्धाभिषिक्तानां १०-४-५, ११-५-२०
योऽयं राज्ञो विराटस्य ४-७-१३
यो यः स्म नीयते तत्र ७-१७-१५
यो यः स्म समरे पार्थं ७-११-२३
यो यो भीष्मं नरव्याघ्रं ६-१२-१५
यो योऽभ्यधावदाक्रन्दे ७-२१-६
यो यो हि प्रमुखे तस्य ७-२५-११
यो यो हि यतते भेत्तुं ७-६-७१
यो यो हि समरे पार्थं ६-१०-१९
योऽरिणा सह संधाय १-२०-४१, १२-३७-२८
योऽर्जुनेनार्जुनस्तुल्यः ३-४-११
यो वै कश्चिदिहाजातः ५-२८-४२
यो वृत्तं वै यथोद्दिष्टं १३-१५-८
योषितां न कथाः श्राव्याः १२-६३-८५
योषेव हतवीरा मे ६-२-९
योऽसौ कर्णेन वीरस्य ७-२२-२९
योऽसौ बृहद्वारणाभः ४-११-२१
योऽसौ राजा घृणी २-१८-४७
योऽस्मान् पुरोऽपनृत्यन्त ९-१९-५
योऽहं तमर्जुनं विद्धि १६-३-१७
योऽहं दुष्टमति मन्दः १५-२-१६
योऽहं भवन्तं दुःखार्तं १५-२-३२
यो हि कच्चिद् द्विजं हन्यात् १२-३८-४०
यो हि खादति मांसानि १३-२१-२९
यो हि तेजो यथाशक्ति ५-२८-३३
यो हि दिष्टमुपासीनः ३-४-५७
यो हि दोग्ध्रीमुपास्ते च १२-२१·१४
यो हि धर्मं समाश्रित्य ५-११-३९
यो हि प्रीतमना नित्यं ७-१६-९
यो हि भोज्ये पुरस्कार्यः ७-७-८
यो हि मां पुरुषो गृध्येत् ४-३-४५
यो हि राज्ये स्थितः शश्वत् १२-८-१२
यो हि शत्रोर्विवृद्धस्य १२-३३-३१
यो ह्यनस्त्रविदो हन्यात् ७-४१-२७
यो ह्ययं मयि संघातो १२-५२-१७
यो ह्यसौ छद्मनाऽऽचार्यं ७-४०-२१
यो ह्येकः पाण्डवैर्युद्धयेत् ९-४·७
यौ तावर्जुनशिष्यौ ते १६-३-१४
यौधिष्ठिरस्य सैन्यस्य ९-१३-३५
यौयुधानि सरस्वत्यां १६-४-५३

र

रक्तमाल्यं न धार्यं स्यात् १३-१७-५१
रक्षणाद् धर्मराजस्य २-६-१०
रक्षत्यसुरराट् नित्यं १-२७-५९

रक्षत्त्विदानीं सामात्य: ७-४१-८
रक्ष दुर्योधनात्मानं ९-२-२३
रक्षमाण: स्वकं व्यूहं ७-१३-३
रक्षमाणाश्च तं संख्ये ७-८-५६
रक्षया स हि तेषां वै १२-१७-१६
रक्षाधिकरणं युद्धं १२-२८-३६
रक्षितव्यो ह्यतो भीष्म: ६-२-१९
रक्षितं द्रोणकर्णाभ्यां १२-५-१२
रङ्गमध्यं तदाचार्य: १-१६-१४
रङ्गमध्ये गतस्तत्र १-३०-१६
रङ्गस्यैवं मतिरभूत् १-१७-४
रङ्गोऽयं सर्वसामान्य: १-१७-१९
रजसा तमसा चैव १३-२८-१९
रजस्वला वा भव याज्ञसेनि २-१४-३७
रजो दृष्ट्वा समुद्धूतं ७-५-२१
रञ्जयस्व प्रजा: सर्वा: १३-३१-१०
रञ्जिताश्च प्रजा: सर्वा: १२-१८-६२
रणे जित्वा कुरून् सर्वान् ४-११-११
रणे यं प्रेक्ष्य सीदन्ति ४-१५-५९
रणे रणेऽभिमानी च ५-३५-३०
रणे ह्येतानिर्जित्य ७-२१-१२
रत्नं च यन्मरुत्तेन १४-३-२
रथचर्यास्त्रमायभि: ७-६-८०
रथमारुह्य वीर: ८-१३-२०
रथयूथपयूथानां ५-३५-२४
रथशब्दधनु:शब्दै: ८-७-३८
रथसंख्यां तु कात्स्न्र्येन ५-३५-८
रथस्थं पुरुषव्याघ्रं ७-१-१४
रथस्थ: स तया विद्ध: ८-४-१२
रथं च दिव्याश्वयुजं १-३६-२२
रथं च पश्य मे क्लृप्तं ८-६-१०
रथं रथवरस्याजौ ७-१४-३०
रथं सोपस्करं ध्वजं ८-१२-१२
रथ: शरीरं पुरुषस्य राजन् ५-९-३२
रथाग्न्यागारश्चापार्चि: ६-२५-१३
रथादवप्लुत्य ततस्त्वरावान् ६-१२-३९
रथानश्वान् ध्वजान् नागान् ८-९-२२
रथानां द्वे सहस्रे तु ९-१२-१५
रथानीकं नरव्याघ्रा: ६-५-२३
रथानीकान्यदृश्यन्त ६-२-२७
रथान् हयै: सुसम्पन्नान् ४-१०-१८
रथा रथैर्विमथिता ८-२-१
रथास्तावन्त एवेमे २-१२-५१
रथास्तु रथिभिर्हीना ६-२४-५०
रथा हीना महाराज ८-१९-२५
रथिनश्च रथैर्हीना: ६-२४-५१
रथिन: कुञ्जरानश्वान् ७-६-८३
रथिन: समहामात्रान् ८-४-१८
रथिनां प्रवर: कर्ण: ८-६-४
रथिनो बद्धतूणीरा: १४-७-१३
रथी च रथिना योध्य: ६-१-१३
रथी रथिनामासाद्य ६-२४-४८
रथेन काञ्चनाङ्गेन १-३५-१७
रथेभ्यश्च गजेभ्यश्च ६-१०-१७
रथेभ्यस्त्ववतीर्णा: स्म ७-४४-९
रथेष्वानीयमानेषु १-३५-२४
रथे सुभद्रामधिरोप्य १४-२-३६
रथैर्गजैस्तथा चाश्वै: १-१३-३३
रथैर्नरा रथा नागै: ८-२-२
रथैस्तैर्नगरप्रख्यै: १२-१३-९
रथो भग्नो ध्वजश्छिन्न: ७-५-७४
रथो वेदी स्रुव: खड्ग: ५-१५-२०
रन्तिदेवं च सांकृत्यं १२-११-२५
रमणीयानि पश्यन्त: १-२७-३
रमणीये जनाकीर्णे १-२२-१०
रमणीय वनोद्देशे ३-६-२७
रमणीयेषु देशेषु ३-१६-३७
रमणीयेषु पुण्येषु १४-२-१३
रममाणस्तया सार्धं १-४-१३
रमस्वैधस्व मोदस्व १३-२२-२०
रमे चाहं त्वया पुत्र १५-७-३८
रमे चाहं त्वया सार्धं १४-२-११
रम्याश्च विविधास्तत्र १-३४-४६
रविरात्मप्रभां जह्यात् २-१९-४४
रश्मीन् समुत्सृज्य तत: ४-१४-४७
रसांश्च तांश्च विप्रर्षे १२-५०-३९
रहश्च केचिद् वार्ष्णेयं २-९-३४
रहस्यमद्भुतं चैव १३-१४-४
रहस्यश्रवणं धर्म: १३-२५-६
रहितं धिष्ण्यमालोक्य ६-२३-७
रहितान् भीमसेनेन ३-१३-२
राक्षसं रौद्रकर्माणं ६-५-१६
राक्षसस्य तु तं शब्दं ६-२०-३५
राक्षसाय च तत् सर्वं १-२७-७४
राक्षसास्तं न पश्यामि ३-१२-१७
राक्षसे जीवमानेऽद्य ३-१३-१०
राक्षसेन तदा भीमं १-२५-६२
रागात्क्रोधाद्भयाल्लोभात् १०-१-४९
रागी युक्त: पञ्चमानो- १२-६०-१९
रागे दर्पे च माने च १२-५२-३७
रागो द्वेषस्तथा मोह: १२-३९-११
रागो योगस्तथा दाक्ष्यं ८-१-३
राजञ्छृणु सहामात्य: १-३४-११
राजञ्शिरसि ते कृत्वा १०-५-३१
राजदण्डभयादेके १२-६-५
राजनीतिं व्यपाश्रित्य ७-२४-१७
राजनीति: सुबहुश: १५-७-४३
राजन् किमत्र साह्यं ते ६-४-२४
राजन् किं करवामस्ते २-१६-२०
राजान् किं नाम सत्कृत्यं ३-१३-९
राजन् कुलान्तकरण: १-१०-४
राजन् कुलेन वृत्तेन ३-२४-७२
राजन् दुर्योधनं बद्ध्वा ५-२५-४८
राजन् नान्यत् प्रवक्तव्यं ५-२४-१५
राजन् नार्हाम्यहं कोटिं १३-१३-२५
राजन्नुत्तिष्ठ युद्धस्व ९-१३-१०
राजन्नेते यदि क्रुद्धा: ५-२७-१२
राजन् परिणतप्रज्ञ: २-११-४६
राजन् पाञ्चालराजस्य ३-११-१४
राजन् प्रकृतिमापन्न: १३-३१-५
राजन्बलेन द्व्यङ्गेन ९-९-१०
राजन् बहुमतश्चासि ५-२१-१
राजन् ब्रूया: सुतं मे त्वं ७-२३-३०
राजन् वाक्यं जनस्यास्य १५-४-३०
राजन् विदितधर्मोऽसि १२-७-२,
१३-३२-२७
राजन् विदितमेवैतत् ८-१६-२४

राजन्विद्वान्भवान्दान्तः ३-२५-२४
राजन् सत्यं परं ब्रह्म १-३-१०१
राजन् सम्प्राप्तविद्यास्ते १-१६-२
राजन् सर्षपमात्राणि १-३-९१
राजपुत्र हितप्रेप्सुः ४-११-८
राजपुत्रा इमे राजन् २-१३-३१
राजपुत्रास्तथा चान्ये १-१५-१०
राजपुत्रीं च पाञ्चालीं ११-४-२२
राजभ्योऽपि ततः प्रादात् १४-१०-७६
राजमार्गाः क्रियन्तां मे ४-१५-१४
राजमार्गेण गच्छन्तः २-५-४
राजमूलो महाप्राज्ञ १२-१८-२१
राजर्त्विजं स्नातकं च १३-१६-२५
राजर्षियश्च बहवः १२-२८-१६
राजवृत्तं महाराज १२-१९-३
राजसूयाश्वमेधौ च १४-१-२३
राजा कृतयुगस्रष्टा १२-१९-७३
राजा गुरुः प्राणभृतां १५-२-२६
राजा च धृतराष्ट्रस्तु २-१८-३६
राजा च धृतराष्ट्रोऽद्य ९-१६-२८
राजा च भीमसेनश्च १६-४-३
राजा चरति चेद्धर्मं १२-२८-१०
राजा चेन्न भवेल्लोके १२-१८-८
राजा तरन् स्वरयोगेन १५-६-३२
राजा तु धृतराष्ट्रश्च १४-१-४
राजा तु धृतराष्ट्रोऽयं ५-३०-३
राजा दुर्योधनो नाम ३-१७-१४
राजा द्रोणाय चोत्सृष्टः ७-२०-८
राजानं चाब्रवीद् भीमः ३-२१-५०
राजानं धर्मगोप्तारं ३-४-३९
राजानं नात्र पश्यामि ४-१३-३२
राजानं प्रथमं विन्देत् १२-१५-३०
राजानं राजपुत्रं वा ४-२-१५
राजानो राजपुत्राश्च ५-२९-३५,
१८-२-१
राजा बिभेति ते भद्रे ४-८-४२
राजा महात्माकुशली २-१२-६
राजा यद्यपे कौरव्यः ४-१६-११
राजा राज्ञः कथं साधून् २-५-२८

राजा राज्यमनुप्राप्य १२-३३-२१
राजा राष्ट्रं यथाऽऽपत्सु १२-३५-१२
राजा लक्षणसम्पन्नः ५-९-४९
राजा वसुमना नाम १२-१८-१९
राजा विराटः सुश्रोणि ४-३-४२
राजा विराटोऽथ भृशं ४-१५-७
राजा शत्रुञ्जयो नाम १२-३७-४
राजा शूरः कृती दक्षः ७-१२-१८
राजा श्रान्तो विक्षतो ८-१५-४६
राजासि दक्षिणे कूले १-१८-४१
राजा स्वयं सुवीराणां ३-२१-१३
राजेन्द्र तव पुत्राणां ६-२-२४
राज्ञश्च धृतराष्ट्रस्य १-२२-३२
राज्ञश्च मतमाज्ञाय ९-४-२
राज्ञस्तद् वचनं श्रुत्वा १२-५५-१३
राज्ञस्तु याजकैस्तत्र १५-५-४
राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा ५-६-५, ५-१९-१,
५-२६-४, ९-२४-२७
राज्ञस्त्वन्धस्य वृद्धस्य ९-२२-४५
राज्ञः कोशक्षयादेव १२-३५-३
राज्ञः कोशबलं मूलं १२-३५-१४
राज्ञः प्रमाददोषेण १२-४-१७
राज्ञः शरीरेण सह १-१२-१२
राज्ञः संक्रमणे चापि १६-४-४
राज्ञा जेतव्याः शत्रवश्चो- १२-६०-२५
राज्ञा नित्यं दया कार्या १२-१४-१३
राज्ञापि धृतराष्ट्रेण ९-१६-३२
राज्ञा सप्तैव रक्ष्याणि १२-१९-५४
राज्ञा हि पूजितो धर्मः १२-२३-४
राज्ञां तु प्रतिपूजार्थं २-७-५
राज्ञां वै परमो धर्मः १२-१४-१
राज्ञां हि बलमैश्वर्यं १२-६३-१५६
राज्ञिधर्मानवेक्षस्व १-७-१७
राज्ञो वधं चिकीर्षेद्यः १२-२५-५
राज्यप्राप्तिं च सम्प्राप्तं १-२१-२
राज्यमेव परं धर्मं ३-९-५
राज्यलुब्धाः पुनः कर्णं ८-३६-८
राज्यस्य पदवीं धर्म्यां ३-५-२
राज्यस्यार्धं दीयतां ६-३९-३०

राज्यं तिष्ठति दक्षस्य १२-३३-१९
राज्यं प्रतिगमिष्यामि १५-७-५३
राज्यं सर्वामिषं नित्यं १२-१६-१४
राज्यं हि सुमहत्तन्त्रं १२-१६-१३
राज्याद्विनिकृतोऽस्माभिः ९-२-३६
राज्याशंश्चाभ्यनुज्ञातः ५-२५-२५
रात्रावहनि धर्मज्ञ १३-२७-३
रात्रौ हि राक्षसा भूयः ७-३०-२८
रात्र्यहानि तु तान्याहुः ११-२-५०
रात्र्यां रात्र्यां व्यतीतायां १२-४४-१२
राधेयमेतं यदि नाद्य शक्तः ८-१५-१२
राधेयस्य वचः श्रुत्वा ७-४-५३
राधेयं निर्जितं दृष्ट्वा ७-२७-२४
राधेयो निशितैर्बाणैः ७-६-११२
राधेयोऽपि महाराज ७-२२-३६
राधेयोऽहमाधिरथिः ५-३०-१५
राधेयोऽहं कुरुश्रेष्ठ ६-२३-५
राधेयो ह्यन्यथा पार्थान् ८-१९-५
रामं दाशरथिं चैव १२-११-२०
रामेणातिबलेनैतत् १०-६-३१
रामे द्वारवतीं याते ९-२०-२३
रामो वनान्ते प्रतिपालयन्मां १६-२-८
राष्ट्रगुप्तिं च ते सम्यक् १२-२७-२
राष्ट्रगुप्तिं च मे राजन् १२-२७-१
राष्ट्रमप्यतिदुग्धं हि १२-२७-१५
राष्ट्रस्यैतत् कृत्यतमं १२-१८-२
राष्ट्रं च पीडयेत्तस्य १२-१९-१८
राष्ट्रान्निर्वासितक्लेशं ५-३४-२३
रिपूणां शिरसि स्थित्वा ३-१९-३५
रुक्मदण्डां महाशक्तिं ६-१३-१४
रुदन्नेवाब्रवीद् वाक्यं ९-१-११
रुदित्वा सुचिरं कालं ८-१७-११
रुद्राक्रीडनिभं दृष्ट्वा ११-५-४
रुधिरं न व्यतिक्रामत् ११-४-३२
रुधिरेणावसिक्ताङ्गं १३-१-२
रुरुचर्मावृततनून् २-१७-२६
रुरुणामिव यूथेषु ५-१५-२७
रूपमग्र्यं तथा कान्तिः ४-५-१३
रूपमव्यङ्गतामायुर्बुद्धिं १३-२१-९

रूपयोवनमाधुर्य- १-३-२९
रूपलक्षणसम्पन्नां १-३२-५४
रूपलावण्ययुक्ताभिः ४-७-४६
रूपवर्णस्वरोपेतः १२-२४-१४
रूपेण मत्समो नास्ति १७-२-१६
रूपेण सदृशस्त्वं मे १४-११-५६
रोगार्दिता न फलान्याद्रियन्ते ५-११-३०
रोचते ते पितुस्तात ५-२४-४६
रोचते मे महाबाहो १४-२-२७, १४-३-६
रोरुयमाणांस्तान् दृष्ट्वा १-२७-९
रोहते सायकैर्विद्धं ५-९-४३, १३-१७-२३
रौद्रमस्त्रं समाधाय ८-२५-२८
रौद्रं कर्म क्षत्रियस्तु १३-१४-३३

ल

लक्ष्मणस्तव पौत्रस्तु ६-१०-५
लक्ष्मणेन तु संगम्य ७-६-९०
लक्ष्मणोऽपि पुनस्तस्य ६-१०-८
लक्ष्मीः पद्मालया का त्वं ४-५-१६
लप्स्यसे वीरशयनं ५-२५-२८
लब्धचेतास्तु कौन्तेयः १०-५-६
लब्धलक्ष्यतया कार्ष्णेः ६-५-३५
लब्धलक्ष्यस्तु राधेयः ७-३०-६
लब्धश्चानभिभूतार्थैः २-१०-३२
लब्धस्य त्यागमित्याहुः १२-९-४४
लब्धानामपि वित्तानां १२-९-४५
लब्धास्त्रश्चित्रयोधी च ५-३६-१०
लब्ध्वा तु स नृपः संज्ञां ९-१-२२
लब्ध्वापि पृथिवीं कृत्स्नां १२-४-१९, १४-१-४२
लब्ध्वाऽपि भूमिं खलु सामरान्तां ५-६-३१
लब्ध्वा रथं धनुश्चैव १-३६-२४
लब्धवा हि राज्यं पुरुषप्रवीराः ५-१-२२
लब्ध्वा हि संज्ञां तु ४-१४-४८
लभ्यते खलु पापीयान् २-१३-२२
लाघवे सौष्ठवे चैव १-१९-७
लाङ्गूलचालनं क्ष्वेडः ५-१७-२०
लाभं लब्धुमलब्धं वा १-२९-६२
लाभालाभौ सुखं दुःखं १२-६३-९८
लीनं तु तस्य गात्रेषु १२-३५-८०
लीनः स तस्य गात्रेषु १२-३५-८१
लुब्धानां शुचयो द्वेष्याः १२-६३-२३
लेखा शशिनि भाः सूर्ये ५-२१-२
लेलिहानामिव विभो ९-४-३२
लोकप्रवीरा येऽस्माकं ८-१-४
लोकरञ्जनमेवात्र १२-१५-६
लोकस्य कदनं कृत्वा १२-१३-३१
लोकस्य सीमन्तकरी १२-१९-७५
लोकापवादभीरुत्वात् ७-१८-९
लोभमेको हि वृणुते १२-२९-३
लोभमोहाभिभूतस्य १२-५४-६
लोभात् क्रोधः प्रभवति १२-३९-४, १२-४१-६
लोभाद् वा ते न जानीयुः ४-१३-६
लोभान्मोहादनुक्रोशात् १३-२०-१४
लोभेनातिबलेन त्वं ९-२१-३४
लोभो धर्मस्य नाशाय २-१६-१३
लोभो मात्सर्यमीर्ष्या च १२-४१-२
लोष्ठमर्दी तृणच्छेदी १२-४९-१८, १३-१७-१३
लोहिताक्षो गुडाकेशः ५-३६-५
लोहितायति चादित्ये ६-१४-४८
लोहितोदां केशतृणां १२-१३-३४

व

वचनं धर्मराजस्य ९-२२-१९
वचनादथ कृष्णस्तु ७-५-२६
वचोभिर्विविधैरेवं ४-६-३१
वज्रनाभं ततश्चक्रं १-३६-२५
वज्रसारमयं नूनं ७-८-२३
वज्राशनिसमा घोराः ७-१५-२४
वज्रेणस्त्रेण संयोज्य ७-२१-२८
वञ्चयित्वा तदा भीमं ९-१७-२५
वत्से शोको न ते कार्यः २-१८-२१
वदध्वं वाचि वीर्यं च २-५-१६
वदन्ति पुरुषा मेऽद्य १५-८-६
वदन्ति मित्रं सहजं ८-२३-१४
वधप्राप्तं तु तं शूरः ८-३-२४
वधबन्धपरिक्लेशैः १२-४७-२२
वधमेव प्रशंसन्ति १-२०-८
वधं कर्णस्य संग्रामे ८-२७-८
वधं ह्ययं पाण्डव धर्मपुत्रः ८-१५-५१
वधाद् बन्धाद्भयाद्वपि ५-२९-२०
वधूपरिवृता राज्ञि १५-४-५२
वधे कुन्ति सुतस्याजौ ७-२-१२
वधे चैव परो धर्मः ९-२-८
वधेन च मनुष्याणां १२-३७-४०
वधो नूनं प्रतिज्ञातः ७-९-३
वध्यन्ते न ह्यविश्वस्ताः १२-३५-१४९
वध्यमानानि सैन्यानि ७-२८-३२
वध्यमानेषु संग्रामे ७-३९-१
वध्यमानेष्वनीकेषु ९-६-४
वध्यमानो राक्षसा वै निशीथे ७-३३-१७
वध्यः सर्व इवानार्यः ५-१७-४१
वनमध्ये च तत्राभूत् ११-२-२५
वनमामन्त्र्य वः सर्वान् १२-१-२१
वनमाली ततः क्षीबः १-३४-२५
वनवासनिवृत्तेषु १५-८-१०
वनवासे व्यतीते च ८-२६-४
वनस्थान् भवतो ज्ञात्वा ३-१८-४८
वनस्पतेरपक्वानि ५-९-७
वनं गते कौरवन्द्रे १५-५-१६
वनं गतेषु पार्थेषु २-२१-१
वनं प्रवेक्ष्ये विप्राग्र्याः १४-१०-६१
वनं यास्यामि वार्ष्णेय ६-७-५
वनं राजा धृतराष्ट्रः ५-६-४९
वनाच्चापि किमानीताः १५-४-६५
वनादस्माच्च कौन्तेय ३-५-४९
वनानि रम्याणि सरित् ३-१५-१३
वने द्रष्टुं ययु पार्थान् ३-२-३
वने महति कस्मिंश्चित् १२-३५-४०
वने वनचरः कश्चित् १२-५०-१५
वनेषु तेष्वेव तु ते नरेन्द्राः ३-१५-१०
वन्द्यमानः स्वैश्चापि ९-१२-६६
वपुः समीक्ष्य पृथ्वीशाः ७-६-११३
वयमेतदनिच्छन्तः १-२२-३८

वयस्कया तया राजन् ४-१६-३७
वयस्यत्वात् तु ते ब्रह्मन् ४-१५-२८
वयस्यैरथ मित्रैश्च ७-२०-५६
वयं काकाः कुतो नाम ८-८-६२
वयं च शक्तिसम्पन्नाः १-२९-३३
वयं चार्धेन सैन्यस्य ४-१३-१९
वयं तु तमृते वीरं ३-१०-३
वयं तु धृतराष्ट्रेण १-२४-१९
वयं तु न भयादस्य २-७-३५
वयं तु यदि दाहस्य १-२३-१२
वयं तु लोभान्मोहाच्च १२-१-१५
वयं तु प्रवरं हत्वा ७-६-१२९
वयं त्वप्रतिमं वीर्ये ७-८-४३
वयं त्विह विनाभूताः ९-२-१२
वयं पुत्रा हि भवतः १५-२-४१
वयं राज्यमनुप्राप्ताः १२-१३-५
वयं राष्ट्रस्य गोप्तारः ३-१३-५
वयं वा द्वादशाब्दानि २-१७-३४
वयं विनिकृता राजन् ७-४-९
वयं हंसाश्चरामेमां ८-८-४२
वयं हि क्षत्रिया राजन् १-३२-३८
वयं हि तान् कुरून् हत्वा १३-१४-२
वयः प्राप्य परिक्षित्तु १०-८-४४
वयांसि पशवश्चैव १२-९-१४
वरप्रदानं राज्यं च ३-१८-१०
वरं कूपशताद् वापि १-३-९८
वरं तु विष्टरं कौश्यं १५-७-३०
वरं दत्वा मम प्रीतः ७-६-४
वरं ददासि चेन्मह्यं ३-६-४४
वरं वृणीष्व पाञ्चालि २-१६-८
वरं वृणीष्व राजेन्द्र ३-२५-७
वरं वृणीष्वेति तदा १३-२-२१
वरायुधान् पाणिगतैः शरैः ८-२३-८
वराश्वनरनागानां ६-१२-८
वरुणं कोऽम्भसा हन्यात् ८-९-१२
वरुणं च कुबेरं च ३-५-४७
वर्चस्विनां ब्राह्मणानां २-४-४१
वर्चस्वी तेजसा युक्तः ३-८-६
वर्जनीयं सदा युद्धं १२-१९-१९
वर्जयन्ति च पापानि १३-२०-१६
वर्जयेद् व्यङ्गिनीं नारीं १३-१७-६४
वर्णश्रेष्ठयात् कुलोत्पत्त्या ७-१-२६
वर्णोत्कर्षमवाप्नोति १२-६०-२२
वर्तमानः सतां वृत्ते १-१२-२४
वर्तमानः स्वशास्त्रेण १२-६३-२१
वर्तमाने तथा घोरे ६-८-३६
वर्तमाने तथा तस्मिन् ६-२०-४४
वर्तमाने तथा युद्धे ४-४-२६, ७-२८-२९
वर्तमाने तथा रौद्रे ६-२०-६, ७-१६-५, ७-१८-१, ८-१२-१९
वर्तमाने महायुद्धे ८-२७-९
वर्तमाने समाजे तु १-३०-१५
वर्तितव्यं कुरुश्रेष्ठ १२-१४-२१
वर्धमानपुरद्वारात् ३-१-२
वर्धमानमृणं तिष्ठेत् १२-३७-३८
वर्धमाने च राजेन्द्र ८-१२-२८
वर्धयति दमस्तेजः ५-१६-३
वर्षता शरवर्षाणि ६-२६-२४
वर्षमावपतां श्रेष्ठं ३-२४-२३
वर्षं त्रयोदशमिदं ३-२५-१४
वर्षाणि द्वादशारण्ये ३-२५-११
वर्षाहिमातपानां च १२-४७-१३
वर्षित्वा धनधाराभिः १४-१०-८५
वर्षे त्रयोदशे वीर ३-८-३९
वलिपलितसंयोगे १२-५९-१३
वलीसंछन्ननयनः ७-५-६२
वल्गु चित्रपदं श्लक्ष्णं ३-४-४१
वल्ममीकमात्रः सप्ताहं २-८-४२
वल्ली वेष्टयते वृक्षं १२-६३-७०
ववर्ष भगवान् देवः १४-१-५०
वशे बलवतां धर्मः १२-६३-४३
वश्येन्द्रियं जितात्मानं ५-९-३१
वसतोऽत्र यथा चास्मान् १-२३-१७
वसत्सु तत्र पार्थेषु ४-५-१
वसत्सु तेषु प्रच्छन्नं १-२९-१८
वसत्सु वृष्णिवीरेषु १४-४-१
वसत्सु वै द्वैतवने ३-३-९
वसन् दुर्योधनस्तस्यां २-१०-१
वसाम ससुखं पुत्र १-२७-११
वसामि नित्यं सुभगे १३-५-४
वसुदेवसुतो यद्वत् ६-२३-२२
वसुधा भवतस्त्वेषा १४-१०-५८
वस्तव्यं यत्र कौन्तेय १२-२६-२
वस्त्रमापस्तिलान् भूमिं ३-१-११
वस्त्राभरणदातारः १३-७-३०
वस्त्रेण संवृत्य मुखं २-१८-४१
वहेदमित्रं स्कन्धेन १-२०-१८
वह्निमेव प्रवेक्ष्यामि २-१०-२३
वाक्प्रतोदेन तौ वीरौ ७-२९-७
वाक्शूरस्य चैवास्य २-१७-६८
वाक्यं न मे रोचते यत्त्वयोक्तं २-१२-१
वाक्संयमो हि नृपते ५-९-४१
वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति ५-९-४५, १२-६१-८, १३-१७-२२
वाग्देहमनसां शौचं १२-६३-८३
वाङ्मात्रेण विनीतः स्यात् १२-३७-११
वाचा दण्डो ब्राह्मणानां १२-६-९
वाचा भृशं विनीतः स्यात् १-२०-३५
वाचा युद्धप्रवृत्तानां ६-१-१२
वाचा शेषावहार्येण १२-६०-३३
वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं १२-६१-१३
वाच्यः पितामहो वृद्धः ५-१८-८
वाच्यावाच्यं न जानीषे ४-१५-२७
वाणिज्यं सत्पथस्थानं १३-२५-१७
वातवर्षं महच्चासीत् १२-३८-२१
वातं तमेवाभिमुखः ३-१२-६
वातातपविशीर्णाङ्गीं १४-११-६१
वात्सल्यात्सर्वभूतेभ्यः १२-४९-६
वादित्रं देवविहितं ३-७-१४
वादित्राणां च निनदः ९-४-४
वानप्रस्थं भैक्ष्यचर्यं १२-१७-२०
वानराः पक्षिणश्चैव १५-३-१४
वान्तं निष्ठीवनं चैव १२-१४-२८
वायुनेव विधूतानि ९-२-१५
वायुभक्षो निराहारः १५-७-१०
वायुश्च सुखसंस्पर्शः ४-९-३१
वाय्वग्न्यशनिनिर्घोषैः १२-६३-६९

वारयैतौ महावीर्यौं १-१६-२९
वाराणस्यां महाप्राज्ञः १२-५०-२९
वारितस्त्वब्रवीत् पार्थः ३-२३-३८
वारुणश्च महाशंखः २-१-२३
वार्तिकाणां सकाशात्तु ९-२४-१
वार्तिकांश्चाब्रवीद् राजा ९-२३-१७
वार्यमाणः स कृष्णेन ७-२०-७६
वार्यमाणा मया पूर्वं ९-८-६
वार्यमाणाः प्रविष्टाश्च ९-१३-२८
वार्ष्णेय मधुहन् वीर १४-४-३२
वार्ष्णेयस्तु ततो राजन् ६-२५-८
वार्ष्णेयीदयितं शूरं ७-८-१८
वासयन्त्यतिथीन्नित्यं १२-३२-५
वासश्च परिधायैकं ४-३-२७
वासांसि च महार्हाणि १५-१-१४
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय ६-३-४७
वासुदेव महाबाहो १४-४-८
वासुदेववचः श्रुत्वा ९-२०-१४, ९-२२-४३
वासुदेवसमं वीर्ये ३-११-२
वासुदेवसमायुक्तं ५-३६-१७
वासुदेस्तु राधेयं ६-४-५८
वासुदेवस्तु सम्प्रेक्ष्य ६-२५-३६
वासुदेवस्तु हर्षेण ७-३४-२
वासुदेवस्त्वसम्भ्रान्तः ६-२५-२९
वासुदेवस्य भीमस्य ५-३४-६३
वासुदेवं च दशभिः ७-१५-१७
वासुदेवं पुरस्कृत्य ३-२-४, ११-५-२
वासुदेवः सहामात्यः १४-५-८
वासुदेवादनवरं ७-६-१८
वासुदेवेन तीर्थेन ५-२५-१०, १३-३२-३५
वासुदेवे स्थिते चापि ७-४१-१६
वासुदेवो रथात्तूर्णं ७-१४-२६
वाहनानां च विविधाः १४-१०-१६
वाहनानि धनं चैव २-१५-३
वाहनानि प्रभूतानि १-३३-३१
विकत्थमानः शौर्येण ७-२७-३
विकत्थयित्वा राजानं ३-२१-४४
विकर्णं च महेष्वासं १-३४-२५
विकर्णः सहदेवेन ६-१४-७
विकर्षन्तौ महावेगौ १-२५-५९
विकृष्य चापं सुदृढं ६-१४-२८
विकृष्यमाणं दृष्ट्वैव ८-१३-१८
विकृष्यमाणांस्तेनैव ७-१५-३०
विक्रमे च प्रशंसन्ति १-३३-३४
विक्रमं वृत्रहा जह्यात् १-७-१३
विक्रमेण मही प्राप्ता १-३३-३३
विक्रयं क्रयमध्वानं १२-२७-१०
विक्रीणतः सर्वरसान् १२-५०-३४
विक्षोभ्याम्भोनिधिं १-१८-३२
विगाह्य तत् परानीकं ४-११-१६
विगुणा ह्यपि संरक्ष्या ५-१२-१९
विगृह्य तु रथानीकं ८-१२-२३
विगृह्यासनमित्येव १२-१९-५८
विग्रहं केन वा कुर्यात् १२-३५-३४
विग्रहेऽस्मिन् भवान् कृष्ण ५-३-११
विघसाशी भवेन्नित्यं १२-६३-१२१
विघसाशी सदा च स्यात् १३-१६-६
विचकर्ष ततो दोर्भ्यां ६-१२-२८
विचकर्ष धनुर्दिव्यं १४-८-४
विचित्रकवचे तस्मिन् ९-७-२७
विचित्रमिदमाश्चर्यं ५-१६-१७
विचित्रवीर्यं च तदा १-६-९
विचित्रवीर्यः स तदा १-६-१०
विचित्रार्थपदाख्यानं १-१-१६
विचेता न्यपतद् भूमौ ७-६-१२३
विचेष्टमानाः कृपणाः ६-२१-२८
विजयेधृतसंकल्पाः ९-५-२७
विजह्राते मुदायुक्तौ १४-२-३
विजानतां मोक्ष एषः १२-५६-१०
विजिते पाण्डवेयैस्तु १४-२-१
विजिते पाण्डवै राजन् १४-२-२
विजितेय धरा कृत्स्ना १४-२-९
विजितेयं मही कृत्स्ना १२-१-९
विजित्य च यदा कर्णं ६-२३-२३
विजेतारः समरे सूत ५-१३-१६
विजेष्यामि रणे पार्थान् ९-३-२०
विज्ञातुमिच्छत्यवनीश्वरो वः १-३२-१९
विज्ञातोऽसि मया पूर्वं ३-१३-१४
विज्ञानर्थं हि पञ्चानां १२-५४-३
विज्ञानेष्वपि चास्त्राणां १-३५-४९
विज्ञा बुद्ध्यन्ति पुरुषाः १२-९-४३
विज्ञाय क्रियतां तस्मात् ४-९-२१
विज्ञायते ते मनसो २-१२-५
विज्ञाय दानवेन्द्राणां १-३६-४२
विज्ञायाथ च तां कण्वः १-३-४९
वितर्कयन्तं तु नरर्षभस्तथा ४-३-१६
वित्तस्यापि भवेत् कार्यं ३-४-५५
विदितं चापलं ह्यासीत् १०-६-७
विदितं तन्महाबुद्धेः १-२३-५०
विदितं ते महाप्राज्ञ २-१३-६
विदितं ते महाराज ७-३२-३
विदितं भवतामेतद् १५-२-१५
विदितं वो यथा सर्वं ४-२-२
विदिताः सर्वधर्मास्ते १२-५४-२
विदिते चास्य कुर्वीत ४-२-११
विदित्वा च दृढां भक्ति १३-२-२२
विदित्वा तु भवानेतत् १-३४-१४
विदीर्यं कर्णस्तां सेनां ८-१०-६
विदीर्यते मे हृदयं ५-१९-१७
विदुरश्च महाप्राज्ञः १-२२-३४
विदुरश्चापि तामर्तां २-१८-३५
विदुरस्त्वथ तां श्रुत्वा १-३३-१
विदुरस्य तु तद् वाक्यं ११-३-१
विदुरस्य मतिं ज्ञात्वा २-११-३३
विदुरस्थ सुहृत् कश्चित् १-२३-१८
विदुरं च महाबुद्धि ११-६-५
विदुरं धृतराष्ट्रं च ५-२५-४२
विदुरः किमवस्थश्च १५-५-१९
विदुरः सञ्जयश्चैव १५-४-८७
विदुरः सर्वकल्याणैः ५-२२-११
विदुरेणैवमुक्तस्तु ५-२७-२३
विदुरो च वनं गन्तुं १५-४-४८
विदुरो धृतराष्ट्राय १-१६-२५
विदुरो मूर्ध्न्युपाघ्राय १-२३-५८
विदुरोऽहं महाप्राज्ञ ५-८-३

विदुला नाम राजन्या ५-२८-९
विद्धस्ततोऽतिव्यथितः ७-५-५४
विद्धं तु लक्ष्यं प्रसमीक्ष्य १०-३०-३७
विद्धं धर्मो ह्यधर्मेण ५-२४-३६
विद्धोऽस्मि वीराशु भृशं ८-२०-५
विद्यते मे न गाङ्गेय ५-३५-५
विद्यमाने धने लोभात् ३-२४-७१
विद्यमानेषु च स्वेषु ५-२-२३
विद्या तपश्च दानं च १३-२२-१
विद्याभिजनसम्पन्ने १२-६३-१०९
विद्यामदो धनमदः ५-९-२४
विद्यायुक्तो ह्यविद्यश्च १३-२९-८
विद्यावृद्धान् सदैव त्वं १५-३-५
विद्यां श्रुत्वा ये गुरुं १२-३०-११
विद्रुतं शिविरं दृष्ट्वा ९-१३-४
विद्रुतं स्वबलं दृष्ट्वा ७-२९-१
विद्रुतानि च सर्वाणि ९-१२-५६
विद्वान् मूर्खप्रगल्भेन १२-३३-३४
विद्वान् सर्वेषु भूतेषु १२-५५-९
विद्वांसः शिल्पिनो यत्र १२-२६-७
विधनुः स्यन्दनासिस्तैः ७-६-११४
विधवा यस्य विषये १२-११-२१
विधानं दैवविहितं १२-६-१८
विधाय तच्चायुधमाजिवर्धनं ४-१४-५५
विधाय योगं पार्थेन ७-४-१५
विधाय रक्षां भीष्मस्य ६-२८-२५
विधिवत् कारयित्वेष्टिं १७-१-१६
विनयेच्चापि दुर्वृत्तान् १२-२५-४
विनश्यन्तञ्च धर्मं हि १२-१४-१२
विनष्टाः कुरुशार्दूल १६-५-१९
विनाशं पश्यमानो हि १५-२-१८
विनिद्रकरणं घोरं १-२१-३१
विनिर्ययौ केतुमता रथेन ६-१३-३
विनिवर्त्य ततो रुक्मी ५-३३-२४
विनिश्चित्य स धर्मज्ञः १-६-२९
विनिःश्वसन्तस्ते राजन् ७-१४-३१
विनीतक्रोधहर्षा हि १२-६-१९
विनीतान् वृषभान् दृष्ट्वा ४-४-२३
विन्दं तु निहितं दृष्ट्वा ७-१८-८
विन्दानुविन्दौ दुर्धर्षः १-१०-८
विन्दानुविन्दौ सहितौ ७-१९-२४
विपत्तिष्वव्यथो दक्षः २-११-४२
विपन्ने च समारम्भे १२-१४-५
विपरीतं द्विषत्स्वेतत् ९-२०-८
विपरीतान्निगृह्णीयात् १५-३-३२
विपर्ययं न कुर्वीत १३-१७-५२
विपुलमपि धनौघं प्राप्य १३-३-२२
विपुलैर्बाहुभिर्वीराः २-५-३
विप्रयातांस्तु वो भिन्नान् ९-८-१८
विप्लुते नरलोके च १२-१८-४६
विब्रूत पृथिवीपालाः २-१२-१३
विभज्य दण्डः कर्तव्यः १२-१९-३०
विभवो न नृणां पुण्यं १४-११-८१
विभीषिकाभिर्बह्वीभिः २-८-३५
विभीषिका वै गन्धर्वं १-२९-३५
विभ्रमाल्लोकबाह्यानां १२-४१-१६
विमुक्तशस्त्रकवचाः ६-२६-२०
विमुक्तः सर्वसङ्गेभ्यः १२-३-१४
विमुक्तः सर्वसङ्गेषु १३-२५-३२
विमुखं च ततो रक्षः ६-२४-२३
विमुखं प्रेक्ष्य राधेयं ८-११-११
विमुखं हतसूतं तं ३-२१-१७
विमुखानीह सैन्यानि ७-३४-६
विमुखाश्चाभ्यधावन्त ७-१६-२५
विमुखीकृत्य कर्णं तु ७-६-६४
विमुखे तव पुत्रे तु ९-२-३
विमुच्य कवचं वीरः ६-४-३
विमुच्य पथि यानानि ३-१९-६
विमृद्य तरसा राष्ट्रं १-१८-३६
विमृश्य तेन कालेन १२-५२-२५
वियुक्त वासुदेवं च १६-१-३
विरथं विप्लुते तं तु १-२९-३८
विरथांस्तव पुत्रांस्तु ६-१८-२२
विरथो भरतश्रेष्ठ ८-११-२८
विरागवसनाः सर्वे २-५-५
विराटद्रुपदौ चोभौ ५-३७-३३
विराटनगरे चापि ७-२६-१५
विराटनगरे तात ४-१-१०
विराटमन्वयात् तूर्णं २-९-४३
विराटराजं रमयन् ४-१-१४
विराटस्य तु कैकेयी ४-३-३१
विराटस्य पुराभ्याशे ४-१०-५५
विराटस्य सभां गत्वा ४-१६-३
विराटस्य सुतां पूर्वं १०-८-३७
विराटः सहपुत्रेण ६-५-४७
विराटोऽथ त्रिभिर्बाणैः ६-१४-१३
विरुद्धानीह शास्त्राणि १२-४१-१०
विलपन्त्यो रुदन्त्यश्च ११-३-१०
विलम्बमानं तत् सैन्यं ८-१९-३०
विललाप च यत् कृष्णा ९-२-३७
विलापो भग्नसक्थस्य १०-२-२५,
१०-२-३७
विवक्षू हि युवां मन्ये १४-२-२४
विवर्णमुखभूयिष्ठं ९-९-९
विवर्णा पाण्डुसंकाशा १-७-४१
विवर्धमानमालक्ष्य तदस्त्रं ७-४३-२८
विवर्धयति मित्राणि १२-२८-२६
विवशो कालवशगो १३-१-२५
विवस्त्रायुधदेहासून् ८-९-२५
विवाहं कारयिष्यन्तं १-६-२७
विवित्सोस्तु ततः क्रुद्धः ८-११-१५
विविधानाश्रमान् कांश्चिद् ३-१०-५
विविधानीह रूपाणि २-१८-४६
विविधैरपि निर्विद्धैः १-३४-३८
विविशुस्ते सभां तां तु २-१७-३२
विविशुस्ते स्म कौरव्या. ३-१८-६२
विविंशतिर्विकर्णश्च १-१०-१०
विवृताक्षाश्च कौन्तेयः ९-६-१६
विवृत्य हि यथाकामं १२-१८-३१
विवृद्धमूषका रथ्याः १६-१-२०
विवेश राजा द्युतिमान् २-५-७५
विव्याध च नरश्रेष्ठः ९-७-२४
विव्याध च सुतीक्ष्णेन ६-२४-३९
विव्याध चैनं दशभिः ८-२१-२०
विव्याध लक्ष्यं निपपात तच्च १-३०-३५
विशल्यमेनं च चकार तूर्णं ६-१५-४२
विशस्तं भ्रातरं दृष्ट्वा ९-४-२६

विशालक्ष शिरश्छित्वा ६-१९-२७
विशालान् राजमार्गांश्च १२-१९-४६
विशिरस्कैर्मनुष्यैश्च ६-२०-४१
विशिष्टतरमेव त्वं ८-२५-३२
विशिष्टं सर्वशिष्येभ्यः १-१५--६०
विशीर्णकवचं चैव १२-२८-४८
विशीर्णनागाश्वरथप्रवीरं ८-२६-३६
विशीला भिन्नमर्यादाः १३-१७-१०
विशेषतस्तु पश्यामि १५-२-२०
विशेषतो विकवचः ६-१५-५
विशेषार्थी ततो भीष्मः १-१४-१
विशोकता सुखं धत्ते १२-६३-९६
विशोकस्तमुवाचेदं ६-१५-३२
विशोकस्य वचः श्रुत्वा ६-१५-३५
विशोको निर्ममः शान्तः १२-६३-१३६
विश्रम्यैकां निशामद्य ९-१३-१४
विश्रान्ताश्च विनिद्रश्च १०-२-१७
विश्रान्तस्ते महात्मानः १-३४-३०
विश्रान्तेऽथ गुरौ तस्मिन् १-१५-२
विश्वसन्तोऽप्यविश्वस्ता १-२३-२९
विश्वामित्रं च कण्वं च १६-१-८
विश्वावसोस्तु तनयात् ३-१०-१६
विश्वासयेत् परांश्चैव १२-२५-१५
विश्वास्य चैनां स प्रायात् १-३-४७
विषमं पश्यते राजा १-२२-३६
विषमालोड्य पास्यामि ४-७-१८
विषयाश्चैव कात्स्न्र्येन १२-३४-५
विषये काशिराजस्य १३-२-३
विषं ते भीमसेनाय ९-२१-२८
विषाग्निद्यूतसंक्लेशान् ७-४-४८
विषादो मे न भीमेन ९-२१-३७
विषीदथः किं कौरव्यो ३-१९-४८
विषेण सर्पबन्धैश्च ५-२५-३३
विष्टभ्य सलिलं सुप्तः ९-१३-४०
विसर्जयत राजानं ३-१८-२३
विसर्जयति मां राजा १५-७-४८
विसर्जयैनं यात्वेषः १५-७-३४
विसंज्ञकल्पां रुदतीं ७-१०-२६
विसृजन् दिक्षु सर्वासु ७-२१-७
विसृजैनमबुद्धिस्त्वं १३-१-११
विसृज्य तु सुशर्माणं ४-१०-४९
विसृष्टस्य रणे तस्य १०-८-६
विसृष्टं भगदत्तेन ७-५-५५
विसृष्ट हि मया दिव्यं १०-८-१६
विस्फार्य सुमहच्चापं ८-१९-३४
विस्ममाच्चोत्तरीयाणि ६-२९-१९
विस्मयो मे महान् पार्थ ७-१५-२३
विस्मितान्यथ भूतानि ४-१४-१४
विस्रम्भितोऽहं भवता १३-१५-१
विहन्यमानेष्वस्त्रेषु ७-२५-१८
विहाय कीर्तिं विपुलं ४-१३-३२
विहारदेशं सम्प्राप्य १-३६-१०
विहारयात्रासु पुनः १५-१-१२
विहारावसथोद्यानकूपाद- १३-७-३६
विह्वलं तमभिज्ञाय ७-२२-१०
विह्वलं तं तु वीक्ष्याथ ८-१३-२५
वीक्षमाणां वनोद्देशं १०-१-१२
वीक्षमाणे ततस्तस्मिन् ७-२१-१८
वीटां च मुद्रिकां चैव १-१४-३६
वीणासु वाद्यमानासु ३-८-२०
वीतरागश्चरन्नेवं १२-३-१५
वीरबाहुविसृष्टानां ६-१४-१०
वीरबाहुं च सप्तत्या ६-१३-४५
वीरलोकगतिं प्राप्तः १८-१-९
वीरसूर्वीरपत्नी त्वं ५-२ .-२०, ७-१०-२१
वीराद् दुर्योधनाद् वान्यः १-३१-३१
वीरांस्तु स हि तान्मेने १-२९-७४
वीरेणाहं तथानेन १-२६-६
वीर्यवांश्च महातेजाः ९-३-३०
वृकस्थलं समासाद्य ५-२०-३
वृका इव विलुम्पन्ति १२-४१-४
वृकोदरमथायान्तं ७-२९-१५
वृकोदरस्त्वसम्भ्रान्तः ९-५-७
वृकोदरं समासाद्य ९-१६-१३
वृकोदरेण सदृशः १-२८-१७
वृक्षमूलपरो नित्यं १३-२५-३१
वृक्षमूलेऽपि दयिता १२-३८-२८
वृक्षानङ्गरकारीव २-१३-९
वृक्षांश्चावस्थितान् पश्य ४-३-४१
वृणोमि त्वां महाबाहो ६-४-६७
वृतश्च सर्वैरनुजैः ३-१५-१२
वृत्ततस्त्वविहीनानि ५-११-६
वृत्तशौचं मनःशौचं १३-१९-७
वृत्तं तु स्वमपेक्षस्व १२-२३-१६
वृत्तं यत्नेन संरक्षेत् ५-११-७
वृत्तं यत्नेन संरक्ष्यं ३-२४-७४
वृत्तानि रथयुद्धानि ९-१५-१७
वृत्तिच्छेदं गृहच्छेदं १३-७-२३
वृत्त्यर्थं धर्महेतोर्वा १३-२६-८
वृथा शूरा न गर्जन्ति ७-२६-२६
वृद्धबालधनं रक्ष्यं १३-१४-३८
वृद्धावालातुरैर्वैद्यैः १२-६३-१२४
वृद्धबालौ न हन्तव्यौ १२-६३-११
वृद्धसेवी महोत्साहः १२-२४-२३
वृद्धस्यास्य शतं पुत्रान् ११-४-३७
वृद्धः परमधर्मात्मा १-६-१७
वृद्धानां वचनं श्रुत्वा १०-१-४८
वृद्धानुशासने युक्ताः ४-९-२३
वृद्धान् नाभिभवेज्जातु १३-२८-२६
वृद्धावमन्तुः परुषस्य चैव ८-१६-२१
वृद्धं प्रव्रजितां चैव १३-१७-६५
वृद्धो ज्ञातिस्तथा मित्रं १३-१७-६०
वृद्धो भीष्मः शान्तनवः ५-१३-१७
वृद्धोऽयं हतपुत्रोऽयं १५-४-१८
वृषभांश्चापि जानामि ४-३-५३
वृषसेनश्च राधेय ८-२१-८
वृषसेनं हतं दृष्ट्वा ८-२२-१
वृषो महेन्द्रो देवेषु ८-१-८
वृषो हि भगवान्धर्मः १२-२८-१३
वृष्णयश्चान्धकाश्चैव १-१५-११
वृष्णिप्रवीररस्तु कुरुप्रवीरान् १-३१-३७
वृष्णियोधाश्च ते सर्वे १६-४-३९
वृष्णिसिंहस्य सुप्तस्य २-८-३१
वृष्ण्यन्धकविनाशाय १६-१-१२
वेगेन महता राजन् १-१८-२८
वेगेनापततस्तांस्तु १-३१-५

वेतनं तस्य विहितं १-२७-६०
वेतसो वेगमायान्तं १२-३३-२८
वेत्थ त्वं तात धर्माणां २-१६-२२
वेत्थ धर्मांश्च धर्मज्ञ १-७-३
वेदज्ञानं तथा कृत्स्नं १२-९-१७
वेदनार्तशरीरस्य ६-२९-१२
वेदवेदाङ्ग-विज्ञानं २-८-११
वेदवेदाङ्गवित् प्राज्ञः १२-१९-३३
वेदशास्त्राणि सर्वाणि १३-३२-२८
वेदस्योपनिषत्सत्यं १२-६१-१२ १२-६३-१३४
वेदं षडङ्गं वेदाहं ७-१-३०
वेदानधिजगे साङ्गान् १-५-१३
वेदानधीत्य ब्रह्मचर्येण १२-४४-६
वेदा मे परमं चक्षुः १२-६३-१७५
वेदाहं जाजले धर्मं १२-५०-३६
वेदाहं तव माहात्म्यं ५-१८-३२
वेदाहं तव या बुद्धिः १२-२३-१४
वेदाः प्रत्यक्षमाचारः १३-२८-९
वेदितव्यानि मित्राणि १२-३५-११८
वेदे षडङ्गे निरताः १-२९-६१
वेदेषु धर्मशास्त्रेषु ३-२४-७०
वेदेष्वपि वदन्तीमं १-३-८६
वेदोपनिषदां वेत्ता २-२-२
वेलामतिक्रमेत् सद्यः ५-३४-३५
वेशमन्येवं कृते तत्र १-२२-२४
वैकर्तनं च मां त्वां च ५-२५-४०
वैकृतं तन्महद् दृष्ट्वा १६-४-३८
वैकृते वासति कथं २-५-२४
वैचित्रवीर्यं प्राप्यं हि ११-२-७
वैचित्रवीर्यवचनात् ९-२-२८
वैचित्रवीर्यस्तु वचः १-३३-३
वैचित्रवीर्यं राजानं २-१७-६
वैद्याश्चाप्यातुरा सन्ति १२-१०-१९
वैमुद्दीपितं राज्ञि ११-४-२६
वैरस्यास्य गताः पारं ११-४-२७
वैरं नो नास्ति भवता ५-२३-९
वैरं पञ्चसमुत्थानं १२-३६-२४
वैराटिः समरे क्रुद्धः ६-६-४
वैराट्यस्तनयं दृष्ट्वा १५-५-२५
वैशालाक्षमिति प्रोक्तं १२-१८-५५
वैश्यस्य सततं धर्मः १३-२५-१६
वैश्यस्यापि यो धर्मस्तं १२-१७-१४
वैश्यः कश्चिदृषिसुतं १२-४७-४
वैश्यः किल समुद्रान्ते ८-८-३१
वैश्यः स्वकर्मनिरतः १३-१५-१७
व्यक्तं त्वमप्युपहितः ८-८-१७
व्यक्तं द्रोणमयं लोकं ७-४-४५
व्यक्तं भीत इवाभ्येति ६-३-१४
व्यक्तं शिवं तव भ्रातुः ७-८-५
व्यक्तं हि जीर्यमाणोऽपि ७-२०-५४
व्यक्षोभयद् रणे योधान् ७-३-२७
व्यङ्गत्वं च शरीरास्य १२-११९-३१
व्यचेष्टत च बालोऽसौ १४-५-१
व्यतिक्रममिमं मन्ये ७-२०-१३
व्यतीतायां तु शर्वर्यां १५-७-१४
व्यतीतायां रजन्यां तु ९-४-१
व्यथयेद्धि स राजानं १२-२४-३८
व्यथितः सर्वराजानः ७-४१-१
व्यपनीतोऽद्य मन्युर्मे ६-२३-१७
व्यभिचारे तु कस्मिंश्चिद् १२-५२-६
व्यवसायं समाश्रित्य १२-६०-६२
व्यवस्थानं च ते धर्मे १-७-४
व्यवस्थिते बले तस्मिन् ७-४४-१५
व्यवहारश्च ते राजन् १५-३-१७
व्यवहारेण शुद्धेन १२-२५-२
व्यसनं वः समभ्यागात् २-१८-२९
व्यसनानि च सर्वाणि १२-१४-१८
व्याकुलीकृत्य तं द्रोणः ७-१७-५
व्याक्षिपन्नायुधान्यन्ये ७-३७-६
व्याख्यातः पुरुषो राजन् ३-२४-८७
व्याख्याता मे त्वया प्रश्नाः ३-२४-८४
व्याघ्राविव च संग्रामे ८-२-१६
व्याजेन चरते धर्मं १२-५४-७
व्यांजेनैव ततो राजन् १८-३-७
व्याधयो न भवन्त्यत्र १२-१९-६८
व्यापन्नेऽस्मिन् महत्यर्थे १०-१-२९
व्यावृत्तनयनः क्रुद्धः ७-५-१४
व्यासक्तं यदि विज्ञातं १२-१९-१६
व्यासश्च भगवान् विप्रः १५-७-२७
व्युपितायां तु शर्वर्यां ६-१४-१
व्युष्टायां तु महाराज ६-२९-१
व्युष्टायां वै रजन्यां हि ५-३२-५
व्युष्टां निशां भारत भारतानां ६-१३-१
व्युष्टिरेषा परा स्त्रीणां १-२७-३३
व्यूढं दृष्ट्वा तु तत् ६-११-३, ६-१५-४
व्यूढं दृष्ट्वा सुपर्णं तु ७-४-१८
व्यूढानीकस्ततो द्रोणः ७-४-१६
व्यूढानीकः सभाद्वारं ५-२७-८
व्यूढानीका वयं द्रोणं ७-८-४०
व्यूढोरस्कं ततो भीमः ६-२२-३४
व्यूढोरस्को दीर्घभुजो २-५-५४
व्यूहयन्त्रायुधानां च १२-२५-१४
व्यूहं भीष्मेण चाभेद्यं ६-२-४२
व्यूह्य व्यूहं महाराज ९-४-१४
व्यूहं व्यूह्य महेष्वासः ८-१-२८
व्येतु ते मानसं दुःखं १-३२-४०
व्रतानां किं फलं प्रोक्तं १३-१५-२
व्रियतां च वरः पार्थ ६-४-२०
व्रीडमाना स्रजं कुन्ती १-९-१०

श

शकटः पद्मपश्चार्धः ७-१०-५
शकटापणवेशाश्च ५-३१-२५
शकुनिर्बुद्धिपूर्वं हि ५-२-२०
शकुनिर्मातुलस्तेऽसौ ५-३५-१७
शकुनिस्तं समभ्येत्य ६-१७-३४
शनिं दशभिर्विद्ध्वा ९-११-१३
शकुनीनामिहार्थाय ५-१६-१२
शकुन्ताः शकुनिं कृष्ण ११-५-४८
शक्तस्त्वमसि विक्रान्तुं १०-२-१६
शक्तितो ब्राह्मणान् नूनं २-१२-२६
शक्तिस्तु पूर्णपात्रेण १२-२२-१२
शक्तिं घटोत्कचेनेमां ७-३४-९
शक्तिं त्रिभिः शरैश्छित्वा ७-५-४६
शक्तिं विनिहतां दृष्ट्वा ६-६-१९, ६-८-४५, ९-११-१०
शक्तेन बहुभृत्येन ११-५-५८

शक्तैर्विजेतुं तरसा महीं च ५-१-११
शक्तो ह्यसि महाबाहो ७-२७-४३
शक्त्यान्नदानं सततं १२-६३-७
शक्त्यृष्टिप्रासहस्तानां ९-१२-२४
शक्नोति जीवितुं दक्षः १०-१-४१
शक्यमेवं च भूयश्च ५-३६-१७
शक्यं तु मौनमास्थाय १२-४-९
शक्यं त्वस्य धनुश्छेत्तुं ७-६-१०४
शक्या चेयं शमयितुं ५-२४-२२
शक्यो जेतुं यमः क्रुद्धः ६-७-४
शक्रतुल्यबलो युद्धे ८-१४-१८
शक्रदेवस्तु समरे ६-९-२
शक्रप्रस्थमहं नेष्ये १६-४-१०
शक्रमेव प्रपद्यस्व ३-६-९
शक्रस्य हस्ताद् दयितं ३-७-११
शङ्कमानः स तन्मिथ्या ७-३९-११
शठप्रलापाद् विरताः १३-२६-१४
शणसर्जरसादीनि १-२२-२०
शणं तैलं घृतं चैव १-२२-२२
शतमेकं च पातानां ८-८-४४; ६६
शतमेकोत्तरं तेषां १-१३-५
शतशः पाणयश्छिन्नाः ७-५-३२
शतं चाश्वसहस्राणां ७-११-४
शतं चैकेन विव्याध १-३६-३९
शतं सहस्राणि समाहितानि ४-३-५४
शतायुरुक्तः पुरुषः ५-११-३४, १३-१७-१
शत्रुपक्षं समृध्यन्तं २-११-५२
शत्रुभिर्जितबद्धस्य ३-१९-१
शत्रुभिश्चोपहसितः ३-१९-३९
शत्रुरूपा हि सुहृदः १२-३५-११९
शत्रुर्निमज्जता ग्राह्यः ५-२८-२०
शत्रुश्चैव हि मित्रं च २-११-४९
शत्रुसाधारणे कृत्ये १२-३५-१४६; १५९
शत्रुं च मित्ररूपेण १२-३७-१३
शत्रुं मित्रं च ये नित्यं १३-२६-१९
शत्रून् जय प्रजा रक्ष १२-२८-१
शत्रून् हत्वा महीं लब्ध्वा १२-२-२
शत्रोरनार्यभूतस्य १२-३५-१३६
शनैर्निर्वेदमादत्ते १२-५४-२०
शपथेनाप्यरिं हन्यात् १-२०-२३
शपे सत्येन कौरव्य ७-४०-२२
शब्दं तेषां स शुश्राव १-२९-२६
शब्दे स्पर्शे तथा रूपे १२-५४-१८
शममिच्छति दाशार्हः ५-२१-१२
शममेव परं मन्ये २-४-३
शमं चेद् याचमानं त्वं ५-२५-११
शमं तत्र लभेयं चेत् ५-१७-२५
शमं राजा धृतराष्ट्रोऽभिनन्दन् ५-६-१३
शमे हि सुमहाँल्लाभः ५-२५-३७
शमो बहुविधाकारः १३-१-१
शयनानि महार्हाणि २-११-८, १५-१-१०
शयनस्यानुरूपं मे ६-२८-१२
शयनेषु परार्ध्येषु १-२४-१४
शयानं चानुशेते हि ११-१-४२
शयानं वीरशयने १३-३२-१३
शयानं शयने तत्र ४-७-४५
शरविक्षतगात्रास्तु पाण्डुपुत्रा ६-१३-७०
शरणं त्वां महाराज ८-१६-२८
शरणं हि प्रपन्नानां ३-१८-६
शरणागतस्य कर्तव्यं १२-३८-४८
शरणागतं न त्यजेयं १३-१०-१५
शरणागतं ये रक्षन्ति १३-१०-१
शरण्यः सर्वभूतानां १३-२१-२३
शरतल्पगते भीष्मे १३-३१-१
शरतप्तः स तु नागराजः ४-१४-३०
शरवर्षं ततस्तत्तु ६-८-४६
शरं ततः समादाय ६-५-६२
शराचिताङ्गो रुधिरार्द्रगात्रः ८-२४-१०
शरानास्तीर्य सव्येन ७-२०-६६
शराभिघातदुःखार्त्ते १२-१३-१८
शराभितप्तकायोऽपि ६-२९-४
शराभितापाद् व्यथितं १२-१३-२८
शरार्दिताश्च ग्लानाश्च ७-१४-१५
शरांश्च सुबहून् क्रुद्धः ४-१४-१७
शरांश्चाशीविषाकारान् ६-१७-१५
शरांस्तान् मृत्युसंस्पर्शान् ६-१४-३१
शरीरकृत् प्राणदाता १-३-३७
शरीरमात्रमेवाद्य १-१४-१५
शरीरमेतौ सृजतः १३-१८-९
शरीरं च मृतस्यैकं ४-३-१०
शरीरं योक्तुमिच्छामि १३-१४-३
शरैरवर्षन् द्रुपदस्य पुत्रं ६-१५-४५
शरैर्बहुभिराच्छिद्य ६-१७-२६
शरैश्च मेऽर्थो बहुभिः १-३६-१७
शरौघान् सम्यगस्यन्तः ४-१४-५
शल्यभूतस्तु शत्रूणां ८-६-२१
शल्यमद्योद्धरिष्यामि ९-१६-२६
शल्यस्तं प्राह मा कर्ण ८-१०-२४
शल्यस्तु शरवर्षेण ९-६-२१
शल्यस्य च महावेगान् ६-१३-१५
शल्यस्य धृष्टकेतोश्च ५-१-४९
शल्यं च पार्थो दशभिः ८-२४-२३
शल्यं सेनापतिं कृत्वा ९-१-५, ९-४-५
शल्यः कृपः सोमदत्तिर्विकर्णः ५-६-३०
शल्यः श्रुत्वा तु दूतानां ५-४-१
शल्यानुद्धृत्य पाणिभ्यां ७-१४-२७
शल्येऽथनिहते राजन् ९-८-१
शल्येऽभ्युपगते कर्णः ८-७-१
शशाप तत्र भीमस्तु २-१५-२९
शष्पाणीव विचिन्वन्तं १२-४४-१४
शस्त्रनित्यश्च सततं १-५-३३
शस्त्रवृष्टिं परैर्मुक्तां ६-१७-१०
शस्त्रं चाहं रणे जह्यां ६-४-४५
शस्त्राकृतिभिराकीर्णं ७-४३-५
शस्त्राणामथ तां वृष्टिं ६-११-७
शंखदुन्दुभिघोषैश्च ६-२-२१
शंखः क्रोधात्प्रजज्वाल ६-६-२७
शंखाँस्ततः पाण्डवा ८-२६-३१
शंभुवां च दशार्णां च १-८-२५
शाखागतमरिं चान्यत् १२-३५-५०
शाखानगरमर्हंस्तु १२-२७-८
शाखां तस्य समाश्रित्य १२-३५-४२
शान्तनो राजसिंहस्य १-९-२७
शान्तनोश्चैव पुत्रेण ११-५-५३
शान्तविघ्नं सुखारम्भं २-९-३७
शान्तिकं पौष्टिकं रक्षा १३-२७-२
शान्तिहोमांश्च कुर्वीत १३-१७-४०

शान्तिं परां प्राप्य यदा ८-१४-५०
शान्तिः प्रजानां हि ६-२९-३१
शान्ते भीष्मे तथा द्रोणे ५-३४-५३
शान्तोऽस्मि वयसानेन १५-४-१५
शारद्वतस्ततो राजन् ६-२४-३२
शाश्वतोऽयं भूतिपथः १२-२-२३
शाश्वतोऽयं स्थितो धर्मः ६-२६-४३
शासनाद् धर्मराजस्य ११-६-७
शासनाद् धृतराष्ट्रस्य ५-२६-१०
शासनैतानधर्मज्ञान् ३-१७-२२
शास्त्रज्ञा देशकालज्ञाः ३-२४-४
शास्त्रं न शास्ति दुर्बुद्धिं २-१७-२३
शिक्षयाभ्यधिकं ज्ञात्वा ११-४-१५
शिखण्डिनं च पाञ्चाल्यं १८-१-१८
शिखण्डिनं नरव्याघ्रं ६-२३-३६
शिखण्डी च महाबाहो ६-७-१७
शिखण्डी तु महाबाणान् ६-२७-२४
शिखण्डी तु महाराज ६-१७-२४,
६-२७-३३
शिखण्डी तु रणे श्रेष्ठः ६-२७-२६
शिखण्डी तु समासाद्य ६-१८-३४,
६-२७-२३
शिखण्डी निधनं कृष्ण ६-२६-४४
शिखण्डी युयुधानश्च ५-३७-३२
शिखण्डी समरे राजन् ६-५-१७
शिबिप्रभृतयो राजन् १२-३८-३
शिबिमौशीनरं चैव १२-११-१३
शिबिरस्थाः पुनर्मन्त्रं ८-५-१
शिबिरं समनुप्राप्य ९-२२-३
शिबिराणि कुरुक्षेत्रे ५-३२-४
शिबिरात् संजयं प्राप्तं ७-१-४
शिरश्चिच्छेद समरे ६-१९-२३
शिरस्तच्चापि संगृह्य ७-३१-१९
शिरस्यभिहतं दृष्ट्वा ९-२०-२
शिरोसि च महाराज ८-१८-२८
शिरांसि रथिनां भीष्मः ६-१८-३२
शिरो गृहीत्वा राजानं ३-२१-३८
शिरो गृहीत्वा विदुरः २-१३-५४
शिरोऽभूद् द्रुपदो राजन् ६-७-२६
शिरो मृदित्वा च पदा ८-२०-२७
शिरो रथेऽस्य निक्षिप्य ७-३१-२०
शिरोरुहेषु जग्राह १-२९-३९
शिलाशितेन च विभो ९-१०-१७
शिल्पिनो वणिजो वैश्याः ११-३-१२
शिवेन ध्याहि मां ब्रह्मन् ७-११-३३
शिवेमे महीपालाः ५-२४-२७
शिशुपालसुतो वीरः ५-३६-१७
शिशुभिर्दुर्जयैः संख्ये ५-१४-१०
शिशोः शुश्रूषणाच्छुश्रूः १२-५२-२३
शिष्टाचारः प्रियो येषु १२-४२-१४
शिष्टानां क्षत्रियाणां च १३-१२-४
शिष्टैराचरितं धर्मं ३-४-४६
शीघ्रगेन रथेनाशु २-३-७
शीघ्रमनुगमिष्यामः ७-४-५२
शीघ्रमागच्छ भद्रं ते १२-३५-७७
शीघ्रमानय गान्धारीं ११-३-२
शीघ्रमुक्त्वा यथाकामं ४-७-११
शीघ्रं गच्छत भद्रं वः ८-११-१२
शीघ्रं न्यस्यत शस्त्राणि ७-४३-१२
शीघ्रं भवन्तः सर्वेऽपि १-१५-३४
शीतमुष्णं तथा वर्षं १२-१०-२६
शीतलच्छायमागम्य ३-२३-१४
शीतवातातपसहान् ३-१७-५२
शीतं वातं समासाद्य १-१३-३०
शीर्णोपलसमकीर्णा ६-२४-५७
शीलरश्मिसमायुक्तः ११-२-५६
शीलवृते समाज्ञाय १३-१२-२
शीलं प्रधानं पुरुषे ५-९-२६
शीलेन हि त्रयो लोकाः १२-३४-१९
शुक्राच्च तात सम्भूतिः १३-२१-३९
शुक्ला वदान्या ह्रीमन्तः ५-२४-२६
शुचा परमया युक्तः ६-७-२
शुचिस्तु पृथिवीपालः १२-१५-२१
शुचेरपि हि युक्तस्य १२-६३-२२
शुद्धेन तव दानेन १४-११-७२
शुना दृष्टं क्रोधवशा १७-३-१३
शुभं वा यच्च कुर्वन्ति १३-१४-४८
शुभं वा यदि वा पापं ५-९-२, १७-३-२६
शुभं सर्वपवित्रेभ्यः १३-२२-१२
शुभानामशुभानां च १८-३-५
शुभेन कर्मणा सौख्यं ११-१-४४,
१३-३-९
शुभेन विधिना लब्धं १२-६३-१४९
शुभैर्लभते देवत्वं १२-६२-११
शुशुभे धनसम्पूर्णं १-३४-४३
शुशुभे सा सभा राजन् २-१२-३९
शुश्रूषते यः पितरं १३-१५-३१
शुश्रूषां सततं कुर्वन् १२-१७-२८
शुष्यात् तोयं समुद्रेषु ३-१९-४५
शूद्रधर्मः परो नित्यं १३-२५-१८
शूद्रस्यापि हि यो धर्मः १२-१७-१७
शूद्राश्च नरशार्दूल २-५-५१
शून्यमायोधनं कृत्स्ना ९-६-१८
शून्यमासाद्य कुरवः ४-११-१७
शून्यं स नर्तनागारं ४-७-३८
शून्यासीत् पृथिवी सर्वा ६-१-९
शून्ये च तमुपादाय १२-३६-९
शूरबाहुषु लोकोऽयं १२-६३-१२
शूरमञ्जलिपातेन १२-३७-४२
शूरमानी न शूरस्त्वं ९-१४-१६
शूरा गर्जन्ति सततं ७-२६-२२
शूराणां युध्यमानानां ७-६-३६
शूरान् भक्तानसंहार्यान् १२-१५-१८
शूरा बहुविधाः प्रोक्ताः १३-१५-१८
शूराश्च बलवन्तश्च ३-१९-५१
शूरो नाम यदुश्रेष्ठः १-९-१
शूरोऽयं समरश्लाघी ७-२७-७
शूरो वीरः कृतार्थश्च ७-७-१४
शूरोऽस्मीति न दृप्तः स्यात् ४-२-१३
शूलं निपतितं दृष्ट्वा ६-२२-१६
शृगालोऽपि वने कर्ण ८-७-३४
शृणु कार्त्स्न्येन मत्तस्त्वं १२-१४-२
शृणु गोविन्द यानेतान् १३-९-४
शृणु चेदं वचो मे त्वं ९-२४-२२
शृणु तत्त्वेन कौन्तेय १३-२४-२
शृणु मम रणे राजन् ५-३७-७
शृणु यक्ष कुलं तात ३-२४-७३

श्टृणु यास्त्वं हि कल्याणि ४-१२-२०
श्टृणु यैर्हि महाराज ५-१४-२
श्टृणु राजन्नवहितः ९-२-१
श्टृणु राजन्नेकमनाः ७-१-६
श्टृणु राजन् मम वचः ६-२२-३
श्टृणु राजन् यद् वृत्तं १२-३६-२
श्टृण्वन्तु सर्वभूतानि १४-९-३०
श्टृण्वन्त्वेतद् भवन्ताऽस्य १-३-१०५
शेतेऽसौ शरपूर्णाङ्गः ७-२७-१९
शेषयेदशनिर्दीप्तः ५-१४-३३
शेषे ह्यवस्थितो तात ११-४-३९
शैनेयः सात्यकिः सत्यः ७-१८-६
शैनेयो दक्षिणं चक्रं ९-६-११
शैनयोऽपि ततः क्रुद्धः ६-२४-३५
शैनेयो मे सात्यकिश्चक्ररक्षौ ८-१४-२२
शोककाले शुचो मा त्वं १२-६३-९७
शोकसम्मूढहृदयः ७-९-२
शोकस्तपति मां पार्थं १०-५-२५
शोकस्थानसहस्राणि ११-१-३६,
१२-९-३३, १२-६२-१५
शोकं राजन् व्यपनुद् ११-१-१४
शोकाद् दुःखाच्च मृत्योश्च १२-५७-१
शोचतो हि महाराज ७-७-१६
शोचितव्यं मया चैव १४-१-७
शोणाश्वं रथमास्थाय ७-१७-२
शोणिताक्तां गदां बिभ्रन् ६-१३-२३
शोणिते तु व्यतिक्रान्ते ४-१५-५२
शोणितेन परिक्लिन्नः ७-३९-३८
शोभनं शोभनं कर्ण ७-२६-११
शोषणं सागरस्येव १६-५-१०
शौचं कृत्वा यथान्यायं १३-१३-१७
शौचेन लभते विप्रः १३-३-१४
शौर्यं बलं च सत्यं च १२-२३-१७
श्यामं बृहन्तं तरुणं ३-४-१२
श्यामो य एष रक्तताक्षः ३-२४-८८
श्यामो युवा गुडाकेशः ७-१६-१३
श्यामो युवा लोहिताक्षः १-१३-३३
श्रद्दधानः शुभां विद्यां १२-६३-५८
श्रद्धावता च यष्टव्यं १२-२२-९
श्रद्धायन्तो दयावन्तः १३-२६-२२
श्रद्धां कुरु महाप्राज्ञ १२-५०-४४
श्रद्धेयवाक्यः प्राज्ञस्त्वं १४-११-१४
श्रमेण महता युक्ताः १३-१३-१९
श्रान्तमध्वनि वर्तन्तं १३-१४-६९
श्रान्तं चैनं समालक्ष्य ७-१४-१३
श्रान्ता भवन्तो निद्रान्धाः ७-३५-१२
श्रावयेच्चतुरो वर्णान् १२-६३-१७३
श्राविस्त्वं मया गुह्यं १४-२-१७
श्रितो मूर्धानमात्मा तु १२-६३-७४
श्रिय एताः स्त्रियो नाम १३-१२-१८
श्रियं तथाऽऽगतां दृष्ट्वा २-१०-२२
श्रिया संतप्यमानेन ५-२५-३०
श्रियो बलममात्यांश्च १२-६३-४१
श्रीमतः पाण्डवान् दृष्ट्वा ४-१६-५
श्रीमंङ्गलात् प्रभवति ५-१०-१२
श्रुतवन्तो दयावन्तः १३-२६-२०
श्रुतवाक्यः श्रुतनिधिः १२-१२-१३
श्रुतवानसि मेधावी ११-१-१५
श्रुतस्ते यदि वा दृष्टः ४-१५-२२
श्रुतं ते धृतराष्ट्रस्य ५-१७-३
श्रुतं ते पुरुषव्याघ्र ७-३-३
श्रुतं ते वचनं मूर्ख ५-३४-३२
श्रुतं ते वचनं सर्वं १०-१-३०
श्रुतं दानफलं तात १३-१४-७९
श्रुतं प्रज्ञानुगं यस्य ५-८-२१
श्रुतं भवद्भिर्गदपूर्वजस्य ५-१-२०
श्रुतं भवद्भिर्यद् वृत्तं ५-३१-१०
श्रुतं मे कर्ण भीष्मस्य ६-४-५९
श्रुता मे जल्पतां तात् १-२१-९
श्रुता मे राक्षसा ये ये ३-१३-१९
श्रुता मे शंखशब्दाश्च ४-१२-६३
श्रुतास्ते शंखशब्दाश्च ४-१२-६२
श्रुतेन तपसा वापि ५-२८-२४
श्रुतेन श्रोत्रियो भवति ३-२४-१५
श्रुतेऽसि नः पण्डितो १२-६०-४
श्रुत्वा कर्णं कल्यमुदारवीर्यं ८-१५-१
श्रुत्वाऽऽगतान् पाण्डुपुत्रान् १-२३-२
श्रुत्वा गृहीतं वार्ष्णेयं ५-२७-५
श्रुत्वा च जीवतः पार्थान् १-३३-७०
श्रुत्वा चाप्यागतान् वीरान् १-३४-२४
श्रुत्वा तद् वचनं तस्य ९-८-२३
श्रुत्वा तु तद् भीमवचः ८-२०-१५
श्रुत्वा तु तं महाशब्दं ७-९-१
श्रुत्वा तु धृतराष्ट्रस्तत् १-२३-६७
श्रुत्वा तु निहतं भीष्मं ६-३०-२
श्रुत्वा तु नृपतिः प्राप्तं १४-९-१
श्रुत्वा तु वचनं तेषां ९-९-६
श्रुत्वा तु वचनं ब्रह्मन् १४-३-१
श्रुत्वा तु वचनं भीष्मः १२-१३-२७
श्रुत्वा तु वचनं राज्ञां २-९-४०
श्रुत्वा तु वाक्यं तममृष्य ६-१५-४४
श्रुत्वा तु वाक्यानि १-३२-२८
श्रुत्वा तु सर्पसत्राय १-२-१
श्रुत्वा त्विदमुपाख्यानं १-१-२०
श्रुत्वाथ तस्य तं शब्दं १-३-१३
श्रुत्वा दुर्योधनो वाक्यं ५-२५-१२
श्रुत्वा द्रुपदपुत्रस्य ७-४२-१
श्रुत्वा द्वैपायनवचः १४-३-३
श्रुत्वा पाण्डुसुतान्वीरान् १-२०-१
श्रुत्वा भीष्मस्य तद् वाक्यं ५-३७-१०
श्रुत्वा महान्तं तं शब्दं ७-२१-३९
श्रुत्वा विनष्टान्वार्ष्णेयान् १६-३-२
श्रुत्वा वीरविहीनानां १२-९-२८
श्रुत्वा शंखस्य निर्घोषं ७-३-११
श्रुत्वा स तस्या विपुलं १४-४-४४
श्रुत्वा सुतुमुलं युद्धं १-१८-१३
श्रुत्वा सुहृद्वचस्तच्च २-३-४
श्रुत्वा सूतस्तद्वचो याज्ञ- २-१४-२६
श्रुत्वा ह्यहमयं चैव ८-१७-२१
श्रुत्वेदं तौ नरव्याघ्रौ ३-२१-३२
श्रुत्वैतदप्रियं राजा ८-२७-३३
श्रुत्वैव कौरवो राजा १७-१-१
श्रुत्वैव चाहं राजेन्द्र ३-२-१९
श्रुत्वैव पार्थमायान्तं ८-१८-२४

श्रुत्वैवं तु महाराज ७-३९-१९
श्रुत्वैवं धर्मराजस्य १२-१३-७
श्रुत्वैवं वदतस्तस्य १४-३-८
श्रूयतां चाभिधास्यामः ३-१-१०
श्रूयतां पृथिवीपाल १२-३३-३५
श्रूयतां राजशार्दूल १४-११-२
श्रूयते च कपोतेन १२-३८-४
श्रूयते भवतः साध्वी १-९-१८
श्रूयते यादवी कन्या १-८-१७
श्रूयते श्रूयते चेति क्षम्यते ७-४२-११
श्रूयते हि महाराज ३-१६-१८
श्रेय एव परं कृष्ण ६-२५-४२
श्रेयसस्ते परः कालः ३-५-४४
श्रेयांस्तु सहृदारस्य १-२७-७१
श्रेयो नो भीमसेनस्य ९-८-२०
श्रेयो वै याचतः पार्थं १३-१४-२७
श्रेष्ठो हि पण्डितः शत्रुः १२-३५-५८
श्रोतव्यं खलु वृद्धानां ५-३५-३९
श्रोतारस्त्विदमद्येह ८-८-२४
श्रोतुमिच्छसि चेद्धर्मं १२-१२-८
श्रोतुमिच्छामि ते धर्म्यं ५-८-९
श्रोतुमिच्छामि भगवन् १२-१२-५
श्रोत्रियस्येव ते राजन् १२-४-१
श्रोत्रियः श्रोत्रियानेति २-११-२८
श्लक्ष्णां वाणीं निराबाधां १३-२६-१०
श्वभ्यश्च श्वपचेभ्यश्च १३-१६-२६
श्वशुरात् प्रीतिदायं तं १४-१०-७४
श्वशुरान् सुहृदश्चैव ६-३-१८
श्वश्रूभ्यां समनुज्ञाताः १५-७-६०
श्वश्रूश्वशुरयोः पादान् १५-४-५४
श्वश्र्वास्तद् वचनं श्रुत्वा १-७-३२
श्वसुरो द्रुपदोऽस्माकं ५-३१-१८
श्व इदानीं स्वसन्देहं १२-१६-१८
श्वःकार्यमद्य कुर्वीत १२-४४-१६
श्वः शिरः श्रोष्यसे तस्य ७-१०-२२
श्वा चैवानुययावेकः १७-१-२४
श्वेतं तु निहतं दृष्ट्वा ६-६-२७
श्वेतः क्रोधसमाविष्टः ६-६-२१
श्वेताश्वः कृष्णसारं तं १४-७-३
श्वेताः काञ्चनसंनाहाः ४-१२-४५
श्वोभूतेऽथ ततः शौरिः १६-४-१४
श्वोभूते मनुजव्याघ्राः ३-२५-३४

ष

षट्त्रिंशे त्वथ सम्प्राप्ते १६-१-१
षडनर्था महाराज २-२-७७
षडशीतिः समानीताः २-४-१०
षडिमानि विनश्यन्ति ५-८-६७
षडिमान् पुरुषो जह्यात् ५-८-६०
षडिमे षट्सु जीवन्ति ५-८-६५
षडेते ह्यवमन्यन्ते ५-८-६८
षडेव तु गुणाः पुंसां ५-८-६२
षड् दोषाः पुरुषेणेह ५-८-५९
षड् रथान् धार्तराष्ट्रस्य ७-१०-८
षड्विधं दुर्गमास्थाय १२-२६-४
षड्विंशतिमथ क्रुद्धः ६-१६-१६
षण्णामात्मानि नित्यानां ५-८-६४
षष्ठमध्ययनं नाम ७-४१-२२
षष्टिं गवां सहस्राणि ४-११-७
षष्ठे काले व्रतवतीं १४-११-६३
षाड्गुण्यमिति यत्प्रोक्तं १२-१९-५७
षष्ठे काले सदा विप्रः १४-११-२३
षाड्गुण्यं च त्रिवर्गं च १२-१९-५६

स

स उञ्छवृत्तिस्तं प्रेक्ष्य १४-११-३५
स उपालभ्य भीष्मं च २-७-२३
स एष बलवान्भूत्वा १६-५-२३
स एवमभ्यनुज्ञातः ७-१-३३
स एवमुक्तः सुहृदा वचो हितं ८-२३-१६
स एवमुक्तोऽतिबलो महात्मा ८-२४-१६
स एवमुक्तो बलवान् ६-२४-१३
स एवमुक्तो मान्धाता १२-२८-४१
स एवमुक्त्वा विनिमृज्य चापं ८-२१-१९
स एव मे वरः शल्य ६-४-५५
स एष काममन्युभ्यां ५-२६-९
स एष क्षत्रधर्मेण १८-१-१०
स एष पाण्डोर्दायाद्यं १-२१-१२
स एष राजा धर्मात्मा ५-२९-२६
स कथं भ्रातरं ज्येष्ठं ८-२५-२८
स कथं वदसि शत्रुं ९-१६-१२
स कथं शक्यतेऽस्माभिः १-२१-१८
स कदाचित्प्रसार्यैवं १२-३३-९
स कदाचित् सभामध्ये २-१०-३
स कदाचित् समुद्रान्ते १०-६-१२
स कदाचिद् वनं यातः १-५-१८
स कदाचिन्निराहारः १२-५०-१६
स कदाचिन्महाबाहुः १-३-७
स कदाचिन्महाराज १-४-५
स कदाचिन्मृगं विद्ध्वा १-५-५
स कल्याणि वनं दुर्गं १०-५-३०
स काञ्चनविचित्राङ्गं १०-५-३५
सकामो भव दुर्बुद्धे १-२४-२०
स कार्मुकज्यातलसंनिपातः ८-२४-२०
स कालं कञ्चिदाश्वस्य २-१-१४
स किलाक्षातिवापस्त्वं ४-१६-६
स किं शोचसि मूढः सन् १२-९-३१
सकुण्डलं समुकुटं ९-४-२५
स कुरुष्व मया कार्यं १-२७-३७
स कुलं तारयेत्सर्वं १३-१४-९
स कुलीनः स पुरुषः १३-१४-५७
सकृत् कृतापराधस्य १२-३६-१९
सकृदुत्सृज्य तन्नादं १४-१०-६
स केशवस्य बीभत्सुः ८-१८-१५
स केशवस्यानुमते ७-२२-३४
स कोटिकाश्यस्तत् श्रुत्वा ३-२०-११
स कोटिकाश्यं राजानं ३-२०-९
स कोसलानामधिपं ७-६-१००
सक्तबुद्धिरशान्तात्मा १२-५९-५
सक्तभावा विनश्यन्ति १२-५९-६
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसः ६-३-६१
सक्तुप्रस्थलवैस्तैर्हि १४-११-९०
सक्तूप्रस्थेन विजितो १४-११-८४
सक्तुप्रस्थेन वो नायं १४-११-७
सक्तूनिमान् प्रगृह्य त्वं १४-११-४९
स क्रूरां मतिमास्थाय १०-१-२७
स क्षात्रं हृदयं कृत्वा ३-५-२१
सखा ते दयितो नित्यं य एष ५-३१-२६
सखायं देवविहितं ३-७-१५

सखायः प्रविविक्तेषु १-३-७८
सखिभावेन सौहार्दात् ८-८-८५
सख्यं सोदर्ययोर्भ्रात्रोः १२-३५-१२५
स गङ्गामनु वृन्दानि ११-३-१७
स गच्छ रत्नान्यादाय १४-२-३१
स गच्छ शीघ्रं प्रहितो रथेन ५-६-२
स गजान् गदया निघ्नन् ६-१३-२१
स गतासुर्महाराज ९-१०-२२
स गत्वाङ्गारकर्मान्तं १२-३८-५३
स गत्वा तु यथोद्देशं १-२३-४९
स गत्वा त्वरितं राजन् १-२२-३०
स गत्वा नलिनीं रम्यां ३-१२-१०
स गत्वा राजभवनं २-१४-२२
स गत्वा हास्तिनपुरं २-६-३८
स गदामुद्यतां दृष्ट्वा ७-६-११५
स गदां बहुधा दृष्ट्वा ३-१८-४२
स गाढविद्धः समरे महामनाः ८-२६-१८
स गाढविद्धो व्यथितः ६-१६-१९,
६-२१-१८, ७-६-५८, ३-३८-२०
स गुरुं पार्थं कस्मात्त्वं ८-१५-३२
स गुहायां शिरोग्रीवं १२-३३-१०
स गृहं धृतराष्ट्रस्य ५-२२-६
स घोररूपो व्यचरत् १०-३-१८
सङ्गमो नर्तनागारे ४-७-३७
स चकार तदाऽऽलस्यं १२-३३-८
स च कौरव्यमासाद्य ५-५-१
स चक्रमुद्यतं दृष्ट्वा १-३६-७३
स च क्रोधसमाविष्टः ९-२४-२०
स चचार बहून् मार्गान् ६-९-१८
स च दुर्योधनो नूनं ५-१-५०
स च देवी महाभागा १५-६-३
स च योधजनः सर्वः १५-६-२२
स च वाजी यथेष्टेन १४-८-२१
स च सेनापतिः क्षुद्रः १०-४-२५
स चाद्भुतमहावीर्यः १-३-४
स चापक्रम्यतां युद्धात् ७-२-२१
स चापि तेऽर्थंकृत्तात ३-८-३९
स चापि प्रतिजग्राह १-३४-८
स चाप्यग्न्याहितो विप्रः १२-६०-३६
स चाश्वान् रजतप्रख्यान् ६-२५-२५
स चित्रवर्मेषुवरो विदार्य ८-२५-१४
स चिन्तयन्ननेकाग्रः २-१८-३७
स चिन्तयन्नेव तदा १-५-२७
स चिन्तयामास तदा ३-२३-४६
स चिन्तापरमो राजा १-१९-१७
सचिवं देशकालज्ञं १२-२४-१७
सचिवं यः प्रकुरुते १२-२४-१८
स चेत्सन्नद्ध आगच्छेत् १२-१८-४५
स चेन्निकृत्या युध्येत १२-२८-४६
स चेन्ममार सृञ्जय १२-११-१२
स चोच्छिष्टभृतः काकः ८-८-३५
सच्छत्रकवचं चैव ८-२२-२४
स च्छिन्नधन्वा कौरव्यः ६-१२-२७,
६-२५-३१
स च्छिन्नधन्वा विरथः ६-८-४७,
७-६-११०, ७-१६-३१, ८-१३-१०,
९-४-२३
स छाद्यमानः समरे ७-२८-२१
स छाद्यमानो बहुधा ६-२२-३३
स छिन्नधन्वा संक्रुद्ध ६-२७-३०
स जघान पदा काँश्चिद् ६-९-२१
स जज्ञे विदुरो नाम १-७-४९
स जातमात्र एवाथ १-१०-३
स जातमात्रान्पुत्रांश्च १-१२-१७
स जित्वा समरे शत्रून् ७-२८-२६
सञ्चिनोत्यशुभं कर्म १२-४३-१६
सञ्चिन्त्य मनसा १२-६०-२४
सञ्जयस्तं तथा दृष्ट्वा १५-८-२०
सञ्जयस्तु महामात्र १५-८-२३
सञ्जयो विदुर प्राज्ञः ५-८-४
सततं चानुरक्तो वः ७-३०-१८
सततं निरमं प्राप्ताः १-२१-१४
सततं यश्च कामार्थी ३-५-१३
स तत्कुणपदुर्गन्धं १८-२-११
स तत्कृत्वा प्राप्तकालं १६-४-५५
स तत्र नर्मसंयुक्तं ४-११-३८
स तत्र पीत्वा पानीयं १-२४-११
स तत्र राजा तं वीरं १४-९-१२
स तत्राकथयद् विप्रः १-२९-७
स तथा कुरु शोणाश्व ७-१२-१२
स तथा नोदितोऽस्माभिः ७-८-४४
स तथा भिद्यमानेषु १-१८-२[illegible]
स तथा शल्यमामन्त्र्य ५-४-१५
स तथा शरवर्षाभ्यां ७-२२-५
स तथा सह पुत्रेण १-५-१७
स तथाहं करिष्यामि ७-४०-२५
स तथेति चिरेणोक्त्वा १२-५२-८
स तथेति प्रतिज्ञाय १-७-३९, १-२२-२९
स तथेति प्रतिश्रुत्य १-२३-२५
स तथैव क्षुधाविष्टः १४-११-२८
स तथोक्तस्तथेत्युक्त्वा १२-३८-५५
स तदाज्ञाय दुष्टात्मा १०-६-१०
स तद् दिव्यमदीनात्मा १०-७-१०
स तद् वचनमाज्ञाय ९-२४-२५
स तद्वचः प्रतिश्रुत्य १२-३८-५६
स तद् वनं व्यनुसरन् ११-२-२१
स तन्न ममृषे द्रोणः ७-४-३४
स तन्न समृषे भीमः ६-१९-२२
स तप्यमानो दुष्टात्मा १-२१-८
स तमभ्यर्च्य राजानं १५-७-२४
स तमाश्वास्य विधिवत् १४-२-७
स तमासाद्य धर्मज्ञं १६-५-१
स तमुन्माथमारुह्य १२-३५-४७
स तया निहतो राजन् ६-९-४
स तया सह संगम्य १-१२-५
स तवास्त्रोपदेशन ७-८-४५
स तस्मात्सम्भ्रमावर्तात् १२-३५-१०९
स तस्मिन् संकुले सैन्ये ३-२१-२०
स तस्य कवचं भित्वा ६-६-२४,
७-१७-१०
स तस्य ब्रुवतस्त्वेवं १२-३५-१५१
स तस्य भुजनिर्मुक्तः ७-६-९३
स तस्य हृदयं भित्त्वा ६-१७-२०
स तस्येष्वसनं छित्वा ७-६-७८
स तं दुर्गन्धमालक्ष्य १८-२-१२
स तं दृष्ट्वा विशुद्धात्मा १३-१०-४
स तं रथवरं शौरिः ७-१४-२९

स तं वृक्षं दशव्यामं ४-८-१९
स तं समयमाश्रित्य ५-५-२३
स तं सत्कृत्य कौरव्यः ५-५-३३
स ता गिरः पुरस्ताद्वै १७-२-२२
स तानतीत्य वेगेन ७-१९-६
स तानभीपून् पुनराददानः ६-१२-४३
स तानभ्यर्च्य मेधावी १४-२-४४
स तानामन्त्र्य तेजस्वी १५-८-२४
स तानुत्पतितान् दृष्ट्वा ३-१८-३६
स तान्निपतितान् दृष्ट्वा १६-४-२२
स तान् प्रगृह्य भुक्त्वा च १४-११-४८
स तान् रथवरान् राजन् ७-२१-६
स तान् शिष्यान्महेष्वास १-१५-४
स ताभ्यां व्यहरत्सार्धं १-९-२१
स तामापदमासाद्य १०-७-११
स तालकेतोस्तीक्ष्णेन ६-५-३२
स तां दृष्ट्वा विशालाक्षी ४-११-२६
स तां पराकृष्य सभा- २-१४-३५
स तां माद्रीमुपादाय १-९-२०
स तॉंल्लब्धोदकान्स्नातान् ७-१४-२८
सतां साप्तपदं मैत्रं १२-३५-६३
सतां संग्रहणं शौर्यं १२-१६-३
स ताः सभाः समासाद्य ५-४-४
स तीक्ष्णविषदिग्धेन १३-२-६
स तीव्रगन्धसन्तप्तः १८-२-३५
स तु कामाग्निसंतप्तः ४-५-६
स तु कोपं समुत्सृज्य ११-३-२५
स तु गाण्डीवनिर्मुक्तः ७-२१-३२
स तु चित्राङ्गदः शौर्यात् १-६-६
स तु तं पितरं दृष्ट्वा १-५-९
स तु तं प्रतिविव्याध ८-४-३
स तु तेन प्रहारेण ७-३२-१३,
८-१०-१६, ९-१७-२७
स तु तेषां वचः श्रुत्वा ३-१७-१२
स तु दृष्ट्वा विमुह्यन्तं ४-११-४०
स तु देवव्रतो नाम १-४-१९
स तु दोलायमानोऽभूत् ७-५-२८
स तु द्रोणं त्रिसप्तत्या ४-१३-४३
स तु द्रोणं समासाद्य ७-११-३२
स तु नूनं महाबाहुः ३-१२-३३
स तु बाणः समासाद्य ८-४-९
स तु भीष्मो रणश्लाघी ६-१९-११
स तु मामश्रुपूर्णाक्षः ९-१२-३४
स तु राजानमासाद्य ५-६-५
स तु राजा महाराज १४-२-२
स तु राजा हतामात्यः १५-१-२
स तु रुक्मरथो राजन् ६-५-६३
स तु वाजी समुद्भ्रान्तां १४-९-४८
स तु विष्टभ्य गात्राणि ७-५-६०
स तु वेगवता मुक्तः ८-१०-१५
स तु वैकर्तनः कर्णः ६-३-२-३७
स तु शीतहतैर्गात्रैः १२-३८-१३
स तु शूरो रणे यत्तः ९-५-२५
स ते दर्पो नरश्रेष्ठ ९-१४-१०
स ते धर्मरहस्येषु १२-१२-९
स तेन मम कान्तेन १-२५-५८
स तेन वारणो राजन् १४-७-३२
स तेन सर्वसैन्येन ५-३-२७
स तेनातिभृशं विद्धः ६-२७-७,
१४-९-१६
स तेनादित्यरूपेण ३-७-७
स तेनाहममर्षेण ८-१२-४४
स तेषां छिद्रमन्विच्छत् ११-२-२२
स तेषां प्रेक्षतामेव १०-७-५
स तेषां रथिनां वीरः ६-१९-१२
स तेषां विधिवत्कृत्वा १६-४-२४
स तैः परिवृतः शूरः ६-५-३९
स तैः परिवृतो मेने १५-६-३७
स तैः परिवृतो राजा ११-१२-१४
स तैः प्रञ्जलिभिः सर्वैः १-२६-३०
स तैः सह नरव्याघ्रैः १५-६-३९
सत्कृतस्त्वत्कृते पार्थः १-३५-२९
सत्कृत्यस्य हि ते शोकः ३-१९-६१
सत्कृताश्च कृतार्थाश्च ५-११-११
सत्कृत्यामन्त्रितास्तेन २-६-३९
सत्त्वरूपगुणोपेता १-९-४
सत्त्वसंसेवनाद्धीरः १२-६२-११५
सत्त्वे बाहुबले धैर्ये ४-९-३८
सत्त्वोपपन्नः पुरुषोऽमरोपमः ४-३-५८
सत्यकर्माणमाक्षिप्य ९-१०-१६
सत्यत्यागात्तु मात्सर्यं १२-४१-१४
सत्यधर्मच्युतात्पुंसः १-३-९५
सत्यप्रतिज्ञा लोकस्य १८-१-१५
सत्यप्रतिज्ञे त्वानीते ७-२-१४
सत्यमार्जवमक्रोधं १२-६३-१५८
सत्यमुक्तं त्वया ब्रह्मन् ७-२६-३५
सत्यमेकाक्षरं ब्रह्म १२-६३-७७
सत्यवन्तः स्वर्गलोके १३-१५-२८
सत्यवाक् शीलसम्पन्नः १२-२४-४४
सत्यवाग् भव कल्याण ५-४-१०
सत्यव्रतधरः शूरः १०-८-१०
सत्यव्रतां सत्यसेनां १-८-२४
सत्यसेनो रथेषां तु ९-४-३०
सत्यस्य वचनं श्रेयः १२-५८-७,
१२-६२-६
सत्यस्य वचनं साधु ८-१५-३३
१२-३१-४, १२-५०-५
सत्यं किंलक्षणं राजन् १२-४०-२
सत्यं च समता चैव १२-४०-६
सत्यं चैवानृतं चोभे १२-३१-२
सत्यं तात ब्रवीम्यद्य ७-६-७
सत्यं ते प्रतिजानामि ५-१९-२३,
७-२६-४, ८-१६-२९, १४-५-२४
सत्यं दमं क्षमां प्रज्ञां १२-६१-१
सत्यं दमं ह्यार्जव- १२-६१-२३
सत्यं धर्मस्तपो योगः १२-४०-४
सत्यं धर्मं प्रशंसन्ति १२-४०-१
सत्यं नामाव्ययं नित्यं १२-४०-८
सत्यं पालयति प्रीत्या १२-२८-२७
सत्यं प्रशास्तुं राज्यं न १२-२४-३
सत्यं प्राप्तं च युक्तं वा ५-२३-२९
सत्यं ब्रह्म तपः सत्यं १२-४०-२०
सत्यं वदसि कौरव्य ७-१२-२४
सत्यं वः प्रतिजानामि ७-८-५३
सत्यं वेदेषु जागर्ति १२-६३-७८
सत्यं व्रतं श्रुतं विद्या ५-१०-१८
सत्यं शपे त्वयाहं वै १२-३५-१४०

सत्यं सत्सु सदा धर्मः १२-४०-३
सत्यासु नित्यं प्रियदर्श- १३-५-११
सत्यां चिकीर्षुर्मतिमान् ८-२०-२१
सत्ये तपसि दाने च १२-१३-२२
सत्ये तिष्ठ रतो धर्मे १२-६३-१५९
सत्येन ते शपे राजन् ८-१७-१६
सत्येन देवाः प्रीयन्ते १३-१५-२६
सत्येन रक्ष्यते धर्मः ५-९-२१
सत्येन वायुरभ्येति १२-६३-७९
सत्येन सूर्यस्तपति १३-१५-२५
सत्येषुमथ चादत्त ९-१०-१८
स त्वमद्य महाबाहो ७-३-५
स त्वमर्जुन कल्याणीं १-३५-१३
स त्वमर्थं संशयितं ५-७-२२
स त्वमुत्तिष्ठ युध्यस्व ९-१४-१८
स त्वमेवंविधं जानन् ७-४१-१९
स त्वं कामपरीतात्मा ५-३४-५९
स त्वं कुरु महाबाहो ७-३०-२५
स त्वं क्षुद्रसमाचारः ७-४२-१३
स त्वं गोविन्दवाक्यानि ७-३९-२२
स त्वं धर्मभृतां श्रेष्ठं ८-१७-६
स त्वं नृपतिशार्दूल १-३-९७
स त्वं परिवृतः पार्थैः ५-२९-९
स त्वं परेषां वीर्येण ५-३४-४१; ४९
स त्वं पश्य महाभाग ६-७-११
स त्वं प्रतिश्रयेऽस्माकं ३-१३-७
स त्वं भ्रातुर्वयस्यस्य ७-१६-१०
स त्वं मयि मृते राजन् २-११-२५
स त्वं राजन् स्थिरो भूत्वा ६-१९-३८
स त्वं राजेन्द्र सञ्जातं १२-११-२७
स त्वं रासभयुक्तेन १-२२-१८
स त्वं शीघ्रमितो गत्वा ६-२३-८
स त्वं सम्राड्गुणैर्युक्तः २-३-१७
स त्वं सन्तानवानद्य १२-३८-४२
स त्वं स्वयमभिप्राप्तं १-३-८३
स त्वां द्रव्यमयो यज्ञः १२-२-२२
स त्वां परिषदो मध्ये ४-११-९
स त्वां पृच्छामि कौन्तेय ८-१४-१७
स त्वेवमुक्तः कृष्णेन ७-२२-५१
सत्स्त्रीणां समुदाचारं १३-२३-१
सत्यं रतिश्च धर्मश्च १४-११-४३
स ददर्श तदा भीमं ६-१५-४०
स ददर्श महात्मानं ६-३०-३, १०-७-६
स ददर्श हतान् भ्रातॄन् ३-२४-१
स ददर्शाश्रमं दूरात् १५-६-२०
सदश्व इव स क्षिप्तः ५-२८-५४
सदा च तत्र पर्जन्यः ४-९-२९
सदा चापररात्रान्ते १५-३-२१
सदाचारः स्मृतिर्वेदाः १२-५०-३
सदा यज्ञेन देवाश्च १३-१६-२२
सदारो वाप्यदारो वा १२-१७-२२
सदा हि गत्वा ते वीराः १५-१-७
स दीक्षां तत्र सम्प्राप्य १५-५-९
स दीर्घबाहुः पृथ्वंसः ७-८-३५
स दीर्धमिव निःश्वस्य ९-१२-३७
सदृशं कर्मणस्तस्य ७-२-३
सदृशैः क्षत्रियैः शूरैः ८-१२-३९
स दृष्ट्वा निहतान्संख्ये १०-५-१८
स दृष्ट्वा पाण्डवांस्तत्र १-२९-२७
स दृष्ट्वा भीमधन्वानं १०-७-९
स दृष्ट्वा मांसजीवी तु १२-३३-१२
स दृष्ट्वा विमलं तोयं ३-२३-२१
स दृष्ट्वा स्वानि कर्माणि ५-१८-२०
सदेवलोके कृत्स्नेऽस्मिन् ९-३-३५
स देशः क्व नु यत्रासौ ११-२-४०
सदैव भरतश्रेष्ठ १३-२८-१३
सदैव भावितो लोकः ५-२१-३
स दैवं बलवन्मत्वा ९-१-४
सद्भिर्विगर्हितं घोरं ११-४-३०
सद्भिस्तु सह संसर्गः १२-६०-३९
सद्यः पार्थिव पार्थेन ७-१४-२१
स द्रोणमभिवाद्याथ ६-४-३१
स द्रोणं निशितैर्बाणैः ६-८-५५
स द्रौणिमिषुणैकेन ६-१३-१३
सधनुष्को न शक्योऽयं ७-६-१०६
स धर्मराजो निहताश्वसूतः ९-७-२०
स नाग इव नागेन ७-५-३
स नागपुरमागम्य १-१४-२८
स नागप्रवरो भीमं ७-५-१३
सनागस्यन्दनहयान् ७-८-३६
सनागाश्वमनुष्याणां ५-३७-४०
सनातनस्य धर्मस्य १४-११-८२
स निकृत्या जितो राजा ३-९-२८
स नित्यमाश्रमं गत्वा १-१४-७
स नियुक्तो मया व्यक्तं १-७-२१
स निरीक्ष्य महाबाहुः १-१७-८
स निर्ययौ गजपुरात् १३-३२-६
स निःसङ्गो जलस्यान्तं १-१३-५०
स नीचैः प्रणतो भूत्वा २-५-७२
स नूनं बहुभिर्यत्तैः ७-८-२२
स नेह सुखमाप्नोति १२-५४-१०
स नो दास्यति सुप्रीतः ९-१३-२६
स नो दिष्टचास्त्रसम्पन्नः ७-४-११
सन्ताडचा न तु पादेन १३-१३-४३
सन्तानमावयोस्तात ११-४-३८
सन्तानात्तव सन्तानं १४-११-६०
सन्ति निष्कसहस्रस्य २-१६-४६
सन्ति पुत्राः सुबहवः १२-१०-२१
सन्ति बह्वचस्तव प्रेष्याः ४-६-१२
सन्ति मे मणयश्चैव २-१२-४३
सन्ति रम्या जनपदाः ४-१-७
सन्ति वै पुरुषाः शूराः ५-१-२९
सन्तिष्ठत प्रहरत ३-२१-९
सन्तिष्ठस्व महाबाहो १८-२-१९
सन्तुष्टश्चाप्रमत्तश्च १२-४७-३२
सन्तुष्टः सम्मतः सत्यः १२-२४-४५
सन्तोषो वै श्रियं हन्ति २-११-१२, ५-२८-२८
सन्तोषो वैः स्वर्गतमः १२-८-७
सन्दधीत न चानार्यैः १२-२०-५
सन्देहदोलां प्राप्तं नः ९-२२-१६
सन्धातव्यं बुधैर्नित्यं १२-३५-३८
सन्धाय च शितं बाणं ६-२०-३२
सन्ध्यागतं सहस्रांशुं १५-४-८६
सन्ध्यायां न च भुञ्जीत १३-१७-७१
सन्ध्यां न स्वपेद् राजन् १३-१७-६१
सन्निधौ विदुरस्य त्वां १-३३-१३

सन्निपत्य तु शाखायां १०-१-१५
सन्नोदय हयाञ्शीघ्रं ६-२२-२८
स पञ्चनदमासाद्य १६-४-२८
सपत्नवृद्धिं यत् तात १-३३-१४
सपत्नसहिते कार्ये १२-३७-१२
स पत्न्या वचनं श्रुत्वा १२-३८-४४
स पपात नरव्याघ्र: ९-१८-२७
स पपात महानाग: ८-२-१०
स पपात रणे तूर्णं ६-१७-२१
स पपात रथोपस्थे ९-५-२३
स पाण्डो पुरुषव्याघ्रो १-२२-३७
स पार्थबाणाभिहत: ८-२१-२१
स पार्थ: पार्थिवान्सर्वान् ७-१४-२२
स पार्षतस्य राजेन्द्र ८-१३-९
स पीडितो महाबाहु: ४-१४-२३
स पुत्रस्य वच: श्रुत्वा ४-१५-४८
स पुरोचनमेकान्तं १-२२-१५
स पृष्ट: पाण्डुपुत्रेण ३-१०-८
सप्त दोषा: सदा राज्ञा ५-८-७२
सप्तमाच्चापि दिवसात् ५-२९-३३
सप्तमे दिवसे चैव १६-४-११
सप्तमेन च भल्लेन ६-२१-२३
सप्ताङ्गस्य च राज्यस्य १२-१५-४
सप्तानामपि यो नेता ५-३१-१५
स प्रयाहि महाराज ३-१६-१९
स प्रविश्य पुरं राज्ञ: ४-११-५
स प्रविश्य महाबाहु: १०-३-६
स प्रविश्य सभां वीर: ५-२७-९
स प्रविश्याश्रमं कृष्णां ३-२०-२०
स बिभ्रत् कवचं चाग्र्यं ४-११-४१
स भवानस्तु न: शूर: ९-३-१२
स भवान् कृतबुद्धीनां ५-२-१७
स भवान् क्षत्रियगुणै: ७-४१-१४
स भवान् दृष्टिमाञ्छक्त: ३-५-५
स भवान् धर्मभीरुत्वात् ८-१७-५
स भवान् धुर्यवत् संख्ये ८-१-१४
स भवान् पाण्डवानाशु १-२१-२३
स भवान् पाण्डुपुत्राणां १-३४-१५
स भवान् पुष्ययोगेन ५-२-२५
स भवान् प्रेषयत्वद्य ५-२-७
स भवान् मज्जमानानां ७-३०-२२
स भवान् मर्षयत्येतान् ७-३६-७
स भावन्मोक्षयत्वस्मान् १-२३-२४
स भवान् वीक्ष्य सर्वेषु ७-१-१८
स भवान् सर्वधर्मज्ञ: १२-९-७
स भवांस्तत्र यात्वाशु ७-३०-१४
स भवांस्त्रातु द्रोणात् ७-३९-१८
सभाग्या: कुरवश्चेमे २-१८-२३
सभा च सा महाराज २-१-२८
सभाज्यमान: पौरैश्च ४-१५-३७
सभा तु सा मत्स्यपते: समृद्धा ५-१-२
सभायामुत्थितं क्रुद्धं ५-२५-४४
सभायां पश्यतो राज्ञ: ४-७-२५
सभायां याज्ञसेनी च ९-२१-२९
सभार्य: सह पुत्रेण १४-१०-२२
सभासद: सहायाश्च १२-२४-२४
सभास्तारो भविष्यामि ४-१-१३
सभां गत्वा स चोवाच २-१४-१८
स भिन्नमर्मा रुधिरं ९-५-८
स भीमधन्वानमुदग्रवीर्यं ४-१४-२६
स भीमसेन: प्राकारात् ४-८-१६
स भीमसेनाभिहत: ८-११-७
स भीष्मं शरजालेन ६-६-२
स भोजराज: सैन्येन ५-३३-१२
स भौजै: सह संयुक्त: १६-१-४१
सभ्यास्त्वमी राजपुत्र्या २-१४-२३
स भ्रात्रा प्रेषिता शीघ्रं ४-११-२५
स मत्त इव मातङ्ग: ७-३२-२
समदैश्चापि विहगै: ३-११-२८
स मध्यं प्राप्य सेनाया: ७-३-२६
समनुज्ञाप्य तत् सर्वं १४-५-२०
समन्ततो ददौ पश्चात् १-२३-३६
समन्तपञ्चके पुण्ये ९-२३-२३
स समन्तात् परिवृत: ६-२५-१२
स मन्त्रिण: समानाय्य २-३-१
स मन्यमानस्त्वाचार्य: ७-१९-७
स मन्यमानो विमुखं १४-९-१४
समभ्याशगतस्याजो ६-२०-१७
समभ्युदीर्णांश्च तवात्म- ६-१५-४६
समयश्च हि मे वीर ८-६-२८
समयस्तु कृत: कश्चित् ६-२६-१५
समयं वाजिमेधस्य १४-३-१८
स मया समनुप्राप्त: ९-२४-१६
समरे प्रतियुध्येम ४-१३-१२
समरे ह्यनुजानीहि ६-२३-१७
समर्थं मन्यसे यच्च ५-१५-४
समर्थं वासमर्थं वा १२-५२-१९
समर्थ: पोषणे चासि १-२७-२९
समर्थोऽसि महाबाहो २-३-३
समर्थोऽसि महीं जेतुं २-२-८१
समवायेषु सर्वेषु १-२०-३४
समवेतान् कुरून् सर्वान् ४-१२-२
समवेतान् हि क: पार्थान् २-१३-१०
समवेतांश्च तान् सर्वान् १५-४-९
समवेता: पृथिव्यां हि ५-२४-२५
समवेतेषु सर्वेषु ४-८-५, ५-१३-१८
समवेषं न कुर्वीत ४-२-१७
समस्थो विषमस्थान् हि ३-१६-२१
स महात्मा महात्मानं ९-१७-३३
सम: सर्वेषु भूतेषु १२-६३-११८
समागच्छ यथान्यायं १८-१-११
समागच्छसि राधेय ५-३७-१७
समागतस्ततो व्यास: १५-७-२९
समागतान् वेदविद: १४-१०-१९
समागताश्च वीरेण १-२७-७५
समागम: पाण्डुसुतै: ७-२६-१३
समागम्य: ततो भूय: ९-१७-१४
समागम्य भ्रातृभि: २-१२-८
समागम्य महाराज ६-२३-२
समाजोत्सवसम्पन्नं १२-२६-९
समादत्त शितान् भल्लान् ६-२७-३२
समानमेकपंक्त्यां तु १३-१७-५७
समानमेकपात्रे तु १३-१७-५४
समानयानो भवितासि ४-३-१९
समानव्रतचारिण्यां १०-६-२९
समानीतान् पाण्डवान् ५-६-३
समानो ह्यसि भीष्मेण ८-१९-१३

समापेततुरन्योन्यं ९-१७-१०
समाप्तमद्य वै कर्म ९-१०-८
समाप्तशिक्षो भीमस्तु १-१९-५
समाभाष्यैवमपरं ६-२५-३४
स मामभ्यनुजानीहि २-१०-२९
समा यद्यपि भीष्मस्य ३-५-३५
समारम्भो न शक्योऽयं २-३-२१
समार्च्छच्चित्रसेनं तु ९-४-१८
स मार्यमाणो भीमेन १-२५-६८
समालिङ्ग्यार्जुनं वृद्धः १६-३-१२
समाविद्धे वने तस्मिन् १५-८-१६
समावृता दिशो दृष्ट्वा ३-१९-२३
समाश्वास्य च गान्धारीं ९-२२-४८
समाश्वास्य तु राजानं १५-८-३५
समासाद्य कुरुक्षेत्रं ११-५-३
समासाद्य तु राजानं १४-२-२२
समासाद्य रणे सर्वान् ९-१२-७
समास्ते चैव मे सर्वे १-२६-२२
समाहतो महाराज ६-९-२६
समा हि कौरवेयाणां १-२१-२६
समाहितावप्रतिमप्रभावा ७-३३-७
समाहूय च राजानं ५-१-३५
समाहूय महात्मानं ५-१-३३
समाहूयाब्रवीत् सर्वान् ९-६-६
समाहृत्य महार्हाणि ११-६-९
स मां त्वं यदि राजेन्द्र १५-२-४२
स मां सैरन्ध्रिवेषेण ४-७-१४
स मित्रधनलाभात्तु १२-५४-१५
समीक्ष्य तुलया पार्थ १२-४-१५
समीक्ष्य राजा दाशेयीं १-५-२२
समीपस्थं हृषीकेशं ११-४-१५
समीपे नगरस्यास्य १-२७-५२
स मुक्तोऽभ्येत्य राजानं ३-२१-५३
समुच्चरन्त्यतिवादाश्च २-१४-७
समुत्क्षेपेण चैकेन २-१७-४६
समुत्तीर्णं रथनीकं ७-१९-२८
समुत्सृज्य धनुः पार्थः १४-८-१०
समुत्सृज्याथ शैनेयः ६-२४-३७
समुदीर्णं ततो दृष्ट्वा ९-१८-१
समुद्यतकराभ्यां तौ ८-२-७
समुद्यतगदं दृष्ट्वा ९-१६-३१
समुद्यतोऽयं भारो मे ५-३५-४३
समुद्यम्य महाबाहुः ४-४-१४
समुद्रतरणं दोर्भ्यां ८-७-२३
समुद्रे हिमवत्पार्श्वे १-२९-३१
समुद्विग्ना विससृपुः १-३६-३४
स मुनिस्तत्तदा दृष्ट्वा १३-१३-११
समुपाघ्राय मूर्धानं ४-१६-२७
समुपादाय रत्नानि १-३४-६
स मुहूर्तमिव ध्यात्वा १०-१-२९
स मुहूर्तादिव पुनः १-१५-४०
स मुहूर्तादिवोत्सृज्य ९-२२-२३
स मूर्च्छां परमां गत्वा ८-१२-३५
समूलशाखान् पश्यामि १२-३३-२४
स मृद्नन् क्षत्रियानाजौ ७-१९-३४
समेतानां च सर्वेषां १-३६-३७
समेत्य च महाराज ८-२७-२९
समेत्य धार्तराष्ट्रेण ५-२३-२
समेत्य पार्थेन यथैकरात्रं ३-१५-११
समेत्य मातुलं गत्वा १४-२-२८
स मे वध्यो भवेच्छत्रुः ७-२०-८१
स मोघं कृतमात्मानं ७-२०-४३
समोऽहं सर्वभूतेषु १२-५०-४१
सम्पतन्तमभिप्रेक्ष्य ६-२७-४३
सम्पत्स्यत्येष ते कामः ६-४-५६
सम्प्रयुक्तस्तु कुन्त्या १-११-१
सम्प्रवृत्ते तु संग्रामे ४-१३-१४
सम्प्रहस्य ततः श्वेतः ६-६-५
सम्प्रहृष्टो यदा शल्यः ५-४-८
सम्प्राद्रवत्सु दारेषु ९-१३-३
सम्प्राप्तयौवनं दृष्ट्वा १-६-११
सम्प्राप्य तु ततो राजा ६-२३-१३
सम्प्राप्य नगरं राजा १-९-१२
सम्प्राप्य हास्तिनपुरं ५-७-१३
सम्प्रीतिभोज्यान्यन्नानि ५-२३-११
सम्प्रीयमाणः पार्थानां १४-९-१३
सम्प्रेक्ष्य च वरारोहाः ४-६-२७
सम्प्रेक्ष्यैतान् सम्पततः ६-२१-७
सम्बभूव तया सार्धं १-७-३५
सम्बुध्य चरणस्पर्शात् १०-३-८
सम्भवं च विनाशं च १२-५९-१०
सम्भाव्य चटकान्मूर्ध्नि १२-५०-२७
सम्भृता चैव विद्येयं १-२९-४७
सम्भोजनं संकथनं ५-१२-२१, ५-१६-२२
सम्मानश्चावमानश्च १२-४८-११
सम्मानितः पार्थिवोऽयं ८-१५-४९
सम्मोहचिन्ताविटपः १२-६३-१३९
सम्मोहश्चैव तुमुलः ६-२७-४७
सम्यक् प्रणयतो दण्डं १२-२५-६
सम्यगीहा पुनरियं १०-१-४६
सम्यगुक्तं हि कर्णेन ३-१९-५७
सम्यग्दण्डधरो नित्यं १२-१९-३२
सम्यग्दण्डे स्थितिर्धर्मः १३-२५-१५
सम्यग्यजन्ति ये चेष्टीः १३-९-७
सम्राड्गुणमभीप्सन् वै २-४-१२
स यथा दर्पसहितं १२-२८-२०
स युद्धकुशलः पार्थः १-१८-१६, ७-५-४
स युवाभ्यां सहायाभ्यां १-३६-१५
स यस्तु कूपवीनाहे ११-२-४८
सरथान् रथिनस्तूर्णं ६-२४-५
स रथेऽतिरथस्तिष्ठन् ९-४-३१
सरथौ सधनुष्कौ च २-१६-११
सरस्तदासाद्य तु पाण्डुपुत्राः ३-१६-२
सरस्येकेन पादेन ३-२५-१
स राजगृद्धिभी रुद्धः ८-१०-७
स राजधान्या निर्याय ४-१२-१
स राजन् प्रीयमाणेन १०-६-१६
स राजन् मानसं दुःखं १५-४-३९
स राजमार्गः शुशुभे १२-१२-१६
स राजर्षिर्गतः स्वर्गं १३-१०-२३
स राजर्षिविशुद्धात्मा १३-१०-२६
स राजा चक्रवर्त्यासीत् १-३-११३
स राजा देवगर्भाभिः १-९-२३
स राजा राजमार्गेण १५-४-४६
स राजा शान्तनुर्धीमान् १-५-१
स रामस्य धनुर्वेदं १-१४-११
सरांसि च विचित्राणि ३-११-३३

सरांसि सरितश्चैव १४-२-४२ १४-३-११
सरितः सागरं प्राप्य ५-१५-३२
सरोषं भीमसेनं तु ३-११-४०
सर्पिस्तैलवसाभिश्च १-२२-२१
सर्पोऽथार्जुनकं प्राह १३-१-२२
सर्पो ह्यग्निश्च सिंहश्च ५-११-४९
सर्व एते महात्मानः ५-३७-२६
सर्व एते महोत्साहाः ५-१४-१४
सर्व एते ह्यस्ववशाः १३-१-१९
सर्व एव तु गन्धर्वाः ३-१७-३२
सर्व एव महात्मानः ७-१-१९
सर्वकर्मस्वहिंसा हि १२-५१-६
सर्वकामैः संविभक्तः ५-३०-३०
सर्वकालं मनुष्येण ७-२०-८४
सर्वकालिङ्गसैन्यानां ६-९-३४
सर्वक्षत्रस्य मध्ये तं ५-३४-२३
सर्वक्षयो दृश्यते यत्र कृत्स्नः ५-६-१४
सर्वज्ञां सर्वतत्त्वज्ञां १३-२३-२
सर्वतश्चादद्वैत्प्रज्ञां १२-६३-३०
सर्वतः परिवार्यैनं १-३६-२८
सर्वतः पाणपादं तत् १२-६३-११२
सर्वतः शङ्कते स्तेनः १२-५०-९
सर्वतीर्थेषु वा स्नानं ५-१०-२
सर्वतो भवतः क्षेमं १-५-२९
सर्वत्यागे च यतते १२-५४-१९
सर्वत्र प्रार्थ्यमानेन १२-३५-३३
सर्वथा कार्यमेतन्नः ३-५-७
सर्वथा क्षमिणा भाव्यं १२-४०-१८
सर्वथा त्वं महाबाहो ५-२३-२७
सर्वथा धनमाहार्यं १२-२-२१
सर्वथा धर्मनित्यं तु ३-५-९
सर्वथानार्यकर्मैतत् ५-१८-२३
सर्वथा परिहीनाः स्म ७-३६-४
सर्वथा यतमानानं ५-१७-१८
सर्वथा युद्धमेवाहं ५-१७-४६
सर्वथा विप्रणष्टास्ते ४-९-६
सर्वथा वृष्णिदारास्तु १६-४-५
सर्वदानैर्गुरुतरं १३-१४-१२
सर्वधर्मविदः शूराः १८-२-३१
सर्वधर्मविशेषज्ञः ६-२-३२, ६-१२-२
सर्वभूतदया धर्मः १३-२५-२८
सर्वभूतदयावन्तः १३-२६-२
सर्वभूतहितो मैत्रः ५-१६-१०
सर्वभूतेषु चात्मानं १२-६३-१११
सर्वभूतेषु यो विद्वान् १३-२१-१६
सर्वमाविग्नमभवत् ७-१३-१३
सर्वमांसानि यो राजन् १३-२१-४९
सर्वमूर्धाभिषिक्तानां ५-३५-२५, ७-६-५१
सर्वमेतत् तपोमूलं १२-३९-३३
सर्वमेतत् परोक्षं मे १-३-९०
सर्वमेतन्न भोक्तव्यं ५-२३-१६
सर्वमेधाश्वमेधाभ्यां १२-९-२५
सर्वयज्ञेषु वा दानं १३-२१-५६
सर्वयत्नबलेनापि १०-६-२३
सर्वयोधगुणैर्युक्तः ८-१८-१०
सर्वरत्नसमाकीर्णे १-२२-३
सर्वर्तुगुणसम्पन्नां २-१-१५
सर्वलक्षणसम्पन्नाः ४-९-२२
सर्वलक्षणहीनोऽपि १३-१७-११
सर्वलोकागमं कृत्वा १२-३५-३१
सर्ववातसहां नावं १-२३-५१
सर्वशिल्पविदस्तत्र १-३४-४४
सर्वसंहननोपेतं १-३५-५१
सर्वसाम्यमनायासं १२-४५-२
सर्वस्य दयिताः प्राणः १२-६३-४८
सर्वस्य हि स्वका प्रज्ञा १०-२-५
सर्वस्वस्यापहारे तु ८-१५-३५
सर्वहिंसानिवृत्ताश्च १३-७-३१
सर्वं कौशल्यमुक्त्वाऽऽदौ ५-५-२
सर्वं चैवाभिजानामि ५-२९-१२
सर्वं जिह्मं मृत्युपदं १२-२२-१९, १४-१-३५
सर्वं तदपि जानामि ५-१३-३४
सर्वं दुर्योधनस्यार्थे ६-२३-२३
सर्वं प्रियाभ्युपगतं १२-५०-१३
सर्वं भवतु ते राज्यं ५-३१-६
सर्वं यथावच्चरितं ४-१३-९
सर्वं विदुर्वेदविदः १२-५३-१८
सर्वाञ्जनपदाञ्जित्वा ४-१२-४९
सर्वाणि खलु तीर्थानि १३-१९-२
सर्वाण्यस्त्राणि धर्मात्मा ७-३६-२७
सर्वातिशङ्की पुरुषः १२-४२-६
सर्वात्मनैव धर्मस्य १२-३५-५
सर्वानितानानादृत्य ४-१३-३०
सर्वान् जनान् सर्वकामैः २-७-११
सर्वान् देवान् नमस्यन्ति १३-९-१८
सर्वान् महीशान् सहितान् ४-१५-१०
सर्वान् वस्तात शोचामि ५-१५-२६
सर्वान् विक्रम्य मिषतः ९-२-१
सर्वाप्सरःसु मुख्यासु ३-८-२१
सर्वाभिशङ्की नृपतिः १२-१५-२०
सर्वाभिशङ्की मूढश्च १३-११-१२
सर्वाम्भसां निधिं भीमं ८-७-३२
सर्वां मातृस्तथाऽऽपृच्छ्य १-२२-३३
सर्वारम्भपरित्यागी १२-६२-७
सर्वारम्भान् समुत्सृज्य १२-२-५
सर्वारम्भाः सुप्रवृत्ताः २-६-१२
सर्वार्थत्यागिनं राजा १२-२६-२२
सर्वाश्चैव प्रजा नित्यं १२-२३-३
सर्वास्त्रविदुषां लोके १०-२-३१
सर्वास्त्रेषु स निष्णातः १-५-४
सर्वास्ववस्थासु च ते ५-१-२४
सर्वांश्चैनानुचरन् १२-६१-२४
सर्वांस्तानद्य पश्यामि ३-४-६
सर्वांस्त्वन्यान् हनिष्यामि ५-३६-२८
सर्वे क्षयान्ता निचयाः ११-१-१४, १२-१०-१३
सर्वे च पुरभेत्तारः २-१२-४९
सर्वे च शूराः पितृभिः ५-१-६
सर्वे चासन् निरुत्साहाः १५-४-८३
सर्वे चैव महात्मनः ४-१३-१०
सर्वे ज्ञानपदाश्चैव १५-३-२५
सर्वे तस्यादृता लोका १२-३०-८
सर्वे त्यक्त्वात्मनः प्राणान् १२-११-६
सर्वे त्वतिरथा शूराः १-१०-२१

सर्वे त्वां शूर इत्येवं ९-१४-११
सर्वे दिव्यास्त्रविद्वांसः ३-५-३७
सर्वे नराश्च नार्यश्च १४-१-५३
सर्वे यत्नात् प्रतीक्षन्ते ४-९-१९
सर्वे वेदविदः शूराः २-१२-४०,
५-३१-१४
सर्वेषामनुरूपाश्च १-१०-२२
सर्वेषामेव पार्थानां ७-२६-६
सर्वेषामेव भूतानां १२-६३-८२
सर्वेषामेव वै पन्थाः ७-८-२९
सर्वेषां कविमुख्यानां १-१-१०
सर्वेषां तोयकलशान् १५-६-३४
सर्वेषां यः सुहृन्नित्यं १२-५०-४०
सर्वे संहृष्टरोमणः ४-८-२
सर्वे स्वर्गमनुप्राप्ताः १८-३-९
सर्वे स्वाध्यायवन्तो हि ११-१-३१
सर्वे हि बुद्धिमाज्ञाय १०-२-७
सर्वे ह्यपि न मे दुःखं ६-३७-३७
सर्वे ह्यासन् निरुत्साहाः ७-३५-९
सर्वैरथ च जीवद्भिः ९-२-१३
सर्वैरपि गुणैर्युक्तः २-४-२२
सर्वैरवध्यो राधेयः ८-१८-११
सर्वैर्गुणैरुपेतास्तु ५-१०-२७
सर्वैर्गुणैर्महाराज २-३-१६
सर्वैर्भवद्भिर्विहितं ५-१-१०
सर्वो दण्डजितो लोकः १२-६-२४
सर्वोपकारिणो वीरः १२-४२-१६
सर्वोपायात्तु कामस्य १२-६२-३
सर्वोपायैर्निहन्तव्याः २-१७-८
सर्वोपायैर्हि नेष्यामि ९-२४-२३
सर्वोपायैः सहायास्ते १०-२-२१
सर्वो विमृशते जन्तुः ९-१५-२९
सर्वो हि पुरुषो भोज १०-२-६
सर्वौषधिवनस्फीतः ५-२९-३२
स लब्ध्वा चेतनां द्रोणः ७-३९-१२
स लभेयं यदा त्वन्यं ४-११-१५
स लोकविदितानश्वान् ६-१०-३
स बध्यमानस्तैरस्त्रैः ३-१८-४४
स वध्यमानः समरे ७-१९-२९
स वर्धमानद्वारेण १५-४-४७
स वारणं नगप्रख्यं १४-७-२५
स वार्यमाणो रथिभिः ७-८-४१
स विद्धस्तैं शरैर्घोरैः ८-१३-१९
स विनद्य महानादं ७-३४-३
स विनिन्दंस्तथाऽऽत्मानं १२-३८-६६
स विनिश्चित्य मनसा १-१४-२७
स विश्रान्तो महातेजाः १४-२-४६
स विस्फार्य धनुश्चित्रं ६-६१-२१
स विस्फार्य महच्चापं ६-५-५६,
६-६-२८
स विस्रब्धः पाण्डुपुत्रान् १-२१-३०
स विह्वलः प्रहारेण ९-१७-३९
स विह्वलितसर्वाङ्गः ७-११-४१
स वीरः सत्यवान् प्राज्ञः ७-३-१८
स वृष्णिनिलयं गत्वा १६-३-४
स वै किरीटं बहुरत्नभूषितं ८-२५-११
स वै क्षारकमादाय १२-३८-७
स वै पथि समागम्य ५-२२-४
स वै हयानैक्षत ४-३-६५
सव्यसाची तु तं दृष्ट्वा ३-२१-३३
सव्यं चक्रं महीग्रस्तं ८-२५-३१
स व्यासवाक्यमुदितः ३-५-५३
सव्येन च कटीदेशे १-२८-३८
स व्रीडया नम्रशिराः किरीटी ८-१६-१७
स शत्रुर्निहतः संख्ये ७-४१-२८
स शत्रुसेनां सुविजित्य ४-१४-५४
सशब्दमभवद् व्योम १०-७-२१
स शरक्षयमासाद्य १६-४-४४
सशरं तद् धनुर्घोरं ७-३६-३१
सशरं समुपादाय १-१४-४३
स शरः पण्डितं हत्वा ६-१९-२६
स शरः प्रेषितस्तेन ९-१०-२१
स शरैः सर्वतो विद्धः ९-४-२८
स शल्यमभिवाद्याथ ६-४-५१
स शिरांसि खेऽरीणां ६-५-३०
स शीघ्रतरमादाय ७-४-३३
स शुश्राव महात्मानं १-१४-१०
स शेते निहतो भूमौ ६-२-६
स श्रुत्वा माधवं यान्तं ५-३-४
स सत्यजितमाज्ञोक्य ७-४-३७
स सन्निववृते श्रुत्वा १८-२-१४
स समर्थोऽपि मोक्षाय १-१५-५७
स समाजजनः सर्वः १-१७-९
स समाश्वास्य पितरं १४-१-४८
स समासाद्य तं नागं ७-५-५९
स सम्प्रहारस्तुमुलः सुघोरः ७-४-२४
स सम्यक् पूजयित्वा तं १-२९-४
स सव्यं मण्डलं राजा ९-१७-२१
स संगृह्य स्वयं वाहन् ६-१५-१०
स संदीप्तं महत्कृत्वा १२-३८-५४
स संनिपातस्तुमुलः ८-११-२४
स संनिवृत्तो धर्मात्मा १८-२-१७
स संरम्भी दुरात्मा च १०-६-३८
स साधु कौन्तेय इतः ४-१-६
स सायकः कर्णभुजप्रमुक्तः ८-२६-१७
स सायकः कर्णभुजप्रसृष्टः ८-२५-८
स सुनाभं सहस्रारं १०-६-२०
स सुप्तां मातरं दृष्ट्वा १-२४-१२
ससुरासुरगन्धर्वाः ७-६-६
स सुहृद्भिरमात्यैश्च ३-१९-६७
ससैन्यास्त्वाभियास्यन्ति ७-९-९
स स्त्रीषु प्राप्तकालासु १६-३-१८
सस्याभिहारं कुर्याच्च १२-१९-३७
सहजमित्राण्यस्माकं ९-२०-१०
सहजं कवचं बिभ्रत् १-१७-६
स हतः प्रापतद् राजन् ९-४-३९
स हताश्वादवप्लुत्य ६-१७-१७
स हताश्वाद् रथात् तूर्णं ६-६-३६
स हताश्वान्महाबाहुः ६-१७-३३
स हताश्वे रथे तिष्ठन् ६-५-५०,
६-१८-१८
सह त्वया हि मे वध्याः २-९-२५
स हत्वा भक्षयित्वा च १२-३३-१५
स हत्वा सर्वकालिङ्गान् ६-९-४०
सहदेव कथं तस्य ४-१-३२
सहदेववचः श्रुत्वा १५-६-८
सहदेवस्ततो विद्वान् १७-२-८

महर्षि-पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान
तिथी..........
पु०सं०..........

सहदेवस्तथेत्युक्त्वा ३-२३-२६
सहदेवस्तु कौरव्य १४-६-१६
सहदेवस्तु तं दृष्ट्वा ६-१३-८
सहदेवस्तु यत्नेन ३-१३-३
सहदेवस्तु राजानं १५-६-५
सहदेवस्तु संयाय ३-२१-१५
सहदेवं समीपस्थं १२-१२-३२
सहदेवोऽपि गोपानां ४-३-४८
सहदेवो मया नित्य ३-२५-३०
सह धौम्येन विद्वांसः ३-२५-३३
स हन्यमानः समरे ८-३-१८
सह पुत्रैस्ततः कुन्ती १-१२-७
सह मात्रा प्रदग्धुं तान् ५-२५-३२
सहमित्रं सहामात्यं ५-२७-१६
स हयं पाण्डुपुत्रस्य १४-७-२२
स हयः पृथिवीं राजन् १४-७-४
सहसा चुक्रुशुश्चान्ये १-१६-२०
सहसास्त्रविसर्गेण ८-५-४
सहस्रपरिवेष्टारः १३-७-३५
सहस्रशक्तिश्च शतं १४-११-७८
सहस्रसंख्या नागा मे २-१२-४८
सहस्रं दीयतां मूल्यं १३-१३-२०
सहस्रं नाहमर्हामि १३-१३-२१
सहस्राणां शतं विप्र १३-१३-२२
सहस्रिणोऽपि जीवन्ति ५-१२-५३; १२-५७-७
सहस्रैः पञ्चभिस्तात १२-१८-५६
सहः शस्त्रनिपातानां ७-५-२४
सहामात्यः कुशली पाण्डुपुत्रः ५-७-१९
सहायवति सर्वार्थाः ३-२२-१२
सहायान् सततं कुर्यात् १२-१५-१९
स हास्तिनपुरं गत्वा २-१२-१६
सहितः सर्वयोधैस्त्वं ८-७-२४
सहितान् हि कुरून्सर्वान् ५-१३-२९
सहिताः पाण्डवं सर्वे ६-२१-१८
सहितैश्चापि योद्धव्यं ९-८-५
स हि धर्मं पुरस्कृत्य २-११-२३
स हि भीतं द्रवन्तं मां ४-१५-६३
स हि भीष्मं शान्तनवं १-२१-६
स हि भीष्मं समासाद्य ६-१९-१५
स हि राजा महानासीत् १५-५-७
स हि राज्यधुरं गुर्वीं १-७-२९
स हि वेदार्थतत्त्वज्ञः १-२९-७३
स हि सर्वस्य लोकस्य १-३६-४
स हि सर्वेषु भूतेषु १२-६३-११०
स हि संदृश्य सेनां ते ६-१४-२९
स हि स्त्रीपूर्वको राजन् ५-३६-२७
स हेमविकृतं चापं ८-१०-१९
सहे सर्वमनुचितं ७-४१-३०
सहैव तव पुत्रेण ११-१-६
सहैवैतैर्गमिष्यामि १-२७-६५
संकल्पाज्जायते कामः १२-४१-७
संक्रुद्धान् पाण्डवानेकः ७-६-६९
संक्रुद्धो राक्षसस्तस्याः १-२५-३८
संक्षेपो नीतिशास्त्राणां १२-३५-१४८
संक्षोभ्य सलिलं वेगात् ९-१५-२२
संग्रहश्चैव भूतानां १२-२८-३२
संग्रहीतायुधान् बाहून् ९-१२-३
संग्रामाणां हि धर्मज्ञः ७-२०-५५
संग्रामे क्रियतां यत्नः ७-३६-२८
संग्रामे न च कार्यं मे ४-१२-१५
संचरन्नस्मि कौन्तेय ३-१०-९
संछाद्यमानः सहसा ८-३-१४
संछिन्नभिन्नध्वजिनश्च केचित् ७-३३-४
संजयस्य श्रुतं वाक्यं ५-१७-३५
संजयाचक्ष्व येनास्मान् ५-१४-१
संजये प्रतियाते तु ५-१७-१
संजयो नामतश्च त्वं ५-२८-३४
संजयोऽहं महाराज ३-२-२
संजीवयैनं दुर्धर्ष १४-४-२२
संजीवितं तदा पार्थ १४-९-४४
संतापाद् भ्रश्यते रूपं ५-११-१२
संतेजयंस्तदा वाग्भिः ५-१८-११
संदिह्यमानो व्यथितः ७-३९-१३
संधाय विशिखं चैव ६-६-६
संनद्धः सगदो राजन् ९-१५-३४
संनह्य काञ्चनं वर्म १४-९-९
संनिरुद्धस्तु तेनात्मा १३-३३-३
संनिवार्य स तां घोरां ६-९-३२
संनिवृत्तांस्ततस्तांस्तु ६-११-१२
संन्यासं रोचये साधु २-४-१६
संयच्छ मामकानश्वान् ४-११-३४
संयन्ता सहदेवस्तु २-१८-१०
संयुक्ता सा हि धर्मेण १-११-७
संयुगे वै महाराज ५-२४-२४
संयोगा विप्रयोगान्ताः १२-१०-१२
संयोगो वै प्रीतिकरः १-२९-५३
संरक्ष तात मन्त्रं च १-२२-१६
संरक्षितो भीमसेनेन ९-७-७
संरक्ष्यमाणो द्रोणेन ७-६-५३
संरक्ष्यान् पालयेद् राजा १२-२८-२
संरम्भो हि सपत्नीत्वात् १-११-१६
सवत्सरगतो वापि ११-२-११
संवाद इत्ययं श्रेष्ठः १२-६१-३६
संवादे परुषाण्याहुः २-१६-२६
संवाससमयो जीर्णः १-२६-१५
संवासाज्जायते स्नेहः १२-३६-२२
संविधाय यथादृष्टं ४-९-२
संविभज्य यदा भुङ्क्ते १२-२८-२२
संवेष्टयन्ननीकानि ७-५-४७
संशप्तकांस्ततो हत्वा ७-५-३६
संशप्तकेषु पार्थश्च ८-१२-२
संशुष्कास्याश्चलन्नेत्राः ७-६-८६
संश्रवे धृतराष्ट्रस्य १५-२-६
संसक्तमतितेजोभिः ६-१३-११
संसारयति कृत्यानि ५-८-२६
संस्कारैः संस्कृतास्ते तु १-८-८
संस्कृत्य च कुरुश्रेष्ठं १३-३३-१०
संस्तरे कुशलाश्चापि १४-१०-५३
संस्तवैर्वा धनौघैर्वा १२-३५-१४५
संस्तुत्य पृथिवीं देवीं १३-१६-१९
संस्तौपि तौ तु केनापि ८-८-८
संस्थानेषु च सर्वेषु १२-१९-७
संस्थाप्य चाश्वान् कौन्तेयः ४-१२-६०
संस्थाप्यैवं तस्य राज्ञः १४-१०-५५
संस्थाप्य तं पुनश्चापि ८-८-६७
संस्पृश्य तानि चापानि ४-१२-३२

संहृते परमास्त्रेऽस्मिन् १०-८-३
सा कृष्यमाणा नमिताङ्ग- २-१४-३६
सागच्छत् त्वरिता भूमिं १-३-३०
सागरप्रतिरूपाभिः १-३४-३५
सा गृहीता विधुन्वाना ४-६-१९
साङ्गांश्च चतुरो वेदान् १३-७-१६
साङ्गोपाङ्गानपि यदि १२-६३-१५४
सा च दृष्ट्वैव राजानं १-४-७
सा च बाष्पाकुलमुखी १५-६-२९
सा च बुद्धिमती देवी १५-२-११
सा चिन्तये सदा पुत्र १-२७-१२
सा तथा पाण्डवी सेना ७-२९-११
सा तथा याच्यमानां त्वं ११-४-६
सा तथोक्ता तथेत्युक्त्वा १-११-६
सा तस्य मर्माणि विदार्य शुभ्रं ९-७-२१
सा तस्य हृदयं संख्ये ९-४-३३
सा तं दृष्ट्वैव राजानं १-३-१४
सा तानुवाच राजेन्द्र ४-३-२९
सा तानेकैकशः पुत्रान् ११-४-४६
सा तामुवाच राजेन्द्र ४-३-३३
सा तां मायां भस्म कृत्वा- ७-३३-१९
सा तु बुद्धिः कृताप्येवं ५-१२-७०
सा तु लब्ध्वा पुनः संज्ञां ११-५-१३
सा तु सम्प्राप्य विश्रामं ७-३५-१९
सात्यकिर्माधवः शूरः ५-३६-११
सात्यकिश्च ततस्तूर्णं ६-९-३७
सात्यकिश्च महावीर्यः ७-१८-१५
सात्यकिश्च हि विज्ञेयः ७-१८-६
सात्यकिश्चापि विरथः ७-२२-३०
सात्यकिश्चापि संक्रुद्धः ६-१७-२८
सात्यकिश्चाभिमन्युश्च ६-११-८
सात्यिकिश्चेकितानश्च ५-३१-१३
सात्यकिस्तु महेष्वासः ६-५-१०
सात्यकिस्तु रणे हित्वा ६-२४-४०
सात्यकिं चैव सम्प्रेक्ष्य ७-१९-३६
सात्यकिं पञ्चविंशत्या ९-५-३६
सात्यकिं प्रेषयित्वा तु ७-१८-७
सात्यकिं विरथं दृष्ट्वा ७-२२-३२
सात्यकिः कृतवर्मा च ५-२४-६
सात्यकिः कृतवर्माणं ६-५-११, ६-२५-५
सात्यकेश्चैव यो वेगः ९-२-२०
सात्वतोऽपि महाराज ७-१६-२८
सा त्वं भ्रातॄनसम्बुद्धय ५-३०-१८
सा त्वं मम सकामस्य १-३-४२
सा त्वं माद्रीं प्लवेनैव १-११-२०
सा त्वां प्रासाद्य शिरसा १४-४-३३
सादिता रथनागाश्च ६-१०-१५
सादिनो ध्वजिनश्चैव ६-८-७
सा दृष्ट्वा कृष्णमायान्तं ५-२२-१५
सा धनञ्जयमासाद्य १४-८-९
साधारणं द्वयं ह्येतत् १२-१४-४
साधु क्षमा दमः शौचं १२-१-१४
साधुगम्यमहं मार्गं १२-३-२
साधुवृत्तो हि यो राजा १३-१०-२५
साधु साध्विति सर्वत्र ६-४-७३
साधूनामपरित्यागः १२-१६-४
साधोर्यः प्रतिगृह्णीयात् १३-१६-१६
साध्विदं कथ्यते वीराः ६-१४-३६
साध्विमं लब्धवाँल्लाभं १-२९-४६
सानुक्रोशा महात्मानः ३-१-७
सानुबन्धान् हनिष्यामि ६-१२-२१
सान्तरं तु प्रतिज्ञाते ७-२-२२
सान्तरं हि प्रतिज्ञातं ७-२-४
सान्तः पुरपरीवारः १५-७-१५
सान्त्वनं रक्षणं दानं १२-२७-२७
सान्त्वयामास नारीश्च १३-३२-२
सान्त्वयित्वा शुभैर्वाक्यैः ३-८-३७
सान्त्वेन तु प्रदानेन १२-१९-२०
सान्त्वेनान्नप्रदानेन १२-६०-५५
सा पीड्यमाना कर्णेन ७-३०-७
सा पुत्रान् रुदतः सर्वान् १५-४-६९
साब्रवीद् दाशकन्यास्मि १-५-२१
सा भर्तृवचनं श्रुत्वा ५-२६-७
सा भार्या या गृहे दक्षा १-३-७५
सा भार्या या प्रियं ब्रूते १२-३६-३२
सामरानपि लोकांस्त्रीन् ५-३७-२८
सामर्थ्ययोगं सम्प्रेक्ष्य २-३-५
सामिषं कुररं दृष्ट्वा १२-४६-९
सामुद्रिकं वणिजं चोरपूर्वं ५-१०-९
सा मुहूर्तमिव ध्यात्वा १-३-६६
सा मे मूत्रं पुरीषं च ५-२९-१४
साम्ना दानेन वा कृष्ण ५-१९-४
साम्नैव तु यथा भीम ३-१८-१२
साम्प्रतं चैव यत्कार्यं ४-९-२०
साम्बं च निहतं दृष्ट्वा १६-१-४५
साम्यमादौ प्रयुक्तं मे ५-३१-३
सायं च भीमस्तु रिपु- १-३२-३
सायंप्रातर्मनुष्याणां १२-४९-१६
सायंप्रातश्च भुञ्जीत १३-१७-५६
सायं प्रातश्च वृद्धानां १३-२८-२७
सायाह्ने स महीपालः १५-५-३
सायाह्ने सैन्धवं हत्वा ७-२५-२
सायुधानुद्यतान् बाहून् ८-९-२३
सायुधाश्च प्रवेक्ष्यामः ४-३-४
सारङ्ग इव घर्मार्तः ८-८-१९
सारथिस्त्वरमाणस्तु ७-६-५९
सारथिं चास्य भल्लने ७-२२-४०,
८-११-२६
सारथिं चास्य समरे ९-५-३९
सारथिं दशभिश्चास्य ६-२७-२७
सारथिः प्रवरः कृष्णः ७-१२-१४
सारथ्यस्याभ्युपगमात् ८-६-३१
सारथ्यं तु त्वया कार्यं ५-३-३१
सारवद् बलमस्माकं ५-३१-२२
सारासारं बलं वीर्यं १२-३३-३२
सार्थः प्रवसतो मित्रं ३-२४-३१
सा वज्रनिष्पेषसमा ९-१८-२६
सा शङ्कमाना रुदती ४-६-१४
साश्वसूतध्वजं यानं ७-१९-१६
साश्वारोहांश्च तुरगान् ९-६-१७
सा समाश्वासिता तेन १०-५-२४
सा समीक्ष्य तथारूपां ४-३-३२
सा सारथ्यं मम भ्रातुः ४-११-३१
सासिर्वेगवदाप्लुत्य ६-९-१३
सा हता सूतपुत्रेण ४-७-१
साहन्यमाना पार्थेन ७-५-६७
सा हयांश्च रथं चास्य ७-३२-१५

महर्षि-पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान
लिपी
पु०सं० 1729
भारती पुस्तकालय

साहसं बत भ्रदं ते ३-१२-३८
साहसोत्पतितानां च ९-१८-१३
साहं त्वामभिसम्प्रेक्ष्य १-२५-१९
साहाय्येऽस्मि स्थितः पार्थ १-२५-६४
सा हि नित्यं महाभागा ९-२२-१७
सा हि पुत्रवधं श्रुत्वा ९-२२-१३
सा हि मांसार्गलं भीष्म २-९-१२
सा हृष्टरूपैव तु राजपुत्री १-३२-७
सा ह्यग्रे गच्छति तयोः १५-६-३१
सिकता वपन् सव्यसाची २-१८-४१
सिद्धान्नाद् वैश्वदेवं वै १३-१६-२४
सिद्धार्था वसुमन्तश्च २-९-५२
सिद्धि प्राप्तोऽसि परमां १७-३-२८
सिन्धुराजो महाराज ५-३५-१५
सिंहखेलगतिः श्रीमान् १-३०-३१
सिंहदर्पं महेष्वासं १-३५-५२
सिंहदर्पं महोरस्कं १-९-८
सिंहदर्पा महेष्वासाः १-११-२७
सिंहनादांस्ततश्चक्रुः ९-१३-३३
सिंहर्षभगजेन्द्राणां १-१७-७
सिंहव्याघ्रान् वराहांश्च १-३-५५
सिंहं केसरिणं क्रुद्धं ८-७-३०
सिंहस्कन्धौ दीर्घभुजौ ८-२२-७
सिंहेन महिषस्यवे ९-२१-७
सीदन्ति मम गात्राणि ६-३-२०
सीदन्ति स्म नरा राजन् ७-११-१७
सीधुपानेन चाल्पेन ३-८-१२
सुकुमारी च बाला च ४-१-३६
सुकुमारी सुखार्हा च १७-३-४
सुकृतं ते कृतं राजन् ५-४-२२
सुकृतं प्रतिकर्तुं च ३-१४-१७
सुकृतासुकृतं कर्म १२-६०-९
सुखदुःखयोश्च ग्रहणात् १२-६३-७३
सुखदुःखे समाधाय १२-६०-१६
सुखदुःखे समे कृत्वा ६-३-५६
सुखदुःखे समे यस्य १२-५९-१२
सुखदुःखैरहं त्वं च १२-११-८
सुखमस्म्युषितः पुत्र १५-२-२४
सुखसुप्तान् वने भ्रातॄन् १-२५-२६

सुखस्यानन्तरं दुःखं १२-९-३४,
१२-४३-१२, १२-६३-५४
सुखं च दुःखं च भवाभवौ च ५-११-१३,
१२-९-३७
सुखं जीवन्ति मुनयः १२-४६-११
सुखं त्वत्तो नाभिजानीम ८-१६-४
सुखं दान्तः प्रस्वपिति १२-३९-२०
सुखं दुःखान्तमालस्यं १२-१०-३२
सुखं मोक्षसुखं लोके १२-५९-४
सुखं वा यदि वा दुःखं ४-७-९,
१२-९-३५, १२-१०-१६
सुखं स्वपिहि गान्धारे ६-२३-२८
सुखात्त्वं दुःखमापन्नः १२-४३-१३
सुखार्थिनः कुतो विद्या ५-१२-५९
सुखितो दुःखितो वापि १२-६०-४९
सुखे वा यदि वा दुःखे १२-६०-४३
सुखोषितास्तत्र त एकरात्रं ३-१५-१५,
१६
सुखोषितास्ते रजनीं २-१२-१९
सुतः पाञ्चालराजस्य ५-३६-१४
सुतामिव महेन्द्रस्य ४-१६-५०
सुताश्च सर्वे द्रुपदस्य राज्ञः ५-१-५
सुतेयं यज्ञसेनस्य २-१७-७४
सुदर्शनस्तव सुतः ९-१०-१३
सुदुर्बलं नावजानाति ५-८-८०
सुदुष्करं ब्रह्मचर्यं १२-६३-८४
सुदृष्टः क्रियतां लोकः ७-६-९१
सुदेष्णामब्रवीद् राजा ४-८-२७
सुनीतमनुपश्यामि ९-२-४७
सुनीतैरिह सर्वार्थाः ७-२६-४०
सुनीतैरिह सर्वार्थैः ८-१-५
सुपर्णं पतगश्रेष्ठं ८-७-३१
सुपुष्पितवने काले १-१२-१
सुपुष्पितः स्यादफलः १-२०-३७,
५-९-११, १२-३७-२३
सुपूरा वै कुनदिका ५-२८-१४
सुप्तेषु तेषु काकेषु १०-१-१४
सुभद्रा त्वथ शैलेन्द्रात् १-३५-१८
सुभद्रामनुशोचामि ७-८-२६

सुभद्रा वक्षयते किं मां ७-८-२७
सुभद्रां द्रौपदीं चैव २-९-५३
सुभद्रे मा शुचः पुत्रं ७-१०-२७
सुभाषितैर्महाराज ११-२-१
सुभीमनानाविधशस्त्रपातैः ७-३३-१२
सुमन्त्रितं सुविक्रान्तं १२-३७-१०
सुमन्त्रिते सुविक्रान्ते ३-५-३२
सुमृष्टं भोजयित्वा च ५-२०-९
सुयोधन किमर्थोऽयं ९-१४-८
सुयोधनमते तिष्ठन् ५-१७-५
सुयोधनमसंगृह्य ११-४-२३
सुयोधनमिमं पापं २-१७-६७
सुयोधनः कृती वीर ९-१८-११
सुयोधनो मन्युमयो महाद्रुमः ५-६-४७
सुयोधनो मम वचः ५-३४-६१
सुरङ्गा विविशुस्तूर्णं १-२३-३७
सुरथस्य सुतं वीरं १४-८-८
सुरा मत्स्या मधु मांसं १२-५१-९
सुरारिनिलयः शश्वत् १२-३३-२३
सुलभाः पुरुषा राजन् ५-११-३८
सुवर्णपुष्पितां पृथिवीं ५-१०-२५
सुवर्णविकृतानीमानि ४-१२-३३
सुवर्णं रजतं वस्त्रं १३-१४-५३
सुवाससो हि ते भार्याः ३-१६-२३
सुवृतः शील- ५-१६-८, १२-३९-२७
सुवृष्टे च यथा देवे १०-१-३५
सुव्यक्तं राजपुत्री त्वं १-३-४०
सुव्याहृतानि सूक्तानि ५-९-१७
सुशर्मा चिन्तयामास ४-१०-३३
सुशर्माणं रणे हत्वा ९-१०-२३
सुशीघ्रमपि धावन्तं १२-४८-६
सुषेणं च ततो हत्वा ६-१३-४३
सुष्वाप रजनीं तां तु ९-३-४४
सुष्वाप विगतज्ञाना १-२३-३४
सुसम्बद्धौ तु तौ दम्यौ १२-४५-६
सुसरब्धोऽपि रामाणां १-३-८०
सुसुखं बत जीवापि १२-५५-४
सुसूक्ष्मोऽपि तु देहे १२-१३-१९
सुस्वरं रुरुदे धीमान् १५-६-२८

सुहृज्जनवृतो तत्र १-३६-७
सुहृदश्चैव ये सर्वे २-६-१७
सुहृदस्तादृशान् हित्वा ९-१४-३४
सुहृदामर्थकामानां ५-२६-२०
सुहृदा यदिदं वाक्यं ९-२-३४
सुहृदां यतमानानां १-६-३३
सुहृद्भिस्तादृशैर्हीनः ९-१२-४०
सूक्ष्मयोनीनि भूतानि १२-६-२१
सूक्ष्मान्प्रावादानजिनो- २-१७-५१
सूतपुत्र कथं नु त्वं ८-७-१३
सूतपुत्रोऽथ समरे ८-१२-१
सूतमश्वांश्च चतुरः ७-२८-२४
सूतं चैकेन बाणेन ७-१७-६
सूतानुचच्क्रुशुः केचित् १-३५-२३
सूतेन राज्ञो मत्स्यस्य ४-९-९
सूतो हि मामधिरथः ५-२९-१३
सूपानस्य करिष्यामि ४-१-१८
सूर्यं एको विचरति ३-२४-३५
सूर्यं सदोपतिष्ठेत १२-४९-१२
सूर्याचन्द्रमसौ यद्वत् ८-८-७८
सूर्ये चक्षुः समाधाय ७-२०-६७
सूर्ये चास्तमनुप्राप्ते ७-३-३६
सृञ्जयैः सह कैकेयैः ३-५-२६
सृत्या वञ्चयतो राजन् ९-१८-२५
सृष्टे तमसि कृष्णेन ७-२१-१६
सेनयोरुभयोश्चापि ६-२७-४८
सेनानिवेशं सम्प्राप्तः ५-३४-२५
सेनापतित्वं सम्प्राप्य ७-२-१
सेनापतिर्भविष्यामि ८-१-१७
सेनापतिस्त्वहं राजन् ५-३२-२७
सेनापत्यमनुप्रात्य ५-३५-३
सेनापत्यं च सम्प्राप्य ५-३४-२
सेनापत्यं तु सम्प्राप्य ८-१-२१
सेनाप्रणेता च भवेत् १५-३-२४
सेयमापन्महाघोरा ५-२४-२१
सेयं कापुरुषं प्राप्ता १-२९-४९
सेयं बुद्धिः परीता ते ५-९-४८
सेवितं सततं राजन् १३-२७-६
सेवेत प्रणयं हित्वा १२-२०-१०
सैनापत्ये तु राधेयं ८-१-१९
सैनापत्येन भद्रं ते ९-२४-२६
सैनापत्येन वरये त्वामहं ९-३-१५
सैन्धवं त्वभिसम्प्रेक्ष्य ३-२१-३३
सैन्धवं निहतं दृष्ट्वा ७-२२-२
सैन्धवे निहते राजन् ७-२३-१
सैन्धवे सक्तदृष्टित्वात् ७-२०-४०
सैन्धवैरभवद् युद्धं १४-८-१
सैन्धवो निहतो युद्धे ७-२४-१३
सैन्यस्य तव तं शब्दं ९-३-२६
सैन्यस्यैकोऽवशिष्टोऽयं ११-४-२१
सैन्यं तद् धार्तराष्ट्रस्य ३-१७-४३
सैन्यं सैन्येन व्यूढेन २-५-३८
सैन्यानि द्रावयन्तं तं ७-२५-१४
सैन्येन घोरेण सुसंगतेन ६-१५-४१
सैरन्ध्री च विमुक्तासौ ४-८-२४
सैरंध्र्यो रक्षिता लोके ४-१-३७
सैवमुक्ता वरारोहा १-३-६५
सैवमुक्त्वा शकुनिका १२-३६-३७
सैवं विलप्य करुणं १४-४-३६
सैषा मम सुता बाला ११-५-४३
सोऽग्रानीकस्य महतः ७-११-१३
सोऽचिरेणैव कालेन ७-१९-२६
सोऽच्छिनत्कस्यचित्पदौ १०-३-२२
सोऽजिघांसुर्गुरुं संख्ये ७-२२-६
सोऽज्ञायमानः पुरुषान् १-३२-२
सोऽतिविद्धो भृशं क्रुद्धः ७-२८-१८
सोऽतिविद्धो महेष्वासः ६-१३-५३,
६-२७-३६
सोऽथ श्रुत्वैव तद् वाक्यं १-३-६३
सोदर्याः पाण्डवा वीराः ६-३०-१८
सोदर्येषु विनष्टेषु १८-३-१५
सोद्वेगा इव तं दृष्ट्वा १-६-१६
सोऽन्तरायुधिनं हत्वा ६-९-१५
सोऽन्यत् कार्मुकमादाय ८-३-१३,
८-११-६, ९-६-२५
सोऽन्वेषमाणः कौन्तेयं १-३०-७
सोऽपराह्णे महाराज ६-१४-३८
सोऽपश्यत् तरुखण्डेषु १२-३८-१५
सोऽपश्यदर्जुनं तत्र ७-१९-३८
सोऽपश्यन् नरशार्दूलं ७-१८-३
सोऽपश्यमानस्तमृषिं १-३-१९
सोऽपहृत्य महार्हाणि ४-१२-३०
सोपानभूतं स्वर्गस्य १२-६३-१६७
सोऽपि दृष्ट्वैव तं विप्रं १२-५०-३२
सोऽपि विंशत्यधिपतिः १२-२७-५
सोऽब्रवीत्पितरं पुत्रः १२-४४-४
सोऽब्रवीदर्जुनं चैव १-३६-१४
सोऽब्रवीद् भीमकर्माणं १-१७-४५
सोऽब्रवीद् विजने कुन्तीं १-११-३
सोऽब्रवीन्मातरं कुन्तीं १५-४-५१
सोऽभिगम्य कुरुश्रेष्ठं १४-१०-२७
सोऽभिगम्य महात्मानं २-११-३१
सोऽभिगम्य यथान्यायं ३-५-४३
सोऽभिनिर्याय नगरात् १४-७-२३
सोऽभिमन्युं त्रिभिर्बाणैः ७-६-७७
सोऽभिवाद्य कृपं राजा ६-४-४७
सोऽभिवाद्य पितुः पादौ १४-१०-३५
सोऽभिषिक्तो महाप्राज्ञः १३-३२-३
सोऽभिपिक्तो महाराज ९-२४-२८
सोऽभ्ययात् कृतवर्माणं ५-३-२६
सोऽभ्युपेत्य तदा पार्थः १-१३-३६
सोऽभ्ययात् पुत्रशोकार्तः ११-३-१४
सोमदत्तसुतं पश्य ११-५-४५
सोमदत्तिर्महेष्वासः ५-३५-१४
सोमदत्तिस्ततः क्रुद्धः ६-१४-४०
सोऽमर्षवशमापन्नः १२-५०-३०
सोऽमात्यैः स्थविरैः सार्धं १-९-१४
सोमादित्यान्वयाः सर्वे १३-२७-१५
सोऽयमस्माननुप्राप्तः १-२७-६२
सोऽयं गुरुतरो भारः ७-२०-९
सोऽयं जातो मृतस्तात १४-४-११
सोऽयं दुर्योधनेनार्थः १०-१-५०
सोऽयं धर्मो मात्यगात् २-१४-२५
सोऽयं प्रतिज्ञां तां चाऽपि ९-१८-७
सोऽयं प्रियः सखा चास्मि ८-८-१६
सोऽयं बलस्थो मूढश्च ५-२३-२३
सोऽयं मत्तोऽक्षद्यूतेन २-१३-५

सोऽयं मम जयो व्यक्तं ७-२-१५
सोऽयं मयाभ्यनुज्ञातः १५-२-५०
सोऽयं मां समनुप्राप्तः ९-२४-११
सोऽयं राजंस्त्वया शत्रुः ९-१६-८
सोऽयं लोभान्मन्यते धर्ममेतं ५-६-४२
सोऽर्करश्मिनिर्मांस्तीक्ष्णान् ७-५-५१
सोऽर्चितः पाण्डवैः सर्वैः २-२-४
सोऽर्चितो धृतराष्ट्रेण ५-२२-९
सोऽर्जुनेन परामृष्टः ४-१२-१९
सोऽत्रगाह्य चमूं शत्रोः ६-४-१५
सोऽवज्ञाय तु निर्विद्धः ८-१०-१३
सोऽवतीर्य रथोपस्थात् ७-१०-१९
सोऽवमन्य च नामास्मान् १-३५-३१
सोऽवर्धत यथाकालं १४-५-५
सोऽसि कर्ण तथा जातः ५-२९-४
सोऽस्मि जातः कुले श्रेष्ठे १०-२-१०
सोऽस्मि वाच्यस्त्वया राजन् ६-११-१७
सोऽस्य दोषो न मन्तव्यः ५-८-३७
सोऽहमद्य गमिष्यामि ७-२३-१०
सोऽहमद्य यथाकामं १०-२-११
सोऽहमभ्यागतः क्षिप्रं ३-१०-१२
सोऽहमागस्करः पापः १२-१०-६
सोऽहमेको बहून् बालः ४-१२-८
सोऽहमेतादृशं कृत्वा ९-२-५८
सोऽहमेतादृशो भूत्वा ८-६-१५
सोऽहमेतान्यलीकानि १५-२-१९
सोऽहमेत्य कुरुश्रेष्ठ ३-२-१८
सोऽहमेवंगते कृष्ण ६-२६-४
सोऽहं गन्तुमभीप्सामि १४-२-१४
सोऽहं जये चैव पराजये च ५-६-१७
सोऽहं ज्ञात्वा रणे तस्य ८-१७-१४
सोऽहं तत्र गमिष्यामि ६-१५-३८
सोऽहं तव ह्यन्तकरः १३-१-३
सोऽहं तौ च महात्मानौ १६-३-२१
सोऽहं त्यक्ष्ये प्रियान्प्राणान् १२-३८-६८
सोऽहं नारायणास्त्रेण ७-४०-२७
सोऽहं भीष्मं निहन्म्यद्य ६-१२-३६
सोऽहं यतिष्ये प्रशमं ५-२३-३४
सोऽहं श्रियं च तां दृष्ट्वा २-१०-२८
सोऽहं स्वर्गंगतं द्रोणं ९-२३-१८
सोऽहं ह्यहिंस्रः सत्यार्थी १२-४४-२४
सौबलस्त्वभिधायैवं २-१३-५७
सौबलेन च राजेन्द्र ५-३४-६
सौबलेयि निबोध त्वं ९-२२-३८
सौभद्रमथ संसक्तं ६-१०-१२
सौभद्रस्तद् वचः श्रुत्वा ७-६-२६
सौभद्रस्तु रणे रक्षः ६-२४-२२
सौभद्रं द्रौपदेयांश्च १२-१-११
सौभद्रेण हतैः पूर्वं ७-६-७०
सौभद्रे भीमसेने च ६-८-५
सौहित्यं न च कर्त्तव्यं १३-१७-६२
सौहृदं च कृपां चैव ६-४-७२
सौहृदेनाभिभाषे त्वां १२-३५-६१
स्कन्धमारोप्य जननीं १-२३-४६
स्कन्धे दोर्भ्यां समाहृत्य २-५-४७
स्तन्यस्य मातुर्मधुसर्पिपोर्वा ८-२०-२२
स्तम्भान् कनकचित्रांश्च १४-१०-१०
स्तम्भितास्वप्सु गच्छन्ति ५-१५-३१
स्तुवन्तः स्तवयुक्ताभिः ८-२७-३१
स्तेनो हरेद् यत्र धनं ५-६-४१
स्तैन्यान्निवृताः सततं १३-२६-५
स्त्रियश्च ते सुगुप्ताः स्युः १५-३-१२
स्त्रियं हृत्वा मातरं च १२-५२-११
स्त्रियः कौरवनाथस्य १३-३३-८
स्त्रियाश्चापुरुषा मार्गं १२-१८-३२
स्त्रियोऽक्षा मृगया पानं ३-२-१४,
५-८-७३
स्त्रियो गावो हिरण्यं च ४-१५-२०
स्त्रियो बालाश्च वृद्धाश्च ८-८-१०
स्त्रियो यत्र च पूज्यन्ते १३-१२-१३
स्त्रियो राजकुले याश्च ४-३-४०
स्त्रीधूर्तकेऽलसे भीरौ ५-१२-४८
स्त्रीमध्ये कथितं तेन ४-११-१२
स्त्रीरत्नं दुष्कुलाच्चापि १२-६३-५९
स्त्रीषु गोषु न शस्त्राणि २-८-४५
स्त्रीसकाशे च कौरव्य १-२९-५७
स्त्रीसमक्षमहं दीनः ३-१९-२९
स्त्र्यध्यक्षांश्चाब्रवीद् राजा १५-६-१३
स्थाविरैः सन् परं शक्त्या ७-३६-८
स्थविरोऽस्मि महाबाहो ५-३७-१२
स्थाता नः समये तस्मिन् ५-२४-३२
स्थानान्येतानि संयम्य १२-२७-३५
स्थानेऽस्मिन् वस राजेन्द्र १७-३-२७
स्थावराणां च भूतानां १३-१४-१४
स्थास्यते रक्षितो वीरैः ७-१०-५
स्थितः सेनापतिर्योऽहं २-८-२१
स्थिताः शमे महात्मानः ५-६-५३
स्थिताः शुश्रुषितुं पार्थाः ५-६-५२,
५-२४-४१
स्थिते मुहूर्तं पार्थे तु १८-३-१
स्थितो राज्ये च्युतान् ३-१६-२०
स्थिरा बुद्धिर्नरेन्द्राणां ७-१२-५
स्थिरा बुद्धिर्हि द्रोणस्य ७-३९-१४
स्थिरीभूय महाराज १५-८-९
स्थिरो भव विमोक्ष्यामि ३-६-३८
स्थूणासहस्रैर्बृहतीं २-११-२७
स्नातकान्ब्राह्मणान् राजन् २-५-१८
स्नातं कृताह्निकं भद्रे १-२६-१०
स्निग्धत्वात्तिलवत्सर्वं १२-६३-८१
स्नुषाभिः प्रस्नुषाभिश्च ९-२३-२१
स्नेहपाशैर्बहुविधैः १२-४३-१४
स्नेहेन तिलवत् सर्वं १२-४३-१५
स्नेहेन युक्तस्य न १२-६३-६३
स्पर्धया च बलोन्मत्तौ ४-७-५८
स्पर्शं वेत्सि विदग्धस्त्वं ४-७-४९
स्पृश्यमाना करैः शीतैः ३-११-१६
स्पृहयाम्यद्य निर्वेदात् १-१६-५
स्पृहा स्याद् गर्हिता चैव १२-४२-४
स्प्रष्टुमप्यसमर्थो हि १३-३०-७
स्फिग्देशेनोपविष्टः सः ९-२१-२४
स्फुरतस्तस्य समरे ७-३१-१८
स्फ्यश्च कूर्चश्च सौवर्णः १४-६-९
स्मरन्ति वैरं रक्षांसि १-२६-१
स्मरन्ति सुकृतान्येव २-१६-२५
स्मरन् दुर्मन्त्रितं तस्य १५-२-५
स्मरेथाश्चापि मां नित्यं १४-२-२९
स्मृत्वाथ केशग्रहणं च देव्या ८-२०-१०

स्यात्तु मद्भाग्यदोषोऽयं २-१८-३०
स्रजश्च नावकृष्येत १३-१७-३६
स्रवद्भिः शोणितं गात्रैः ७-१३-६
स्रवन्ति न निवर्तन्ते १२-४४-१०
स्वकर्मकुरु मा ग्लासीः ३-४-५४
स्वकर्मनिरतानां च १३-१५-५
स्वकर्मफलनिक्षेपं १२-४८-९
स्वकोष्ठस्य परीमाणं २-६-१६
स्वगृहं गच्छ कौन्तेय ८-१०-२८
स्वगृहादभिनिःसृत्य १२-५६-३
स्वदारतुष्टस्त्वृतुकालगामी १२-१७-२७
स्वदारनिरता ये च १३-२६-६
स्वदारनिरतो दान्तः १२-६३-१२३
स्वधर्ममपि चावेक्ष्य ६-३-५१
स्वधर्ममर्थं कामं च ७-३१-२२
स्वधर्मशीलेषु च धर्मवित्सु १३-५-८
स्वधर्मं चर धर्मज्ञ १२-९-१२
स्वधर्मं प्रतिपद्यस्व ३-५-२०
स्वधर्माचरणे युक्ता १२-४९-४
स्वधर्मे वर्तमानस्त्वं १२-१२-३
स्वधर्मे स्थिरता स्थैर्यं ३-२४-६१
स्वधीतस्य सुयुद्धस्य ५-११-१८
स्वधीतस्यापि च फलं १३-१५-१०
स्वनवन्तं महाशंखं ४-१२-५८
स्वपुरं प्रययौ राजा ३-१९-५
स्वप्नलब्धा यथा लाभाः १२-११-५
स्वप्ना हि बहवो घोरा ५-२९-३६
स्वप्ने तानि न दृश्यन्ते २-१३-४१
स्वप्स्ये वा निहतस्ताभ्यां ८-१९-१७
स्वबाहुबलमाश्रित्य ५-२८-३२
स्वबाहुवीर्यमाश्रित्य ८-७-२६
स्वभावस्तु प्रयात्यग्रे १२-३-१०
स्वभावादगमच्छब्दः १-१९-११
स्वभ्रातॄन् पतितान् दृष्ट्वा १७-३-२
स्वमर्थं यः परित्यज्य ५-८-२३
स्वमंशमवशिष्टं तं ९-११-११
स्वमंशं भगवान् व्यासः १४-१०-७३
स्वमांसं परमांसेन १३-२१-१४
स्वयमिष्टं च ते कामं ९-१५-१४
स्वयमुत्थाय चैवाथ १-१३-२४
स्वयमुत्पादयित्वाग्निं ११-१-१९
स्वयमुत्पाद्य वै पुत्रं १-३-९६
स्वयमेव च मामात्थ ४-१२-१०
स्वयमेवात्मनो दोषान् ७-४१-१६
स्वयंकृतानि कर्माणि १२-६०-६०
स्वयं कृत्वा तु यः पापं १२-६०-२३
स्वयं प्रक्षिपते भक्ष्यं १-१३-२५
स्वयं प्रहर्ता दाता च १२-१५-१७
स्वयं प्राप्तेति मामेवं १-३-७०
स्वयं राजा रथोदारः ५-३६-२
स्वयंवरः क्षत्रियाणां १-३५-११
स्वयं विनाश्य पृथिवीं १४-१-२८
स्वयं वैरं महत् कृत्वा ६-२३-२५
स्वयं हयान्वीक्षति ४-३-६६
स्वरन्ध्रं पररन्ध्रं च १५-३-२६
स्वर्गकामो लभेत्स्वर्गं १८-४-७
स्वर्गते शान्तनौ भीष्मः १-६-५
स्वर्गद्वारं सुसूक्ष्मं हि १४-११-७६
स्वर्गमेष गतः शूरः ७-६-१२७, ७-७-१२
स्वर्गं गच्छेत्यनुज्ञातः ३-६-४९
स्वर्गं त्रिविष्टपं प्राप्य १८-१-१; ३; ४
स्वर्गं येन द्विजाः प्राप्ताः १४-११-१९
स्वर्गे लोके श्ववतां नास्ति १७-३-१०
स्ववस्त्रोत्कर्षणं राजा २-१०-४
स्ववीर्यं क्षत्रियाणां तु २-५-२०
स्ववीर्यं यः समाश्रित्य ५-३४-४७
स्ववीर्याद् यः पराक्रम्य ५-३४-३७
स्वसारं समवेक्षस्व १४-८-१२
स्वसेति वा महाबाहो १४-४-२५
स्वसैन्यं निहतं दृष्ट्वा ६-२१-१
स्वस्ति गोभ्योऽस्तु १२-५१-३
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि १-४-१८
स्वस्ति प्राप्नुत भद्रं वः १०-४-२६
स्वस्तिमान् सहितः सर्वैः ३-१८-५७
स्वस्ति वाच्यार्हतो विप्रान् २-६-५
स्वस्त्यस्तु वः पथि सदा १-२२-१३
स्वस्रीयं निहतं श्रुत्वा ९-२-३९
स्वस्रीयो वासुदेवस्य ४-१६-४१
स्वं च धर्मं परिस्मृत्य ११-४-८
स्वं चेत्कर्मफलं न स्यात् १३-३-१६
स्वागतं ते महाबाहो १-१७-१४
स्वागतं ते सुकेशान्ते ४-६-१६
स्वागतं तेऽस्तिवति प्राह १६-५-२
स्वागतं देवकीपुत्र ८-१४-८
स्वागतं धर्मपुत्राय ६-२६-२२
स्वागतं वो महाभागाः ६-२८-३
स्वाध्याय एषां देवत्वं ३-२४-१७,
१२-६१-३५
स्वाध्यायनित्येषु सदा १३-५-१३
स्वाध्यायमग्निसंस्कारः १२-४७-२८
स्वाध्याययज्ञसंसिद्धा १२-९-४०
स्वाध्यायवन्तः शुचयः १-३०-३
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव १२-१७-८
स्वाध्यायेन महर्षिभ्यः १२-६०-३२
स्वाध्यायो यजनं दानं १३-२५-१०
स्वान्यनीकानि बीभत्सुः ७-३-३८
स्वासु प्रकृतिषु च्छिद्रं १२-२४-४८
स्वास्तीर्णानि शयनानि ५-११-१९
स्वाहाकारवषट्कारौ १३-१३-३८
स्वाहा स्वधामृतभुजः १३-२१-२१
स्वे च राज्येऽभिषिच्यैनं १-४-४
स्वेन यद्यपि रूपेण ३-२५-१३
स्वेन वृत्तेन मे वृत्तं ५-३४-५६
स्वेषु दारेषु वर्तन्ते १२-३२-८
स्वैः परैश्च समेतेभ्यः ७-२०-६०

ह

हतपुत्रस्य संग्रामे १५-८-३७
हतपुत्राविमौ वृद्धौ १५-४-२०
हतपुत्रो हतामात्यः १-१-९
हतबन्धुर्हतामात्यः भ्रष्टसैन्यः ९-१९-११
हतबान्धवभूयिष्ठा ९-१४-३६
हतमात्मसुतं दृष्ट्वा ६-९-५
हतमायं ततो रक्षः ६-२४-२६
हन्त विद्ध्यत गृह्णीत ९-८-१०
हत विध्यत गृह्णीत ९-५-३२
हतवीरतमा ह्येषा ८-१-३१
हतवीरान् रथान् राजन् ६-२५-१५

तिथी...... पु०सं० 1719

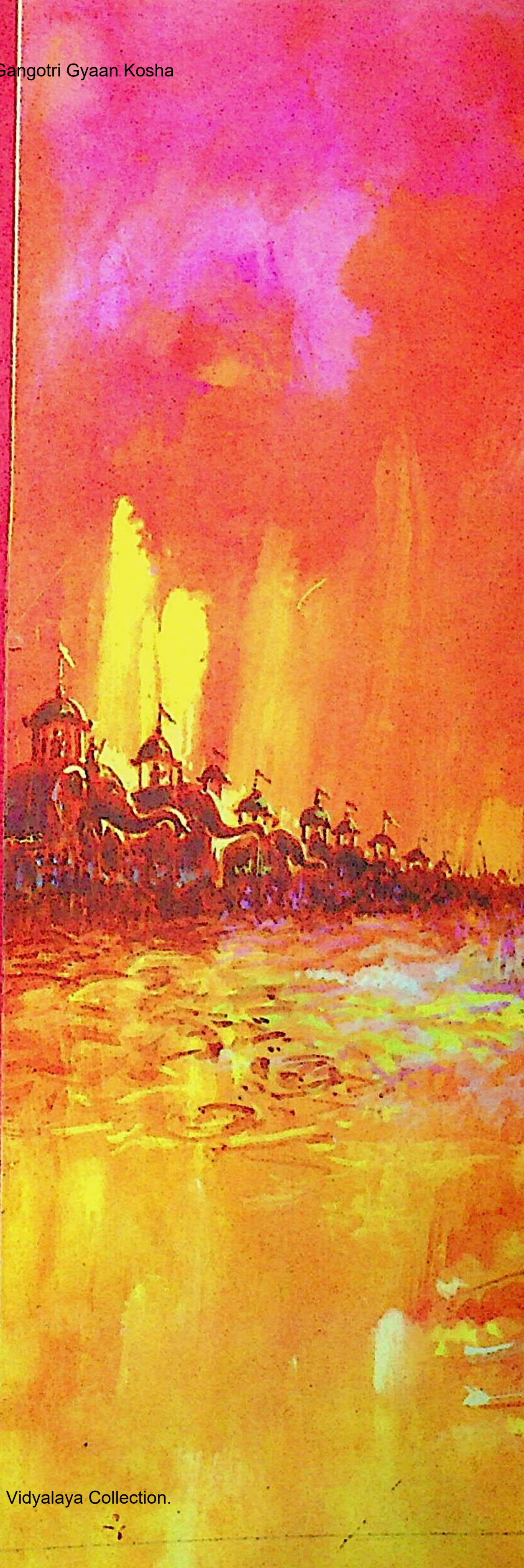हतशिष्टाश्च राजानः १३-३२-१९
हतशेषं बलं तत्तु ७-४४-१४
हतस्त्वमसि गान्धारे ९-२१-२५
हतं जयद्रथं दृष्ट्वा ७-२१-३६
हतं तमात्मजं दृष्ट्वा ६-१७-२२
हतं दुर्योधनं दृष्ट्वा ९-२१-१,
९-२२-१०
हतं दृष्ट्वा महाकायं ७-३२-१७
हतं देवव्रतं श्रुत्वा ७-१-१
हतान् भ्रातॄन् पितॄन् पुत्रान् ७-६-८७
हताश्वश्च ततस्तूर्णं ६-१७-३८
हताश्वसूतात् स रथान् ६-६-१३
हताश्वं तु रथं त्यक्त्वा ६-१८-२७
हताश्वं नकुलं दृष्ट्वा ११-४-३३
हताश्वात् तु रथात्तूर्णं ७-२७-२३
हताश्वे तु रथे तिष्ठन् ६-९-३,
४-१४-२३
हताश्वे नकुले यत्तु ११-४-२९
हता शूराः कृतं पापं १२-१-१९
हते कर्णे महाराज निराशाः ८-२७-४
हते तस्मिन् गजानीके ६-१३-२६
हते तस्मिन् महाराज ६-१९-१९
हते तस्मिन् महावीर्ये ७-७-१
हते तु पाण्डवे कृष्णे ७-२६-३८
हते तु भीष्मे रथसत्तमे ७-१-१३
हते तु भीष्मे राधेय ६-४-६०
हते दुर्योधने चैव ११-१-१
हते द्रोणे महेष्वासे ८-१-१
हते पुत्रशते दीनं ११-१-३
हते भीष्मे च द्रोणे च ८-१-११
हते विराटे द्रुपदे ७-३७-१२
हतेषु तेषु वीरेषु ३-२१-१९, ८-२१-३
हतेषु पार्थिवेन्द्रेषु ११-३-४१
हतेषु भारतेष्वाजौ २-१८-५९
हतेषु सर्वसैन्येषु ९-१३-१, ११-३-१३
हतो जयद्रथश्चैव ७-२३-९
हतोत्तमाङ्गाः केचित्तु ६-१२-६
हतो वज्रभृता वृत्रः ८-२७-६
हतो वा दिवमारोहेत् १२-३५-३०
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं ६-३-५५
हतो वैकर्तनो राजन् ८-२७-१७
हतोऽसि दुर्योधन मन्दबुद्धे: २-१६-७
हत्वा च सहितौ कृष्णौ ८-७-२०
हत्वा च पाण्डवान् युद्धे ८-१२-४०
हत्वा च समरे क्रुद्धान् १०-२-२०
हत्वा छित्त्वा च शीर्षाणि १३-१२-७
हत्वा तु नृपतिं पार्थः ८-१०-४
हत्वाऽऽत्मानमात्मना ८-१६-११
हत्वाधर्मेण राजानं ९-२०-२०
हत्वा पाण्डुसुतानाजौ ७-२६-२७
हत्वा भ्रातृव्यस्यांश्च १०-५-८
हत्वा मद्राधिपं पार्थः ९-६-२३
हत्वा रजसहस्राणि १२-५-१४
हत्वा वा समरे पार्थान् ९-१४-२८
हत्वा शतसहस्राणि १०-२-४५
हत्वा सम्भक्षयिष्यामि ७-३२-६
हत्वा संशप्तकव्रातान् ७-८-१
हत्वा साध्वीं च नारीं च १२-५२-२६
हत्वेह सुखमाप्नोति ९-८-२२
हत्वैतान् मानुषान्सर्वान् १-२५-६
हनिष्यामि रणे भागं ५-३३-१५
हनिष्यामि रणे भीष्मं ६-२६-९
हन्त तस्मान्महाबाहो ६-४-४२
हन्त ते कथयिष्यामि १२-३९-१४,
१३-४-२, १३-१३-२
हन्त ते वर्तयिष्यामि ७-२२-३१,
१३-१४-८१
हन्त तेऽहं प्रवक्ष्यामि १२-३३-२
हन्त तेऽहं समाचक्षे ४-१२-३९
हन्त पृच्छामि तस्मात्त्वां ६-४-२७
हन्त वक्ष्यामि ते श्रेयः १२-३८-३८
हन्त वो वर्तयिष्यामि १४-११-२०
हन्तात्मनः कर्म निबोध ५-७-२१
हन्तास्मि तरसा युद्धे २-१७-७३
हन्तास्मै सम्प्रवक्ष्यामि १२-३५-५९
हन्ताहं गदयाभ्येत्य ५-१८-१४
हन्तुं पाण्डुसुतानाजौ ७-२६-२५
हन्तकं भवतामेकः ९-१५-१६
हन्यतां दुर्मतिर्भीष्मः २-९-१८
हन्यन्ते निहताश्चैव ७-२२-५७
हन्यमाने तु शैनेये १६-१-४०
हन्यादमित्रं दानेन १-२०-१३
हन्यादमित्रं सान्त्वेन १-२०-२०
हयश्च हयमेधार्थं १४-७-२
हयं वा दन्तिनं वापि १२-१४-२९
हयान् ध्वजं धनुर्मुष्टिं ७-४-३५
हयारोहा हयांस्त्यक्त्वा ६-१०-१६
हया हयान् समासाद्य ६-२०-४२
हयांश्च तेषां निर्भिद्य ६-५-६६
हयांश्चास्य शरैस्तीक्ष्णैः ९-४-२२
हयेषु विनियुक्तेषु १-१८-२७
हयौघांश्च रथौघांश्च १-१८-२०
हरणं च परस्वानां ५-८-५०
हरेयुर्बलवन्तोऽपि १२-१८-२४
हर्षस्थानसहस्राणि १८-४-१०
हर्षात् प्रक्रीडमानांस्तान् १-१३-४
हर्षेण महता युक्तः ७-३९-३४
हर्षोऽभवच्च सर्वेणां १७-१-१७
हस्ताद्धस्तं परिमुषेद् १२-१८-२९
हस्तैर्हस्ताग्रमपरे ७-३७-५
हंसस्तु मद्गुनैकेन ८-८-५२
हंसांश्चावहसन्ति स्म ८-८-५१
हंसो भूत्वाथ सौवर्णः १२-६१-३
हार्दं यत्पाण्डवेष्वासीत् ५-२४-२८
हार्दिक्यतनयं पार्थः १६-४-५१
हा वीर दृष्टो नष्टश्च ७-१०-२४
हाहाकारस्ततस्तीव्रः ८-११-२०
हाहाकृतानि भूतानि ७-३९-३२
हा हा धिक् कुरुवीरस्य १४-९-२८
हिडिम्बं निहतं दृष्ट्वा १-२५-७०
हिडिम्बा तु ततः कुन्तीं १-२६-३
हितबुद्धीननादृत्य १०-१-५१
हितं यत् सर्वभूतानां ५-११-४८
हितं हि परमं मन्ये २-११-३५
हितार्थं धार्तराष्ट्रस्य ८-७-२५
हिते प्रयतमानं मां ५-२३-३५
हित्वा ग्राम्यसुखाचारं १२-३-३